

साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

डॉ. पुरखराज जैन

विश्व
के
प्रमुख
संविधान

MAJOR CONSTITUTION OF THE WORLD

विश्व के प्रमुख संविधान

[MAJOR CONSTITUTIONS
OF THE WORLD]

ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड, चीन
एवं भारत का संविधान

डॉ. पुखराज जैन

पूर्व प्राचार्य

राजकीय मीरा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उदयपुर

लघु उत्तरीय एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्नों सहित

2009



Estd. 1960

साहित्य भवन पब्लिकेशन्स : आगरा

Price : Rs. 240/-

ISBN-81-7288-027-8

Revised Edition 2009

Published by



SAHITYA BHAWAN PUBLICATIONS

HOSPITAL ROAD, AGRA-282 003

Tel. 2531013, 2531016, 2460905. Fax : 0562-2531351

Email : rsvbansal@hotmail.com

Printed at

Bhawan Printers, Agra

© Author

Printing and Publishing rights reserved with Publishers. No part of this publication may be reproduced, in any form or by any means, without permission in writing of copyright owner.

Note : Due care and diligence has been taken while editing and printing the book, neither the author nor the publisher of the book hold any responsibility for any mistakes that may have inadvertently crept in.

भूमिका

‘विश्व के प्रमुख संविधान’ पुस्तक का नवीनतम् संस्करण पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।

पुस्तक की भाषा शैली बहुत ही सरल और रोचक रखी गयी है जिससे विद्यार्थियों को विभिन्न देशों के संविधान और उनकी शासन व्यवस्था को समझने में कोई कठिनाई न हो। विषय-सामग्री प्रस्तुत करने में प्रामाणिक स्रोतों का आश्रय लिया गया है और विद्यार्थियों को अस्पष्टता पत्र सन्देह की स्थिति से दूर रखा गया है। विभिन्न पद और संस्थाओं के सम्बन्ध में आवश्यकतानुसार तुलनात्मक विवेचनाएं प्रस्तुत की गई हैं।

पुस्तक की समस्त विषय-सामग्री को ‘पूर्णतया अद्यतन’ (Most Up-to-Date) बनाया गया है और इस दृष्टि से विभिन्न देशों के संविधान और शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में जून 2007 तक की स्थिति का उल्लेख है। चीन के संविधान में 2001 और 2002 ई. में किये गये महत्वपूर्ण परिवर्तन, अमरीकी कांग्रेस के चुनाव (नवम्बर 2006), जून 2007 ई. में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री टोनी ब्लेयर के पदत्याग इन सभी घटनाओं का पुस्तक में यथास्थान उल्लेख किया गया है।

विशेष बात यह है कि ब्रिटेन और स्विट्जरलैण्ड की संवैधानिक व्यवस्थाओं में इन वर्षों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। संवैधानिक सुधार कानून, 2005 ई.’ (Constitutional Reform Act, 2005) के द्वारा लॉर्ड चांसलर की भूमिका में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं और ब्रिटेन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पूर्णतया स्वतन्त्र एक ‘सर्वोच्च न्यायालय’ की स्थापना की गई है। प्रस्तुत पुस्तक में ब्रिटेन की संवैधानिक व्यवस्था में हुए इन परिवर्तनों का यथास्थान आवश्यक विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है।

इन सबके अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड में एक पूर्णतया नवीन संविधान का निर्माण कर अप्रैल, 1999 में इसे लागू किया गया है तथा 2001 और 2002 ई. में इस संविधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में स्विट्जरलैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन 1999 में लागू किये गये तथा उसके उपरान्त संशोधित किये गये संविधान के आधार पर किया गया है।

‘भारतीय संविधान में अब तक हुए 94वें संवैधानिक संशोधनों सहित भारतीय राजव्यवस्था में अब तक हुए सभी परिवर्तनों को पुस्तक में यथास्थान सम्मिलित किया गया है। समस्त विषय-वस्तु के प्रसंग में आज तक की स्थिति को दृष्टि में रखा गया है। इस दृष्टि से पुस्तक ‘पूर्णतया आद्योपान्त’ (Most up-to-date) है।

मेरा विश्वास है कि पुस्तक का यह संस्करण विद्यार्थीवर्ग के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। पुस्तक के प्रसंग में विद्वान प्राध्यापकों और सुविज्ञ पाठकों के सुझाव आमन्त्रित हैं।

● लेखक

‘सत्यम् शिवम्’

11, बृज विहार

कॉलेज रोड, ब्यावर-305 901

विषय-सूची

अध्याय

पृष्ठ संख्या

ब्रिटेन का संविधान

1.	ब्रिटिश संविधान : विकास, महत्व और विशेषताएं.....	1
	(Evolution, Importance and Salient Features of the British Constitution)	
2.	संविधान के अभिसमय अथवा वैधानिक परम्पराएं.....	29
	(Conventions of the Constitution)	
3.	सम्राट और राजमुकुट	38
	(King and the Crown)	
4.	मन्त्रिमण्डल और प्रधानमन्त्री	55
	(The Cabinet and the Prime Minister)	
5.	नौकरशाही या लोक सेवाएं	83
	(Bureaucracy of Civil Services)	
6.	संसद	95
	(Parliament)	
7.	विधि का शासन और सर्वोच्च न्यायालय	134
	(Rule of Law and Supreme Court)	
8.	दलीय व्यवस्था.....	150
	(Party System)	

संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान

1.	अमरीकी संविधान की पृष्ठभूमि, महत्व और विशेषताएं.....	1
	(Background, Importance and Salient Features of the American Constitution)	
2.	शक्तियों का पृथक्करण एवं नियन्त्रण तथा सन्तुलन	21
	(Separation of Powers and Checks and Balances)	
3.	अमरीका की संघीय व्यवस्था	30
	(Federal System of America)	
4.	संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति एवं केबिनेट	48
	(Federal Executive : The President and the Cabinet)	
5.	कांग्रेस : संगठन और कार्य.....	93
	(Congress : Organization and Functions)	

6.	संघीय न्यायपालिका और न्यायिक पुनर्विलोकन	141
	(Federal Judiciary and Judicial Review)	
7.	दलीय व्यवस्था.....	157
	(Party System)	

स्विट्जरलैण्ड का संविधान

1.	संविधान का विकास और उसकी विशेषताएं.....	1
	(Constitutional Development and Its Characteristics)	
2.	मौलिक अधिकार.....	19
	(Fundamental Rights)	
3.	स्विट्जरलैण्ड की संघीय व्यवस्था.....	28
	(Federal System of Switzerland)	
4.	संघीय व्यवस्थापिका : संघीय संसद	41
	(Federal Legislature : Federal Parliament)	
5.	संघीय सरकार.....	54
	(Federal Government)	
6.	स्विस न्यायपालिका : संघीय सर्वोच्च न्यायालय और अन्य न्यायिक सत्ताएं.....	73
	(Swiss Judiciary : Federal Supreme Court and Other Judicial Authorities)	
7.	स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र	80
	(Direct Democracy in Switzerland)	

चीन का संविधान

1.	संवैधानिक विकास और जनवादी चीन के संविधान (1982) की विशेषताएं.....	1
	(Constitutional Development and Salient Features of the Constitution (1982) of the People's Republic of China)	
2.	मौलिक अधिकार तथा कर्तव्य.....	22
	(Fundamental Rights and Duties)	
3.	जनवादी चीन का विधान-मण्डल : राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस.....	30
	(Legislature of China : The National People's Congress)	
4.	जनवादी चीन का शासन-तन्त्र [राष्ट्रपति, राज्य परिषद् (मन्त्रिपरिषद्) तथा केन्द्रीय सैनिक आयोग]	39
	(Chinese Governmental Framework (The President, The State Council and The Central Military Commission))	

5.	न्याय व्यवस्था	47
	(Judicial System)	
6.	साम्यवादी दल : भूमिका और संगठन	54
	(The Communist Party : Role and Structure)	

भारत का संविधान

1.	भारतीय संविधान की विशेषताएं	1
	(Salient Features of the Indian Constitution)	
2.	मूल अधिकार और मूल कर्तव्य	18
	(Fundamental Rights and Fundamental Duties)	
3.	राज्य नीति के निदेशक तत्व	39
	(Directive Principles of State Policy)	
4.	भारतीय संघीय व्यवस्था : केन्द्र तथा राज्यों का सम्बन्ध	52
	(Indian Federal System : Relation between Centre and the States)	
5.	संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति	69
	(Union Executive : President)	
6.	संघीय कार्यपालिका : प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद्	89
	(Union Executive : Prime Minister and the Council of Ministers)	
7.	संघीय व्यवस्थापिका : संसद	104
	(The Union Legislature : Parliament)	
8.	भारतीय न्यायपालिका : सर्वोच्च न्यायालय	126
	(Indian Judiciary : Supreme Court)	
9.	राज्य की कार्यपालिका : राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद्	135
	(Executive of State : Governor and the Council of Ministers)	
10.	राज्य विधानमण्डल	147
	(The State Legislature)	
11.	उच्च न्यायालय	160
	(High Courts)	
12.	भारतीय नागरिकता और संविधान में संशोधन	166
	(Indian Citizenship and Amendments in the Constitution)	
	लघु उत्तरात्मक एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्न	1

ब्रिटेन का संविधान

1

ब्रिटिश संविधान

विकास, महत्व और विशेषताएं

(EVOLUTION, IMPORTANCE AND SALIENT FEATURES
OF THE BRITISH CONSTITUTION)

“पूर्व ने सभ्य मानव को आध्यात्मिक दर्शन प्रदान किया, मिस्र ने वर्णमाला प्रदान की, मूर ने बीजगणित, यूनान ने शिल्पकला तथा रोम ने विश्व को कानून के आधार प्रदान किये; तो ब्रिटेन ने विश्व को राजनीतिक विचार और संवैधानिक पद्धति प्रदान की है।”
—मुनरो

ब्रिटेन और उसके निवासी

सामान्य व्यक्ति जिस देश को इंग्लैण्ड, ब्रिटेन या ग्रेट ब्रिटेन के नाम से जानते हैं, उसका पूरा नाम ‘ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयरलैण्ड का संयुक्त राज्य’ है। यद्यपि नाम में वेल्स और स्कॉटलैण्ड का उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन इसमें वेल्स और स्कॉटलैण्ड के प्रदेश भी सम्मिलित हैं। किसी समय ये पृथक्-पृथक् राज्य थे, किन्तु वर्तमान समय में ये ब्रिटेन के ही अंग हैं।

ब्रिटेन यूरोप के उत्तर-पश्चिम में स्थित एक छोटा-सा टापू है। इसका क्षेत्रफल 2,44,000 किलोमीटर है और जनसंख्या 6 करोड़ 50 लाख से कुछ अधिक है। ब्रिटेन के इस लघु आकार ने इसे एक सुसंगठित इकाई का रूप प्रदान कर ब्रिटेन में एकात्मक व्यवस्था को सफल बनाया है।

ब्रिटेन में 8 प्रतिशत एशियावासी और अश्वेत हैं; लेकिन ब्रिटेन की यह आबादी अन्य ब्रिटिशवासियों के साथ एकाकार नहीं हो पाई है। ‘नस्लीय तनाव’ तो केवल कुछ ही क्षेत्रों में और केवल कुछ हजार व्यक्तियों के मन-मानस में है, लेकिन ‘नस्लीय विरोध’ की स्थिति अवश्य है; बढ़ती हुई बेरोजगारी ने इस स्थिति को बढ़ाने का कार्य किया है। लेकिन इस स्थिति के बावजूद सामान्य नागरिकों में मूल उदारवादिता विद्यमान है। 2005 ई. के आम

- 1 यद्यपि अब भी उत्तरी आयरलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और वेल्स ग्रेट ब्रिटेन के अंग हैं, लेकिन सितम्बर '97 और अप्रैल '98 में सम्पन्न समझौतों तथा उसके बाद आयोजित जनमत संग्रह के आधार पर स्कॉटलैण्ड और उ. आयरलैण्ड को सीमित स्वायत्तता प्रदान कर दी गई है तथा वेल्स के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की योजना पर विचार चल रहा है। उ. आयरलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड की पहली संसद के चुनाव 1999 में सम्पन्न हुए।

चुनावों में कंजरवेटिव पार्टी ने सरकार बनने पर 'कड़ी आब्रजन नीतियां' लागू करने की बात कही थी, मतदाताओं को इसमें 'रंगभेद की बू' आई और सर्वेक्षण बताते हैं कि मतदाताओं ने कुछ अन्य बातों के साथ कंजरवेटिव पार्टी की इस बात को पसन्द नहीं किया।

ब्रिटिश संविधान का विकास

ब्रिटिश संविधान एक विकसित संविधान है। इसने चौदह सौ वर्षों के आधार पर अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया है और अब भी यह विकासमय है। संवैधानिक विकास की दृष्टि से ब्रिटिश संविधान के इतिहास को निम्नलिखित 6 युगों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) एंग्लो-सैक्सन काल-सीमित राजतन्त्र की स्थापना (पांचवीं सदी से 1066 ई. तक)—संवैधानिक विकास का प्रारम्भ एंग्लो-सैक्सन काल से समझा जा सकता है। इस काल में स्थापित की गयी संस्थाओं में प्रमुख दो हैं—नियन्त्रित राजपद और स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था। एंग्लो सैक्सन राजा की शक्तियां असीमित नहीं होती थीं और उस पर 'विटनेजमोट' या 'विटन' (Witenagmot or Witan) का नियन्त्रण होता था। ब्रिटेन में स्वयंभू राजा द्वारा प्रभावशाली सामन्तों, सरदारों और बिशपों, आदि को सम्मिलित किया जाता था।

(2) नार्मन-ऐन्जिवन काल : राजकीय निरंकुशता और सबल केन्द्रीय सरकार का उदय (सन् 1066 ई. से 1153 ई. तक)—एंग्लो-सैक्सन काल की शासन व्यवस्था स्थानीय आधार पर संगठित, किन्तु राष्ट्रीय आधार पर निर्बल थी। कठोर और केन्द्रीयकृत शासन स्थापित करने का कार्य नार्मन राजा विलियम के द्वारा ही किया गया। विलियम ने निरंकुशता के मार्ग की बाधा समझकर 'विटनेजमोट' को समाप्त कर दिया था, किन्तु राजा का अधिकार क्षेत्र या कार्य इतने बढ़ गये कि नीति निर्धारण और शासन में राजा की सहायता के लिए दो संस्थाओं—मैगनम कौंसिलियम या महान् परिषद् और क्यूरिया रेजिस या राज्यपरिषद का उदय हुआ। मैगनम कौंसिलियम 'विटनेजमोट' की ही स्थानापन्न थी। 'क्यूरिया रेजिस' अपेक्षाकृत छोटी, लेकिन अधिक प्रभावशाली संस्था थी। 'क्यूरिया रेजिस' से 'प्रिवी कौंसिल' और 'प्रिवी कौंसिल' से कैबिनेट का विकास हुआ।

(3) प्लैन्टेगैनट (1153-1399), और लंकास्ट्रियन (1399-1445) काल : वैधानिक संस्थाओं का उदय—नार्मन काल में स्थापित शासन व्यवस्था में हेनरी प्रथम के द्वारा सुधार किया गया। शासन कार्य में कुशलता के लिए क्यूरिया रेजिस के प्रशासन और न्याय सम्बन्धी कार्यों में विभाजन कर 'प्रिवी कौंसिल' और 'एक्सचेकर' के रूप में दो संस्थाएं हो गयीं। इसी काल में सम्राट जॉन को जनता से कर के रूप में बहुत अधिक धनराशि एकत्रित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। अतः जनप्रतिनिधियों को बुलाया गया और इस प्रकार 'प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं' (No Taxation, without Representation) के सिद्धान्त का उदय हुआ।

मैग्नाकार्टा या बृहत् अधिकार-पत्र (Magna Carta)—1119 में जॉन इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बैठा। सामन्तों ने इस अयोग्य, अदूरदर्शी और अत्याचारी शासक के अत्याचारों से दुःखी होकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और 15 जून, 1215 को रनीमेड नामक स्थान में उसे एक अधिकार-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया। यह अधिकार-पत्र ही 'मैग्नाकार्टा' या 'महान् अधिकार-पत्र' के नाम से विख्यात है और इसे ब्रिटेन के वैधानिक इतिहास में एक महान् सीमाचिह्न माना जाता है। मैग्नाकार्टा ने किन्हीं नवीन अधिकारों को जन्म देने के बजाय सामन्तों के इन परम्परागत अधिकारों को मान्यता प्रदान की जिन्हें सम्राट जॉन ने भंग कर दिया था। मैग्नाकार्टा ने सामन्त वर्ग को जो अधिकार प्रदान किये थे, वे

धीरे-धीरे सामान्य जनता को भी प्राप्त हो गये। इस प्रकार मैग्नाकार्टा ने राजा की निरंकुशता का अन्त कर मर्यादित राजतन्त्र और विधि के शासन की स्थापना की और यह सामान्य जनता की स्वतन्त्रता और अधिकार का मूल आधार बन गया।

पार्लियामेंट का उदय—इस काल में ही पार्लियामेंट का भी उदय हुआ 1262 ई. में साइमन डि माण्टफोर्ड ने पार्लियामेंट की एक बैठक बुलाई थी, लेकिन पार्लियामेंट का उदय 1295 ई. से माना जाता है, जब सम्राट एडवर्ड प्रथम ने कर प्रस्तावों पर सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से पादरियों और सामन्तों के अतिरिक्त नगरों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया। इस बैठक को ही 'मॉडल पार्लियामेंट' कहा जाता है।

(4) **ट्यूडर काल : पुनः कठोर राजतन्त्र की स्थापना (1485 ई. से 1603 ई.)**—1485 ई. में इंग्लैण्ड में हेनरी ट्यूडर सत्तारूढ़ हुआ। ट्यूडर सम्राट बहुत अधिक शक्तिशाली और योग्य थे। उन्होंने सामन्तों को नियन्त्रित कर स्वेच्छाचारी शासकों की भांति, लेकिन जनता के हित को दृष्टि में रखते हुए शासन किया। इस काल की एक महत्वपूर्ण बात यह रही है कि राजकीय शक्ति पोप के नियन्त्रण से मुक्त हो गयी।

(5) **स्टुअर्ट काल : निरंकुश राजतन्त्र और सीमित राजतन्त्र के पक्षों में संघर्ष और लोकतन्त्र की आधारशिला की स्थापना (1603 ई. से 1714 ई. तक)**—महारानी एलिजाबेथ का कोई पुत्र या निकट सम्बन्धी न होने के कारण उनकी मृत्यु के बाद 1603 ई. में इंग्लैण्ड का सिंहासन स्कॉटलैण्ड के राजा जेम्स प्रथम के हाथ में आ गया। जेम्स प्रथम की मृत्यु के बाद 1625 में उसका पुत्र चार्ल्स प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने संसद की उपेक्षा और मनमानी प्रारम्भ कर दी तथा राजा के दैवी अधिकारों तथा विशेषाधिकारों पर बल देना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में उसका संसद से झगड़ा हुआ और 1628 ई. में संसद चार्ल्स प्रथम से **अधिकार याचना-पत्र (Petition of Rights)** को मनवाने में सफल हुई, जिससे राजा की शक्तियों पर कुछ महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध लग गये।

संसद के दबाव में चार्ल्स प्रथम ने 'अधिकार याचना-पत्र' को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी, किन्तु अपने वचन को निभाया नहीं। जब संसद ने इसका विरोध किया तो सम्राट ने संसद को भंग कर दिया और 11 वर्ष तक संसद के बिना ही शासन किया। संसदीय नेताओं ने सम्राट की इस निरंकुशता का विरोध किया और इन दोनों पक्षों में 1642 से 1645 तक **गृहयुद्ध चला**। इस गृहयुद्ध में संसदीय नेताओं की जीत हुई और सम्राट चार्ल्स पर **मुकदमा चलाकर 1649 में उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया।**

गणतन्त्र की स्थापना—1649 ई. में इंग्लैण्ड में राजतन्त्र तथा लॉर्ड सभा का अन्त कर क्रामवेल की अध्यक्षता में गणतन्त्र की स्थापना की गयी। इस समय इंग्लैण्ड में एक लिखित संविधान भी अपनाया गया। 3 सितम्बर, 1658 ई. को क्रामवेल की मृत्यु हो गयी।

पुनः राजतन्त्र की स्थापना—गणतन्त्र और लिखित संविधान ब्रिटिश निवासियों के स्वभाव के अनुकूल नहीं थे अतः क्रामवेल की मृत्यु होने के साथ ही इनका अन्त हो गया। 1660 ई. में चार्ल्स प्रथम के पुत्र चार्ल्स द्वितीय को गद्दी पर बिठाया गया, उसने 1685 ई. तक राज्य किया। प्रिवी कौंसिल अब एक बड़ी संस्था हो गयी थी, इसलिए चार्ल्स द्वितीय ने 1667 ई. से कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों की एक समिति से परामर्श लेना शुरू कर दिया, जिसे 'कबाल' (CABAL) कहा जाने लगा। इसी से बाद में कैबिनेट का उदय हुआ। चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में 1679 में 'हैबियस कॉर्पस एक्ट' (Habeas Corpus Act) भी पारित किया गया जिसमें व्यवस्था की गयी कि बिना अभियोग चलाये किसी भी व्यक्ति को नजरबन्द नहीं रखा जा सकता।

गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution)—1685 में चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा, जिसने केवल तीन वर्ष ही राज्य किया। उसने संसद की अनुमति के बिना कानून रद्द करने का अधिकार धारण कर लिया। इसने संसदीय नेता बहुत अप्रसन्न हुए और जेम्स द्वितीय को सिंहासन से हटाने हेतु उन्होंने ओरेन्ज के राजकुमार विलियम तृतीय को इंग्लैण्ड पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया। विलियम तृतीय ने एक विशाल सेना के साथ इंग्लैण्ड पर आक्रमण कर दिया। जब जेम्स द्वितीय ने देखा कि सभी पक्षों ने उसका साथ छोड़ दिया है तो वह फ्रांस भाग गया। इस प्रकार बिना किसी रक्तपात के ही वांछित परिवर्तन हो गया। इसे ही इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) के नाम से जाना जाता है। इस घटनाचक्र से राजा या शासन की निरंकुशता पर रोक लगी, और 'संसदीय प्रभुसत्ता' की स्थिति का प्रारम्भ हुआ तथा यह क्रांतिकारी परिवर्तन रक्तपात के बिना हुआ; इसलिए इसे 'गौरवपूर्ण क्रांति' के नाम से जाना जाता है।

'अधिकार-पत्र' 1689 (Bill of Rights)—गौरवपूर्ण क्रान्ति के बाद विलियम व मेरी को ब्रिटेन का सम्मिलित शासक बनाया गया। इस अवसर पर संसद सम्राट से अधिकार-पत्र मनवाने में सफल हो गयी, जिसमें निम्न बातें थीं :

- (i) संसद की पूर्व स्वीकृति के बिना राजा कोई कर नहीं लगा सकता।
- (ii) राजा को कम-से-कम एक बार संसद की बैठक अवश्य बुलानी होगी।
- (iii) संसद की पूर्व स्वीकृति के बिना राजा कोई सेना नहीं रख सकता।
- (iv) राजा अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु उच्चायुक्त जैसे किसी नवीन न्यायालय की स्थापना नहीं कर सकता।
- (v) संसद में जनता के प्रतिनिधियों को भाषण की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

मुनरो ने इस अधिकार-पत्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "इससे पार्लियामेंट की वैधानिक प्रभुता की घोषणा की गयी।"

(6) हैनोवर काल : संसदीय जनतन्त्र का विकास (1714 ई. से प्रारम्भ)—राजपद पर संसद की सर्वोच्चता तो 1689 के अधिकार-पत्र से ही स्थापित हो गयी थी 1714 में साम्राज्ञी एन की मृत्यु पर 'उत्तराधिकार अधिनियम' के अनुसार हैनोवर का जार्ज प्रथम ब्रिटेन का सम्राट बना। यहीं से संसदीय जनतन्त्र का विकास प्रारम्भ हुआ, जिसने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक पूर्णता प्राप्त कर ली। संसदीय जनतन्त्र का विकास इन चरणों में हुआ :

(i) राजा की वास्तविक शक्तियों का पतन—राजपद पर संसद की सर्वोच्चता तो 1689 के अधिकार-पत्र से ही स्थापित हो गयी थी, किन्तु हैनोवर वंश के सिंहासनारूढ़ होने के पहले तक राजा का मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति में पर्याप्त हाथ रहता था। हैनोवर काल से राजा, के इस अधिकार का पतन होता गया और ये अधिकार पार्लियामेंट के हाथ में पहुंच गये। साम्राज्ञी विक्टोरिया तक आते-आते सम्राट एक संवैधानिक शासक मात्र हो गया।

(ii) मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली का विकास—हैनोवर काल के पूर्व तक मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता सम्राट ही करता था और मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, लेकिन हैनोवर राजा जार्ज प्रथम अंग्रेजी भाषा से परिचित नहीं थे और इंग्लैण्ड की राजनीति में भी उनकी कोई रुचि नहीं थी। अतः उन्होंने कैबिनेट की बैठकों में सम्मिलित

1 "The Bill of Rights proclaimed the legislative supremacy of Parliament."

—W.B. Munro, *The Government of Europe*, pp. 47-48.

होना बन्द कर दिया। सम्राट ने ह्विग पार्टी के नेता सर राबर्ट वाल्पोल को कैबिनेट की अध्यक्षता का कर्तव्य सौंपा और वाल्पोल ब्रिटेन का एक तरह से प्रथम प्रधानमंत्री बना। धीरे-धीरे मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली के अन्य सिद्धान्तों का विकास हुआ।

(iii) लोकसदन का लोकतन्त्रीकरण—यद्यपि 17वीं सदी में ही संसद ने सर्वोच्चता प्राप्त कर ली थी, किन्तु अब भी वह पर्याप्त शक्तिशाली नहीं हो पायी थी, क्योंकि वह जनता के अत्यन्त छोटे भाग का ही प्रतिनिधित्व करती थी। अतः संसद के अन्दर और बाहर संसदीय मताधिकार को व्यापक करने के लिए आन्दोलन चला। आन्दोलन के परिणामस्वरूप सर्वप्रथम 1832 के सुधार कानून द्वारा कुछ सीमित रूप में मध्यम वर्ग के लोगों को मताधिकार प्रदान किया गया। इसके बाद 1867, 1884 और 1918 के सुधार कानूनों द्वारा मताधिकार को और व्यापक किया गया व 1928 के अधिनियम के आधार पर सार्वजनिक वयस्क मताधिकार को स्वीकार करते हुए 21 वर्ष या इससे अधिक आयु के सभी स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्रदान कर दिया गया। 1970 में पारित विधेयक के अनुसार अब ब्रिटेन में 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त है।

(iv) लोकसदन की तुलना में लॉर्ड सभा की शक्तियों का पतन—18वीं सदी तक लोकसदन पर लॉर्ड सभा का आतंक छाया रहता था, किन्तु लोकतन्त्र के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लोकसदन की तुलना में लॉर्ड सभा की शक्तियां कम किया जाना आवश्यक था। 1832 का सुधार कानून लॉर्ड सभा की इच्छा के विरुद्ध ही पारित हुआ था और इसी समय से लॉर्ड सभा की शक्तियां कम होनी प्रारम्भ हो गयीं। उन्नीसवीं सदी में यह परम्परा स्थापित हो गयी थी कि वित्तीय विषयों में अन्तिम शक्ति लोकसदन ही है, लेकिन 1910 में लॉर्ड सभा ने लॉयड जार्ज के प्रगतिशील बजट को अस्वीकार करके इस परम्परा को भंग किया। ऐसी स्थिति में 1911 में एक संसदीय अधिनियम पास कर लॉर्ड सभा की शक्तियां कम कर दी गयीं जो 1949 के संसदीय अधिनियम से और कम हो गयीं। लोकसदन की तुलना में लॉर्ड सभा की शक्तियां कम करके ही इंग्लैण्ड लोकतन्त्र की पूर्ण प्राप्ति कर सका है।

इस प्रकार लगभग 1,400 वर्षों के संवैधानिक विकास के आधार पर ब्रिटेन ने अपनी संवैधानिक और राजनीतिक स्थिति को प्राप्त किया है। ब्रिटेन के इस संवैधानिक विकास की मुख्य विशेषता यह है कि यह स्थिर गति और शान्तिपूर्ण ढंग से हुआ है और इस संवैधानिक विकास की दिशा, कुछ बाधाओं और रुकावटों के बावजूद, राजतन्त्र से लोकतन्त्र की ओर प्रयाण रही है।

ब्रिटिश संविधान के अध्ययन का महत्व

स्वयं अपने क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से ब्रिटेन कभी एक महान् देश नहीं रहा है। विश्व के अनेक राज्य ब्रिटेन की तुलना में बहुत विशाल और अधिक जनसंख्या वाले हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रथम श्रेणी के राष्ट्र की स्थिति प्राप्त थी, किन्तु आज यह स्थिति संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में ही शेष रह गयी है। आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से न केवल अमरीका वरन् जर्मनी, जापान और अन्य कुछ राष्ट्रों ने भी ब्रिटेन से अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली है तथा ब्रिटेन सामान्य व्यक्तियों के लिए अब एक राजनीतिक व्यवस्था का प्रतीक भी नहीं रहा है। लेकिन इनमें से कोई भी बात संवैधानिक अध्ययन की दृष्टि से ब्रिटेन के महत्व को कम नहीं कर सकी है। आज भी राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन में रुचि रखने वाले व्यक्ति के लिए ब्रिटिश शासन पद्धति से परिचित होना अनिवार्य समझा जाता है और विदेशी संविधानों तथा शासन प्रणालियों

के अध्ययन क्रम में ब्रिटिश संविधान के अध्ययन को प्रथम स्थान दिया जाता है। स्वाभाविक रूप से अनेक ऐसे तथ्य हैं जिनके कारण ब्रिटिश संविधान का अध्ययन बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इन तथ्यों का अति संक्षिप्त अध्ययन निम्न प्रकार है :

(1) प्राचीनतम संविधान—यह संविधान विश्व के वर्तमान संविधानों में सबसे पुराना है और विश्व के किसी भी संविधान का इतना लम्बा इतिहास नहीं है, जितना की ब्रिटिश संविधान का। प्राचीनतम होने के कारण इसके द्वारा विश्व के अन्य देशों के संविधानों और शासन-व्यवस्था को प्रभावित किया गया है और अन्य देशों के संविधानों को उस समय तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि ब्रिटिश संविधान का अध्ययन न कर लिया जाय।

(2) लोकतान्त्रिक पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण—ब्रिटिश संविधान का अध्ययन इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसके अन्तर्गत लोकतन्त्रात्मक शासन और जीवन के तत्त्वों का अनवरत विकास हुआ है और इसे आधुनिक विश्व का प्रथम लोकतन्त्रीय संविधान कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। विश्व के अन्य देशों द्वारा लोकतन्त्र को इंग्लैण्ड से ही ग्रहण किया गया है।

(3) एकमात्र अलिखित संविधान—ब्रिटिश संविधान का अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि वर्तमान समय में इंग्लैण्ड का संविधान ही एकमात्र अलिखित संविधान है। ब्रिटिश संविधान उन व्यक्तियों के लिए एक चुनौती है जो मानते हैं कि शासन-व्यवस्था का सुसंचालन तभी सम्भव है जबकि शासन के मौलिक सिद्धान्त लिपिबद्ध हों। शासन के मौलिक सिद्धान्त लिपिबद्ध न होने पर भी न तो ब्रिटेन में अराजकता है और न ही निरंकुशता। शासक और शासित दोनों ही अपनी सीमाओं से परिचित हैं और यह ब्रिटिश व्यक्तियों को जागरूक विवेकशीलता और व्यावहारिकता का प्रमाण है।

(4) निरन्तर विकासमय संविधान—ब्रिटिश संविधान का अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि ब्रिटिश संविधान अनवरत विकास का परिणाम है। अन्य राज्यों के समान ही शासन पथ पर ब्रिटेन ने अपनी यात्रा एक निरंकुश राज्य के रूप में प्रारम्भ की थी, किन्तु यूरोप के अन्य राज्यों ने जहां निरंकुशता के स्थान पर प्रजातन्त्र को अपनाने का कार्य क्रान्ति और रक्तपात के आधार पर किया, ब्रिटिश संविधान ने बिना किसी क्रान्ति और रक्तपात के बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढालने में सफलता प्राप्त की। इंग्लैण्ड में कभी कोई ऐसी क्रान्ति नहीं हुई जिसकी समानता फ्रांस की 1789 की क्रान्ति से या रूस की 1917 की क्रान्ति से की जा सके।

(5) स्वतन्त्रता का प्रतीक (Symbol of Liberty)—ब्रिटिश संविधान का निरन्तर विकास हुआ है और ब्रिटिश संविधान के विकास का इतिहास निरंकुशता के विरुद्ध स्वतन्त्रता की जन-भावनाओं के संघर्ष का इतिहास रहा है तथा इस इतिहास ने ब्रिटिश संविधान को स्वतन्त्रता का प्रतीक बना दिया है। ब्रिटिश संविधान में नागरिकों के किसी अधिकार-पत्र का उल्लेख न होने पर भी ब्रिटिश नागरिक किसी अन्य देश के नागरिकों की तुलना में कम स्वतन्त्र और अधिकार सम्पन्न नहीं हैं।

(6) विश्वव्यापी प्रभाव (World-wide Influence)—ब्रिटिश संविधान के अध्ययन की महत्ता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि विश्व की सबसे प्राचीन और प्रभावशाली शासन-पद्धति के जनक के रूप में इसने विश्वव्यापी प्रभाव डाला है। विश्व के उन राज्यों पर, जो पहले ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत थे, ब्रिटिश शासन-पद्धति का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा

है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, भारत, म्यांमार, मलाया, आदि देशों की वर्तमान शासन-व्यवस्था ब्रिटिश प्रभाव का प्रमाण है। यूरोप महाद्वीप के अन्य जनतन्त्रीय राज्यों पर भी यह प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है। मुनरो के शब्दों में, “ब्रिटिश संविधान संविधानों का जनक है और ब्रिटिश संसद संसदों की जननी है। अन्य देशों के विधानमण्डलों की चाहे कोई भी संज्ञा क्यों न हो उनका उद्गम स्रोत एक ही है।”¹

भारतीय विद्यार्थियों के लिए विशेष महत्व

ब्रिटिश संविधान का अध्ययन सामान्यतया तो सभी के लिए महत्वपूर्ण है, किन्तु भारतीय व्यक्तियों, विशेषतया भारतीय विद्यार्थियों के लिए, इसके अध्ययन का विशेष महत्व है। ब्रिटिश विचारों और राजनीतिक संस्थाओं से प्रभावित होकर हमारे द्वारा संसदीय प्रजातन्त्र को अपना लिया गया है, किन्तु संसदीय प्रजातन्त्र की सफलता के लिए अभी हमें ब्रिटेन से बहुत कुछ सीखना शेष है। यदि हम संसदीय प्रजातन्त्र को सफल बनाना चाहते हैं तो हमें ब्रिटेन की प्रजातन्त्रीय परम्पराओं को अपनाना होगा; अनुशासन, सहिष्णुता, विवेकशीलता, उदारता और जागरूकता के चारित्रिक गुणों को लेना होगा तथा राजनीति के महान् खेल को खेल की भावना के साथ खेलने की प्रवृत्ति अपनानी होगी। यह सब कुछ ब्रिटिश संविधान के विस्तृत और व्यापक अध्ययन से ही सम्भव है।

क्या ब्रिटिश संविधान का अस्तित्व है?

अपने आप में यह मनोरंजक बात है कि ब्रिटिश संविधान के अध्ययन का प्रारम्भ संविधान के अस्तित्व पर विवाद को लेकर होता है। इंग्लैण्डवासी तो इस बात पर गर्व करते हैं कि उनका संविधान एक श्रेष्ठ और प्राचीन संविधान है। किन्तु अन्य विद्वानों द्वारा इस संविधान के अस्तित्व पर ही सन्देह व्यक्त किया गया है। बर्क ने अपने ग्रन्थ ‘फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर विचार’ (*Reflection on the French Revolution*) में ब्रिटिश संविधान की प्रशंसा करते हुए कहा था कि “हमारा संविधान अत्यन्त श्रेष्ठ है, जहां विश्व के अन्य देशों में वांछित परिवर्तन हेतु क्रान्ति और रक्तपात की आवश्यकता होती है हमारे द्वारा यह परिवर्तन शान्तिपूर्ण और संवैधानिक मार्ग से किया जा सका है।” इस पर अमरीका के प्रसिद्ध विद्वान टामस पेन ने बर्क को चुनौती देते हुए कहा था, “क्या बर्क महोदय ब्रिटिश संविधान की कोई प्रति प्रस्तुत कर सकते हैं? यदि नहीं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ब्रिटिश संविधान का अस्तित्व न तो कभी था और न है, यद्यपि उक्त संविधान के विषय में बहुत कुछ कहा गया है।” पेन अपने मूल विचार को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि “जहां संविधान को प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता, वहां संविधान होता ही नहीं है।”² फ्रांस के प्रसिद्ध इतिहासकार डी. टाकविले और ब्रिटिश लेखक बर्नार्ड शॉ ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं।

तर्क—‘ब्रिटिश संविधान का कोई अस्तित्व ही नहीं है’—इस बात के पक्ष में टॉमस पेन, डी. टाकविले और उनके समर्थकों द्वारा तीन तर्क दिये जाते हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

(1) ब्रिटिश संविधान न तो किसी संविधान सभा का परिणाम है और न ही लेखबद्ध—पेन और डी. टाकविले का विचार है कि संविधान का निर्माण किसी संविधान-निर्मात्री परिषद् के

1 “The British Constitution is the mother of parliaments. No matter by what name the legislative bodies of other countries may be known, they owe much to this inheritance.”
—Munro & Ayearst, *The Government of Europe*, p. 14.

2 “Where a constitution cannot be produced in visible form there is none.”

—Thomas Paine

द्वारा किया जाना चाहिए, लेकिन ब्रिटिश संविधान न तो किसी परिषद् के निश्चयों का परिणाम है और न ही यह लेखपत्र के रूप में है।

(2) ब्रिटिश संविधान का लचीलापन—अमरीका और फ्रांस आदि देशों के संविधानों में संशोधन के लिए साधारण कानूनों के निर्माण से भिन्न प्रक्रिया को अपनाया गया है। इसके आधार पर डी. टाकविले और पेन के द्वारा इस विचार को अपना लिया गया कि “संविधान उसे ही कहा जा सकता है जिसमें परिवर्तन के लिए विशेष प्रक्रिया को अपनाना आवश्यक हो।” ब्रिटिश संविधान लचीला होने के कारण उनके द्वारा इसके अस्तित्व पर सन्देह व्यक्त किया गया है।

(3) संवैधानिक कानून या आधारभूत नियमों का अभाव—अमरीका और फ्रांस, आदि देशों में ‘संविधान की सर्वोच्चता’ की धारणा को अपनाया गया है, जिसका तात्पर्य है संविधान में वर्णित नियमों अर्थात् संवैधानिक कानूनों की साधारण कानूनों की तुलना में श्रेष्ठता। इंग्लैण्ड में ‘संविधान की सर्वोच्चता’ की धारणा को नहीं, वरन् ‘संसद को प्रभुसत्ता’ की धारणा को अपनाया गया है और इंग्लैण्ड में संवैधानिक कानूनों तथा साधारण कानूनों का भी कोई भेद नहीं है। ब्रिटिश संविधान में आधारभूत नियमों का अभाव होने के कारण उनके द्वारा इसके अस्तित्व पर सन्देह किया गया है।

ब्रिटिश संविधान का अस्तित्व है

वस्तुतः डी. टाकविले और टॉमस पेन की विचारधारा ठीक नहीं है, और उनके द्वारा ब्रिटिश संविधान के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए जो तर्क दिये गये हैं, उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(1) लिखित और अलिखित संविधान का भेद अवास्तविक—डी. टाकविले और पेन की विचारधारा का प्रमुख आधार ब्रिटिश संविधान का अलिखित होना है। लेकिन लिखित और अलिखित संविधान का भेद वैज्ञानिक नहीं है। वास्तव में कोई भी संविधान न तो पूर्णतया लिखित होता है और न ही पूर्णतया अलिखित गार्नर के शब्दों में, “लिखित और अलिखित संविधान में मात्रा का ही भेद होता है, प्रकार का नहीं।” अमरीकी संविधान को लिखित संविधान का प्रथम और श्रेष्ठ उदाहरण बताया जाता है, किन्तु अमरीकी शासन-व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान 7 धाराएं पढ़ने से ही नहीं हो जाता है। शासन-व्यवस्था के अनेक व्यवहार, प्रथाएं और परम्पराएं संविधान के ही अंग हैं और उनके सम्बन्ध में जाने बिना संविधान का अध्ययन अधूरा ही रहता है। मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था, राजनीतिक दलों का उदय और राष्ट्रपति का निर्वाचन इस प्रकार की परम्पराओं के उदाहरण हैं। जब लिखित और अलिखित संविधान का भेद ही वैज्ञानिक और वास्तविक नहीं है, तो इस आधार पर ब्रिटिश संविधान के अस्तित्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।

(2) ब्रिटिश संविधान का एक अंश लिखित है—यदि लिखित होना ही संविधान का आधार समझा जाता हो, तो ब्रिटेन के अलिखित संविधान में भी महत्वपूर्ण लिखित अंश पाया जाता है। ब्रिटिश संविधान के अन्तर्गत राजसिंहासन के सम्बन्ध में उत्तराधिकार की व्यवस्था, कार्यपालिका विभागों की व्यवस्था, मताधिकार, निर्वाचन, संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध और कार्यपालिका के कार्य कानून द्वारा ही निश्चित किये गये हैं 1215 का मैग्नाकार्टा,

1 “The distinction between written and unwritten constitution is really one of degree rather than of kind.”
—Garner

1628 का अधिकार याचना-पत्र, 1689 का अधिकार-पत्र, 1920 का आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता का अधिनियम, 1937 का सम्राट के मन्त्रि परिनियम, 1947 का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम तथा 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम इसी प्रकार के उदाहरण हैं। इस प्रकार ब्रिटेन के अलिखित संविधान में भी महत्वपूर्ण लिखित अंश पाया जाता है।

ब्रिटिश संविधान को अलिखित और अमरीकी संविधान को लिखित कहा जाता है, लेकिन इन दोनों में भेद केवल यह है कि एक में अलिखित अंश की प्रधानता है तो दूसरे में लिखित अंश की।

(3) ब्रिटिश संविधान केवल सिद्धान्त में ही लचीला है, व्यवहार में नहीं—डी. टाकविले और टॉमस पेन के अन्य तर्कों का भी कोई महत्व नहीं है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश संविधान लचीला है, लेकिन लचीला होने के कारण ही उसे संविधान मानने से इंकार कैसे किया जा सकता है? यदि डी. टाकविले और टॉमस पेन का तर्क सही होता, तो फिर राजनीति विज्ञान की पुस्तकों में परिवर्तनशीलता के आधार पर संविधान के दो भेद (लचीला संविधान और कठोर संविधान) न बताये जाते।

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश संविधान केवल सिद्धान्त में ही लचीला है, व्यवहार में ब्रिटिश व्यक्तियों की रूढ़िवादिता और उनकी राजनीतिक परिपक्वता ने उसे पर्याप्त सीमा तक कठोर बना दिया है। ब्रिटेन में ऐसी परम्परा है कि शासन व्यवस्था में यदि महत्वपूर्ण परिवर्तन करना हो तो यह कार्य चुनाव के समय जनता से स्पष्ट आदेश प्राप्त करने के बाद ही किया जाय। ऐसी स्थिति में संसद एक संविधान सभा हो जाती है और व्यावहारिक दृष्टि से संविधान को लचीला नहीं कहा जा सकता है।

(4) ब्रिटिश संविधान में आधारभूत नियम हैं—यह कहना भी नितान्त गलत है कि ब्रिटिश संविधान में आधारभूत नियम नहीं हैं। मैग्नाकार्टा, पिटीशन ऑफ राइट्स (Petition of Rights, 1628) और बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights, 1689) को इस प्रकार के आधारभूत नियम ही कहा जा सकता है।

वास्तव में संविधान का अस्तित्व संविधान के लेखबद्ध होने या उसके कठोर होने पर निर्भर नहीं करता, वरन् इस बात पर निर्भर करता है कि क्या शासन व्यवस्था का संचालन करने वाले कुछ आधारभूत तत्व हैं? डायसी के शब्दों में, “संविधान लिखित या अलिखित, उन सभी नियमों और कानूनों का संग्रह होता है, जिनका राज्य की प्रमुख सत्ता के प्रयोग अथवा वितरण पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रभाव पड़ता है।” ब्रिटेन में सदैव ही इस प्रकार के नियमों की सत्ता रही है तथा इस दृष्टि से ब्रिटेन में संविधान का अस्तित्व रहा है। विलेड हैरीसन लिखता है कि, “ब्रिटेन का संविधान उतना ही आधारभूत और नियमों का संग्रह है जितना कि संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ व फ्रांस के संविधान हैं।”¹

प्रो. मुनरो, जैनिंग्स, ब्राइस, डॉ. फाइनर, ऑग और जिंक तथा अन्य लेखकों के द्वारा भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं। वास्तव में, संविधान का तात्पर्य कागज के टुकड़ों से नहीं, वरन् ऐसी वैधानिक संस्थाओं से होता है जिनके आधार पर शासन-व्यवस्था का संचालन होता है। ब्रिटेन में ऐसी वैधानिक संस्थाओं का उदय विश्व के अन्य किसी भी देश के पूर्व

1 W. Harrison, *The Government of Great Britain*, p. 23.

ही हो गया था। जैनिंग्स के शब्दों में, “अगर संविधान से हमारा तात्पर्य संस्थाओं से है, कागजों से नहीं तो ब्रिटेन में संविधान का अस्तित्व रहा है।”¹

वस्तुतः ब्रिटिश संविधान के अस्तित्व पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। ऑग तथा जिक के शब्दों में कहा जा सकता है कि “यह निश्चित है कि पेन तथा डी. टाकविले के समय से काफी पहले इंग्लैण्ड में संविधान था। ऐसा संविधान जिसकी सत्ता के प्रति ब्रिटिश जाति सचेत थी और उसके इतिहास पर गर्व करती थी।”

ब्रिटिश संविधान के स्रोत

(SOURCES OF THE BRITISH CONSTITUTION)

(1) महान् अधिकार-पत्र या ऐतिहासिक प्रलेख—ब्रिटिश संविधान एक लम्बे समय के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है और संवैधानिक विकास के इस लम्बे इतिहास में कुछ युग-प्रवर्तक घटनाएं हुई हैं, जिन्होंने महान् अधिकार-पत्र या ऐतिहासिक प्रलेखों को जन्म दिया। इस प्रकार के ऐतिहासिक प्रलेखों में 1215 का मैग्नाकार्टा, 1628 का अधिकार याचिका-पत्र (Petition of Rights) और 1689 का अधिकार-पत्र (Bill of Rights) सबसे अधिक प्रमुख हैं। ज्येष्ठ विलियम पिट का कहना था कि, “मैग्नाकार्टा, पिटीशन ऑफ राइट्स और बिल ऑफ राइट्स तीनों अधिकार-पत्र, सामूहिक रूप से ब्रिटिश संविधान की बाइबिल हैं।”

(2) संसदीय अधिनियम—ब्रिटिश संविधान यद्यपि एक अलिखित संविधान है, लेकिन अलिखित संविधानों में भी कानूनों का अंश होता है और संसदीय अधिनियम ब्रिटिश संविधान का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। मताधिकार, निर्वाचन पद्धतियों, संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों और सार्वजनिक अधिकारियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों, आदि के सम्बन्ध में संसद के द्वारा समय-समय पर महत्वपूर्ण अधिनियम पारित किये गये हैं और ये संसदीय अधिनियम भी संविधान के स्रोत हैं। संसदीय अधिनियमों और परिनियमों में निम्नलिखित प्रमुख हैं—बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम, 1679 (Habeas Corpus Act, 1679); व्यवस्था अधिनियम, 1701 (Act of Settlement, 1701); स्कॉटलैण्ड के मिलने का अधिनियम, 1737 (Act of Union with Scotland, 1737); 1832, 1867 और 1884 के सुधार अधिनियम (Reforms Act); 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम (Parliamentary Act); जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1918 (Representation of People Act, 1918); वेस्ट-मिनिस्टर अधिनियम, 1931 (Statute of Westminster, 1931) और राजमुकुट के मन्त्रियों का अधिनियम, 1937 (Ministers of the Crown Act, 1937) आदि।

(3) न्यायिक निर्णय—न्यायिक निर्णयों का प्रत्येक देश के संविधान के विकास में महत्वपूर्ण योग होता है। ब्रिटिश संविधान में यद्यपि अमरीकी संविधान की भांति ‘न्यायिक पुनर्विलोकन’ (Judicial Review) की व्यवस्था नहीं है। लेकिन न्यायालयों ने संविधान के विकास में पर्याप्त योग दिया है। ब्रिटिश नागरिकों की स्वतन्त्रता तो बहुत अधिक सीमा तक न्यायिक निर्णयों का ही परिणाम है। उदाहरण के लिए, ‘विल्कीज बनाम वुड’ (Wilkie vs. Wood) के अभियोग में यह निर्णय किया गया था कि किसी भी अनाम निर्दिष्ट व्यक्ति की तलाशी अथवा उसके कागजात को अधिकार में लेने का सामान्य अधिपत्र (General Warrant) अवैध है। सामरसेट (Samerses) के अभियोग में ब्रिटेन से दासता के अन्त करने की घोषणा

1 “If we mean by constitution institutions and not papers, it does exist.”

—Jennings, *The Law and the Constitution*, p. 8.

की गयी। हाबल के अभियोग में न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की गारण्टी की गयी। और सुप्रसिद्ध बुशेल अभियोग (Bushell's Case, 1670) के आधार पर जूरियों की स्वतन्त्रता की दृढ़ स्थापना हुई।

(4) सामान्य विधि (Common Law)—सामान्य विधि से तात्पर्य उन वैधानिक नियमों से है जिनका निर्माण संसद अथवा सम्राट द्वारा नहीं हुआ, वरन् जो रीति-रिवाज और परम्पराओं पर आधारित हैं और जिन्हें न्यायालय द्वारा स्वीकार कर लिया गया है। एक पंक्ति में न्यायालय द्वारा स्वीकृत रीति-रिवाज और परम्पराएं ही सामान्य विधि हैं। ब्रिटिश नागरिकों के मूल अधिकार व स्वतन्त्रताएं सामान्य विधि पर आधारित हैं। मुन्रो के शब्दों में, “सामान्य कानून संसदीय अधिनियमों की भांति न्यायिक निर्णयों के साथ-साथ निरन्तर प्रगति करता रहता है। सम्राट के विशेषाधिकार, संसद की सर्वोच्चता, फौजदारी अभियोगों में जूरी व्यवस्था, ब्रिटिश जनता के विचार व्यक्त करने और भाषण की स्वतन्त्रता के अधिकार, आदि सामान्य कानूनों पर ही आधारित हैं।

(5) प्रथाएं और परम्पराएं—वैसे प्रथाएं और परम्पराएं सभी संविधानों का एक स्रोत होती हैं, लेकिन ब्रिटिश संविधान अलिखित और विकसित होने के कारण प्रथाएं और परम्पराएं सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। ब्रिटिश संविधान की अनेक महत्वपूर्ण बातें, विशेष रूप से संसदीय व्यवस्था, पूर्णतया प्रथाओं और परम्पराओं पर ही आधारित हैं। उदाहरण के लिए, सम्राट जार्ज प्रथम अंग्रेजी भाषा से परिचित न होने के कारण उनके द्वारा मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करना बन्द कर दिया गया और तभी से यह परम्परा स्थापित हो गयी कि सम्राट मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता नहीं करेगा। इसी प्रकार प्रथम प्रधानमन्त्री सर रॉबर्ट वालपोल के समय से यह परम्परा स्थापित हुई है कि लोकसदन में बहुमत दल का नेता ही प्रधानमन्त्री बनेगा और लोकसदन में बहुमत का विश्वास खो देने पर वह अपना त्यागपत्र दे देगा। इसी प्रकार की अन्य अनेक परम्पराएं हैं, जिन पर ब्रिटिश संविधान आधारित है।

(6) संविधान पर टीकाएं—संविधान पर लिखी गयी टीकाओं को भी संविधान का एक स्रोत समझा जाता है, क्योंकि कोई महत्वपूर्ण संवैधानिक समस्या उपस्थित होने पर संसद, न्यायालय और सभी सम्बद्ध पक्ष इन टीकाओं का आश्रय लेते हैं। ब्रिटिश संविधान और शासन व्यवस्था पर लिखे गये कुछ अधिक प्रमुख ग्रन्थ, जिनसे संविधान और शासन व्यवस्था को समझने में सहायता मिलती है, इस प्रकार हैं : डायसी का ग्रन्थ लॉ ऑफ दी कान्स्टीट्यूशन (Law of the Constitution), बैजहाट का इंग्लिश संविधान (English Constitution 1687), सर अर्स्कन मे (Sir Erskin May) की पुस्तक ‘संसदीय कार्यपद्धति और चलन’ (Parliamentary Procedure and Practices), एनसन का ‘लॉ एण्ड कस्टम ऑफ दी कान्स्टीट्यूशन’ (Law and Custom of the Constitution), आदि।

★ ब्रिटिश संविधान संयोग और विवेक का शिशु

(CHILD OF WISDOM AND CHANCE)

वर्तमान समय में सामान्यतया देश के संविधान का निर्माण गम्भीर सोच-विचार के आधार पर और योजनाबद्ध ढंग से किया जाता है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका, फ्रांस, भारत और विश्व के अन्य देशों के संविधान का निर्माण हुआ है। लेकिन ब्रिटिश संविधान का निर्माण नहीं हुआ, वरन् इसका विकास हुआ है। इसने लगभग 1400 वर्षों के विकास के आधार पर अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया है। विकास के इस क्रम की विशेषता

यह है कि कुछ महत्वपूर्ण संस्थाएं और व्यवस्थाएं ऐसी हैं, जिन्हें योजनाबद्ध ढंग से नहीं अपनाया गया, वरन् अनजाने में ही परिस्थितियों ने या संयोग ने उन्हें वर्तमान स्वरूप प्रदान कर दिया। लेकिन दूसरी ओर कुछ ऐसी संस्थाएं और व्यवस्थाएं हैं, जिन्हें सोच-विचारकर योजनाबद्ध ढंग से अर्थात् कानून बनाकर अपनाया गया। इस प्रकार कुछ संस्थाएं और व्यवस्थाएं संयोग का परिणाम हैं, तो कुछ संस्थाएं और व्यवस्थाएं मानवीय विवेक का परिणाम हैं। इस संविधान के सम्बन्ध में लिटन स्ट्रेची का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि, 'ब्रिटिश संविधान संयोग और विवेक का शिशु है' (British Constitution is the Child of Wisdom and Chance)।

न केवल लिटन स्ट्रेची, वरन् ब्रिटिश संविधान के अन्य कुछ लेखकों ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं। प्रो. मुनरो ने लिखा है कि, "ब्रिटिश संविधान एक ही समय पर पूर्ण रूप से तैयार की गई वस्तु न होकर, लम्बी विकास प्रक्रिया का परिणाम है। यह बुद्धिमत्ता और संयोग की सन्तान है, जिसका मागदर्शन कहीं आकस्मिकता और कहीं उच्चकोटि की योजनाओं ने किया है।" सर विलियम ऐन्सन ने कहा है कि, "यह एक विलक्षण ढांचा है, जिसके मालिकों ने समय-समय पर इसमें खड़कियां, खम्बे, ड्योढ़ी और शिखर जोड़े हैं। इसे तत्कालीन आवश्यकताओं और लोकाचारों के अनुसार सुधारा गया है।" इस दृष्टि से ब्रिटिश संविधान की तुलना एक ऐसे विशाल भवन से की जा सकती है जिसके विभिन्न भाग अलग-अलग पीढ़ियों के प्रयत्नों का परिणाम हों।

ब्रिटिश संविधान के विकास में संयोग और विवेक की भूमिका लगभग समान रही है और संस्थाओं के विकास में संयोग और विवेक ने अपनी भूमिका एक ही चरण में नहीं, वरन् विभिन्न चरणों में निभाई है। 'ब्रिटिश संविधान विवेक और संयोग का शिशु है' इस कथन की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है :

संयोग का शिशु—ब्रिटेन संसदात्मक शासन व्यवस्था का जनक है और इस संसदीय शासन की दो महत्वपूर्ण संस्थाएं हैं द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका और मन्त्रिमण्डल तथा शासन व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल की निर्णयकारी भूमिका। ये संस्थाएं संयोग का ही परिणाम हैं।

द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका—विश्व के विभिन्न देशों ने द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का विचार और व्यवस्था ब्रिटेन से ग्रहण की है, लेकिन स्वयं ब्रिटेन में द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका को सोच-विचारकर किसी योजना के आधार पर नहीं अपनाया गया, वरन् संयोगवश ही यह अस्तित्व में आ गई। 13वीं सदी के अन्तिम वर्षों में इंग्लैण्ड का राजकोष खाली हो गया था। ऐसी स्थिति में 1295 ई. में ब्रिटेन के सम्राट एडवर्ड प्रथम ने भारी मात्रा में नये कर लगाने की आवश्यकता अनुभव की और नये कर प्रस्तावों पर विचार करने के लिये तीन अलग-अलग वर्गों (सामन्त वर्ग के प्रतिनिधि, धर्माधिकारी वर्ग और नगरों के प्रतिनिधि) के प्रतिनिधियों को बुलाया। ब्रिटेन के संवैधानिक इतिहास में इसे ही 'मॉडल पार्लियामेंट' (Model Parliament) के नाम से जाना जाता है। इस उदाहरण से त्रि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का विकास होता, किन्तु बैरन (सामन्तों) और उच्च धर्माधिकारियों ने हितों की परस्पर एकता अनुभव की और वे एक हो गये। इसी प्रकार शायर के 'नाइट' और नगरों के प्रतिनिधि

1 "The British Constitution is not a completed thing, but a process of growth. It is a child of wisdom and chance; whose course has been sometimes guided by accident and sometimes by his design." —Munro : *Governments of Europe*; p. 2.

दोनों ही निर्वाचित होते थे तथा उनके हित भी लगभग एक जैसे थे। अतः ये दोनों वर्ग एक-दूसरे के समीप हो गये और छोटे धर्माधिकारी भी इनके साथ जुड़ गये। इस स्थिति के कारण त्रि-सदनात्मक व्यवस्थापिका के स्थान पर द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका का विकास हुआ। उच्च सदन (लॉर्ड सभा) सामन्तों और पादरियों का प्रतिनिधित्व करने लगा और निम्न सदन (कामन्स सभा) जन साधारण का प्रतिनिधित्व करने लगा।

इसी प्रकार लोक सदन में 'स्पीकर' पद की स्थिति भी संयोगवश ही बनी। सन् 1376 में लोकसदन ने सम्राट और लॉर्ड सभा के सम्मुख अपनी याचिका प्रस्तुत करने के लिये 'स्पीकर' को निर्वाचित किया और उसी समय से स्पीकर का पद चला आ रहा है।

मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था का विकास

ब्रिटेन या संसदीय व्यवस्था वाले अन्य किसी देश में मन्त्रिमण्डल समस्त प्रशासन का संचालन करने वाली सर्वोच्च संस्था होती है और मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था का आशय है कि यह मन्त्रिमण्डल लोकसदन के प्रति उत्तरदायी हों। ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था की यह स्थिति संयोगवश और कुछ चरणों से गुजरकर ही बनी है।

(1) 17वीं सदी से पूर्व तक मन्त्रिमण्डल का विकास—ऐंग्लो-सैक्सन काल एवं नार्मन काल में सम्राट को परामर्श देने तथा प्रशासन कार्यों में सहयोग देने के लिये दो संस्थाएँ थीं : विटनेजमोट (बुद्धिमानों की सभा) और क्यूरिया रेजिस (शाही परिषद)। विटनेजमोट एक बड़ी संस्था थी, जिसने समय पाकर संसद का रूप ग्रहण कर लिया। क्यूरिया रेजिस एक लघु संस्था थी, जो नीति निर्धारण और सभी प्रशासनिक मामलों पर सम्राट को परामर्श तथा सहायता देती थी। सम्राट एडवर्ड षष्ठ के काल में क्यूरिया रेजिस ने प्रिवी कौंसिल का नाम ग्रहण कर लिया। इसी प्रिवी कौंसिल ने आगे चलकर केबिनेट को जन्म दिया।

(2) 17वीं सदी में मन्त्रिमण्डल का विकास—17वीं सदी में प्रिवी कौंसिल 50 सदस्यों की एक बड़ी संस्था बन गई थी। अतः जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम ने प्रिवी कौंसिल की एक छोटी समिति से परामर्श करना शुरु कर दिया। चार्ल्स द्वितीय के काल में प्रमुख परामर्शदाता की स्थिति पांच व्यक्तियों (क्लिफर्ड, आलिंगटन, बर्किंगम, एशले और लाडरडेम) को प्राप्त थी और इन व्यक्तियों में से प्रत्येक के नाम के प्रथम अक्षर को लेकर इस समिति को 'कबाल' (CABAL) कहा जाने लगा। आगे चलकर बेकन ने 'कबाल' के स्थान पर 'केबिनेट' शब्द का प्रयोग किया।

लेकिन यह 'कबाल' अपने स्वरूप और कार्यकरण में वर्तमान अर्थों की केबिनेट के समान नहीं थी। इसके सदस्यों में एकरूपता नहीं थी, इसे सत्ता प्राप्त नहीं थी और यह संस्था संसद के प्रति उत्तरदायी भी नहीं होती थी। एकदलीय मन्त्रिमण्डल का विकास 1695 ई. में विलियम तृतीय के शासनकाल में हुआ। इस समय व्हिग दल को लोकसभा में बहुमत प्राप्त था, अतः विलियम तृतीय ने अकेले व्हिग दल के मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। अब इस प्रथा का विकास हुआ कि मन्त्रिमण्डल का निर्माण उस दल में से होना चाहिए, जिसे कामन्स सभा में बहुमत प्राप्त हों।

18वीं सदी में मन्त्रिमण्डल का विकास—सही अर्थों में मन्त्रिमण्डल का विकास 18वीं सदी में ही हुआ और यह विकास योजनाबद्ध ढंग से किये गये कार्य का नहीं, वरन् सुखद संयोग और एक विशेष स्थिति में केबिनेट के अध्यक्ष पद पर आसीन व्यक्ति द्वारा अपनाये गये आचरण का परिणाम था। सन् 1714 में पदासीन हैनोवर वंश के सम्राट जार्ज प्रथम और

जार्ज द्वितीय अंग्रेजी भाषा, ब्रिटिश राजनीति तथा ब्रिटेन के राजनीतिक रीति-रिवाजों से अनभिज्ञ थे एवं उन्हें ब्रिटिश राजनीति की अपेक्षा हैनोवर राजनीति में अधिक रुचि थी। अतः उन्होंने मन्त्रिमण्डल की बैठकों में अनुपस्थित रहना शुरू कर दिया। इस संयोग ने केबीनेट को सम्राट के प्रभाव से मुक्त कर दिया। जब केबीनेट के ही एक सदस्य द्वारा केबीनेट की बैठकों की अध्यक्षता कराना प्रारम्भ कर दिया गया, तो इस स्थिति के परिणामस्वरूप प्रधानमन्त्री पद का विकास हुआ।

सर राबर्ट वालपोल ब्रिटेन के पहले प्रधानमन्त्री थे। वालपोल ने प्रधानमन्त्री के पद को संगठित एवं सुदृढ़ किया तथा केबीनेट के प्रसंग में श्रेष्ठ परम्पराओं को अपनाया। जब 1742 में संसद ने मन्त्रिमण्डल की नीतियों का समर्थन नहीं किया, तो वालपोल ने त्यागपत्र देकर इस प्रथा को शुरू कर दिया कि संसद में पराजित मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र दे देना चाहिए। वालपोल के आचरण ने संसदीय व्यवस्था के सार तत्व को जन्म दे दिया।

19वीं सदी में मन्त्रिमण्डल का विकास—19वीं सदी में मताधिकार का विस्तार हुआ और मताधिकार के इस विस्तार से मन्त्रिमण्डल को जनाधार प्राप्त हो गया। राजनीतिक दलों के विकास ने दलीय अनुशासन और नियन्त्रण को जन्म दिया, जिसने मन्त्रिमण्डल को शक्तिशाली बना दिया। लोक सदन में बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद, मन्त्रिमण्डल की राजनीतिक सजातीयता और मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व जैसे सिद्धान्तों का विकास इसी काल में हुआ। अब मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री को निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त हो गई और बीसवीं सदी तथा विशेषतया द्वितीय महायुद्ध के काल से मन्त्रिमण्डल पर प्रधानमन्त्री का नियन्त्रण इस सीमा तक आगे बढ़ गया कि 'प्रधानमन्त्रीय शासन' (Prime-Ministerial Govt.) की बात कही जाने लगी। एक संस्था के रूप में मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था का यह सम्पूर्ण विकास योजनाबद्ध ढंग से किये गये कानूनों का परिणाम नहीं, वरन् संयोग के तत्व और राजनीतिक परम्पराओं का ही परिणाम है।

विवेक का शिशु (विवेक के तत्व)

यदि ब्रिटिश संविधान की कुछ संस्थाएं और व्यवस्थाएं संयोग के तत्व की परिणाम हैं तो दूसरी ओर कुछ संस्थाएं और व्यवस्थाएं बुद्धिमत्तापूर्वक किये गये प्रयत्नों का परिणाम हैं। विवेकपूर्वक उठाये गये कदमों ने जिन संस्थाओं और व्यवस्थाओं को जन्म दिया, उनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) निरंकुश राजतन्त्र से सिद्धान्त में संवैधानिक राजतन्त्र और व्यवहार में लोकतन्त्र की स्थापना—ब्रिटेन के संवैधानिक विकास का सार तत्व है, निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्र की स्थापना और यह कार्य केवल कुछ ही अंशों में संयोग के तत्व (1685-87 के वर्षों में जेम्स द्वितीय का निरंकुश शासन और उसका फ्रांस भाग जाना व अठारहवीं सदी में हैनोवर वंश का पदारुढ़ होना) और अधिकांश अंशों में विवेकपूर्वक किये गये कार्यों का परिणाम है। लोकतन्त्र की स्थापना में तीन ऐतिहासिक प्रलेखों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये हैं : 1215 का मेग्नाकार्टा, 1628 का अधिकार याचिका-पत्र (Petition of Rights) और 1689 का अधिकार-पत्र (Bill of Rights)।

(2) वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान प्रणाली और एकल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—वयस्क मताधिकार संसद द्वारा निर्मित कानूनों का ही परिणाम है और ब्रिटेन में वयस्क मताधिकार को क्रमिक रूप में अपनाया गया है। सन् 1832, 1867, 1884 और 1918 के सुधार

अधिनियमों द्वारा मताधिकार को व्यापक किया गया और अन्ततः 1929 के सुधार अधिनियम के आधार पर वयस्क मताधिकार को अपनाया गया। इसके बाद सन् 1969 के अधिनियम ने मताधिकार की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी। इसी प्रकार गुप्त मतदान की प्रणाली को 1872 ई. में शुरू किया गया और 1948 में बहुल निर्वाचन क्षेत्रों को समाप्त कर एकल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार योजनाबद्ध ढंग से लोक सदन का लोकतन्त्रीकरण किया गया है।

(3) **लॉर्ड सभा पर लोक सदन की श्रेष्ठता**—19वीं सदी के मध्य तक लॉर्ड सभा को लोक सदन पर श्रेष्ठता की स्थिति प्राप्त थी, इसी सदी के उत्तरार्द्ध में दोनों सदन लगभग समान स्तर पर आ गये और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में इस विचार को अपनाया गया कि कानून निर्माण और वित्तीय मामलों में अन्तिम शक्ति लोकसदन को प्राप्त होनी चाहिए। लेकिन जब लॉर्ड सभा ने इस स्थिति को अस्वीकार करने की कोशिश की तब 1911 और 1949 के अधिनियमों के आधार पर लॉर्ड सभा की शक्तियों को सीमित कर दिया। इस प्रकार संसदीय अधिनियमों के आधार पर कानून निर्माण तथा वित्तीय मामलों में अन्तिम शक्ति लोक सदन को प्राप्त हो गई है और 'संसद की प्रभुसत्ता' का आशय 'लोक सदन की प्रभुसत्ता' से हो गया है।

(4) **लॉर्ड सभा की रचना में सुधार : पीयरेंज एक्ट्स**—सन् 1958 और 1963 के पीयरेंज अधिनियमों के माध्यम से लॉर्ड सभा की संरचना में सुधार किये गये हैं। 'पीयरेंज अधिनियम 1958' के आधार पर 'आजीवन पियरों' और 'महिला पियरों' की व्यवस्था की गई है और 1963 के 'पीयरेंज अधिनियम' के आधार पर व्यवस्था की गई है कि कोई व्यक्ति जो वंशानुगत आधार पर पीयर अर्थात् लॉर्ड सभा का सदस्य है, वह चाहे तो पीयर पद का त्याग कर सकता है। 'पीयरेंज अधिनियम 2000' के आधार पर भविष्य के लिए 'वंशानुगत पियरों' की व्यवस्था समाप्त कर दी गई है अर्थात् लॉर्ड सभा में वर्तमान में जो वंशानुगत सदस्य हैं, वे जीवन-पर्यन्त बने रहेंगे; लेकिन उनके उत्तराधिकारी को लॉर्ड सभा की सदस्यता प्राप्त नहीं होगी।

इस प्रकार ब्रिटिश संविधान की कुछ बातें विवेक का परिणाम हैं, लेकिन इस संविधान में संयोग का तत्व विवेक की तुलना में कम नहीं है। इस संविधान के विषय में ठीक ही कहा गया है कि 'यह संयोग और विवेक का शिशु है।'

ब्रिटिश संविधान की प्रमुख विशेषताएं या प्रमुख लक्षण

(MAIN FEATURES OF THE BRITISH CONSTITUTION)

संविधान जीवन का वह मार्ग है जिसे राज्य ने अपने लिए चुना है। विभिन्न राज्यों की परिस्थितियों में भेद होने के कारण स्वाभाविक रूप से उनके जीवन मार्ग भी विभिन्न होते हैं। ब्रिटेन ने अपनी परिस्थितियों के अनुरूप जिस संविधान को अपनाया है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं जिनका उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **विकसित संविधान**—भारत, अमरीका, फ्रांस और अन्य देशों के संविधान ऐसे हैं जिनका निर्माण किसी एक विशेष संविधान सभा के द्वारा किया गया है, किन्तु ब्रिटिश संविधान का निर्माण नहीं हुआ वरन् उसका विकास हुआ है और इसने वर्तमान स्वरूप सदियों के विकास के बाद प्राप्त किया है। ब्रिटेन में 9वीं सदी से राजतन्त्र की स्थापना हुई, 13वीं सदी में संसद का विधिवत् चलन प्रारम्भ हुआ, 17वीं सदी में संसदीय प्रभुसत्ता की स्थापना हुई और उसके बाद का संवैधानिक इतिहास ब्रिटिश व्यवस्था के लोकतन्त्रीकरण की गाथा है। इस दृष्टि से ब्रिटिश संविधान की तुलना एक ऐसे विशाल भवन से की जा सकती है जिसके विभिन्न भाग अलग-अलग पीढ़ियों के प्रयत्नों का परिणाम हों।

(2) अलिखित संविधान—वर्तमान समय में जबकि सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि संविधान आवश्यक रूप से एक 'प्रलेख' (Document) के रूप में होना चाहिए, ब्रिटिश संविधान अलिखित संविधान का एकमात्र उदाहरण है। अंग्रेज लोग सिद्धान्तवादी कम और व्यवहारवादी अधिक होते हैं और इसी कारण उनमें अपने संविधान को लिपिबद्ध करने के प्रति सदैव अनिच्छा रही है। ब्रिटिश संविधान में, यद्यपि कानूनों के रूप में कुछ लिखित अंश भी हैं, लेकिन उनका अधिकांश प्रथाओं और परम्पराओं के रूप में अलिखित ही है और प्रमुखतया संविधान के इसी लक्षण के कारण डी. टाकविले और टॉमस पेन के द्वारा तो उसके अस्तित्व पर भी सन्देह व्यक्त कर दिया गया है। न्यूमैन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "जो बात ब्रिटिश संविधान को विशिष्ट बनाती है, वह ऐसे अनेक नियमों का अस्तित्व है, जो केवल परम्परा पर आधारित हैं।"

(3) लचीला या सुपरिवर्तनशील संविधान—परिवर्तनशीलता के आधार पर दो प्रकार के संविधान होते हैं : लचीला संविधान और कठोर संविधान। लचीले संविधान में साधारण कानून के निर्माण की प्रक्रिया से ही परिवर्तन किया जा सकता है, किन्तु कठोर संविधान में परिवर्तन करने के लिए, साधारण कानूनों के निर्माण से भिन्न, संविधान में निर्धारित विशेष प्रक्रिया को अपनाना आवश्यक होता है। ब्रिटिश संविधान इस दृष्टि से लचीला है कि ब्रिटिश संसद सामान्य बहुमत के आधार पर ही संविधान में कोई भी परिवर्तन कर सकती है। अंग्रेजी विद्वान एन्सन (Anson) ने लिखा है कि "हमारी पार्लियामेंट जंगली चिड़ियों अथवा शैल मछलियों की रक्षा के लिए कानून बना सकती है या लाखों नागरिकों को राजनीतिक शक्ति प्रदान कर सकती है अथवा उसका वितरण नवीन निर्वाचन क्षेत्रों में कर सकती है।"¹

सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश संविधान लचीला है और ब्रिटेन में साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु व्यवहार में ब्रिटिश व्यक्तियों की रूढ़िवादिता और सुस्थापित जनतन्त्रीय परम्पराओं ने संविधान की मूल व्यवस्थाओं में परिवर्तन का कार्य बहुत कठिन कर दिया है। ब्रिटेन में यह एक परम्परा स्थापित हो गयी है कि संविधान में महत्वपूर्ण परिवर्तन उस समय तक न किया जाय, जब तक कि आम चुनाव में उस विषय पर जन सहमति न प्राप्त हो जाय। उदाहरण के लिए, 1911 के संसदीय अधिनियम के आधार पर लॉर्ड सभा के अधिकारों में कटौती करने के पूर्व 1910 में लोकसदन को विघटित कर उस विषय पर जनस्वीकृति प्राप्त कर ली गयी थी।

(4) सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर (Difference between Theory and Practice)—ब्रिटिश संविधान का एक महत्वपूर्ण लक्षण सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर है। मुनरो के शब्दों में, "ब्रिटिश शासन में जो कुछ दिखायी देता है वह वास्तव में है नहीं और जो है, वह दिखायी नहीं देता।"

यद्यपि विश्व के अन्य देशों के संविधानों में भी सैद्धान्तिक स्थिति और वास्तविक स्थिति में अन्तर पाया जाता है, किन्तु किसी भी अन्य संविधान में सैद्धान्तिक स्थिति और वास्तविकता में भेद का यह तत्व इतना प्रबल नहीं है जितना कि ब्रिटिश संविधान में। ऑग ने ऐसा मत व्यक्त करते हुए कहा है, "सभी शासन व्यवस्थाओं में सिद्धान्त व व्यवहार में अनेक भेद पाये

1 "In the British constitution nothing is what it seems to be or seems to be what is it."
—Munro, *Governments of Europe*, p. 14.

जाते हैं पर जितने अधिक रूप में वे अंग्रेजी संविधान में पाये जाते हैं, उतने किसी संविधान में नहीं पाये जाते।¹

सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : प्रथमतः, सैद्धान्तिक दृष्टि से इंग्लैण्ड में राजतन्त्र है, किन्तु व्यवहार में वहां पर राजतन्त्र न होकर लोकतन्त्र है। द्वितीयतः, सैद्धान्तिक दृष्टि से इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था में शक्ति का पृथक्करण पाया जाता है क्योंकि वहां की कानून निर्माण शक्ति संसद में, कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल में और न्यायिक शक्ति न्यायपालिका में निहित है। किन्तु इंग्लैण्ड में संसदात्मक शासन-व्यवस्था है और वहां शक्तियों के पृथक्करण के स्थान पर शक्तियों का केन्द्रीकरण या सामंजस्य देखा जा सकता है। तृतीयतः, सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद केबीनेट पर नियन्त्रण रखती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि स्वयं केबीनेट से नियन्त्रित होती है।

सिद्धान्त और व्यवहार के इस भेद के कारण ही ऑग ने कहा है कि “सैद्धान्तिक दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन, की शासन-व्यवस्था निरंकुश राजतन्त्रात्मक है, पर उसका रूप सीमित सैवधानिक राजतन्त्र है और वस्तुतः वह लोकतान्त्रिक गणराज्य है।”² ऑग का यह कथन ब्रिटिश संविधान की एक प्रमुख असंगति की ओर ध्यान आकर्षित करता है और ब्रिटिश सम्राट की औपचारिक शक्तियों तथा उसकी वास्तविक स्थिति में भेद को स्पष्ट करता है। ऑग के इस कथन को निम्न रूपों में समझा जा सकता है :

सैद्धान्तिक दृष्टि से निरंकुश राजतन्त्रात्मक—निरंकुश राजतन्त्र का तात्पर्य उस शासन व्यवस्था से होता है, जिसमें न केवल सम्राट का पद हो, वरन् सम्राट को प्रशासनिक क्षेत्र में असीमित शक्तियां प्राप्त हों। 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के पूर्व ब्रिटेन में इसी प्रकार की शासन-व्यवस्था थी। यद्यपि आज निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर ब्रिटेन में पूर्ण प्रजातन्त्रीय शासन की स्थापना हो चुकी है, किन्तु जहां तक सैद्धान्तिक अध्ययन का प्रश्न है, ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था आज भी वैसी ही है, जैसी कि 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के पूर्व रही होगी। सिद्धान्ततः इंग्लैण्ड का शासन सम्राट में निहित है। वह सम्पूर्ण विधि और न्याय का स्रोत है। मन्त्री उसके मन्त्री होते हैं और उसके प्रसादपर्यन्त ही अपने पद पर आसीन रह सकते हैं। वह संसद का अधिवेशन बुलाता, स्थगित करता और लोकसदन को भंग करता है। संसद द्वारा पारित विधेयक सम्राट की स्वीकृति के बाद ही कानून का रूप ग्रहण करते हैं। राज्य के समस्त सैनिक और असैनिक अधिकारियों को वही नियुक्त और अपदस्थ करता है और सम्राट ही शान्ति एवं युद्धकाल में इंग्लैण्ड की समस्त सेनाओं का प्रधान सेनापति होता है। युद्ध की घोषणा, शान्ति एवं सन्धियां सब कुछ उसके नाम से ही होती हैं। इंग्लैण्ड की समस्त जनता राजभक्त है और इंग्लैण्ड का राष्ट्रीय गीत है ‘*God save the King*’ **बैजहाट के** द्वारा 1832 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ‘*दी इंगलिश कान्स्टीट्यूशन*’ (*The English Constitution*) में कार्यों की एक लम्बी सूची का उल्लेख किया है, जो ब्रिटिश सम्राट सिद्धान्त में कर सकता है। बैजहाट द्वारा दी गयी यह सूची सिद्धान्ततः आज भी सत्य है।

1 “There are plenty of contrasts between theory and practice in all governments. But in none do they form the very warp and woof of the system as in Britain.”

—Ogg

2 “The Government of the United Kingdom is in ultimate theory, an absolute monarchy in form, a limited constitutional monarchy and in actual character a democratic republic.”

—Ogg, *British Government and Politics*.

सिद्धान्त के अनुसार ब्रिटेन में सब कुछ सम्राट का ही है और ब्रिटिश शासन-व्यवस्था निरंकुश राजतन्त्रात्मक है।

रूप की दृष्टि से सीमित संवैधानिक राजतन्त्र—सीमित संवैधानिक राजतन्त्र का तात्पर्य ऐसे शासन से होता है जिसमें राजा का पद तो हो, किन्तु उसकी शक्तियां संविधान द्वारा मर्यादित कर दी गयी हों। जहां तक रूप या गठन का सम्बन्ध है, ब्रिटिश शासन-व्यवस्था को सीमित संवैधानिक राजतन्त्रात्मक कहा जा सकता है; क्योंकि सम्राट को अपने कर्तव्यों के निर्वहन में सहायता देने हेतु मन्त्रिमण्डल और संसद जैसी संस्थाओं की व्यवस्था की गयी है। मन्त्रिपरिषद् और संसद लोकतन्त्रात्मक संस्थाएं हैं और सम्राट संविधान द्वारा प्रदत्त अपनी शक्तियों का प्रयोग इन लोकतन्त्रीय संस्थाओं की सहायता के आधार पर ही कर सकता है। सम्राट पद की शक्तियां सीमित हैं और उसके द्वारा मनमाना आचरण नहीं किया जा सकता, अतः संगठन की दृष्टि से इसे सीमित संवैधानिक राजतन्त्र कहना उचित होगा।

वस्तुतः लोकतन्त्रीय गणराज्य—लोकतान्त्रिक गणराज्य का तात्पर्य ऐसे शासन से होता है जिसमें राज्य की शासन शक्ति जनता में निहित हो और राज्य का प्रधान जनता द्वारा निर्वाचित हो। सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश शासन-व्यवस्था चाहे निरंकुश राजतन्त्रात्मक हो, जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, ब्रिटेन निश्चित रूप से एक लोकतान्त्रिक गणराज्य है। सिद्धान्त में, सम्राट की शक्तियों की चाहे कितनी ही लम्बी गणना क्यों न करायी जाय, व्यवहार में सम्राट मन्त्रिमण्डल और संसद के हाथ की कठपुतली-मात्र है। सम्राट की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में बैजहाट ठीक ही लिखता है कि “यदि संसद के दोनों सदन उसके मृत्यु आदेश को पारित कर उसके पास प्रेषित करें तो उस पर भी उसे हस्ताक्षर करना ही पड़ेगा।” वस्तुतः सम्राट की सभी शक्तियां आज मन्त्रिमण्डल के हाथ में चली गयी हैं, जो स्वयं लोकसदन के प्रति उत्तरदायी हैं और लोकसदन जनता की इच्छा पर आधारित है। अतः शासन की अन्तिम शक्ति जनता के हाथ में है और शासन स्पष्टतया जनता की सहमति का शासन है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य तथ्य यह है कि यद्यपि सम्राट उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद प्राप्त करते हैं, लेकिन उनकी स्थिति और कार्य किसी भी रूप में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि से भिन्न नहीं है। ब्रिटिश जनता के सभी वर्गों में सम्राट को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त है और आज सम्राट ब्रिटेन का वैसा ही जन नेता है जैसा कि किसी भी अन्य देश में कोई दूसरा व्यक्ति हो सकता है। इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लास्की लिखते हैं, ‘राजतन्त्र ने अपने आपको जनता के हाथों में बेच दिया है’ और ऑग के शब्दों में, इंग्लैण्ड की स्थिति आज ‘मुकुटधारी गणतन्त्र’ (Crowned Republic) की है।

(5) संसदात्मक प्रजातन्त्र—ब्रिटेन में संसदीय प्रजातन्त्र को अपनाया गया है और ब्रिटिश शासन संसदात्मक व्यवस्था का आदर्श प्रतीक है। संसदात्मक शासन के तीनों ही लक्षण (दोहरी कार्यपालिका व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध तथा कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता) ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत पूर्ण अंशों में विद्यमान हैं।

ब्रिटिश सम्राट कार्यपालिका का नाममात्र का प्रधान है और प्रधानमन्त्री तथा कैबिनेट कार्यपालिका की वास्तविक प्रधान। इंग्लैण्ड में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से ली जाती है और कार्यपालिका के सदस्य कानून

1 “She (He) must sign her death warrant if the two houses unanimously send it upto her (him).”

निर्माण कार्य में भी संसद का नेतृत्व करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका अर्थात् संसद कानून निर्माण कार्य के साथ-साथ प्रशासन पर नियन्त्रण भी रखती है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक कार्यपालिका अर्थात् केबिनेट का कार्यकाल लोकसदन के विश्वास पर निर्भर करता है।

(6) संसद की सर्वोच्चता या प्रभुसत्ता—ब्रिटिश संविधान की एक अन्य विशेषता संसद की प्रभुसत्ता या सर्वोच्चता का सिद्धान्त है। ब्रिटेन में एकात्मक शासन होने के कारण संसद एकमात्र कानून-निर्मात्री सत्ता है और संविधान लचीला होने के कारण साधारण बहुमत से ही किसी भी कानून का निर्माण कर सकती है। संसद की कानून निर्माण की शक्ति की कोई सीमा नहीं है और संसद द्वारा निर्मित किसी भी कानून को किसी सत्ता के सम्मुख चुनौती नहीं दी जा सकती; क्योंकि ब्रिटेन में अमरीका या भारत के समान न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था नहीं है। ब्रिटिश संसद की इस असीम शक्ति को लक्ष्य करते हुए डी लोम्ब (De Lombe) ने लिखा है, “संसद स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के अतिरिक्त अन्य सब कुछ कर सकती है।”¹ डायसी ने संसद की प्रभुसत्ता का विस्तार के साथ उल्लेख किया है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि संसद की प्रभुसत्ता केवल कानूनी दृष्टिकोण के अनुसार ही है, व्यवहार में संसद की शक्तियों के प्रयोग पर अनेक प्रतिबन्ध हैं। आन्तरिक क्षेत्र में संसद की शक्ति लोकमत, नैतिक धारणाओं और परम्परा से सीमित है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और ब्रिटेन की यथार्थ स्थिति से सीमित होती है।

(7) एकात्मक शासन—क्षेत्र की दृष्टि से ब्रिटेन एक सुगठित इकाई है और सम्भवतया इसी कारण ब्रिटेन में एकात्मक शासन को अपनाया गया है। संविधान के द्वारा शासन की समस्त शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित कर दी गयी है और यह केन्द्रीय सरकार ही सम्पूर्ण देश के शासन का संचालन करती है। यद्यपि प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के द्वारा स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों की स्थापना की गयी और इन स्थानीय इकाइयों को पर्याप्त शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, लेकिन शासन-व्यवस्था एकात्मक होने के कारण इन स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों को अपना अस्तित्व और शक्तियाँ संविधान से नहीं, वरन् केन्द्रीय सरकार से प्राप्त हैं और स्वाभाविक रूप से उनका अस्तित्व तथा शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती हैं।

(8) विधि का शासन—ब्रिटिश संविधान की एक विशेषता, जिस पर अंग्रेज बहुत अधिक गर्व करते हैं ‘विधि का शासन’ है। ‘विधि के शासन’ का आशय यह है कि इंग्लैण्ड के शासन का संचालन किन्हीं विशेष व्यक्तियों की इच्छा द्वारा नहीं वरन् विधि के द्वारा ही किया जाता है। विधि के शासन का एक अन्य तात्पर्य यह है कि ब्रिटेन में सभी व्यक्ति, चाहे उनका पद और स्थिति कुछ भी क्यों न हो, एक ही प्रकार की विधि और एक ही प्रकार के न्यायालयों के अधीन हैं। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश व्यवस्था फ्रांस की व्यवस्था के नितान्त विपरीत है, जहाँ सरकारी कर्मचारियों और न्यायालय की विशेष स्थिति को स्वीकार करते हुए उनके लिए प्रशासनिक विधि और न्यायालय की व्यवस्था की गयी है। डायसी ने विधि के शासन को लक्ष्य करते हुए ही कहा है कि “विधि के शासन के अनुसार प्रत्येक सरकारी कर्मचारी प्रधानमन्त्री से लेकर एक सामान्य सिपाही और कर संग्रह करने वाले अधिकारी तक, अपने अवैध कार्यों के लिए देश के कानून के प्रति उसी प्रकार से उत्तरदायी हैं, जैसे कोई अन्य सामान्य नागरिक।”

1 “Parliament can do every thing except to make a woman a man and a man a woman.”
—De Lombe.

‘विधि के शासन’ की यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से ही पूर्ण सत्य है, व्यवहार में इस पर अनेक प्रतिबन्ध हैं।

(9) अधिकार-पत्र का अभाव, किन्तु नागरिक स्वतन्त्रताओं और अधिकारों की विद्यमानता—वर्तमान राजनीतिक जीवन की सामान्य प्रवृत्ति यह है कि संविधान के अन्तर्गत नागरिकों के लिए अधिकार-पत्र की व्यवस्था की जाती है और शासन को इनकी अवहेलना करने की शक्ति से वंचित कर दिया जाता है। प्रायः ऐसा समझा जाता है कि नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने के लिए ऐसा करना आवश्यक है ब्रिटिश संविधान में इस प्रकार का कोई अधिकार-पत्र नहीं है, लेकिन संविधान में अधिकार-पत्र का अभाव होने पर भी ब्रिटिश नागरिक अन्य देशों के नागरिकों की तुलना में कम स्वतन्त्र और कम अधिकार-सम्पन्न नहीं है। कुछ अधिकार (बन्दी प्रत्यक्षीकरण का अधिकार, शस्त्र धारण करने का अधिकार, आवेदन प्रस्तुत करने का अधिकार, अत्यधिक जुर्माने और अमानुषिक दण्ड से बचने का अधिकार, आदि) तो संसदीय अधिनियमों द्वारा प्रदान किये गये हैं। अन्य कुछ स्वतन्त्रताएं (भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, सम्मेलन और संघ बनाने की स्वतन्त्रता, आदि) सामान्य विधि पर आश्रित हैं। नागरिक इन स्वतन्त्रताओं का उपभोग तब तक कर सकते हैं, जब तक कि वे किसी कानून को भंग न करें या अन्य नागरिकों के ऐसे अधिकार को आघात न पहुंचावें।

(10) धर्म निरपेक्षता के प्रसंग में स्थिति—ब्रिटिश संविधान एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है या धर्माचार्य राज्य की; यह विचार और विवाद का विषय है। ब्रिटेन में कानूनी तौर पर यह व्यवस्था है कि ब्रिटेन का राजा अथवा रानी अनिवार्य रूप से प्रोटेस्टैंट ईसाई हों। इस आधार पर अनेक व्यक्ति ब्रिटेन को धर्म निरपेक्ष राज्य मानने से इंकार करते हैं। लेकिन व्यावहारिक अध्ययन की दृष्टि से यह बात महत्व नहीं रखती। राजा तो ब्रिटिश राजव्यवस्था का प्रतीकात्मक पद है। समस्त शासन व्यवस्था का वास्तविक प्रधान प्रधानमंत्री ही है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ब्रिटेन में सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। अतः यह कहना उचित होगा कि सैद्धान्तिक स्थिति के सम्बन्ध में विवाद हो सकता है, व्यवहार में ब्रिटेन सम्पूर्ण अंशों में एक धर्म निरपेक्ष राज्य है।

(11) मिश्रित शासन प्रणाली—ब्रिटिश संविधान एक निर्मित नहीं वरन् विकसित संविधान है। एक ही समय पर पूर्ण संविधान का निर्माण करने के बजाय संविधान को परिस्थितियों के अनुसार ढाला जाता रहा है। परिस्थितियों के अनुसार विकास ने जहां संविधान में प्रगतिशीलता का समावेश किया है वहां इसी कारण संविधान में असंगति भी आ गयी है और असंगति का प्रमाण तथा प्रतीक है ब्रिटेन की मिश्रित शासन प्रणाली। मूल रूप में जो तीन प्रकार की शासन-व्यवस्थाएं (राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और प्रजातन्त्र) होती हैं, ब्रिटेन में इन तीनों ही शासन-व्यवस्थाओं के लक्षण विद्यमान हैं। राजतन्त्र के प्रतीक रूप में ब्रिटेन का सम्राट है जिसके द्वारा उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद प्राप्त किया जाता है। लॉर्ड सभा कुलीनतन्त्रीय संस्था है जिसके अधिकांश सदस्य कुलीन वर्ग में से आते हैं और उत्तराधिकार के आधार पर पद ग्रहण करते हैं। लोकसदन और केबिनेट लोकतन्त्रीय संस्थाओं के प्रतीक हैं। राजपद और लॉर्ड सभा के होते हुए भी वास्तविकता की दृष्टि से ब्रिटेन में लोकतन्त्रीय शासन ही है क्योंकि राजपद और लॉर्ड सभा की शक्तियों को बहुत अधिक सीमित कर दिया गया है।

(12) **द्विदल पद्धति**—ब्रिटिश संविधान और राजनीति की एक विशेषता द्विदल पद्धति है। ब्रिटेन में राजनीतिक दलों के संगठन की स्वतन्त्रता है, किन्तु व्यवहार में पिछली लगभग तीन सदियों से ब्रिटिश राजनीति में लगभग दो ही राजनीतिक दलों की प्रमुखता रही है। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति तक ब्रिटिश राजनीति के दो प्रमुख दल थे : अनुदार दल और उदार दल। महायुद्ध के बाद उदार दल का पतन और मजदूर दल का उदय प्रारम्भ हुआ और ब्रिटेन के दो प्रमुख दल हैं : अनुदार और मजदूर दल। द्विदल पद्धति के कारण ब्रिटेन में एक ही राजनीतिक दल की सरकार का निर्माण होता है और वह राजनीतिक स्थायित्व प्रदान करती है। ब्रिटेन में संसदीय शासन की अद्वितीय सफलता का बहुत कुछ श्रेय इस द्विदल पद्धति को ही दिया जा सकता है।

(13) **सीमित रूप में शक्ति विभाजन का सिद्धान्त**—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिपादक माण्टेस्व्यू का विचार था कि ब्रिटिश शासन पद्धति का एक विशेष गुण शक्ति विभाजन का सिद्धान्त है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ब्रिटेन में शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया गया है। ब्रिटेन में संसदात्मक शासन-व्यवस्था है और संसदीय शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका अनिवार्य रूप से परस्पर सम्बन्धित होती हैं। ब्रिटेन में ऐसा ही है और शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को उत्तरदायित्व के केन्द्रीकरण के सिद्धान्त के साथ मिश्रित कर दिया गया है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में कार्यपालिका और विधायी शक्तियों का मेल हो गया है, पर न्यायपालिका स्वतन्त्र है। रम्से म्योर के शब्दों में, “यदि शक्तियों का विभाजन अमरीकी संविधान का एक आवश्यक सिद्धान्त है तो उत्तरदायित्व का केन्द्रीकरण अंग्रेजी संविधान का एक आवश्यक सिद्धान्त है।”¹ बैजहॉट के अनुसार “ब्रिटिश संविधान की सफलता का रहस्य विधायी और कार्यपालिका ‘शक्तियों के संयोग’ (Fusion of Powers) में निहित है।”² यदि किसी क्षेत्र में वहाँ शक्तियों का पृथक्करण पाया जाता है, तो वह न्यायिक क्षेत्र में।

(14) **न्यायपालिका का व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पृथक्करण तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की संवैधानिक व्यवस्था**—‘संवैधानिक सुधार कानून, 2005’ (Constitutional Reform Act, 2005) के पूर्व ब्रिटेन में न्यायपालिका, व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से सिद्धान्ततः पृथक् नहीं थी। ब्रिटिश संसद के द्वितीय सदन लॉर्ड सभा का अध्यक्ष ‘लॉर्ड चांसलर’ (जो मन्त्री पद पर भी आसीन होता था। और ‘न्यायिक लॉर्ड’ ब्रिटेन के सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करते थे। इस प्रकार लॉर्ड चांसलर व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों का सदस्य होता था लेकिन Constitutional Reforms Act, 2005 के आधार पर ब्रिटिश न्यायपालिका को औपचारिक और सारभूत; दोनों ही रूपों में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका; दोनों से पृथक् कर दिया गया है। अब एक सर्वोच्च न्यायालय और अन्य न्यायालयों की स्थापना की गई है, जो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पूर्णतया पृथक् होंगे।

व्यवहार के अन्तर्गत तो ब्रिटिश न्यायपालिका 2005 ई. के पूर्व भी स्वतन्त्र थी, लेकिन अब ‘संवैधानिक सुधार कानून, 2005 ई.’ के द्वारा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए संवैधानिक व्यवस्था कर दी गई है। लॉर्ड चांसलर अब कोई न्यायाधीश नहीं है, न्यायिक क्षेत्र

1 “If separation of power is the essential principle of American Constitution concentration of responsibility is the essential principle of British Constitution.”

—Ramsey Muir

2 Bagehot, *The English Constitution*, p. 65.

में लॉर्ड चांसलर की भूमिका समाप्त कर दी गई है तथा सुधार कानून में कहा गया है : “लॉर्ड चांसलर या अन्य कोई मन्त्री किसी विशेष न्यायिक निर्णय या न्यायपालिका के कार्यों को प्रभावित करने की कोई चेष्टा नहीं करेंगे।”¹ विधि के शासन के प्रति सम्मान और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा लॉर्ड चांसलर का सबसे प्रमुख कर्तव्य बताया गया है, उसे इस बात की शपथ लेनी होती है।

प्रधानमन्त्रीय शासन

(PRIME-MINISTERIAL GOVERNMENT)

सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश संविधान की उपर्युक्त विशेषताएं बतलाई जाती हैं, लेकिन यदि सैद्धान्तिक अध्ययन के स्थान पर व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर अध्ययन किया जाय, तो आज के ब्रिटिश संविधान और शासन व्यवस्था की जो सबसे प्रमुख विशेषता सामने आती है, वह है : प्रधानमन्त्रीय शासन।

प्रधानमन्त्रीय शासन का आशय यह है कि आज प्रधानमन्त्री पद ब्रिटिश संविधान और शासन व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु है। प्रधानमन्त्री पद सम्पूर्ण शासन प्रणाली का मूल आधार बन गया है। प्रधानमन्त्री को मन्त्रिमण्डल का प्रधान होने के साथ-साथ संसद के नेता की स्थिति भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त वह अपने दल का सर्वमान्य नेता भी होता है। वस्तुतः वह अपने दल का ही नहीं, वरन् जनता का सर्वोच्च नेता और राष्ट्र का मुख्य प्रवक्ता होता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का मूर्तिमान स्वरूप होता है।

संसदीय व्यवस्था की गतिशील प्रकृति : संसदीय व्यवस्था, मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था और प्रधानमन्त्रीय शासन

गतिशीलता प्रत्येक शासन व्यवस्था का एक आवश्यक तत्व है और संसदीय व्यवस्था में गतिशीलता का तत्व अन्य किसी भी शासन व्यवस्था की तुलना में निश्चित रूप से अधिक अंशों में विद्यमान है। सत्रहवीं सदी में जब सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में इस व्यवस्था को अपनाया गया, तब इस व्यवस्था के अन्तर्गत सत्ता का वास्तविक केन्द्र संसद थी तथा इसी आधार पर इस शासन व्यवस्था को ‘संसदीय शासन’ का नाम दिया गया था, लेकिन 19वीं सदी में सक्रिय विविध तत्वों ने इस सदी के समाप्त होते-होते संसद के स्थान पर मन्त्रिमण्डल को सत्ता का वास्तविक केन्द्र बना दिया। जिन तत्वों ने इस स्थिति को जन्म दिया, वे थे : व्यापक मताधिकार, राजनीतिक दलों—विशेषतया द्वि-दलीय पद्धति के विकास तथा इन दलों में संगठन और अनुशासन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, औद्योगिक क्रान्ति और सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अन्य परिवर्तन जिन्होंने राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाया और विविध क्षेत्रों के सम्बन्ध में शासन के लिए शीघ्रतापूर्वक निर्णय लेना आवश्यक कर दिया। इस प्रकार के निर्णय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल द्वारा ही लिये जा सकते थे और इस प्रकार संसदीय शासन मन्त्रिमण्डलात्मक शासन में परिणत हो गया।

बीसवीं सदी में विश्व के सभी देशों में कार्यपालिका प्रधान में सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति देखी गई है। ब्रिटेन में भी युद्ध, आर्थिक संकट और द्रुतगामिता की दिशा में बढ़ने वाले विविध चरणों ने मन्त्रिमण्डल के प्रमुख में सत्ता के केन्द्रीकरण को जन्म दिया और एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिसे युद्धोपरान्त वर्षों (1945 ई. के बाद) में ‘प्रधानमन्त्रीय शासन’

1. “The Lord Chancellor and other ministers of the Crown must not seek to influence particular decisions through any special access to the judiciary”. Part 2 Clause 3 (5)—Constitutional Reforms Act, 2005.

का नाम दिया गया। बैजहॉट की प्रसिद्ध पुस्तक 'दी इंगलिश कॉन्स्टीट्यूशन' (*The English Constitution*) की प्रस्तावना में ब्रिटिश सांसद आर. एच. एस. क्रॉसमैन ने लिखा कि—बैजहॉट के समय से परिस्थितियां बहुत अधिक परिवर्तित हो चुकी हैं और “युद्धोपरान्त काल ने मन्त्रिमण्डलीय शासन को प्रधानमन्त्रीय शासन में परिणत होते देखा है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत वह संयोजक तत्व जो जोड़ता है, वह वकसुआ जो कार्यपालिका को व्यवस्थापिका से मिलता है, एक अकेला व्यक्ति (प्रधानमन्त्री) ही हो गया है।”¹ आगे वे लिखते हैं कि ‘वर्तमान समय में मन्त्री अपने आपको प्रधानमन्त्री का ‘एजेण्ट’ मात्र समझते हैं।’

ब्रिटिश संविधान के अन्य अध्ययनकर्ताओं ने भी विचार व्यक्त किया है कि आज प्रधानमन्त्री पद ने सबसे अधिक शक्तिशाली संस्था का रूप ले लिया है तथा इस आधार पर इसे ‘प्रधानमन्त्री शासन’ का नाम देना उचित है। एस. ई. फाइनर, लॉर्ड केम्पीन, सर जार्ज मलावी और एफ. डब्ल्यू. जी. वेनेमी वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए इसे ‘प्रधानमन्त्रीय शासन’ का नाम देते हैं और जॉन मैकिन्टोश अधिक सरल शब्दों में लिखते हैं : ‘अब देश पर प्रधानमन्त्री द्वारा शासन किया जाता है।’

यद्यपि पैट्रिक गोर्डन वाकर और हैरल्ड विल्सन जैसे व्यक्ति ब्रिटिश शासन व्यवस्था के लिए अब भी ‘मन्त्रिमण्डलीय शासन’ नाम को बनाये रखना चाहते हैं, लेकिन वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ‘प्रत्येक नीति सम्बन्धी विषय पर प्रधानमन्त्री की छाप रहती है।’ वस्तुतः ‘प्रधानमन्त्रीय शासन’ शब्द का प्रयोग किया जाय या न किया जाय, यह तथ्य है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की तुलना में इस सदी के छठे दशक और उसके बाद आज ब्रिटेन में केबिनेट तथा समस्त शासन के सन्दर्भ में सामान्यतया प्रधानमन्त्री को बहुत अधिक प्रमुखता की स्थिति प्राप्त हो गई है और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की स्थिति प्रधानमन्त्री के ‘एजेण्ट’ जैसी होकर रह गई है। दो भूतपूर्व प्रधानमन्त्रियों (एन्थोनी ईडन² और एलक डगलस होम³) तथा एक अन्य प्रमुख मन्त्री लॉर्ड बटलर⁴ द्वारा व्यक्त किये गये विचार इसकी पुष्टि करते हैं।

सम्भवतया गोर्डन वाकर और विल्सन के द्वारा ‘प्रधानमन्त्रीय शासन’ की स्थिति तथा नाम को इसलिए अस्वीकार किया गया है कि वे इसे ‘लोकतन्त्र पर प्रहार’ मानते हैं। वस्तुतः यह ‘लोकतन्त्र पर प्रहार’ या ‘संसदीय व्यवस्था का निषेध’ नहीं, वरन् बदलती हुई परिस्थितियों में संसदीय व्यवस्था की गतिशीलता का परिचय है। इस दृष्टि से तो अब भी संसद समस्त शासन-व्यवस्था का केन्द्र बनी हुई है कि प्रधानमन्त्री को ये सभी शक्तियां उसी समय तक प्राप्त होती हैं, जब तक कि उसे संसद के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो।

1. “The post-war epoch has seen the transformation of Cabinet Government into Prime-Ministerial Government. Under this system, the hyphen which joins, the buckle which fastens, the legislative part of the state to the executive part becomes one single man.”
—R.H.S. Crossman's Introduction to Walter Bagehot,

‘The English Constitution’.

2. Anthony Eden : *The Memories of Sir Anthony Eden, ‘Full Circle’*; 1960, p. 269.

3. Alec Douglas Home : *The Observer*, 23 Aug., 1961 (Quoted by John P. Mackintosh
—*The Govt. and Politics of Britain*, p. 69.

4. Lord Butler : *The Listener*, 16 Sep. 1965 (Quoted by John P. Mackintosh)

—*Ibid.*, p. 69.

‘प्रधानमन्त्रीय शासन’ की स्थिति को जन्म देने वाले तत्व

बीसवीं सदी और विशेषतया बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध आर्थिक, सामाजिक और सबसे अधिक प्रमुख रूप से तीव्र राजनीतिक परिवर्तनों का दौर रहा है। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसे कारण हुए, जिन्होंने ‘मन्त्रिमण्डलीय शासन’ को ‘प्रधानमन्त्रीय शासन’ में परिणत कर दिया है। ऐसे कुछ प्रमुख परिवर्तनों और प्रवृत्तियों का संक्षिप्त उल्लेख निम्न प्रकार है :

(1) मन्त्रिपरिषद् पर प्रधानमन्त्री का नियन्त्रण—बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों तक मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमन्त्री की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ‘समकक्षों में प्रथम’ (*Primus inter pares*) शब्दावली का प्रयोग किया जाता रहा है, लेकिन आज इस शब्दावली का कोई अर्थ नहीं रह गया है। आज ‘तारों के बीच चन्द्रमा’ शब्दावली का प्रयोग किया जाता है और सच पूछे तो प्रधानमन्त्री ‘मन्त्रिपरिषद् का स्वामी’ हो गया है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् का गठन करता है, मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों में विभागों का वितरण करता है, जब चाहे तब मन्त्रिपरिषद् का पुनर्गठन करता है और प्रधानमन्त्री के त्यागपत्र का आशय होता है, समस्त मन्त्रिपरिषद् का त्यागपत्र। इस प्रकार प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् के निर्माण, उसके कार्य संचालन तथा उसके अन्त में केन्द्रीय स्थिति रखता है। सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में ही प्रधानमन्त्री को यह स्थिति प्राप्त है।

(2) संसद पर प्रधानमन्त्री का नियन्त्रण—19वीं सदी के अन्त तक स्थिति यह थी कि सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही में संसद मन्त्रिपरिषद् पर नियन्त्रण रखती थी, लेकिन संसद की शक्तियों का निरन्तर ह्रास हुआ और मन्त्रिपरिषद् तथा प्रधानमन्त्री की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि। वर्तमान समय में स्थिति यह है कि लोक सदन या संसद मन्त्रिपरिषद् को नियन्त्रित नहीं करता, वरन् स्वयं मन्त्रिपरिषद् से नियन्त्रित होता है। प्रधानमन्त्री कार्यपालिका का प्रधान होने के साथ-साथ लोक सदन का भी नेता होता है और लोक सदन को नियन्त्रित करने में प्रधानमन्त्री की भूमिका ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।

प्रधानमन्त्री को लोक सदन पर नियन्त्रण की शक्ति प्राप्त होने का एक प्रमुख आधार यह है कि मन्त्रिपरिषद् लोक सदन को विघटित कर सकता है और जैनिज्ज के शब्दों में अब यह मान लिया गया है कि प्रधानमन्त्री द्वारा सम्राट को इस प्रकार का परामर्श दिये जाने के पूर्व कैबिनेट की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक नहीं है, निर्णय केवल प्रधानमन्त्री ही करता है। इस प्रकार संसद के शक्तिशाली सदन लोक सदन का कार्यकाल और वस्तुतः उसका भाग्य प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है। संसद पर प्रधानमन्त्री के नियन्त्रण को स्पष्ट करते हुए जी. डब्ल्यू. जोन्स लिखते हैं : “संरक्षण बांटने की शक्ति, संसद के विघटन का अधिकार एवं सचेतक पद्धति, सब प्रधानमन्त्री को अपने अधीनस्थ बहुमत का समर्थन प्रदान करते हैं। प्रधानमन्त्री की इच्छा ही संसद का कानून बन गई है।”¹

(3) प्रधानमन्त्री और कृपा की शक्तियाँ—जिन तत्वों ने ‘प्रधानमन्त्रीय शासन’ को जन्म दिया है, उनमें एक प्रमुख तत्व है, प्रधानमन्त्री को प्राप्त कृपा की शक्तियाँ। कृपा की शक्तियाँ समस्त शासन व्यवस्था पर नियन्त्रण प्राप्त करने और बनाये रखने का महत्वपूर्ण साधन होती हैं। आन्तरिक और वैदेशिक क्षेत्र में सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ प्रधानमन्त्री के परामर्श से की जाती हैं और अधिकांशतया तो प्रधानमन्त्री का परामर्श निर्णायक ही होता है। मन्त्रिपरिषद् के विभिन्न पदों पर नियुक्तियों के अतिरिक्त विभिन्न देशों में ब्रिटेन के राजदूतों (हाई

1 Jones, G. W. : *Parliamentary Affairs*, Spring, 1965, p. 169.

कमिश्नरों), विभिन्न समितियों और आयोगों के अध्यक्ष और सदस्यों तथा अन्य अनेक पदों पर नियुक्तियां प्रधानमंत्री की कृपा पर निर्भर करती हैं। प्रधानमंत्री को प्राप्त कृपा की इन शक्तियों ने उसे समस्त शासन व्यवस्था में सबसे अधिक महत्वपूर्ण पदाधिकारी बना दिया है।

(4) आम चुनाव : प्रधानमंत्री का चुनाव—संसदीय व्यवस्था के प्रतिमान देश इंग्लैण्ड में गत 50 वर्षों से भी अधिक समय से आम चुनावों की प्रकृति बदल गई है। अब राजनीतिक दल 'चुनाव प्रचार में तर्क, नीति और कार्यक्रम की अपेक्षा अपने सर्वोच्च नेता की लोकप्रिय छवि पर अधिक बल देते हैं' और मतदाता 'दल की अपेक्षा दल के नेता के नाम पर मतदान करते हैं।' जैनिंग इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए कहते हैं कि, 'आम चुनाव प्राथमिक रूप से प्रधानमंत्री का चुनाव होता है।'

जब अपने नेता के नाम पर चुनाव लड़कर राजनीतिक दल के द्वारा बहुमत प्राप्त किया जाता है, तो अपने दल तथा शासन में प्रधानमंत्री की सर्वोच्च सत्ता स्वतः ही स्थापित हो जाती है। हम्फ्री बर्कले के शब्दों में, "यह स्थिति उसे सीधे मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी बना देती है तथा उसे अध्यक्षतात्मक व्यवस्था के राष्ट्रपति की भूमिका सम्पन्न करने की क्षमता प्रदान कर देती है।" ऐसी स्थिति में जब कभी प्रधानमंत्री के कोई मन्त्रिमण्डलीय सहयोगी या लोकसदन में प्रधानमंत्री के दल के सदस्यों का एक वर्ग प्रधानमंत्री की सत्ता और दृष्टिकोण का विरोध करता है तो प्रधानमंत्री यह कह सकता है कि जनादेश उसे प्राप्त है, जन हित और राष्ट्रीय हित की सिद्धि किस मार्ग को अपनाकर हो सकती है, इसके सम्बन्ध में निर्णय का भार उस पर है और उन्हें प्रधानमंत्री पदधारी के निर्देशों का पालन करना है।

(5) प्रधानमंत्री : देश का सर्वोच्च नेता और शासक—प्रधानमंत्री मन्त्रिमण्डल का प्रधान, सम्राट के साथ मुख्य सम्पर्क स्थापितकर्ता और संसद का नेता ही नहीं होता, वरन् वह इन सबके अतिरिक्त शासन का वास्तविक अध्यक्ष होता है। समस्त जनता के लिए वह राष्ट्रीय सरकार का प्रतीक होता है। यदि शासन के किसी भी क्षेत्र में कोई गम्भीर त्रुटि होती है, तो वह आलोचना का शिकार होता है। राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र की किसी अव्यवस्था को दूर करने की आशा प्रधानमंत्री से ही की जाती है। आन्तरिक अव्यवस्था, बाहरी आक्रमण या विपरीत आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न संकट की घड़ी में सुरक्षा, नेतृत्व और निर्देशन के लिए जनता प्रधानमंत्री की ओर ही देखती है। सामान्य जनता द्वारा शासक दल का मूल्यांकन भी प्रधानमंत्री की लोकप्रिय छवि के आधार पर ही किया जाता है।

समस्त शासन एक इकाई ही होता है और उसे एक सर्वोच्च प्रधान, एक वास्तविक अध्यक्ष की आवश्यकता होती है। आज के ब्रिटेन में शासन के अध्यक्ष की यह भूमिका प्रधानमंत्री निभाता है और केवल प्रधानमंत्री ही निभा सकता है।

प्रधानमंत्री को प्राप्त ये स्थितियां ब्रिटिश शासन के लिए 'प्रधानमन्त्रीय शासन' के नामकरण का औचित्य स्थापित करती हैं।

प्रधानमन्त्रीय शासन की सीमाएं (प्रधानमंत्री की सत्ता पर नियन्त्रण)

सामान्यतया आज के ब्रिटेन में 'प्रधानमन्त्रीय शासन' की स्थिति है, लेकिन प्रधानमन्त्रीय शासन की सीमाएं हैं। 'प्रधानमन्त्रीय शासन का आशय यह नहीं है कि प्रधानमंत्री सभी परिस्थितियों में अपने विवेक के अनुसार आचरण करने के लिए स्वतन्त्र है। ब्रिटेन संसदीय

लोकतान्त्रिक व्यवस्था का आदर्श उदाहरण है और संसदीय लोकतन्त्र या लोकतान्त्रिक व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति को मनमाना आचरण करने की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती।

प्रधानमन्त्री देश का सर्वोच्च शासक है और सामान्यतया उसे मन्त्रिमण्डल, संसद, अपने राजनीतिक दल और व्यापक रूप में जनता का समर्थन प्राप्त रहता है, लेकिन प्रधानमन्त्री पदधारी को यह स्थिति उसी समय तक प्राप्त रहती है जब तक कि प्रधानमन्त्री सर्वोच्च कार्यपालिका के रूप में अपनी सार्थकता प्रमाणित करता है। एक विरोधाभासपूर्ण तथ्य यह है कि प्रधानमन्त्री को शक्ति प्रदान करने वाले तत्वों का स्वरूप गत्यात्मक तथा परिवर्ती है। यदि प्रधानमन्त्री शासन को एक उद्देश्यपूर्ण दिशा प्रदान कर पाता है तो ये तत्व उसकी शक्ति में निरन्तर वृद्धि करते हैं, लेकिन इसके विपरीत स्थिति में ये प्रधानमन्त्री की दुर्बलता के कारण बन जाते हैं।

एक संस्था के रूप में मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री की सत्ता पर एक प्रमुख नियन्त्रण के रूप में कार्य करता है। संसदीय व्यवस्था में नीति सम्बन्धी निर्णय मन्त्रिमण्डल द्वारा लिये जाते हैं, अकेले प्रधानमन्त्री के द्वारा नहीं। प्रधानमन्त्री के सहयोगियों में से कुछ को निश्चित रूप से ब्रिटिश राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है और यद्यपि अधिकांश बातों के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री की बात स्वीकार कर लेता है, लेकिन कुछ बातों के सम्बन्ध में उसे मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की बात स्वीकार करनी पड़ सकती है। यह बात आन्तरिक प्रशासन और परराष्ट्र सम्बन्धों के संचालन दोनों के सम्बन्ध में सत्य है। प्रधानमन्त्री पर संसद के अन्दर और बाहर अपने राजनीतिक दल, लोक सदन, लोक सेवाएं, दबाव गुटों और प्रेस आदि साधनों का नियन्त्रण रहता है और प्रधानमन्त्री द्वारा मनमानी किये जाने पर उसे पदच्युत भी किया जा सकता है।

गत दो दशक (1979-1998) में दो बार प्रधानमन्त्री को पदच्युत किया जा चुका है। मार्च 1979 में कैलेहन सरकार लोकसदन में पराजित हो गई। इस प्रकार लोकसदन का विश्वास खो देने पर प्रधानमन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ा। इसके अतिरिक्त यदि प्रधानमन्त्री पदधारी व्यक्ति अपने संसदीय दल को साथ लेकर नहीं चल पाता, तो संसदीय दल अपने नेतृत्व में परिवर्तन कर सकता है। शक्तिशाली व्यक्तित्व वाली प्रधानमन्त्री मारग्रेट थैचर को यह स्थिति भुगतनी पड़ी है। 1990 ई. में अनुदार दल ने मारग्रेट थैचर के स्थान पर जॉन मेजर को संसदीय दल का नेता और इस प्रकार प्रधानमन्त्री बना दिया। 2004 ई. के अन्त तक शक्तिशाली और अति लोकप्रिय समझे जाने वाले प्रधानमन्त्री टोनी ब्लेयर को भी अपने ही दल (मजदूर दल) के दबाव के कारण जून 2007 ई. में त्यागपत्र देना पड़ा। वस्तुतः प्रधानमन्त्री की शक्तियां मौलिक नहीं होतीं। वे लोकसदन में उसके दल के बहुमत और दल में उसके नेतृत्व पर निर्भर करती हैं और दोनों में से एक भी स्थिति के समाप्त हो जाने पर वह कुछ भी नहीं रहता है।

इस प्रकार सामान्यतया ब्रिटेन में 'प्रधानमन्त्रीय शासन' की स्थिति है, लेकिन 'प्रधानमन्त्रीय शासन' की सीमाएं हैं। लोकतन्त्र मूलतः सीमित शक्तियों वाला शासन होता है और लोकतान्त्रिक व्यवस्था के एक प्रमुख उदाहरण इंग्लैंड में प्रधानमन्त्री की सत्ता पर नियन्त्रण होना नितान्त स्वाभाविक है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश संविधान के क्या स्रोत हैं? क्या यह कहना उचित है कि ब्रिटिश संविधान का अस्तित्व ही नहीं है?
2. ब्रिटिश संविधान की विशेषताओं का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. "ब्रिटिश संविधान विवेक और संयोग का शिशु है।" (लिटन स्ट्रेची) इस कथन का विश्लेषण कीजिए।
4. निम्नलिखित में से किन्हीं दो की विवेचना कीजिए:
(अ) ब्रिटिश संविधान विकास का परिणाम है, न कि रचना का।
(ब) ब्रिटिश संविधान में कोई बात जैसी दिखाई देती है, वैसी नहीं है और जैसी है वैसी दिखाई नहीं देती।
(स) 'सम्राट राज्य करता है, शासन नहीं'।
5. 'प्रधानमन्त्रीय शासन' से आप क्या समझते हैं? क्या ब्रिटेन में 'प्रधानमन्त्रीय शासन' है?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'गौरवपूर्ण क्रांति' अधिकार पत्र 1689 पर टिप्पणी लिखिए।
2. ब्रिटिश संविधान का अध्ययन क्यों इतना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है?
3. 'ब्रिटिश संविधान का कोई अस्तित्व ही नहीं है' इस बात को कहने वाले लेखकों के तर्क क्या हैं?
4. 'ब्रिटिश संविधान का अस्तित्व है' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
5. ब्रिटिश संविधान के स्रोत बताइए।
6. 'ब्रिटिश संविधान में संयोग (Chance) से उत्पन्न तत्वों को स्पष्ट कीजिए।
7. ब्रिटिश संविधान की केवल कुछ प्रमुख विशेषताएं बताइए।
8. ब्रिटिश संविधान में सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर की कुछ बातों पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. निम्नलिखित में से कौन-सा ब्रिटिश संविधान का स्रोत नहीं है :
(अ) संसदीय अधिनियम (ब) प्रथाएं और परम्पराएं
(स) संविधान सभा द्वारा निर्मित मूल प्रलेख (द) न्यायिक निर्णय
2. ब्रिटेन में मैग्नाकार्टा कब स्वीकृत हुआ ?
(अ) 1832 ई. में (ब) 1911 ई. में
(स) 1215 ई. में (द) 1949 ई. में
3. ब्रिटिश संविधान की एक प्रमुख विशेषता है :
(अ) निर्मित संविधान (ब) बहुल कार्यपालिका
(स) विधि का शासन (द) न्यायिक पुनर्विलोकन
4. 'ब्रिटेन में संविधान जैसी कोई वस्तु नहीं है' यह कथन किसका है :
(अ) डी. टाविचले (ब) जैनिंग्स
(स) मुनरो (द) लॉर्ड ब्राइस

5. ब्रिटिश संविधान की विशेषता नहीं है :
 (अ) कठोर संविधान (ब) विकसित संविधान
 (स) संसद की प्रभुसत्ता (द) मिश्रित संविधान
6. वह संविधान जिसमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र के लक्षण पाए जाते हैं :
 (अ) अमरीकी संविधान (ब) स्विट्जरलैण्ड का संविधान
 (स) ब्रिटेन का संविधान (द) चीन का संविधान
7. ब्रिटिश संविधान लचीला है, क्योंकि वह :
 (अ) जनमत से संशोधित होता है।
 (ब) संसद उसे संशोधित कर सकती है।
 (स) उसमें साधारण कानून के निर्माण की पद्धति से ही संशोधन सम्भव है।
 (द) लिखित है।
8. ब्रिटिश संविधान की एक प्रमुख विशेषता है :
 (अ) केन्द्र और इकाइयों के बीच संविधान द्वारा शक्ति विभाजन
 (ब) शक्ति पृथक्करण
 (स) सिद्धान्त और व्यवहार में अन्तर
 (द) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र
 [उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (स), 4. (अ), 5. (अ), 6. (स), 7. (स), 8. (स)]
9. ब्रिटेन में 'गौरवपूर्ण क्रांति' कब हुई?
 [उत्तर—1688 'गौरवपूर्ण क्रांति' के आधार पर विना किसी रक्तपात के निरंकुश राजतन्त्र का अन्त हो गया।]
10. इंग्लैण्ड में गणतन्त्र कब से कब तक रहा?
 [उत्तर—1649 से 1659]
11. ब्रिटिश संविधान को 'विवेक और संयोग की संतान' किसके द्वारा कहा गया है?
 [उत्तर—लिटन स्ट्रेची।]
12. ब्रिटेन के प्रथम प्रधानमन्त्री कौन थे?
 [उत्तर—सर रॉबर्ट वाल्पोल।]

2

संविधान के अभिसमय अथवा वैधानिक परम्पराएं (CONVENTIONS OF THE CONSTITUTION)

“कानून की सूखी हड्डियों के ऊपर अभिसमय मानो मूल ढांचे पर मांस-रूपी आवरण है। इनसे कानूनी संविधान कार्यरूप में लाया जाता है और वे इसे निरन्तर विकसित विचारों के साथ रखते हैं।”¹

संविधान के अभिसमय अथवा वैधानिक परम्पराएं, जिन्हें मिल ने ‘संविधान के अलिखित नियम’, डायसी ने ‘संविधानिक अभिसमय’ और एन्सन ने ‘संवैधानिक परम्पराओं’ की संज्ञा दी है, ब्रिटिश संविधान के विभिन्न स्रोतों में न केवल एक, वरन् सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत है। ब्रिटिश संविधान को बहुत अधिक सीमा तक अभिसमयों पर आधारित संविधान ही कहा जा सकता है।

अभिसमय का तात्पर्य

प्रो. डायसी का मत है कि अभिसमय ‘संविधान सम्बन्धी नैतिकता के आदेश’ (Precepts of Constitutional Morality) हैं। उन्होंने इसकी पूर्ण परिभाषा देते हुए कहा है, “संविधान के अभिसमय वे रीति-रिवाज अथवा समझौते हैं जिनके अनुसार पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न विधानमण्डल के विभिन्न अंगों को अपने विवेकाधारित अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए, चाहे वे सम्राट के परमाधिकार हों या पार्लियामेण्ट के विशेषाधिकार।”

प्रो. ऑग (Ogg) के अनुसार, “अभिसमय उन समझौतों, आदतों या प्रथाओं से मिलकर बनते हैं जो राजनीतिक नैतिकता के नियम-मात्र होने पर भी बड़ी-से-बड़ी सार्वजनिक सत्ताओं के दिन-प्रतिदिन के सम्बन्धों और गतिविधियों के अधिकांश भाग का नियमन करते हैं।”

अभिसमय के लक्षण

ऑग, डायसी और अन्य लेखकों द्वारा अभिसमय की जो परिभाषाएं की गयी हैं उनके आधार पर अभिसमय के तीन लक्षण बताये जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं :

- (1) अभिसमयों का स्रोत संसद की कानून निर्मात्री शक्ति न होकर प्रथाएं होती हैं। जब ये प्रथाएं धीरे-धीरे प्रयोग में आते-आते अपनी उपयोगिता के आधार पर प्रशासन में स्थायित्व प्राप्त कर लेती हैं, तभी उनका रूप अभिसमयों का होता है।

1 “Conventions provide the flesh which clothes the dry bones of the law, they make the legal constitution work, they keep it in touch with the growth of ideas.”

—Jennings, *The Law and Constitution* (Third Ed.) 1984, pp. 80-81.

- (2) अभिसमयों का पालन कानून या न्यायिक मान्यता के कारण नहीं किया जाता वरन् उनका पालन तो लोकमत, पारस्परिक सहमति और उपयोगिता के कारण किया जाता है।
- (3) अभिसमयों को कानूनी या न्यायिक मान्यता प्राप्त न होने पर भी व्यवहार में अभिसमयों को कानून जैसी पवित्रता प्राप्त होती है और उनका कानूनों के समान ही पालन किया जाता है।

कानून और अभिसमय में भेद

व्यावहारिक प्रशासन के क्षेत्र में यद्यपि अभिसमयों का कानून की भांति ही पालन किया जाता है, लेकिन कानून और अभिसमय में महत्वपूर्ण भेद होता है और अभिसमय की प्रकृति को समझने के लिए इसे जान लिया जाना चाहिए। कानून और अभिसमय में निम्न प्रकार के भेद किये जा सकते हैं :

(1) रूप के आधार पर—कानून लिखित रूप में होते हैं, अभिसमय अलिखित रूप में होते हैं। इसके स्वरूप का यह भेद एक अन्य भेद के कारण बना है और वह यह है कि कानून लिखित होने के कारण सर्वविदित होते हैं और उन्हें सभी जानते हैं, किन्तु अभिसमयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपेक्षाकृत जागरूकता की आवश्यकता होती है।

(2) निर्माण के आधार पर—कानून किसी कानून-निर्मात्री सत्ता की इच्छा के परिणाम होते हैं, जिनका निर्माण एक विशेष पद्धति को अपनाकर किया जाता है। अभिसमय उदाहरण या व्यवहार के परिणाम होते हैं। जब एक विशेष प्रकार का व्यवहार अपनाया जाता है और यह व्यवहार उपयोगी सिद्ध होता है, तो कालान्तर में यह अभिसमय का स्थान प्राप्त कर लेता है।

(3) निश्चितता के आधार पर—कानून में निश्चितता का भाव होता है और उन्हें एक विशेष समय में लागू किया जाता है। अभिसमय अस्पष्ट और अनिश्चित होते हैं और उनके लागू किये जाने का कोई विशेष समय नहीं होता। एक विशेष प्रकार के व्यवहार ने अभिसमय का रूप प्राप्त कर लिया है अथवा नहीं इसके सम्बन्ध में अनेक बार वाद-विवाद भी किया जाता है।

(4) स्वीकृति के आधार पर—कानून के पीछे राज्य की प्रभुत्व शक्ति का दबाव होता है और इन्हें न्यायिक संरक्षण प्राप्त होता है। व्यक्ति के लिए कानून का पालन करना अनिवार्य होता है और अवज्ञा करने पर वह दण्ड का भागी होता है। लेकिन अभिसमय का पालन व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है और उल्लंघन करने पर व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार कानून के पीछे वैधानिक शक्ति का बल होता है, अभिसमय के पीछे मात्र नैतिक शक्ति का। इसी कारण अभिसमयों को राजनीतिक नैतिकता के नियम-मात्र कहा जाता है।

कानून और अभिसमय के उपर्युक्त भेद मात्र सैद्धान्तिक ही हैं। जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, ब्रिटेन में अभिसमय का कानून के समान ही पालन किया जाता है। जैनिंग्स इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखते हैं कि, “क्या कानून है और क्या अभिसमय है, ये मुख्यतया पारिभाषिक प्रश्न हैं। इनके उत्तर केवल उन्हीं को ज्ञात हैं जिनका कार्य उन्हें ज्ञात करना है। जनसाधारण के लिए इस बात का, कि कोई नियम न्यायिक अधिकारियों द्वारा मान्य है या नहीं, कोई विशेष महत्व नहीं होता।”

अभिसमय और कानून एक-दूसरे के पूरक हैं—अभिसमय और कानून में उपर्युक्त कुछ भेद होते हुए भी अभिसमय न तो कानून के प्रतिद्वन्दी होते हैं और न ही कानून का स्थान लेना चाहते हैं। अभिसमय तो कानून के पूरक होते हैं। अभिसमय कानून के अन्तरालों को भरते हैं

तथा उन्हें समय के अनुकूल बनाने में सहायक होते हैं। अभिसमय और कानून, दोनों का एक ही लक्ष्य है; राज व्यवस्था का सुचारु संचालन।

अभिसमयों का वर्गीकरण

ब्रिटिश संविधान के सभी अभिसमयों की पूरी सूची देना सम्भव नहीं है, इसमें से प्रमुख अभिसमयों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

3/ राजपद से सम्बन्धित अभिसमय

- (1) सम्राट अपने मन्त्रियों के परामर्श से ही कार्य करता है।
 - (2) सम्राट लोकसदन के बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करता है।
 - (3) अभिसमय के ही आधार पर सम्राट मन्त्रिमण्डल की बैठक की अध्यक्षता नहीं करता है।
 - (4) सिद्धान्त में सम्राट को अधिकार प्राप्त है कि वह लोकसदन को भंग कर दे, लेकिन यह परम्परा स्थापित हो गयी है कि सम्राट अपने इस अधिकार का प्रयोग प्रधानमन्त्री के परामर्श से ही करेगा।
 - (5) पदासीन प्रधानमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाने पर सम्राट विरोधी दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करता है। 1/5
- मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धित अभिसमय

- 4/
- (1) अभिसमय के अनुसार सम्राट के मन्त्रियों के लिए संसद का सदस्य होना अनिवार्य है।
 - (2) संसद में किसी महत्वपूर्ण प्रस्ताव पर पराजित हो जाने पर मन्त्रिमण्डल या तो त्यागपत्र दे दे या प्रधानमन्त्री सम्राट को परामर्श दे कि उसके द्वारा लोकसदन को विघटित कर दिया जाय।
 - (3) अभिसमय के अनुसार ही किसी कम महत्वपूर्ण प्रस्ताव पर लोकसदन में पराजित हो जाने पर मन्त्रिमण्डल के लिए पदत्याग करना आवश्यक नहीं है।
 - (4) यह भी अभिसमय ही है कि मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोकसदन के प्रति उत्तरदायी होता है। यदि लोकसदन किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दे, तो भी समस्त मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।
 - (5) सामान्यतया प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों को अपने ही राजनीतिक दल में से लेता है और अपने सहयोगियों के चुनाव में प्रधानमन्त्री स्वतन्त्र होता है। 4
- विधायी प्रक्रिया और संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में अभिसमय

- (1) संसद के दो सदन होंगे—लोकसदन और लॉर्ड सभा—यह बात अभिसमय पर आधारित है।
- (2) सम्राट वर्ष में एक बार संसद का अधिवेशन अवश्य ही बुलाये और संसद के प्रथम अधिवेशन से दूसरे अधिवेशन के बीच एक वर्ष से अधिक का समय नहीं होना चाहिए।
- (3) लोकसदन (House of Commons) के अध्यक्ष (Speaker) के सम्बन्ध में यह परम्परा है कि 'अध्यक्ष' पद के लिए खड़े होने के पूर्व उसे अपने राजनीतिक दल की सदस्यता त्याग देनी चाहिए। निर्वाचन से पूर्व लोकसदन का अध्यक्ष निर्विरोध चुन लिया जाता है और वह जब तक चाहे, लोकसदन का अध्यक्ष रह सकता है।
- (4) प्रत्येक विधेयक में तीन वाचन हों चुकने के बाद ही उस पर सदन में मतदान हो सकता है।

(5) जब सरकारी पक्ष की ओर से भाषण हो चुका है, तब विरोधी पक्ष की ओर से एक भाषण होता है। वस्तुतः 'सम्राट के विरोधी पक्ष' (His Majesty's Opposition) का समस्त विचार अभिसमय का ही परिणाम है।

लोक प्रभुत्व के सिद्धान्त पर आधारित अभिसमय

कुछ अभिसमय ऐसे भी हैं जिनका उद्देश्य शासक के कार्यों और निर्वाचकों के निर्णय के बीच सामंजस्य स्थापित करना है। इस सम्बन्ध में एक अभिसमय यह है कि शासन द्वारा किसी महत्वपूर्ण और विवादग्रस्त विषय पर उस समय तक विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिए, जब तक कि उसने ऐसा करने के लिए निर्वाचकों से आदेश न प्राप्त कर लिया हो। 1911 में संसदीय अधिनियम के आधार पर लॉर्ड सभा की शक्तियों में कटौती करने के पूर्व लायड जार्ज की उदार दलीय सरकार ने 1910 के चुनाव में इस विषय पर जनता का स्पष्ट आदेश प्राप्त किया था। 'आदेश अभिसमय' (Mandate convention) की यह बात लोकप्रभुत्व की धारणा पर आधारित है। लोकप्रभुत्व के सिद्धान्त पर ही आधारित एक अन्य अभिसमय यह है कि जब मन्त्रिमण्डल निर्वाचकों से अपील करता है और निर्वाचकों का निर्णय मन्त्रिमण्डल के प्रतिकूल होता है, तब मन्त्रिमण्डल को अपने पद से त्यागपत्र दे देना चाहिए, प्रधानमन्त्री सम्राट से दूसरी बार लोकसदन के विघटन की सिफारिश नहीं कर सकता। अभिसमयों के पीछे अनुशक्ति (Sanction behind Conventions) या अभिसमयों का पालन क्यों किया जाता है?

अभिसमय न तो कानून निर्मात्री सभा की इच्छा का परिणाम होते हैं और न ही इन्हें न्यायिक मान्यता प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अभिसमयों का पालन क्यों किया जाता है? ब्रिटिश संविधान के प्रसिद्ध लेखकों—डायसी, लावेल और लॉस्की द्वारा इस प्रश्न पर विचार कर अपने मत का प्रतिपादन किया गया है।

डायसी का मत—डायसी का मत है कि अभिसमय और कानून परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। यदि किसी अभिसमय का उल्लंघन किया जाता है तो इससे कानून का उल्लंघन हो जाता है या इस उल्लंघन से कानून को क्षति पहुँचती है। क्योंकि कानून का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अतः अभिसमयों का पालन करना ही होता है।

आलोचना—डायसी का उपर्युक्त तर्क पूर्ण सत्य नहीं है और इसे अभिसमयों के पालन का आधार नहीं कहा जा सकता है।

सर्वप्रथम, अभिसमयों का उल्लंघन कानून के उल्लंघन को जन्म देता है, यह बात सभी अभिसमयों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है। अनेक ऐसे अभिसमय हैं जिनके उल्लंघन से कोई कानून भंग नहीं होता है। उदाहरणार्थ, यदि लोकसदन का स्पीकर अपने दल से त्यागपत्र न दे, संसद के द्वारा कानून का निर्माण करते हुए विधेयक के तीन वाचन न करके दो ही वाचन किये जायें या प्रधानमन्त्री लॉर्ड सभा से लिया जाय तो इनमें कोई कानून भंग नहीं होता।

द्वितीय, डायसी का तर्क स्वयं उसके द्वारा दिये गये उदाहरण पर भी पूर्ण रूप से लागू नहीं होता है। लावेल का कहना है कि वैधानिक दृष्टि से संसद का अधिवेशन प्रतिवर्ष होना आवश्यक नहीं है। क्योंकि संसद प्रभुतासम्पन्न संस्था है, अतः वह कई वर्षों के लिए सेवा अधिनियम पास कर सकती है, वर्तमान करों को कई वर्षों के लिए स्वीकार कर सकती है और छोटे-मोटे खर्च आकस्मिक निधि से कर सकती है।

इन सबके अतिरिक्त डायसी का उपर्युक्त विचार स्वयं डायसी द्वारा ही प्रमुख रूप से प्रतिपादित संसद की प्रभुसत्ता की धारणा के प्रतिकूल है। यदि डायसी का यह मत मान लिया

जाय कि परम्पराओं को कानून का समर्थन प्राप्त है, तो इससे संसद की व्यवस्थापन सम्बन्धी सर्वोच्चता खण्डित हो जाती है, क्योंकि तब संसद उन कानूनों के बारे में स्वच्छन्दतापूर्वक अपने अधिकारों का ही प्रयोग नहीं कर सकेगी, जो अपने पालन के लिए परम्पराओं के पालन पर निर्भर करते हैं। डायसी ने कानून और अभिसमयों को जो एकदम अन्योन्याश्रित मान लिया है, वह अनुचित है।

लॉवेल का मत—लॉवेल के अनुसार, “अभिसमयों के पालन का कारण यह है कि वे नैतिकता के नियम हैं। ये एक प्रकार से खेल के नियम हैं और देश का वह भाग जिसके हाथ में देश का प्रशासन है, इन अभिसमयों के प्रति जागरूक है। इसके अतिरिक्त अभिसमयों को लोकमत की शक्ति भी प्राप्त है। यदि राजसत्ता के संचालक वर्ग द्वारा अभिसमयों का उल्लंघन किया जाएगा, तो देश में विरोध की लहर दौड़ जायेगी और सरकार को परास्त होना पड़ेगा।” अभिसमयों को प्राप्त लोकमत की शक्ति के कारण जनता के प्रति उत्तरदायी कोई भी सरकार अभिसमयों के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकती। ऑग तथा जिंक के द्वारा भी ऐसा ही मत व्यक्त किया गया है।

इंग्लैण्ड में अभिसमय को लोकमत की शक्ति प्राप्त है, इसका प्रमाण यह है कि यदि किसी अभिसमय का उल्लंघन होता भी है, जैसा कि 1909 में लॉर्ड सभा ने लॉयड जार्ज के प्रगतिशील बजट को अस्वीकार करके किया था, तो तुरन्त ही यह मांग उठ खड़ी होती है कि इस अभिसमय को कानून का रूप दे दिया जाय। निर्वाचकों ने उदार दल को आदेश दिया था कि यह लॉर्ड सभा की वित्तीय तथा विधायी शक्तियों को सीमित कर दें।

लॉस्की का मत—लॉस्की के अनुसार परम्पराओं का पालन किये जाने के दो कारण हैं। प्रथमतः, ये अभिसमय प्रचलित संवैधानिक सिद्धान्तों के अनुरूप और उसके क्रियान्वयन में सहायक हैं। उदाहरण के लिए, मन्त्रिमण्डल की बैठकों के सभापतित्व के अभिसमय को ले सकते हैं। जार्ज राजाओं ने मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व करना इसलिए बन्द कर दिया था कि वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और उन्हें इंग्लैण्ड की राजनीति में विशेष रुचि नहीं थी। बाद में जब जार्ज तृतीय के द्वारा मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता का प्रयत्न किया गया, तो वह मन्त्रिमण्डल के विरोध के कारण असफल रहा। वास्तव में, इस समय तक वह नितान्त स्पष्ट हो गया था कि मन्त्रिमण्डलीय शासन की भावना के अनुसार मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री द्वारा ही की जानी चाहिए, सम्राट द्वारा नहीं।

लॉस्की के अनुसार, अभिसमयों के पालन का दूसरा कारण यह है कि ब्रिटिश राजनीति के प्रमुख दल देश के आधारभूत राजनीतिक और सामाजिक ढांचे के सम्बन्ध में एकमत हैं। इसलिए जिस किसी राजनीतिक दल के हाथ में शासन की शक्ति हो, अभिसमयों का पालन किया जाता है। राजनीतिक दलों में इस प्रकार के मतैक्य के कुछ विशेष कारण हैं; जैसे संसदीय लोकतन्त्र में आस्था और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में विश्वास, आदि।

वास्तविक अनुशास्तियां

(REAL SANCTIONS)

जैनिंग्स का कहना है कि “अभिसमयों का अस्तित्व केवल अपने लिए ही नहीं है, उनका अस्तित्व इसलिए है कि इसके कुछ श्रेष्ठ कारण हैं।”² इस सम्बन्ध में डायसी, लॉवेल, ऑग और जिंक, जैनिंग्स, कार्टर आदि के द्वारा जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनके अनुसार अभिसमयों के पालन के वास्तविक कारणों की विवेचना अग्रवत् है :

1 Lowell, *Government of England*, Vol. I, pp. 12-13.

2 Jennings, *Cabinet Government*, p. 7.

(1) **उपयोगिता**—अभिसमय के पालन का सबसे प्रमुख कारण शासन-व्यवस्था में उनकी उपयोगिता है। ब्रिटेन की समस्त शासन-व्यवस्था, विशेष रूप में मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था, अभिसमयों पर ही आधारित है और अभिसमयों के उल्लंघन से ऐसी राजनीतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी कि शासन-व्यवस्था का संचालन ही असम्भव हो जायेगा। उदाहरण के लिए यह अभिसमय ही है कि लोकसदन का विश्वास खो देने पर मन्त्रिमण्डल या तो त्याग पत्र दे दे या नये चुनाव कराये। यह इसलिए है कि यदि मन्त्रिमण्डल को सदैव विरोधी लोकसदन का सामना करना पड़े तो शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती। इस प्रकार उपयोगिता के कारण ही उनका पालन वांछनीय तथा आवश्यक होता है। वास्तव में ये ब्रिटेन के संसदीय लोकतन्त्र के खेल के नियम हैं और इनका पालन किये बिना संसदीय लोकतन्त्र का खेल नहीं खेला जा सकता है।

(2) **लोकमत की शक्ति**—अभिसमयों को वैधानिक शक्ति प्राप्त न होने पर भी इन्हें लोकमत की शक्ति प्राप्त है और यही इनके पालन का प्रमुख कारण है। लोकतन्त्र में शासन की अन्तिम शक्ति लोकमत की शक्ति पर निर्भर करती है और इसी कारण जनता के प्रति उत्तरदायी कोई सरकार अभिसमयों के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकती।

(3) **ब्रिटिश जाति की राजनीतिक जागरूकता**—अभिसमयों को लोकमत की शक्ति तो प्राप्त है ही, इसके साथ ही ब्रिटिश जनता राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक जागरूक है और इसी कारण अभिसमयों के उल्लंघन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ब्रिटिश जनता में राजनीतिक चेतना का अभाव होने पर अभिसमयों के उल्लंघन की आशंका हो सकती थी।

(4) **राजनीतिक दलों में मतैक्य**—ब्रिटेन के वर्तमान राजनीतिक दलों में ब्रिटेन के आधारभूत राजनीतिक ढांचे के सम्बन्ध में मतैक्य भी इन अभिसमयों के पालन का एक कारण है। ब्रिटिश राजनीति में प्रमुख दल इन अभिसमयों पर सहमत हैं और इनका पालन करते हैं; लेकिन यदि ब्रिटेन में साम्यवादी दल जैसी किसी राजनीतिक शक्ति का उदय हो जाता है जो संसदीय लोकतन्त्र में ही विश्वास नहीं करता तो अभिसमयों के पालन की आशा नहीं की जा सकती है।

(5) **ब्रिटिश जाति का स्वभाव**—ब्रिटिश लोग परम्पराप्रिय और रूढ़िवादी हैं और वे अभिसमयों का पालन करने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि उनके हृदय और मस्तिष्क स्वयं ही इनका पालन करते हैं।

(6) **मनोवैज्ञानिक अनुशक्ति**—अभिसमयों के पालन का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। व्यक्तियों का स्वभाव नियमों का पालन करना है, चाहे वे नियम लिखित हों या अलिखित, अलिखित विधि हों या अभिसमय। जैनिंग्स का कहना है कि “शासन एक सहकारी कार्य है और केवल विधि के नियम ही सामान्य कार्यवाही का उपबन्ध नहीं कर सकते।”¹

ब्रिटिश संविधान में अभिसमयों का महत्व

लिखित संविधान प्रायः बदलते हुए सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों के साथ नहीं चल पाते और देश तथा समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार संविधान को व्यावहारिकता प्रदान करने का कार्य अभिसमयों के द्वारा ही किया जाता है। इस दृष्टि से सभी देशों के संविधानों में अभिसमयों का अस्तित्व और उनका महत्व होता है, किन्तु ब्रिटिश

1 “Government is a co-operative function and rules of law alone cannot provide for common action.”

—Jennings, *The Law and the Constitution*, p. 97.

संविधान तो अलिखित ही है और जहां तक ब्रिटिश संविधान का सम्बन्ध है, अभिसमय 'संविधान की आत्मा' ही है। ब्रिटिश संविधान में अभिसमयों का महत्व निम्न रूपों में बताया जा सकता है :

(1) संविधान के विकास में सहायक—संवैधानिक मार्ग पर इंग्लैण्ड ने अपनी यात्रा निरंकुश राजतन्त्र के रूप में प्रारम्भ की थी, किन्तु आज इंग्लैण्ड में लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था है। राजतन्त्र से लोकतन्त्र का यह रूप इंग्लैण्ड को यकायक ही प्राप्त नहीं हो गया है वरन् इसके लिए उसने एक लम्बा रास्ता तय किया है। संविधान के इस विकास का कुछ श्रेय जहां मैग्नाकार्टा, पिटीशन ऑफ राइट्स, बिल ऑफ राइट्स जैसे—कुछ अधिकार पत्रों को दिया जा सकता है, वहां अधिकांश में राजतन्त्र का लोकतन्त्रीकरण परम्पराओं द्वारा ही हुआ है। सम्राट मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता नहीं करेगा, सम्राट लोकसदन के बहुमत दल के नेता को प्रधानमंत्री पद प्रदान करेगा और मन्त्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर रहेगा जब तक उसे लोकसदन का विश्वास प्राप्त है आदि; इस श्रेणी की कुछ परम्पराएं हैं। इस प्रकार राजतन्त्र से लोकतन्त्र की दिशा में संविधान का विकास अधिकांशतया परम्पराओं के कारण ही सम्भव हुआ है। डॉ. फाइनर ने कहा है, “राजतन्त्री संविधान को लोकतन्त्री संविधान का रूप देने में और सत्रहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक आने में ब्रिटेन के लोगों ने नये अनुच्छेद जोड़ना पसन्द नहीं किया, वे परम्पराओं के विकास पर निर्भर रहे।”

(2) संविधान को कार्यरूप प्रदान करना—परम्परा न केवल संविधान के विकास में सहायक हुई है, वरन् उसे कार्यरूप भी प्रदान करती है। इंग्लैण्ड में सम्राट कानूनी सम्प्रभु है तथा मन्त्रिमण्डल, संसद व अन्त में जनता राजनीतिक सम्प्रभु है। ऐसी स्थिति में विशुद्ध कानूनी दृष्टिकोण अपनाते पर शासन के विभिन्न पक्षों में विरोध उत्पन्न हो जायेगा और अव्यवस्था फैल जायेगी। अतः एक परम्परा है कि राजा मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानता है और इस परम्परा के कारण ही राजनीतिक सम्प्रभु तथा कानूनी सम्प्रभु में सामंजस्य बना हुआ है।

इसी प्रकार कुछ अन्य परम्पराएं भी शासन के सुचारु संचालन में बहुत अधिक सहायक हैं। इन परम्पराओं के कारण मन्त्रिमण्डल और लोकसदन में सहयोग बना रहता है एवं मन्त्रिमण्डल, संसद और शासन की अन्य सभी सत्ताएं अपनी-अपनी सीमा में बनी रहती हैं। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का संचालन इन परम्पराओं पर ही निर्भर है और ऑग तथा जिक के शब्दों में कहा जा सकता है कि “परम्पराएं कानून के सूखे ढांचे पर मांस चढ़ाने का कार्य करती हैं कानूनी संविधान को कार्य रूप देती हैं और उसे प्रगतिशील समाज की आवश्यकताओं व राजनीतिक विचारों के अनुकूल बनाये रखती हैं।”

(3) शासन-व्यवस्था को श्रेष्ठतम रूप प्रदान करना—परम्पराएं न केवल संविधान की क्रियान्विति में सहायक हैं, वरन् वे संविधान तथा शासन को श्रेष्ठ रूप भी प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए, यह एक परम्परा है कि प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होने चाहिए और इस परम्परा के कारण कानून निर्माण में जल्दबाजी की आशंका नहीं रहती है। इसी प्रकार इस परम्परा से कि लॉर्ड सभा की बैठकों में, जिनमें वह न्यायालय के रूप में कार्य करे, कानूनी लॉर्ड को ही सम्मिलित होना चाहिए। इससे न्याय कार्य ठीक प्रकार से चलता रहता है और इस बात की आशंका नहीं रहती कि अनभिज्ञ सदस्य न्याय कार्य को खेल बना दें। ब्रिटेन में विरोधी दलों की समस्त मान्यता अभिसमयों पर ही आधारित है और इसके कारण ही शासक दल अपनी सीमाओं में बना रहता है तथा विरोधी दल शासन कार्य में रचनात्मक योग देता है।

(4) अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा—प्रजातन्त्र, जिसे समस्त जनता का शासन कहा जाता है, व्यवहार में अनेक बार 'बहुमत वर्ग का अत्याचारी शासन' बनकर रह जाता है। लेकिन ब्रिटेन में ऐसी स्थिति कभी भी उत्पन्न नहीं हुई है। क्योंकि जैसा कि ह्यीयर कहते हैं, "अभिसमय अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करते हैं।"

(5) राष्ट्रमण्डल तथा जन सम्प्रभुता को सफल बनाना—अभिसमयों ने राष्ट्रमण्डल को लचीलापन देकर उसे परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप बनाया है और अभिसमयों के आधार पर ही राष्ट्रमण्डल के सदस्यों की सम्राट के प्रति श्रद्धा भावना को बनाये रखना सम्भव हो सका है। इसके अतिरिक्त जैसा कि जैनिंग्स कहते हैं, 'ब्रिटेन में जन सम्प्रभुता की धारणा को सजग एवं सफल बनाने का श्रेय भी अभिसमयों को ही प्राप्त है।'

इस प्रकार ब्रिटेन के संविधान में परम्पराओं का बहुत अधिक महत्व है। परम्पराओं के कारण ही ब्रिटेन के संविधान में लचीलापन आ गया है और जैसा कि हैरीसन ने लिखा है, 'संविधान के इस लचीलेपन के कारण ही यह शासन-व्यवस्था कई तूफानों का सामना कर पाई है।'

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संविधान के अभिसमय से आप क्या समझते हैं? अभिसमयों के पीछे कौनसी अनुशास्ति है? उदाहरण देकर समझाइए।
2. अभिसमय और विधि में क्या अन्तर है? अभिसमयों का वर्गीकरण कीजिए और ब्रिटिश संविधान में अभिसमयों का महत्व समझाइए।
3. ब्रिटिश संविधान में अभिसमय से आप क्या समझते हैं? अभिसमय का पालन क्यों होता है?
4. "अभिसमय कानून के सूखे ढांचे पर मांस चढ़ाने का कार्य करते हैं।" इस कथन को दृष्टि में रखते हुए अभिसमयों के उपयोग एवं महत्व की विवेचना कीजिए।
5. 'संवैधानिक अभिसमयों का ब्रिटेन के संविधान के कार्यान्वयन में क्या महत्व है?' उदाहरण देकर समझाइए।
6. ब्रिटिश संविधान में अभिसमय से आप क्या समझते हैं? उदाहरण दीजिए तथा बताइये कि उनका पालन क्यों किया जाता है?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. अभिसमय से आप क्या समझते हैं?
2. कानून और अभिसमय में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. राजपद से सम्बन्धित कुछ अभिसमय बताइए।
4. मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धित कुछ अभिसमय बताइए।
5. अभिसमयों का पालन क्यों किया जाता है, लास्की और लावेल का मत बताइए।
6. अभिसमयों के पीछे वास्तविक अनुशास्तियाँ (Sanctions) क्या हैं?
7. ब्रिटिश संविधान में अभिसमयों का महत्व स्पष्ट कीजिए।

1 "They provide safeguard for minority rights."

—K. C. Wheare, *Modern Constitution*, p. 200.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

- किस विद्वान ने परम्पराओं को संविधान की रूढ़ियाँ कहा है?
(अ) जे. एस. मिल ने (ब) डायसी ने
(स) लास्की ने (द) एन्सन ने
- संसद से सम्बन्धित प्रमुख परम्परा है :
(अ) सम्राट संसद द्वारा पारित विधेयक पर 'वीटो' (निषेधाधिकार) का प्रयोग नहीं करेंगे
(ब) मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही और निर्णय गुप्त रखे जाते हैं
(स) लोकसदन का अध्यक्ष (स्पीकर) राजनीतिक दृष्टि से निर्दलीय होता है
(द) सम्राट मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता नहीं करेंगे
- 'परम्पराएं कानून के सूखे ढांचे पर मांस चढ़ाने का कार्य करती हैं' यह कथन किसका है :
(अ) ऑग और जिक का (ब) डायसी का
(स) लावेल का (द) लास्की का
- परम्पराओं के बारे में कौन-सा कथन सही है :
(अ) संयोगवश उदय होता है और उपयोगिता के कारण अपना लिया जाता है।
(ब) लिखित होती है।
(स) निश्चित होती है। (द) न्यायालय द्वारा लागू की जाती है।
- कौन-सा वक्तव्य गलत है :
(अ) परम्पराएं संयोगवश जन्म लेती हैं। (ब) परम्पराएं निश्चित और स्पष्ट होती हैं।
(स) परम्पराएं अलिखित होती हैं। (द) परम्पराएं कानून द्वारा लागू नहीं की जातीं।
- 'परम्पराओं का पालन इसलिए होता है कि उन्हें लोकमत का समर्थन प्राप्त है' यह विचार है :
(अ) लास्की का (ब) लावेल का
(स) डायसी का (द) जैनिंग्स का
- परम्पराओं को 'संविधान के अलिखित सूत्र' किसने कहा है ?
(अ) जे. एस. मिल ने (ब) लास्की ने
(स) हरमन फाइनर ने (द) मुनरो ने
[उत्तर—1. (द), 2. (स), 3. (अ), 4. (अ), 5. (ब), 6. (स), 7. (अ)]
- किस देश के संविधान में परम्पराओं या अभिसमयों का सर्वाधिक महत्व है ?
[उत्तर—ग्रेट ब्रिटेन के संविधान में]
- संसद से सम्बन्धित एक अभिसमय बताइए।
[उत्तर—सम्राट वर्ष में एक बार संसद का अधिवेशन अवश्य ही बुलावें।]
- विधायी प्रक्रिया से सम्बन्धित एक अभिसमय बताइए।
[उत्तर—प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन हो चुकने के बाद ही उस पर मतदान हो सकता है।]
- निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
(अ) पदासीन प्रधानमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाने पर सम्राट विरोधी दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करता है।
(ब) सम्राट के मन्त्रियों के लिए सभा का सदस्य होना अनिवार्य है।
(स) मन्त्रिमण्डल लोकसदन के प्रति उत्तरदायी होता है।
(द) सम्राट अपने परामर्श से ही कार्य करता है।
[उत्तर—(अ) विरोधी दल के नेता को, (ब) संसद, (स) सामूहिक रूप से, (द) मन्त्रियों]

3

सम्राट और राजमुकुट

(KING AND THE CROWN)

“यदि सम्राट राज्य के पोत की प्रेरक शक्ति नहीं है, तो भी वह उस पोत का मस्तूल अवश्य है, जिस पर पाल लटका हुआ है और इस प्रकार वह उस पोत का न केवल लाभदायक वरन् अत्यन्त आवश्यक अंग है।”¹ —लॉवेल

कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान : सम्राट

ब्रिटेन में संसदीय शासन व्यवस्था है और संसदीय शासन प्रणाली की यह विशेषता होती है कि इसमें कार्यपालिका के दो प्रधान होते हैं: औपचारिक प्रधान और वास्तविक प्रधान। देश की शासन सत्ता कार्यपालिका के वास्तविक प्रधान के हाथ में होती है, किन्तु वास्तविक प्रधान राज्य का अध्यक्ष नहीं होता। इसके विपरीत राज्य का अध्यक्ष केवल नाममात्र का ही होता है और उसके हाथ में कोई वास्तविक शक्ति नहीं होती है। इसलिए उसे कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान कहते हैं। इंग्लैण्ड में संसदीय प्रणाली विद्यमान है। सम्राट ब्रिटिश कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है, किन्तु उसके पास वास्तविक शक्तियाँ नहीं हैं। वास्तविक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री और कैबिनेट के द्वारा किया जाता है, जिसे सैद्धान्तिक रूप से गौण स्थिति प्राप्त है।

वर्तमान समय में साम्राज्ञी एलिजाबेथ द्वितीय सम्राट पद पर आसीन हैं। उन्होंने राजसिंहासन 6 फरवरी, 1952 को प्राप्त किया। उनके उत्तराधिकारी साम्राज्ञी के ज्येष्ठ पुत्र प्रिंस चार्ल्स, प्रिंस ऑफ वेल्स हैं।

सम्राट और राजमुकुट

(KING AND THE CROWN)

सम्राट वह व्यक्ति होता है जो एक विशेष समय पर ब्रिटिश राज्य के प्रमुख पद पर आसीन होता है। राजमुकुट राज्य शक्ति का वह प्रतीक है जिसे सम्राट अपने सिर पर धारण करता है। प्राचीनकाल से इस प्रकार की प्रथा चली आ रही है कि सम्राट पदधारी व्यक्ति द्वारा विधिवत् समारोह के बाद जब राजमुकुट धारण कर लिया जाता था तभी से उसे शासन की समस्त शक्तियाँ प्राप्त होती थीं। इस प्रकार राजमुकुट राजशक्ति का प्रतीक था, किन्तु प्राचीनकाल में तो सम्राट और राजमुकुट के इस भेद का कोई महत्व नहीं था क्योंकि सम्राट राजमुकुट था और राजमुकुट सम्राट, किन्तु वर्तमान समय में जबकि ब्रिटेन में वास्तविकता की दृष्टि से

1 “If the King is no longer the motive power of the ship of the state, it is the spur on which the sail is bent, and as such it is not only a useful, but an essential part of the vessel.” —Lowell, *The Government of England* (1974), Vol. I., p. 6.

राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्र की स्थापना हो गयी है, सम्राट और राजमुकुट का भेद निश्चित रूप से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो गया है और इनके बिना ब्रिटिश संविधान का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ग्लैडस्टन के शब्दों में कहा जा सकता है कि “अंग्रेजी संविधान के साहित्य में अनेक सूक्ष्म भेद हैं पर उनमें से इतना अधिक महत्वपूर्ण कोई नहीं है, जितना महत्वपूर्ण सम्राट व राजमुकुट का भेद है।”¹

सम्राट व राजमुकुट के भेद का महत्व

शासन पथ पर ब्रिटेन ने अपनी यात्रा एक निरंकुश राजतन्त्र के रूप में प्रारम्भ की थी, किन्तु ब्रिटेन में आज लोकतन्त्र है। राजतन्त्र से लोकतन्त्र की दिशा में ब्रिटिश संविधान का जो विकास हुआ उसका सीधा-सादा रूप यह है कि व्यक्ति रूप में राजा को जो शक्तियाँ प्राप्त थीं वे अब संस्था रूप में राजमुकुट को प्राप्त हो गयी हैं। इस प्रकार राजा और राजमुकुट का भेद जान लेने के आधार पर ब्रिटिश संविधान का समस्त विकास समझा जा सकता है।

न केवल ब्रिटिश संविधान के विकास वरन् ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के वास्तविक स्वरूप को भी राजा और राजमुकुट के भेद के आधार पर ही जाना जा सकता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटेन में आज भी निरंकुश राजतन्त्र है और राजा सब कुछ करने में समर्थ है, किन्तु व्यवहार में राजा की शक्तियों का प्रयोग स्वयं राजा द्वारा नहीं वरन् राजमुकुट द्वारा ही किया जाता है।

राजमुकुट क्या है?

शाब्दिक अर्थ में, राजमुकुट राजसत्ता का वह प्रतीक है जिसे सम्राट राजपद ग्रहण करने के समय अपने मस्तक पर धारण करता है, किन्तु वर्तमान समय में राजमुकुट ने एक संवैधानिक अर्थ भी प्राप्त कर लिया है। इस संवैधानिक अर्थ में राजमुकुट एक संस्था है जिसमें व्यक्ति रूप में सम्राट, केबिनेट, लोक सेवाएं और वे सभी हैं जिनके द्वारा प्रशासनिक सत्ता का उपयोग किया जाता है। सर सिडनी लो ने राजमुकुट को “सुविधाजनक क्रियाशील उपकल्पना” कहा है और प्रो. ऑग राजमुकुट की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि “राजमुकुट सर्वोच्च कार्यपालिका तथा शासन में नीति निर्माण की संस्था है जिसका अर्थ है राजा, मन्त्रियों तथा संसद का सम्मिश्रण। यह वह संस्था है जिसको राजा की समस्त शक्तियाँ तथा विशेषाधिकार धीरे-धीरे हस्तान्तरित कर दिये गये हैं।”

वस्तुतः राजमुकुट का तात्पर्य सम्पूर्ण सरकार से है।

सम्राट और राजमुकुट में भेद

सम्राट और राजमुकुट में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण भेद हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

(1) सम्राट एक व्यक्ति है, राजमुकुट एक संस्था—सम्राट एक व्यक्ति होता है जो एक विशेष समय पर राजपद पर आसीन होता है। इसके विपरीत, राजमुकुट एक संस्था है, यह शासन सत्ता का प्रतीक है जिसे विधायी, प्रशासनिक और न्यायिक तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं।

(2) सम्राट अस्थायी है, राजमुकुट स्थायी—सम्राट व्यक्ति होने के नाते जन्म लेता है और मरता है। मानव होने के नाते उसके साथ अन्य मानव जीवन की समस्त क्रियाएं लगी हुई हैं उसे सिंहासनच्युत किया जा सकता है और वह स्वयं भी सिंहासन का त्याग कर सकता है।

1 “There are many subtle distinctions in the vernacular of the British Government, but none so vital as the distinction between the King and the Crown.”

—Gladstone

2 “The Crown is a convenient working hypothesis.”

—Sir Sydney Low

है। इसके विपरीत, राजमुकुट जो एक संस्था है, न कभी जन्म ग्रहण करती है और न ही कभी उसकी मृत्यु होती है। ब्रिटिश कानून के प्रसिद्ध व्याख्याता ब्लेकस्टोन ने इसे व्यक्त करते हुए कहा है, "हेनरी एडवर्ड तथा जार्ज की मृत्यु हो सकती है, लेकिन सम्राट सदैव ही जीवित रहते हैं।" उनका अभिप्राय यह था कि एक विशेष समय पर सम्राट पद पर आसीन व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है, परन्तु सम्राट का पद, जिसे राजमुकुट कहा जाता है, अमर है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए इंग्लैण्ड में यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है कि 'सम्राट मृत है, सम्राट चिरंजीव हो' (The king is dead, long live the King)।

(3) सम्राट वैयक्तिक है, राजमुकुट सामूहिक—सम्राट और राजमुकुट में एक अन्य अन्तर वैयक्तिक और सामूहिकता का है। सम्राट का रूप वैयक्तिक है, राजमुकुट का रूप सामूहिक। राजमुकुट की शक्तियों का प्रयोग एक व्यक्ति द्वारा न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा होता है। अतः राजमुकुट का रूप सामूहिक है तथा शक्ति का प्रयोग करने वाले इस समूह में संसद, मन्त्रिमण्डल व लोकसेवा के सदस्य सम्मिलित हैं।

(4) वास्तविक प्रशासन में सम्राट शक्तिहीन है, राजमुकुट सर्वशक्तिशाली—भूतकाल में सम्राट वास्तविक प्रशासन में सर्वाधिक शक्तिशाली था, किन्तु प्रजातन्त्र की दिशा में संवैधानिक विकास के साथ-साथ सम्राट की शक्तियों का ह्रास होता गया और सम्राट के हाथ से शासन की शक्ति निकलकर मन्त्रिमण्डल तथा संसद को प्राप्त होती रही। वर्तमान समय में वास्तविक प्रशासन में सम्राट को कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। किन्तु राजमुकुट एक संस्था है, जिसमें सम्राट के अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल और संसद भी सम्मिलित है, अतः व्यक्ति रूप में सम्राट के हाथ से शक्तियां निकलकर राजमुकुट संस्था को प्राप्त होती रही हैं और राजमुकुट सर्वशक्तिशाली है। ब्रिटेन में प्रचलित यह कहावत है कि "जैसे-जैसे प्रजातन्त्र का विकास होता है राजमुकुट की शक्ति बढ़ जाती है" (As democracy grows Crown becomes stronger) विरोधाभास प्रतीत होने पर भी नितान्त सत्य है। सम्राट और राजमुकुट का भेद वास्तव में राजतन्त्र और लोकतन्त्र का भेद है। सम्राट राजतन्त्र का प्रतीक है, राजमुकुट लोकतन्त्र का प्रतीक है।

सम्राट के उत्तराधिकार का नियम

सम्राट के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में यही नियम प्रचलित है कि सम्राट अथवा साम्राज्ञी का ज्येष्ठ पुत्र अथवा पुत्री सिंहासनाधिकारी हों, किन्तु यदि किसी राजा का पुत्र हो ही नहीं या राजा को किसी कारण पदच्युत कर दिया गया हो, तो उसके उत्तराधिकारी की व्यवस्था संसद करती है। उदाहरण के लिए, 1689 में स्टुअर्ट वंश के राजा जेम्स द्वितीय के इंग्लैण्ड छोड़ देने पर ब्रिटिश संसद ने ही विलियम और मेरी को राजा और रानी बनाया और 1701 में रानी ऐन के कोई सन्तान न होने के कारण संसद ने उत्तराधिकार नियम पारित कर हैनोवर वंश के राजा जार्ज प्रथम को सम्राट का पद प्रदान किया। वर्तमान समय में सम्राट के उत्तराधिकार नियम 'सन् 1702 के उत्तराधिकार के नियम' (Act of Settlement) द्वारा ही निर्धारित किये जाते हैं। संसद को इन नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार है।

राजपद के लिए वेतन-भत्ते—वर्तमान समय में साम्राज्ञी को व्यक्तिगत रूप से 1,40,00,000 पौण्ड प्रति वर्ष दिये जाते हैं। वेतन की समस्त राशि कर-मुक्त होती है तथा एक बार संसद द्वारा स्वीकृत राशि में साम्राज्ञी के जीवनकाल में कोई कटौती नहीं की जा सकती।

1 "Henry Edward or George may die, but king survives them all." —Blackstone

शाही परिवार के अन्य सदस्यों को भी राष्ट्रीय कोष से वेतन, भत्ते और खर्च के रूप में वार्षिक अनुदान दिया जाता है। यह अनुदान संसद द्वारा संविधि के आधार पर सुनिश्चित किया जाता है तथा इस अनुदान को ही 'सिविल सूची' कहा जाता है। 'सिविल सूची' की राशि संचित निधि पर भारित होती है। अनुमान है कि ब्रिटेन में सम्राट पद पर कुल मिलाकर प्रति वर्ष लगभग 50 लाख पौण्ड व्यय होता है।

राजमुकुट की शक्तियां अथवा सिद्धान्त के रूप में सम्राट की शक्तियां

सिद्धान्त रूप में ब्रिटिश सम्राट को अत्यन्त व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं। कानून के अनुसार वह व्यवस्थापिका का अविभाज्य अंग, प्रशासन का अध्यक्ष तथा इंग्लैण्ड, वेल्स, उत्तरी आयरलैण्ड और स्कॉटलैण्ड में न्यायपालिका का प्रधान है। समस्त सैन्य शक्तियों का नियन्ता और चर्च का अध्यक्ष भी है। उसे ब्रिटिश राज्य का मानवीकृत रूप कहना अनुचित न होगा।

सम्राट की शक्तियों के स्रोत (Sources of the Powers of King)—सम्राट की शक्तियों का विकास दो स्रोतों से हुआ है : राजकीय विशेषाधिकार (Royal Prerogatives) और संसदीय अधिनियम (Parliamentary Acts)।

राजमुकुट की शक्तियां (Powers of the Crown)—राजमुकुट की शक्तियों का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

1. कार्यपालिका शक्तियां—राजमुकुट का मुख्य सम्बन्ध कार्यपालिका से है। इस रूप में उसके कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और उसे अत्यन्त व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं। इस सम्बन्ध में उसकी शक्तियां इस प्रकार हैं :

- (1) राजमुकुट का सबसे प्रमुख कार्य समस्त राष्ट्रीय कानूनों को क्रियान्वित करना है।
- (2) राजमुकुट प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है।
- (3) राज्य के सभी उच्च अधिकारी और जल, थल और नभ सेना के समस्त पदाधिकारी राजमुकुट के द्वारा ही नियुक्त किये जाते हैं।
- (4) ग्रेट ब्रिटेन के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध, औपनिवेशिक राज्य तथा अधीनस्थ प्रदेशों का शासन आदि कार्य राजमुकुट के द्वारा ही निर्धारित और सम्पादित किये जाते हैं।
- (5) राजमुकुट ही राजदूतों और वाणिज्य दूतों की नियुक्ति करता है।
- (6) युद्ध की घोषणा तथा सन्धिवार्ता भी राजमुकुट के अधिकार के अन्तर्गत ही आते हैं।
- (7) राजमुकुट के द्वारा अपराधियों को क्षमा प्रदान करने या उनके दण्ड को कम करने का कार्य किया जा सकता है।
- (8) स्थानीय स्वशासन की देखभाल भी राजमुकुट के द्वारा ही की जाती है, क्योंकि इंग्लैण्ड में स्थानीय स्वशासन केन्द्रीय सरकार के अधिकार में ही है।
- (9) राजमुकुट राष्ट्रीय कोष का नियन्त्रण व संचालन करता है।
- (10) मन्त्रिगण व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में जो भी कार्य करते हैं, वे राजमुकुट के नाम से ही किये जाते हैं।

इस प्रकार कार्यपालिका क्षेत्र में राजमुकुट की कार्यपालिका शक्तियां अत्यन्त व्यापक हैं। ऑग ने राजमुकुट की कार्यपालिका शक्तियों को अमरीकी राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के समकक्ष बताया है।

2. व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियां—राजमुकुट को व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक शक्तियां प्राप्त हैं। ब्रिटेन में कानून निर्माण की शक्ति 'संसद सहित राजा' (King in Parliament) को प्राप्त

है। इस प्रकार राजमुकुट के द्वारा संसद के साथ मिलकर व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियों का उपयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में राजमुकुट की शक्तियाँ निम्न प्रकार हैं :

- (1) संसद के दोनों सदनों में से द्वितीय सदन (लॉर्ड सभा) के निर्माण के सम्बन्ध में राजमुकुट को शक्ति प्राप्त है। राजमुकुट को पीयर बनाने का अधिकार प्राप्त है। राजा के द्वारा जिन लोगों को पीयर बनाया जाता है, केवल वे ही लॉर्ड सभा के सदस्य होते हैं। लोकसदन के चुनाव की तिथि भी राजमुकुट के द्वारा ही घोषित की जाती है।
- (2) राजमुकुट संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन बुलाता और स्थगित करता है। लॉर्ड सभा तो एक स्थायी सदन है, लेकिन राजमुकुट लोकसदन को विघटित कर सकता है।
- (3) संसद के आरम्भ में सम्राट भाषण देता है, जिसमें देश की नीति पर प्रकाश डाला जाता है। वास्तविकता यह है कि सम्राट का भाषण उसके मन्त्रियों द्वारा ही तैयार किया जाता है और राजा उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है।
- (4) कोई विधेयक उस समय तक कानून का रूप नहीं ले सकता जब तक कि उस पर सम्राट के हस्ताक्षर न हो गये हों।
- (5) राजमुकुट को अधिराज्यों के सम्बन्ध में घोषणाएं व अध्यादेश जारी करने का अधिकार है।
- (6) पिछले कुछ वर्षों से राजमुकुट को व्यवस्थापन क्षेत्र में एक और शक्ति प्राप्त हो गयी है और वह है 'सपरिषद् आदेश' (Orders-in-Council) जारी करने की शक्ति। राजमुकुट यह कार्य मन्त्रियों और प्रशासनिक विभागों के माध्यम से करता है और इसे 'प्रदत्त व्यवस्थापन' (Delegated Legislation) कहते हैं।

3. न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ—सम्राट को 'न्याय का स्रोत' (Fountain of Justice) कहा जाता है और न्यायिक क्षेत्र में भी उसे कुछ शक्तियाँ प्राप्त हैं। ब्रिटेन के सभी न्यायालय सम्राट के न्यायालय कहलाते हैं। सम्राट ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है तथा संसद की प्रार्थना पर उन्हें उनके पद से हटा सकता है, वह अपराधियों के दण्ड को कम कर सकता है या उन्हें क्षमा प्रदान कर सकता है।

4. धार्मिक क्षेत्र में शक्तियाँ—सम्राट को धार्मिक क्षेत्र में भी कुछ शक्तियाँ प्राप्त हैं। इंग्लैण्ड में ऐंग्लिकन चर्च है और रानी एलिजाबेथ के समय से ही सम्राट उसका प्रमुख है। वह चर्च के समस्त अधिकारियों जैसे—आर्कबिशप (Archbishop), बिशप (Bishop), डीन (Dean), और कैनन (Cannon) की नियुक्ति करता है। सम्राट केण्टरबरी और यार्क के धार्मिक सम्मेलन बुलाता है और इन सम्मेलनों द्वारा पारित नियमों पर सम्राट के हस्ताक्षर उसी प्रकार आवश्यक हैं जिस प्रकार संसद द्वारा पारित विधेयकों पर उसके हस्ताक्षर जरूरी हैं। 1919 से चर्च के प्रबन्ध के लिए 'नेशनल असेम्बली' (National Assembly) नामक संस्था की स्थापना हो गयी और इस सभा द्वारा पारित नियमों पर भी राजमुकुट की अन्तिम स्वीकृति आवश्यक है। धार्मिक क्षेत्र में सम्राट की स्थिति के कारण ही उसे 'धर्मरक्षक' कहा जाता है।

5. सम्मान का स्रोत—राजमुकुट को अधिकार प्राप्त है कि वह ब्रिटिश नागरिकों को सम्मानसूचक उपाधियाँ प्रदान कर सके। इस प्रकार की उपाधियों के ड्यूक, बैरन, अर्ल, नाइट तथा लॉर्ड की उपाधियाँ प्रमुख हैं।

सम्राट की वास्तविक स्थिति : सम्राट राज करता है, शासन नहीं

(ACTUAL POSITION OF THE KING : THE KING REIGNS
BUT DOES NOT GOVERN)

सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्राट की जिन शक्तियों का उल्लेख किया गया है व्यवहार में उन शक्तियों का प्रयोग सम्राट द्वारा नहीं वरन् केबिनेट द्वारा ही किया जाता है। सम्राट तो कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है, जो राज्य करता है शासन नहीं। ब्रिटेन में संसदीय शासन-व्यवस्था है और इस कारण प्रत्येक सार्वजनिक कार्य के लिए मन्त्रिगण संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक है कि शक्ति और उत्तरदायित्व साथ-साथ चलते हैं, अतः वास्तविक रूप में शासन की शक्तियों का प्रयोग भी मन्त्रिगणों के द्वारा ही किया जाता है, सम्राट द्वारा नहीं। सम्राट की शक्तियों का वर्णन करते हुए फाइन्जर ठीक कहता है कि “यह विशाल, गगनचुम्बी तथा वैभवपूर्ण अट्टालिका है, जिसके अन्दर राजनीतिक शक्ति का एक शून्य स्थान है।”¹

ट्यूडर काल तक सम्राट का पद वास्तव में शक्ति और प्रभाव का पद था। महारानी एलिजाबेथ प्रथम एक शक्तिशाली शासिका थीं, किन्तु उनके बाद से ही सम्राट पद की शक्तियाँ कम होनी प्रारम्भ हो गयीं। सत्रहवीं सदी में असीमित राजतन्त्र और मर्यादित राजतन्त्र के समर्थकों के बीच जो संघर्ष हुआ उसके परिणाम सम्राट पद के लिए घातक हुए। सन् 1649 में सम्राट पद को समाप्त करके गणतन्त्र की स्थापना की गयी। यद्यपि यह गणतन्त्र 11 वर्ष ही चला और 1660 में सम्राट पद को पुनर्जीवित कर चार्ल्स द्वितीय को सम्राट बना दिया गया, किन्तु इसके साथ सम्राट पद की शक्तियाँ पुनर्जीवित न हो सकीं। अब सम्राट प्रशासन में छायामात्र ही रह गया और वास्तविक सत्ता संसद के हाथ में पहुँच गयी।¹ 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति ने सम्राट पद की शक्तियाँ सदैव के लिए कम कर दीं और सम्राट पर संसद की सर्वोच्चता स्थापित हो गयी। इसके बाद जैसे-जैसे केबिनेट का विकास होता गया सम्राट की शक्तियों का ह्रास होता गया। सम्राट की शक्तियों के ह्रास में हैनोवर वंश ने बहुत योग्य दिया। हैनोवर वंश के प्रथम दो राजा (जार्ज प्रथम और जार्ज द्वितीय) न तो अंग्रेजी भाषा से परिचित थे और न ब्रिटिश राजनीति में उनकी कोई रुचि थी। अतः उनके द्वारा मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता न की जाने पर प्रधानमन्त्री के पद का विकास हुआ। जार्ज तृतीय ने राजपद की शक्तियों को पुनर्जीवित करने की अथक् चेष्टा की, किन्तु वे इसमें सफल नहीं हुए। अब प्रधानमन्त्री तथा केबिनेट के सदस्यों की नियुक्ति और पदच्युति के सम्बन्ध में निश्चित परम्पराएँ स्थापित हो गयीं और सम्राट इस सम्बन्ध में अपने विवेक का प्रयोग नहीं कर सकता था। सन् 1834 में विलियम चतुर्थ ने संसद में बहुमत रहते हुए मेलबोर्न मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने का प्रयत्न किया था, किन्तु वह इसमें सफल नहीं हुआ। समस्त अनिच्छा के बावजूद 1833 में सम्राट को प्रथम सुधार अधिनियम पर अपनी स्वीकृति देनी पड़ी और रानी विक्टोरिया (1837-1901) तक सम्राट का पद पूर्णतया मर्यादित शक्तियों का पद बन गया।

वर्तमान समय में सम्राट शासन का औपचारिक प्रधान है तथा उसके अधिकार नाममात्र के हैं। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में निश्चित परम्पराएँ हैं और वह लोकसदन के बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद प्रदान करने के लिए बाध्य है। केबिनेट के सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री द्वारा की जाती है और इसमें सम्राट की इच्छा का कोई महत्व नहीं है। सम्राट की

1 “It is a vast sky flying of splendour with a political power vacuum inside.”

—H. Finer

व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियों के विषय में भी यही स्थिति है। संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन बुलाने और स्थगित करने का कार्य निश्चित परम्पराओं और प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा के आधार पर किया जाता है। जहां तक लोकसदन को विघटित करने की शक्ति का सम्बन्ध है, सम्राट इस शक्ति का प्रयोग प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा के आधार पर ही कर सकते हैं। संसद में सम्राट के द्वारा जो भाषण पढ़ा जाता है, वह मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही तैयार किया हुआ होता है और सम्राट इसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप में सम्राट की स्वीकृति के बिना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता, किन्तु व्यवहार में सम्राट किसी विधेयक को अस्वीकृत नहीं कर सकता है। निषेधाधिकार इस दृष्टि से अब एक मृत-प्रथा है कि पिछले 290 वर्षों में इसका कभी प्रयोग नहीं किया गया है। साम्राज्ञी ऐन ने 1707 ई. में 'स्कॉच मिलिशिया विधेयक' पर इसका अन्तिम बार प्रयोग किया था।

सम्राट की अन्य शक्तियों के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। सम्राट को न्याय का स्रोत समझा जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह देश की न्यायिक कार्यवाही में कोई हस्तक्षेप कर सकता है। सन् 1701 के 'उत्तराधिकार अधिनियम' के अनुसार न्यायाधीश सदाचारपर्यन्त अपने पद पर कार्य करते हैं और सम्राट उन्हें पदच्युत नहीं कर सकता। सम्राट अपराधियों को क्षमा प्रदान करने की शक्ति का प्रयोग भी गृहमन्त्री के परामर्श के आधार पर ही कर सकता है। राजा को सम्मान का स्रोत कहा जाता है, किन्तु उपाधियां वितरित करने का कार्य वह अपने ही विवेक के आधार पर नहीं कर सकता। पियर या लॉर्ड बनाने के सम्बन्ध में सम्राट को प्रधानमन्त्री के परामर्श के अनुसार ही कार्य करना होता है। और अन्य उपाधियां प्रदान करने के सम्बन्ध में भी स्थिति यही है। इस प्रकार यह नितान्त स्पष्ट है कि राजा के अधिकार शून्यवत् हैं; वे औपचारिक हैं, वास्तविक नहीं। सैद्धान्तिक रूप में सम्राट के जो भी अधिकार बताये जाते हैं, व्यवहार में उनका प्रयोग प्रधानमन्त्री और अन्य मन्त्रियों के द्वारा ही किया जाता है और वे ही इसके लिए उत्तरदायी भी होते हैं।

सम्राट कोई त्रुटि नहीं कर सकता

(THE KING CAN DO NO WRONG)

वर्तमान समय में शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्राट की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है और वह है सम्राट कोई त्रुटि नहीं कर सकता। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ यह है कि सम्राट जो कुछ भी करता है ठीक ही करता है और उसके किसी भी कार्य में कोई त्रुटि नहीं होती, किन्तु सम्राट के सम्बन्ध में प्रचलित इस कहावत का संवैधानिक महत्व भी है, जिसे निम्न रूपों में समझा जा सकता है :

(1) सम्राट कानून के ऊपर है—'सम्राट कोई त्रुटि नहीं कर सकता', अतः स्वाभाविक रूप से वह कानून के परे होता है और उसके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती। ब्रिटिश सम्राट न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से मुक्त है और उसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में दीवानी या फौजदारी अभियोग नहीं चलाया जा सकता। कानून की दृष्टि में राजा कभी अपराधी हो ही नहीं सकता। डायरी के अनुसार, "सम्राट प्रधानमन्त्री को गोली मार दे तो भी इंग्लैण्ड में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिसके आधार पर उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सके।"

(2) सम्राट स्वविवेक से नहीं, बरन् केबिनेट के परामर्श से कार्य करता है, अतः उसके कार्यों के लिए केबिनेट ही उत्तरदायी है—सम्राट कोई भी कार्य स्वविवेक से नहीं करता, उसके द्वारा अपने सभी कार्य केबिनेट के परामर्श से ही किये जाते हैं। कार्टर के शब्दों में, "राजमुकुट की शक्तियों का उसी प्रकार से प्रयोग किया जाता है, जिस प्रकार से संसद के समर्थन के आधार पर

केबिनेट उनका प्रयोग करना चाहती है।" स्वाभाविक रूप में सम्राट के नाम से किये गये कार्यों के लिए सामूहिक रूप से केबिनेट या व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित मन्त्री ही उत्तरदायी है, स्वयं सम्राट नहीं।

इस प्रकार राजा कोई भी कार्य स्वविवेक के आधार पर नहीं करता और इस कारण उसमें कोई त्रुटि होने की आशंका नहीं है। कहा जाता है कि एक बार चार्ल्स द्वितीय के शयन कक्ष के द्वार पर एक दरबारी ने निम्न पंक्तियाँ लिख दी थीं :

“यहां सोते हैं सम्राट हमारे अधिराज,
विश्वास नहीं करता जिनकी बातों का कोई ।
कभी कम अक्ली की बात नहीं कहते हैं,
और न करते हैं बुद्धि की बात ही कोई।”¹

इन पंक्तियों को पढ़कर राजा चार्ल्स ने कहा था, “यह नितान्त सत्य है क्योंकि राजा के शब्द तो उसके अपने होते हैं, उसके कार्य उसके मन्त्रियों के होते हैं।”²

(3) अवैधानिक कार्य के लिए किसी को सम्राट के नाम पर उन्मुक्ति नहीं मिल सकती है—उपर्युक्त सूत्र एक और सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और वह यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने असंवैधानिक कार्य के लिए सम्राट के नाम पर मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में सीधा-सादा तर्क यह है कि जब सम्राट स्वयं कोई त्रुटि नहीं करता, तो उसके द्वारा किसी को गलती करने के लिए अधिकृत भी नहीं किया जा सकता है। कोई भी मन्त्री अपने द्वारा किये गये अवैध कार्यों के लिए सम्राट के आदेशों की शरण नहीं ले सकता और सम्राट की वैध उन्मुक्तियों के नाम पर अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 1678 के ‘थामस आसबोर्न अर्ल ऑफ डेन्बी’ के अभियोग में हुआ। डेन्बी पर फ्रांस स्थित ब्रिटिश राजदूत को एक पत्र लिखने के अपराध में संसद ने उन पर फौजदारी और दुश्चरित्रता का अभियोग लगाया। डेन्बी ने अपने बचाव में कहा कि उक्त पत्र सम्राट के आदेश के अधीन लिखा गया था और सम्राट कोई गलती नहीं कर सकता। अतः वह दोषी नहीं है। स्वयं सम्राट के द्वारा भी डेन्बी के कथन की पुष्टि करते हुए अपनी ओर से क्षमादान का प्रस्ताव रखा गया। लेकिन संसद ने डेन्बी के तर्क को अस्वीकार करते हुए कहा कि मन्त्री की त्रुटियों के लिए स्वयं मन्त्री ही उत्तरदायी है, सम्राट नहीं। तभी से यह सिद्धान्त चला आ रहा है कि मन्त्री या अन्य अधिकारी अपने अवैध कार्यों के लिए सम्राट के नाम पर मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।

प्रशासन में सम्राट की स्थिति और प्रभाव

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में सम्राट की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए हमारे द्वारा ‘शक्ति’ और ‘प्रभाव’ में अन्तर कर लिया जाना चाहिए। यह तथ्य है कि ब्रिटिश सम्राट एक संवैधानिक शासक मात्र है और वह राज्य करता है, शासन नहीं। लेकिन इस आधार पर वास्तविक प्रशासन में उसे एक ‘स्वर्णिम शून्य’ (Golden Zero) या ‘रबड़ की मोहर’ नहीं कहा जा सकता।

1 “Here lies our sovereign Lord, the king.
Whose words no one relies on,
He never says a foolish thing,
Nor ever does a wise one.”

2 “Very true” retorted the king because “While my words are my own, my acts are of ministers.”

ग्लेडस्टन के शब्दों में, “सत्रहवीं सदी में सम्राट की स्थिति में जो परिवर्तन हुए हैं, उनके कारण शक्ति के स्थान पर लाभदायक प्रभाव की स्थापना हो गयी।”¹

वास्तविक प्रशासन में सम्राट एक निष्क्रिय इकाई नहीं है। ब्रिटिश राज्य का प्रमुख होने के नाते ब्रिटिश राज्य और जनता के हितों की रक्षा उसका पवित्र कर्तव्य है और अपने इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए उसके द्वारा निरन्तर अपने प्रभाव का उपयोग किया जाता है। सम्राट अपने इस प्रभाव का उपयोग किस प्रकार कर सकते हैं उसे स्पष्ट करते हुए बैजहॉट का कहना है कि “प्रशासन तथा नीति-निर्धारण के सम्बन्ध में सम्राट को तीन महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं : परामर्श के लिए पूछे जाने का अधिकार, प्रोत्साहित करने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार”² इन अधिकारों का महत्व बताते हुए वे लिखते हैं कि “एक बुद्धिमान सम्राट को इनके अतिरिक्त अन्य किन्हीं अधिकारों की आवश्यकता नहीं है।”³

सम्राट अपने इन अधिकारों के आधार पर वास्तविक प्रशासन को किस सीमा तक प्रभावित करता है इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संसदीय शासन की परम्परा के अनुसार सम्राट और प्रधानमन्त्री के मध्य की मन्त्रणा को गुप्त रखा जाता है, लेकिन फिर भी शासन पर सम्राट के प्रभाव के कुछ निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं।

रानी विक्टोरिया का जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ है और हैरल्ड निकलसन के द्वारा सम्राट पंचम की जो आत्मकथा (George Vs. His Life and Reign) लिखी गयी उनसे यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है कि सम्राट चाहे कितना ही शक्तिहीन क्यों न हो गया हो, वह अब भी प्रशासनिक क्षेत्र में घटनाचक्र को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित करने की क्षमता रखता है। यह एक सर्वविदित बात है कि रानी विक्टोरिया के द्वारा वास्तविक प्रशासन में निरन्तर हस्तक्षेप किया जाता था और उनके द्वारा अनेक बार किन्हीं विशेष व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में शामिल करवाने या न करवाने में सफलता प्राप्त की गयी। यद्यपि उनके अधिकार इतने प्रभावशाली नहीं थे, लेकिन ब्रिटिश राजनीति पर उसका प्रभाव नगण्य नहीं है। एडवर्ड सप्तम ने लॉयड जार्ज के विवादास्पद बजट और लॉर्ड सभा के सुधारों में सक्रिय भूमिका अदा की थी और वे वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में तो विशेष रूप से सक्रिय थे। उनके एक घनिष्ठ सहयोग लॉर्ड ईशर का तो विचार है कि उन्होंने रानी विक्टोरिया की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण ढंग से शासन कार्य को प्रभावित किया।

वास्तविक प्रशासन में सम्राट के प्रभाव का एक कारण यह है कि सम्राट व्यक्तिगत रूप में कुछ ऐसे कार्यों का सम्पादन करता है, जिन्हें अन्य कोई नहीं कर सकता। वह विदेशी राजदूतों का स्वागत करता है, पीयर नियुक्त करता है, उपाधियाँ देता है और सिंहासन भाषण देता है। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति और लोकसदन का विघटन भी वही करता है। यद्यपि इन कार्यों में उसकी शक्ति नहीं के बराबर है, लेकिन कुछ दशाओं में वह अपने विवेक से कार्य कर सकता है और व्यवहार में ऐसा किया भी गया है। सन् 1894 में प्रधानमन्त्री पद के अनेक उम्मीदवार थे और लॉर्ड रोजबरी को प्रधानमन्त्री बनाने में रानी विक्टोरिया ने अपने विवेक का प्रयोग किया था। 1931 में रेन्से मैकडानल्ड के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार का जो गठन किया गया, उसमें तो

1 “Beneficial substitution of influence for power.”

2 “The king possesses three important political rights—The right to be consulted, the right to encourage and the right to warn.” —Gladstone

3 “To this he adds—And a king of great sense and sagacity would want no others.” —Bagehot

—Bagehot, *The British Constitution*, p. 7.

निश्चित रूप से सम्राट ने ही पहल की थी और इसी कारण इस घटना को 'राजमहल की क्रांति' (Palace Revolution of 1931) की संज्ञा दी जाती है। 1945 में मजदूर दलीय सरकार के अन्तर्गत अर्नेस्ट बेविन को विदेश सचिव बनवाने में सम्राट षष्ठम जार्ज का हाथ था। 1957 में जब मिस्र के विरुद्ध असफल सैनिक कार्यवाही के बाद तत्कालीन प्रधानमन्त्री ईडन को त्यागपत्र देना पड़ा, तो अनुदार दल में नेता पद के लिए दो व्यक्ति थे: बटलर और मैकमिलन। रानी ने चर्चिल और सैलिसबरी से मन्त्रणा कर बटलर के स्थान पर मैकमिलन को प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया। इसी प्रकार की स्थिति 1963 में मैकमिलन के त्यागपत्र के बाद उत्पन्न हुई। इस समय अनुदार दल में अनेक प्रत्याशी थे और बटलर इनमें प्रमुख थे। लेकिन रानी ने अप्रत्याशित रूप से लॉर्ड ह्यूम को प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सम्राट शक्तिहीन है, लेकिन फिर भी प्रधानमन्त्री के चुनाव तथा अन्य कुछ बातों में विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत उसके द्वारा प्रभाव का उपयोग किया जाता है।

राजा के प्रभाव के आधार

वास्तविक प्रशासन में राजा को जो भी प्रभाव प्राप्त हैं, उसके कुछ विशेष कारण या आधार हैं जिनकी विवेचना निम्न प्रकार है :

(1) व्यक्तित्व—कार्टर ने लिखा है कि "शासन पर सम्राट का प्रभाव औपचारिक शक्तियों की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है।" यदि राजा का व्यक्तित्व प्रभावशाली है तो मन्त्रिगण स्वतः ही उसके व्यक्तित्व के सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं। प्रशासन पर राजी विक्टोरिया के प्रभाव का एक प्रमुख कारण उनका भव्य व्यक्तित्व ही था।

(2) अनुभव—राजा के प्रभाव का दूसरा कारण उन्हें प्राप्त दीर्घ अनुभव है। राजा जीवन भर शासन का अध्यक्ष रहता है और अपने इस दीर्घ काल में आन्तरिक राजनीति के अन्तर्गत अनेक मन्त्रिमण्डलों का उत्थान और पतन तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक उतार-चढ़ाव देख लेता है। अपने इस दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर वह अपने परामर्श से मन्त्रिमण्डल को प्रभावित कर सकता है।

(3) राजनीतिक निष्पक्षता—राजा के प्रभाव का एक आधार उसकी राजनीतिक निष्पक्षता है। वह किसी एक राजनीतिक दल का नेता ही नहीं बरन् सम्पूर्ण ब्रिटिश जनता और राष्ट्र का प्रधान होता है और उसके द्वारा इसी दृष्टिकोण से कार्य किया जाता है। प्रधानमन्त्री और मन्त्रीगण भी सम्राट की राजनीतिक निष्पक्षता से परिचित होते हैं। इस कारण उनके द्वारा सम्राट के परामर्श को उचित महत्व दिया जाता है।

(4) संसदीय शासन की कार्यपद्धति—राजा के प्रभाव का एक कारण संसदीय शासन की कार्यपद्धति भी है। शासन का अध्यक्ष होने के नाते मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही और परराष्ट्र विभाग का समस्त पत्र-व्यवहार उसके पास पहुँचता है। राजा का अपना कर्मचारी मण्डल होता है। उसका एक मन्त्री भी होता है जिसे राजा का 'आत्म-साधक' (Conscience keeper) कहा जाता है। इस मन्त्री का कर्तव्य राजा को समस्त राजनीतिक घटनाओं की सूचना देना ही होता है। इन सबके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह सम्राट को मन्त्रिमण्डल के निश्चयों से अवगत कराये। ये सभी बातें सम्राट को ऐसी स्थिति प्रदान कर देती हैं कि यदि उसमें क्षमता है तो वह शासन कार्य को प्रभावित कर सके।

1 "G. M. Carter, *The Government of Great Britain*, p. 181.

(5) पद की महत्ता—इन सबके अतिरिक्त सम्राट के प्रभाव का अन्तिम कारण सम्राट पद की महत्ता है। सम्राट का पद ऐतिहासिक महत्व रखता है और वर्तमान समय में भी ब्रिटिश राज्य में इसको सर्वोच्च महत्व प्राप्त है। स्वाभाविक रूप से सम्राट के द्वारा जो भी परामर्श दिया जाता है, मन्त्रिमण्डल उसका पर्याप्त महत्व मानते हुए उस पर विचार करने का कार्य करता है।

राजपद का औचित्य या उपयोगिताएं

ब्रिटेन विश्व में प्रजातन्त्र का अग्रदूत देश रहा है और आज प्रजातन्त्र के युग में ब्रिटेन में प्रजातन्त्रीय भावना अन्य किसी भी देश की तुलना में कम नहीं है। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन में राजा का पद एक राजनीतिक असंगति है, लेकिन ब्रिटिश व्यक्ति अपने अत्यधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण इस प्रकार की असंगतियों को निभाना भलीभांति जानते हैं और ब्रिटिश राजपद के सम्बन्ध में भी ऐसी ही स्थिति है। विश्व के अन्य देशों में जहां राजतन्त्र समाप्त होता जा रहा है, ब्रिटिश निवासी ऊंचे स्वर में 'सम्राट चिरंजीवी हो' (Long live the King) के नारे लगाते हैं और राजतन्त्र की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती जा रही है। सर विंस्टन चर्चिल के शब्दों में, "हम सभी लोगों के हृदय में राजतन्त्र गहरा बैठा हुआ है और यह हम सभी को अत्यधिक प्रिय है।"

गणतन्त्रीय आन्दोलन और उसका अन्त—वर्तमान समय में तो राजतन्त्र बहुत अधिक लोकप्रिय है, लेकिन यह लोकप्रियता बहुत अधिक पुरानी नहीं है और इसके पूर्व राजपद को जनविरोध का सामना करना पड़ा है। स्टुअर्ट राजाओं के काल में तो राजपद और ब्रिटिश जनता के बीच तीव्र संघर्ष हुआ ही था। इसके बाद विलियम ऑफ ऑरेंज और प्रथम दो जार्ज राजाओं को भी उनके विदेशी होने के कारण ब्रिटिश जनता अपनी भक्ति नहीं दे सकी थी। जार्ज तृतीय ने 'देशभक्त राजा' (Patriot King) बनने का प्रयत्न किया, किन्तु अपने शासनकाल के अन्तिम पांच वर्षों में उनका मस्तिष्क विकृत हो जाने के कारण राजपद के सम्मान में कोई वृद्धि नहीं हुई। जार्ज चतुर्थ और विलियम चतुर्थ ने ऐसा अनियमित जीवन व्यतीत किया कि वे सम्मान के पात्र नहीं हो सकते थे और रानी विक्टोरिया अपने शासन के प्रथम वर्षों में विशेष विख्यात नहीं थीं और उनकी आलोचना होती रही थी।

धीरे-धीरे राजपद का विरोध इतना बढ़ गया कि 1871 में गणतन्त्रवादी आन्दोलन ही चल पड़ा जिसका लक्ष्य राजतन्त्र को समाप्त करना था। लन्दन में एक गणतन्त्रीय क्लब की स्थापना हुई और चार्ल्स ब्रेडला इसके प्रथम सभापति हुए। उस समय बड़ी उत्तेजना फैली, जब इस विचारधारा को सर चार्ल्स डिल्के जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों ने ग्रहण कर लिया और चैम्बरलेन ने भविष्यवाणी की कि "गणतन्त्र अवश्य स्थापित होगा और जिस गति से हम उस दिशा में बढ़ रहे हैं वह हमारे समय में ही स्थापित हो जायेगा।" किन्तु कुछ वर्षों में यह आन्दोलन धीमा पड़ गया और रानी विक्टोरिया ने डिल्के को मन्त्रिपद पर नियुक्त करने के पूर्व उन्हें इस बात के लिए बाध्य किया कि वे राजतन्त्र-विरोधी विचारों के विरुद्ध स्वमत घोषित करें।

1878 के बाद ब्रिटेन में गणतन्त्रात्मक भावनाएं कभी गम्भीर रूप से व्यक्त नहीं की गयी हैं और आज स्थिति यह है कि साम्यवादियों को छोड़कर, जिनकी संख्या ब्रिटेन में बहुत कम है, सभी राजनीतिक दल एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर राजतन्त्र का गुणगान करते हैं। श्रमिक

दल के एक प्रमुख नेता हरबर्ट मारिसन ने लिखा है, “विश्व में कोई भी राजतन्त्र हमारे राजतन्त्र से ज्यादा सुरक्षित या जनता द्वारा सम्मान प्राप्त नहीं है।”¹

राजपद का औचित्य

स्वाभाविक रूप से प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्तमान समय में जबकि विश्व के लगभग सभी देशों में राजतन्त्र समाप्त होता जा रहा है, ब्रिटेन में ही राजा का पद इतना अधिक सम्मानित कैसे बना हुआ है? ब्रिटेन में राजपद के बने रहने और उसके इतने अधिक सम्मानित होने के कारणों की विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती है :

(1) ऐतिहासिक महत्व की संस्था—राजपद इंग्लैण्ड में सर्वोच्च ऐतिहासिक महत्व की संस्था है। इंग्लैण्ड में 829 ई. में सम्राट एल्बर्ट के समय से राजतन्त्र चला आ रहा है और इस प्रकार यह लगभग 1,168 वर्ष पुराना है। ब्रिटेन में इस लम्बे इतिहास में केवल 11 वर्ष (1649-1660) के लिए क्रामवेल के नेतृत्व में गणतन्त्र को अपनाया गया। लेकिन यह प्रयोग असफल रहा और इसकी असफलता ने राजतन्त्र की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही की। 1660 में ब्रिटेन में फिर से राजतन्त्र की स्थापना कर दी गयी। अपने इस लम्बे इतिहास के कारण राजपद ब्रिटिश जनता के स्वभाव के साथ जुड़ गया है और अपने रूढ़िवादी स्वभाव के कारण उसके लिए राजतन्त्र के बिना ब्रिटिश राज्य की कल्पना करना भी लगभग असम्भव हो गया है। ऑग के शब्दों में, “राजतन्त्र इंग्लैण्ड की अपनी संस्था है, बाहर से आयात करके लायी हुई संस्था नहीं है।”²

(2) विक्टोरिया के समय से ब्रिटिश सम्राटों का प्रभावशाली व्यक्तित्व और गौरवपूर्ण भूमिका—वर्तमान समय में राजपद को जो इतना अधिक सम्मान प्राप्त है उसका बहुत अधिक श्रेय राजपद धारण करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व और कार्यों को दिया जा सकता है। रानी विक्टोरिया ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार वैधानिक शासिका के रूप में कार्य करके राजपद के लिए सम्मान अर्जित किया। एडवर्ड सप्तम की मिलनसार प्रवृत्ति और सबके प्रति विनोदप्रिय व्यवहार ने राजपद को प्रसिद्ध बनाया। जार्ज पंचम ने अपने वैयक्तिक सम्पर्क, कर्मठता तथा महायुद्ध में विजय प्राप्त कर राजतन्त्र की जड़ें गहरी कर दीं और ‘प्रजाजनों के पिता’ के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली। उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड अष्टम जिन्हें ‘प्रसन्नमुख राजकुमार’ कहा जाता था, जनता में अत्यधिक लोकप्रिय थे और उनकी प्रत्येक मुद्रा पर जनता करतल ध्वनि करती थी। षष्ठ जार्ज द्वितीय महायुद्ध के सबसे बुरे दिनों में लन्दन में ही बने रहे और अपने आपको जनता के सुख-दुख का भागीदार बनाकर गहरा प्रेम और श्रद्धा प्राप्त की। उनकी पुत्री एलिजाबेथ द्वितीय ने अपनी हंसमुख प्रकृति और सद्गुणों से जनता का मन मोह लिया है। इस प्रकार सम्राट पद का अतीत बहुत अधिक सराहनीय रहा है।

(3) राजपद का लोकतन्त्रीकरण—वर्तमान समय में इंग्लैण्ड में राजपद के बने रहने का सबसे बड़ा कारण है ‘राजपद का लोकतन्त्रीकरण’। यदि इंग्लैण्ड के राजाओं ने सोवियत रूस के राजाओं अथवा ‘मैं राजा हूँ’ कहने वाले फ्रांस के लुई चौदहवें की भांति व्यवहार किया होता, तो इंग्लैण्ड का राजपद भी उसी तरह समाप्त हो गया होता, जिस तरह रूस अथवा फ्रांस के राजतन्त्र समाप्त हो गये। लेकिन इंग्लैण्ड के राजाओं ने बदलती हुई परिस्थितियों

1 “No monarchy in the world is more secure or more respected by the people than ours.” —Herbert Morrison, *Parliament and Government*, p. 91.

2 “Monarchy in Britain is an indigenous institution, not an importation.” —Ogg

को समझा और 1688 की की गौरवपूर्ण क्रान्ति के बाद वे लोकतन्त्र के विकास में कभी भी बाधक नहीं हुए। उन्होंने लोकतन्त्र को विकास की प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम समझा और उसके विकास में कभी अनजाने में, कभी जानबूझकर और कभी विवशतापूर्वक सहयोग दिया। रानी ऐन्ने विलियम और मेरी तथा प्रथम दो जार्ज राजाओं का योग इस सम्बन्ध में विशेषतया उल्लेखनीय है। विशेष बात यह है कि राजपद का लोकतन्त्रीकरण शान्तिपूर्ण ढंग से हुआ है। इसने उभय पक्षों में स्नेह और सम्मान को जन्म दिया है। वर्तमान समय में तो राजपद लोकतन्त्र का प्रतीक बन गया है। राजपद के लोकतन्त्रीकरण को दृष्टि में रखते हुए ही ऑंग ने ब्रिटिश शासन-व्यवस्था को 'राजमुकुटधारी गणतन्त्र' (Crowned Republic) के नाम से पुकारा है।

(4) सम्राट के व्यक्तिगत अधिकार और कार्य—राजनीतिक क्षेत्र में सम्राट पद का प्रतीकात्मक मूल्य ही नहीं है, वरन् इसके द्वारा कुछ उपयोगी और आवश्यक कार्य भी किये जाते हैं। वह संसद का अधिवेशन बुलाता, स्थगित करता और लोकसदन को विघटित करता है। उद्घाटन भाषण देता है, प्रधानमंत्री, अन्य मन्त्रियों तथा अनेक अधिकारियों की नियुक्ति करता है और सपरिषद् आदेश सम्राट की उपस्थिति में ही जारी किये जाते हैं। सम्राट के ये सब कार्य औपचारिक अवश्य हैं लेकिन उनके साथ ही यह तथ्य हैं कि उन्हें केवल ब्रिटिश राज्य के संवैधानिक प्रधान (सम्राट) द्वारा ही किया जा सकता है, अन्य किसी अधिकारी द्वारा नहीं।

(5) सम्राट सर्वोच्च सलाहकार के रूप में—भूतकाल में मन्त्री परामर्श देते थे और सम्राट निर्णय करते थे। वर्तमान समय में यद्यपि निर्णय केबिनेट करती है, लेकिन सम्राट के द्वारा परामर्श अवश्य ही दिया जाता है। सम्राट को शासन सम्बन्धी समस्त सूचनाएं प्राप्त होती हैं, आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर जानकारी देने के लिए उसका अपना कर्मचारी मण्डल होता है। जब इस प्रकार के समस्त ज्ञान और अनुभव से सम्पन्न व्यक्ति प्रधानमंत्री को परामर्श देता है, तब उसके परामर्श का आवश्यक रूप से प्रभाव पड़ता है। उसके परामर्श को महत्वपूर्ण बनाने वाले तथ्य हैं—लम्बे अनुभव से प्राप्त विशेष ज्ञान और दलीय राजनीति से अलग रहते हुए राष्ट्रीय हितों की चिन्ता।

(6) सम्राट मध्यस्थ के रूप में—सम्राट के द्वारा मध्यस्थ के रूप में भी उपयोगी कार्य किया जाता है। सम्राट का व्यक्तित्व बहुत अधिक प्रतिष्ठित और राजनीतिक दृष्टि से निष्पक्ष होने के कारण उसके द्वारा मध्यस्थ का कार्य बहुत अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है। 1914 में लॉयड जार्ज ने होमरूल बिल पर समझौता कराने का प्रयत्न किया था और 1916 में सम्राट के निजी सचिव ने एस्क्विथ और लॉयड जार्ज के विवाद को सुलझाने की चेष्टा की थी। एटली लिखते हैं, "सम्राट एक रैफ्री की तरह है; यद्यपि अब ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जब उसे सीटी बजाने की आवश्यकता पड़े।"

(7) सम्राट ब्रिटिश राष्ट्र की एकता का प्रतीक—सम्राट न केवल ब्रिटिश शासन, वरन् ब्रिटिश राष्ट्र की एकता का प्रतीक है। ब्रिटिश सम्राट किसी एक पक्ष का नहीं, वरन् सभी का सम्राट है और सम्राट के राज्यारोहण, राजतिलक तथा अन्य अवसरों पर सभी व्यक्ति जिस रूप में राजभक्ति व्यक्त करते हैं उसके परिणामस्वरूप देशभक्ति और राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को बल मिलता है। विशेष बात यह कि विरोधी दल भी सम्राट के प्रति उतनी ही भक्ति रखता है, जितनी कि शासक दल। इसी आधार पर जैनिंग्स कहते हैं कि "हम एक ही

समय में शासन को बुरा कह सकते हैं साथ ही सम्राट का जय-जयकार कर सकते हैं।¹ युद्ध आदि अवसरों पर जब सम्राट घोषणा करता है कि 'तुम्हारा सम्राट तथा तुम्हारा देश, तुम्हारी सेवाएं चाहता है' और जब उसके द्वारा स्वयं युद्ध केन्द्रों का निरीक्षण किया जाता है, तो नागरिकों में देशभक्ति की भावना का ज्वार उमड़ पड़ता है।

(8) ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव का साधन—न केवल आन्तरिक राजनीति, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से भी ब्रिटेन के लिए सम्राट पद का बहुत अधिक महत्व है। 19वीं सदी में ब्रिटेन का जो विश्वव्यापी साम्राज्य स्थापित हुआ उसका एक आधार सम्राट का व्यक्तित्व भी था और सम्राट ने ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व में भी योग दिया।

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ब्रिटेन को जो भी थोड़ा-बहुत महत्व प्राप्त है उसका एक बड़ा आधार राष्ट्रमण्डल है और राष्ट्रमण्डल सम्राट के व्यक्तित्व पर ही टिका हुआ है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भी इस बात से परिचित हैं। इसी कारण उनके द्वारा Statute of West Minster के आधार पर इस प्रतीक को दृढ़ करने की चेष्टा की गयी है। सम्राट अपनी यात्राओं के आधार पर भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाने की चेष्टा करता है।

(9) ब्रिटिश सम्राट का सामाजिक व्यक्तित्व—ब्रिटिश सम्राट का देश के सामाजिक ढांचे पर भी पर्याप्त प्रभाव है। जब कभी सम्राट किसी सामाजिक उत्सव में सम्मिलित होता है तो उत्सव की शोभा बहुत अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि जनता भारी संख्या में सम्राट के दर्शनार्थ उपस्थित होती है। समाज में सम्राट की अपील को बहुत महत्व दिया जाता है। सम्राट ब्रिटिश समाज का नेता है और धार्मिक तथा नैतिक जीवन, फैशन, साहित्य और कलाओं पर उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

(10) सम्राट पद का मनोवैज्ञानिक महत्व—सम्राट पद का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्व है। यह जनता के लिए सरकार और राज्य का सकार रूप है और राजभक्ति के माध्यम से देशभक्ति का संचार करता है। साधारण व्यक्ति राष्ट्र, सरकार तथा देश जैसे अमूर्त शब्दों की अपेक्षा राजा जैसे मूर्त शब्द को आसानी से ग्रहण कर सकता है। सम्राट पद ब्रिटिश लोकतन्त्र को एक प्रकार की भव्यता प्रदान करने का कार्य भी करता है।

(11) निरन्तरता तथा स्थायित्व का प्रतीक—ब्रिटिश जनता रूढ़िवादी और राष्ट्रीय शासन में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के विरुद्ध है और वह राजपद को इस कारण भी बनाये रखना चाहती है कि राजपद ब्रिटिश जीवन के आधारभूत मूल्यों की रक्षा का साधन समझा जाता है। बार्कर के अनुसार, "राजतन्त्र क्रान्तिकारी कल्पनाओं और चमत्कारिक परिवर्तनों को रोकने में सहायक है।"²

ब्रिटिश सम्राट के सम्बन्ध में महत्व की बात यह है कि क्रान्तिकारी कल्पनाओं के विरुद्ध होते हुए भी यह प्रगति और प्रजातान्त्रिक विकास के मार्ग में बाधक नहीं है।

(12) संसदीय प्रजातन्त्र में राजपद की उपयोगी भूमिका—संसदीय प्रजातन्त्र में कार्यपालिका के वास्तविक प्रधान के साथ-साथ एक औपचारिक प्रधान की भी आवश्यकता होती है। इस औपचारिक प्रधान को कुछ विशेष कार्य करने होते हैं, जैसे—एक प्रधानमन्त्री के त्यागपत्र के बाद दूसरे प्रधानमन्त्री को पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करना, व्यवस्थापिका का

1 "We can damn the government and cheer the king."

—Jennings, *The English Constitution*, p. 11.

2 "Monarchy helps to prevent revolutionary dream and sensational changes."

—E. Barker

अधिवेशन बुलाना और स्थगित करना, लोकप्रिय सदन को विघटित करना, आदि। इस औपचारिक प्रधान के द्वारा वास्तविक कार्यपालिका को परामर्श देने का कार्य भी किया जाता है। ब्रिटेन में संसदीय प्रजातन्त्र है और इस कारण इस प्रकार के औपचारिक प्रधान की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन में यदि राजपद को समाप्त किया जाय तो भारतीय राष्ट्रपति जैसे किसी निर्वाचित प्रधान की व्यवस्था करनी होगी। नये सिरे से निर्वाचित प्रधान की व्यवस्था करने में अनेक समस्याएं और आशंकाएं हैं। निर्वाचित प्रधान की चुनाव व्यवस्था के सम्बन्ध में विवाद खड़े हो सकते हैं। इस बात की आशंका है कि महत्वाकांक्षी प्रवृत्ति वाला निर्वाचित प्रधान अपने पद की राजनीतिक मर्यादाओं के उल्लंघन का प्रयत्न कर सकता है। इन सबके अतिरिक्त अपने पिछले राजनीतिक जीवन के आधार पर वह पक्षपातपूर्ण आचरण कर सकता है या उसकी निष्पक्षता पर सन्देह किया जा सकता है। ब्रिटिश राजपद के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई आशंका नहीं है। एक विशेष बात, जिसने संसदीय शासन की दृष्टि से राजपद की उपयोगिता बहुत बढ़ा दी है कि “अपनी कोई दलगत आस्था न होने के कारण न केवल वह सदैव निष्पक्षता के साथ कार्य करता है, बल्कि इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उसकी निष्पक्षता पर सभी पूर्ण विश्वास करते हैं।”

आर्थिक औचित्य—राजपद की उपर्युक्त सभी उपयोगिताएं तो हैं ही, आर्थिक दृष्टिकोण या व्यय के आधार पर भी राजपद के औचित्य को चुनौती नहीं दी जा सकती। ‘राजतन्त्र पर इंग्लैण्ड की आय के एक प्रतिशत का बीसवां भाग खर्च होता है।’ यदि राजपद के स्थान पर निर्वाचित प्रधान की व्यवस्था की जाय, तो भी उसके चुनाव, वेतन-भत्ता, कर्मचारी मण्डल, आदि के रूप में इससे अधिक धनराशि ही खर्च करनी होगी। राजपद से होने वाले लाभों की तुलना में वस्तुतः यह धनराशि कुछ भी नहीं है।

क्या निर्वाचित राष्ट्रपति राजपद का विकल्प हो सकता है?

अनेक बार यह प्रश्न किया जाता है कि वंशानुगत राजा के स्थान पर निर्वाचित प्रधान के पद की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में सम्राट के द्वारा जो भूमिका निभायी जाती है, निर्वाचित अध्यक्ष के द्वारा उसे पूरा नहीं किया जा सकता। निम्न कारणों से निर्वाचित प्रधान राजपद का विकल्प नहीं हो सकता :

प्रथम, ब्रिटिश राजा न केवल ब्रिटिश वरन् अधिराज्यों और राष्ट्रमण्डलीय देशों का भी प्रधान समझा जाता है। एक निर्वाचित प्रधान केवल ब्रिटिश जनता द्वारा निर्वाचित होगा और उसे राष्ट्रमण्डल के देशों की निष्ठा कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। **द्वितीय**, निर्वाचित राष्ट्रपति दलगत आस्थाओं से ऊपर नहीं होता। यदि वह दलीय आस्था का त्याग भी कर दे, तो भी पुराने राजनीतिक जीवन के आधार पर उसकी निष्पक्षता में सन्देह किया जा सकता है और उसे सम्राट जैसी सभी पक्षों की ओर से प्रतिष्ठित स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। **तृतीय**, निर्वाचित राष्ट्रपति का कार्यकाल सीमित होने के कारण उसे प्रशासनिक कार्यों का दीर्घकालीन अनुभव और ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः निर्वाचित प्रधान होने पर ब्रिटेन सम्राट के राजनीतिक ज्ञान एवं प्रशासनिक अनुभव से वंचित हो जायेगा। **चतुर्थ**, संसदीय शासन में, शासन के अध्यक्ष को केवल एक औपचारिक प्रधान के रूप में कार्य करना है। सम्राट के द्वारा अपने पद की राजनीतिक मर्यादाओं को पूर्णतया स्वीकार कर लिया गया है, लेकिन निर्वाचित राष्ट्रपति महत्वाकांक्षाओं के वशीभूत होकर यदि कभी परम्पराओं का उल्लंघन कर बैठे, तो संवैधानिक गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इन सबके अतिरिक्त व्यावहारिक बुद्धि का

यही कहना कि जब वंशानुगत राजा कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान के रूप में ठीक प्रकार से कार्य कर रहा है, तो निर्वाचित अध्यक्ष की व्यवस्था करके निर्वाचन और तत्सम्बन्धी समस्याओं का सामना क्यों किया जाय? इन्हीं बातों को दृष्टि में रखते हुए इआन गिलमोर ने लिखा है कि “स्वतन्त्र शासन निर्वाचित अध्यक्ष के स्थान पर सम्राट के साथ अधिक अच्छे प्रकार से कार्य कर सकता है।”¹

निर्वाचित राष्ट्रपति सम्राट का स्थानापन्न नहीं हो सकता। ब्रिटेन में इस सम्बन्ध में सोचा भी नहीं जा रहा है। ऑग के शब्दों में, “ब्रिटेन इसी प्रकार मुकुटधारी गणतन्त्र बना रहेगा और बना रहना चाहिए।”

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सम्राट शक्तिहीन भले ही हो गया हो, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से अब भी उसके पद का पर्याप्त महत्व है। इसके अतिरिक्त शक्तिहीन होते हुए भी व्यावहारिक प्रशासन में उसके द्वारा उपयोगी और महत्वपूर्ण भूमिका निभायी जाती है। यह ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है और लॉवेल के शब्दों में कहा जा सकता है कि “यदि राजा, राज्य के पोत की प्रेरक शक्ति नहीं है, तो भी उस पोत का मस्तूल अवश्य है जिस पर पाल लटका हुआ है, और इस प्रकार उस पोत का वह न केवल लाभदायक वरन् अत्यन्त आवश्यक भाग है।”

निबन्धात्मक प्रश्न

1. “सम्राट और राजमुकुट के बीच का अन्तर ब्रिटिश संवैधानिक इतिहास का एक बड़ा भारी तथ्य है” क्यों? व्याख्या कीजिए।
2. ब्रिटिश सम्राट की स्थिति की विवेचना कीजिए। इंग्लैण्ड में राजपद का क्या औचित्य है?
3. ब्रिटेन में राजतन्त्र की निरन्तरता के कारणों को इंगित करें।
4. विवेचना कीजिए : ‘सम्राट कोई गलती नहीं कर सकता।’
5. राजा और राजमुकुट में क्या अन्तर है? इंग्लैण्ड में सम्राट पद के स्थायित्व के कारण बताइए।
6. राजमुकुट से आप क्या समझते हैं? राजा और राजमुकुट में अन्तर बताइए। राजमुकुट की शक्तियों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सम्राट और राजमुकुट में भेद की दो बातें बताइए।
2. सिद्धान्त रूप में सम्राट को कार्यपालिका के क्षेत्र में क्या शक्तियां प्राप्त हैं?
3. ‘सम्राट कोई त्रुटि नहीं कर सकता’ स्पष्ट कीजिए।
4. राजपद के औचित्य की केवल कुछ प्रमुख बातें लिखिए।
5. क्या राष्ट्रपति राजपद का विकल्प हो सकता है?
6. प्रशासन में सम्राट की स्थिति और प्रभाव की विवेचना कीजिए।

त्रस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. कौन-सा वक्तव्य सही नहीं है?
(अ) ब्रिटिश सम्राट ब्रिटेन की कार्यपालिका का नाम मात्र का प्रधान है।
(ब) सम्राट ‘स्वर्णिम शून्य’ है।

1 “Free Government lasts much better with a king than a President.”—Ian Gilmour, *The Body Politic* (Quoted from *Government in Action in the U.K.*)

- (स) ब्रिटिश सम्राट कोई गलती नहीं करता।
 (द) ब्रिटिश सम्राट शासन करता है, राज नहीं।
2. सम्राट को अधिकार प्राप्त नहीं है :
 (अ) शासन को परामर्श देने का (ब) शासन को चेतावनी देना
 (स) प्रोत्साहित करने का (द) प्रशासन के संचालन का
3. कौन-सा वक्तव्य सही नहीं है :
 (अ) राजा अमूर्त है, राजमुकुट मूर्तिमान है।
 (ब) राजा नश्वर है, राजमुकुट अमर है।
 (स) राजा राजमुकुट का एक अंग है।
 (द) राजा एक व्यक्ति है, राजमुकुट एक संस्था है।
4. 'राजमुकुट' (क्राउन) से आशय है :
 (अ) सम्राट (ब) सम्राट और संसद
 (स) सम्राट, मन्त्रिमण्डल और संसद (द) सम्राट और मन्त्रिमण्डल
5. किस लेखक ने क्राउन को एक 'सुविधाजनक कामचलाऊ उपकल्पना' कहा है?
 (अ) लास्की (ब) सिडनी लो
 (स) फाइनर (द) जैनिंग्स
6. निम्न कथन किसका है :
 'ब्रिटेन इसी प्रकार मुकुटधारी गणतन्त्र' (Crowned Republic) बना रहेगा और बना रहना चाहिए।'
 (अ) ऑग और जिक (ब) मुनरो
 (स) ऑग (द) जैनिंग्स
7. 'विश्व में कोई भी राजतन्त्र हमारे राजतन्त्र से ज्यादा सुरक्षित या जनता द्वारा सम्मान प्राप्त नहीं है' यह कथन किसका है :
 (अ) लास्की (ब) हरमन फाइनर
 (स) लावेल (द) हरबर्ट मौरिसन
8. इंग्लैण्ड के संवैधानिक इतिहास में राजा ने अपने निषेधाधिकार का अन्तिम बार प्रयोग कब किया :
 (अ) 1832 ई. में (ब) 1911 ई. में
 (स) 1949 ई. में (द) 1707 ई. में
 [उत्तर—1. (द), 2. (द), 3. (अ), 4. (स), 5. (ब), 6. (स), 7. (द), 8. (द)]
- प्रश्न 9. राजमुकुट की शक्तियों का स्रोत क्या है?
 [उत्तर—राजकीय विशेषाधिकार तथा संसदीय अधिनियम]
- प्रश्न 10. 'राजतन्त्र इंग्लैण्ड की अपनी संस्था है, बाहर से आयात करके लायी हुई संस्था नहीं है।' यह कथन किसका है?
 [उत्तर—ऑग का]
- प्रश्न 11. सम्राट के उत्तराधिकार की क्या व्यवस्था है?
 [उत्तर—सन् 1701 का 'उत्तराधिकार का नियम' (Act of Settlement) 1701]
- प्रश्न 12. सम्राट, ब्रिटिश नागरिकों को कौन-सी उपाधियाँ प्रदान करता है?
 [उत्तर—ड्यूक, बैरन, अर्ल, नाइट तथा लॉर्ड]

4

मन्त्रिमण्डल और प्रधानमन्त्री

(THE CABINET AND THE PRIME MINISTER)

“केबिनेट ब्रिटिश राजनीति की लाक्षणिक विसंगतियों में से एक है। यह शासनाधिकार का केन्द्र है, यह वह संस्था है जो लोकसदन को नियन्त्रित करती है और राज्य के प्रशासकीय यन्त्र का संचालन करती है।”¹

—डायसी

मन्त्रिमण्डल या केबीनेट

(CABINET)

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में केबीनेट का महत्व

ब्रिटेन में संसदीय शासन-व्यवस्था है। संसदीय शासन में कार्यपालिका का एक औपचारिक प्रधान होता है तथा दूसरा कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान। सत्ता का प्रयोग औपचारिक प्रधान के नाम से किया जाता है, किन्तु वास्तविक रूप में सत्ता का प्रयोग औपचारिक प्रधान नहीं वरन् वास्तविक प्रधान करता है। ब्रिटेन में सम्राट कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है और केबीनेट कार्यपालिका की वास्तविक प्रधान। प्रसिद्ध ब्रिटिश विधिवेत्ता डायसी के शब्दों में; “यद्यपि शासन का प्रत्येक कार्य सम्राट के नाम पर किया जाता है, परन्तु इंग्लैण्ड की वास्तविक कार्यपालिका शक्ति केबीनेट में ही निहित है।”²

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में केबीनेट के महत्व को स्पष्ट करने के लिए ब्रिटिश संविधान के विभिन्न लेखकों द्वारा अलग-अलग शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

बैजहॉट के अनुसार, “केबीनेट एक हाइफन है जो जोड़ता है, एक बक्सुआ है जो कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को मिलाता है।”³

लॉवेल ने इसे ‘राजनीतिक मेहराब की आधारशिला’⁴ कहा है।

1 “The Cabinet is one of the typical anomalies of British Politics. It is the centre of government authority. The body which controls the Houses of Commons and which directs the administrative apparatus of the state.”

—G. M. Carter and Others, *The Government of Britain*, p. 156.

2 “While every act of the state is done in the name of the Crown the executive government of England is the Cabinet.”

—Dicey

3 “A combining hyphen which joins a buckle which fastens the legislative part of the state with the executive part.”

—Bagehot

4 “The key stone of the political arch.”

—Lowell

रैम्जे म्योर का कहना है कि 'केबिनेट राज्य के जहाज का परिचालक चक्र है'¹ सर जॉन मैरियट का कहना है 'कि केबिनेट वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण प्रशासन चक्र घूमता है।'

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में केबिनेट का महत्व तो पिछली दो सदियों से चला आ रहा है। वर्तमान समय में लगभग सभी देशों में कार्यपालिका अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करती जा रही है और ब्रिटेन में यह प्रवृत्ति प्रमुख रूप से देखी जाती है। परम्पराओं के आधार पर सम्राट पूर्णतया एक औपचारिक प्रधान बनकर रह गया है और व्यावहारिक प्रवृत्तियों के कारण संसद की शक्तियों का हास हो रहा है। ऐसी स्थिति में रैम्जे म्योर जैसे कुछ व्यक्ति 'केबिनेट के अधिनायकत्व' की बात करने लगे हैं। केबिनेट के अधिनायकत्व की बात निराधार है, लेकिन इसके साथ ही यह तथ्य है कि ब्रिटिश-व्यवस्था में केबिनेट सर्वाधिक शक्तिशाली इकाई है।

केबिनेट या मन्त्रिमण्डल का अभिप्राय

मन्त्रिमण्डल का आशय उस राजनीतिक समिति से है जो प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करती है। लोकसदन के बहुमत दल के नेता को सम्राट के द्वारा प्रधानमन्त्री पद प्रदान किया जाता है और प्रधानमन्त्री सिद्धान्ततः संसद सदस्यों में और व्यवहार में सामान्यतया अपने ही राजनीतिक दल के संसद सदस्यों में से अपने सहयोगियों का चुनाव करता है। मुनरो के शब्दों में, "मन्त्रिमण्डल राजमुकुट के नाम पर प्रधानमन्त्री द्वारा नियुक्त किये हुए राजकीय परामर्शदाताओं की समिति को कहा जा सकता है जिन्हें लोकसदन के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो।"

मन्त्रिमण्डल का उदय और विकास

ब्रिटिश संविधान की भांति ही ब्रिटिश शासन-व्यवस्था की सबसे प्रमुख संस्था मन्त्रिमण्डल भी विकास का ही परिणाम है, निर्माण का नहीं। इसकी स्थापना किसी संसदीय अधिनियम के आधार पर नहीं हुई वरन् वह पिछली लगभग तीन सदियों के विकास का परिणाम है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल के द्वारा 18वीं सदी से कार्य किया जा रहा है, किन्तु कानून में इसके अस्तित्व को '1937 के सम्राट के मन्त्रि परिनियम' (Ministers of the Crown Act) में स्वीकार किया गया है।

मन्त्रिमण्डल का प्रारम्भिक रूप 'कबाल' (CABAL) — मन्त्रिमण्डल का विकास 'प्रिवी परिषद्' से और प्रिवी परिषद् का विकास दो प्रारम्भिक संस्थाओं 'क्यूरिया रेजिस' और 'विटनेजमोट' से हुआ है। जिस प्रकार नार्मन काल में क्यूरिया रेजिस से प्रिवी परिषद् की उत्पत्ति हुई थी उसी प्रकार 18वीं सदी में प्रिवी परिषद् से मन्त्रिमण्डल की उत्पत्ति हुई। 1660 तक सम्राट को परामर्श देने का कार्य प्रिवी परिषद् के द्वारा किया जाता था, लेकिन 17वीं सदी के अन्त तक प्रिवी परिषद् सदस्य संख्या की दृष्टि से इतनी बड़ी संस्था हो गयी कि इसके द्वारा प्रभावदायक रूप से कार्य नहीं किया जा सकता था। अतः सम्राट चार्ल्स द्वितीय के द्वारा पूरी प्रिवी परिषद् से परामर्श लेने की अपेक्षा एक छोटी अनौपचारिक समिति से परामर्श लेना प्रारम्भ कर दिया गया जिसमें राजा के निकटतम मित्र, आदि थे। इस अनौपचारिक समिति को 'कबाल' (CABAL) का नाम दिया गया जो इसके सदस्यों के नामों के प्रथम

1 "The Cabinet, in short is the steering wheel of the ship of the state."

अक्षरों से मिलकर बना था।¹ आन्तरिक समिति की यह व्यवस्था चलती रही और इसने एक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया। यह 'कबाल' ही केबीनेट या मन्त्रिमण्डल की जननी थी।

संसद द्वारा 'कबाल' का विरोध—'कबाल' राजा की सृष्टि थी और यद्यपि इसके सदस्य संसद में से लिये गये थे, किन्तु वे संसद के प्रति नहीं, वरन् राजा के प्रति उत्तरदायी थे और इस बात के कारण संसद ने कबाल के प्रति अनेक शंकाएं अपना लीं। अतः उसने इस व्यवस्था का विरोध करने के उद्देश्य से 1701 के उत्तराधिकार कानून में दो उपबन्ध किये। पहला उपबन्ध तो यह था कि राजा की सेवा में कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति पार्लियामेंट का सदस्य न हो और दूसरे प्रिवी परिषद् में जो भी निर्णय किये जायें वे उनकी पूरी बैठक में हों। इन उपबन्धों का उद्देश्य ऐसी प्रथा को रोकना था जो 'कबाल' के रूप में विकसित हो रही थी। यदि ये उपबन्ध स्थायी हो जाते, तो इंग्लैण्ड में मन्त्रिमण्डल व्यवस्था के स्थान पर अध्यक्षात्मक व्यवस्था का विकास होता, किन्तु ये उपबन्ध स्थायी नहीं हुए और प्रिवी परिषद् की एक लघु समिति के रूप में केबीनेट का निरन्तर विकास होता रहा।

मन्त्रीय उत्तरदायित्व का विकास—मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था के विकास के लिए इस धारणा को अपनाना जरूरी था कि मन्त्री अपनी नीति और कार्यों के लिए सम्राट के स्थान पर संसद के प्रति उत्तरदायी होने चाहिए। संसद ने यह बात चार्ल्स द्वितीय के समय डेन्वी पर महाभियोग लगाकर प्राप्त कर ली। राजनीतिक दलों के उदय ने मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था के विकास में और योग दिया। विलियम ऐसे मन्त्रियों का चुनाव स्वयं करते थे लेकिन अनुभव ने उन्हें यह सिखाया कि मन्त्रियों और संसद के सम्बन्ध तभी अच्छे हो सकते हैं जबकि मन्त्रियों को संसद का विश्वास प्राप्त हो। 1695 में विलियम ने अपने सभी मन्त्री एक ही दल 'ह्विग दल' में से चुनने का प्रयोग किया। ऐसे एकदलीय मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध थी, लेकिन परिस्थितियों से बाध्य होकर उसे विलियम का अनुकरण करना पड़ा। इस प्रकार लोकसदन के बहुमत दल के मन्त्रिमण्डल के निर्माण का चलना हुआ। इससे मन्त्रिमण्डल एक सजातीय इकाई होने लगे और 1742 में जब सर राबर्ट वाल्पोल ने सम्राट का विश्वास प्राप्त होने पर भी लोकसदन का विश्वास खो देने के कारण त्यागपत्र दे दिया, तो लोकसदन के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व की धारणा का विकास हुआ।

प्रधानमन्त्री पद का उदय—रानी ऐने के समय तक सम्राट मन्त्रिमण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करते थे, लेकिन इतिहास के संयोग ने इस दोष को दूर कर दिया। जार्ज प्रथम और जार्ज तृतीय अंग्रेजी भाषा से परिचित नहीं थे और ब्रिटिश राजनीति में भी उनकी रुचि नहीं थी। अतः उन्होंने मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेना बन्द कर दिया, तब मन्त्रिमण्डल को अपने अध्यक्ष का चुनाव करना पड़ा और यह अध्यक्ष ही अनौपचारिक रूप से प्रधानमन्त्री हो गया। ब्रिटेन के ये प्रथम अनौपचारिक प्रधानमन्त्री सर राबर्ट वाल्पोल ही थे। जार्ज तृतीय ने समय की गति को रोकते हुए शासन-शक्ति अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। 17वीं सदी के अन्त तक मन्त्रिमण्डल की निम्न विशेषताएं स्थापित हो चुकी थीं: केबीनेट के सदस्य ब्रिटिश संसद में से लिये जाने चाहिए, सामान्यतः वे एक ही राजनीतिक दल में से होने चाहिए, उनका संसद में बहुमत होना चाहिए, उनकी एक सामान्य नीति होनी चाहिए, मन्त्री लोकसदन के सम्मुख उत्तरदायी होने चाहिए और

1 कबाल के पांच सदस्यों के नाम ये थे: क्लीफोर्ड, एशले, बर्किंगहम, आरलिंगटन और लॉडरडेल।

वे सभी प्रधानमन्त्री के अधीन होने चाहिए। 19वीं सदी में इन्हीं सिद्धान्तों को सुदृढ़ता प्रदान की गयी।

20वीं सदी में मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ बातों का विकास हुआ। अब मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या 10-12 के स्थान पर 18-22 हो गयी और मन्त्रिमण्डल के कार्य बढ़ जाने के कारण मन्त्रिमण्डलीय समितियों का प्रचलन हुआ। संकटकाल में राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डलों की स्थापना का प्रचलन हुआ। युद्धकाल में मन्त्रिमण्डल की आन्तरिक समिति के रूप में 'युद्ध मन्त्रिमण्डल' का विकास हुआ। 20वीं सदी में ही केबिनेट सचिवालय की भी स्थापना हुई।

मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था की विशेषताएं

इंग्लैण्ड मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था का मातृ देश है और अन्य देशों ने इस व्यवस्था को इंग्लैण्ड से ही ग्रहण किया है। अतः ब्रिटेन की मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था को उचित प्रकार से समझ लिया जाना चाहिए। ब्रिटेन की मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

- (1) सम्राट की वास्तविक कार्यपालिका से पृथक्ता;
- (2) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका (संसद और मन्त्रिमण्डल) में घनिष्ठ सम्बन्ध,
- (3) मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व,
- (4) गोपनीयता (मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही के सम्बन्ध में गोपनीयता) का सिद्धान्त,
- (5) मन्त्रिमण्डल की राजनीतिक सजातीयता,
- (6) मन्त्रिमण्डल पर प्रधानमन्त्री का नेतृत्व।

मन्त्रिमण्डल का गठन

(FORMATION OF THE CABINET)

मन्त्रिमण्डल के गठन के प्रक्रिया प्रधानमन्त्री की नियुक्ति से आरम्भ होती है। औपचारिक रूप से प्रधानमन्त्री का चुनाव सम्राट द्वारा किया जाता है। लेकिन सामान्यतया ब्रिटेन की द्विदल पद्धति के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री का चुनाव महानिर्वाचन में जनता द्वारा किया जाता है। सुस्थापित परम्परा के अनुसार सम्राट लोकसदन के बहुमत के नेता को प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करता है। अतः सामान्यतया इस सम्बन्ध में सम्राट की व्यक्तिगत इच्छा या विवेक का कोई महत्व नहीं है। लेकिन विशेष परिस्थितियों में जबकि एक प्रधानमन्त्री अकस्मात् त्यागपत्र दे दे या उसकी मृत्यु हो जाय और उसका कोई निश्चित उत्तराधिकारी न हो, तो सम्राट प्रधानमन्त्री के चुनाव में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। भूतकाल में कुछ अवसरों पर इस सम्बन्ध में सम्राट ने अपने विवेक का प्रयोग किया भी है, लेकिन ऐसा करते समय उसे इस बात को ध्यान में रखना होता है कि उसके द्वारा इस पद के लिए चुना गया व्यक्ति लोकसदन के बहुमत का विश्वासभाजन हो। वर्तमान समय में इस बात के कारण सम्राट द्वारा प्रधानमन्त्री का चुनाव करने में अपने विवेक का प्रयोग करने के अवसर और कम हो गये हैं। अब ग्रेट ब्रिटेन के दोनों ही प्रमुख दलों (मजदूर दल और अनुदार दल) ने इस चलन को अपना लिया है कि महानिर्वाचन के बाद और इसके बाद जब कभी प्रधानमन्त्री का पद रिक्त हो, लोकसदन का बहुमत स्वयं अपने नेता का चुनाव करेगा।

अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति सम्राट के द्वारा प्रधानमन्त्री के परामर्श के आधार पर की जाती है और रानी विक्टोरिया के बाद से ही इस सम्बन्ध में सम्राट का प्रभाव समाप्त हो गया

है। नवीन सरकार के निर्माण का नियन्त्रण प्राप्त होने के बाद प्रधानमन्त्री अपने सहयोगियों की सूची सम्राट को देता है और सम्राट के द्वारा उनके नामों की घोषणा की जाती है।

परम्परा के अनुसार मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के लिए संसद का सदस्य होना अनिवार्य है। किसी ऐसे व्यक्ति को, जो नियुक्ति के समय संसद सदस्य न हो, केवल 6 माह की अवधि के लिए मन्त्री बनाया जा सकता है। इस बीच में या तो उसे लॉर्ड की उपाधि देकर लॉर्ड सभा का सदस्य बना लिया जाता है या वह उप-चुनाव में किसी निर्वाचन क्षेत्र से चुनकर आता है। मन्त्रिमण्डल में दोनों ही सदस्यों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। सामान्यतया प्रत्येक कैबिनेट में चार मन्त्री लॉर्ड सभा में से होते हैं; यद्यपि इस प्रकार की कानूनी व्यवस्था नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री को अपने सहयोगियों का चुनाव करने में अपने दल के अन्दर विभिन्न व्यक्तियों की स्थिति, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों और समुदायों के प्रतिनिधित्व, सदस्यों की दक्षता और उनकी समाज सेवा की भावना, आदि का ध्यान रखना होता है। सहयोगियों का चुनाव निश्चित रूप से एक कठिन और महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि मन्त्रिमण्डल की सफलता सही सहयोगियों के चुनाव पर ही निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में लॉबेल ने ठीक ही लिखा है कि “प्रधानमन्त्री का यह कार्य ऐसा ही है जैसा कि बहुत-से ऐसे ब्लाकों की सहायता से जो एक-दूसरे से मेल न खाते हों, एक चित्र तैयार करना”¹

यद्यपि सहयोगियों के चुनाव में प्रधानमन्त्री के द्वारा कुछ वास्तविकताओं को दृष्टि में रखा जाता है, लेकिन जहां तक वैधानिक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, वह अपने सहयोगियों के चुनाव में पूर्ण स्वतन्त्र होता है। व्यवहार में भी इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक तो उसका अपना विवेक ही है। एमरी लिखते हैं कि “वास्तव में किसी अधिनायक को ही अपनी कैबिनेट के निर्माण में इतनी अधिक स्वेच्छाचारी शक्ति प्राप्त होती है, जितनी कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को।”²

मन्त्रिमण्डल की सदस्य संख्या निश्चित करना, उनके स्तर निर्धारित करना, और उनमें विभागों का वितरण करना प्रधानमन्त्री का ही कार्य है। मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो चुकने के बाद भी प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल में कोई भी परिवर्तन कर सकता है। किसी एक राजनीतिक दल को लोकसदन में स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने पर संयुक्त मन्त्रिमण्डल या संकट की स्थिति में ‘राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल’ का निर्माण किया जा सकता है। युद्धकाल में मन्त्रिमण्डल की भी एक आन्तरिक समिति के रूप में ‘युद्ध मन्त्रिमण्डल’ का गठन किया जा सकता है, जैसा कि प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध के समय किया गया था।

1937 के ‘सम्राट के मन्त्रि परिनियम’ (Ministers of Crown Act) के अनुसार वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल में निम्न पद होते हैं :

- (1) प्रधानमन्त्री तथा राजकोष का प्रथम लॉर्ड (Prime Minister and the First Lord of the Treasury)।
- (2) चान्सलर ऑफ एक्स्चेकर या वित्तमन्त्री (Chancellor of Exchequer)।
- (3) गृह विभाग का सचिव।
- (4) उपनिवेशों का सचिव।
- (5) विदेश विभाग का सचिव।

1 A. L. Lowell, *The Government of England*, Vol. I, p. 47.

2 “No dictator indeed enjoys such a measure of autocratic power as enjoyed by the Prime Minister in the process of making up his Cabinet.”

—Amery, *Thought on the Constitution*, p. 24.

- (6) नभ सेना का सचिव।
- (7) युद्ध सचिव।
- (8) जल सेना का लॉर्ड।
- (9) स्कॉटलैण्ड का सचिव।
- (10) व्यापार मण्डल का अध्यक्ष (President of the Board of Trade)।
- (11) शिक्षा बोर्ड का अध्यक्ष (President of the Board of Education)।
- (12) कृषि तथा मत्स्य विभाग का सचिव।
- (13) स्वास्थ्य विभाग का मन्त्री।
- (14) यातायात विभाग का मन्त्री।
- (15) श्रममन्त्री।
- (16) लॉर्ड प्रिवी सील।
- (17) पोस्ट-मास्टर जनरल।
- (18) लॉर्ड प्रेसीडेण्ट ऑफ कौंसिल।
- (19) फर्स्ट कमिश्नर ऑफ वर्क्स एण्ड पेंशन।
- (20) कोआर्डिनेशन का मन्त्री।

मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या कम या अधिक हो सकती है। 1937 के परिनियम द्वारा प्रधानमन्त्री और अन्य मन्त्रियों को वेतन निश्चित किया गया था, उसमें अब वृद्धि हो गयी है।

मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल (केबिनेट)

साधारणतया लोग मन्त्रिपरिषद् तथा मन्त्रिमण्डल को एक ही संस्था मान लेते हैं, लेकिन वे दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची नहीं हैं और इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। मन्त्रिपरिषद् प्रो. ऑग के अनुसार, “एक वृहत् संस्था होती है जिसमें राजनीतिक कार्यपालिका के सभी पदाधिकारी होते हैं जो संसद के सदस्य होते हैं, और लोकसदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं और जो तब तक अपने पद पर रहते हैं, जब तक कि लोकसदन में उसको बहुमत का समर्थन प्राप्त रहा है।” लेकिन मन्त्रिमण्डल जैसा कि रैम्जे म्योर कहते हैं, “मन्त्रिपरिषद् का हृदय है, शासन का परिचालक यन्त्र है जिसमें सभी महत्वपूर्ण विभागों के राजनीतिक अध्यक्ष सम्मिलित रहते हैं, साथ ही कुछ प्राचीन तथा प्रतिष्ठित पदों के अधिकारी भी।” इस प्रकार मन्त्रिमण्डल को मन्त्रिपरिषद् रूपी वृहत् चक्र का आन्तरिक चक्र कहा जा सकता है।

मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल के भेद निम्न रूपों में स्पष्ट किये जा सकते हैं :

(1) आकार सम्बन्धी भेद—मन्त्रिमण्डल का आकार मन्त्रिपरिषद् की तुलना में बहुत छोटा होता है। मन्त्रिपरिषद् में सामान्यतः 70 से लेकर 90 तक सदस्य होते हैं, किन्तु मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या 18-22 के बीच होती है।

(2) पद सम्बन्धी भेद—दोनों का दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर पद सम्बन्धी है। समस्त राजनीतिक कार्यपालिका को मन्त्रिपरिषद् के नाम से जाना जाता है और इसमें कई श्रेणियों के सदस्य होते हैं, जैसे (i) मन्त्रिमण्डलीय स्तर के मन्त्री, जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं इनमें से कुछ किन्हीं विशेष विभागों के प्रधान होते हैं और कुछ बिना विभाग के मन्त्री होते हैं, (ii) मन्त्रिमण्डलीय स्तर के वे मन्त्री, जो मन्त्रिमण्डल के स्थायी सदस्य नहीं होते हैं, वरन्

मन्त्रिमण्डल की केवल उन्हीं बैठकों में शामिल होते हैं जिनमें उनके विभाग से सम्बन्धित विषयों पर विचार किया जाना हो, (iii) अन्य मन्त्री, (iv) राज्य मन्त्री, (v) संसदीय उपसचिव, (vi) जूनियर लॉर्ड, (vii) संसदीय निजी सचिव, आदि।

मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की इन विभिन्न श्रेणियों में से केवल प्रथम श्रेणी के सदस्य मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य मन्त्रिपरिषद् का सदस्य होता है लेकिन मन्त्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य मन्त्रिमण्डल का सदस्य नहीं होता है। वास्तविक रूप से मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का पद मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों की तुलना में उच्च होता है।

(3) वेतन सम्बन्धी अन्तर—केबिनेट सदस्यों को मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों की तुलना में अधिक वेतन प्राप्त होता है। वर्तमान समय में प्रधानमन्त्री को प्रति वर्ष 1,63,418 पौण्ड तथा मन्त्रिमण्डल के सदस्य को 1,17,979 पौण्ड वार्षिक वेतन मिलता है। अन्य मन्त्रियों का वेतन मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की तुलना में लगभग 50 प्रतिशत होता है।¹

(4) कार्य और शक्ति सम्बन्धी अन्तर—मन्त्रिमण्डल के सदस्यों और मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण अन्तर कार्य और शक्ति से सम्बन्धित होता है। इस दृष्टिकोण से मन्त्रिमण्डल के सदस्य अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और मन्त्रिपरिषद् के सदस्य कम महत्वपूर्ण। मन्त्रिमण्डल के सदस्य सामान्यतया विभिन्न प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष होते हैं। उनके द्वारा समस्त प्रशासनिक व्यवस्था से सम्बन्धित महत्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में नीति का निर्धारण किया जाता है और उनके द्वारा विभिन्न विभागों में सामंजस्य भी स्थापित किया जाता है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को इस प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य नहीं करना होता।

उपर्युक्त भेदों के बावजूद मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल दोनों ही राजनीतिक कार्यपालिका के अंग हैं। प्रधानमन्त्री का त्यागपत्र न केवल मन्त्रिमण्डल वरन् समस्त मन्त्रिपरिषद् का त्यागपत्र समझा जाता है और लोकसदन द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पास किये जाने पर मन्त्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना होता है।

मन्त्रिमण्डल की कार्यपद्धति

सम्राट जार्ज प्रथम के समय से ही सम्राट मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग नहीं लेता और अब यह मन्त्रिमण्डलीय पद्धति का एक स्वीकृत सिद्धान्त बन गया है। मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व प्रधानमन्त्री ही करता है। जब संसद का अधिवेशन हो रहा हो, तब मन्त्रिमण्डल की सप्ताह में दो बार बैठकें होती हैं और जब संसद का अधिवेशन नहीं चल रहा हो तो सप्ताह में एक बार ही बैठक होती है। इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री भी आवश्यकतानुसार मन्त्रिमण्डल की बैठकें बुला सकता है। संसदीय कार्यक्रम, परराष्ट्र नीति और प्रधानमन्त्री द्वारा प्रस्तावित अन्य विषयों के सम्बन्ध में इन बैठकों में विचार किया जाता है। अपने कार्यों के सुचारु संचालन के लिए मन्त्रिमण्डल के द्वारा अनेक स्थायी और अस्थायी समितियों का निर्माण किया जाता है। मन्त्रिमण्डल की सहायता और वास्तविक प्रशासन के संचालन के लिए एक 'मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय' होता है।

मन्त्रिमण्डल के कार्य तथा शक्तियाँ

मन्त्रिमण्डल के कार्यों तथा शक्तियों का आधार वैधानिक न होकर परम्परागत है। जहाँ तक वैधानिक स्थिति का सम्बन्ध है, मन्त्रिमण्डल सम्राट की एक परामर्शदात्री समिति है, किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि सम्राट की सभी शक्तियों का उपयोग केबिनेट के द्वारा ही किया

1 'The Hindu', 13 June, 2001.

जाता है। राजतन्त्र के लोकतन्त्रीकरण की प्रक्रिया में राजा के पद की शक्तियां ज्यों-ज्यों कम होती गयीं, मन्त्रिमण्डल की शक्तियां वैसे-वैसे बढ़ती गयी हैं। आज जैसा कि सर जॉन मैरियट कहते हैं, “यह एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है, जिसके चारों ओर समस्त राजनीतिक यन्त्र घूमता है।” ग्लेडस्टन के अनुसार, “मन्त्रिमण्डल वह सूर्य पिण्ड है जिसके चारों ओर अन्य पिण्ड घूमते रहते हैं।” हाल्लैन समिति के प्रतिवेदन में मन्त्रिमण्डल को ‘सम्पूर्ण शासनतन्त्र का मुख्य आधार’ बताया गया है। रैम्जे म्योर, लॉविल, एमरी, बेजहॉट और ब्रिटिश संविधान के लेखकों ने भी शासन-व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ऐसी ही गौरवपूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन्त्रिमण्डल ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का हृदय है और ब्रिटिश शासन व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल को जितनी महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है उतनी शासन के अन्य किसी भी अंग को नहीं।

शासन का आधार-बिन्दु होने के कारण मन्त्रिमण्डल के कार्य बहिर्मुखी हैं। वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल को कार्यपालिका क्षेत्र के अतिरिक्त विधायी, प्रशासनिक और न्यायिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं जिनका उल्लेख इन रूपों में किया जा सकता है :

(1) कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य—मन्त्रिमण्डल ही ब्रिटेन की वास्तविक कार्यपालिका है और इस रूप में उसके द्वारा व्यापक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है, जिसमें कुछ निम्न प्रकार हैं :

(i) राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना—मन्त्रिमण्डल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना है। मन्त्रिमण्डल यह निश्चित करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रशासन के विभिन्न विभागों द्वारा और वैदेशिक क्षेत्र में दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध के विषय में किस प्रकार की नीति अपनायी जायेगी। रैम्जे म्योर के शब्दों में, “वास्तविक कार्यपालिका के रूप में मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय नीति की रूपरेखा परिभाषित करता है और यह निश्चित करता है कि देश और विदेश में उत्पन्न प्रत्येक सामयिक समस्या को किस प्रकार हल किया जायेगा।” मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के आधार पर ही समस्त प्रशासनिक व्यवस्था चलती है।

(ii) राष्ट्रीय कार्यपालिका का सर्वोच्च नियन्त्रण—शासन की समस्त कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग वास्तव में मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिमण्डल में विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं, वे अपने विभागों का संचालन करते और उनके कार्यों की देखभाल करते हैं। सम्राट की समस्त कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही करता है। राजनीतिक स्तर के प्रमुख पदाधिकारियों का चयन मन्त्रिमण्डल ही करता है। सम्राट इन्हें केवल औपचारिक रूप से नियुक्त कर देता है। संसद में प्रशासन से सम्बन्धित जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनका उत्तर मन्त्रिमण्डल को ही देना होता है। इसी प्रकार संसद में मन्त्रिमण्डल व प्रशासन में विविध विभागों के कार्यों की जो आलोचना की जाती है, उन्हें दृष्टि में रखते हुए मन्त्रिमण्डल को प्रशासन के दोष दूर करने का प्रयत्न करना होता है।

(iii) मन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य—प्रशासन की सुविधा के लिए सरकार को विभिन्न प्रशासनिक विभागों में विभाजित कर दिया जाता है लेकिन इन विभिन्न विभागों में विभाजित होने पर भी सरकार में एक प्रकार की आंगिक एकता पायी जाती है, और प्रशासन के लिए प्रशासन के विभिन्न विभागों में समन्वय नितान्त आवश्यक है। विभिन्न विभागों में इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिमण्डल समस्त विभागों में नीति सम्बन्धी समन्वय स्थापित करता है और इस बात का

प्रयत्न करता है कि विभिन्न विभागों में अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न न हों तथा उनके द्वारा परस्पर सहयोग किया जाय। विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डलीय समितियों की स्थापना की गयी है।

(2) व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य—वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल न केवल प्रशासनिक कार्य करता है, वरन् विधि-निर्माण के क्षेत्र में भी संसद का नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन करता है। संसदीय शासन में विधायी और कार्यपालिका शक्तियों के एकीकरण के कारण मन्त्रिमण्डल का संसद से अविच्छिन्न सम्बन्ध रहता है। मन्त्रिमण्डल न केवल राष्ट्रीय नीति निर्धारित करता है, वरन् शासन की सर्वोच्च नीति और कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक कानूनों का निर्माण भी मन्त्रिमण्डल का ही कार्य है। सरकारी अधिकारी वैधानिक परामर्श के आधार पर विभिन्न विधेयकों का प्रारूप तैयार करते हैं, मन्त्रिमण्डल उन्हें अन्तिम स्वीकृति देता है तथा संसद में प्रस्तावित करता है, और बहुमत के समर्थन से उन्हें पास कराता है। अपने राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होने के कारण मन्त्रिमण्डल का संसद पर नियन्त्रण रहता है और मन्त्रिमण्डल ही समस्त विधि निर्माण कार्य के लिए उत्तरदायी है। संसद का अधिवेशन बुलाने और स्थगित करने का कार्य-सम्राट मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही करते हैं और मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही लोकसदन को विघटित किया जाता है। संसद के अधिवेशन के प्रारम्भ में सम्राट द्वारा पढ़ा जाने वाला भाषण भी मन्त्रिमण्डल ही तैयार करता है। प्रतिवर्ष विभिन्न कानूनों के अन्तर्गत जो सैकड़ों 'सपरिषद् आदेश' निकलते हैं, उनके निर्माण में भी केबिनेट की स्वीकृति निहित रहती है। मन्त्रिमण्डल के इन विधायी कार्यों की व्यापकता के कारण एक लेखक ने इसे 'लघु विधायिका' (Little Legislative) की संज्ञा दी है। ऑग और जिक तो लिखते हैं कि "व्यवस्थापन में मन्त्रिमण्डल का प्रभुत्व इतना अधिक है कि बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में विधि-निर्माण संसद द्वारा नहीं वरन् मन्त्रिमण्डल द्वारा संसद के परामर्श और सहमति से होता है।"¹

(3) वित्तीय कार्य—राष्ट्रीय आय-व्यय का निर्धारण अर्थात् बजट का निर्माण और उसे संसद में स्वीकृत कराना भी मन्त्रिमण्डल का महत्वपूर्ण कार्य है। बजट वित्त मन्त्री अपनी देख-रेख में तैयार कराता है, किन्तु बजट के मूल प्रस्ताव और आधार मन्त्रिमण्डल द्वारा ही निश्चित किये जाते हैं। मन्त्रिमण्डल को लोकसदन के बहुमत का जो समर्थन प्राप्त होता है, उसके कारण किसी भी कर या अनुदान की मांग में कोई कटौती लोकसदन के द्वारा मन्त्रिमण्डल की सहमति के बिना नहीं की जा सकती। इसलिए मुनरो का कहना है कि, "यदि मन्त्रिमण्डल का अनुमोदन प्राप्त करने के तुरन्त बाद सदन में भेजे बिना ब्रिटिश बजट को लागू कर दिया जाय तो इसके अन्तिम आंकड़ों में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा।" इस प्रकार वित्तीय क्षेत्र में मन्त्रिमण्डल को शक्ति प्राप्त है और इस दृष्टि से ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल अमरीकी राष्ट्रपति से अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि अमरीकी राष्ट्रपति वित्तीय क्षेत्र में कांग्रेस की दया पर निर्भर करता है।

(4) अन्य कार्य—उपर्युक्त के अतिरिक्त भी मन्त्रिमण्डल, अन्य अनेक कार्य करता है। प्रथम, राजा द्वारा क्षमा के विशेषाधिकार का प्रयोग मन्त्रिमण्डल, विशेषतया गृहमन्त्री, के

1 "It has come to have so much to do with legislation that it may be remarked without undue exaggeration that now-a-day, it is the cabinet that legislates, with advise and consent of the Parliament."
—Zink, *Modern Government*

परामर्श पर ही किया जाता है। द्वितीय, राजा द्वारा उपाधियों का वितरण भी प्रधानमन्त्री के परामर्श पर ही किया जाता है। तृतीय, ब्रिटिश सम्राट द्वारा देश और विदेश में की जाने वाली समस्त नियुक्तियां मन्त्रिमण्डल के परामर्श के आधार पर ही की जाती हैं। चतुर्थ, महत्वपूर्ण न्यायालयों के न्यायाधीश लॉर्ड चांसलर (मन्त्रिमण्डल के सदस्य) के परामर्शानुसार ही सम्राट द्वारा नियुक्त किये जाते हैं।

वास्तव में मन्त्रिमण्डल के अधिकार और कार्य बहुत ही व्यापक हैं, वह उन सभी कार्यों को करता है, जो वैधानिक दृष्टि से सम्राट के अधिकार बताये जाते हैं। वर्तमान समय की प्रवृत्ति मन्त्रिमण्डल को और अधिक शक्तियां तथा कार्य प्रदान करने की है।

मन्त्रिमण्डल व संसद (लोकसदन) का सम्बन्ध

मन्त्रिमण्डल और संसद का सम्बन्ध ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में सिद्धान्त और व्यवहार के अन्तर का एक उदाहरण है। सैद्धान्तिक दृष्टि से स्थिति एक प्रकार की है और व्यावहारिक दृष्टि से दूसरे प्रकार की है। इसी कारण इन दोनों संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय पर विभिन्न लेखकों द्वारा अलग-अलग विचार व्यक्त किये गये हैं। डायसी ने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए 'संसद की प्रभुसत्ता' का प्रतिपादन किया है, लेकिन रैम्जे म्योर तथा लास्की ने व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर कहा है कि "संसद की नहीं, वरन् मन्त्रिमण्डल की सत्ता ही सर्वोच्च है।"

वैधानिक दृष्टिकोण के अनुसार स्थिति

वैधानिक दृष्टिकोण के अनुसार मन्त्रिमण्डल और संसद के पारस्परिक सम्बन्धों में संसद की सत्ता सर्वोच्च है। व्यवस्थापन और प्रशासन दोनों ही क्षेत्रों में संसद की सर्वोच्चता स्पष्टता से देखी जा सकती है :

(1) व्यवस्थापन सम्बन्धी सर्वोच्चता—वैधानिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद को सर्वोच्चता प्राप्त है और कानून निर्माण के क्षेत्र में उसकी सत्ता की समानता करने वाली अन्य कोई भी संस्था नहीं है। ब्रिटेन में एकालोक शासन-व्यवस्था है, अतः ब्रिटेन में ब्रिटिश संसद एकमात्र कानून-निर्मात्री संस्था है। संविधान लचीला होने के कारण ब्रिटिश संसद सामान्य बहुमत से ही संवैधानिक कानूनों का निर्माण कर सकती है। संसद की व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्ति इसलिए भी सर्वोच्च है कि ब्रिटेन में 'न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था' नहीं है, इसलिए संसद द्वारा निर्मित कानूनों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी सकती।

सन् 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम के द्वारा लॉर्ड सभा की शक्तियां बहुत कम कर दी गयी हैं और आज संसद का अभिप्राय लोकसदन से ही हो गया है।

यद्यपि व्यवहार में संसद के द्वारा कानूनों का निर्माण करते समय प्रथाओं, परम्पराओं, धार्मिक और नैतिक मान्यताओं, जनमत और व्यावहारिक परिस्थितियों, आदि सभी बातों को ध्यान में रखना होता है तथापि वैधानिक स्थिति यही है कि संसद कानून-निर्माण के क्षेत्र में सर्वोच्च सत्तावान है।

(2) कार्यपालिका पर नियन्त्रण सम्बन्धी सर्वोच्चता—ब्रिटेन की संसदात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रिटिश संसद को न केवल कानून-निर्माण सम्बन्धी सर्वोच्चता प्राप्त है, वरन् वास्तविक कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) पर भी लोकसदन के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। मन्त्रिमण्डल लोकसदन के प्रति उत्तरदायी होता है और लोकसदन अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है। लोकसदन अग्र साधनों के आधार पर मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखता है :

प्रश्न—लोकसदन द्वारा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण का प्रथम और सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय प्रश्न पूछना है। ये प्रश्न संसद के किसी भी सदस्य द्वारा मन्त्री से उसके विभाग से सम्बन्धित कार्यों के विषय में पूछे जा सकते हैं। प्रश्न पूछे जाने की आशंका मन्त्रियों को सदैव भयग्रस्त रखती है क्योंकि इन प्रश्नों से उनके दोष प्रकाश में आ जाते हैं और उनकी विभागीय नीति की आलोचना होती है।

वाद-विवाद—वाद-विवाद भी संसद के हाथ में मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण का एक उपाय है। संसद के दोनों सदनों में मन्त्रिमण्डल की नीति और कार्यों पर वाद-विवाद किया जाता है। इससे प्रशासन के दोष प्रकाश में आते हैं और लोकमत सतर्क होता है। इस वाद-विवाद से मन्त्रियों को अपने नीति और कार्यों का औचित्य सिद्ध करना होता है और आलोचना का भय मन्त्रियों को सदैव सचेत किये रहता है।

निन्दात्मक प्रस्ताव—मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखने का एक उपाय निन्दात्मक प्रस्ताव है। इससे व्यक्तिगत मन्त्रियों पर प्रहार किया जाता है और इनका ध्येय किसी विषय विशेष की नीति के प्रति असन्तोष व्यक्त करना होता है। इसे किसी भी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु निन्दात्मक प्रस्ताव का पास होना कठिन होता है क्योंकि मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने सहयोगी मन्त्री को बचाने की पूरी चेष्टा करते हैं।

कार्य स्थगन का प्रस्ताव—लोकसदन द्वारा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण रखने तथा आलोचना करने का एक अन्य उपाय 'कार्य-स्थगन प्रस्ताव' (Adjournment Motion) है। इस प्रकार का प्रस्ताव शासन की किसी विशेष समस्या या दोष के सम्बन्ध में रखा जाता है। यह प्रस्ताव लोकसदन के किसी भी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है और यदि उसे 40 सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो जाय, तो सदन की उस दिन की बैठक का अन्य कार्य स्थगित कर प्रस्ताव के विषय पर ही वाद-विवाद किया जाता है। कार्य-स्थगन प्रस्ताव को मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास का ही पूर्व रूप समझा जाता है और यदि यह प्रस्ताव बहुमत से पारित हो जाय, तो मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।

कटौती प्रस्ताव—लोकसदन विशेष विभाग के कार्यों की नीतियों के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त करने के लिए सम्बन्धित मन्त्री के वेतन पर कटौती प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। ऐसे कटौती प्रस्ताव का उद्देश्य मन्त्री विशेष के प्रति अविश्वास व्यक्त करना है और सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के कारण इस प्रकार के कटौती प्रस्ताव के पारित होने से सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।

अविश्वास का प्रस्ताव—लोकसदन के पास मन्त्रिमण्डल में अविश्वास व्यक्त करने के अनेक साधन होते हैं। कानून-निर्माण के क्षेत्र में मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध कार्य करके भी मन्त्रिमण्डल में अविश्वास व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु अनेक बार किसी विधेयक पर मन्त्रिमण्डल को पराजित करने का उपाय प्रभावशाली नहीं होता क्योंकि सम्भव है कि मन्त्रिमण्डल इस हार को महत्वपूर्ण न समझे। ऐसी स्थिति में मन्त्रिमण्डल के कार्यों से असन्तुष्ट होने पर लोकसदन को अविश्वास का प्रस्ताव पारित करना होता है। ऐसा प्रस्ताव पारित हो जाने पर जरूरी है कि मन्त्रिमण्डल या तो त्यागपत्र दे दे या सम्राट को परामर्श देकर लोकसदन को विघटित करवा दे। मार्च 1979 में मजदूर दल की सरकार के प्रति लोकसदन ने अविश्वास व्यक्त कर उसे पदच्युत कर दिया।

(3) वित्तीय क्षेत्र में लोकसदन की सर्वोच्चता—प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं (No Taxation without Representation) ब्रिटिश प्रशासन का मूल आधार है और ब्रिटेन में यह सिद्धान्त मान्य है कि जनता से कर वसूल करने या कर के रूप में प्राप्त धनराशि को व्यय करने का कार्य लोकसदन द्वारा ही किया जा सकता है। लोकसदन द्वारा बजट को स्वीकार किये बिना मन्त्रिमण्डल के द्वारा आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं किया जा सकता।

सैद्धान्तिक दृष्टि से मन्त्रिमण्डल पर लोकसदन की सर्वोच्चता के कारण ही अनेक विद्वान मन्त्रिमण्डल को 'संसद की एक समिति' मानते हैं और कहते हैं कि "मन्त्रिमण्डल का विकास संसद की सम्प्रभुता को वास्तविक बनाने वाली संस्था के रूप में ही हुआ है।"

व्यवहार में स्थिति

सैद्धान्तिक दृष्टि से मन्त्रिमण्डल को भले ही संसद की एक समिति कहा जाता हो, व्यवहार में स्थिति नितान्त विपरीत ही है। मन्त्रिमण्डल, जो कि सिद्धान्त में लोकसदन का दास है, व्यवहार में उसका स्वामी हो गया है। जैनिंग का यह मत नितान्त सत्य है, "राजनीतिक दलों के प्रभाव के कारण वास्तव में मन्त्रिमण्डल ही लोकसदन पर नियन्त्रण रखता है, न कि लोकसदन मन्त्रिमण्डल पर।" इसी प्रकार कार्टर ने लिखा है कि "यह लोकसदन से नियन्त्रित होने के बजाय लोकसदन को नियन्त्रित करता है। इसके सदस्य राजनीतिक दल को और राजनीतिक दल लोकसदन को नियन्त्रित करता है। संक्षेप में, एक समिति, जो सम्राट और लोकसदन पर निर्भर प्रतीत होती है, वास्तव में दोनों पर प्रभुत्व रखती है।" व्यवहार में, मन्त्रिमण्डल की सर्वोच्चता निम्न प्रकार है :

(1) व्यवस्थापन क्षेत्र—कानून-निर्माण के क्षेत्र में व्यावहारिक स्थिति यह है कि प्रमुख कानूनों के प्रारूप मन्त्रिमण्डल द्वारा ही तैयार किये जाते हैं और संसद इन विधेयकों को सामान्यतः उसी रूप में पारित कर देती है, जिस रूप में मन्त्रिमण्डल ने इन्हें प्रस्तावित किया था। यदि उनमें कोई संशोधन किये जाते हैं तो केवल वे ही जो मन्त्रिमण्डल को मान्य होते हैं। इसी प्रकार वे ही गैर-सरकारी विधेयक संसद से स्वीकृत हो पाते हैं जिन पर मन्त्रिमण्डल की कृपा दृष्टि हो। इस प्रकार व्यवस्थापन के क्षेत्र में मन्त्रिमण्डल ही लोकसदन का मार्ग-निर्देशन करता है। एडम्स ने इस, तथ्य को इन शब्दों में प्रकट किया है। "लोकसदन की स्थिति एक ऐसी रजिस्ट्रिंग मशीन की भांति हो गयी है जो एक अन्य संस्था द्वारा किये गये निर्णयों को रिकार्ड करने का काम करे अब तो केबिनेट ही वास्तविक विधायिका है।"

(2) कार्यपालिका क्षेत्र—यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से लोकसदन के द्वारा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उसे पदच्युत किया जा सकता है; किन्तु व्यवहार में जैसा कि सिडनी लो लिखते हैं, "लोकसदन के प्रांगण में आजकल केबिनेट कभी पराजित होती ही नहीं है।" अविश्वास प्रस्ताव का तात्पर्य है लोकसदन के बहुमत दल द्वारा शासन की शक्ति विरोधी दल को सौंपना और बहुमत दल कभी ऐसा नहीं करना चाहता। इसके, अतिरिक्त

1 Jennings, *Cabinet Government*, p. 239.

2 "It controls the House of Commons instead of being controlled by it since its members control the party, which controls the house of commons. In short, a group which appears dependent upon the King and the House of Commons in fact dominates both."

—K. M. Carter & Others, *The Government of Great Britain*, p. 504.

3 "Now-a-days, Cabinet is never defeated on the floor of House of Commons."

—Sydney Low

यदि अविश्वास प्रस्ताव पारित भी हो जाय, तो प्रधानमन्त्री के द्वारा त्यागपत्र देने के बजाय सम्राट को परामर्श देकर लोकसदन को विघटित कराया जा सकता है। ऑग और जिंक के शब्दों में, “आजकल देश में निर्वाचकों से पुनर्विचार करने की प्रथा इतनी विकसित हो गयी है कि कोई केबीनेट लोकसदन में पराजित होने पर जनता से बिना अपील किये पद त्याग करती ही नहीं है।”

(3) वित्तीय क्षेत्र—लोकसदन द्वारा बजट में कटौती करने की बात सैद्धान्तिक ही है। जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, लोकसदन यह कार्य कभी नहीं करता। आय-व्यय और अन्य सभी वित्तीय प्रश्नों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक शक्ति, व्यवहार में, मन्त्रिमण्डल को ही प्राप्त होती है।

ऑग और जिंक समस्त स्थिति की समीक्षा करते हुए लिखते हैं, ‘संसद आलोचना में प्रभावशाली, किन्तु पहल करने में दुर्बल है।’

मन्त्रिमण्डल की महत्ता के कारण

वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल और लोकसदन के पारस्परिक सम्बन्ध सैद्धान्तिक स्थिति के प्रतिकूल हो गये हैं। वस्तुस्थिति यह है कि लोकसदन मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रित नहीं करता, वरन् स्वयं मन्त्रिमण्डल द्वारा नियन्त्रित होता है। मन्त्रिमण्डल लोकसदन या अन्य किसी संस्था की तुलना में बहुत अधिक शक्तिशाली हो गया है। व्यावहारिक प्रशासन में मन्त्रिमण्डल को इतनी अधिक महत्ता प्राप्त हो जाने के कारणों की विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती है:

(1) द्विदल पद्धति—द्विदल पद्धति ब्रिटिश राजनीति की विशेषता है और वर्तमान समय में भी ब्रिटिश राजनीति में प्रमुखतया दो ही राजनीतिक दल हैं : अनुदार दल और मजदूर दल। इसके अतिरिक्त उदार दल, सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, साम्यवादी दल और अन्य दल हैं, लेकिन उन्हें सत्ता प्राप्त होने के अवसर कम हैं और इस दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है। इंग्लैण्ड में द्विदल पद्धति होने के कारण एकदलीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता है। जिस राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल होता है, उसे लोकसदन में स्पष्ट बहुमत प्राप्त रहता है और अपने बहुमत के बल पर मन्त्रिमण्डल के द्वारा प्रशासन और कानून निर्माण के क्षेत्र में साहसपूर्वक कार्य किया जा सकता है।

(2) कठोर दलीय अनुशासन—मन्त्रिमण्डल को शक्तिशाली बनाने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योग राजनीतिक दलों के निरन्तर बढ़ते हुए कठोर दलीय अनुशासन ने दिया है। आजकल दल का अनुशासन इतना कठोर हो गया है कि प्रत्येक सदस्य को दल के आदेशों का पालन करना ही होता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसे दल से बहिष्कृत किया जा सकता है जिसका सामान्यतया तात्पर्य होता है—राजनीतिक जीवन का अन्त। लोकसदन में प्रत्येक दल का ‘सचेतक’ (Whip) होता है जो किसी विधेयक पर मतदान के समय अपने दल के सदस्यों को निर्देश देता है कि उन्हें सम्बन्धित विधेयक का समर्थन करना है या विरोध। बहुमत दल का सचेतक प्रधानमन्त्री के निर्देश के अनुसार कार्य करता है और सदस्यों के लिए सचेतक के निर्देशों का पालन करना आवश्यक होता है।

(3) सुधार कानूनों का परिणाम—1832 के प्रथम सुधार कानून के पूर्व तक सदस्यों की अपने राजनीतिक दल के प्रति भक्ति सामान्य तौर पर परिवर्तनशील होती थी और इसका कारण यह था कि चुनाव व्यक्तिगत आधार पर जीते जाते थे। मतदाताओं की संख्या कम

होती थी, इसलिए निर्वाचकों को मतदाताओं से स्वयं सम्पर्क स्थापित करना सरल होता था। लेकिन सन् 1832 और उसके बाद 1867 व 1884 के सुधार कानूनों से स्थिति एकदम परिवर्तित हो गयी। मतदाताओं की संख्या बढ़ जाने के कारण व्यक्तियों के लिए व्यक्तिगत आधार पर चुनाव में विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं रहा। जब व्यक्ति राजनीतिक दलों की सहायता से चुनकर आने लगे, तो उनके लिए राजनीतिक दलों के अनुशासन को स्वीकार करना स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार सुधार कानूनों ने सुसंगठित राजनीतिक दलों और दलीय अनुशासन को जन्म दिया।

(4) लोकसदन पर अत्यधिक कार्यभार—शासनतन्त्र द्वारा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण न रखे जा सकने का एक कारण यह भी है कि लोकसदन के पास पहले से ही इतना अधिक भार होता है कि लोकसदन मन्त्रिमण्डल के कार्यों पर विचार करने में असमर्थ रहता है। वर्तमान समय में राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ जाने के कारण लोकसदन का कार्यभार बहुत अधिक हो गया है। इसके अतिरिक्त वर्ष में लगभग 6 महीने तो लोकसदन की बैठक ही नहीं चलती। इस कारण लोकसदन अपने कार्य समय पर नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में कैबिनेट पर नियन्त्रण रखने के बजाय लोकसदन कैबिनेट का अनुसरण करने में ही सन्तुष्टि अनुभव करता है।

(5) शासन कार्य की जटिलता—वर्तमान समय में शासन कार्य बहुत अधिक जटिल हो गया है और कानून निर्माण तथा शासन क्षेत्र में ऐसी पेचीदा समस्याएँ उत्पन्न होने लगी हैं, जिन्हें भलीभांति समझना संसद के सदस्यों के लिए साधारणतया सम्भव नहीं होता। लोकसदन द्वारा प्रशासन सम्बन्धी जटिल बातों को पूर्णतया न समझ सकने और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के अपेक्षाकृत अधिक योग्य होने के कारण लोकसदन की अपेक्षा मन्त्रिमण्डल को अधिक महत्ता प्राप्त हो गयी है।

(6) प्रदत्त व्यवस्थापन—संसद के कार्यभार की अधिकता और कानून-निर्माण में निरन्तर बढ़ती हुई जटिलता ने एक अन्य प्रवृत्ति को जन्म दिया है जिसे 'प्रदत्त व्यवस्थापन' के नाम से जाना जाता है। संसद के पास सभी विषयों के सम्बन्ध में कानून-निर्माण के लिए आवश्यक समय और ज्ञान न होने के कारण संसद कानून की केवल मोटी रूपरेखा पारित कर देती है और इन कानूनों के अधीन नियम तथा उपनियम बनाने और आदेश जारी करने की शक्ति प्रशासनिक विभागों को देती है। यही प्रदत्त व्यवस्थापन है और इसके कारण मन्त्रिमण्डल को कानून-निर्माण के क्षेत्र में बहुत अधिक शक्ति प्राप्त हो गयी है।

(7) संसद की कार्यवाही के नियम—संसद की कार्यवाही के नियमों ने भी मन्त्रिमण्डल की शक्ति बढ़ाने में योग दिया है। मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर ही सम्राट संसद का अधिवेशन बुलाते हैं और संसदीय अधिवेशन का समय घटाने-बढ़ाने का निर्णय मन्त्रिमण्डल ही करता है। मन्त्रिमण्डल ही इस बात का निर्णय करता है कि संसद के विचार हेतु कौन-से विषय रखे जायें और उन पर कितना समय दिया जाय। इसके अतिरिक्त संसद का अधिकांश समय मन्त्रियों द्वारा प्रस्तावित विधेयकों पर ही चला जाता है और निजी सदस्यों के विधेयकों पर विचार के लिए बहुत ही कम समय शेष रहता है। संसदीय कार्यवाही के नियमों के कारण कानून-निर्माण का कार्य मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार ही होता है।

(8) राष्ट्रीय आपात—बीसवीं सदी के इंग्लैण्ड में बार-बार आने वाले राष्ट्रीय आपातों ने भी मन्त्रिमण्डल की शक्ति बढ़ाने में बहुत योग दिया है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध तथा

1930 के आर्थिक संकट का सामना करने के लिए संसद के द्वारा मन्त्रिमण्डलों को बहुत अधिक व्यापक शक्तियाँ प्रदान कर दी गयीं और इन अवसरों पर ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलों की स्थिति तानाशाह जैसी हो गयी। राष्ट्रीय आपात की समाप्ति पर भी मन्त्रिमण्डलों के हाथ में इन विशेष शक्तियों में से कुछ बनी रहीं। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल के द्वारा एक के बाद दूसरे राष्ट्रीय आपात का जिस सफलता के साथ सामना किया गया उससे लोकसदन की तुलना में मन्त्रिमण्डल की प्रतिष्ठा और शक्ति में वृद्धि हुई है।

(9) राष्ट्रीय वित्त पर मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण—समस्त प्रशासनिक व्यवस्था के संचालन में वित्तीय शक्ति बहुत अधिक महत्व रखती है और वर्तमान समय में राष्ट्रीय वित्त पर मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण ने समस्त प्रशासनिक व्यवस्था पर मन्त्रिमण्डल के प्रभाव को बढ़ाने में बहुत योग दिया है।

(10) मन्त्रिमण्डल के पास लोकसदन के विघटन की शक्ति—लोकसदन पर मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण स्थापित होने का एक बड़ा कारण मन्त्रिमण्डल के पास लोकसदन को विघटित करने की शक्ति है। वर्तमान समय में यदि कभी मन्त्रिमण्डल यह अनुभव करे कि उसकी नीति और कार्यों को राष्ट्र का समर्थन प्राप्त है, लेकिन लोकसदन इसे पूरा करने के लिए आवश्यक समर्थन प्रदान नहीं कर रहा है, तो प्रधानमन्त्री के द्वारा सम्राट को परामर्श देकर लोकसदन को विघटित करवा दिया जाता है। लोकसदन के विघटन के परिणामस्वरूप सदन के सदस्यों को एक निश्चित समय के पूर्व ही चुनाव सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह बात उनके लिए बहुत अधिक अरुचिकर होती है और वे इससे बचने के लिए मन्त्रिमण्डल को अधिकाधिक समर्थन देने का मार्ग अपना लेते हैं। इस प्रकार विघटन की शक्ति लोकसदन को अपने नियन्त्रण में रखने का प्रभावशाली साधन सिद्ध हुई है। जैनिंग्स ने ठीक ही कहा है कि “लोकसदन भयभीत रहता है, कि कहीं सरकार पराजित न हो जाय और लोकसदन को विघटित न करवा दिया जाय। यह भय ही सरकार द्वारा अपने बहुमत सदस्यों पर नियन्त्रण स्थापित करने में सर्वाधिक सहायक होता है।”¹ कीथ तो लिखते हैं कि “मन्त्रिमण्डल ने अपनी इस शक्ति के आधार पर न केवल अपने राजनीतिक दल, बल्कि विरोधी दल के सदस्यों पर भी नियन्त्रण स्थापित कर लिया है।”²

क्या मन्त्रिमण्डल अधिनायक है?

मन्त्रिमण्डल की निरन्तर बढ़ती हुई इन शक्तियों को देखकर कुछ लेखकों ने यह विचार व्यक्त किया है कि ब्रिटेन के संसदीय प्रजातन्त्र में मन्त्रिमण्डल की स्थिति आज एक अधिनायक जैसी हो गयी है। रैन्जे म्योर के द्वारा अपनी पुस्तक ‘How England is Governed’ में विशेष रूप से इस प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है। वे लिखते हैं, “इस संस्था के पास ऐसे अधिकार हैं कि इसे सर्वशक्तिमान कहा जा सकता है, चाहे यह अपने अधिकारों का प्रयोग करने में कितनी भी असमर्थ क्यों न हो। जहाँ इसके पास बहुमत का समर्थन होता है, वहाँ इसकी स्थिति एक तानाशाह जैसी होती है। यह तानाशाही दो पीढ़ी पहले की तानाशाही से कहीं अधिक

1 “It is the fear of defeat and threat of dissolution of the House that supply the most effective elements of the Government's power over its majority.”
—Jennings, *The British Constitution*, p. 458.

2 “Apart from party loyalty, the Cabinet possesses over its followers and to some extent over the opposition a powerful weapon in the possibility of securing a dissolution of Parliament.”
—A. B. Keith

निरंकुश है।" कुछ सीमा तक कीथ, हैरीसन और कार्टर के द्वारा भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा गया है कि ब्रिटेन में केबिनेट की तानाशाही स्थापित होती जा रही है।

मन्त्रिमण्डल अधिनायक नहीं—आधुनिक परिस्थितियों में निस्सन्देह मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में अपूर्व विस्तार हुआ है और प्रशासन, विधि तथा वित्त इन तीनों क्षेत्रों में मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण स्थापित हो गया है, किन्तु इसे मन्त्रिमण्डल का अधिनायकत्व नहीं कहा जा सकता। मन्त्रिमण्डल की शक्ति पर कुछ प्रभावी प्रतिबन्ध हैं और मन्त्रिमण्डल इस बात के लिए बाध्य होता है कि वह इन सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए कार्य करे। मन्त्रिमण्डल पर ये प्रतिबन्ध निम्न प्रकार हैं :

(1) **विरोधी दल का अस्तित्व**—मन्त्रिमण्डल की शक्ति पर सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतिबन्ध विरोधी दल का अस्तित्व है। यदि मन्त्रिमण्डल कभी भी मनमानी करने का प्रयत्न करता है तो वह तुरन्त ही विरोधी दल की आलोचना का विषय बन जाता है और विरोधी दल मन्त्रिमण्डल के पतन के लिए सक्रिय हो उठता है। ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल जितना अधिक शक्तिशाली है, विरोधी दल भी उतना ही अधिक प्रभावशाली है और विरोधी दल के कारण मन्त्रिमण्डल कभी भी अधिनायक नहीं हो सकता।

(2) **दबाव समूह**—राजनीतिक दलों या विपक्षी दल के अलावा दबाव समूह भी मन्त्रिमण्डल को नियन्त्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मजदूर संघ, परिवहन व रेल कर्मचारियों के संघ, वाणिज्य और उद्योग मण्डल तथा इसी प्रकार के अन्य दबाव समूह अनेक मांगों और तकाजों को प्रकट करते हैं। सरकार चाहे मजदूर दल की हो या अनुदार दल की; वह इन दबाव समूहों की भूमिका की, विशेषतया शक्तिशाली दबाव समूहों द्वारा पूरी शक्ति के साथ उठाई गई बातों और मांगों की अवहेलना करने का साहस नहीं कर पाती।

(3) **जनमत की शक्ति**—मन्त्रिमण्डल के अधिनायकत्व पर एक दूसरा प्रभावशाली प्रतिबन्ध जनमत की शक्ति है। मन्त्रिमण्डल सत्ता में उसी स्थिति में रह सकता है जबकि वह जनमत के प्रति सचेत हो। ब्रिटेन में सरकार जनमत पर ही आश्रित होती है और जनमत का सरकार पर पर्याप्त प्रभाव होता है। निस्सन्देह एक निश्चित अवधि के बाद जिन्हें जनता के पास मतों की भीख मांगने के लिए जाना पड़ता है, वे जनमत की अवहेलना स्वयं अपने राजनीतिक अस्तित्व के मूल्य पर ही कर सकते हैं। यह ऐसा तथ्य है जिससे मन्त्रिमण्डल तानाशाह नहीं हो सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि प्रबल बहुमत वाली सरकार को जनमत के आगे झुकना पड़ा। सन् 1940 में प्रबल जनमत की मांग पर चैम्बरलेन सरकार को त्यागपत्र देना पड़ा था और जनमत के कारण ही सन् 1946 में सरकार को इस्पात बोर्ड की शक्तियों में काफी परिवर्तन करना पड़ा था। सन् 1957 में स्वेज नहर के प्रश्न पर तत्कालीन प्रधानमन्त्री ईडन को त्यागपत्र देना पड़ा और 1963 में प्रोफ्यूमो काण्ड के कारण देश में जो बवण्डर उठा, उसने मैकमिलन सरकार के आधार पर भारी प्रहार किया। वस्तुस्थिति यह है कि ब्रिटिश केबिनेट को जनमत का सम्मान करना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में जैनिंग के शब्दों में कहा जा सकता है कि "मन्त्रिमण्डल की समस्त सत्ता, एकमात्र जन-समर्थन पर निर्भर करती है और इसे तानाशाही नहीं कहा जा सकता।"

(4) **सदन की परम्पराएं और अपने ही दल के सदस्यों की प्रतिक्रियाएं**—सदन की परम्पराएं और मन्त्रिमण्डल के बाहर अपने ही राजनीतिक दल के सदस्यों की प्रतिक्रियाएं भी मन्त्रिमण्डल के तानाशाह बनने के मार्ग में बाधक होती हैं। ब्रिटेन में लोकतन्त्र की जड़ें बहुत गहरी हैं और सदन की परम्पराएं ऐसी हैं कि यदि कोई मन्त्रिमण्डल इन परम्पराओं का अनादर करता है तो उसे इस दुस्साहस का भारी मूल्य चुकाना होता है। केबिनेट का लोकसदन पर नियन्त्रण होता है, लेकिन लोकसदन को मन्त्रिमण्डल का मुक्त अनुसरणकर्ता नहीं कहा जा सकता।

लोकसदन मन्त्रिमण्डल के कार्यों पर पैनी दृष्टि रखता है और इसे मनमानी नहीं करने देता। 1990 में अनुदार दल के सदस्यों की प्रतिक्रिया के कारण मार्ग्रेट थैचर को प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा और इराक के प्रसंग में अपने संसदीय दल के दृष्टिकोण की निरन्तर अवहेलना किये जाने के कारण ही प्रधानमन्त्री टोनी ब्लेयर को जून 2007 ई. में प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

(5) ब्रिटेन की राजनीतिक संस्कृति—इन सबके अतिरिक्त ब्रिटेन की राजनीतिक संस्कृति, मन्त्रिमण्डल के अधिनायकवाद, प्रधानमन्त्री के अधिनायकवाद या अन्य किसी भी प्रकार के अधिनायकवाद के मार्ग की एक बड़ी बाधा है। जनता अपने नेताओं में विश्वास करती है और नेता जनमत का आदर करते हैं। कार्लायल की उक्ति है, “मैं नेता हूँ इसलिए मुझे जनता का अनुगमन करना चाहिए” (I am the leader, therefore I must follow)। इस पृष्ठभूमि में मन्त्रिमण्डल या सरकार स्वयं ही अपनी शक्तियों पर अंकुश लगा लेते हैं। बटलर कहते हैं, “सभी राजनीतिज्ञ आचरण के उचित सिद्धान्तों का पालन करते हैं।”

लास्की अपनी पुस्तक ‘इंग्लैण्ड में संसदीय शासन’ (*Parliament Government in England*) में नितान्त उचित रूप से यह विचार व्यक्त करते हैं कि “मन्त्रिमण्डल शासन-व्यवस्था का केन्द्र अवश्य है और उसकी प्रमुखता भी है, किन्तु उसकी स्थिति अधिनायक जैसी नहीं है।”

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मन्त्रिमण्डल की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि और संसद की शक्तियों में हास की प्रवृत्ति देखी गयी थी, लेकिन ऐसा लगता है कि अब 1970 के बाद इस प्रवृत्ति पर रोक लग गयी है। ग्रैम सी. मूडी (Grame C. Moodie) इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि “1970 में संसद के द्वारा नवीन उत्तरदायित्वों को ग्रहण करते हुए अपनी सत्ता पर बल देना प्रारम्भ कर दिया गया है और इस प्रकार सत्ता व सम्मान के उस हास को रोक दिया है, जो 1950-60 के वर्ष में देखा गया था”²

व्यवहार में मन्त्रिमण्डल लोकसदन को नियन्त्रित करता है लेकिन लोकसदन के सन्दर्भ में इसकी स्थिति समय-समय पर परिवर्तित होती रही है। इस सम्बन्ध में एक सामान्य बात यह कही जा सकती है कि यदि सरकार को लोकसदन में स्पष्ट बहुमत प्राप्त होता है और शासक दल में नेतृत्व के लिए कोई विवाद नहीं होता तो लोकसदन में मन्त्रिमण्डल की स्थिति सुदृढ़ होती है अन्यथा मन्त्रिमण्डल को पग-पग पर लोकसदन के दृष्टिकोण को ध्यान में रखना होता है। मार्च 1979 में लोकसदन ने अविश्वास प्रस्ताव के आधार पर कैलहन सरकार को पदच्युत कर अपनी शक्ति का परिचय दिया था। लेकिन मई 1979, 1983 और उसके बाद 1987 के आम चुनावों से थैचर मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। प्रधानमन्त्री मार्ग्रेट थैचर और उनके मन्त्रिमण्डल थैचर सरकार को लगभग 11 वर्ष के सम्पूर्ण कार्यकाल में लोकसदन में सुदृढ़ स्थिति प्राप्त रही, लेकिन 1990 के अन्त में त्यागपत्र देना पड़ा।

मन्त्रिमण्डल और संसद के पारस्परिक सम्बन्ध मन्त्रिमण्डल को प्राप्त सफलताओं-असफलताओं पर भी निर्भर करते हैं। मैकिन्तोश (Mackintosh) इस स्थिति की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि “जब तक मन्त्रियों की नीतियां सफल रहें और उन्हें जन-समर्थन तथा जन-समर्थकों का उत्साह प्राप्त रहे, सदन में उन्हें (मन्त्रियों) महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त रहती है। लेकिन हतोत्साही नेतृत्व, बाहरी असफलताएं, मन्त्रिमण्डल की अक्षमता या मन्त्रिमण्डल में आन्तरिक

1 Grame C. Moodie, *The Government of Great Britain*, pp. 148-49.

मतभेदों का प्रभाव सदन को शक्तिशाली बना देता है और सदन के द्वारा नीतियों में परिवर्तन के लिए भारी दबाव डाला जा सकता है।¹

मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण की वांछनीयता

लास्की ने रैम्जे म्योर की धारणा को अस्वीकार करते हुए विचार व्यक्त किया है कि शासन में मन्त्रिमण्डल की प्रमुखता वांछनीय और संसदीय शासन-प्रणाली के सफल संचालन के लिए आवश्यक भी है। उनका विचार है कि जब एक राजनीतिक दल निश्चित कार्यक्रम के आधार पर लोकसदन में बहुमत प्राप्त कर लेता है, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने इस कार्यक्रम को पूरा करे। कार्यक्रम की क्रियान्विति मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही की जा सकती है, लोकसदन के द्वारा नहीं और मन्त्रिमण्डल भी यह कार्य तभी कर सकता है, जबकि उसे लोकसदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। ऐसी स्थिति में यदि मन्त्रिमण्डल पूर्व निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूरी शक्ति के साथ कार्य करता है, तो इसमें बुराई क्या है? वस्तु-स्थिति तो यह है कि यदि मन्त्रिमण्डल ऐसा न करे, तो जनसाधारण का लोकतन्त्र में विश्वास डगमगाने लगेगा। अतः शासन में मन्त्रिमण्डल की यह प्रमुखता इस लोकतन्त्र की प्रवृत्ति के नितान्त अनुकूल है। मन्त्रिमण्डल की यह प्रमुखता इस दृष्टि से भी स्वाभाविक और वांछनीय है कि न केवल इंग्लैण्ड वरन् विश्व के सभी आधुनिक प्रजातन्त्रों में व्यवस्थापिका की तुलना में कार्यपालिका के अधिक शक्तिशाली होने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

प्रधानमन्त्री (Prime Minister)

मन्त्रिमण्डल ब्रिटेन की वास्तविक कार्यपालिका है और प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का प्रधान। इस प्रकार प्रधानमन्त्री शासन व्यवस्था का केन्द्र है और उसकी स्थिति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शासन में प्रधानमन्त्री की स्थिति इतनी अधिक महत्वपूर्ण और केन्द्रीय है कि वर्तमान समय में कुछ पक्षों द्वारा ब्रिटिश सरकार को 'मन्त्रिमण्डलीय सरकार' (Cabinet Government) के स्थान पर 'प्रधानमन्त्री सरकार' (Prime Ministerial Government) कहा जाने लगा है।² आर. एच. एस. क्रॉसमैन ने भी यही विचार व्यक्त किया है कि "युद्धोत्तरकाल में मन्त्रिमण्डलीय शासन प्रधानमन्त्री के शासन में परिणत हो रहा है।"³

प्रधानमन्त्री की नियुक्ति—सैद्धान्तिक रूप में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती है, किन्तु व्यवहार में लोकसदन के बहुमत दल के नेता को ही सम्राट के द्वारा प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता है। यद्यपि अब तक ऐसे अवसर हुए हैं जबकि प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में सम्राट के द्वारा अपने विवेक का प्रयोग किया गया। उदाहरण के लिए, 1963 में सम्राट द्वारा लॉर्ड सभा के सदस्य सर एलेक डगलस होम की प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्ति, किन्तु इस नियुक्ति पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई और उस समय से अनुदार दल के द्वारा भी इस परम्परा को अपना लिया गया कि महानिर्वाचन के बाद और उसके बाद जब कभी दलीय नेता का पद रिक्त हो, तब लोकसदन के दलीय सदस्यों द्वारा ही अपना नेता चुनने का कार्य किया जायेगा। इस प्रकार दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों द्वारा दलीय नेता के स्वयं चुनाव की

1 John P. Mackintosh, *The Government and Politics of Britain* (Hutchison & Co. London, Third Rev. Ed., 1974), p. 7.

2 "The current thesis is that Cabinet Government has given way to Prime Ministerial Government."

—S. E. Finer, *Comparative Government* (1970 Edition), p. 171.

3 "The postwar epoch has seen the final transformation of Cabinet Government into Prime Ministerial Government." —*Introduction of the English Constitution*, p. 51.

परम्परा को अपना लिये जाने से प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में सम्राट द्वारा अपने विवेक का प्रयोग किये जाने के अवसर लगभग समाप्त हो गये हैं।

प्रधानमन्त्री के लिए संसद सदस्य होना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में यह भी परम्परा स्थापित हो गयी है कि प्रधानमन्त्री लोकसदन में से ही होना चाहिए, लॉर्ड सभा में से नहीं। अतः कीथ के शब्दों में कहा जा सकता है कि “प्रधानमन्त्री पद के लिए किसी कुलीन पुरुष का चुना जाना अब एक असाधारण-सी बात हो गयी है।”

प्रधानमन्त्री पद की अनौपचारिकता

प्रधानमन्त्री पद की एक विशेषता यह है कि इसका कोई कानूनी आधार नहीं है और यह पद अनौपचारिक ही है। प्रधानमन्त्री पद की स्थापना किसी संसदीय कानून के आधार पर नहीं हुई वरन् स्वतः विकसित हुई है। जब सम्राट जार्ज प्रथम ने केबिनेट की बैठकों में सम्मिलित होना बन्द कर दिया, तो केबिनेट को अध्यक्षता के लिए एक पदाधिकारी की आवश्यकता अनुभव की गयी। यह पदाधिकारी केबिनेट का प्रधान ही हो सकता था और इसी से प्रधानमन्त्री पद का उदय हुआ। इस प्रकार 1721 में नियुक्त वाल्पोल ब्रिटेन का प्रथम प्रधानमन्त्री था। इस पद का सर्वप्रथम उल्लेख 1878 ई. में हुआ, जबकि लॉर्ड बीकन्सफील्ड ने बर्लिन सन्धि पर हस्ताक्षर करते हुए अपने आपको ‘राजकीय कोष का प्रथम लॉर्ड, इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री’ (First Lord of His Majesty's Treasury; Prime Minister of England) लिखा जिससे विदेशी लोग हस्ताक्षरकर्ता की स्थिति को समझ सकें। बाद में, सन् 1906 में उसका स्थान निर्धारित करते हुए उसे यार्क के आर्कबिशप के बाद राज्य का चौथा नागरिक माना गया। इसके बाद सन् 1937 के ‘राजमुकुट के मन्त्रियों से सम्बन्धित कानून’ (Minister of the Crown Act) में सबसे पहले ‘प्रधानमन्त्री व राजकीय कोष के प्रथम लॉर्ड’ के पद का अस्तित्व स्वीकार किया गया और उसके अधिकारी के लिए 10 हजार पौण्ड वार्षिक वेतन निर्धारित किया गया। जून 2001 में टोनी ब्लेयर सरकार ने प्रधानमन्त्री और केबिनेट सहयोगियों के वेतन में उल्लेखनीय वृद्धि की। अब प्रधानमन्त्री का वेतन 1,63,418 पौण्ड वार्षिक और केबिनेट के सदस्यों का वेतन 1,17,979 पौण्ड वार्षिक निर्धारित किया गया है।¹ सेवा निवृत्ति के बाद उसे पेंशन भी प्राप्त होती है। लेकिन इस कानून में प्रधानमन्त्री के कार्यों और शक्तियों का उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रधानमन्त्री की शक्तियों का कोई कानूनी आधार नहीं है। ग्लैडस्टन ने इस बात को लक्ष्य करते हुए कहा है कि “इतने बड़े पदार्थ की इतनी छोटी छाया इतने बड़े संसार में कहीं देखने को नहीं मिलती; अधिकारों और विशेषाधिकारों के औपचारिक दिखावे के बिना इतना अधिक शक्तिशाली व्यक्ति कहीं दिखायी नहीं देता है।”²

उप प्रधानमन्त्री पद—ब्रिटेन में सामान्यतया तो उप प्रधानमन्त्री पद की स्थिति नहीं होती, लेकिन मई 1997 में जॉन प्रेसकोट को उप प्रधानमन्त्री बनाया गया तथा 2001 में उन्हें पुनः उप प्रधानमन्त्री बनाया गया। वैधानिक दृष्टि से उप प्रधानमन्त्री और अन्य किसी मन्त्री की स्थिति में कोई अन्तर नहीं है।

1 'The Hindu', 13 June 2001.

2 "Nothing in the world does so great a substance cast so small a shadow; nowhere is there a man who has so much power, with so little to show for it, in the way of formal title of prerogative." Gladstone

प्रधानमन्त्री के कार्य और शक्तियाँ

ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की स्थिति निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जैनिंस् ने इसी कारण प्रधानमन्त्री को 'सम्पूर्ण विधान की आधारशिला' बताया है। सर सिडनी लो ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "संसद में निश्चित बहुमत के रहते इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री वह सब कार्य कर सकता है जिसको जर्मनी का सम्राट और अमरीका का राष्ट्रपति भी नहीं कर सकता क्योंकि वह कानून में परिवर्तन कर सकता है, करारोपण कर सकता है और उसे समाप्त कर सकता है, वह राज्य की सभी शक्तियों का निर्देशन कर सकता है।"

प्रशासन में प्रधानमन्त्री को जो व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं, उनकी विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती है :

(1) मन्त्रिमण्डल का निर्माण—वैधानिक शब्दावली के अनुसार मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री के परामर्श से सम्राट द्वारा की जाती है, किन्तु जहां तक वास्तविकता का सम्बन्ध है, मन्त्रियों की नियुक्ति में सम्राट का कोई हाथ नहीं होता और प्रधानमन्त्री जिन किन्हीं व्यक्तियों को मन्त्रिपद पर नियुक्त करने की सिफारिश करता है, सम्राट उसे स्वीकार कर लेता है। यद्यपि प्रधानमन्त्री को अपने सहयोगियों का चुनाव करने में अपने दल के अन्दर विभिन्न व्यक्तियों की स्थिति, विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों और समुदायों को प्रतिनिधित्व, सदस्यों की दक्षता, उनकी समाज सेवा की भावना, आदि का ध्यान रखना होता है, लेकिन अन्तिम रूप से इस सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। व्यावहारिक अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि "इस सम्बन्ध में न तो संसद और न ही दलीय कार्यपालिका ने उसके ऊपर कोई दबाव डाला है।"

यद्यपि सामान्यतया ब्रिटेन में एकदलीय मन्त्रिमण्डल की परम्परा है, लेकिन प्रधानमन्त्री अपने दल से बाहर का व्यक्ति भी मन्त्रिमण्डल में ले सकता है, वह संसार से बाहर के व्यक्ति को भी मन्त्रिमण्डल में ले सकता है, यदि किसी विशेष कार्य को रोकने के लिए उसकी दृष्टि में वही सर्वाधिक उपयुक्त हो। उदाहरण के लिए, बाल्डविन ने 1924 में चर्चिल को वित्तमन्त्री नियुक्त कर दिया, यद्यपि उस समय चर्चिल को दल में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं थी। 1966 में हैरल्ड विल्सन ने पैट्रिक गार्डन बांकर को विदेशी विभाग के सचिव जैसा महत्वपूर्ण पद प्रदान कर दिया; यद्यपि वह आम चुनाव में हार गया था। ये घटनाएँ सहयोगियों के चुनाव में प्रधानमन्त्री द्वारा अपनाये गये स्वविवेक की प्रतीक हैं।

न केवल सहयोगियों के चुनाव, वरन् उनके बीच विभागों के वितरण में भी प्रधानमन्त्री का निर्णय अन्तिम होता है। इस सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री जो निर्णय करता है, सामान्यतया उसे अस्वीकार नहीं किया जाता है। क्योंकि पद अस्वीकृति का तात्पर्य न केवल संसद के उस कार्यकाल के लिए पदहीनता वरन् सदैव के लिए ही मन्त्रिपद से वंचित रहना और कभी-कभी तो राजनीतिक जीवन की समाप्ति होता है। सर रॉबर्ट हार्न व्यापार मन्त्रालय के प्रधान के रूप में अत्यन्त सफलता के साथ कार्य कर चुके थे, लेकिन जब इन्होंने 1924 ई. में बाल्डविन द्वारा दिये गये श्रम सचिव का पद अस्वीकार कर दिया, तो भविष्य में कभी किसी पद के लिए उनके नाम पर विचार ही नहीं किया गया। इसी प्रकार के अन्य भी कुछ उदाहरण हैं, लेकिन चर्चिल और एमरी जैसे कुछ अपवाद भी हुए हैं।

1 "The British Prime Minister has never acted under any sort of direction either from Parliament or from a party executive in making up his Government."
—L. S. Amery, *Thoughts on the Constitution*, p. 18.

(2) मन्त्रिमण्डल का कार्य-संचालन—प्रधानमन्त्री न केवल मन्त्रिमण्डल का निर्माण वरन् उसकी समस्त कार्यवाही का संचालन भी करता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व करता है और मन्त्रिमण्डल की कार्य-विधि (Agenda) पर उसका नियन्त्रण होता है। व्यवहारतः प्रत्येक मन्त्री किसी मुख्य प्रस्ताव को प्रस्तुत करने के पूर्व प्रधानमन्त्री की राय अवश्य ही लेता है और यह बात उसे 'मन्त्रिमण्डल का पथ-प्रदर्शक' बना देती है। मन्त्रिमण्डल के निर्माण तथा नीति-निर्धारण में प्रधानमन्त्री का सर्वोपरि हाथ रहता है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल के अन्तर्गत विभिन्न विषयों पर गोपनीय, किन्तु स्वतन्त्र विचार-विमर्श की प्रक्रिया को अपनाया जाता है और विवादास्पद विषय पर मतदान की प्रक्रिया को भी अपनाया जा सकता है, किन्तु सामान्यतया प्रधानमन्त्री का विचार ही निर्णायक होता है और मन्त्रिमण्डल उसे अपने निर्णय के रूप में स्वीकार कर लेता है।

(3) मन्त्रिमण्डल का अन्त—विधि के अनुसार मन्त्रियों को पदच्युत करने का अधिकार सम्राट का विशेषाधिकार है, लेकिन व्यवहारतः यह परम्परा स्थापित हो गयी है कि इस अधिकार का प्रयोग वह प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा। प्रधानमन्त्री को अधिकार है कि वह अपने एक या अधिक सहयोगियों की पदच्युति या सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के अन्त की सिफारिश सम्राट से कर सकता है। यदि प्रधानमन्त्री स्वयं त्यागपत्र दे दे तो उसके त्यागपत्र के साथ स्वतः ही पूरी मन्त्रिपरिषद् भंग हो जायेगी। प्रधानमन्त्री से अन्तिम रूप से असहमत मन्त्री को त्यागपत्र देना ही होता है।

मन्त्रिमण्डल के अन्तर्गत ही मन्त्रिमण्डल के पुनर्गठन की शक्ति भी सम्मिलित है। लास्की के शब्दों में, "वह अपने मन्त्रिमण्डल में जब चाहे तब और जैसे चाहे वैसे परिवर्तन कर सकता है।"¹ लास्की के कथन की पुष्टि अभी हाल के उदाहरणों से हुई है। 15 सितम्बर, 1981 को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्रीमती मारग्रेट थैचर द्वारा 6 कैबिनेट मन्त्रियों को बर्खास्त कर दिया गया और 10 मन्त्रियों के विभागों में भारी परिवर्तन किये गये। मन्त्रिमण्डल के इस पुनर्गठन में दल के कुछ महत्वपूर्ण लोगों को मन्त्रिमण्डल से अलग कर दिया गया।² जून 1983 और उसके बाद जून 1987 में अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने में भी प्रधानमन्त्री श्रीमती थैचर द्वारा ऐसी ही स्वतन्त्रता का परिचय दिया गया। प्रधानमन्त्री की यह शक्ति मन्त्रिमण्डल पर प्रधानमन्त्री को नियन्त्रण बनाये रखने में सहायक होती है। मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री को प्राप्त इस स्थिति के आधार पर लास्की लिखते हैं कि "प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का केन्द्र-बिन्दु है। वह उसके निर्माण, उसके जीवन और उसके अन्त में केन्द्रीय स्थिति रखता है।"³

(4) शासन पर नियन्त्रण—सिद्धान्त रूप में देश का शासन-प्रमुख राजा है, किन्तु व्यवहार में शासन-प्रमुख के सभी अधिकारों का प्रयोग प्रधानमन्त्री के द्वारा ही किया जाता है। शासन पर सर्वोच्च नियन्त्रण रखने हेतु उसके द्वारा शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित किया जाता है। उसके द्वारा यह कार्य विभिन्न विभागों के मन्त्रियों में मध्यस्थता करते हुए और विभिन्न विभागों को आदेश-निर्देश देते हुए किया जाता है।

राजकीय सम्मान प्रदान करने का कार्य सम्राट के द्वारा प्रधानमन्त्री के परामर्श के आधार पर ही किया जाता है। इस प्रकार सभी महत्वपूर्ण राजकीय पदों पर नियुक्तियाँ या तो प्रधानमन्त्री द्वारा स्वयं की जाती हैं या उनके परामर्श के आधार पर सम्राट द्वारा की जाती

1 "He may shuffle his pack as he likes and when he likes."

—Laski

2 *Indian Express*, 17 Sep., 1981.

3 "The Key-stone of the cabinet arch is the Prime Minister. He is central to its formation, central to its life and central to its death."

—Laski

हैं। बिशप, राजदूत, न्यायाधीश, विभागीय प्रमुखगण, उपनिवेशों के गवर्नर, स्थायी आयोगों और बोर्डों के मुख्य अधिकारी प्रधानमन्त्री के ही कृपापात्र होते हैं, यद्यपि नियुक्तियों के सम्बन्ध में विभागीय मन्त्रियों की राय ली जाती है, फिर भी प्रधानमन्त्री का ही निर्णय अन्तिम होता है। अन्त में कोष का प्रथम लॉर्ड और कोष के 'संस्थापन मण्डल' (Establishment Board) का अध्यक्ष होने के कारण कोष के उच्च पदाधिकारियों के चयन में प्रधानमन्त्री की सहमति आवश्यक होती है।

(5) परराष्ट्र सम्बन्धों का संचालन—प्रधानमन्त्री का एक महत्वपूर्ण अधिकार और कार्य परराष्ट्र सम्बन्धों का संचालन है। परराष्ट्र मन्त्रालय चाहे उसके पास हो या न हो, परराष्ट्र सम्बन्ध के सुचारु संचालन का अन्तिम दायित्व उसका ही समझा जाता है और व्यवहार में 1945-50 के काल को छोड़कर (प्रधानमन्त्री एटली का कार्यकाल) सदैव ही वैदेशिक मामलों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखता रहा है। दूसरे देशों के साथ किये जाने वाले महत्वपूर्ण समझौतों पर ब्रिटेन की ओर से परराष्ट्र मन्त्री के द्वारा नहीं, वरन् प्रधानमन्त्री के द्वारा ही हस्ताक्षर किये जाते हैं।

(6) लोकसदन का नेतृत्व—लोकसदन के बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद प्राप्त होता है और उसके द्वारा शासन प्रमुख के साथ-साथ लोकसदन के नेता के रूप में भी कार्य किया जाता है। प्रधानमन्त्री अपने मन्त्रियों के साथ संसद में सम्पूर्ण व्यवस्थापन कार्य का संचालन करता है। वह व्यवस्थापन के सम्बन्ध में नीति निर्धारित कर संसद का पथ-प्रदर्शन करता है। समस्त सरकारी विधेयक उसके निरीक्षण में तथा उसके परामर्श के अनुसार ही तैयार किये जाते हैं और वार्षिक आय-व्यय तैयार करने में भी प्रधानमन्त्री का प्रमुख हाथ रहता है। सदन के अध्यक्ष तथा विरोधी दल के नेता के परामर्श से वह संसद का समय विभाजन तथा कार्यक्रम तैयार करता है और दलीय सचेतकों के माध्यम से वह दल के सदस्यों को आवश्यक आदेश देता है। संसद में शासन की नीति से सम्बन्धित अन्तिम तथा अधिकृत घोषणा प्रधानमन्त्री के द्वारा ही की जाती है। लोकसदन के नेता के रूप में उसकी एक अन्य महत्वपूर्ण शक्ति लोकसदन को विघटित करने की है। प्रधानमन्त्री सम्राट को लोकसदन विघटित करने की सिफारिश करता है और सम्राट साधारणतया उसे अस्वीकार नहीं कर सकता। प्रधानमन्त्री के हाथ में यह बहुत ही शक्तिशाली अस्त्र होता है जिसके आधार पर वह लोकसदन के सदस्यों को अनुशासित और नियन्त्रित रखता है।

प्रधानमन्त्री द्वारा लोकसदन का नेतृत्व किये जाने के कारण बजट सहित व्यवस्थापन का समस्त कार्य प्रधानमन्त्री की इच्छानुसार सम्पन्न होता है और इसी कारण ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को अमरीकी राष्ट्रपति से भिन्न और उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है। अमरीका में अध्यक्षीय शासन-व्यवस्था होने के कारण राष्ट्रपति व्यवस्थापन कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखता और अनेक बार कानून-निर्माण के सम्बन्ध में उसकी स्थिति नितान्त असहाय होती है; लेकिन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री न केवल शासन वरन् कानून-निर्माण के क्षेत्र में भी नेतृत्व करता है। इसी आधार पर प्रधानमन्त्री के सम्बन्ध में रेन्डे म्योर लिखते हैं, "उसको इतनी अधिक शक्तियां प्राप्त हैं जितनी कि संसार में अन्य किसी संवैधानिक शासक को, यहां तक कि संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति को भी प्राप्त नहीं हैं। जब तक लोकसदन में उसके दल का बहुमत रहता है, वह ऐसे कार्य करता है जो कि एक राष्ट्रपति भी नहीं कर सकता। वह विश्वास के साथ पहले से ही यह वचन दे सकता है कि अमुक सन्धि कर ली जायेगी और उसे सम्पुष्टि प्रदान की जायेगी, कि संसद द्वारा अमुक कानून पास किया जायेगा अथवा अमुक धनराशि को स्वीकृति दे दी जायेगी।"

(7) मन्त्रिमण्डल और सम्राट के बीच की कड़ी—प्रधानमन्त्री सम्राट का मुख्य परामर्शदाता तथा मन्त्रिमण्डल और सम्राट के बीच सम्पर्क स्थापितकर्ता होता है। मन्त्रिमण्डल के निश्चयों

और शासन सम्बन्धी अन्य निर्णयों की सूचना प्रधानमन्त्री सम्राट को देता है और इनके सम्बन्ध में सम्राट द्वारा किये गये परामर्श को वह मन्त्रिमण्डल तक पहुंचाता है। 19वीं सदी तक प्रधानमन्त्री की उपेक्षा करके अन्य मन्त्री सम्राट से सीधा सम्पर्क स्थापित कर लेते थे, लेकिन आजकल यह परम्परा हो गयी है कि अन्य मन्त्री प्रधानमन्त्री की सहमति से ही सम्राट से भेंट कर सकते हैं। प्रधानमन्त्री का यह सामान्य-सा प्रतीत होने वाला कार्य व्यवहार में पर्याप्त महत्व रखता है।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व—राजनीतिक, आर्थिक और अन्य महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में ब्रिटेन का प्रतिनिधित्व प्रधानमन्त्री के द्वारा ही किया जाता है। सन् 1929 में मैकडानल्ड ने अमरीकी राष्ट्रपति हूवर के साथ बार-बार वार्तालाप करके इंग्लैण्ड तथा अमरीका के बीच सम्बन्ध स्थापन में प्रशंसनीय योग दिया था। चैम्बरलैन ने हिटलर से वार्तालाप कर म्यूनिख समझौते पर हिटलर के हस्ताक्षर कराये थे, यद्यपि उस समय विदेशमन्त्री पद पर लॉर्ड हेलेफेक्स थे। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान विंस्टन चर्चिल 6 बार अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा दो बार रूस के सर्वोच्च नेता स्टालिन से मिलने के परिणामस्वरूप ही मित्र राष्ट्रों की युद्ध नीति निश्चित हो सकी थी।

(9) राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ सम्बन्ध—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री का यह भी कार्य है कि वह राष्ट्रमण्डलीय देशों से सम्पर्क स्थापित रखे और महत्वपूर्ण विषयों में उनसे परामर्श लेता रहे। 1973 के आरम्भ में ब्रिटेन द्वारा 'यूरोपियन आर्थिक समुदाय' (E.C.M.) की जो सदस्यता प्राप्त की गयी, उसके लिए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री हेरल्ड विल्सन और एडवर्ड हीथ के द्वारा अनेक बार राष्ट्रमण्डलीय देशों से सम्पर्क स्थापित किया गया, जिससे आर्थिक समुदाय की सदस्यता के साथ राष्ट्रमण्डलीय हितों की भी रक्षा की जा सके। राष्ट्रमण्डलीय देशों के विचार-विमर्श के लिए प्रधानमन्त्री समय-समय पर उनका सम्मेलन बुलाते रहते हैं। इस सम्मेलन की अध्यक्षता भी ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ही करते हैं।

(10) प्रधानमन्त्री राष्ट्र का नायक—इन सबके अतिरिक्त, एक तथ्य जो प्रधानमन्त्री को ब्रिटिश राजनीति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बना देता है, यह है कि वर्तमान समय में सामान्य निर्वाचन प्रधानमन्त्री का ही निर्वाचन होता है। राजनीतिक दलों के द्वारा अपनी नीतियों के आधार पर नहीं, वरन् अपने नेता के व्यक्तित्व के आधार पर चुनाव लड़े जाते हैं। 1945 का आम चुनाव अनुदार दल के द्वारा चर्चिल के नाम पर ही लड़ा गया था और अनुदार दल का प्रमुख नारा था 'उसको युद्ध का अधूरा काम पूरा करने दो' (Help him to finish the job)। यह बात बीसवीं सदी के सभी ब्रिटिश चुनावों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जून 2005 ई. में सम्पन्न लोक सदन के चुनावों (आम चुनावों) में जनता को इस बात का निर्णय करना था कि वह प्रधानमन्त्री के रूप में टोनी ब्लेयर को चाहती है या माइकल हावर्ड तथा जनता ने टोनी ब्लेयर के पक्ष में ऐतिहासिक निर्णय दिया। जैनिंग्स के शब्दों में, "सामान्य निर्वाचन प्रधानमन्त्री का ही निर्वाचन है। दुर्लभ मतदाता जो चुनाव परिणाम निश्चित करते हैं वे न तो किसी दल का समर्थन करते हैं और न किसी नीति का ही, वरन् वे एक नेता का समर्थन करते हैं।" लास्की ने इन चुनाव परिणामों के सम्बन्ध में लिखा है कि "इस प्रकार की चुनावबाजी से प्रधानमन्त्री राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है और इसलिए जब तक वह प्रधानमन्त्री रहता है उसका कोई सहयोगी उसका मुकाबला करने का साहस नहीं करता।"²

1 "A General Election is primarily an election of the Prime Minister. The wavering voters who decides election, support neither a party nor policy, they support a leader."
—Jennings, *Cabinet Government*, p. 185.

2 H. J. Laski, *Parliamentary Government in England*, p. 242.

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि “प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का प्रधान, संसद का नेता, सामान्य नीति से सम्बन्धित विषयों पर सम्राट के विचार विनिमय करने का माध्यम, देश में दल का सर्वमान्य नेता और सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का मूर्तिमान स्वरूप होता है।”¹

मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री की स्थिति

प्रधानमन्त्री पद के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मन्त्रिमण्डल में या अपने सहयोगियों के बीच में प्रधानमन्त्री को क्या स्थिति प्राप्त होती है? इस सम्बन्ध में परम्परागत रूप से प्रधानमन्त्री को ‘समकक्षों में प्रधान’ (*Primus inter pares*) कहा जाता रहा है। लॉर्ड मार्ले ने उसे ‘समान पद वाले सहयोगियों में प्रमुख’ ही कहा है। लेकिन प्रधानमन्त्री की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए मार्ले के वाक्यांश ‘समकक्षों में प्रथम’ को वर्तमान समय में उपयुक्त नहीं समझा जाता है। वर्तमान दृष्टिकोण यह है कि प्रधानमन्त्री को मन्त्रिमण्डल में जो महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है, उसे देखते हुए प्रधानमन्त्री को ‘समकक्षों में प्रथम’ नहीं वरन् ‘मन्त्रिमण्डल का अधिपति’ ही कहा जाना चाहिए। रैम्जे म्योर इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि “प्रधानमन्त्री को समकक्षों में प्रथम कहना सर्वथा भ्रममूलक है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का अधिपति होता है, उसे जीवन देता है और उसका संहार करता है, वह बहुमत दल का नेतृत्व करता है, उच्च पदाधिकारियों को नियुक्त करता और लोकसदन का नेतृत्व करता है। इन सब कारणों से अन्य मन्त्री, उसकी बराबरी नहीं करते।” मार्ले के विवरण को उपयुक्त न मानकर सर विलियम हार्कोर्ट ने लैटिन वाक्यांश में प्रधानमन्त्री को ‘नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा’² कहा है, लेकिन डॉ. जैनिंग्स इस वाक्यांश को भी पर्याप्त प्रभावपूर्ण न मानते हुए कहते हैं कि “प्रधानमन्त्री केवल सामान्य श्रेणी वालों में प्रथम ही नहीं है और न केवल हार्कोर्ट के शब्दों में ‘सितारों के बीच चन्द्रमा’ ही है, वह सूर्य के सदृश है जिसके चारों ओर अन्य नक्षत्र घूमते रहते हैं।”³ सर एन्थोनी ईडन, लॉर्ड बटलर, सर एलक डगलस होम और हेरल्ड विल्सन⁴, आदि के द्वारा महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों से निवृत्त होने के बाद जो संस्मरण लिखे गये, उन सभी में इस बात पर बल दिया गया है कि इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था और राजनीति में मन्त्रिमण्डल के अन्दर और बाहर प्रधानमन्त्री के समान सत्ता रखने वाला या उसे चुनौती देने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता और समय के साथ प्रधानमन्त्री की शक्तियों में वृद्धि हो रही है।⁵

वर्तमान समय में ब्रिटिश मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग राजनीतिक दलों की नीतियों के आधार पर नहीं वरन् उसके नेता के व्यक्तित्व के आधार पर करते हैं। इस प्रकार सामान्य निर्वाचन प्रधानमन्त्री का निर्वाचन हो गया है और इससे प्रधानमन्त्री को अपने साथियों पर छा जाने का अवसर मिलता है।

क्या प्रधानमन्त्री अधिनायक है?

प्रधानमन्त्री के व्यापक अधिकार और ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में उसके अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान को देखते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रधानमन्त्री अधिनायक है? रैम्जे म्योर

1 *Finer, The Theory and Practice of Modern Government*, p. 68.

2 *Inter stella luna Minores* (a moon among the lesser stars).

—Sir William Harcourt

3 “He is not merely *primus inter pares*. He is not even as Harcourt said a moon among the stars. He is rather a sun round which planets revolves.”

—Jennings, *Cabinet Government*, p. 150.

4 *Harold Wilson The Government of Britain* (1976).

5 *John P. Mackintosh, Ibid.*, p. 69.

के द्वारा प्रधानमंत्री के पद के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही विचार व्यक्त किया गया है। लेकिन प्रधानमंत्री की अधिनायक के रूप में कल्पना करना वस्तुतः निराधार है। प्रधानमंत्री के सहयोगियों में से कुछ को निश्चित रूप से ब्रिटिश राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है और यद्यपि अधिकांश बातों के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल प्रधानमंत्री की बात स्वीकार कर लेता है, लेकिन कुछ बातों के सम्बन्ध में उसे मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की बात स्वीकार करनी पड़ सकती है। यह बात आन्तरिक प्रशासन और परराष्ट्र सम्बन्धों के संचालन दोनों के सम्बन्ध में सत्य है। प्रधानमंत्री पर संसद के अन्दर और बाहर अपने राजनीतिक दल, लोकसदन, लोकसेवाएं, दबाव गुट और प्रेस, आदि साधनों का प्रभावशाली नियन्त्रण रहता है और प्रधानमंत्री द्वारा अत्यधिक मनमानी किये जाने पर उसे पदच्युत भी किया जा सकता है। डॉ. फाइनर लिखते हैं “कि प्रधानमंत्री सीज़र (Caesar) नहीं होता, वह ऐसी दैवी शक्ति नहीं है जिसे चुनौती न दी जा सके। उसके विचार भी अनुल्लंघनीय नहीं हैं। उसकी सत्ता का एकमात्र आधार यह है कि वह राष्ट्र की कितनी सेवा कर सकता है। किसी भी समय उसका प्रतिद्वन्दी उसका स्थान ग्रहण कर सकता है।”¹

प्रधानमंत्री चुनाव के आधार पर एक निश्चित समय के लिए ही सत्ता प्राप्त करता है और यदि वह अपने कार्यकाल में अनुचित कार्य करता है अथवा अपने प्रति जनता की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर पाता तो निर्वाचक अगले चुनाव में उसे सत्ताहीन कर सकते हैं। उसके कार्य अधिक अनुचित होने पर उसे चुनाव के पूर्व भी लोकसदन या उसके दल द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। प्रधानमंत्री को अधिनायक इसलिए भी नहीं कहा जा सकता है कि संसद के अन्दर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में उसकी आलोचनाएं होती रहती हैं। एक अधिनायक के समान वह आलोचकों को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता वरन् एक प्रजातान्त्रिक नेता के समान सहनशीलता का परिचय देते हुए वह आलोचकों की शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा करता है। प्रधानमंत्री अधिनायक इसलिए भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी शक्तियां मौलिक नहीं होतीं। वे लोकसदन में उसके दल के बहुमत और दल में उसके नेतृत्व पर निर्भर करती हैं और दोनों में से एक भी स्थिति के समाप्त हो जाने पर वह कुछ भी नहीं रहता है। इन्हीं बातों के आधार पर कार्टर और अन्य लेखकों का मत है कि प्रधानमंत्री अधिनायक नहीं हो सकता। कार्टर लिखते हैं कि “प्रधानमंत्री कुछ अवसरों पर अपनी शक्तियों का भले ही मनमाने रूप में प्रयोग करे और आलोचना पर क्रुद्ध होने का भाव भी प्रकट करे, किन्तु मूलभूत रूप में यह मान्यता सदैव विद्यमान रहती है कि वह जनता का सेवक है और जनता को उसकी आलोचना करने तथा उसे पदच्युत करने का अधिकार है। उसकी यह स्थिति किसी भी रूप में अधिनायक के अनुरूप नहीं कही जा सकती।” 1976 ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक ‘*The Governance of England*’ में भूतपूर्व प्रधानमंत्री हैराल्ड विल्सन ने स्वयं अपने अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया है कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री अधिनायक की स्थिति से बहुत अधिक दूर है और उसे कैबिनेट में अपने सहयोगियों, अपने राजनीतिक दल और लोकसदन, आदि में स्थिति को ध्यान में रखकर ही आचरण करना होता है। गत एक दशक के राजनीतिक घटनाचक्र ने पहले की भांति पुनः यह स्पष्ट कर दिया कि प्रधानमंत्री अधिनायक नहीं हो सकता। यदि प्रधानमंत्री पदधारी व्यक्ति अपने संसदीय दल को साथ लेकर नहीं चल पाता, तो संसदीय दल अपने नेतृत्व में परिवर्तन कर लेता है। 1990 में अनुदार दल ने माग्रेट थैचर के स्थान पर जॉन मेजर को संसदीय दल का नेता और इस प्रकार प्रधानमंत्री बना दिया। इसी प्रकार जून 2007 ई. में मजदूर दल ने टोनी ब्लेयर के

1 Finer, *The Theory and Practice of modern Government*, p. 58.

स्थान पर जेम्स गोर्डन ब्राउन को अपना नेता बना दिया। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रधानमन्त्री जनता की आशाओं को पूरा नहीं कर पाता, तो जनता आम चुनाव में सत्तारूढ़ दल को ही अस्वीकार कर देती है। ब्रिटेन में स्वस्थ दलीय व्यवस्था है, जन जागरूकता है, लोकतान्त्रिक राजनीति से जुड़ी स्वस्थ परम्पराएं हैं और इन सब बातों के कारण प्रधानमन्त्री के तानाशाह बनने की स्थिति नहीं हो सकती।

प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति और उसके निर्धारक तत्व

यह तो नितान्त स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही कुछ अवसरों पर भले ही वह बहुत अधिक शक्तिशाली रूप में कार्य करे, किन्तु वह किसी भी रूप में अधिनायक नहीं है। व्यवहार में ऐसा देखा गया कि प्रधानमन्त्री पद कभी तो बहुत अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली हो जाता है, लेकिन कभी यह निर्बल ही दिखायी देता है। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रधानमन्त्री की स्थिति को प्रभावित करने वाले तत्व कौन-से हैं? इन तत्वों की विवेचना प्रमुखतया निम्न रूपों में की जा सकती है :

(1) प्रधानमन्त्री का व्यक्तित्व—प्रधानमन्त्री पद की स्थिति सबसे प्रमुख रूप में इस पद को धारण करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। लॉर्ड ऐस्किवथ के मतानुसार, “प्रधानमन्त्री का पद वैसा ही बन जाता है, जैसा कि इस पद का अधिकारी उसे बनाना चाहता है।”¹ एक ओर सर रॉबर्ट पील, रूडोल्फ़, डिज़रैली, लॉयड जॉर्ज और विंस्टन चर्चिल जैसे व्यक्ति प्रधानमन्त्री हो चुके हैं, जिनके समय में प्रधानमन्त्री पद ने नवीन ऊंचाइयों का स्पर्श किया। दूसरी ओर वाल्डविन तथा एटली जैसे प्रधानमन्त्री हो चुके हैं जो सहयोगियों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में असफल रहे। कहा जाता है कि रूडोल्फ़ के अधिकार को उसके किसी सहयोगी ने चुनौती नहीं दी और डिज़रैली उस समय भी अपना दृष्टिकोण मनवाने में सफल रहा, जब एक सहयोगी के अतिरिक्त सभी ने उसका विरोध किया था। अतः जैनिंग्स का यह कथन सर्वथा सत्य है कि “प्रधानमन्त्री के पद की स्थिति वही होती है जो पद को ग्रहण करने वाला चाहता है और मन्त्री उसे बनने देते हैं।”

(2) लोकसदन में उसके दल और दल में उसकी स्थिति—प्रधानमन्त्री का पद निश्चित रूप से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है लेकिन इसके साथ ही, जैसा कि लार्स्की ने कहा है ‘उसकी स्थिति दलीय प्रणाली से बंधी हुई है।’ जब तक उसके राजनीतिक दल का लोकसदन में बहुमत रहता है और वह अपने राजनीतिक दल का नेता है, तभी तक उसे राष्ट्रीय महत्व की स्थिति प्राप्त रहती है। दल के समर्थन से वंचित हो जाने पर उसका समस्त महत्व समाप्त हो जाता है और उसका हाल रैन्जे मैकडानल्ड जैसा हो जाता है। नवम्बर 1990 में मारग्रेट थैचर की भी यही स्थिति हुई। थैचर को त्यागपत्र देना पड़ा और 28 नवम्बर 1990 को जॉन मेजर ने प्रधानमन्त्री पद का कार्यभार ग्रहण किया।

(3) तत्कालीन परिस्थितियाँ—प्रधानमन्त्री की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसके कार्यकाल के समय परिस्थितियाँ किस प्रकार की हैं। सामान्य परिस्थितियाँ होने पर प्रधानमन्त्री को अपने पद की सीमाएं दृष्टि में रखती ही होती हैं, किन्तु युद्ध, आर्थिक संकट या अन्य प्रकार के विषम काल में बहुत अधिक सीमा तक केवल अपने विवेक के आधार पर कार्य कर सकता है। लॉयड जॉर्ज और चर्चिल के बहुत अधिक शक्तिशाली प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य करने का एक कारण उनके कार्यकाल के समय विद्यमान युद्धकालीन स्थिति रहा है।

1 “The office of the Prime Minister is what its holder chooses to make it.”

—Lord Oxford and Asquith

जैनिंग्स के शब्दों में, “प्रधानमन्त्री की शक्ति तथा उसका महत्व कुछ उसके व्यक्तित्व पर, कुछ उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा पर तथा कुछ उसे प्राप्त दल के समर्थन पर निर्भर करता है।”¹

प्रधानमन्त्री की स्थिति को निर्धारित करने वाले कुछ अन्य तत्व हैं : मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री की स्थिति और प्रधानमन्त्री को व्यावहारिक राजनीति में प्राप्त सफलताएं-असफलताएं, आदि।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश संविधान में मन्त्रिमण्डल के गठन, कृत्यों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. “वर्तमान युग में लोकसदन मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण नहीं रखता, वरन् मन्त्रिमण्डल ही लोकसदन पर नियन्त्रण रखता है।” इस कथन की विवेचना कीजिए तथा इस स्थिति के कारणों को स्पष्ट कीजिए।
3. “ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब का मुख्य प्रस्तर है।” ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के अधिकार तथा महत्व के प्रसंग में इस कथन की विवेचना कीजिये।
4. “ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल राज्य रूपी जहाज का यन्त्र है और प्रधानमन्त्री उस यन्त्र का चालक।” इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. क्या आप इस विचार का समर्थन कर सकते हैं कि ब्रिटेन का मन्त्रिमण्डल एक तानाशाह है? यदि हां तो किस सीमा तक?
6. ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की शक्तियों, कृत्यों तथा वास्तविक स्थिति का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल का गठन किस प्रकार होता है?
2. मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल में अन्तर कीजिए।
3. मन्त्रिमण्डल के दो प्रमुख कार्य बताइए।
4. सिद्धान्त में मन्त्रिमण्डल और संसद के बीच सम्बन्धों की स्थिति क्या है?
5. व्यवहार की दृष्टि से मन्त्रिमण्डल और संसद के बीच सम्बन्धों की स्थिति क्या है?
6. आज की परिस्थितियों में मन्त्रिमण्डल को अधिक महत्ता की स्थिति प्राप्त हो गई है, इसके कारण क्या हैं?
7. ‘मन्त्रिमण्डल अधिनायक नहीं है’—इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
8. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है?
9. मन्त्रिमण्डल के निर्माण, कार्य संचालन और अन्त में प्रधानमन्त्री की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
10. ‘प्रधानमन्त्री लोकसदन का नेतृत्व करता है’ स्पष्ट कीजिए।
11. मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री की स्थिति स्पष्ट कीजिए।
12. क्या प्रधानमन्त्री अधिनायक है?
13. प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति और प्रधानमन्त्री की स्थिति के निर्धारक तत्व बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. “वास्तव में किसी अधिनायक को ही अपनी कैबिनेट के निर्माण में इतनी अधिक स्वेच्छाचारी शक्ति प्राप्त होती है जितनी कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को” यह कथन है :

(अ) लास्की का

(ब) लॉवेल का

✓(स) एमरी का

(द) जैनिंग्स का

1 “His power and importance depend in part on his personality, in part on his own personal prestige and in part upon his party support.”

—Jennings, *The British Constitution*, p. 18.

2. ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की जननी संस्था है :
 (अ) लार्ड सभा (ब) लोकसदन
 (स) प्रिवी परिषद् (Privy Council) (द) संसद
3. ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल के बहुत अधिक शक्तिशाली होने का कारण है :
 (अ) कठोर दलीय अनुशासन (ब) राजतन्त्र
 (स) विधि का शासन (द) राजपद
4. 'छाया मन्त्रिमण्डल' (Shadow Cabinet) कौन बनाता है ?
 (अ) लार्ड चांसलर (ब) सम्राट
 (स) संसद में विपक्ष का नेता (द) प्रधानमन्त्री
5. प्रधानमन्त्री को 'समान पदों में प्रथम' किसने बताया है ?
 (अ) लार्ड मार्ले ने (ब) बेजहॉट ने
 (स) डायसी ने (द) डिजरेली ने
6. प्रधानमन्त्री पद के सम्बन्ध में अब यह परम्परा बन गई है कि,
 (अ) प्रधानमन्त्री सम्राट की संसद का व्यक्ति होगा।
 (ब) प्रधानमन्त्री प्रिवी परिषद् का सदस्य हो सकता है।
 (स) प्रधानमन्त्री लार्ड सभा का सदस्य हो सकता है।
 (द) लोकसदन (कॉमन सभा) का सदस्य ही प्रधानमन्त्री हो सकता है।
7. प्रधानमन्त्री को 'नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा' किसने कहा है ?
 (अ) ग्लैडस्टन ने (ब) विलियम हारकोर्ट ने
 (स) जैनिंग ने (द) लास्की ने
8. 'युद्धोत्तर काल में मन्त्रिमण्डलीय शासन 'प्रधानमन्त्री के शासन' में परिणत हो रहा है' यह कथन है :
 (अ) डायसी का (ब) ग्रेम सी. मूडी का
 (स) आर. एच. एस. क्रासमैन का (द) विलियम हारकोर्ट का
9. 'लोकसदन के प्रांगण में आजकल केबीनेट कभी पराजित होती ही नहीं है' यह कथन है :
 (अ) हरमन फाइनर का (ब) लास्की का
 (स) सिडनी लो का (द) एडम्स का
- [उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (अ), 4. (स), 5. (अ), 6. (द), 7. (ब), 8. (स), 9. (स)]
- प्रश्न 10. प्रधानमन्त्री को सरकारी प्रपत्रों में किस नाम से जाना जाता है ?
 [उत्तर—'राजकीय कोष का प्रथम लार्ड, इंग्लैंड का प्रधानमन्त्री' (First Lord of His Majesty's Treasury; Prime Minister of England)]
- प्रश्न 11. 'छाया मन्त्रिमण्डल' किसे कहते हैं ?
 [उत्तर—लोकसदन में विपक्ष के नेता द्वारा गठित मन्त्रिमण्डल को 'छाया मन्त्रिमण्डल' कहा जाता है।]
- प्रश्न 12. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
 (i) 'How Britain is Governed' पुस्तक के लेखक हैं...
 (ii) Cabinet Government पुस्तक के लेखक हैं...
 (iii) 'Parliamentary Government In England' पुस्तक के लेखक हैं...
 (iv) प्रधानमन्त्री पद का अस्तित्व सबसे पहले जिस अधिनियम में स्वीकार किया गया है वह है...
- [उत्तर—(i) रैजेन्थो, (ii) जैनिंग (iii) लास्की, (iv) 'राजमुकुट के मन्त्रियों से सम्बन्धित कानून 1937, (Minister of the Crown Act, 1937)]

5

नौकरशाही या लोक सेवाएं

(BUREAUCRACY OR CIVIL SERVICES)

“मुझे सन्देह है कि आप लोग (लोक सेवा के सदस्यगण) हमारे (अर्थात् मन्त्रिमण्डल के) बिना विभाग का प्रशासन कर सकते हैं, किन्तु मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि हम लोग (मन्त्रिगण) आप लोगों (लोक सेवा के सदस्यों) के बिना विभाग का कार्य नहीं कर सकेंगे”¹

—जोजेफ चैम्बरलैन

मन्त्रिमण्डल ब्रिटेन की कार्यपालिका है और प्रशासन के क्षेत्र में मन्त्रिमण्डल के कार्य तथा शक्तियाँ निश्चित रूप से बहुत अधिक व्यापक हैं लेकिन व्यवहार में मन्त्रिमण्डल की इन समस्त शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही नहीं करता वरन् इन कार्यों का एक बहुत बड़ा भाग लोक सेवाओं द्वारा किया जाता है। मन्त्रिमण्डल तो उच्चतम स्तर पर शासन सम्बन्धी नीति को ही निर्धारित करता है। इस नीति को कार्यरूप देने और इसके अनुसार शासन-व्यवस्था का संचालन सम्भव बनाने के लिए मन्त्रिगणों के अधीन लोक सेवाओं का एक विशाल समूह होता और शासन के संचालन का अधिकांश कार्य इन लोक सेवकों के द्वारा ही किया जाता है। इस दृष्टि से लोक सेवाएं ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण अंग हैं।

लोक सेवाओं का सामान्य परिचय

ब्रिटेन की लोक सेवाएं अपने वर्तमान रूप में लगभग एक सदी पुरानी ही हैं। वर्तमान समय में इन सेवाओं का जो स्वरूप है वह ‘ट्रेवेलियन नार्थकोर्ट रिपोर्ट’ की सिफारिशों और उनके आधार पर स्थापित की गयी ‘मुक्त प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं’ पर आधारित है। 19वीं सदी तक इंग्लैण्ड में लोक सेवकों की नियुक्ति अनुग्रह (Patronage) के आधार पर होती थी। लेकिन यह वैज्ञानिक पद्धति नहीं थी और अनेक बार इसके कारण महत्वपूर्ण पदों पर अयोग्य तथा अक्षम व्यक्ति आसीन हो जाते थे। बर्क, बेन्थम कार्लायल, आदि के द्वारा इस प्रकार की नियुक्ति प्रथा की आलोचना की गयी। 1853 में नार्थकोर्ट ट्रेवेलियन रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश लोक सेवाओं में सुधार शुरू हुए। 1855 में ग्लैडस्टन के अनुरोध पर ‘लोक सेवा आयोग’ की स्थापना की गयी और 1870 में नागरिक सेवाओं में प्रवेश के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं का श्रृंगारण हुआ। इसके बाद लोक सेवाओं के संगठन, आदि में सुधार के लिए

1 “I have a shrewd suspicion that you (Civil Servants) can do without us (Minister), but I have an absolute conviction that we could not do without you (Civil Servants).”

—Joseph Chamberlain (Quoted from L. W. Body) (Ed.)

Mr. Chamberlain Speeches, Vol. II, p. 7.

सन् 1875, 1884-90, 1910-14, 1918 और 1931 में जांच के लिए समितियां नियुक्त की गयीं और इन समितियों की सिफारिशों के आधार पर अनेक सुधारात्मक कानूनों का निर्माण हुआ।

लोक सेवाओं का वर्गीकरण

प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में लोक सेवाओं की व्यवस्था की गयी है और वर्तमान समय में ब्रिटेन के समस्त लोक सेवा कर्मचारियों को पद सोपानात्मक आधार पर 6 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये वर्ग इस प्रकार हैं :

- (1) प्रशासनिक वर्ग (Administrative Class)
- (2) अधिशासी वर्ग (Executive Class)
- (3) विशिष्ट वर्ग (Specialist Class)
- (4) लिपिक वर्ग (Clerical Class)
- (5) लेखन सहायक वर्ग (Writer Assistant Class)
- (6) सन्देशवाहक व निम्न वर्ग (Messengerial and Minor Class)

इन सबके अतिरिक्त डाक विभाग, टेलीफोन विभाग, शिक्षा विभाग, आदि में 'विभागीय वर्ग' भी होते हैं, जिनकी नियुक्ति सम्बन्धित विभागों द्वारा की जाती है। वर्तमान समय में ब्रिटेन में समस्त लोक कर्मचारियों की संख्या 7 लाख के लगभग है।

लोक सेवाओं के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें

भर्ती की पद्धति—प्रारम्भ में लोक सेवकों की नियुक्ति शासक वर्ग के अनुग्रह के आधार पर की जाती थी, लेकिन विभिन्न पदों के लिए योग्य व्यक्तियों का चयन करते हुए 1855 में लोक सेवा आयोग की स्थापना की गयी। प्रारम्भ में इस आयोग के 3 सदस्य होते थे, किन्तु अब उनकी संख्या बढ़ाकर 6 कर दी गयी है। आयोग के सदस्य लोक सेवा के पुराने अनुभवी पदाधिकारी होते हैं। इनकी नियुक्ति राजमुकुट द्वारा की जाती है और ये अवकाश ग्रहण की आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं।

लोक सेवा आयोग प्रतियोगात्मक परीक्षाओं का आयोजन करता है। इन परीक्षाओं में उम्मीदवारों की सामान्य योग्यता देखी जाती है और साक्षात्कार के आधार पर उनकी चतुराई, चरित्र-गठन और नेतृत्व के गुणों का अनुमान लगाया जाता है। आयोग के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं :

- (i) सरकारी पदों पर नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की योग्यता प्रमाणित करना,
- (ii) नियुक्ति एवं योग्यता सम्बन्धी नियमों का निर्धारण करना,
- (iii) नियुक्तियों एवं पद वृद्धियों की सूचना 'लन्दन गजट' में प्रकाशित करना।

आयोग यह सब कार्य वित्त विभाग की स्वीकृति से करता है। नियुक्ति-कार्य वित्त विभाग के नियन्त्रण में विविध विभागों द्वारा सम्पादित होता है, परन्तु स्वस्थ परम्परा के रूप में आयोग की सिफारिश कभी भी अमान्य नहीं होती।

प्रशिक्षण—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक लोक कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। 1944 में नियुक्त की गयी एक समिति ने सुझाव दिया कि नये भर्ती किये गये कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रशिक्षण का कार्य मुख्यतः विभागों द्वारा होता है। कोष की ओर से भी एक 'प्रशिक्षण एवं सेवा विभाग' की व्यवस्था की

गयी। समस्त नियुक्तियां 'परिवीक्षाधीन (Under Probation) होती हैं। सामान्यतः परिवीक्षा काल 2 वर्ष होता है और इसमें योग्य पाये जाने पर उन्हें स्थायी कर दिया जाता है। योग्यता में कमी पायी जाने पर परिवीक्षा का काल बढ़ा दिया जाता है।

पदोन्नति—ब्रिटेन में पदोन्नति का आधार वरिष्ठता एवं योग्यता है। इसके लिए प्रत्येक विभाग में एक 'पदोन्नति आयोग' होता है जिसमें विभाग के मुख्य अधिकारीगण होते हैं, जो वार्षिक प्रतिवेदन और आवश्यक समझने पर साक्षात्कार के आधार पर विभागीय अध्यक्ष के पास सिफारिश भेजते हैं। यदि कोई कर्मचारी पदोन्नति आयोग की सिफारिश से असन्तुष्ट हो तो वह अपील कर सकता है।

पदावधि—ब्रिटेन में लोक सेवक स्थायी आधार पर नियुक्त किये जाते हैं और सरकार के परिवर्तन का उनकी स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। सामान्यतया उनकी पद-निवृत्ति आयु 60 से 65 वर्ष के बीच होती है। पद-निवृत्ति होने पर उन्हें 'निवृत्ति-वेतन' (Gratuity) मिलती है और उन्हें पेंशन दिये जाने की भी व्यवस्था है।

लोक सेवाओं के कार्य और उनका महत्व

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल को जो व्यापक अधिकार और शक्तियां प्राप्त हैं, व्यवहार में उनके अधिकांश का प्रयोग लोक सेवाओं के द्वारा किया जाता है। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मन्त्रिगण अपने-अपने विभाग के अविशेषज्ञ होते हैं, जबकि लोक सेवक विशेषज्ञ, स्वाभाविक रूप से मन्त्रियों के द्वारा लोक सेवकों की सहायता से ही अपने कर्तव्यों का सम्पादन किया जाता है। लोक सेवाएं ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग हैं और उनके कार्य की विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती हैं :

(1) नीति निर्धारण में मन्त्रियों की सहायता देना—यद्यपि शासन की नीति निर्धारित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है; लेकिन नीति-निर्धारण करने के लिए आवश्यक ज्ञान, तथ्य और सूचनाएं उच्च पदासीन स्थायी पदाधिकारियों के द्वारा उन्हें प्रदान की जाती हैं। ये स्थायी पदाधिकारी मन्त्रियों को बताते हैं कि एक विशेष प्रकार की नीति को अपनाने के परिणाम क्या हो सकते हैं? स्वयं प्रधानमन्त्री भी योग्यतम स्थायी पदाधिकारियों से नीति-निर्धारण के सम्बन्ध में परामर्श प्राप्त करते हैं। लोक सेवा के कार्यों के सम्बन्ध में एफ. ई. डेल (F. E. Dale) ने कहा है कि "महान् स्थायी पदाधिकारी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य मन्त्रियों द्वारा किये गये निर्णयों को क्रियान्वित करना नहीं है, वरन् उन्हें यह परामर्श देना है कि वे क्या निर्णय लें।"

(2) मन्त्रियों द्वारा निर्धारित नीतियों को लागू करना—मन्त्रिमण्डल द्वारा विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में जो नीति निर्धारित की जाती है उसे इन लोक सेवाओं द्वारा ही क्रियान्वित किया जाता है। उच्च पदासीन लोक सेवक इन नीतियों के आधार पर अधीनस्थ कार्यालयों को आदेश जारी करते हैं और इन आदेशों के आधार पर ही प्रशासनिक कार्य सुचारु रूप से चलता है।

(3) मन्त्रियों को परामर्श देना—प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से शासन को विभिन्न विभागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष कोई-न-कोई मन्त्री होता है

1 "The most important function of the great permanent official is not to carry out decisions already taken by ministers, but to advice them what decision they should take."

—F. E. Dale (Quoted from Alex. N. Draginich, *Major Governments of Europe*, p. 131.

और उसके नीचे राजनीतिक उपसचिव, फिर स्थायी सचिव और उसके नीचे अनेक सचिव, परामर्शदाता, सहायक सचिव और बहुत-से-क्लर्क होते हैं। नीचे की श्रेणी के ये सब लोग अपने-अपने कार्यों के विशेषज्ञ होते हैं। इन स्थायी पदाधिकारियों द्वारा मन्त्रियों की आज्ञाओं का पालन तो किया ही जाता है, वे शासन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में मन्त्रियों को परामर्श भी देते हैं। वे अपना समस्त ज्ञान और अनुभव अपने राजनीतिक प्रधान के सामने रख देते हैं, चाहे मन्त्री उसे स्वीकार करे या न करे। सामान्यतया स्थायी पदाधिकारियों के इस परामर्श का मन्त्रियों पर वांछित प्रभाव पड़ता है।

(4) विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्य—ब्रिटेन में लोक सेवा के सदस्यों द्वारा विधि-निर्माण के क्षेत्र में भी भूमिका अदा की जाती है। संसदात्मक शासन-व्यवस्था होने के कारण संसद में अधिकांश महत्वपूर्ण विधेयक मन्त्रियों द्वारा ही प्रस्तावित किये जाते हैं और मन्त्रियों द्वारा प्रस्तावित इन विधेयकों के प्रारूप (Draft) या तो लोक सेवकों द्वारा ही स्वयं या मन्त्रियों द्वारा लोक सेवकों की सहायता और परामर्श से तैयार किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में 'प्रदत्त व्यवस्थापन' (Delegated legislation) की प्रवृत्ति का विकास हुआ है, जिसका परिणाम यह हुआ कि संसद कानून की मोटी रूपरेखा तैयार कर नियम-उपनियम बनाने का कार्य सम्बन्धित लोगों को सौंप देती है। सम्बन्धित विभागों में ये नियम-उपनियम तैयार करने का कार्य लोकसेवकों द्वारा ही किया जाता है।

(5) वित्त सम्बन्धी कार्य—वित्त मन्त्री द्वारा अपने विभाग के लोकसेवकों की सहायता से ही बजट तैयार करने का कार्य किया जाता है। आय और व्यय से सम्बन्धित विभिन्न बातों के विस्तृत ब्यौरे को निश्चित करने के लिए वित्तीय विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है और यह विशेषज्ञता विभाग के मन्त्री को नहीं वरन् स्थायी पदाधिकारियों को ही प्राप्त होती है।

वस्तुस्थिति यह है कि लोक सेवकों द्वारा पग-पग पर मन्त्रियों को सहायता और परामर्श देने का कार्य किया जाता है। मन्त्रियों को विभागों के कार्यों के बारे में जिन प्रश्नों का उत्तर देना होता है, उनको भी स्थायी सचिव ही तैयार करते हैं।

रैन्जे म्योर जैसे कुछ लेखकों का तो विचार है कि वर्तमान समय की प्रशासनिक व्यवस्था का संचालन वस्तुतः लोक सेवाओं के द्वारा ही किया जाता है। वे लिखते हैं कि "नौकरशाही पिछली शताब्दी में, विशेषतया पिछड़ी पीढ़ी में, हमारी सरकार की पद्धति में जितना अधिक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण तत्व बन गया है, उसे पाठ्यक्रम की पुस्तकें उतना अनुभव नहीं करती हैं। यह वास्तव में हमारी पद्धति का प्रभावशाली और सक्रिय विभाग बन गया है। नौकरशाही (स्थायी लोक सेवा) की शक्ति न केवल प्रशासन में अपितु कानून निर्माण और वित्त के क्षेत्र में भी दिखायी देती है।"

लोक सेवाओं के विशेष लक्षण और राजनीतिक कार्यपालिका से उनका भेद

ब्रिटिश लोक सेवा के कुछ विशेष लक्षण हैं जिनके आधार पर लोक सेवाओं को राजनीतिक कार्यपालिका से अलग किया जा सकता है। ये विशेष लक्षण निम्नवत् हैं :

(1) मन्त्री अविशेषज्ञ होते हैं और लोक सेवा के अधिकारी विशेषज्ञ—ग्रेट ब्रिटेन में मन्त्री राजनीतिक आधार पर लिए जाते हैं। लोकसदन के बहुमत वाले राजनीतिक दल में जिन व्यक्तियों को विशेष स्थिति प्राप्त होती है, उन्हें उनकी इस राजनीतिक स्थिति के आधार पर मन्त्रीपद प्रदान किया जाता है और इसी कारण मन्त्री अपने विभागों के विशेषज्ञ नहीं होते।

इसके विपरीत, लोक सेवाओं के अधिकारी प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर चुने जाते हैं, जिसमें चयन का आधार योग्यता ही होता है। इसके अतिरिक्त वे सेवा निवृत्ति की आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं, अतः वे बहुत अनुभवी और विशेषज्ञ होते हैं। मन्त्रियों की अविशेषज्ञता के सम्बन्ध में प्रो. मुनरो ने लिखा है, “युद्ध विभाग का मन्त्री एक दार्शनिक या पत्रकार हो सकता है, नौ सेना का अध्यक्ष कोई व्यापारी या बैरिस्टर हो सकता है, तथा व्यापार विभाग का मन्त्री कोई यूनिवर्सिटी प्रोफेसर हो सकता है। वित्त विभाग का मन्त्री एक वकील या राजनीतिज्ञ हो सकता है।” अनेक बार मन्त्री कितने अधिक अविशेषज्ञ होते हैं, इसे स्पष्ट करते हुए सर सिडनी लो ने कहा है, वित्त मन्त्रालय में द्वितीय श्रेणी के लिपिक का पद प्राप्त करने के लिए एक नवयुवक को अंकगणित की परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण होना पड़ेगा, पर वित्त मन्त्री अर्धे उम्र का एक ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो अंकों के विषय की अपनी उस थोड़ी-बहुत जानकारी को भूल चुका हो, जो उसने ईटन अथवा ऑक्सफोर्ड में प्राप्त की और कोष के हिसाब में प्रयुक्त किये गये दशमलव अंकों का मतलब जानने के लिए उत्सुक हो।”¹

(2) लोक सेवा की राजनीतिक तटस्थता—ब्रिटिश लोक सेवाओं की एक विशेषता यह है कि वे राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया तटस्थ होती हैं। चाहे किसी राजनीतिक दल की सरकार बने, वे पूरी निष्ठा के साथ पदासीन सरकार की सेवा करती हैं। इस सम्बन्ध में 1954 में लोक सेवाओं के लिए संहिता का निर्माण किया गया, जिसके अनुसार मन्त्रियों के अधीन प्रशासनिक और व्यावसायिक वर्ग के लोक सेवक व उनके साथ कार्य करने वाले लिपिक, आदि अन्य कर्मचारी देश की राजनीति में भाग नहीं ले सकते। शेष कर्मचारी अपने विभाग से अनुमति व अवकाश लेकर स्थानीय व राष्ट्रीय स्तर पर सभी प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों में भाग ले सकते हैं। कोई भी कर्मचारी बिना त्यागपत्र दिये चुनाव नहीं लड़ सकता, क्योंकि ‘लोकसदन-नियोग्यता अधिनियम, 1957’ के अनुसार लोक सेवक का पद लाभ का पद माना गया है। लोक सेवकों की इस राजनीतिक तटस्थता का ब्रिटिश शासन व्यवस्था पर स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। लोक सेवकों के राजनीतिक क्रियाकलाप के सर्वेक्षण के लिए नियुक्त समिति ने अपने प्रतिवेदन में कहा था कि “लोक सेवा की राजनीतिक तटस्थता अंग्रेजी लोकतन्त्रात्मक शासन की आधारभूत विशेषता है तथा उसके कुशल संचालन के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है।” इस दृष्टि से ब्रिटिश लोक सेवाएं अमरीकी सेवाओं से नितान्त भिन्न हैं।

(3) लोक सेवाओं का स्थायित्व—मन्त्री राजनीतिक आधार पर अधिकतम अवधि 5 वर्ष के लिए अपना पद प्राप्त करते हैं, लेकिन लोक सेवक स्थायी रूप से अर्थात् सेवा-निवृत्ति की आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं। मुनरो लिखते हैं, “मन्त्रिमण्डल और संसद आते हैं और चले जाते हैं, परन्तु स्थायी कर्मचारी मण्डल टेनीसन की सरिता की तरह अपने मार्ग पर शान्तिपूर्वक चलता रहता है।”²

(4) लोक सेवकों का अनुत्तरदायित्व—वास्तविक प्रशासन का कार्य भले ही लोक सेवा के सदस्यों द्वारा किया जाता हो, इन कार्यों के लिए लोक सेवा के सदस्य नहीं वरन् मन्त्री ही उत्तरदायी होते हैं। लोक सेवकों द्वारा तो मन्त्रियों के अधीन रहते हुए उनके उत्तरदायित्व के अन्तर्गत ही समस्त कार्य किये जाते हैं।

1 Sir Sydney Low, *Governments of England*, pp. 201-202.

2 “Cabinets and Parliaments come and go, but like Tennysons’ brook, the permanent staff keeps placidly on its way.”

—W. B. Munro, *The Governments of Europe*, 116.

इन सबके अतिरिक्त ईमानदारी और कार्यक्षमता की दृष्टि से ब्रिटिश लोक सेवाओं का स्तर बहुत अधिक उच्च है। आमण्ड और वर्बा इस सम्बन्ध में लिखते हैं, “ब्रिटिश जनता अपने लोक सेवकों में ईमानदारी और कार्यक्षमता के उच्चस्तर की अभ्यस्त है।”¹

मन्त्रियों व लोक सेवकों का सम्बन्ध

मन्त्रिगण और लोक सेवा के सदस्यों में एक महत्वपूर्ण भेद यह होता है कि मन्त्रिगण अपना पद राजनीतिक आधार पर प्राप्त करते हैं, लेकिन लोक सेवा के सदस्य प्रशासनिक योग्यता के आधार पर। मन्त्रियों को अपना पद किसी विभाग विशेष के सम्बन्ध में प्राप्त विशेष ज्ञान और अनुभव के आधार पर नहीं वरन् लोक सदन के बहुमत दल में उनकी विशेष राजनीतिक स्थिति के कारण ही प्राप्त होता है। नियुक्ति के बाद भी उन्हें प्रशासन की विभिन्न बारीकियों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने का अधिक अवसर नहीं मिलता, क्योंकि उन्हें अपने समय और शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग संसद सम्बन्धी और जन-सम्पर्क कार्यों में देना होता है। अनेक मन्त्री प्रशासनिक ज्ञान प्राप्त करने की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, क्योंकि उन्हें इस बात का विश्वास नहीं होता कि वे इस विभाग के अध्यक्ष पद पर कब तक बने रहेंगे। उनकी रुचि विभाग विशेष के सम्बन्ध में प्रशासनिक ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा राजनीतिक दल में अपनी स्थिति प्रभावशाली बनाने की ओर ही रहती है। इन सब कारणों से मन्त्री अपने विभागों के विशेषज्ञ नहीं होते हैं।

इसके नितान्त विपरीत लोक सेवा के अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाती है। नियुक्ति के बाद उन्हें प्रशिक्षण भी दिया जाता है। एक बार नियुक्ति होने के बाद उनके सामने यह स्पष्ट हो जाता है कि अब उन्हें जीवनभर प्रशासनिक क्षेत्र में कार्य करना है। स्वाभाविक रूप से उनके द्वारा शक्ति भर प्रशासनिक विशेषज्ञता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रशासनिक क्षेत्र में लम्बे समय तक कार्य करते रहने के कारण भी उन्हें इस क्षेत्र का बहुत अधिक ज्ञान और अनुभव प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार मन्त्री अपने कार्य के सम्बन्ध में अविशेषज्ञ, किन्तु लोक सेवा के सदस्य अपने कार्य में विशेषज्ञ होते हैं। इसी कारण नीति-निर्धारण व योजनाओं के प्रारूप बनाने से लेकर उनकी अन्तिम सफलता तक प्रत्येक पग पर मन्त्री लोगों को लोक सेवा के सदस्यों के सहयोग की आवश्यकता बनी रहती है। अतः सभी लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रशासनिक व्यवस्था में लोक सेवकों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होता है और उनके बिना मन्त्रियों द्वारा शासन का संचालन सम्भव नहीं है। लेकिन कुछ लोगों द्वारा इससे आगे बढ़कर इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि मन्त्री लोग लोक सेवकों पर इतने अधिक निर्भर होते हैं कि उन्हें लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली कहा जा सकता है। रैम्जे म्योर का मत है कि नीति-निर्माण, निर्णय व उनके क्रियान्वयन में लोक सेवकों का प्रभाव इतना अधिक रहता है कि मन्त्रियों को लोक सेवकों के हाथ की कठपुतली मात्र समझा जाना चाहिए। उनका कहना है कि “जब तक मन्त्री कोई स्वाभिमानी गधा न हो या वह असाधारण विवेक, शक्ति और साहस का व्यक्ति न हो (और सफल राजनीतिज्ञों में इन दोनों ही प्रकार के लोग

1 “The British people have accustomed to a reasonably high standard of honesty and competence among their public servants.”

—G. Almond and S. Verba, *The Civic Culture*, pp. 108-109.

प्रायः नहीं होते), तौ में निन्यान्वे मामलों में वह कर्मचारियों के विचार को स्वीकार कर लेता है और अंकित पंक्ति पर हस्ताक्षर कर देता है।¹

क्या मन्त्री लोक सेवकों के हाथ की कठपुतली है?

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि लोक सेवक प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और मन्त्रिगणों पर उनका पर्याप्त प्रभाव होता है, लेकिन रैन्जे म्योर जैसे लेखकों की इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मन्त्री लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली मात्र होते हैं। रैन्जे म्योर की धारणा त्रुटिपूर्ण है और उनके स्थान पर लास्की का यह विचार ठीक है कि “मन्त्री लोग चाहे कितने ही अनभिन्न और अपने विभाग के लिए नये हों नीति-निर्धारण व निर्णय करने में बहुत कुछ कर सकते हैं।” रैन्जे म्योर की धारणा को निम्न कारणों से स्वीकार नहीं किया जा सकता :

सर्वप्रथम, कोई भी व्यक्ति अचानक ही मन्त्री पद प्राप्त नहीं कर लेता है। सामान्यतया मन्त्री पद प्राप्त करने के पूर्व वह स्थायी और अस्थायी समितियों के सदस्य और संसदीय सचिव के रूप में काम कर चुका होता है। यदि पहले का विरोधी दल शासन संभालता है तो अनेक मन्त्री लोग उसके ‘छाया मन्त्रिमण्डल’ (Shadow Cabinet) के सदस्य रह चुके होते हैं। इन पदों पर रहते हुए उन्हें शासन सम्बन्धी समस्याओं का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त मन्त्री पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति का सामान्य विवेक पर्याप्त विकसित होता है और अपने इस सामान्य विवेक के कारण यह लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली नहीं हो सकता। मोरिसन ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—“यदि कोई मन्त्री यह जानता है कि वह क्या चाहता है तथा यदि उसमें उसे पूरा करने की बुद्धि है तो वह लोक सेवकों की सद्भावना, उनका सहयोग तथा समर्थन प्राप्त कर सकता है।”²

द्वितीय, प्रशासन का कार्य संगीत या कला के समान ऐसी विशेष कला नहीं होती जिसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए वर्षों साधना करनी पड़ती है। प्रशासनिक कार्य के सुचारु रूप से संचालन के लिए सामान्य बुद्धि और परिश्रम की आवश्यकता होती है, यह क्षमता मन्त्रियों में भी लोक सेवकों की ही भांति समान मात्रा में होती है। वास्तव में मन्त्री और लोक सेवक में विशेषज्ञता और अविशेषज्ञता का जो अन्तर बताया जाता है, वह केवल मात्रा का ही भेद होता है। ऐसा नहीं होता कि स्थायी पदाधिकारी पूर्ण विशेषज्ञ हों और मन्त्री नितान्त नौसिखिया। स्थायी पदाधिकारी में यदि कुछ मात्रा में प्रशासनिक ज्ञान अधिक होता है तो मन्त्री में सामान्य बुद्धि, विवेक, व्यक्ति की पहचान, आदेश देने और मनवाने की क्षमता अधिक मात्रा में होने की आशा की जा सकती है। मन्त्री पद ब्रिटिश राजनीति का सर्वोच्च पद होता है। राजनीति में असाधारण योग्यता रखने वाले व्यक्ति ही सामान्यतया इस पद पर पहुँच पाते हैं। यद्यपि कुछ अपवाद दोनों ही दशाओं में हो सकते हैं, लेकिन सामान्य नियम के रूप में मन्त्री को लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली नहीं कहा जा सकता।

1 “Unless he (minister) is either a self-important ass or a man of quite exceptional grasp, power and courage (and both of these types are uncommon among successful politicians) he will in ninety-nine cases out of a hundred simply accept their official view and sign on the dotted line.”

—Ramsay Muir, *How Britain is Governed*, p. 43.

2 “If a minister knows what he wants and is intelligent is going about it, he can command the understanding, co-operation and support of his Civil Servants.”

—Herbert Morrison, *Government and Parliament*, p. 311.

मन्त्री और लोक सेवक के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर रैन्जे म्योर की अपेक्षा लास्की का दृष्टिकोण ही ठीक है। उनके मतानुसार दोनों का सम्बन्ध वस्तुतः उनके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। यदि मन्त्री प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला व्यक्ति है, तो वह लोक सेवा के सदस्यों पर हावी रहेगा। यदि वह निर्बल व्यक्तित्व वाला है, तो उसे लोक सेवा सदस्यों के इशारों पर चलना पड़ेगा। मन्त्री सदैव और प्रत्येक मन्त्री लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली नहीं होता।

प्रो. लास्की ने इस दृष्टि से मन्त्रियों को तीन श्रेणियों में बांटा है : पहले प्रकार के मन्त्री वे होते हैं जिनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली होता है। वे अपने सामान्य विवेक के आधार पर प्रशासनिक समस्याओं को समझकर और अवसर के अनुकूल निर्णय कर लोक सेवा के सदस्यों को उन्हें क्रियान्वित करने का आदेश दे देते हैं। लॉयड जार्ज, हाल्डेल और चर्चिल को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। लोक सेवा पदाधिकारी ऐसे मन्त्रियों के सामने कभी भी मनमानी करने का साहस नहीं करते। उदाहरणार्थ, चर्चिल के सम्बन्ध में सर रॉबर्ट मोरेण्ट का कहना था कि कि “किसी विभाग में चर्चिल की उपस्थिति मात्र से विभाग के कर्मचारियों की भावनाएं बदल जाती हैं।”¹

दूसरी श्रेणी के मन्त्री सामान्य व्यक्तित्व वाले व्यक्ति होते हैं जिनमें लोकप्रियता की लगन होती है। यद्यपि ये लोक सेवा सदस्यों पर हावी नहीं हो पाते, लेकिन लोक सेवा सदस्यों को जनता के दृष्टिकोण से सूचित करते रहते हैं। लोक सेवा के सदस्यों के प्रति उनका व्यवहार समान स्तर पर होता है और वे प्रशासन में लोकतन्त्रीय तत्वों का समावेश करते हैं।

तीसरी श्रेणी के मन्त्री निर्बल व्यक्तित्व वाले होते हैं। उनमें न तो प्रतिभा होती है और न ही लोकप्रियता की लगन। वे तो किसी भी प्रकार मन्त्री पद पर बने रहना चाहते हैं। इन मन्त्रियों के लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली बन जाने की पूरी आशंका रहती है।

इस प्रकार यदि कुछ मन्त्री लोक सेवा के सदस्यों के हाथों की कठपुतली जैसा आचरण करते हैं तो दूसरी ओर कुछ मन्त्री लोक सेवा के सदस्यों पर हावी भी रहते हैं। मन्त्रियों को लोक सेवकों के हाथों की कठपुतली नहीं कहा जा सकता। उनके पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्तिगत समीकरण (Equation) पर ही निर्भर करते हैं।

क्या मन्त्री विशेषज्ञ होने चाहिए?

सामान्य व्यक्तियों द्वारा इस प्रकार की धारणा को अपना लिया जाता है कि मन्त्रियों के अविशेषज्ञ और लोक सेवा अधिकारियों के विशेषज्ञ होने के कारण मन्त्री लोक सेवा अधिकारियों के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाते हैं। इसलिए वे ऐसा सोचते हैं कि मन्त्री विशेषज्ञ होने चाहिए। लेकिन वास्तव में उनका इस प्रकार का विचार सही नहीं है।

सर्वप्रथम, सामान्य व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद् के कार्यों के सम्बन्ध में बहुत अधिक भ्रान्ति होती है। वे ऐसा सोचते हैं कि मन्त्री का काम स्वयं ही प्रशासन करना है और इसके लिए प्रशासनिक विशेषज्ञता नितान्त आवश्यक है। लेकिन वस्तुतः मन्त्री का काम प्रशासन करना नहीं होता। मन्त्रिणों का काम नीति निश्चित करना और यह देखना भर होता है कि उनका विभाग नीति के आधार पर ठीक प्रकार से संचालित हो। सर लिविस (Lewis) का प्रसिद्ध कथन है कि “मन्त्री का काम विभाग का संचालन करना नहीं होता, वरन् यह देखना भर होता

1 “The mere presence of Mr. Churchill in a department transforms the spirit of the officials there.”

—Sir Robert Morant

है कि विभाग ठीक प्रकार से संचालित हो।¹ मन्त्रिपरिषद के इस कार्य को सम्पादित करने के लिए प्रशासनिक विशेषज्ञता की अपेक्षा सामान्य विवेक की ही आवश्यकता होती है।

द्वितीय, संसदीय लोकतन्त्र में मन्त्रियों का सर्वप्रमुख कार्य सार्वजनिक-हित और लोकतन्त्र की साधना होता है। यदि मन्त्री प्रशासनिक विशेषज्ञ हों, तो वे जनता से निकट सम्पर्क स्थापित नहीं रख सकेंगे और शासन में लोकतन्त्रीय तत्व समाप्त हो जायेगा। अविशेषज्ञ कहे जाने वाले मन्त्री लोक सेवा के अधिकारियों को जनता के दृष्टिकोण से परिचित कराते हैं और इसी आधार पर जनहित की दृष्टि से शासन-व्यवस्था का संचालन सम्भव हो पाता है। शासन में अविशेषज्ञ मन्त्रियों की उपयोगिता बताते हुए रेन्जे मैकडनल्ड ने कहा है कि “मन्त्रिमण्डल जनता व विशेषज्ञ तथा सिद्धान्त और व्यवहार को जोड़ने वाला पुल है।”²

तृतीय, मन्त्री को एक विषय पर न केवल विभागीय दृष्टिकोण से वरन् समस्त प्रशासनिक व्यवस्था की दृष्टि से विचार करना होता है। अतः यह आवश्यक है कि उसका दृष्टिकोण व्यापक हो और उसमें समन्वयकारी प्रवृत्ति हो। योग्य किन्तु अविशेषज्ञ यह कार्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकता है।

ब्रिटेन में मन्त्री अविशेषज्ञ होते हैं और स्थायी पदाधिकारी विशेषज्ञ। मन्त्री निर्णय लेते हैं कि “जनहित की दृष्टि से क्या किया जाना है और स्थायी पदाधिकारी विचार करते हैं कि ‘प्रशासनिक कार्य कैसे किया जाना है?’” वस्तुतः ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार विशेषज्ञ और अविशेषज्ञ तत्वों का यह मेल बहुत अधिक श्रेष्ठतापूर्ण कार्य कर रहा है और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मन्त्रियों के विशेषज्ञ होने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में मुनरो ने ठीक ही कहा है कि “प्रथम (अर्थात् मन्त्रीगण) प्रशासन में लोकतन्त्रीय तत्व की, दूसरी (अर्थात् लोक सेवक) कुशलता के तत्व की व्यवस्था करता है। दोनों ही आवश्यक हैं। एक सरकार को लोकप्रिय बनाने के लिए, दूसरा उसे कार्यकुशल बनाने के लिए और अच्छे प्रशासन की परख यही है कि लोकतन्त्र व कार्यक्षमता का सफल सम्मिश्रण हो जाय।”

क्या ब्रिटेन में नौकरशाही शासन है?

कुछ व्यक्तियों द्वारा वर्तमान समय के ब्रिटिश शासन तत्व पर यह आक्षेप किया गया है कि मन्त्रियों के अविशेषज्ञ और स्थायी पदाधिकारियों के विशेषज्ञ होने के कारण समस्त प्रशासनिक व्यवस्था पर स्थायी पदाधिकारियों ने ऐसा व्यापक प्रभाव स्थापित कर लिया है कि वे ही राष्ट्र की जीवन-नौका के कर्णधार बन गये हैं और ब्रिटेन नौकरशाही शासन की ओर बढ़ रहा है। प्रमुख रूप से रेन्जे म्योर, सिडनी और बैट्रिस वैब, लॉर्ड हीबर्ट और सी. के. एलन ने नौकरशाही की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रति भय प्रकट किया, उसका विरोध किया और उसके विरुद्ध चेतावनी भी दी है। रेन्जे म्योर लिखते हैं कि “हमारी शासन प्रणाली में नौकरशाही की शक्ति बहुत अधिक है चाहे वह प्रशासन हो, विधायन हो या वित्त हो। वह मन्त्रीय उत्तरदायित्व के आचरण से फ्रैंकेन्स्टीन के दैत्य की भांति पनपी और विकसित हुई है और अब यह अपने सृष्टा का ही भक्षण करना चाहती है।” सिडनी और बैट्रिस वैब ने लिखा है, “वास्तव में इंग्लैण्ड

1 “It is not the business of the Cabinet Minister to work the department. His business is to see that it is properly worked.”
—Sir Lewis

2 “The Cabinet is the bridge linking up the people with the expert joining principle to practice.”
—Ramsay Mac Donald

का शासन मन्त्रिमण्डल या व्यक्तिगत रूप से मन्त्रियों द्वारा नहीं वरन् लोक सेवाओं के द्वारा किया जाता है।¹

नौकरशाही प्रवृत्ति में वृद्धि के कारण—नौकरशाही की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है और इस प्रवृत्ति में वृद्धि के कारणों की विवेचना नीचे दिये अनुसार की जा सकती है :

(1) मन्त्रिगण अविशेषज्ञ होते हैं और उनके पास विभाग के सूक्ष्म कार्यों के निरीक्षण का समय नहीं रहता। दूसरी ओर लोक सेवा के सदस्य अपने कार्यों के विशेषज्ञ होते हैं और उनका एकमात्र कार्य विभागीय कार्यों का प्रशासन और संचालन ही होता है। इस प्रकार मन्त्रियों के उत्तरदायित्व की आड़ में लोक सेवा के सदस्यों द्वारा प्रशासन का संचालन किया जाता है।

(2) दूसरा कारण प्रशासनिक न्याय की व्यवस्था है। वर्तमान समय में आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में मन्त्रियों तथा उनके विभागों को कतिपय न्यायिक अधिकार प्रदान कर दिये जाते हैं। इन न्यायिक अधिकारों का प्रयोग उच्च पदासीन स्थायी पदाधिकारी अपने विवेक के अनुसार करते हैं और उनके निर्णय के विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। प्रशासनिक न्याय की इस प्रवृत्ति के कारण ही लॉर्ड हीवर्ट ने नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्ति को 'नवीन अधिनायकवाद' की संज्ञा दी है जिसने प्रशासनिक विभागों को संसदीय सम्प्रभुता से उच्च और न्यायालय के क्षेत्राधिकार से परे स्थिति प्रदान कर दी है।²

(3) वर्तमान समय में संसद का कानून-निर्माण सम्बन्धी कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण प्रदत्त व्यवस्थापन का विकास हुआ है। प्रदत्त व्यवस्थापन की इस शक्ति का प्रयोग स्थायी पदाधिकारियों द्वारा ही किया जाता है और इसके कारण नौकरशाही कानून-निर्माण के क्षेत्र में भी शक्तिशाली हो गयी है।

(4) 'पुलिस राज्य' के स्थान पर 'लोक-कल्याणकारी राज्य' की धारणा को अपना लिये जाने के कारण राज्य द्वारा आर्थिक और सामाजिक जीवन के अनेक कार्य अपने हाथ में ले लिये गये हैं। ये कार्य वस्तुतः स्थायी पदाधिकारियों द्वारा ही किये जाते हैं और इससे भी नौकरशाही की शक्ति बड़ी है।

(5) लोक सेवकों का पद स्थायी होने के कारण उन्हें व्यापक अनुभव और शक्ति प्राप्त होती है और इससे भी नौकरशाही की प्रवृत्ति का विकास हुआ है।

नौकरशाही का आक्षेप मिथ्या—वर्तमान समय में ब्रिटेन में भी लोक-कल्याण की प्रवृत्ति को अपना लिए जाने के कारण ब्रिटिश लोक सेवा की शक्तियों में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु इसे नौकरशाही की संज्ञा नहीं दी जा सकती। प्रो. लास्की का कहना है कि "नौकरशाही शासन से अभिप्राय उस शासन व्यवस्था से होता है जिसमें सम्पूर्ण नियन्त्रण लोक सेवा अधिकारियों के हाथों में रहता है और उनकी शक्ति इतनी अधिक होती है कि इसमें नागरिक स्वतन्त्रता पर आघात पहुंचता है।" इंग्लैण्ड में इस प्रकार की स्थिति नहीं है। वहां लोक सेवा के सदस्य स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते, क्योंकि उनके ऊपर एक राजनीतिक अध्यक्ष होता है जो लोकसदन और जनता के प्रति उत्तरदायी होता है और इसी कारण अपने विभागीय कार्यों के लिए सदैव चौकन्ना रहता है। लोक सेवक भी इस बात से परिचित होते हैं कि यदि उनके द्वारा मनमाने तरीकों से कार्य किये गये, तो उनके कार्य संसदीय आलोचना के विषय

1 "The Government of Britain is in fact, carried on not by the Cabinet, not even by individual minister, but by the civil service." —Sydney and Beatrice Webb

2 Lord Hewart, *The New Despotism*, p. 14.

बन जायेंगे और इसका स्वयं उनकी स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। नौकरशाही की आशंका व्यक्त करने वाले रैम्से म्योर का भी कहना है कि “यह कहना बिल्कुल गलत होगा कि हमारी व्यवस्था विशुद्ध या अनियन्त्रित नौकरशाही है।”¹

इसके अतिरिक्त एक अन्य बात यह है कि लोक सेवाओं की शक्ति में वृद्धि न केवल ब्रिटेन वरन् विश्व के लगभग सभी राज्यों में देखी जा सकती है। इसे न तो नौकरशाही शासन कहा जा सकता है और न ही इससे भय करने के कोई कारण हैं। ब्रिटिश लोक सेवक कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते हैं। न्यूमैन का कथन यथार्थ है कि “नौकरशाही का अधिनायकवाद या तानाशाही कहे जाने का कोई तथ्यपूर्ण कारण नहीं है। लोक सेवक के सिर पर उत्तरदायी मन्त्री होते हैं, जिनका काम लोक सेवकों को यह बताना है कि जनता क्या नहीं चाहती।” हर्बर्ट मॉरिसन² भी ब्रिटेन में नौकरशाही शासन की बात को अस्वीकार करते हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश संवैधानिक पद्धति में लोक सेवकों के संगठन और कार्यों का वर्णन कीजिए। क्या इसे ‘नौकरशाही की विजय’ कहना उचित होगा?
2. सिडनी लो के इस कथन की व्याख्या कीजिए कि, “ब्रिटिश शासन अविशेषज्ञों का शासन है।” क्या आप इस स्थिति से सहमत हैं? उदाहरण सहित समझाइए।
3. ‘ब्रिटिश संसद मन्त्रियों के हाथों में और मन्त्री स्थायी कर्मचारियों के हाथों में कठपुतली के समान हैं।’ इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. कोई भी शासन कुशल लोक सेवा के बिना कार्य नहीं कर सकता। “इस कथन की दृष्टि में ब्रिटेन में लोक सेवा की भर्ती, महत्व और भूमिका की विवेचना कीजिए।
5. “मन्त्रियों के उत्तरदायित्व की आड़ में नौकरशाही का बोलबाला है।” इस कथन को समझाइए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. ब्रिटेन में लोकसेवाओं में भर्ती की पद्धति बताइए।
2. लोक सेवाओं के महत्व की दो प्रमुख बातें बताइए।
3. ब्रिटेन में लोक सेवाओं के विशेष लक्षण बताइए।
4. मन्त्रियों का लोक सेवाओं से सम्बन्ध बताइए।
5. क्या मन्त्रि लोक सेवकों के हाथ की कठपुतली हैं?
6. क्या मन्त्री विशेषज्ञ होने चाहिए?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्ति को ‘नव अधिनायकवाद’ किसने कहा है :
(अ) लॉर्ड हेवर्ट (ब) डिजरेली (स) डायसी (द) लावेल
2. ब्रिटिश लोक सेवा का लक्षण नहीं है :
(अ) राजनीतिक तटस्थता (ब) लोक सेवकों का स्यायित्व
(स) सीधा उत्तरदायित्व (द) अनामता

1 “It would be wholly untrue to say that our system is a pure or uncontrolled bureaucracy.” —Ramsay Muir, *How Britain is Governed*, p. 44.

2 Herbert Morrison, *Parliament and Government*, p. 311.

3. ब्रिटिश लोक सेवा में सुधार की दृष्टि से महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं :

- (अ) ली रिपोर्ट (ब) एचिसन रिपोर्ट
(स) एस्लिंगटन रिपोर्ट (द) ट्रेवेलियन नार्थकोर्ट प्रस्ताव

4. ब्रिटिश लोक सेवा की विशेषता है :

- (अ) लोक सेवाओं का स्थायित्व (ब) राजनीतिक तटस्थता
(स) अनामता (द) उपर्युक्त तीनों

5. "मन्त्री 100 में से 99 मामलों में कर्मचारियों के विचार को स्वीकार कर लेता है और अंकित पंक्ति पर हस्ताक्षर कर देता है।" यह कथन किसका है :

- (अ) रैन्जे म्योर (ब) लास्की (स) लावेल (द) हरमन फाइनर

6. नौकरशाही और मन्त्री के आपसी सम्बन्ध के विषय में यह कथन किसका है : "मन्त्री चाहे कितने ही अनभिज्ञ और अपने विभाग के लिए नए हों, नीति निर्धारण व निर्णय करने में बहुत कुछ कर सकते हैं :

- (अ) डायसी (ब) जैनिंग (स) लास्की (द) एस. ई. फाइनर

7. ब्रिटेन की नागरिक सेवाओं में प्रवेश के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं का प्रारम्भ कब हुआ :

- (अ) 1855 ई. में (ब) 1875 ई. में (स) 1870 ई. में (द) 1918 ई. में

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (द), 4. (द), 5. (अ), 6. (स), 7. (अ)]

प्रश्न 8. 'ब्रिटेन नौकरशाही शासन की ओर बढ़ रहा है' इस बात का प्रतिपादन करने वाले तीन प्रमुख लेखकों के नाम दीजिए।

[उत्तर—रैन्जे म्योर, सिडनी और बैट्रिस वैब, लॉर्ड हेवर्ट और सी. के. एलन]

प्रश्न 9. 'ब्रिटेन के प्रसंग में नौकरशाही शासन का आक्षेप मिथ्या है' इस बात का प्रतिपादन करने वाले तीन लेखकों के नाम दीजिए :

[उत्तर—लास्की, हरवर्ट, मॉरिसन, न्यूमैन, लास्की इस बात को कहने वाला सबसे प्रमुख लेखक हैं।]

प्रश्न 10. ब्रिटेन की लोक सेवाओं में सुधार किस रिपोर्ट के आधार पर और कब प्रारम्भ हुए?

[उत्तर—ट्रेवेलियन नार्थकोर्ट रिपोर्ट के आधार पर 1853 से लोक सेवाओं में सुधार प्रारम्भ हुए।]

प्रश्न 11. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(i) ग्लैडस्टन के अनुरोध के आधार पर 1855 ई. में लोक सेवा आयोग की स्थापना हुई।

(ii) वर्तमान समय में ब्रिटेन में कुल लोक सेवकों की संख्या 7,00,000 के लगभग है।

(iii) लोक सेवकों की पदोन्नति 1918 ई. के आधार पर होती है।

(iv) लोक सेवकों की नियुक्ति 1918 ई. पर आधारित है।

[उत्तर—(i) 1855 ई. में, (ii) 7 लाख, (iii) वरिष्ठता और योग्यता, (iv) मुक्त प्रतियोगिता परीक्षाओं]

6

संसद

(PARLIAMENT)

“वैधानिक दृष्टि से संसद की प्रभुसत्ता हमारी राजनीतिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है।”¹ —डायसी

ब्रिटिश संसद की प्रभुसत्ता

(SOVEREIGNTY OF THE BRITISH PARLIAMENT)

वैधानिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद की सम्प्रभुता ब्रिटिश संविधान की एक प्रमुख विशेषता है। ब्रिटिश संसद कानून-निर्माण की सामान्य प्रक्रिया के आधार पर ही सभी विषयों के सम्बन्ध में कानून का निर्माण कर सकती है और इसके द्वारा निर्मित कानून को किसी के भी द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से कानून-निर्माण के क्षेत्र में ब्रिटिश संसद को प्राप्त इस असीमित शक्ति को ही ‘संसद की सम्प्रभुता’ कहा जाता है।

ब्रिटिश संसद के सम्बन्ध में जे. ए. आर. मैरीयट ने कहा था कि, “किसी दृष्टि से भी देखा जाय, ब्रिटिश विधानमण्डल विश्व में सबसे अधिक मनोरंजक और महत्वपूर्ण है। इससे प्राचीन कोई विधानमण्डल नहीं है, इसका अधिकार क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत है और इसकी शक्ति असीमित है। यह धार्मिक तथा लौकिक, सभी मामलों में कानून निर्माण की सर्वोच्च सत्ता है।” इस सम्बन्ध में सर एडवर्ड कोक ने लिखा है, “संसद की शक्ति तथा अधिकार क्षेत्र इतना सर्वोपरि और पूर्ण है कि इसकी कोई सीमाएं नहीं बांधी जा सकतीं।” ब्लैकस्टोन, ऑग, सर मैथ्यू हेल् तथा डी. टाकविले ने भी संसद की सम्प्रभुता का बखान किया है। डायसी ने संसद की सम्प्रभुता पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार, “ब्रिटिश संसद वैधानिक दृष्टि से इतनी शक्तिशाली है कि वह एक शिशु को प्रौढ़ करार दे सकती है। वह मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है। वह गैर-कानूनी सन्तान को कानूनी करार दे सकती है और यदि वह उचित समझे तो किसी व्यक्ति को अपने ही मामलों में न्यायाधीश बना सकती है।”

संसद की प्रभुसत्ता का आशय—संसद की प्रभुसत्ता का आशय प्रमुखतया निम्न बातों से है :

(1) ब्रिटिश संसद : विधि निर्माण की एकमात्र सत्ता—जब किसी देश में संघात्मक शासन को अपनाया जाता है, तब संविधान द्वारा ही कानून निर्माण की शक्ति का संघीय व्यवस्थापिका और राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के बीच विभाजन कर दिया जाता है तथा संघीय व्यवस्थापिका

1 “Sovereignty of Parliament is, from a legal point of view, the dominant characteristic of our political institution.” —Prof. Dicey

या केन्द्रीय व्यवस्थापिका को सभी विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार नहीं होता। ब्रिटेन में एकात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण ब्रिटिश संसद ब्रिटेन में कानूनों का निर्माण करने वाली एकमात्र सत्ता है। ब्रिटिश संविधान संसद के अतिरिक्त अन्य किसी संस्था को कानून निर्माण का अधिकार नहीं देता।

(2) कानून निर्माण शक्ति की कोई सीमा नहीं—ब्रिटिश संसद की कानून निर्माण की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। ब्रिटेन में ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसके सम्बन्ध में संसद कानून का निर्माण न कर सके। संसद की शक्ति तथा अधिकार क्षेत्र इतना सर्वोपरि और पूर्ण है कि इसकी कोई सीमाएं नहीं बांधी जा सकती।

(3) किसी भी कानून में परिवर्तन की क्षमता—ब्रिटिश संसद किसी भी कानून में परिवर्तन कर सकती है। ब्रिटेन का संविधान एक लचीला संविधान है, अतः वहां साधारण विधि और संवैधानिक विधि के बीच कोई अन्तर नहीं है। ब्रिटिश संसद किसी भी कानून में अपनी इच्छानुसार कोई भी परिवर्तन कर सकती अथवा उसे रद्द कर सकती है। विशेष बात यह है कि चाहे साधारण विधि हों या संवैधानिक विधि, ब्रिटिश संसद इस प्रकार का समस्त कार्य अपने साधारण बहुमत से कर सकती है। ब्रिटिश संसद जिस प्रक्रिया के आधार पर जंगली चिड़ियों की रक्षा के लिए कानून बना सकती है, कानूनी दृष्टि से बिल्कुल उसी प्रक्रिया के आधार पर सम्राट पद, प्रधानमन्त्री पद अथवा संसद, इनमें से किसी भी संवैधानिक संस्था में कोई परिवर्तन कर सकती है।

(4) न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था का अभाव—अमरीका, भारत, आदि जिन देशों में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था है, वहां संसद की प्रभुसत्ता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। लेकिन ब्रिटेन में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था नहीं है, अतः ब्रिटिश न्यायालय संसद द्वारा निर्मित किसी विधि या उसके किसी भाग को न तो अवैध घोषित कर सकते और न ही उसे लागू करने से इंकार कर सकते हैं। संसद द्वारा निर्मित प्रत्येक कानून ब्रिटिश न्यायालयों सहित ब्रिटेन की प्रत्येक सत्ता के लिये अनिवार्य रूप से मान्य है।

इस प्रकार ब्रिटेन में संसद की प्रभुसत्ता की स्थिति संविधान और शासन व्यवस्था के कुछ विशेष लक्षणों के कारण है। ये लक्षण हैं : लचीला संविधान, एकात्मक शासन व्यवस्था तथा इन सबके अतिरिक्त न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था का अभाव।

ब्रिटिश संसद द्वारा अब तक निर्मित कानूनों के आधार पर भी संसद की सम्प्रभुता स्पष्ट हो जाती है। सन् 1701 के उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिनियम (Act of Settlement) द्वारा सम्राट पद के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम निर्धारित किये गये। सन् 1717 के 'सप्तवर्षीय कानून' (Septennial Act) द्वारा लोकसदन की अवधि 3 वर्ष से बढ़ाकर 7 वर्ष कर दी गयी तथा 1915 के संसदीय अधिनियम द्वारा इसका कार्यकाल 5 वर्ष कर दिया गया। इसी प्रकार 1911 व 1949 के संसदीय अधिनियम द्वारा लॉर्ड सभा की शक्तियों को सीमित कर दिया गया।

संसदीय सम्प्रभुता पर सीमाएं (Limitations on the Sovereignty of Parliament)—यद्यपि वैधानिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न है और उसके द्वारा किसी भी प्रकार के कानून का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु प्रत्येक वैधानिक तथ्य राजनीतिक सत्य नहीं होता। व्यवहार में संसद की प्रभुसत्ता पर अनेक प्रतिबन्ध हैं जिनकी विवेचना अग्र रूपों में की जा सकती है :

(1) **जनमत (Public Opinion)**—जनमत संसदीय सम्प्रभुता पर एक महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध है। वर्तमान समय में, 1911 और 1949 के अधिनियम द्वारा लॉर्ड सभा की शक्तियाँ बहुत अधिक सीमित हो गयी हैं और आज संसद की प्रभुसत्ता का तात्पर्य लोकसदन की प्रभुसत्ता से ही होता है। लोकसदन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है और इसके द्वारा जनमत के विरुद्ध किसी कानून के निर्माण का साहस नहीं किया जा सकता। संसद समाचारपत्र और जनमत निर्माण के साधनों पर पूरी-पूरी दृष्टि रखती है, उसके लिए जनमत के उल्लंघन का अर्थ आत्मघात ही होता है। किसी महत्वपूर्ण विषय पर स्वयं निर्णय लेने की अपेक्षा संसद उसे निर्णय के लिये जनता के समक्ष प्रस्तुत कर सकती है। उदाहरण के लिए 1975 ई. में यह प्रश्न जनमत संग्रह के लिए रखा गया कि 'ब्रिटेन 'यूरोपियन आर्थिक समुदाय' (E.E.C.) की सदस्यता प्राप्त करे अथवा नहीं'।

(2) **नैतिक बन्धन (Moral Limitations)**—वैधानिक दृष्टि से संसद प्रभुसत्तावान है; लेकिन व्यवहार में संसद के द्वारा नैतिक धारणाओं के विरुद्ध किसी कानून का निर्माण नहीं किया जा सकता है। जैनिंग ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "यदि कोई विधानमण्डल यह निर्णय करे कि नीली आंखों वाले बच्चों की हत्या कर दी जाय, तो ऐसे बच्चों को बचा रखना गैर-कानूनी काम होगा, परन्तु कोई पागल विधानमण्डल ही ऐसा करेगा और पागल जनता ही उसे मानेगी।"

(3) **परम्पराएं (Traditions)**—ब्रिटेन के राजनीतिक जीवन में परम्पराओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बदलती हुई परिस्थितियों के कारण यदि किसी परम्परा की उपयोगिता समाप्त हो जाती है तो कानून के द्वारा उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन जब तक ऐसा न हो, संसद के द्वारा सुस्थापित परम्पराओं के विरुद्ध कानूनों का निर्माण नहीं किया जा सकता। यदि प्रमुख परम्पराओं का उल्लंघन किया जाता है, तो ब्रिटिश शासन व्यवस्था का आधार ही नष्ट हो जायेगा और इसके परिणामस्वरूप जनता भी संसद के विरुद्ध हो जायेगी।

(4) **विधि का शासन**—विधि का शासन ब्रिटिश शासन और जीवन का एक मूलधार है और इसका अर्थ है कि कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान हैं। विधि का शासन और संसद की प्रभुसत्ता परस्पर आश्रित तथा सम्बन्धित हैं और विधि का शासन संसद की प्रभुसत्ता पर एक प्रतिबन्ध भी है। यदि ब्रिटिश संसद विधि के शासन का उल्लंघन करती है तो लगभग वैसी ही गम्भीर जन-प्रतिक्रिया होगी जैसी गम्भीर प्रतिक्रिया किसी देश में शासन द्वारा मौलिक अधिकारों का उल्लंघन किये जाने पर हो सकती है।

(5) **वेस्टमिन्स्टर परिनियम, 1931 (Statute of Westminster)**—1931 के वेस्टमिन्स्टर परिनियम से भी संसद की प्रभुसत्ता सीमित होती है। इस परिनियम में उल्लेख है कि 1931 के बाद से ब्रिटिश संसद अधिराज्यों के लिए कोई भी अधिनियम उस समय तक नहीं बनायेगी जब तक कि किसी अधिराज्य (Dominion) की संसद द्वारा ब्रिटिश संसद से इस हेतु प्रार्थना न की जाय।

(6) **प्रदत्त व्यवस्थापन**—ब्रिटेन में संसद का कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण इस प्रकार के व्यवहार को अपना लिया गया है कि संसद कानून की केवल मोटी रूपरेखा निर्धारित करती और विभिन्न नियम तथा उपनियम बनाने का कार्य प्रशासनिक विभागों को सौंप दिया जाता है, यही प्रदत्त व्यवस्थापन है। यद्यपि यह सब संसद के अधिनियम के अनुसार होता है, परन्तु ब्रिटेन में कई हजार नियम तथा उपनियम प्रदत्त

व्यवस्थापन के अधीन बनाये जाते हैं। व्यवहार में इतनी अधिक संख्या में बनने वाले नियमों तथा उपनियमों पर संसद का कोई नियन्त्रण नहीं रहता और इसी कारण व्यवहार में प्रदत्त व्यवस्थापन से भी संसद की प्रभुसत्ता सीमित हो जाती है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा भी ब्रिटिश संसद की सम्प्रभुता सीमित हो जाती है। ब्रिटेन में 'वेस्ट रैण्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी बनाम सम्राट' (*West Rand Gold Mining Co. vs. The King*) नामक विवाद में यह निर्णय हो चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय कानून का ही एक भाग है और जिस कानून ने सभ्य राष्ट्रों की सहमति प्राप्त कर ली है, उसने हमारे देश की भी सहमति प्राप्त कर ली है। अतः ब्रिटिश संसद अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध भी किन्हीं नियमों का निर्माण नहीं कर सकती।

लेस्ली स्टीफेन स्थिति की समीक्षा करते हुए लिखते हैं, 'संसद आन्तरिक और बाहरी' दोनों रूपों में सीमित हैं।

इस प्रकार संसद की प्रभुसत्ता का अर्थ यह नहीं है कि ब्रिटेन की संसद जैसा चाहे, वैसा कानून बना सकती है, परन्तु इसका इतना अर्थ अवश्य है कि वह कैसी भी विधि बनाये, उसके द्वारा निर्मित विधि को ब्रिटेन में किसी भी न्यायालय या न्यायिक प्राधिकारी के समक्ष किसी भी आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती।

ब्रिटिश संसद

(BRITISH PARLIAMENT)

ब्रिटिश संसद का अर्थ सम्राट सहित लोकसदन और लॉर्ड सभा है। लोकसदन ब्रिटिश संसद का प्रथम और लॉर्ड सभा द्वितीय सदन है। ऐतिहासिक दृष्टि से लॉर्ड सभा इन दोनों सदनों में पुरानी है।

लॉर्ड सभा (House of Lords)

लॉर्ड सभा को इंग्लैण्ड की लोकतन्त्रात्मक प्रणाली में एक कुलीनतन्त्रीय संस्था कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी सदस्यता का प्रमुख आधार वंशगत है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक ब्रिटिश राजनीति में लॉर्ड सभा को लोकसदन से अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, किन्तु अब स्थिति परिवर्तित हो गयी है और लॉर्ड सभा न केवल द्वितीय, वरन् द्वितीय महत्व का सदन हो गया है।

लॉर्ड सभा की रचना—लॉर्ड सभा की सदस्य संख्या निश्चित नहीं है, क्योंकि इसमें सम्राट प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर जितने नवीन सदस्य आवश्यक समझे, नियुक्त कर सकता है। अवकाश प्राप्त प्रधानमन्त्रियों, लोकसदन के अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, अवकाश प्राप्त सेनापति और वायसराय, उच्चकोटि के न्यायवेत्ताओं और साहित्य, विज्ञान तथा कला में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्तियों को ही सामान्यतया प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर सम्राट द्वारा सदस्यता प्रदान की जाती है।

वर्तमान समय (1 जनवरी, 2005) को लॉर्ड सभा की कुल सदस्य संख्या 707 है। 'संवैधानिक सुधार कानून, 2005' के बाद अब लॉर्ड सभा में केवल तीन प्रकार के सदस्य होते हैं। ये सदस्य हैं :

(1) आध्यात्मिक लॉर्ड—आध्यात्मिक लॉर्डों की संख्या 26 है और यह निश्चित है। इनमें एक कैण्टरबरी का आर्कबिशप, एक यार्क का आर्कबिशप, एक लन्दन का आर्कबिशप, एक डरहम का बिशप और एक विन्चेस्टर का बिशप अवश्य सम्मिलित किए जाते हैं। शेष 21 इंग्लैण्ड के चर्चों के वरिष्ठ बिशप होते हैं। जब कभी मृत्यु या पद त्यागने से किसी धार्मिक लॉर्ड का स्थान रिक्त हो जाता है तो अगला वरिष्ठ बिशप उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

(2) वंशगत या पैतृक पीयर (Peers under House of Lords Act, 1999)—दिसम्बर 1999 में पारित अधिनियम के अनुसार वंशगत पीयरों की तीन श्रेणियाँ हैं। (i) दलीय साथी पीयरों से निर्वाचित किए जाने वाले सदस्य, (ii) पदाधिकारी जिन्हें सम्पूर्ण सदन निर्वाचित करता है, (iii) राजघराने के सदस्य के रूप में ये सदस्य वर्तमान में 75 निर्वाचित दलीय सदस्य तथा 16 पदधारी सदस्य (office holders) हैं।

(3) आजीवन पीयर (Peer under the life Peerage Act, 1958)—1958 के 'आजीवन पीयेरेज ऐक्ट' ने सम्राज्ञी को प्रधानमन्त्री के परामर्श पर आजीवन पीयर नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की है, ऐक्ट में आजीवन पीयरों की संख्या निर्धारित नहीं की है। सम्राज्ञी सामाजिक और राजनीतिक जीवन के प्रतिष्ठित एवं अनुभवी स्त्री-पुरुषों को आजीवन पीयर नियुक्त कर सकती है। वर्तमान में इन पीयरों की संख्या 561 है। जिसमें 121 महिलाएं हैं।

तीन प्रकार के इन लॉर्ड सभा सदस्यों के अतिरिक्त 2005 ई. तक एक चौथे प्रकार के लॉर्ड सभा सदस्य होते थे—'लॉर्डस ऑफ अपील'। 'संवैधानिक सुधार कानून, 2005' ई. के द्वारा 'लॉर्डस ऑफ अपील' की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है।

वस्तुतः गत वर्षों में लॉर्ड सभा की रचना में दो दृष्टि से परिवर्तन आया है। प्रथम, 1958 के पूर्व लॉर्ड सभा एक पूर्णतया पुरुष सदन था और कोई भी महिला लॉर्ड सभा की सदस्य नहीं हो सकती थी।

'आजीवन पीयेरेज अधिनियम 1958 के अन्तर्गत व्यवस्था की गई कि सम्राट महिलाओं को आजीवन पीयर बनाकर लॉर्ड सभा की सदस्यता प्रदान कर सकता है। आज स्थिति यह है कि सदन के 707 सदस्यों में 126 महिलाएं हैं।

द्वितीय, 1958 के पूर्व तक लॉर्ड सभा के लगभग 90 प्रतिशत सदस्य वंश परम्परागत थे तथा इन सदस्यों में अनुदार दल का भारी बहुमत था, लेकिन अब लगभग 12 प्रतिशत सदस्य ही वंश परम्परागत हैं। शेष लगभग चार दशक में बनाए गए आजीवन पीयर हैं। एक अन्य तथ्य यह है कि 8 वर्ष से ब्रिटेन में मजदूर दल का शासन है। अतः दलीय आधार पर अध्ययन किया जाए, तो लॉर्ड सभा के 707 सदस्यों की स्थिति निम्न प्रकार है :

अनुदार दल—195 (155 आजीवन पीयर और 40 वंशगत)

मजदूर दल—199 (197 आजीवन और 2 वंशगत)

लिबरल डेमोक्रेट—66 (64 आजीवन और 2 वंशगत)

शेष 247 सदस्य किसी भी राजनीतिक दल के साथ जुड़े हुए नहीं हैं।

लॉर्ड सभा में जो चार श्रेणी के सदस्य हैं, इनमें केवल तृतीय श्रेणी के सदस्यों का एक भाग (आजीवन पीयर) ही लॉर्ड सभा की बैठकों में पूरी रुचि के साथ भाग लेते हुए पाया गया है।

सदस्यों के विशेषाधिकार (Prerogatives)—लॉर्ड सभा के अनेक परम्परागत विशेषाधिकार यद्यपि समाप्त कर दिये गये हैं लेकिन अब भी उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। लॉर्ड सभा के सभी सदस्यों को भाषण की स्वतन्त्रता प्राप्त है और उनके द्वारा सदन में कही गयी किसी भी बात के आधार पर उन पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। संसद के सत्र के समय उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। लोकसदन के सदस्य केवल स्पीकर के माध्यम से सम्राट तक सामूहिक रूप में पहुंच सकते हैं, लेकिन लॉर्ड सभा के सदस्यों को व्यक्तिगत

रूप से सम्राट से सार्वजनिक विषयों पर वार्ता करने का अधिकार प्राप्त है। पीयर पद की प्राप्ति से एक ओर यदि कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं तो दूसरी ओर कुछ अयोग्यताएं (disqualifications) भी जुड़ जाती हैं। उदाहरणार्थ, किसी भी पीयर को लोकसदन के चुनाव में मताधिकार और लोकसदन के चुनाव में उम्मीदवार होने का अधिकार प्राप्त नहीं है। यदि कोई पीयर लोक सेवा अधिकारी है, तो उसे लॉर्ड सभा में बैठने का तो अधिकार है, किन्तु वह न तो भाषण दे सकता है और न ही मतदान में भाग ले सकता है।

लॉर्ड सभा सदस्यों (पीयरों) के लिए दैनिक भत्ते की व्यवस्था—1956 तक लॉर्ड सभा सदस्यों के लिए दैनिक भत्ते की कोई व्यवस्था नहीं थी; लेकिन लॉर्ड सभा में सदस्यों की उपस्थिति को बढ़ाने के उद्देश्य से 1957 ई. से दैनिक भत्ते की व्यवस्था की गई। बाद में यह भत्ता कई बार बढ़ाया गया। जनवरी 1995 से लॉर्डों को 32 पौण्ड, प्रतिदिन के हिसाब से उपस्थिति भत्ता मिलता है। कार्यालय और सचिव के रख-रखाव के लिए उन्हें अलग से कुछ राशि मिलती है और अपने निवास स्थान से संसद भवन की यात्रा तय करने के लिए यात्रा-भत्ता भी मिलता है।

लॉर्ड सभा का स्पीकर (Speakership of the House of Lords)—2005 ई. तक व्यवस्था यह थी कि प्रधानमंत्री (सम्राट) द्वारा नियुक्त 'लॉर्ड चांसलर' लॉर्ड सभा की अध्यक्षता करता था, लेकिन 'Constitutional Reform Act, 2005' के द्वारा लॉर्ड चांसलर की स्थिति में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं तथा उनमें एक बड़ा परिवर्तन यह है कि अब लॉर्ड चांसलर लॉर्ड सभा की अध्यक्षता नहीं करता। लॉर्ड सभा की अध्यक्षता के लिये 'लॉर्ड सभा के स्पीकर' पद की व्यवस्था की गई है। 'संवैधानिक सुधार कानून' 2005 ई. में कहा गया है कि, 'लॉर्ड सभा के स्पीकर पद से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था स्वयं लॉर्ड सभा द्वारा ही निर्धारित की जायेगी।'

इस व्यवस्था के अनुसार लॉर्ड सभा के द्वारा 2006 ई. में लॉर्ड सभा की अध्यक्षता के लिये 'लॉर्ड सभा के स्पीकर' का निर्वाचन किया गया है। इस प्रकार लॉर्ड सभा में अब लोक सदन के समान ही निर्वाचित अध्यक्ष है, मनोनीत अध्यक्ष नहीं है। लॉर्ड सभा के इस स्पीकर को लोक सदन के स्पीकर के समान ही सदन को अनुशासित और नियन्त्रित रखने का अधिकार प्राप्त है।

लॉर्ड चांसलर—संवैधानिक सुधार कानून, 2005 ई. के बाद भी 'लॉर्ड चांसलर' पद बना हुआ है, लेकिन अब वह ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य मात्र है। उसकी स्थिति लगभग वही है, जो अन्य देशों में 'विधि और न्यायमन्त्री' की होती है। अब लॉर्ड चांसलर न तो लॉर्ड सभा की अध्यक्षता करता है तथा न ही वह ब्रिटिश न्यायपालिका का अध्यक्ष है।

स्पीकर के अतिरिक्त सभा के कुछ अन्य अधिकारी भी होते हैं, तथा समितियों का लॉर्ड सभापति, रिकार्ड दिखाने के लिए क्लर्क, जैण्टलमैन असर ऑफ दी ब्लैक रॉड (Gentleman Usher of the Black Rod) और सारजेण्ट एट आर्म्स, आदि।

लॉर्ड सभा वेस्टमिन्सटर स्थित अपने वैभवशाली भवन में एकत्रित होती है और इसका अधिवेशन लोकसदन के अधिवेशन के साथ-साथ ही चलता है। इसकी बैठकें मंगल, बुध और गुरुवार को होती हैं और कभी-कभी सोमवार को भी हो जाती हैं। बैठकें साधारणतया 1-2

1 "It is a matter for the House of Lords itself to determine any changes to the current arrangements for the office of the speaker" —Constitutional Reforms Act, 2005.

घण्टे चल सकती हैं और इनमें भी उपस्थिति कम ही रहती है। बैठक के लिए गणपूर्ति (Quorum) 3 सदस्यों की उपस्थिति है, परन्तु किसी विधेयक को पारित करने के लिए कम-से-कम 30 सदस्य अवश्य ही होने चाहिए।

लॉर्ड सभा में सम्पूर्ण सदन की समिति के अतिरिक्त प्रवर तथा सत्रीय समितियों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक सत्र के आरम्भ में, लोकसदन से आये विधेयकों पर पुनर्विचार के लिए एक स्थायी समिति का भी निर्माण किया जाता है। सत्र समितियों में मुख्य ये हैं: विशेषाधिकार समिति, अपील समिति, स्थायी आदेश समिति, चयन समिति लॉर्ड सभा द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं की समिति आदि। प्रवर समितियों के सदस्यों के नाम सदन तय करता है, किन्तु ये समितियां अपने अध्यक्ष स्वयं नियुक्त करती हैं।

लॉर्ड सभा के वाद-विवाद को सीमित करने के लिए 'समापन प्रस्ताव' (Closure motion) का प्रयोग नहीं किया जाता है। इस सम्बन्ध में केवल दो स्थायी आदेश हैं : प्रथम के अनुसार, कोई सदस्य एक ही विषय पर दो बार नहीं बोल सकता और द्वितीय के अनुसार, वाद-विवाद विषय से असम्बद्ध नहीं हो सकता। कभी-कभी तो लॉर्ड सभा के वाद-विवाद बहुत उच्च स्तरीय होते हैं।

1911 के संसदीय अधिनियम के पूर्व ब्रिटिश राजनीति में लॉर्ड सभा की स्थिति

18वीं सदी तक लॉर्ड सभा की शक्तियां लोकसदन के ही समान थीं। इनके अतिरिक्त 1832 के सुधार अधिनियम के पारित होने के पूर्व तक दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। इस प्रकार के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का एक प्रमुख कारण यह था कि दोनों ही सदनों के सदस्य समाज के उच्च वर्ग (भूमिपति) से सम्बन्धित थे और उनमें कोई वर्ग-विभेद नहीं था। सन् 1832 के प्रथम सुधार अधिनियम द्वारा लोकसदन के लिए कुछ व्यापक मताधिकार की व्यवस्था की गयी और इसके साथ ही लोकसदन के सदस्यों तथा लार्ड्स में जो वर्ग समानता थी, वह समाप्त हो गयी। लोकसदन अब उत्तरोत्तर पूंजीपति तथा व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधि हो गया, लेकिन लॉर्ड सभा मूल रूप से भूमिपतियों की सभा बनी रही। इस वर्ग विभेद के कारण दोनों सदनों के बीच की मैत्री तथा सहृदयता समाप्त हो गयी। वर्ग विभेद ने मौलिक मतभेद उत्पन्न किये जो लोकसदन में उदारवादी बहुमत होने की स्थिति में और भी अधिक स्पष्ट तथा उग्र हो गये। 1860 के बजट, 1867 के सुधार अधिनियम, 1869 के आयरलैण्ड के चर्च के उच्छेदन विधेयक तथा 1884 के सुधार अधिनियम आदि पर लॉर्ड सभा का लोकसदन से संघर्ष हुआ और प्रत्येक बार उसे पराजय ही मिली, किन्तु 1895-1905 के काल में लॉर्ड सभा के विरोध के कारण कई विधेयक असफल हो गये। इस प्रकार लॉर्ड सभा की शक्ति का पुनरोदय हुआ और इससे लॉर्ड सभा को कुछ दम्भ हो गया।

1905 में उदार दल सत्तारूढ़ हुआ तो दोनों सदनों में निरन्तर तना-तनी चल रही थी। अतः लॉर्ड सभा ने सरकार के अनेक महत्वपूर्ण विधेयकों पर कुठाराघात कर दिया। सरकार बहुल मताधिकार का अन्त करना चाहती थी, करों के हेतु भूमि के मूल्यांकन के लिए एक नवीन योजना का अन्त करना चाहती थी, सार्वजनिक शिक्षा के प्रशासन की पुनः व्यवस्था करना चाहती थी और मद्य-व्यापार पर अधिक फीस लगाना चाहती थी, लेकिन लॉर्ड सभा के विरोध ने इन सब योजनाओं को असफल बना दिया। इस क्रम में 1910 में लॉर्ड सभा ने सम्पूर्ण वित्त विधेयक अस्वीकृत करने का दुस्साहस किया, जिससे एक गम्भीर संवैधानिक

संकट उठ खड़ा हुआ। अब सत्तारूढ़ उदारवादी दल इस निश्चय पर अटल हो गया कि लॉर्ड सभा के अधिकार सदैव के लिए मर्यादित कर दिये जाएं। सन् 1911 का संसदीय कानून इस निश्चय का ही परिणाम था, जो एक लम्बे संघर्ष के उपरान्त 18 अगस्त, 1911 को सम्राट के हस्ताक्षर प्राप्त कर सका।

1911 के संसदीय अधिनियम की मुख्य धाराएं

(1) यदि कोई वित्तीय विधेयक लोकसदन से पारित होकर लॉर्ड सभा में भेजा जाता है और वहां एक माह के अन्दर बिना किसी संशोधन के पास नहीं कर दिया जाता तो वह बिना लॉर्ड्स की सहमति के ही सम्राट के पास हस्ताक्षर हेतु भेज दिया जायेगा और सम्राट के हस्ताक्षर से कानून बन जायेगा।

(2) अधिनियम में वित्तीय विधेयक की परिभाषा दी गयी थी और साथ ही यह व्यवस्था की गयी थी कि यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में सन्देह हो कि वह वित्त विधेयक है अथवा नहीं तो इसका निर्णय लोकसदन का स्पीकर करेगा जो कि सर्वमान्य होगा।

(3) वित्तीय विधेयकों अथवा ऐसे विधेयकों को छोड़कर जिनका उद्देश्य लोकसदन के कार्यकाल में वृद्धि करना है, अन्य सभी सार्वजनिक विधेयक लोकसदन में निरन्तर तीन अधिवेशनों में पारित होने पर बिना लॉर्ड सभा की सहमति के भी सम्राट के पास भेजा जा सकेगा और कानून बन सकेगा, यदि पहले अधिवेशन में दूसरे वाचन और तीसरे अधिवेशन में पारित होने के बीच दो वर्ष का समय व्यतीत हो चुका है।

(4) संसद की अवधि 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दी गयी।

1949 का संसदीय अधिनियम—1911 के संसदीय अधिनियम के पारित हो जाने के बाद भी लॉर्ड सभा द्वारा एक साधारण विधेयक को दो वर्ष के लिए विलम्बित किया जा सकता था। इस बात का पूरा भय था कि लॉर्ड सभा अपनी इस शक्ति का प्रयोग प्रगतिशील कानूनों का विरोध करने के लिए करेगी। अतः 1945 में मजदूर दल की सरकार बन जाने पर लोकसदन द्वारा 10 सितम्बर, 1947 को एक विधेयक पारित किया गया और लॉर्ड सभा द्वारा लगातार तीन अधिवेशनों में अस्वीकार किये जाने के बावजूद यह 1949 में कानून बन गया। इस अधिनियम को ही 1949 के 'संसदीय अधिनियम' के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम द्वारा ही यह उपबन्धित किया गया है कि यदि कोई अवितीय विधेयक लोकसदन द्वारा एक वर्ष की अवधि में दो बार पारित कर दिया जाय, तो वह लॉर्ड सभा के विरोध करने पर भी पारित समझा जायेगा और सम्राट के हस्ताक्षर से कानून का रूप प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार लॉर्ड सभा को अवितीय विधेयकों के सम्बन्ध में पहले जो दो वर्ष की विलम्बकारी शक्ति प्राप्त थी, उसे घटाकर अब एक वर्ष कर दिया गया है।

वर्तमान समय में लॉर्ड सभा के कार्य तथा शक्तियां

लॉर्ड सभा की शक्तियां सदैव ही परिवर्तित होती रही हैं। 18वीं सदी के अन्त तक लॉर्ड सभा को लोकसदन की अपेक्षा अधिक शक्तियां प्राप्त थीं, फिर उसकी शक्तियां लोकसदन के बराबर हुईं और 1911 तथा 1949 के संसदीय अधिनियम पारित होने के बाद लॉर्ड सभा लोकसदन की तुलना में बहुत अधिक शक्तिहीन हो गयी है। 'शक्ति की दृष्टि से वर्तमान लॉर्ड सभा को 1911 के पूर्व की लॉर्ड सभा की छाया मात्र ही कहा जा सकता है।' ऑग तथा जिक के शब्दों में, "आज लॉर्ड सभा दूसरा सदन ही नहीं, वरन् दूसरे दर्जे का सदन हो गया है।"

लेकिन फिर भी लॉर्ड सभा को कुछ कार्य तथा शक्तियां अवश्य-ही प्राप्त हैं जिनका उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

विधायी शक्तियां—वित्त विधेयक के अतिरिक्त अन्य सभी विधेयक ब्रिटिश संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं। अनेक अवसरों पर अवितीय विधेयक लॉर्ड सभा में पहले प्रस्तावित भी किये गये और इस सभा ने उन पर बड़ा उपयोगी कार्य किया है। उदाहरणार्थ, 1949 का कम्पनी विधेयक सर्वप्रथम लॉर्ड सभा में प्रस्तुत किया गया और लॉर्ड सभा ने 347 संशोधनों के साथ उसे लोकसदन को भेजा। लोकसदन में पारित होने के बाद भेजे गये विधेयकों पर भी लॉर्ड सभा पूर्णरूपेण विचार करती है और इसमें वह अनेक ऐसे संशोधन करती है जिन्हें लोकसदन औचित्य के कारण स्वीकार कर लेता है।

किन्तु विधेयकों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय की शक्ति लोकसदन को ही प्राप्त है। सन् 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम पारित होने के बाद अब स्थिति यह है कि लॉर्ड सभा अवितीय विधेयक को एक बार अस्वीकार कर उसे एक वर्ष के लिए कानून बनाने से रोक सकती है। यदि लॉर्ड सभा द्वारा अस्वीकृत विधेयक को लोकसदन दुबारा पारित कर दे और इस बीच एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया हो, तो वह विधेयक राजा की स्वीकृति के पश्चात कानून बन जाता है, चाहे लॉर्ड सभा ने उसे स्वीकार किया हो या न किया हो। एक वर्ष का यह समय विधेयक को लोकसदन में पहले पारित होने के दूसरे वाचन की तिथि से लेकर उसके दूसरी बार पारित होने के तीसरे वाचन की तिथि तक लगाया जाता है।

इस प्रकार लॉर्ड सभा विधेयकों को प्रस्तावित करने, एक वर्ष की अवधि के लिए उन्हें रोक रखने और अपने विचारों के आधार पर सरकार तथा जनता को प्रभावित करने का कार्य करती है। व्यवहार में लॉर्ड सभा के द्वारा अपनी 'देर लगाने की शक्ति' (delaying powers) का 1911 के बाद बहुत कम और 1949 के बाद कभी भी प्रयोग नहीं किया गया है।¹

वित्तीय शक्तियां—वित्तीय क्षेत्र में लॉर्ड सभा की स्थिति लोकसदन की तुलना में बहुत निर्बल है। वित्तीय विधेयक न तो पहले लॉर्ड सभा में प्रस्तावित किये जा सकते हैं और न ही लॉर्ड सभा विचार करने की प्रक्रिया में उन्हें अनिश्चित काल तक रोके रख सकती है। यह वित्त विधेयक को केवल एक माह तक रोके रखने का कार्य कर सकती है। वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में लॉर्ड सभा सुझाव दे सकती है, लेकिन इन सुझावों को स्वीकार करना लोकसदन के विवेक पर निर्भर करता है।

कार्यपालिका से सम्बन्धित शक्तियां—ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के लगभग 4 सदस्य लॉर्ड सभा में से लिए जाते हैं और लॉर्ड सभा का अध्यक्ष, जिसे 'लॉर्ड चान्सलर' कहते हैं, आवश्यक रूप से ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता है। लोकसदन की भांति ही लॉर्ड सभा को भी अधिकार प्राप्त है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से प्रश्न पूछकर प्रशासनिक विषयों के सम्बन्ध में सूचनाएं प्राप्त कर सके। वह शासन की नीतियों तथा कार्यों पर खुला वाद-विवाद तथा आलोचना भी कर सकती है। इसके अतिरिक्त लॉर्ड सभा विभिन्न प्रशासनिक विभागों द्वारा किये गये 'प्रदत्त व्यवस्थापन' की जांच कर सकती है। लॉर्ड सभा के अनेक सदस्य विभिन्न व्यवसायों में दक्ष और विधि-विशेषज्ञ होते हैं तथा इस सभा के पास समयाभाव नहीं होता। इसलिए लॉर्ड सभा लोकसदन की तुलना में भी यह कार्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकती है। इस प्रकार लॉर्ड सभा को कार्यपालिका पर नियन्त्रण की कुछ शक्तियां प्राप्त हैं, लेकिन

1 R. M. Punnett, *British Government and Politics*, p. 271.

अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने का कार्य लोकसदन के द्वारा ही किया जा सकता है, लॉर्ड सभा के द्वारा नहीं।

न्यायिक शक्तियाँ—लॉर्ड सभा को न केवल व्यवस्थापन वरन् न्याय के क्षेत्र में भी कुछ शक्तियाँ प्राप्त हैं। न्याय के क्षेत्र में उसकी शक्तियाँ निश्चित रूप से महत्वपूर्ण हैं। इसके द्वारा ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयरलैण्ड के लिए अपील के उच्चतम न्यायालय के रूप में कार्य किया जाता है। लॉर्ड सभा जब अपील के न्यायालय के रूप में कार्य करती है तब उसके सब सदस्य कार्यवाही में भाग नहीं लेते, वरन् उस समय 9 कानूनी लॉर्ड तथा अन्य न्यायिक विशेषज्ञ लॉर्ड चान्सलर की अध्यक्षता में न्याय समिति के रूप में कार्य करते हैं। लॉर्ड सभा का निर्णय अन्तिम होता है जिसे संसद कानून द्वारा ही बदल सकती है, इसमें कोई न्यायालय परिवर्तन नहीं कर सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह नितान्त स्पष्ट है कि 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम पारित होने के बाद लॉर्ड सभा ने विधायी और वित्तीय क्षेत्र में अपने सभी महत्वपूर्ण अधिकार खो दिये हैं। रैम्जे म्योर के अनुसार, “अब तो लॉर्ड सभा केवल एक पुनर्विचार और पुनरीक्षण सदन-मात्र रह गया है और इस कार्य के लिए भी यह सम्भवतः अधिक समर्थ नहीं है।”

लॉर्ड सभा की आलोचना—वंशानुगत आधार पर संगठित होने के कारण बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही लॉर्ड सभा निरन्तर आलोचना की पात्र रही है और ब्रिटिश राजनीति के एक प्रमुख दल (मजदूर दल) के द्वारा तो 1907 से ही यह कहा जाता रहा है कि लॉर्ड सभा की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जे. आर. क्लाइन्स के शब्दों में मजदूर दल का मत है कि “लॉर्ड सभा एक ऐसी संस्था है जिसको ठीक से सुधारा नहीं जा सकता है, यदि उसे सुधारा नहीं जा सकता, तो उसे समाप्त कर दिया जाना चाहिए।”

लॉर्ड सभा की आलोचना करते हुए यह कहा जाता रहा है कि यह निहित स्वार्थों का दुर्ग है, इसमें अनुदार दल को स्थायी रूप से बहुमत प्राप्त है तथा इसके सदस्य अपने कार्यों के प्रति बहुत अधिक उदासीन हैं। 1958 के लाइफ पीयेरेज एक्ट के द्वारा वंशगत सदस्यों की संख्या बहुत कम कर दी गई है और वर्तमान वंशगत सदस्यों की मृत्यु के उपरान्त वंशगत प्रावधान समाप्त हो जाएगा। ऐसी स्थिति में लॉर्ड सभा के प्रति की गई कुछ आलोचनाएं अब अधिकांशतया अर्थहीन हो गई हैं, लेकिन आज भी लॉर्ड सभा की रचना और कार्यकरण की जो स्थिति है, उसे दृष्टि में रखते हुए निम्न आधारों पर लॉर्ड सभा की आलोचना की जाती है :

(1) **अलोकतन्त्रीय संस्था**—1958 के पूर्व लॉर्ड सभा के लगभग 90 प्रतिशत सदस्य वंशगत होते थे, आज वंशगत सदस्यों की संख्या 90 प्रतिशत से घटकर लगभग 20 प्रतिशत रह गई है। तथा वंशगत सदस्यों की संख्या निरन्तर कम होती चली जाएगी, लेकिन आज भी लॉर्ड सभा को एक अलोकतन्त्रीय संस्था कहना होगा। लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्वाचित होना चाहिए; पर वर्तमान समय में भी लॉर्ड सभा के गठन का आधार निर्वाचन न होकर मनोनयन है, यद्यपि अधिकांश सदस्य ऐसे हैं, जिनका मनोनयन योग्यता के आधार पर हुआ है। मनोनयन, या ‘योग्यता आधारित मनोनयन’ के आधार पर गठित संस्था को एक कुलीनतन्त्रीय संस्था ही कहना होगा। अतः आज भी यह कहा जा सकता है कि लॉर्ड सभा रचना की दृष्टि से लोकतन्त्रीय प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं है।

(2) निहित स्वार्थों का दुर्ग—प्रतिनिधि संस्था के द्वारा समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व किया जाना चाहिए, यद्यपि 1958 के बाद लॉर्ड सभा में श्रमिक हितों से जुड़े कुछ सदस्यों ने प्रवेश प्राप्त कर लिया है, लेकिन आज भी लॉर्ड सभा अधिकांश अंशों में समाज के एक ही वर्ग (धनी मानी वर्ग) का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि अन्य देशों के उच्च सदनों के सदस्य विभिन्न वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी कारण लॉर्ड सभा को 'धनिकों की सभा' (Plutocratic House) कहा जाता है, न कि कुलीन जनों का सदन। कार्टर के शब्दों में, "लॉर्ड सभा केवल सम्पत्ति और विशेषाधिकार का प्रतिनिधित्व ही नहीं करती, वह तो वास्तव में स्वयं सम्पत्ति और अधिकारों का गढ़ है।" केवल धनीमानी वर्ग के प्रतिनिधि होने के कारण लॉर्ड सभा ने अधिकांशतया प्रगतिशील और जनहितकारी नीतियों का विरोध ही किया है।

(3) दोषपूर्ण प्रक्रिया—लॉर्ड सभा के प्रक्रिया सम्बन्धी दोषों ने भी इसे एक महत्वहीन संस्था बना दिया है। लगभग 1,200 सदस्य संख्या वाले उस सदन की गणपूर्ति तीन है, जबकि लोकसदन की गणपूर्ति 40 है। विश्व के किसी भी विधायी सदन में इतने कम सदस्यों की उपस्थिति में विधायी कार्य नहीं किये जा सकते। लॉर्ड सभा की कार्यवाही के निश्चित नियम नहीं हैं और सदन के अध्यक्ष को अधिकार नहीं है कि वह सदस्यों को अनुशासित रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही कर सके। लॉर्ड सभा के सदस्य लोकसदन के सदस्यों की भांति दलीय आधार पर संगठित नहीं हैं, इसलिए आलोचकों ने इसे एक नियमबद्ध सदन नहीं, वरन् एक 'गड़बड़ घोटाला सदन' कहा है।

(4) विधायी और कार्यकारी शक्ति की निर्यक्ता—1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम के परिणामस्वरूप कानून-निर्माण के क्षेत्र में लॉर्ड सभा की स्थिति बहुत निर्बल हो गयी है। लॉर्ड सभा का कार्यपालिका पर कोई नियन्त्रण नहीं है, क्योंकि मन्त्रिमण्डल लोकसदन के ही प्रति उत्तरदायी होता है। आलोचकों का कथन है कि जब लॉर्ड सभा कानून-निर्माण और प्रशासन के क्षेत्र में प्रभावशाली रूप से कार्य करने में समर्थ नहीं है तो ऐसे सदन के अस्तित्व का क्या प्रभाव पड़ेगा?

(5) द्वितीय सदन के रूप में अनुपयोगिता—अनेक लेखकों के अनुसार द्वितीय सदन के रूप में लॉर्ड सभा अनुपयोगी और हानिकारक संस्था है। ग्रीबज के मत में लॉर्ड सभा की अनुपयोगिता के तीन कारण हैं : प्रथम, अब व्यवहार में लोकसदन स्वयं विधि-निर्माण कार्य के लिए एक द्वितीय सदन है। प्रथम सदन तो केबिनेट और प्रशासन है, जो विधेयकों का प्रारूप तैयार करता है। दूसरे, शासन कार्य में समय का बहुत महत्व है और संसदीय पद्धति में वैसे ही किसी प्रस्ताव पर विचार करने में लम्बा समय लगता है। ऐसी स्थिति में लॉर्ड सभा अनावश्यक विलम्ब करने का ही कार्य करती है। तीसरे, जहां तक विधेयकों को दोहराने का सम्बन्ध है, यह कार्य लॉर्ड सभा जैसे विशालकाय सदन की अपेक्षा विधेयकों का प्रारूप बनाने वाले और कानून के विशेषज्ञों की एक समिति द्वारा अधिक अच्छे प्रकार से किया जा सकता है। लॉर्ड सभा तो राजनीतिक रूप से समय के नितान्त विरुद्ध संस्था है। लास्की के द्वारा भी इन्हीं आधारों पर लॉर्ड सभा की अनावश्यकता और अनुपयोगिता बतायी गयी है।

1 "The House of Lords is not only a representative of wealth and privilege. It is wealth and privilege personified."

—G. M. Carter & others, *The Government of Great Britain*.

भूतपूर्व प्रधानमन्त्री चर्चिल के शब्दों में, “लॉर्ड सभा ‘अप्रतिनिधिक, अनुत्तरदायी एवं अनुपस्थित’ संस्था है।”¹

लॉर्ड सभा की उपयोगिता—यद्यपि शक्तियों की दृष्टि से लॉर्ड सभा बहुत अधिक निर्बल है और रचना के आधार पर इसे बहुत अधिक दोषपूर्ण कहा जाता है, फिर भी सामान्य विचार यही है कि लॉर्ड सभा में परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक सुधार करते हुए इसे बनाये रखा जाय। लॉर्ड सभा की उपयोगिता के आधार निम्नलिखित हैं :

(1) लोकसदन की स्वेच्छाचरिता पर अंकुश—लोकतन्त्र की रक्षा के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि व्यवस्थापन पर किसी एक दल या संस्था का एकाधिकार स्थापित न हो सके। लॉर्ड सभा के न होने पर लोकसदन स्वेच्छाचारी हो सकता है, और उसके द्वारा जनता की स्वतन्त्रता के साथ मनमाने तरीके से खिलवाड़ किया जा सकता है। अतः लोकसदन की अधिनायकवादी मनोवृत्ति पर रोक लगाने के लिए लॉर्ड सभा का अस्तित्व आवश्यक है।

(2) लोकसदन द्वारा पारित विधेयकों पर पुनर्विचार—लॉर्ड सभा की उपयोगिता का सबसे प्रमुख आधार यह है कि वह लोकसदन द्वारा पारित विधेयकों पर पुनर्विचार करता है। वर्तमान समय में लोकसदन के पास समय की कमी, अत्यधिक कार्यभार और वाद-विवाद को नियन्त्रित करने हेतु ‘गिलोटीन’ जैसे नियमों की व्यवस्था के कारण अनेक बार विधेयकों में प्रावधिक कमियां रह जाती हैं। लॉर्ड सभा में अपेक्षाकृत स्वतन्त्र वाद-विवाद होने के कारण विधेयकों पर पूर्ण विचार कर इन त्रुटियों को दूर किया जा सकता है। लॉर्ड सभा द्वारा किये जाने वाले इस कार्य के महत्व को लोकसदन भी स्वीकार करता है।

ब्रिटिश संविधान के लचीला होने तथा ब्रिटेन में स्विट्जरलैण्ड के समान लोक निर्णय या अमरीका के समान न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था न होने के कारण इस प्रकार के पुनर्विचार के सदन की आवश्यकता एवं उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। ऑग और जिक ने इस तथ्य पर बहुत बल दिया है²

(3) सभी वर्गों की प्रतिनिधि संस्था और योग्यता का भण्डार—लोक सदन के सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं, इस कारण समाज में बहुमत रखने वाले निम्न वर्गों को ही इसमें प्रतिनिधित्व मिल पाता है। लॉर्ड सभा समाज के निहित स्वार्थों और वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करती है और ब्रिटिश संसद में सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान कर एक आदर्श व्यवस्थापिका का रूप देती है।

इसके अतिरिक्त देश में अनेक ऐसे योग्य, अनुभवी और विद्वान व्यक्ति होते हैं, जिनका संसद में होना देश के लिए बहुत लाभकारी होता है, किन्तु जो संकीर्ण गुटवादिता और चुनाव के गन्दे दलदल से बचना चाहते हैं। इन सदस्यों को लॉर्ड सभा में मनोनीत कर देश उनकी योग्यता से लाभान्वित हो सकता है। ब्रिटिश लॉर्ड सभा में कुछ महत्वपूर्ण प्रधानमन्त्री, अनेक भूतपूर्व मन्त्री, प्रसिद्ध न्यायवेत्ता और उद्योगपति, श्रमिक संघों के ख्यातिप्राप्त नेता, समाजसेवी और ज्ञान-विज्ञान तथा कला के क्षेत्र में उच्चतम स्तर पर कार्य कर चुके व्यक्ति होते हैं और इस दृष्टि से लॉर्ड सभा को ‘योग्यता का भण्डार’ कहा जा सकता है।³

1 “Unrepresentative, irresponsible, absentee.”

2 Ogg & Zink, *Modern Foreign Governments*, p. 231.

3 R. M. Punnett, *British Government and Politics*, p. 266.

—Churchill.

(4) व्यवस्थापन कार्य में सहायक—कल्याणकारी राज्य की धारणा को अपना लिये जाने के कारण लोकसदन का कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य बहुत अधिक बढ़ गया है और ऐसी स्थिति में अकेले लोकसदन द्वारा यह समस्त कार्य नहीं किया जा सकता। लॉर्ड सभा के द्वारा लोकसदन के कार्यभार को कम किया जा सकता है। निजी विधेयक और बहुत अधिक महत्वपूर्ण, किन्तु अविवादग्रस्त विधेयकों को पहले लॉर्ड सभा में प्रस्तावित किया जा सकता है और लॉर्ड सभा में इन विधेयकों पर गम्भीरता के साथ विचार किये जाने के बाद इन्हें लोकसदन में भेजा जा सकता है। इस प्रकार लोकसदन के समय और शक्ति की बचत होती है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड सभा की उपयोगिता स्वीकार करते हुए मार्टिन लिण्डसे ने कहा है, “लॉर्ड सभा के व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों की समाप्ति से लोकसदन का कार्य बहुत (लगभग दुगुना) बढ़ जायगा।”¹

(5) जनमत को प्रभावित करने का साधन—लोकसदन के वाद-विवाद दलगत निष्ठा से आबद्ध होते हैं और सदस्यों के सिर पर दलीय अनुशासन का चाबुक मंडराता है। इस प्रकार लोकसदन के विवादों में उच्चस्तर का अभाव रहता है, परन्तु लॉर्ड सभा में दलीय अनुशासन और वाद-विवाद पर प्रतिबन्ध की व्यवस्था न होने के कारण सार्वजनिक महत्व के नीति सम्बन्धी विषयों पर मुक्त विचार-विनिमय होता है। व्यवहार के अन्तर्गत भी यह देखा गया है कि लॉर्ड सभा के विवाद अधिक उच्चस्तरीय होते हैं। एण्ड्रे मैथियोट (Andre Methiot) के अनुसार, “लॉर्ड सभा लोकमत को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण प्रभाव रखती हैं।”²

(6) ब्रिटिश जाति के स्वभाव के अनुकूल—लॉर्ड सभा इस दृष्टि से भी उपयोगी है कि वह ब्रिटिश जाति के स्वभाव के अनुकूल है। ब्रिटिश जाति स्वभाव से ही रूढ़िवादी है और अतीत से चली आ रही परम्परागत संस्थाओं के प्रति स्नेह रखती है। स्वाभाविक रूप से सदियों से चली आ रही संस्था (लॉर्ड सभा) का अन्त ब्रिटिश जनता द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता। हैरीसन ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि “ब्रिटेन में द्वितीय सदन कायम है क्योंकि वह सदा ही रहा है।”

ब्रिटिश राजनीति और व्यवस्थापन क्षेत्र में लॉर्ड सभा की उपयोगिता बताते हुए डॉ. फाइनर ने लिखा है कि “यह सार्वजनिक वाद-विवाद के लिए विश्व के विशिष्टतम स्थलों में से एक है, क्योंकि इसे विधेयक, नीति या प्रशासन पर किसी भी स्थिति में वाद-विवाद करने का अधिकार है इसकी सदस्यता का एक बड़ा भाग ज्ञान और राजनीतिक, सामाजिक तथा व्यावसायिक अनुभवों की दृष्टि से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।”

लॉर्ड सभा का सुधार

लॉर्ड सभा के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यह है कि इंग्लैण्ड जैसे प्रजातान्त्रिक देश में लॉर्ड सभा को समय के अनुकूल नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसके साथ ही लॉर्ड सभा की अपनी कुछ उपयोगिताएं हैं, इसलिए लॉर्ड सभा का अन्त करने के बजाय इसे समय के अनुकूल रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

1 “The abolition of the legislative functions of the House of Lords would greatly increase, indeed almost double, the work of the House of Commons.”

—Martin Lindsay

2 “The House of Lords has an important influence in moulding public opinion.”

—Andre Methiot

1832 में प्रथम सुधार कानून पारित होने के बाद से ही लोकसदन और लॉर्ड सभा के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध समाप्त हो गये और तभी से यह सोचा जाने लगा कि लॉर्ड सभा में सुधार किया जाना चाहिए। पिछले लगभग 150 वर्षों में इस प्रश्न पर अनेक व्यक्तियों और समितियों द्वारा विचार किया गया। इस प्रकार के सुधार प्रस्तावों में प्रमुख हैं : लॉर्ड रसेल का प्रस्ताव (1869), लॉर्ड सैलिसबरी का प्रस्ताव (1888), लॉर्ड लैंसडाउन की योजना (1909), संसदीय अधिनियम 1911, ब्राइस समिति के सुझाव (1918), लॉर्ड जार्ज की योजना (1922), लॉर्ड सैलिसबरी के प्रस्ताव (1932) और संसदीय अधिनियम, 1945, आदि।

युद्धोत्तर काल में भी लॉर्ड सभा में सुधार के प्रश्न पर विचार हुआ। इस दिशा में किये गये दो प्रमुख प्रयत्नों का उल्लेख इस प्रकार है :

सर्वदलीय सम्मेलन के सुझाव (1949)—1949 के संसदीय अधिनियम द्वारा लॉर्ड सभा की रचना में कोई सुधार नहीं किया गया था। यह सोचा गया कि सभी दलों की सहमति से लॉर्ड सभा के लिए योजना तैयार की जानी चाहिए। अतः 1949 में एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन किया गया और उसके द्वारा लॉर्ड सभा में सुधार के लिए सर्वसम्मति से निम्न सुझाव दिये गये :

- (i) वर्तमान समय की वंशपरम्परागत सदस्यता का अन्त कर दिया जाय।
- (ii) व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और सार्वजनिक सेवा के आधार पर संसदीय लॉर्ड नियुक्त किये जायं। ये संसदीय लॉर्ड योग्यतानुसार वंशपरम्परागत लॉर्ड में से भी लिए जा सकते हैं।
- (iii) संसदीय लॉर्डों में कुछ राजवंश के सदस्य और आध्यात्मिक लॉर्ड भी सम्मिलित हों। संसदीय लॉर्डों को लोकसदन के सदस्यों की भांति ही वेतन दिया जाय।
- (iv) महिलाओं को भी लॉर्ड सभा की सदस्यता प्रदान की जाय।
- (v) वर्तमान समय के जो पियर संसदीय लॉर्डों की श्रेणी में नहीं आ सके उन्हें लोकसदन के लिए मतदान का अधिकार और निर्वाचित होने का अधिकार प्रदान किया जाय। लेकिन यह योजना भी कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकी।

श्रमिक दलीय सरकार द्वारा प्रस्तावित सुधार योजना (1968)—लॉर्ड सभा में अनुदार दल को स्थायी बहुमत प्राप्त है और लॉर्ड सभा श्रमिक दल का निरन्तर विरोध करती है, अतः श्रमिक दल लॉर्ड सभा में सुधार करने के लिए विशेष उत्सुक रहता है। 1966 में श्रमिक दल के पदारूढ़ होने के बाद भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई। नवम्बर 1968 में मजदूर दल की सरकार के द्वारा एक 'श्वेत पत्र' प्रकाशित किया गया। श्वेत पत्र में प्रस्तावित योजना का उद्देश्य लोकसदन को वास्तविक स्वतन्त्रता प्रदान करना और लॉर्ड सभा को प्रजातान्त्रिक दिशा प्रदान करना था। प्रस्तावित योजना में कहा गया था कि लॉर्ड सभा के सदस्यों की दो श्रेणियां होनी चाहिए : प्रथम, मत देने वाले सदस्य (Voting Peers) और द्वितीय, मत न देने वाले सदस्य (Non-Voting Peers)। सदस्यता के सम्बन्ध में उत्तराधिकार की व्यवस्था का अन्त कर दिया जाना चाहिए और मत देने का अधिकार रखने वाले सदस्यों को वेतन दिया जाना चाहिए। लॉर्ड सभा को केवल 6 माह की ही देर लगाने का अधिकार होना चाहिए। प्रस्तावित योजना का पिछली पंक्तियों के सदस्यों द्वारा तीव्र विरोध किये जाने के कारण इसे वापस ले लिया गया।

लॉर्ड सभा की रचना में किये गये सुधार—उपर्युक्त योजनाओं में लॉर्ड सभा के सुधार के लिए जो सुझाव दिये गये हैं उनमें से कुछ अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण सुझावों को स्वीकार किया जा चुका है। शक्तियों के सम्बन्ध में 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम द्वारा लॉर्ड सभा को लोकसदन की तुलना में गौण स्थिति प्रदान कर दी गयी है और यह स्थिति बहुत कुछ सीमा तक सन्तोषजनक है। रचना की दृष्टि से इसमें सुधार के लिए दो प्रयत्न 1958 और 1963 में किये गये, जो इस प्रकार हैं :

1958 का जीवनपर्यन्त पीयर अधिनियम (Life Peerage Act, 1958)—इस अधिनियम के आधार पर प्रमुखतया तीन सुधार किये गये : (i) लॉर्ड सभा में कुछ सीमित संख्या के जीवन-पर्यन्त पीयर (Life Peers) रखे गये, (ii) महिलाओं को भी पीयर बनाया गया, और (iii) लॉर्ड सभा के सदस्यों को दैनिक भत्ता दिया जाने लगा।

जीवनपर्यन्त पीयर रखने का प्रमुख उद्देश्य यह था कि सरकार राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिष्ठित और अनुभवी व्यक्तियों को लॉर्ड सभा में स्थान दे सके। ऐसे व्यक्तियों से लॉर्ड सभा की कार्यवाही में निरन्तर सक्रिय रहने की भी आशा की जा सकती है। लॉर्ड सभा एक दल का गढ़ न बन सके, इस दृष्टि से सरकार ने यह आश्वासन दिया कि पीयर बनाने के पूर्व विरोधी दल की स्वीकृति ले ली जायेगी।

सन् 1963 का पीयरैज एक्ट—सन् 1962 में लॉर्ड सभा में सुधार का प्रस्ताव फिर आया जिसके फलस्वरूप सन् 1963 का पीयरैज एक्ट बना। इस अधिनियम के अन्तर्गत : (i) पैतृक लॉर्ड अपने जीवन के लिए अपना लॉर्ड पद त्याग सकते हैं, परन्तु उत्तराधिकारी को लॉर्ड पद फिर मिल सकता है। (ii) स्कॉटलैण्ड के सभी पीयर लॉर्ड सभा के सदस्य हो गये। (iii) आयरलैण्ड के पीयर लोकसदन के लिए चुनाव लड़ सकते हैं। (iv) महिला लॉर्ड को भी ये सब अधिकार प्राप्त हो गये।

सन् 2000 ई. का पीयरैज एक्ट—लॉर्ड सभा के गठन के सम्बन्ध में अधिक महत्वपूर्ण कदम 2000 ई. के अन्तिम दिनों में मजदूर दल की सरकार द्वारा 'पीयरैज एक्ट, 2000' ई. के रूप में उठाया गया है। लॉर्ड सभा की आलोचना का सबसे प्रमुख आधार रहा है : पुश्तैनी लॉर्डों की व्यवस्था या वंश परम्परागत लॉर्डों की व्यवस्था। आलोचना का औचित्य और महत्व इस बात की दृष्टि से रहा है कि 1958 के पूर्व तक लगभग 90 प्रतिशत और 1958 में आजीवन लॉर्ड की व्यवस्था प्रारम्भ हो जाने के बाद अस्सी के दशक में भी लगभग 80 प्रतिशत सदस्य 'पुश्तैनी लॉर्ड' रहे हैं। 2000 ई. के अन्तिम दिनों में मजदूर दल की सरकार द्वारा 'पीयरैज एक्ट, 2000 ई.' पारित कर यह निश्चित कर दिया गया है कि भविष्य में पुश्तैनी लॉर्ड का देहान्त हो जाने पर उसके पुत्र या उत्तराधिकारी को लॉर्ड नहीं बनाया जाएगा। इस प्रकार लॉर्ड सभा का पुश्तैनी स्वरूप धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा तथा योग्यता एवं अनुभव के आधार पर सदस्यता प्राप्त करने वाले आजीवन सदस्यता प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की संख्या तथा कुल सदस्यों में उनका प्रतिशत बढ़ता चला जाएगा। यह व्यवस्था लॉर्ड सभा की संरचना और कार्यकरण में मूलभूत सुधार लायेगी। इस प्रकार अब लॉर्ड सभा की संरचना में मूलभूत सुधार की स्थिति प्रारम्भ हो गई है।

लॉर्ड सभा में सुधार के लिए कुछ व्यावहारिक सुझाव

ब्रिटेन में सामान्य भावना यही है कि लॉर्ड सभा जैसी संस्था को नष्ट नहीं किया जाना चाहिए, जो पुरातन महत्व की है और इतनी शक्तिहीन हो चुकी है कि अब कोई विशेष हानि नहीं पहुंचा सकती। लेकिन 2000 ई. में लॉर्ड सभा की संरचना में किये गये मूलभूत

सुधार के बावजूद रचना की दृष्टि से लॉर्ड सभा अब भी दोषपूर्ण है और इसे वर्तमान समय की राजनीतिक प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। लॉर्ड सभा में सुधार के लिए स्वयं अपने विवेक के आधार पर निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :

(1) वर्तमान समय में वंशगत सदस्यों की संख्या 90 प्रतिशत से घटकर लगभग 20 प्रतिशत रह गई है, लेकिन आज भी वंशगत सदस्य हैं। सुझाव यह है कि वंशगत सदस्यों की व्यवस्था का तत्काल और पूर्णतया अन्त कर दिया जाना चाहिए।

(2) द्वितीय सदन की सदस्य संख्या के सम्बन्ध में लगभग सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि इसकी सदस्य संख्या प्रथम सदन की तुलना में लगभग 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। कम सदस्य संख्या, लगभग 300 की सदस्य संख्या वाला द्वितीय सदन ही अपने कर्तव्यों का सम्पादन उचित रूप से कर सकता है।

(3) सदस्यों की नियुक्ति के लिए आंशिक रूप से अप्रत्यक्ष निर्वाचन और आंशिक रूप से मनोनयन की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। लगभग 150 सदस्य लोकसदन के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के आधार पर निर्वाचित किये जाने चाहिए। शेष लगभग 150 सदस्यों को सम्राट के द्वारा नियुक्त किया जाना चाहिए। ये ऐसे व्यक्ति होने चाहिए, जिन्होंने ब्रिटिश सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों—राजनीति, विधि, वाणिज्य, कला, विज्ञान, साहित्य, श्रमिक संगठन, स्थानीय स्वशासन, आदि—में विशेष योग्यता का परिचय दिया हो। सदस्य नियुक्त किये जाते समय इस बात को दृष्टि में रखा जाना चाहिए कि सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाय और लॉर्ड सभा में किसी राजनीतिक दल का स्थायी बहुमत न हो। सम्राट द्वारा नियुक्त किये जाने वाले ये सदस्य न केवल योग्य, वरन् व्यवस्थापन तथा प्रशासन के क्षेत्र में सक्रिय रुचि रखने वाले भी होने चाहिए। वर्तमान समय में सदस्यों की नियुक्ति इसी आधार पर की जा रही है और आज लगभग 20 प्रतिशत स्थान (707 में 126) महिलाओं को प्राप्त हैं भविष्य में महिलाओं का प्रतिशत निश्चित रूप से बढ़ेगा।

(4) लॉर्ड सभा के सदस्यों को भी लोकसदन के सदस्य के समान ही वेतन और भत्ते प्राप्त होने चाहिए, इससे व्यवस्थापन कार्य के प्रति उनकी उदासीनता दूर करने में सहायता मिलेगी।

(5) जहां तक शक्तियों का सम्बन्ध है, वर्तमान समय की प्रवृत्ति यही है कि द्वितीय सदन को प्रथम सदन की तुलना में कम शक्तियां ही प्राप्त होनी चाहिए। इस दृष्टि से दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों में वर्तमान स्थिति को बनाये रखना ही उचित कहा जा सकता है।

लॉर्ड सभा में सुधार के सम्बन्ध में एक बाधा यह है कि पहले ब्रिटिश राजनीति के दो प्रमुख दलों (अनुदार दल और उदार दल) में इस सम्बन्ध में मतभेद थे और वर्तमान समय में भी ब्रिटिश राजनीति के दो प्रमुख दलों (अनुदार दल और मजदूर दल) में इस सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद हैं। अनुदार दल जहां इसकी सदस्यता के आधार को कुछ सुधारने, लेकिन इसे वर्तमान समय की अपेक्षा अधिक शक्तियां प्रदान करने के पक्ष में है, वहां मजदूर दल इसे समाप्त करने के ही पक्ष में या इसका मूल आधार ही परिवर्तित करने के पक्ष में है। भविष्य में लॉर्ड सभा की रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो सकते हैं।

ब्रिटेन में गत लगभग एक दशक से लॉर्ड सभा का अन्त करने की बात पर बहस चल रही है और मतदाताओं का एक बड़ा वर्ग मांग कर रहा है कि 'छोटे और प्रभावशाली

सरकार के इस युग में ब्रिटेन जैसे परिपक्व लोकतन्त्र में 'सामन्तवादी अवशेष' (लॉर्ड सभा) के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए, लेकिन 2005 ई. के आम चुनावों में लॉर्ड सभा कोई चुनावी मुद्दा नहीं थी, अतः यह समझा जा सकता है कि लॉर्ड सभा निकट भविष्य में समाप्त होने वाली संस्था नहीं है।¹

लोकसदन

(HOUSE OF COMMONS)

ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत संसद की प्रभुसत्ता' (Sovereignty of the Parliament) का जो उल्लेख किया जाता है, आज इसका तात्पर्य लोकसदन और लॉर्ड सभा की प्रभुसत्ता से नहीं वरन् 'लोकसदन की प्रभुसत्ता' से ही होता है। वैसे तो 18वीं सदी में भी सर रॉबर्ट वाल्पोल ने कहा था कि "जब कोई मन्त्री संसद से परामर्श लेता है, तो वह लोकसदन में ही परामर्श लेता है। जब सम्राट संसद को विघटित करता है तब वह लोकसदन को ही विघटित करता है।" सर रॉबर्ट वाल्पोल के समय तो स्थिति संदिग्ध ही थी, किन्तु 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम पारित होने के बाद वर्तमान समय में जो स्थिति है, उसके सम्बन्ध में न्यूमैन के शब्दों में कहा जा सकता है कि "संसद की प्रभुसत्ता लोकसदन में निवास करती है।"

लोकसदन की रचना (Composition of the House of Commons)

लोकसदन—सदस्य संख्या—लोक सदन की सदस्य संख्या में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। ब्रिटेन में समय-समय पर निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं का पुनर्निर्धारण होता है तथा इस पुनर्निर्धारण के आधार पर लोक सदन की सदस्य संख्या में परिवर्तन किया जाता है। लगभग दो दशक से लोक सदन की सदस्य संख्या 659 थी। 2003-04 में निर्वाचन क्षेत्र की सीमाओं का पुनर्निर्धारण किया गया तथा इस पुनर्निर्धारण के आधार पर लोक सदन की सदस्य संख्या 646 निर्धारित की गई है। इस प्रकार वर्तमान में लोक सदन की सदस्य संख्या 646 है। विभिन्न क्षेत्रों में स्थानों का यह विभाजन इस प्रकार है—ब्रिटेन—529, स्कॉटलैण्ड—59, वेल्स—40, उत्तरी आयरलैण्ड—18। दो दशक से स्कॉटलैण्ड के प्रतिनिधियों की संख्या 72 थी, अब यह घटाकर 59 कर दी गई है। शेष क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व यथावत है।

लोकसदन के समस्त सदस्य वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर चुने जाते हैं। पहले ब्रिटेन में 21 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क समझा जाता था, किन्तु 1969 के अधिनियम के अनुसार 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक नर-नारी को मताधिकार प्रदान कर दिया गया है। ब्रिटेन में पहले कुछ बहुल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र भी थे, किन्तु 1948 ई. से सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल सदस्यीय हो गये हैं। लोकसदन के एक सदस्य द्वारा लगभग 75 हजार मतदाताओं का प्रतिनिधित्व किया जाता है। ये चुनाव 'साधारण बहुमत की प्रणाली' (First past the post system) के आधार पर होते हैं और 1872 ई. से ब्रिटेन में गुप्त मतदान की प्रणाली को अपना लिया गया है।

वयस्क मताधिकार की इस व्यवस्था के अन्तर्गत विदेशियों, देशद्रोही तथा घोर अपराध के लिए दण्डित व्यक्तियों तथा पागल या दिवालिया प्रमाणित व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, चुनाव में गैर-कानूनी कार्य करने वाले व्यक्तियों को 5 वर्ष के लिए मताधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

1 *The Times of India* (N. Delhi), Sep. 27, 2004 p. 14

सदस्यों के लिए योग्यताएं—लोकसदन का सदस्य निर्वाचित होने के लिए निम्न योग्यताएं आवश्यक हैं :

● वह ग्रेट ब्रिटेन का नागरिक हो। ● उसकी आयु कम-से-कम 21 वर्ष अवश्य हो। ● मतदाताओं की सूची में उसका नाम सम्मिलित हो। ● वह देश के प्रति निष्ठा की शपथ लेने के लिये तैयार हो।

1957 के 'लोकसदन अयोग्यता अधिनियम' और अन्य व्यवस्थाओं के अनुसार निम्नलिखित व्यक्ति लोकसदन के सदस्य नहीं बन सकते :

● जो व्यक्ति लॉर्ड सभा के सदस्य हों; ● जो व्यक्ति उत्तरी आयरलैण्ड, इंग्लैण्ड तथा स्काटलैण्ड चर्च के पादरी अथवा रोमन कैथोलिक चर्च के पादरी हों; ● जो स्काटलैण्ड या ब्रिटेन के पियर हों; ● जो नगरों के मेयर तथा काउण्टियों के शैरिफ हों; ● जो राजमुकुट के आधीन पद धारण करने वाले अर्थात् सरकारी कर्मचारी हों; ● जो सरकार से ठेका लेने वाले व्यक्ति हों अथवा जो अन्य किसी रूप में प्रत्यक्ष रूप से सरकार से लाभान्वित होते हों।

ब्रिटेन में भारत के ही समान कोई भी उम्मीदवार किसी भी चुनाव-क्षेत्र से चुनाव लड़ सकता है। उसके लिए आवश्यक नहीं है कि वह उसी निर्वाचन-क्षेत्र का निवासी हो जिसमें वह चुनाव लड़ रहा है। इस सम्बन्ध में आधारभूत विचार यह है कि लोकसदन के सदस्य किसी निर्वाचन क्षेत्र विशेष के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि होते हैं।

निर्वाचन पद्धति की समीक्षा—वर्तमान समय में लोकसदन के सदस्यों का चुनाव साधारण बहुमत की प्रणाली के आधार पर होता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में वही उम्मीदवार चुना जाता है जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त हों, चाहे उसे समस्त मतदाताओं का बहुमत प्राप्त हो या न हो। इस पद्धति को अनेक आधारों पर दोषपूर्ण कहा जा सकता है। (1) उदाहरण के लिए 9 जून, 1983 के आम चुनाव में मजदूर दल ने 29 प्रतिशत मत प्राप्त कर लोकसदन में लगभग 200 स्थान प्राप्त किये, लेकिन 'उदार-दल सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के गठबन्धन' जिसने 26 प्रतिशत मत प्राप्त किये, उसे लोकसदन में 5 प्रतिशत स्थान भी प्राप्त नहीं हुए। इसी कारण उदार दल के नेता डेविड स्टील ने चुनाव परिणाम पर टिप्पणी करते हुए कहा कि चुनाव पद्धति ने देश के साथ धोखा किया है। (2) लोकसदन के चुनाव एक अन्य दृष्टि से भी राष्ट्रीय जनमत का ठीक से प्रतिनिधित्व नहीं करते। फरवरी 1974 के चुनाव में यद्यपि अनुदार दल ने मजदूर दल से अधिक मत प्राप्त किये, लेकिन लोकसदन में मजदूर दल को 301 स्थान प्राप्त हुए जबकि अनुदार दल को केवल 296 स्थान ही मिले। (3) अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में निर्वाचित सदस्य को पराजित सदस्यों के कुल मतों से कम प्राप्त होते हैं फिर भी वे चुन लिये जाते हैं। (4) इसके अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में व्यक्तियों के मतों का कोई भी उपयोग नहीं हो पाता।

चुनाव पद्धति के इन दोषों, विशेषतया प्रथम दोष के कारण निर्वाचन पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है और उदार दल द्वारा निरन्तर यह मांग की जाती रही है कि लोकसदन के चुनाव में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए, लेकिन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की अपनी समस्याएं हैं और ब्रिटेन में निकट भविष्य में इसे अपनाये जाने की कोई सम्भावना नहीं है।

1 "Country has been cheated by the electoral system."

—David Steel, Quoted in *Hindustan Times*, Dated June 11, 1983, p. 1.

लोकसदन के सदस्यों के वेतन, भत्ते और विशेषाधिकार—लोकसदन के सदस्यों को सबसे पहले 1912 ई. में वेतन दिया गया। यह वेतन 400 पौण्ड प्रति वर्ष था। इस वेतन में समय-समय पर वृद्धि की गई। जनवरी 1995 के संसदीय निर्णय के अनुसार वर्तमान समय में उन्हें 33,189 पौण्ड प्रति वर्ष वेतन दिया जाता है। 1965 में लोकसदन के सदस्यों के लिए पेन्शन की भी व्यवस्था की गई है। जो व्यक्ति कम-से-कम 10 वर्ष तक लोकसदन के सदस्य रह चुके हैं, उन्हें 65 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर पेन्शन मिलती है। वेतन अथवा पेन्शन के अतिरिक्त सदस्यों को 'कार्यालय खर्च' राजधानी में रहने के लिए 'निर्वाह भत्ता' तथा रेल द्वारा मुफ्त यात्रा की सुविधा दी जाती है। इसके अतिरिक्त लोकसदन के सदस्यों को निम्न विशेषाधिकार प्राप्त हैं :

- (1) सदस्यों को सदन में भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है और उनके द्वारा सदन में कही गयी किसी भी बात के लिए उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती।
- (2) सदन के अधिवेशन से 40 दिन पूर्व और 40 दिन बाद तक उन्हें किसी भी दीवानी मुकदमे में गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।
- (3) लोकसदन के सदस्यों को सामूहिक रूप से ब्रिटिश सम्राट के पास पहुंचने का अधिकार है अर्थात् स्पीकर के माध्यम से वे अपनी बात सम्राट तक पहुंचा सकते हैं।
- (4) लोकसदन के सदस्यों को अपनी कार्यवाही पर नियन्त्रण का अधिकार है। यदि सदन चाहे तो गुप्त कार्यवाही की स्थिति को अपना सकता है।
- (5) यदि कोई व्यक्ति सदन के विशेषाधिकार का उल्लंघन करता है तो सदन स्वयं उसको दण्डित कर सकता है।
- (6) सदन किसी सदस्य की अयोग्यताओं के विषय में निर्णय दे सकता है और इस आधार पर चुनाव रद्द कर सकता है।

कार्यकाल—लोकसदन का कार्यकाल 5 वर्ष है, किन्तु आवश्यकतानुसार इस कार्यकाल में वृद्धि की जा सकती है जैसा कि प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में किया गया। प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर सम्राट के द्वारा लोकसदन को पांच वर्ष की अवधि व्यतीत होने के पूर्व भी विघटित किया जा सकता है। सामान्यतया लोकसदन को समय के पूर्व ही विघटित कर दिया जाता है। 2001 ई. में गठित लोकसदन की समयावधि 12 जून, 2006 को समाप्त होनी थी, लेकिन इसे अप्रैल 2005 में विघटित कर 5 मई, 2005 ई. को आम चुनाव करवा लिए गए।

लोकसदन के पदाधिकारी

(OFFICERS OF THE HOUSE OF COMMONS)

लोकसदन का सबसे प्रमुख अधिकारी अध्यक्ष होता है जिसे नवीन संसद के निर्माण के बाद लोकसदन के सदस्यों द्वारा निर्वाचित किया जाता है। अन्य संसदीय अधिकारियों में 'साधन समिति' (Committee of the Ways and Means) का अध्यक्ष और उपाध्यक्ष प्रमुख होते हैं जिनका चुनाव भी लोकसदन के सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में 'साधन समिति' का अध्यक्ष और उसकी भी अनुपस्थिति में साधन समिति का उपाध्यक्ष सदन की अध्यक्षता करता है।

सदन का अधिवेशन—लोकसदन का अधिवेशन लॉर्ड सभा के साथ ही प्रारम्भ होता है। ग्रेट ब्रिटेन में यह परम्परा है कि वर्ष में एक अधिवेशन अवश्य ही बुलाया जाय,

आवश्यकतानुसार अधिक अधिवेशन बुलाये जा सकते हैं। सदन की बैठकें सप्ताह के प्रथम चार दिन सोमवार से गुरुवार तक पौने तीन बजे दोपहर के बाद आरम्भ होती हैं। शुक्रवार निजी प्रस्तावों और याचिकाओं के लिए सुरक्षित होता है और इस दिन दोपहर के पूर्व 11 बजे सदन की बैठक होती है। सप्ताह के प्रथम चार दिन दोपहर से पूर्व का समय समितियों के कार्य के लिए रखा जाता है। गणपूर्ति के लिए सदन में 40 होने चाहिए।

लोकसदन का अध्यक्ष

(SPEAKER)

इंग्लैण्ड में लोकसभा के अध्यक्ष को 'स्पीकर' कहा जाता है। प्रारम्भ में अध्यक्ष द्वारा लोकसदन के विचार सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत करने का कार्य किया जाता था, इसी से इसका नाम 'स्पीकर' हो गया। लेकिन राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्र की स्थापना के बाद से अध्यक्ष पद पर आसीन यह पदाधिकारी बहुत ही कम बोलता है। ब्रिटेन में स्पीकर पद का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि यह 1396 से चला आ रहा है जबकि थामस हंगरफोर्ट ब्रिटेन के प्रथम स्पीकर बने थे।

अध्यक्ष को संसद द्वारा निर्धारित वार्षिक वेतन व निवास के लिए वेस्टमिन्स्टर में भवन मिलता है। पद निवृत्त होने पर उसे वार्षिक पेंशन मिलती है और पियर पद प्रदान किया जाता है। 1919 के लन्दन गजट द्वारा की गयी व्यवस्था के अनुसार उसका पद 'लॉर्ड प्रेसीडेण्ट' के बाद आता है।

अध्यक्ष का चुनाव—लोकसदन के अध्यक्ष पद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण उसकी निर्दलीयता और निष्पक्षता है और इसी कारण उसका चुनाव प्रायः सर्वसम्मति से होता है। एक बार अध्यक्ष पद पर कार्य कर चुकने के बाद यह व्यक्ति जब तक चाहे तब तक पुनर्निर्वाचित हो सकता है। इस सम्बन्ध में यह भी परम्परा है कि महानिर्वाचन के अवसर पर अध्यक्ष को उसके निर्वाचन क्षेत्र से निर्विरोध ही लोकसदन का सदस्य निर्वाचित किया जाता है। किसी नवीन सदस्य को अध्यक्ष पद निर्वाचित करने का ढंग यह है कि प्रधानमन्त्री व विरोधी दल का नेता परस्पर विचार करके, किसी ऐसे व्यक्ति को अध्यक्ष पद के लिए खड़ा करते हैं, जो बहुमत और विरोधी पक्ष दोनों को ही मान्य हो। सामान्यतया ऐसे व्यक्ति का नाम निश्चित किया जाता है जो अत्यन्त बुद्धिमान तथा कुशल हो और जिसे सदन के सभी पक्षों की सद्भावना और सम्मान प्राप्त हो। इस प्रकार की अनौपचारिक सहमति के बाद उसे सर्वसम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित किया जाता है। निर्वाचन पर सम्राट की सहमति प्राप्त की जाती है जो एक औपचारिकता मात्र है।

अध्यक्ष की शक्तियां और कार्य

इंग्लैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था में लोकसदन के अध्यक्ष का पद बहुत अधिक सम्मान तथा शक्ति का प्रतीक है। एच. गॉर्डन के अनुसार, "स्पीकर का पद विश्व के सर्वाधिक सम्मानप्रद, गौरवपूर्ण और कठिन कर्तव्यों वाले पदों में से एक है।" और एच. मौरिसन के अनुसार, "स्पीकर, सदन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सदस्य है।" लोकसदन के अध्यक्ष की शक्तियों और कार्यों की विवेचना अग्र रूपों में की जा सकती है :

1 "The Speaker holds one of the most honourable, dignified and onerous offices in the world."
—S. Gordon

2 "The Speaker is the most conspicuous figure in the house."
—H. Morrison

(1) लोकसदन का सभापतित्व—अध्यक्ष लोकसदन के अधिवेशनों का सभापति करता है और सभापति के रूप में सदन की कार्यवाही का संचालन करता है। वह इस बात का निर्णय करता है कि सदन के विचारार्थ कौन-से प्रस्ताव रखे जायें। संशोधनों को भी वही छांटता और स्वीकार करता है। जब किसी विषय पर मत लिये जाते हैं तो वही उसके परिणाम की घोषणा करता है। लोकसदन की प्रत्येक बैठक के प्रारम्भ में वह यह देखता है कि गणपूर्ति अर्थात् आवश्यक संख्या में सदस्य उपस्थित हैं अथवा नहीं।

(2) वाद-विवाद का संचालन—सदन के वाद-विवाद का संचालन अध्यक्ष के द्वारा ही किया जाता है। क्योंकि वर्तमान समय में लोकसदन का कार्यभार बहुत बढ़ गया है और सदन के पास समय कम रहता है, इसलिए अध्यक्ष की यह शक्ति बहुत महत्वपूर्ण हो गयी है। यद्यपि वाद-विवाद के सम्बन्ध में सदन की कुछ निश्चित परम्पराएं हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय अध्यक्ष ही करता है कि वाद-विवाद में किन सदस्यों द्वारा भाग लिया जाय। यद्यपि दल के सचेतक या नेता वक्ताओं की सूची पहले ही तैयार कर लेते हैं जिसे अध्यक्ष स्वीकार कर लेता है, फिर भी वह इस बात का ध्यान रखता है कि स्वतन्त्र प्रकृति के सदस्यों, उच्चकोटि के वक्ताओं और अल्पमत वर्ग के सदस्यों को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिले। इस सम्बन्ध में वह न्याय और निष्पक्षता के साथ आचरण करते हुए सदन के वाद-विवाद के श्रेष्ठ स्तर को बनाये रखने का प्रयत्न करता है।

(3) वाद-विवाद को सीमित करना—सदन के समय का अधिकाधिक श्रेष्ठ उपयोग करने की दृष्टि से अध्यक्ष को वाद-विवाद सीमित करने का अधिकार भी प्राप्त होता है। यदि वह ऐसा समझे कि किसी विषय पर पर्याप्त वाद-विवाद हो चुका है, तो वह उस पर वाद-विवाद समाप्त करने की आज्ञा दे सकता है। अध्यक्ष को इस सम्बन्ध में 'कंगारू समापन' (Kangaroo closure) का महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है।

(4) सदन में व्यवस्था और अनुशासन बनाये रखना—सदन के सभापति के रूप में उसका एक महत्वपूर्ण कार्य सदन में व्यवस्था और अनुशासन बनाये रखना है। उसके पास न घण्टी होती है और न मुंगरी, किन्तु व्यवस्था स्थापित करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। अशान्त सदन में यदि अध्यक्ष खड़ा हो जाय तो पूर्ण शान्ति छा जाती है, क्योंकि परम्परा के अनुसार जब अध्यक्ष खड़ा हो तो कोई अन्य सदस्य खड़ा नहीं रह सकता। डिजरेली के शब्दों में, "अध्यक्ष की पोशाक की खड़खड़ाहट ही गड़बड़ को शान्त करने के लिए पर्याप्त होती है।" अध्यक्ष किसी सदस्य का नाम लेकर सदन का ध्यान इस ओर आकर्षित कर सकता है कि वह सदस्य अनुशासनहीनता का आचरण कर रहा है। अध्यक्ष द्वारा ऐसा किये जाने पर सदन निश्चित करता है कि सम्बन्धित सदस्य के विरुद्ध क्या कार्यवाही की जाय? अध्यक्ष स्वयं भी किसी सदस्य को कुछ दिनों के लिए निलम्बित (Suspend) कर सकता है या सदन में अत्यधिक अनुशासनहीनता होने पर सदन की कार्यवाही को निलम्बित कर सकता है।

(5) नियमों की व्याख्या—अध्यक्ष वाद-विवाद तथा सुव्यवस्था के नियमों की व्याख्या करता तथा उन्हें लागू करता है। यदि कोई सदस्य 'व्यवस्था का प्रश्न' (point of order) उपस्थित करता है तो अध्यक्ष को अपना निर्णय देना होता है। किन्हीं विषयों के सम्बन्ध में एक अध्यक्ष द्वारा दी गयी व्याख्याएं दूसरे अध्यक्षों के लिए परम्पराएं बन जाती हैं और उन्हें भी वे मान्य होती हैं। अध्यक्ष ही 'कार्य स्थगन प्रस्तावों' को नियमित या अनियमित घोषित

1 "Even the rustle of Speaker's robe was enough to check an incipient riot."

करता है। सदन के किसी भी नियम के बारे में अध्यक्ष की व्याख्या अन्तिम होती है। इसी आधार पर एक स्पीकर ने चुटकी लेते हुए कहा था कि “स्पीकर भी पोप की तरह कोई गलती नहीं कर सकता।”

(6) वित्त विधेयक को प्रमाणीकृत करने का अधिकार—1911 के संसदीय अधिनियम के अनुसार लोकसदन के अध्यक्ष को यह शक्ति प्रदान की गयी है कि यदि किसी विधेयक पर यह विवाद खड़ा हो जाय कि वह वित्त विधेयक है अथवा नहीं, तो इस विषय पर लोकसदन के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होता है। वित्त विधेयक वह है जिसे अध्यक्ष ‘वित्त विधेयक’ प्रमाणीकृत कर दे।

(7) निर्णायक मत (Casting vote) देने का अधिकार—अध्यक्ष को सामान्य परिस्थितियों में अपना मत देने का अधिकार नहीं होता, लेकिन यदि किसी विषय पर सदन के पक्ष और विपक्ष के बराबर मत हो जाय अर्थात् टाई (tie) पड़ जाय, तो स्पीकर को निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। अध्यक्ष के द्वारा अपने निर्णायक मत का प्रयोग पूर्व स्थापित सिद्धान्तों के अनुसार ही किया जाता है और सामान्यतया उसकी चेष्टा यही रहती है कि सम्बन्धित विषय के भाग्य का निर्णय स्वयं करने के बजाय उस पर विचार के लिए सदन को और अधिक समय दिया जाय।

(8) समितियों के बारे में शक्तियाँ—कौन-सा विधेयक किस समिति के पास भेजा जाय इसका निर्णय अध्यक्ष ही करता है। इसके अतिरिक्त वह ‘चयन समिति’ द्वारा तैयार की गयी सूची में से स्थायी समितियों के अध्यक्षों की भी नियुक्ति करता है। 1945 से वह सीमा आयोगों (Boundary Commissions) का अध्यक्ष है। ये आयोग निर्वाचन-क्षेत्रों में परिवर्तन करते हैं।

(9) सदन के अधिशासन के कार्य—अध्यक्ष लोकसदन के अधिशासक के रूप में कार्य करता है। यह विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आदेश और समादेश जारी करता है; जैसे अधिवेशन काल में लोकसदन में कोई स्थान रिक्त होने पर अध्यक्ष चुनाव की आज्ञासि निकालता है। किसी सदस्य द्वारा अपराध किये जाने पर वह उसकी गिरफ्तारी और गवाहों के लिए समादेश निकालता है। सदन के अध्यक्ष के अधीन एक सचिवालय होता है जिसमें सचिव, अधीक्षक, लेखकगण, पुस्तकालयाध्यक्ष और निजी विधेयकों के निरीक्षक रहते हैं।

(10) सदन के विशेषाधिकारों की रक्षा—लोकसदन के सदस्यों को जो भी विशेषाधिकार प्राप्त हैं उनकी रक्षा लोकसदन के अध्यक्ष द्वारा ही की जाती है। यदि कोई मन्त्री सदन के सदस्यों के विशेषाधिकारों की उपेक्षा करे या उनके किसी प्रश्न का उत्तर न दे या आवश्यक जानकारी न दे या एक सदस्य दूसरे सदस्य के अधिकारों में हस्तक्षेप करे तो इन सभी परिस्थितियों में अध्यक्ष सदन के अधिकारों की रक्षा करता है। अध्यक्ष यह भी देखता है कि बाहर के किसी व्यक्ति द्वारा सदन के अधिकारों का हनन न किया जाय।

(11) सदन का मुख्य प्रवक्ता—अध्यक्ष लोकसदन का मान्य प्रवक्ता होता है और सदन तथा सम्राट के बीच सम्पर्क सूत्र का कार्य करता है। लोकसदन के सदस्य उसी के माध्यम से सम्राट के पास प्रतिवेदन भेजते हैं और उसी के नेतृत्व में शिष्टमण्डल भेजते हैं। अध्यक्ष ही सदन की ओर से सम्राट के पास धन्यवाद या निन्दा का प्रस्ताव भेजता है। लॉर्ड सभा में वित्तीय विधेयक को प्रस्तुत करना भी अध्यक्ष का ही कर्तव्य है। अध्यक्ष के द्वारा अपने पद के उदय के समय से ही सदन के मुख्य प्रवक्ता का कार्य किया जा रहा है और आज भी यह कार्य पर्याप्त महत्व रखता है।

लोकसदन के अध्यक्ष के इतने अधिक विविध प्रकार के कार्य और शक्तियों को दृष्टि में रखते हुए डॉ. जैनिंग्स ने कहा है, “अध्यक्ष के सम्मान और आदर को उसकी शक्ति तथा कार्यों को गिनाकर प्रकट करना सम्भव नहीं है।”

लोकसदन के अध्यक्ष की स्थिति

ब्रिटिश राजनीति में लोकसदन का अध्यक्ष एक अत्यन्त सम्मानित पदाधिकारी होता है। उसकी स्थिति के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व उसकी निर्दलीयता और निष्पक्षता है। सामान्यतः अध्यक्ष का निर्वाचन निर्विरोध होता है, परन्तु विरोध असम्भव नहीं है। 1839 में लेफेवर, 1895 में गुली और 1925 तथा 1938 में फिट्जराय के निर्वाचन में विरोध हुआ था। 1950 और 1966 में भी चुनाव में विरोध हुआ था। अध्यक्ष का निर्वाचन चाहे निर्विरोध हो या विरोध के आधार पर, निर्वाचित हो जाने पर जीवनपर्यन्त वह अपने आपको दलीय राजनीति से नितान्त पृथक् और तटस्थ रखता है।

निर्वाचित हो जाने पर वह अपने राजनीतिक दल से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है और अपने सभी कष्टसाध्य कर्तव्यों को एक निष्पक्ष न्यायाधीश की भांति सम्पादित करता है। उसकी निष्पक्षता का वर्णन करते हुए ऑग और जिंक ने लिखा है कि “वह सभा के अन्दर ही नहीं, अपितु बाहर भी दलबन्दी की छाया से अलग रहता है। सार्वजनिक रूप से वह दलगत प्रश्नों पर अपना विचार व्यक्त नहीं करता, वह अपने दल की सभा में कभी नहीं जाता और दल के पदाधिकारियों से कोई सम्पर्क नहीं रखता। वह राजनीतिक क्लबों में कभी कदम नहीं रखता यहां तक कि वह अपने पुनर्निर्वाचन के लिए भी अभियान नहीं करता।”¹ मुनरो के शब्दों में, “जहां तक मनुष्य के लिए सम्भव है वह अपने सभी कार्यों में पूर्णतः निष्पक्ष और दलबन्दी से परे होता है।”² 1943 में विलफ्टन ब्राउन ने अध्यक्ष के रूप में अपने सम्बन्ध में भी कहा था कि “अध्यक्ष के रूप में मैं न तो सरकार का आदमी हूं और न विरोधी दल का मैं तो लोकसदन का आदमी हूं और उससे भी बढ़कर पीछे बैठने वालों का आदमी हूं।”³

अध्यक्ष पद की इस निर्दलीयता के कारण ही अध्यक्ष का पद महान् प्रतिष्ठा और गौरव का पद समझा जाता है और सदन के सभी पक्ष उसका पूर्ण सम्मान करते हैं। फाइजर लिखता है कि “पिछले 150 वर्षों का यही प्रयत्न रहा है कि अध्यक्ष को लोकसदन के नियम और विधियों का मूर्तिमान रूप बनाया जाय और उसमें रंचमात्र भी दलबन्दी नहीं रहने दी जाय।” इस दृष्टि से ब्रिटिश लोकसदन के अध्यक्ष की स्थिति अमरीका की प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष से नितान्त भिन्न है, क्योंकि प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष बहुमत दल द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होता है और वह अपने कर्तव्यों का निर्वाह दलीय आधार पर ही करता है।

दलीय सचेतक

(THE PARTY WHIPS)

जी. एम. कार्टर और अन्य के शब्दों में “संसदीय प्रवृत्ति की प्रभावदायकता लोकसदन के अध्यक्ष के समान ही दलीय सचेतकों पर निर्भर करती है।” जो अपने-अपने दल के सदस्यों

1 Ogg and Zink, *Modern Foreign Governments*, p. 250.

2 “He is absolutely non-partisan in all his actions, as is possible for any human being to be.” —Munro

3 “As Speaker, I am not the Government's man nor the opposition's man. I am the House of Common's man and I believe, above all the back bencher's man.” (Quoted from N. Hill and others, *The Background of European Governments*, p. 12.)

को अनुशासन में बनाये रखते हैं। 'हिप' शब्द का सम्बन्ध शिकार से है और इस शब्द का प्रयोग 'कुत्तों के प्रबन्धक' के लिए किया जाता है जो कोड़ों के द्वारा शिकारी कुत्तों को सही मार्ग पर रखते हैं। दलीय सचेतक अपने-अपने दल के सदस्यों को अनुशासन और नियन्त्रण में रखते हैं। सत्तारूढ़ दल का मुख्य सचेतक 'संसदीय सचिव' होता है और उसे राजकोष से वेतन मिलता है। अन्य सचेतकों को कोई वेतन नहीं मिलता। सत्तारूढ़ दल का मुख्य सचेतक प्रधानमंत्री के निकट सम्पर्क में रहता है और उसके द्वारा किये जाने वाले महत्वपूर्ण कार्य की दृष्टि से उसे केर (W. N. Kerr) के शब्दों में, प्रधानमंत्री की बांह, आंख और कान' कहा जा सकता है।

सचेतकों का मुख्य कार्य (Chief Functions of the Whips)—(1) वे सदन के गणपूर्ति (Quorum) अर्थात् आवश्यक संख्या में उपस्थिति बनाये रखने का कार्य करते हैं। (2) उनके द्वारा अपने दल के सदस्यों को उनकी उपस्थिति के सम्बन्ध में आवश्यक आदेश जारी किये जाते हैं। विचारणीय प्रश्नों के महत्व के अनुसार इन आदेशों पर एक, दो या तीन रेखाएं अंकित होती हैं। तीन रेखाओं वाले आदेश का अर्थ होता है कि सदन में उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। (3) वे सदस्यों को यह भी सूचित करते हैं कि उन्हें किस प्रकार मत देना है। (4) वे मन्त्रियों तथा दलीय सचेतकों के बीच सम्पर्क स्थापित रखते हैं तथा मन्त्रियों को दलीय सदस्यों की भावनाओं से सूचित रखते हुए दल में आकस्मिक विस्फोट होने से बचाते हैं। (5) वे वाद-विवाद को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न करते हैं और अध्यक्ष को सूचित करते हैं कि उनके दल की ओर से किन्हें बोलने के लिए आमन्त्रित किया जाय। (6) दोनों प्रमुख दलों के सचेतक सदन की कार्यवाही के सम्बन्ध में योजना बनाते हैं जिससे कि सीमित समय का अधिकाधिक श्रेष्ठ उपयोग किया जा सके।

लोकसदन की शक्तियां

'ब्रिटेन में संसद की प्रभुसत्ता' की बात कही जाती है और वर्तमान समय में 'संसद की प्रभुसत्ता से आशय 'लोकसदन की प्रभुसत्ता' से ही है। लोकसदन के अधिकार और शक्तियों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) विधायी शक्तियां—ब्रिटिश संसद में दो सदन हैं : लोकसदन और लॉर्ड सभा। संसद की प्रभुसत्ता की धारणा के अनुसार, ब्रिटिश संसद किसी भी कानून का निर्माण कर सकती है, उसे रद्द कर सकती है या संशोधित कर सकती है। 1911 के पूर्व तक तो संसद के दोनों सदनों (लॉर्ड सभा और लोकसदन) को समान शक्तियां प्राप्त थीं, किन्तु 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम पारित होने के पश्चात् अब इस सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लोकसदन को ही प्राप्त है। लोकसदन द्वारा जब किसी विधेयक को पारित कर लॉर्ड सभा के पास भेजा जाता है और लॉर्ड सभा उसे अस्वीकार कर देती है तो लोकसदन द्वारा यह विधेयक दुबारा पारित किया जा सकता है और यदि दूसरे वाचन की तिथि तथा दूसरी बार विधेयक के तीसरे वाचन की तिथि में एक वर्ष का समय हो चुका है तो लॉर्ड सभा द्वारा पारित किये बिना ही इसे दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। इस तरह लॉर्ड सभा किसी विधेयक को केवल एक वर्ष के लिए रोक सकती है और अन्तिम शक्ति लोकसदन के ही पास है।

(2) वित्तीय शक्तियां—वित्तीय क्षेत्र में लोकसदन की स्थिति और भी सुदृढ़ है। 1911 के संसदीय अधिनियम में वित्त विधेयक की परिभाषा की गयी है और लोकसदन का अध्यक्ष जिसे वित्त विधेयक प्रमाणित करे, वित्त विधेयक समझा जायगा। वित्त विधेयक लोकसदन में

ही प्रस्तावित किया जा सकता है, लॉर्ड सभा में नहीं। लोकसदन द्वारा पारित किये जाने के बाद लॉर्ड सभा द्वारा एक माह की अवधि तक वित्त विधेयक पर विचार करने का कार्य किया जा सकता है। एक माह की अवधि बीत चुकने के बाद वित्त विधेयक या बजट दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित समझा जायेगा, जिस रूप में लोकसदन से उसे पारित किया था, चाहे लॉर्ड सभा उसे अस्वीकार करे या उसमें कोई संशोधन प्रस्तावित करे। इस प्रकार वित्तीय क्षेत्र में लॉर्ड सभा की स्थिति बहुत अधिक निर्बल है और लोकसदन को इस सम्बन्ध में पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है।

(3) कार्यपालिका शक्तियाँ—इंग्लैण्ड में संसदात्मक प्रजातन्त्र है और ब्रिटिश कार्यपालिका पर पूर्ण नियन्त्रण लोकसदन का ही है, लॉर्ड सभा का नहीं। कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद् लोकसदन के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी होती है। लोकसदन के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। वे उनके विरुद्ध कामरोको प्रस्ताव तथा निन्दा प्रस्ताव पारित कर सकते हैं और इन सबके अतिरिक्त अविश्वास प्रस्ताव पारित कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है। लॉर्ड सभा के सदस्य मन्त्रिमण्डल से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं, किन्तु अविश्वास प्रस्ताव पारित कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत नहीं कर सकते। यह कार्य केवल लोकसदन के द्वारा ही किया जा सकता है।

लोकसदन की स्थिति का मूल्यांकन और उसके वास्तविक कार्य या भूमिका

सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटेन में संसद की प्रभुसत्ता है, किन्तु जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, विश्व के लगभग सभी प्रजातन्त्रों में कार्यपालिका अधिकाधिक शक्तिशाली होती जा रही है और व्यवस्थापिका निर्बलता को प्राप्त हो रही है। ब्रिटेन में भी वास्तविक स्थिति ऐसी ही है। जहां तक व्यवस्थापन और वित्त का सम्बन्ध है ब्रिटिश लोकसदन का इन क्षेत्रों पर नियन्त्रण बहुत अधिक संदिग्ध ही है। वस्तुस्थिति यह है कि केबीनेट अपने बहुमत के बल पर लोकसदन के समर्थन तथा सहयोग से कानूनों का निर्माण करती तथा वित्त का प्रबन्ध करती है। लोकसदन का वह समर्थन तथा सहयोग बहुधा सदस्यों के विश्वास के आधार पर नहीं, वरन् केबीनेट के द्वारा अपने दल के सदस्यों पर दबाव का प्रयोग करके किया जाता है।

बजट केबीनेट के द्वारा निर्मित किया जाता और वित्तमन्त्री के द्वारा प्रस्तावित किया जाता है तथा लोकसदन इसे उसी रूप में पारित कर देता है जिस रूप में यह उसके सम्मुख प्रस्तावित किया गया था। इसी प्रकार सभी महत्वपूर्ण अवितीय विधेयक मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तावित किये जाते हैं और केवल उन्हीं गैर-सरकारी विधेयकों के संसद से स्वीकृत होने की आशा की जा सकती है जिन पर मन्त्रिमण्डल की कृपादृष्टि हो। लोकसदन अपने समय का लगभग 85 प्रतिशत भाग शासन द्वारा निश्चित किये गये कार्य के लिए ही देता है और कभी-कभी तो शासन व्यवस्थापिका का निश्चित समय अपने लिए ही ले लेता है, जैसा कि 1945-48 में मजदूर दलीय सरकार द्वारा किया गया। ऐसी स्थिति में विरोध पक्ष और निजी सदस्यों को अपने विधेयक प्रस्तावित करने का ही अवसर नहीं मिलता। इस प्रकार व्यवस्थापन और वित्त के क्षेत्र में लोकसदन नेतृत्व करने या सरकार पर नियन्त्रण रखने के बजाय केबीनेट का अनुसरण ही करता है।

प्रशासनिक नीति के निर्धारण और नियन्त्रण के सम्बन्ध में भी स्थिति ऐसी ही है। न्यूमैन के शब्दों में, “नीति का निर्धारण तो पूर्णतया मन्त्रिमण्डल ही करता है, यह हो सकता है और

प्रायः होता भी है कि उसकी घोषणा सदन द्वारा नहीं, लेकिन सदन में कर दी जाये।” लोकसदन प्रशासनिक नीति पर वाद-विवाद करता है और कभी-कभी अपनी आलोचना के आधार पर इसे प्रभावित कर सकता है, लेकिन वह इसे नियन्त्रित नहीं करता।

सैद्धान्तिक दृष्टि से केबिनेट लोकसदन के प्रति उत्तरदायी होती है और लोकसदन इसे पदच्युत कर सकता है, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि लोकसदन स्वयं केबिनेट से नियन्त्रित होता है। सरकार लोकसदन के बहुमत पर निर्भर करती है लेकिन इसके साथ ही यह भी सत्य है कि लोकसदन का कार्यकाल तभी तक रहता है जब तक कि यह सरकार को अपना समर्थक प्रदान करने के लिए तैयार रहे। लोकसदन द्वारा आवश्यक समर्थन न दिये जाने पर प्रधानमंत्री द्वारा लोकसदन को विघटित करवाया जा सकता है। केबिनेट पर यदि कोई नियन्त्रण है तो वह सदन का नहीं वरन् जैसा कि कार्टर लिखते हैं, “दलीय नेताओं पर अन्तिम नियन्त्रण लोकसदन में पराजय का नहीं, वरन् इस भय का होता है कि उनके द्वारा अपनायी गयी नीतियों से दल में फूट पड़ जायेगी और अगले चुनाव में उन्हें पराजित होना पड़ेगा।”

वर्तमान समय में लोकसदन को व्यवस्थापन, वित्त और प्रशासनिक नीति के निर्माण में अन्तिम स्थिति प्राप्त नहीं है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि शासन व्यवस्था के समस्त चक्र में लोकसदन महत्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं करता। आज की स्थिति में लोकसदन द्वारा किये जाने वाले महत्वपूर्ण कार्यों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) शासन को मर्यादित रखकर लोकतन्त्र की रक्षा—व्यवस्थापन, वित्त और प्रशासन सभी क्षेत्रों में केबिनेट की स्थिति सर्वोपरि है, लेकिन लोकसदन के द्वारा अपनी आलोचना के आधार पर शासन को मर्यादित रखने का कार्य किया जाता है। लोकसदन में की गयी आलोचना सरकार को पदच्युत नहीं कर सकती, लेकिन इसका अपना महत्व है। शासन की आलोचना करते हुए विरोधी दल जनता को सम्बोधित करता है और सरकार को लोकमत के प्रति जागरूक करता है। कुछ निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए शासक दल के सदस्यों द्वारा भी सरकार का ध्यान उसकी त्रुटियों के प्रति आकर्षित किया जा सकता है।

लोकसदन के द्वारा शासन को मर्यादित रखने के लिए प्रश्न पूछने, निन्दा प्रस्ताव और आलोचना प्रस्ताव का आश्रय लिया जाता है। प्रश्न शासन को लोकमत के प्रति जागरूक बनाने का महत्वपूर्ण साधन है और इसके आधार पर सरकार तथा लोकसेवकों दोनों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जा सकता है। निन्दा प्रस्ताव तथा आलोचना प्रस्ताव के आधार पर यह कार्य अधिक प्रभावशाली रूप में किया जा सकता है। लोकसदन के इन कार्यों को दृष्टि में रखते हुए विंस्टन चर्चिल ने इसे ‘स्वतन्त्रता की रक्षा का दुर्ग’ (The citadel of our liberty) कहा है और जैनिंग इसे ‘आलोचना का मंच व लोकमत का केन्द्र’ कहते हैं। इस प्रकार लोकसदन शासन को मर्यादित कर लोकतन्त्र की रक्षा करने का कार्य करता है।

(2) जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना—बैजहॉट के अनुसार लोकसदन का एक महत्वपूर्ण कार्य शैक्षणिक है। संसद जनसाधारण की राजनीतिक शिक्षक है और लोकसदन में हुए विवाद जनता की राजनीतिक शिक्षा के बहुत महत्वपूर्ण साधन हैं। देश के महानतम राजनीतिज्ञ और योग्यतम व्यक्ति लोकसदन में एकत्रित होकर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विनिमय करते हैं। ये वाद-विवाद समाचार-पत्रों में प्रकाशित होते हैं और जनमत को व्यापक रूप से प्रभावित करते

हैं। समाज का कोई भी वर्ग इनके प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। अतः न्यूमैन के शब्दों में कहा जा सकता है कि “संसद शासक और शासितों के बीच होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया का केन्द्र-बिन्दु है जिसके द्वारा वे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।”¹

(3) कुशल राजनीतिज्ञों का चयन—लोकसदन का इस दृष्टि से भी महत्व है कि यह भावी राजनीतिज्ञों के चयन और प्रशिक्षण का स्थान है। वस्तुतः यदि कोई व्यक्ति ब्रिटेन के सार्वजनिक क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करना चाहता है, तो उसे लोकसदन में अपनी योग्यता प्रदर्शित करनी चाहिए। यहां न केवल किसी के विचार, नवीन दृष्टिकोण व नेतृत्व के गुणों को देखा जाता और उन्हें मान्यता प्रदान की जाती है, वरन् उसके धैर्य और सहनशीलता की भी परीक्षा होती है। लोकसदन में ही भावी नेता और मन्त्री तैयार होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि बेलफोर 28 वर्ष, लायड जार्ज 26 वर्ष, चर्चिल 40 वर्ष, एटली 22 वर्ष और ईडन 32 वर्ष लोकसदन के सदस्य रह चुकने के बाद प्रधानमन्त्री बने। चर्चिल गर्व के साथ कहा करते थे कि “मैं लोकसदन का शिष्य हूँ।”² इस सम्बन्ध में न्यूमैन ने सत्य ही कहा है कि “संयुक्त राज्य अमरीका में राजनीतिक नेतृत्व प्राप्त करने के लिए अपने मार्ग हैं, परन्तु ब्रिटेन में एक ही (लोकसदन) मार्ग है।”³

समापन

(CLOSURE)

वर्तमान समय में लोकसदन के कार्य बहुत अधिक बढ़े गये हैं। सभी कार्यों को सदन के द्वारा उचित रूप में तभी सम्पादित किया जा सकता है, जबकि सदन के समस्त समय का अधिकाधिक श्रेष्ठ रूप में उपयोग किया जाय। भूतकाल में अनेक बार सदन के अन्तर्गत अनावश्यक वाद-विवाद में समय नष्ट किया जाता रहा है। उदाहरणार्थ, 1881 में आयरलैण्ड के प्रश्न पर सदन में लगातार 41 घण्टे तक वाद-विवाद किया जाता रहा। वर्तमान समय में सदन का समय नष्ट करने के लिए किये जाने वाले इस अनावश्यक वाद-विवाद पर रोक लगाना बहुत अधिक आवश्यक हो गया है। वाद-विवाद को समाप्त करने के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है, उसी को ‘समापन’ कहते हैं।

समापन के प्रमुखतया तीन रूप हैं : (1) साधारण समापन, (2) गिलेटीन अथवा विभागीय समापन, और (3) कंगारू समापन।

इंग्लैण्ड की समिति प्रणाली

वर्तमान समय में कानून-निर्माण का कार्य बहुत अधिक बढ़ गया है और इसके साथ ही यह कार्य बहुत अधिक जटिल हो गया है। ऐसी स्थिति में सदन के साधारण बुद्धि वाले सदस्यों से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि उनके द्वारा अपने सीमित समय में सभी विषयों पर उचित प्रकार के कानूनों का निर्माण किया जा सके। कानून-निर्माण के कार्य में बुद्धि और कार्य की जटिलता की इस दोहरी कठिनाई को दूर करने के लिए सभी देशों में ‘समिति प्रणाली’ को अपनाया जाता है। विधेयकों पर विस्तृत और पूर्ण वाद-विवाद का कार्य समितियों द्वारा कर लिया जाता है, जिससे सदन का बहुमूल्य समय बच जाता है और विचाराधीन विधेयकों पर बहुत अधिक अच्छे प्रकार से विचार करने का कार्य सम्पन्न हो जाता है।

1 R. G. Neumann, *op. cit.*, p. 70.

2 “I am a child of the House of Commons.”

—Winston Churchill (Quoted from Neumann, *Op. cit.*, p. 70)

3 “In America there are many roads to political leadership but in Great Britain there is only one—The House of Commons.” —R. G. Neumann, *Op. cit.*, p. 70.

वर्तमान समय में तो विश्व के सभी देशों द्वारा समिति प्रणाली को अपना लिया गया है, लेकिन इस प्रणाली का प्रादुर्भाव इंग्लैण्ड में ही हुआ। इसका उदय रानी ऐलिजाबेथ प्रथम के समय हुआ, जब विधेयकों पर अच्छे प्रकार से विचार करने के लिए उन्हें प्रवर समितियों के सुपुर्द किया जाता था। समिति प्रणाली को संगठित और व्यवस्थित रूप 1882 में प्रदान किया गया। वर्तमान समय में लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा को अपनाने से राज्य के कार्य बढ़ जाने के कारण समिति प्रणाली का महत्व और भी बढ़ गया है।

समितियों के कार्य

वर्तमान समय में व्यवस्थापन के क्षेत्र में समितियों के द्वारा बहुत अधिक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में कार्य किया जाता है, इस कारण कुछ क्षेत्रों द्वारा इस धारणा को अपना लिया गया है कि वास्तविक व्यवस्थापन समितियां ही करती हैं या इस क्षेत्र में समितियों का कार्य मुख्य व सदन का कार्य गौण है। लेकिन वस्तुतः स्थिति ऐसी नहीं है। इंग्लैण्ड में विधेयक के आधारभूत सिद्धान्त निश्चित करने का कार्य सदन के द्वारा ही किया जाता है और समितियां तो केवल विधेयक के प्रारूप में आवश्यक सुधार करने का ही कार्य करती हैं। समिति यदि विधेयक के मूल रूप से सहमत नहीं है, तो भी उसके द्वारा विधेयक के जीवन का अन्त नहीं किया जा सकता। वह अपनी सिफारिशों के साथ विधेयक वापस सदन में भेजने के लिए बाध्य होती है। समिति द्वारा की गयी सिफारिशों के सम्बन्ध में भी अन्तिम निर्णय सदन के द्वारा किया जाता है। सदन इन सिफारिशों पर विचार कर उन्हें स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। इस प्रकार व्यवस्थापन कार्य में समितियों की स्थिति सदन के प्रति अधीनता की ही है। इस प्रकार समितियों का कार्य विधेयक के सम्बन्ध में परामर्श देना ही है, निर्णय करना नहीं। डॉ. हरमन फाइनर ने इस सम्बन्ध में कहा है कि “अपनी स्थिति और कार्य की दृष्टि से समितियों की स्थिति सम्पूर्ण सदन के प्रति अधीनता की है। उनकी शक्ति इतनी नहीं है कि विधेयकों को जीवित रख सकें या उन्हें समाप्त कर सकें। उनकी स्थिति सहायक परिचारिकाओं जैसी ही है जो विधेयक के संशोधनों की सफाई करती हैं।”¹

समितियों के प्रकार—ब्रिटिश लोक सदन में पांच प्रकार की समितियां हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से है :

(1) सम्पूर्ण सदन की समिति—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस समिति में सदन के सभी सदस्य होते हैं, किन्तु यह समिति सदन से अनेक बातों में भिन्न है। प्रथमतः, समिति की अध्यक्षता लोकसदन का अध्यक्ष नहीं करता, वरन् समिति का अपना अलग अध्यक्ष होता है जो कि प्रत्येक नवीन लोकसदन में नये सिरे से चुना जाता है। इसका चुनाव समिति स्वयं ही करती है और वह बहुमत दल का वरिष्ठ सदस्य होता है। द्वितीयतः, सम्पूर्ण सदन की समिति का चेयरमैन स्पीकर की कुर्सी पर नहीं बैठता, वरन् क्लर्क के पास ही एक अन्य कुर्सी पर बैठ जाता है। अध्यक्ष की सत्ता का प्रतीक ‘मेस’ (Mace) मेज पर से हटाकर नीचे रख दिया जाता है। तृतीयतः, और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जब सदन सम्पूर्ण सदन की समिति के रूप में बैठता है, तो सदन की प्रक्रिया के नियमों को लचीला कर दिया जाता है जिससे कि सम्बन्धित विषय पर सुविधा के साथ पूर्ण वाद-विवाद किया

1 “Committees are utterly subordinate to the whole House in their status and role. They do not possess the power of life and death over bill.....they are lowly brand maidens to help clean up amendments.”
—Herman Finer

जा सके। कोई भी सदस्य एक ही प्रश्न या विषय पर एक से अधिक बार बोल सकता है, और समापन प्रस्तावों को अपनाकर वाद-विवाद समाप्त नहीं किया जा सकता। ऑग और जिक के शब्दों में, “सदन की तुलना में समिति में कार्यविधि कम औपचारिक तथा कम कठोर होती है। कार्यवाही के इस लचीलेपन से महत्वपूर्ण और पेचीदे मामलों को सुलझाना सम्भव हो जाता है, यद्यपि कार्य की गति धीमी हो जाती है।”

सम्पूर्ण सदन की समिति के द्वारा मुख्यतः वित्त विधेयकों पर विचार किया जाता है। वित्त विधेयकों के प्रायः दो भाग होते हैं : आय से सम्बन्धित भाग और व्यय से सम्बन्धित भाग। समिति जब आय से सम्बन्धित भाग पर विचार करती है, तब उसे ‘साधन समिति’ (Committee of Ways and Means) कहा जाता है और जब वह व्यय से सम्बन्धित भाग पर विचार करती है, तब उसे ‘पूर्ति समिति’ (Committee of Supply) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त बहुत महत्वपूर्ण और आवश्यक समझे जाने वाले विधेयक भी सदन के द्वारा प्रस्ताव पास कर सम्पूर्ण सदन की समिति के सम्मुख रखे जा सकते हैं।

यह समिति जब किसी विषय पर पूर्ण रूप से विचार कर चुकती है तब यह प्रस्ताव रखा जाता है कि समिति उठे और अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। इसके पश्चात् स्पीकर अपनी कुर्सी पर बैठ जाता है और समिति का चेयरमैन सदन के सम्मुख अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

(2) स्थायी समितियाँ (Standing Committees)—लोकसदन में पांच स्थायी समितियाँ हैं और लॉर्ड सभा में केवल एक। लोकसदन की इन स्थायी समितियों के नाम अमरीकी प्रतिनिधि सभा की समितियों के समान विषयवार नहीं हैं। चार समितियों के नाम A, B, C, D, हैं और पांचवीं समिति है ‘स्कॉटिश स्थायी समिति’। अधिकांश विधेयक द्वितीय वाचन के बाद स्थायी समिति के पास भेजे जाते हैं। प्रत्येक समिति में लगभग 20 स्थायी सदस्य होते हैं और प्रत्येक विधेयक पर विचार करने के लिए लगभग 20-25 सदस्यों को समिति में सम्मिलित कर लिया जाता है। समिति के सदस्य सदन में विभिन्न दलों के अनुपात के अनुसार रहते हैं, यद्यपि सदस्यों के चुनाव में उनकी व्यक्तिगत अभिरुचियों, योग्यताओं और भौगोलिक प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रखा जाता है। सदस्यों की नामजदगी ‘चयन समिति’ (Committee of Selection) द्वारा की जाती है। चयन समिति सदन द्वारा चुने गये सदस्यों की एक समिति होती है, जिसमें 11 सदस्य होते हैं, स्थायी समिति के सभापति को लगभग एक दर्जन सदस्यों की सूची या पैनल (जिसे अध्यक्ष नियुक्त करता है) से लिया जाता है। सभापति की नियुक्ति एक विधेयक पर विचार करने के लिए ही होती है और कार्य समाप्ति पर वह हट जाता है।

स्कॉटलैण्ड की स्थायी समिति में स्कॉटलैण्ड के चुनाव क्षेत्रों द्वारा नामजद किये गये 30 सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त 20 अन्य सदस्य इसमें मनोनीत किये जाते हैं। यह समिति स्कॉटलैण्ड से सम्बन्धित विधेयकों पर ही विचार करती है।

इंग्लैण्ड के अन्तर्गत वर्तमान समय में स्थायी समितियों में सुधार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। ऐसा कहा जाता है कि 50 सदस्यों की इस समिति में किन्हीं भी विषयों पर आवश्यक गम्भीरता के साथ विचार करना सम्भव नहीं होता। अतः समिति के सदस्यों की संख्या कम की जानी चाहिए। व्यवस्थापन कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण यह भी सोचा जा रहा है कि वर्तमान समय की 5 स्थायी समितियों के स्थान पर 10 स्थायी समितियों की स्थापना की जानी चाहिए। एक सुझाव यह भी दिया जा रहा है कि इंग्लैण्ड में भी स्थायी समितियों का गठन अमरीका के समान विषयवार किया जाना चाहिए, जिससे विशेषज्ञों को इस समिति में स्थान दिया जा सके।

(3) प्रवर समितियाँ (Select Committees)—यें समितियाँ ऐसे विधेयक पर विचार करने के लिए बनायी जाती हैं, जिनका विषय एकदम नया हो, जिन पर विचार करने के लिए विशेषज्ञता की आवश्यकता हो, या जिसके द्वारा बहुत अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन (लगभग आमूल परिवर्तन) किया जाने वाला हो। प्रत्येक प्रवर समिति में प्रायः 5 सदस्य होते हैं और ये उन विषयों के विशेषज्ञ होते हैं, जिनसे सम्बन्धित विधेयक समिति को सौंपे जाते हैं। प्रवर समितियाँ व्यक्तियों को गवाही के लिए बुला सकती हैं और आवश्यक पत्रों तथा रिकार्डों को भी मंगा सकती हैं। सौंपे गये विषय की छानबीन और परीक्षा करके वह अपनी रिपोर्ट सदन को देती है, जो इसकी सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। व्यवहार में, सदन प्रवर समिति की रिपोर्ट को बहुत अधिक महत्व देता है। प्रवर समिति स्थायी समिति की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होती है, क्योंकि इसके सदस्य अधिक प्रभावशाली और विशेषज्ञ होते हैं और दलीय सचेतकों को उनके कार्य में हस्तक्षेप का अवसर कम ही मिलता है।

(4) सत्रीय समितियाँ (Sessional Committees)—कुछ प्रवर समितियाँ प्रत्येक सत्र के आरम्भ में सम्पूर्ण सत्र के लिए बनायी जाती हैं और इन्हें विशिष्ट विषय सौंपे जाते हैं, इन्हें ही 'सत्रीय समितियाँ' कहा जाता है। इनकी संख्या 8 से 10 तक होती है, जिनमें कुछ उल्लेखनीय सत्रीय समितियाँ हैं : चयन समिति, विशेषाधिकार समिति, अनुमान समिति, स्थायी आदेश समिति, सार्वजनिक लेखा समिति व परिनियम व्यवस्थापन समिति। इन समितियों में सबसे प्रमुख चयन समिति होती है जिसमें 11 सदस्य होते हैं। चयन समिति में भी सभी दलों का प्रतिनिधित्व रहता है। चयन समिति की स्थायी समितियों, प्रवर समितियों व अनुमान समिति के लिए सदस्य नामजद करती हैं।

(5) निजी विधेयक समितियाँ (Private Bills Committees)—निजी विधेयक समितियाँ केवल निजी विधेयकों पर ही विचार करने का कार्य करती हैं। लोकसदन में निजी विधेयक समिति के सदस्यों की संख्या चार और लॉर्ड सभा में पांच होती है। इसके सदस्य चयन समिति द्वारा उस सूची में से लिये जाते हैं जिसे दलों के सचेतक तैयार करते हैं। समिति का चेयरमैन समिति के सदस्यों में से ही चयन समिति द्वारा नामजद किया जाता है।

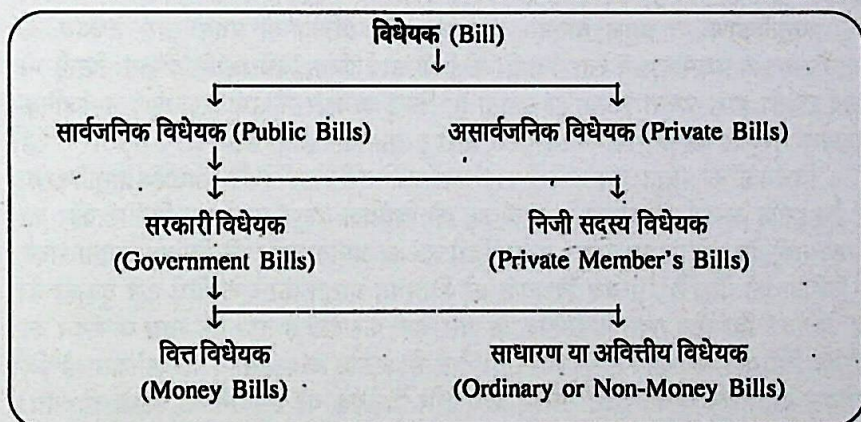
समिति एक 'अर्द्ध न्यायिक संस्था' (Quasi Judicial Body) की भांति कार्य करती है। इसके सदस्यों को यह घोषणा करनी होती है कि उनका किसी विधेयक में निजी स्वार्थ नहीं है। समिति निजी विधेयक से प्रभावित होने वाले सभी व्यक्तियों, संस्थाओं और हितों को सुनती है और वकील भी समिति के सम्मुख प्रस्तुत होकर अपनी युक्तियाँ दे सकते हैं। समिति सभी बातों पर विचार करके पूर्ण निष्पक्षता के साथ अपना प्रतिवेदन तैयार करती है। यद्यपि सदन समिति का प्रतिवेदन स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है, किन्तु व्यवहार में सदन के द्वारा इसके प्रतिवेदन को प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है।

संयुक्त समितियाँ (Joint Committees)—उपर्युक्त समितियों के अतिरिक्त कभी-कभी किसी विशेष प्रश्न पर विचार करने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति नियुक्त कर दी जाती है। इसका सभापति साधारणतया कोई पियर होता है और इसकी रिपोर्ट दोनों सदनों में प्रस्तुत की जाती है। उदाहरणस्वरूप, 1933 में 'भारतीय शासन अधिनियम' में सुधार के लिए 'संयुक्त प्रवर समिति' नियुक्त की गयी थी। इस प्रकार समितियाँ ग्रेट ब्रिटेन में बहुत ही कम बनायी जाती हैं।

विधि-निर्माण की प्रक्रिया (LAW-MAKING PROCEDURE)

विधेयकों के प्रकार (Kinds of Bills)—ब्रिटेन में विधेयक कई प्रकार के होते हैं; जिनका सुविधाजनक रूप में अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

सार्वजनिक विधेयक (Public Bills)—सार्वजनिक विधेयक का सम्बन्ध सर्वसाधारण से होता है जैसे शिक्षा पद्धति या करों में कोई संशोधन या परिवर्तन लाने वाला विधेयक। मुनरो के अनुसार, “ब्रिटेन में सार्वजनिक विधेयक उसको कहा जाता है जो साधारण जनता के हितों को प्रभावित करता है और समस्त जनता से सम्बन्धित होता है। उदाहरणस्वरूप मताधिकार पद्धति में परिवर्तन करने वाला या बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की आयु में परिवर्तन करने वाला अथवा किसी सार्वजनिक विभाग की स्थापना करने वाला विधेयक सार्वजनिक विधेयक कहलाता है।”



असार्वजनिक विधेयक (Private Bills)—असार्वजनिक विधेयक किसी विशेष स्थान, संस्था या व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। अगर कोई विधेयक किसी को जमीन खरीदने या व्यापार करने का अधिकार देता है या किसी नगरपालिका के अधिकारों को बढ़ाता है, तो उसे समुदाय विशेष या स्थान विशेष से सम्बन्धित होने के कारण असार्वजनिक विधेयक कहा जाता है। मुनरो के अनुसार, “एक असार्वजनिक विधेयक वह है जो किसी नियम अथवा स्थानीय क्षेत्र या नगरपालिका अथवा किसी विशेष व्यक्ति समूह से सम्बन्धित है।”

सार्वजनिक विधेयक दो प्रकार के होते हैं :

(अ) **सरकारी विधेयक (Government Bills)**—जिन सार्वजनिक विधेयकों को मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा सरकार के नाम से सदन में प्रस्तुत किया जाता है, उन्हें सरकारी विधेयक कहते हैं। अधिकांश सार्वजनिक विधेयक सरकारी होते हैं।

(ब) **निजी सदस्य विधेयक (Private Member's Bills)**—ये वे सार्वजनिक विधेयक होते हैं, जिन्हें मन्त्रियों के अतिरिक्त सदन के अन्य किसी सामान्य सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

सरकारी विधेयकों को पुनः दो भागों में बांटा जा सकता है :

(1) **वित्त विधेयक (Money Bills)**—जिन विधेयकों का सम्बन्ध वित्त अर्थात् आय-व्यय, कर आदि से होता है, उन्हें वित्त विधेयक कहते हैं। वित्त विधेयक सरकारी तौर पर ही प्रस्तुत किये जाते हैं, निजी तौर पर सदन में सदस्यों द्वारा उन्हें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

(2) साधारण विधेयक (Ordinary Bills)—वित्तीय विधेयकों के अतिरिक्त अन्य विधेयक साधारण विधेयक कहलाते हैं। इस प्रकार के विधेयक जब मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं तो उन्हें सरकारी विधेयक और निजी तौर पर सामान्य सदस्य द्वारा रखे जाने पर उसे निजी सदस्य विधेयक कहते हैं।

सार्वजनिक विधेयक के पारित होने की प्रक्रिया (PROCEDURE OF PUBLIC BILLS)

साधारणतया कोई भी विधेयक संसद के दोनों सदनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है, परन्तु कोई भी वित्त विधेयक लोकसदन में ही प्रस्तावित किया जा सकता है। प्रत्येक विधेयक को कानून का रूप ग्रहण करने के लिए निम्न अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है :

प्रस्तुतीकरण या प्रमुख वाचन—व्यवस्थापन की प्रक्रिया में प्रथम स्तर विधेयक के प्रस्तुतीकरण व प्रथम वाचन का होता है। कोई भी सार्वजनिक विधेयक सिद्धान्ततः किसी भी संसद सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु व्यवहार में सभी महत्वपूर्ण सार्वजनिक विधेयक सरकार की ओर से किसी मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं।

विधेयकों को प्रस्तुत करने की तीन विधियाँ प्रचलित हैं। पहली विधि 'साधारण प्रस्तुतीकरण' की है। इसके अन्तर्गत विधेयक के प्रस्तावक को विधेयक प्रस्तुत करते हुए किसी प्रकार का भाषण नहीं देना होता। सम्बन्धित सदस्य विधेयक को प्रस्तुत करने की लिखित सूचना सदन के लिपिक को देता है। अध्यक्ष विधेयक को विधिवत् प्रस्तुत करने के लिए उसे बुलाता है। वह आयकर विधेयक सदन के लिपिक के पास जमा कर देता है तथा वह स्वयं या सदन का लिपिक विधेयक का शीर्षक पढ़कर सुना देता है। उसके बाद प्रस्ताव किया जाता है कि विधेयक का प्रथम वाचन हुआ समझा जाय और विधेयक को छपवाने की आज्ञा दी जाय। इस प्रस्ताव के स्वीकार होने पर, जो साधारणतया स्वीकार हो ही जाता है, विधेयक का प्रस्तुतीकरण व प्रथम वाचन समाप्त हो जाता है।

प्रस्तुतीकरण की दूसरी विधि 'दस मिनट के नियम का प्रस्तुतीकरण' है जिसे महत्वपूर्ण और विवादग्रस्त विधेयकों के सम्बन्ध में अपनाया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत विधेयक के प्रस्तावक को अवसर दिया जाता है कि वह विधेयक का उद्देश्य और उसका महत्व बता सके। तब विपक्ष के एक सदस्य को विधेयक की आलोचना सदन के समक्ष रखने का अवसर दिया जाता है। इसके बाद प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है कि विधेयक का प्रथम वाचन पूरा समझा जाय और उसके छपवाने की आज्ञा दी जाय। उस प्रस्ताव के स्वीकृत होने पर विधेयक का प्रस्तुतीकरण व प्रथम वाचन पूरा हो जाता है।

प्रस्तुतीकरण की तीसरी विधि को 'विधेयक की व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाला प्रस्तुतीकरण' कहते हैं। इस विधि के अन्तर्गत प्रस्तावक अपने विधेयक में सिद्धान्तों व लाभों को बताते हुए एक विस्तृत भाषण देता है और प्रस्ताव करता है कि उसे विधेयक प्रस्तुत करने की अनुमति दी जाय। विपक्ष विधेयक के सिद्धान्तों का विरोध करते हुए प्रस्तावक का विरोध करता है। अन्त में, निर्णय मतदान द्वारा होता है। यदि निर्णय प्रस्ताव के पक्ष में होता है तो फिर प्रस्ताव किया जाता है कि विधेयक का प्रथम वाचन पूर्ण समझा जाय और उसे छपवाने की अनुमति दी जाय। इस विधि को अपनाने पर विधेयक के प्रति लोकमत का निर्माण सरलता से हो जाता है, लेकिन इस विधि में बहुत अधिक समय व्यय होता है और इसलिए वर्तमान समय में इसका प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

द्वितीय वाचन—किसी भी विधेयक के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण अवस्था द्वितीय वाचन की होती है। इरस्काइन (Eriskine) का कथन है कि “द्वितीय वाचन विधेयक के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति होती है क्योंकि इस अवस्था पर इसके आधारभूत सिद्धान्तों की परीक्षा होती है और सदन विधेयक पर अपना मत प्रकट कर इसे स्वीकार या अस्वीकार करता है।” जब निश्चित तिथि पर विधेयक प्रस्तावित किया जाता है तो उसके उद्देश्यों और सिद्धान्तों पर व्यापक वाद-विवाद किया जाता है। यह वाद-विवाद इस बात पर केन्द्रित होता है कि विधेयक की आवश्यकता है अथवा नहीं और विधेयक के उद्देश्य तथा सिद्धान्त उचित हैं अथवा नहीं। इस वाद-विवाद के पश्चात् विधेयक पर सदन में मतदान होता है। बहुमत द्वारा विधेयक को स्वीकार किये जाने पर उसे सम्बन्धित समिति के पास भेज दिया जाता है और अस्वीकार किये जाने पर विधेयक के जीवन का अन्त हो जाता है। निजी सदस्यों के विधेयक साधारणतया इस स्तर पर समाप्त हो जाते हैं, किन्तु सरकारी विधेयक सदन से पारित हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें लोकसदन के बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होता है। यदि कोई सरकारी विधेयक लोकसदन से स्वीकृत नहीं हो पाता, तो इसका आशय यह लिया जाता है कि मन्त्रिमण्डल लोकसदन का विश्वास खो चुका है और उसे त्यागपत्र देना होता है। कई बार ऐसा होता है कि जब द्वितीय वाचन में विधेयक का तीव्र विरोध होता है, तो मन्त्रिमण्डल स्थिति को दृष्टि में रखते हुए स्वयं ही विधेयक को वापस ले लेता है।

द्वितीय वाचन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके अन्तर्गत विधेयक के उद्देश्यों और सिद्धान्तों पर ही वाद-विवाद किया जाता है, विधेयक की धाराओं पर विस्तृत रूप से वाद-विवाद नहीं किया जाता और न विधेयक पर संशोधन ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं।

समिति स्तर—द्वितीय वाचन में विधेयक के सिद्धान्त सदन द्वारा स्वीकृत हो जाने पर विधेयक समिति के पास जाता है। यदि वह वित्त विधेयक है तो उसे सम्पूर्ण सदन की समिति में भेजा जाता है अन्यथा स्थायी समितियों में से किसी एक सम्बन्धित समिति के पास भेज दिया जाता है। विधेयक पर विचार हेतु विशेषज्ञता की जरूरत होने पर उसे ‘प्रवर समिति’ में भेज दिया जाता है। पर प्रवर समिति में विधेयक पर विचार किये जाने के बाद भी उसे किसी न किसी स्थायी समिति या सम्पूर्ण सदन की समिति के पास विचारार्थ भेजा जाता है।

विधेयक के जीवन में समिति स्तर का बड़ा महत्व है क्योंकि इस अवस्था में विधेयक की प्रत्येक धारा पर विस्तारपूर्वक विचार होता है और उसे स्वीकार किया जा सकता है, संशोधित किया जा सकता या रद्द किया जा सकता है। विधेयक के आधारभूत सिद्धान्त तो सदन द्वारा पहले से स्वीकार किये जा चुकते हैं, समिति अवस्था में विधेयक की प्रारूप सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने का कार्य किया जाता है। समिति स्तर पर विधेयक पर पूर्ण रूप से और अनौपचारिक ढंग से वाद विवाद किया जाता है।

प्रतिवेदन स्तर—अमरीका की समितियों की तरह इंग्लैण्ड की समितियों को विधेयक को अस्वीकार करने या बिना कुछ किये उसे रख छोड़ने का अधिकार नहीं है। समितियाँ विधेयक को अपने प्रतिवेदन के साथ सदन को लौटाती हैं और सदन समिति के प्रतिवेदन को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है या उसे संशोधित कर सकता है। सदन विधेयक को समिति के पास पुनः विचार के लिए भी भेज सकता है। उन विधेयकों के विषय में, जिन पर सम्पूर्ण सदन की समिति में विचार किया गया था, प्रतिवेदन स्तर औपचारिक ही होता है तथा सदन बिना किसी विशेष वाद-विवाद के प्रतिवेदन स्वीकार कर लेता है। अन्य विधेयकों के लिए प्रतिवेदन स्तर महत्वपूर्ण होता है क्योंकि विधेयक के प्रारूप तथा उसकी धारा, प्रतिधारा पर पूर्ण विचार प्रतिवेदन स्तर में ही किया जाता है।

तृतीय वाचन—प्रतिवेदन स्तर के बाद विधेयक तृतीय वाचन में प्रवेश करता है। तृतीय वाचन में अध्यक्ष प्रस्ताव रखता है कि विधेयक तीसरी बार पढ़ा जाय। तृतीय वाचन में भी विधेयक के सिद्धान्तों पर ही विचार होता है, उस पर शब्द प्रति शब्द या वाक्य प्रति वाक्य विचार नहीं होता। इस वाचन में विधेयक में नियमित संशोधन नहीं किये जाते और न ही कोई सारभूत परिवर्तन किया जाता है, अन्त में, यदि आवश्यक होता है तो मतदान होता है और सदन द्वारा विधेयक स्वीकार किये जाने पर वह दूसरे सदन में भेजे जाने के योग्य हो जाता है।

दूसरे सदन में प्रक्रिया—प्रथम सदन में विधेयक के पारित हो जाने के बाद उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं और उसे दूसरे सदन में भेजा जाता है। वहां फिर वह विधेयक इन्हीं पांच अवस्थाओं से होकर गुजरता है। यदि दूसरा सदन भी इस विधेयक को पारित कर दे, तो विधेयक सम्राट की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है और सम्राट के हस्ताक्षर से विधेयक कानून का रूप ग्रहण कर लेता है।

दोनों सदनों में मतभेद—यदि दूसरा सदन विधेयक में संशोधन करता है, तो विधेयक पुनः प्रारम्भिक सदन के पास भेजा जाता है। विधेयक को आरम्भ करने वाला सदन यदि संशोधन स्वीकार कर ले, तो विधेयक सम्राट के पास हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है। यदि विधेयक प्रारम्भ करने वाला सदन दूसरे सदन के संशोधन को अस्वीकार करता है और यदि लॉर्ड सभा आरम्भ करने वाला सदन है तो विधेयक का अन्त कर दिया जाता है। यदि विधेयक लोकसदन में प्रस्तावित हुआ और लॉर्ड सभा ने विधेयक में ऐसे संशोधन किये हैं, जो लोकसदन को स्वीकार नहीं हैं तो 1911 और 1949 के संसदीय अधिनियम पारित होने के बाद स्थिति यह है कि यदि लोकसदन उसे दो लगातार सत्रों में पारित कर दे और यदि पहली बार विधेयक के दूसरे वाचन की तिथि और दूसरी बार विधेयक के तीसरे वाचन की तिथि में कम से कम एक वर्ष का समय बीत चुका हो, तो विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है और उसे सम्राट के पास हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है। इस तरह मतभेद की स्थिति में लॉर्ड सभा किसी साधारण विधेयक को एक वर्ष के लिए रोक सकती है।

वित्त विधेयकों के पारित होने की प्रक्रिया

(PROCEDURE FOR MONEY BILLS)

वित्त विधेयकों का सम्बन्ध आर्थिक विषयों से होता है। ऐसे विधेयक लोकसदन में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं। 1911 के संसदीय अधिनियम के अनुसार कोई विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में सन्देह अथवा विवाद उत्पन्न होने पर उसका निर्णय लोकसदन के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है और लोकसदन के अध्यक्ष द्वारा प्रमाणीकृत विधेयक ही वित्त विधेयक समझे जाते हैं।

सभी वित्त विधेयक सरकार के द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं और निजी सदस्यों के द्वारा कोई वित्त विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। ब्रिटेन में राजकोष पर लोकसदन का पूर्ण नियन्त्रण है। प्रतिवर्ष संसद आय-व्यय का लेखा पारित करती है। यह लेखा, जिसे बजट कहा जाता है राजकोष विभाग के द्वारा तैयार किया जाता है। सभी विभागों से आय-व्यय के प्रस्ताव प्राप्त कर लिये जाते हैं और उनका एकीकरण करके बजट की मोटी रूपरेखा मन्त्रिमण्डल के सम्मुख रखी जाती है और मन्त्रिमण्डल द्वारा इसे स्वीकार कर लिये जाने पर इसके आधार पर व्यापक बजट तैयार कर वित्तमन्त्री द्वारा फरवरी मास में लोकसदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

लोकसदन के सम्मुख बजट को दो भागों में प्रस्तुत किया जाता है : प्रथम भाग व्यय (Appropriation measure) से सम्बन्धित होता है और दूसरा आय (Revenue measure) से। सर्वप्रथम बजट का व्यय भाग जनवरी के अन्त या फरवरी के प्रारम्भ में लोकसदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। द्वितीय वाचन के बाद इसे 'लोकसदन की सम्पूर्ण समिति' के पास भेजा जाता है। सम्पूर्ण सदन की समिति जब व्यय प्रस्तावों पर विचार करती है तो इसे 'पूर्ति समिति' (Committee of Supply) कहा जाता है। इसमें विभागों की मांगों पर आम बहस होती है, जिसका सम्बन्ध विरोधी पक्ष से ही नहीं वरन् विभागीय नीतियों से भी होता है। विरोधी दल कटौती प्रस्ताव रखते हैं जिन पर कड़ी बहस के बाद मतदान होता है। जब तक मन्त्रिमण्डल को बहुमत का समर्थन प्राप्त है, कटौती प्रस्ताव पारित नहीं हो पाता।

बजट के इस भाग पर बहस के लिए 26 दिन दिये जाते हैं। समस्त बजट को पारित करने में देर लग जाती है, इसलिए पूर्ति समिति कुछ माह के लिए सरकार को खर्च करने की अग्रिम स्वीकृति दे देती है।

बजट का दूसरा भाग आय से सम्बन्धित होता है। इसे प्रस्तुत करते हुए वित्तमन्त्री अपना बजट भाषण देता है। द्वितीय वाचन के बाद इसे सम्पूर्ण सदन की समिति में भेज दिया जाता है। जब यह समिति आय के भाग पर विचार करती है, तो इसे साधन समिति कहते हैं।

बजट के दोनों भागों पर पूर्ति समिति व साधन समिति द्वारा विचार किये जाने के बाद इसे पुनः लोकसदन में प्रस्तुत किया जाता है। तत्पश्चात् लोकसदन में अवितीय सार्वजनिक विधेयक की भांति ही उस पर विचार किया जाता है और लोकसदन द्वारा पारित कर दिये जाने पर इसे लॉर्ड सभा में भेज दिया जाता है। लॉर्ड सभा को वित्त विधेयक के सम्बन्ध में उसे एक माह तक रोक रखने की शक्ति प्राप्त है। लॉर्ड सभा चाहे उसे स्वीकार करे या न करे, एक महीने के बाद उसे सम्राट की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है और सम्राट की स्वीकृति से वह कानून बन जाता है।

निजी सदस्यों के विधेयक

(PRIVATE MEMBERS' BILLS)

निजी सदस्यों के विधेयक भी सार्वजनिक विधेयक ही होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सरकारी सार्वजनिक विधेयक मन्त्रियों के द्वारा सदन में प्रस्तुत किये जाते हैं लेकिन निजी सदस्यों के विधेयक सदन के किसी साधारण सदस्य द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। लोकसदन का अधिकांश समय सरकारी विधेयकों पर ही चला जाता है और निजी सदस्यों के विधेयकों के लिए बहुत कम समय बचता है। इनके लिए सप्ताह में एक दिन (शुक्रवार) निश्चित होता है। अधिवेशन के पूर्व साधारण सदस्य अपने विधेयक पुनः स्थापन के लिए प्रस्तुत करते हैं। अधिवेशन के पूर्व उनकी एक सूची तैयार कर ली जाती है और लॉटरी के आधार पर विधेयकों को विचार के लिए चुना जाता है। जिस प्रस्तावक का नाम पहले निकलता है उसके विधेयक को पहला शुक्रवार और दूसरे को दूसरा शुक्रवार मिलता है। अधिवेशन के दिनों में जितने शुक्रवार पड़ते हैं, उतने विधेयक क्रम के अनुसार ले लिए जाते हैं और शेष रह जाते हैं। अतः कुछ भाग्यशाली सदस्यों के प्रस्ताव ही विचार के लिए स्थान पाते हैं।

निजी सदस्यों के विधेयकों का भविष्य सरकार के समर्थन पर निर्भर करता है। यदि मन्त्रिमण्डल उसका विरोध करता है, तो विधेयक द्वितीय वाचन तक भी नहीं पहुंच पाता। निजी सदस्यों के विधेयक द्वितीय वाचन के बाद गैर-सरकारी विधेयक समितियों के पास पहुंचते हैं। निजी सदस्यों के विधेयक पारित होने की भी प्रक्रिया वही है जो सार्वजनिक सरकारी विधेयकों की होती है।

असार्वजनिक विधेयकों के पारित होने की प्रक्रिया (PROCEDURE OF PRIVATE BILLS)

असार्वजनिक विधेयक पारित किये जाने की प्रक्रिया सार्वजनिक विधेयकों से भिन्न है। असार्वजनिक विधेयक वे होते हैं, जिनका उद्देश्य किसी स्थान विशेष सम्बन्धी विधि को परिवर्तित करना है या किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष को कोई अधिकार देना है या उसका कोई उत्तरदायित्व हटाना है। इंग्लैण्ड में प्रतिवर्ष अनेक असार्वजनिक विधेयक पारित किये जाते हैं।

असार्वजनिक विधेयक का श्रीगणेश संसद में न होकर उसके बाहर होता है। जिस व्यक्ति या संस्था को किसी विशेष कानून की आवश्यकता होती है, उसके द्वारा संसद को इस आशय का प्रार्थना-पत्र दिया जाता है और इसके साथ सम्बन्धित विधेयक की प्रति संलग्न की जाती है। आवेदनकर्ता के लिए यह जरूरी है कि वह उन सभी समुदायों और स्वार्थों को जिनके हितों पर प्रस्तावित कानून का विपरीत प्रभाव पड़ सकता है, लिखित सूचना दे, जिससे वे आवश्यक समझें तो प्रस्तावित विधेयक का विरोध कर सकें। आवेदन-पत्र और विधेयक के साथ इन सूचनाओं की प्रतियां व विधेयक से सम्बन्धित अन्य आवश्यक सूचनाएं जैसे—नक्शे, आंकड़े, विज्ञापन, आदि भी होने आवश्यक हैं। यदि इन आवश्यक पत्रों में कोई कमी हो, तो संसद विधेयक पर विचार नहीं करती है।

सर्वप्रथम ये विधेयक 'असार्वजनिक विधेयकों की याचिकाओं के परीक्षक' (Examiner of Private Bills) के पास जाते हैं। असार्वजनिक विधेयकों की याचिकाओं के साथ कुछ प्रकाशित विज्ञापन होते हैं, जिससे कि सम्बन्धित पक्षों को आने वाले कानून का ज्ञान हो जाय। प्रस्तावित विधेयक की प्रतिलिपियां सरकार के सम्बन्धित विभागों को पहले ही भेज दी जाती हैं, जिससे यदि वे विभाग चाहें, तो अपनी ओर से ज्ञापन दे सकें। परीक्षक यह देखते हैं कि वास्तव में विज्ञापन प्रकाशित किये गये और प्रतिलिपियां भेजी गयी हैं। यदि वे आश्वस्त हो जायें कि समस्त औपचारिकताओं का पालन किया गया है, तो वे विधेयक प्रमाणित करते हैं और विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है।

संसद के किसी सदन में प्रस्तावित किये जाने के पश्चात् विधेयक का अन्य किसी असार्वजनिक विधेयक की भांति प्रथम और द्वितीय वाचन होता है। यदि द्वितीय वाचन के पश्चात् उसका विरोध नहीं होता है, तो उस विधेयक को 'निर्विरोध विधेयकों की समिति' (Committee on Unopposed Bills) के पास भेज दिया जाता है। यदि विधेयक का विरोध हो तो उसे 'असार्वजनिक विधेयक समिति' में भेज दिया जाता है। इन समितियों के अन्तर्गत असार्वजनिक विधेयकों पर विचार करने में सार्वजनिक विधेयकों से भिन्न प्रक्रिया अपनायी जाती है। असार्वजनिक विधेयकों के सम्बन्ध में समिति 'अर्द्ध-न्यायिक संस्था' के रूप में कार्य करती है। यदि इस प्रकार की समस्त कार्यवाही के पश्चात् समिति विधेयक सम्बन्धी बातों से सन्तुष्ट होती है; तो वह विधेयक आगे बढ़ता है, अन्यथा समिति स्तर पर ही समाप्त हो जाता है। जिस विधेयक के पक्ष में समिति ने अपना प्रतिवेदन दे दिया है, वह सामान्यतया लोकसदन में वाद-विवाद के बाद पारित हो जाता है और दूसरे सदन में भेज दिया जाता है।

जब विधेयक दूसरे सदन में जाता है, तब यद्यपि दूसरे सदन को अधिकार होता है कि वह विधेयक को अस्वीकार कर सके या उसमें संशोधन का सुझाव दे, किन्तु सामान्यतया यही दृष्टिकोण अपनाया जाता है कि समिति के द्वारा विधेयक पर पूर्ण विचार कर लिया गया है और समिति का निर्णय न्यायालय के समान है अतः सदन के द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। इस प्रकार सार्वजनिक विधेयकों का भविष्य उनके गुणावगुण और समितियों के विवेक पर ही निर्भर करता है।

दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिये जाने के उपरान्त इसे सम्राट के पास हस्ताक्षर के लिए भेजा जाता है और इस औपचारिकता के बाद यह विधेयक कानून का रूप ग्रहण कर लेता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लॉर्ड सभा की रचना, कृत्यों तथा शक्ति का वर्णन कीजिए। ब्रिटिश संवैधानिक व्यवस्था में इसकी क्या उपयोगिता है?
2. ब्रिटिश लॉर्ड सभा की रचना, शक्ति तथा स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. 'ब्रिटिश संसद की प्रभुसत्ता' का क्या अर्थ है? क्या इस पर कोई सीमाएं हैं?
4. 'ब्रिटिश स्पीकर की संस्था एक अपने ही तरह की है तथा अत्यधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।' (ब्रायर्स) इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. ब्रिटिश समिति पद्धति की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। ब्रिटिश और अमरीकी समिति पद्धति में क्या अन्तर है?
6. विभिन्न प्रकार के विधेयकों का वर्णन करते हुए बताइए कि ब्रिटिश संसद में वे किस प्रकार प्रस्तावित एवं पारित किये जाते हैं?
7. 'ब्रिटिश संसद एक प्रमुख एवं सर्वोच्च निकाय है' इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा ब्रिटिश संसद की प्रभुसत्ता के प्रतिबन्धों का वर्णन कीजिए।
8. ब्रिटिश संसद की प्रभुत्व सम्पन्नता का क्या अर्थ है? उसकी वास्तविक शक्तियों के द्वारा के कारण बताइए।
9. ब्रिटिश लोकसदन के कार्यों एवं भूमिका का वर्णन कीजिए तथा लॉर्ड सभा के साथ उसके सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
10. 'लॉर्डसभा केवल द्वितीय सदन ही नहीं, अपितु शक्तिहीन सदन है' समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'संसद की प्रभुसत्ता' से आप क्या समझते हैं?
2. 'संसद की प्रभुसत्ता' पर सीमाएं बताइए।
3. लॉर्ड सभा की रचना पर टिप्पणी कीजिए।
4. लॉर्ड चांसलर के अधिकार और कार्यप्रणाली पर टिप्पणी कीजिए।
5. 1949 के संसदीय अधिनियम की मुख्य बात बताइए।
6. विधायी और वित्तीय क्षेत्र में लॉर्ड सभा की शक्तियां बताइए।
7. लॉर्ड सभा की आलोचना की दो प्रमुख बातें बताइए।
8. लॉर्ड सभा की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए दो बातें बताइए।
9. लोकसदन की रचना किस प्रकार होती है?
10. लोकसदन के स्पीकर के आचरण के सबसे प्रमुख पक्ष की विवेचना कीजिए।
11. लोकसदन के अध्यक्ष की स्थिति स्पष्ट कीजिए।

12. दलीय सचेतक का पद और उसके कार्य पर टिप्पणी कीजिए।
13. आज की परिस्थितियों में लोकसदन के वास्तविक कार्य क्या हैं?
14. सम्पूर्ण सदन की समिति पर टिप्पणी लिखिए।
15. विधेयक के प्रस्तुतिकरण या प्रथम वाचन को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. निम्न में से कौन-सी बात 'संसद की प्रभुसत्ता' पर एक सीमा है :
 (अ) लचीला संविधान (ब) एकात्मक शासन व्यवस्था
 (स) जनमत (द) न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था का अभाव
2. वर्तमान समय में लॉर्ड सभा की सदस्य संख्या है :
 (अ) 980 (ब) 1120
 (स) 707 (द) 1054
3. लॉर्ड सभा की शक्तियों को निम्न में से किस अधिनियम द्वारा कम किया गया :
 (अ) 1701 का एक्ट ऑफ सैटलमेण्ट (ब) 1215 का मेग्ना कार्टा
 (स) 1949 का संसदीय अधिनियम (द) 1832 का सुधार अधिनियम
4. ब्रिटिश लोकसदन के सदस्यों की संख्या है :
 (अ) 630 (ब) 530
 (स) 659 (द) 646
5. "ब्रिटिश संसद सब कुछ कर सकती है, केवल स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती" यह कथन किसका है :
 (अ) रैम्जे म्योर का (ब) डायसी का
 (स) डी लोम का (द) लॉस्की का
6. लोकसदन में गणपूर्ति होती है :
 (अ) 60 सदस्यों की उपस्थिति (ब) 100 सदस्यों की उपस्थिति
 (स) 40 सदस्यों की उपस्थिति (द) 150 सदस्यों की उपस्थिति
7. 'प्रदत्त व्यवस्थापन' को 'नव अधिनायकवाद' (The New Despotism) कहकर किसने पुकारा है ?
 (अ) लॉर्ड हेवर्ट ने (ब) लावेल ने
 (स) फाइनर ने (द) जैनिंग ने
8. जो विधेयक मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं, उन्हें कहते हैं :
 (अ) सार्वजनिक विधेयक (ब) सरकारी विधेयक
 (स) निजी विधेयक (द) गैर सरकारी विधेयक
9. वित्त विधेयक को सबसे पहले प्रस्तुत किया जा सकता है :
 (अ) लोकसदन में (ब) मन्त्रिमण्डल में
 (स) लॉर्ड सभा में (द) संसद में
10. ब्रिटिश संसद की प्रभुसत्ता से सम्बन्धित नहीं है :
 (अ) ऐसी कोई भी विधि नहीं है, जो संसद न बना सकती हो
 (ब) संसद नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध कोई भी कानून बना सकती है
 (स) संसद संविधान में कोई भी संशोधन कर सकती है
 (द) संसद द्वारा निर्मित विधियाँ सर्वोच्च हैं, उन्हें अवैध घोषित नहीं किया जा सकता

11. कौन-सा वक्तव्य सही नहीं है :

(अ) वित्त विधेयक पहले लोकसदन में ही प्रस्तावित किए जा सकते हैं।

(ब) संसद द्वारा किसी भी विषय पर कानून बनाया जा सकता है।

(स) लॉर्ड सभा वित्त विधेयक को केवल एक माह के लिए रोक सकती है।

(द) मन्त्रिमण्डल लॉर्ड सभा के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी है।

[उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (स), 4. (द), 5. (स), 6. (स), 7. (अ), 8. (ब), 9. (अ), 10. (ब), 11. (द)]

प्रश्न 12. दलीय सचेतक (Party whips) का कार्य क्या है?

[उत्तर—लोकसदन में मतदान के समय अपने सदस्यों को निर्देश देना]

प्रश्न 13. प्रदत्त व्यवस्थापन क्या है?

[उत्तर—संसद द्वारा निर्मित कानून के आधीन प्रशासनिक विभाग द्वारा जो नियम-उपनियम बनाए जाते हैं, वही प्रदत्त व्यवस्थापन है।]

प्रश्न 14. 'संवैधानिक सुधार कानून, 2005' के बाद लॉर्ड सभा की अध्यक्षता कौन करता है?

[उत्तर—अब लॉर्ड सभा का स्पीकर लॉर्ड सभा की अध्यक्षता करता है। यह स्पीकर स्वयं लॉर्ड सभा द्वारा ही निर्वाचित किया जाता है।]

प्रश्न 15. लॉर्ड सभा की गणपूर्ति क्या है?

[उत्तर—लॉर्डसभा की बैठक के लिए गणपूर्ति 3 सदस्यों की उपस्थिति से पूरी हो जाती है।]

प्रश्न 16. 'वंश परम्परागत पियर' से क्या अभिप्राय है?

[उत्तर—लॉर्ड सभा में यह पियर पद एक पीयर की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है।]

प्रश्न 17. किस कारण से लॉर्ड सभा की सदस्य संख्या पूर्णतया निश्चित नहीं है?

[उत्तर—लॉर्ड सभा के अधिकांश सदस्य आजीवन के लिए मनोनीत किये जाते हैं। सम्राट द्वारा कभी भी किसी व्यक्ति को लॉर्ड सभा का सदस्य बनाया जा सकता है तथा कभी भी किसी सदस्य की मृत्यु हो सकती है। इस कारण सदस्य संख्या निश्चित नहीं है।]

प्रश्न 18. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(अ) स्पीकार का पद 1396 ई. से चला आ रहा है औरस्पीकर थे।

(ब) इंग्लैण्ड में समिति प्रणाली का प्रादुर्भावके समय से हुआ।

(स) लॉर्ड सभा के अध्यक्ष कोकहते हैं।

(द) वाद-विवाद को सीमित करने के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है, उसी को '.....' कहते हैं।

[उत्तर—(अ) थॉमस हंगरफोर्ट प्रथम, (ब) रानी एलिजाबेथ प्रथम, (स) लॉर्ड चांसलर, (द) समापन (Closure)]

7

विधि का शासन और सर्वोच्च न्यायालय

(RULE OF LAW AND SUPREME COURT)

“ब्रिटिश न्याय पद्धति श्रेष्ठता, निष्पक्षता, कार्यों में शीघ्रता तथा प्रशासन में स्वतन्त्रता के लिए देश तथा विदेशों में प्रसिद्ध है। इसकी श्रेष्ठता का प्रमाण यह है कि अन्य राष्ट्रों ने बहुत अधिक सीमा तक इसी पद्धति और प्रक्रिया को अपनाया है।”¹

—ऑग

ब्रिटिश विधि और न्याय व्यवस्था अपनी जिन विशेषताओं के लिए विख्यात है, सम्भवतया उनमें ‘विधि का शासन’ सबसे अधिक प्रमुख है।

विधि का शासन

(RULE OF LAW)

राजनीतिक दर्शन में ब्रिटिश संविधान और शासन-व्यवस्था का नाम ‘विधि के शासन’ के साथ जुड़ा हुआ है। ‘विधि के शासन’ का आशय है कि इंग्लैण्ड के शासन का संचालन किन्हीं विशेष व्यक्तियों की इच्छा द्वारा नहीं, वरन् विधि के द्वारा ही किया जाता है। विधि सर्वोच्च है और कोई भी व्यक्ति विधि के नियन्त्रण से बच नहीं सकता। उच्चतम स्तर के व्यक्ति से लेकर निम्न स्तर के व्यक्ति तक सभी विधि के सम्मुख समान हैं। विधि के शासन में निरंकुश विशेषाधिकार और सरकारी मनमानेपन के लिए कोई स्थान नहीं है।

विधि के शासन की विशेषताएं (Salient Features of the Rule of Law)—प्रो. डायसी ने ब्रिटेन में विधि के शासन को संविधान का प्रमुख अंग माना है। उनके अनुसार विधि के शासन की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं :

(1) विधि की सर्वोच्चता—ब्रिटिश शासन व्यवस्था में सर्वोपरि स्थान विधि को प्राप्त है, किसी व्यक्ति अथवा सरकारी अधिकारी को नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि सरकारी अधिकारियों के द्वारा मनमाने तरीके से अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। उन्हें विधि द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए ही अपना कार्य करना होता है। प्रशासन के सभी

1 “It enjoys an enviable reputation both at home and abroad for its excellence and the impartiality, promptness and independence with which justice is administered. Its excellence is proved by the fact that its methods and procedures have been adopted to a larger extent by other nations.”

—F.A. Ogg, *English Government and Politics*, p. 624.

कार्यों के लिए आवश्यक है कि उनके किये जाने के लिए कानून द्वारा अधिकार प्रदान किया गया हो। इस सम्बन्ध में हेगन और पावेल लिखते हैं, “जो लोग सरकार बनाते हैं वे लोग मनमानी नहीं कर सकते। उनको अपनी शक्ति संसद द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार ही प्रयोग में लानी होती है।”

(2) सभी नागरिकों के लिए एक ही प्रकार की विधि और न्यायालय—डायसी के अनुसार विधि के शासन का दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्ति चाहे उन्हें कोई भी पद या स्थिति प्राप्त क्यों न हो, विधि की दृष्टि में समान हैं और उनके लिए एक ही प्रकार के कानून तथा न्याय व्यवस्था की स्थापना की गयी है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य के साधारण कानून के अधीन तथा साधारण न्यायालयों के न्याय क्षेत्र के अन्तर्गत है। ‘विधि के शासन’ की मान्यता के कारण ही ब्रिटेन में फ्रांस जैसे ‘प्रशासनिक न्यायालय’ (Administrative Courts) नहीं हैं जिनके अन्तर्गत प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध उनके द्वारा किये गये उन कार्यों के लिए अभियोग चलाये जा सकते हैं, जो उन्होंने अपने पद पर रहते हुए किये हैं। ब्रिटेन की इस कानूनी समानता पर बल देते हुए डायसी ने कहा है कि “हमारे लिए प्रधानमन्त्री से लेकर एक सिपाही या कर वसूल करने वाले तक प्रत्येक कर्मचारी का दायित्व, प्रत्येक ऐसे कार्य के लिए, जो कानून के अन्तर्गत मान्य न हो, उतना ही है जितना किसी साधारण नागरिक का होता है।”

(3) विधि का शासन व्यक्ति के अधिकारों का रक्षक—डायसी के अनुसार विधि के शासन का तीसरा तात्पर्य यह है कि वहां विधि के सामान्य सिद्धान्त नागरिक स्वतन्त्रताओं के रक्षक और न्यायालय स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के संरक्षक हैं। वहां व्यक्तियों के अधिकार और उनकी स्वतन्त्रताओं की सुरक्षा इसलिए नहीं है कि भारत या अमरीका की भांति उनकी व्यवस्था संविधान के अन्तर्गत की गयी है वरन् इसलिए कि न्यायिक निर्णय उनकी रक्षा सदा से करते आये हैं। विधियां नागरिक स्वतन्त्रताओं और अधिकारों की किस प्रकार रक्षक हैं, इसे स्पष्ट करते हुए डायसी ने लिखा है कि “केवल उस दशा में छोड़कर जब सामान्य नागरिक विधि द्वारा यह निर्णय कर दिया गया है कि कानून का स्पष्ट उल्लंघन होता है, किसी व्यक्ति को न कोई दण्ड दिया जा सकता है और न उसे बिहित रूप में किसी प्रकार की शारीरिक या आर्थिक हानि पहुंचायी जा सकती है। इस अर्थ में विधि का शासन, शासन की उस प्रत्येक व्यवस्था के विरुद्ध है, जो अधिकारी व्यक्तियों द्वारा औरों पर प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति के व्यापक, स्वेच्छापूर्ण तथा विवेकगत प्रयोग पर आधारित हो।”

विधि के शासन की सीमाएं

इंग्लैण्ड के संविधान और शासन के अन्तर्गत सिद्धान्त और व्यवहार में भारी अन्तर पाया जाता है और विधि के शासन पर भी यह बात लागू होती है। सिद्धान्तिक दृष्टि से विधि के शासन के अनुसार इंग्लैण्ड का प्रत्येक नागरिक कानून की दृष्टि में समान है। राजा से लेकर निर्धनतम व्यक्ति तक सभी विधि के नियन्त्रण में हैं, सभी के लिए एक ही प्रकार के कानून और एक ही प्रकार के न्यायालय हैं, किन्तु आचरण की दृष्टि से सभी बातें निर्मूल हैं। कई ऐसी बातें हैं जो विधि के शासन से मेल नहीं खातीं और उनके आधार पर हम डायसी के इस विचार से सहमत नहीं हो सकते हैं कि इंग्लैण्ड में विधि का शासन सर्वोच्च है। विधि के शासन के अपवाद निम्नलिखित हैं :

(1) अधिकारियों की विवेकात्मक शक्ति—‘विधि के शासन’ की व्याख्या करते हुए डायसी ने प्रतिपादित किया है कि ‘विधि का शासन इस बात के विरुद्ध है कि अधिकारियों को शक्ति के व्यापक, स्वेच्छापूर्ण तथा विवेकगत प्रयोग का अधिकार प्राप्त हो।’ डायसी के इस कथन

के अनुसार ब्रिटेन में विधि के शासन की व्यवस्था होने के कारण अधिकारी वर्ग को कोई विवेकात्मक शक्ति नहीं होनी चाहिए, किन्तु वास्तविकता यह है कि ब्रिटेन में भी वर्तमान समय में राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो गया है और सरकारी अधिकारी अपने उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकें, इस दृष्टि से अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की छूट देना नितान्त आवश्यक हो गया है। ब्रिटेन में भी प्रशासनिक अधिकारियों को विवेकात्मक शक्ति प्राप्त होने के कारण विधि के शासन की धारणा सीमित हो गयी है।

(2) लोकसेवा अधिकारियों के सम्बन्ध में विशेष स्थिति—विधि के शासन का तात्पर्य यह है कि सामान्य व्यक्तियों और लोकसेवा अधिकारियों में कोई अन्तर नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन ब्रिटेन में भी लोकसेवा अधिकारियों को एक सीमा तक विशेष स्थिति प्राप्त है। इंग्लैण्ड में 1882 में 'लोक अधिकारी संरक्षण अधिनियम' (The Public Authorities Protection Act) पारित किया गया, जिसके अनुसार किसी सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही उसके द्वारा किये गये अपराध के छः मास की अवधि के अन्दर ही की जानी चाहिए अन्यथा वह काल तिरोहित (Timebarred) हो जाती है। साथ ही साथ, यदि सरकारी कर्मचारी पर चलाया गया अभियोग सत्य सिद्ध न हो सके तो अभियोग चलाने वाले व्यक्ति को उसका खर्च देना होता है। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध अभियोग चलाने का साहस ही नहीं करता। सरकारी अधिकारियों को कुछ सीमा तक प्राप्त इस विशेष स्थिति के कारण विधि के शासन की धारणा सीमित हो गयी है।

(3) प्रदत्त व्यवस्थापन—इन सबके अतिरिक्त पिछले लगभग 40-50 वर्षों में राज्य के कार्यों और उसके परिणामस्वरूप कानून निर्माण का कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण व्यवस्थापिका के द्वारा अपनी कानून-निर्माण की शक्ति का एक बड़ा भाग कार्यपालिका को सौंपा गया है, जिसे प्रदत्त व्यवस्थापन कहते हैं। यह प्रदत्त व्यवस्थापन भी विधि के शासन को सीमित ही करता है, क्योंकि डायरी द्वारा प्रतिपादित विधि के शासन का अर्थ यह है कि प्रशासन का प्रत्येक कार्य या तो सामान्य कानून अथवा संसदीय कानून द्वारा अधिकृत हो, किन्तु प्रदत्त व्यवस्थापन की उक्त व्यवस्था के अन्तर्गत प्रशासन स्वयं द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार ही कार्य करता है। वर्तमान समय में प्रदत्त व्यवस्थापन की उपयोगिता सभी पक्षों के द्वारा स्वीकार कर ली गयी है और प्रदत्त व्यवस्थापन की इस व्यवस्था से 'विधि के शासन' को निश्चित रूप से बहुत आघात पहुंचा है।

(4) प्रशासनिक नियम और न्यायालय—विधि के शासन का एक पक्ष यह है कि सामान्य व्यक्ति और राजकीय पदाधिकारी, दोनों के लिए एक ही प्रकार की विधि और एक ही प्रकार के न्यायालय हों, किन्तु व्यवहार के अन्तर्गत वर्तमान समय में ब्रिटेन में ऐसी बात नहीं है। पिछली लगभग दो पीढ़ियों में ब्रिटिश संसद ने राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, मकान अधिनियम, किराया अधिनियम और सड़क यातायात अधिनियम, आदि के रूप में अनेक कानूनों का निर्माण किया है और इन कानूनों ने नागरिकों तथा विभागीय अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों को एक विशेष दिशा प्रदान की है, जो प्रशासनिक नियमों और न्यायाधिकरणों की ओर ही जाती है। इन प्रशासनिक न्यायाधिकरणों द्वारा अर्द्ध-न्यायिक रूप में कार्य किया जाता है और अब इस बात को सभी पक्षों ने स्वीकार कर लिया है कि ये न्यायाधिकरण सामान्य न्यायालयों की अपेक्षा शीघ्रतापूर्वक और कम खर्च में कार्य करते हैं।

इस प्रकार के प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की संख्या बढ़ती जा रही है और वर्तमान समय में समस्त ब्रिटेन में इस प्रकार के 'प्रशासनिक न्यायाधिकरणों' की संख्या लगभग 2,000 है, जिनके द्वारा लगभग 1 लाख 50 हजार विवादों की सुनवाई प्रतिवर्ष की जाती है। इन प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के सदस्यों की नियुक्ति सामान्यतया सम्बन्धित विभाग के मन्त्री द्वारा की जाती है, लेकिन कुछ अधिक महत्वपूर्ण न्यायाधिकरणों के सदस्यों की नियुक्ति सम्राट या लॉर्ड चान्सलर के द्वारा की जाती है।

इस प्रकार के समस्त 'प्रशासनिक न्यायाधिकरणों' के ऊपर एक 'न्यायाधिकरणों पर परिषद्' (Council on Tribunals) की स्थापना की गयी है। इस परिषद् में 15 सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति लॉर्ड चान्सलर के द्वारा की जाती है। प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की कार्यवाही के नियम आधारित करने के सम्बन्ध में इस परिषद् से परामर्श लिया जाता है और इस परिषद् का कार्य सभी प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के कार्य का निरीक्षण करना है।

विधि के शासन की अन्य भी कुछ सीमाएं हैं :

(5) इंग्लैण्ड के सम्राट के विरुद्ध किसी भी न्यायालय में कोई भी अभियोग नहीं चलाया जा सकता और उसे कभी भी किसी न्यायालय के सम्मुख पेश नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार सम्राट अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करने में भी स्वतन्त्र है।

(6) विधि का शासन विदेशी शासकों तथा राजदूतों पर लागू नहीं होता। देश के कानून का उल्लंघन किये जाने पर उन पर किसी न्यायालय में अभियोग नहीं चलाया जा सकता और न ही किसी विदेशी जहाज के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सकती है।

(7) गृहमन्त्री को यह अधिकार है कि वह किसी भी विदेशी नागरिक को ब्रिटिश प्रजा होने का प्रमाण-पत्र दे सकता है, किसी के प्रमाण-पत्र को रद्द कर सकता है या अवांछित विदेशी को देश से बाहर निकाल सकता है। इन सब कार्यों के लिए उसके विरुद्ध कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता।

(8) सैनिक दल के सदस्यों पर सैनिक विधियों का नियन्त्रण होता है और उनका अभियोग सैनिक न्यायालय में ही निर्णीत होता है। चिकित्सक सर्वसाधारण चिकित्सक परिषद् के अधीन होते हैं और प्रतिष्ठित धर्मोपदेशक धर्मपरक न्यायालयों के। ये सभी तथ्य सामान्य कानून और सामान्य न्यायालयों के क्षेत्र को सीमित कर देते हैं।

वास्तव में, आज इंग्लैण्ड में उस रूप में विधि का शासन विद्यमान नहीं है, जिस रूप में डायसी के द्वारा उसका चित्रण किया गया है। आज इंग्लैण्ड में अनेक रूपों में इसका उल्लंघन किया जाता है और अब इंग्लैण्ड में बहुत अधिक सीमा तक प्रशासकीय न्याय का विकास हो रहा है।

कानून व न्याय व्यवस्था की विशेषताएं

ग्रेट ब्रिटेन में विधि और न्याय की एक श्रेष्ठ व्यवस्था है और वहां के नागरिक अपनी इस अवस्था पर गर्व करते हैं। विधि और न्याय व्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :

(1) विधि का शासन और सभी व्यक्तियों के लिए एक ही प्रकार के न्यायालय—ब्रिटिश विधि और न्याय व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता निश्चित रूप से 'विधि का शासन' ही है जिसकी विस्तृत विवेचना इस अध्याय के प्रारम्भ में की जा चुकी है।

(2) कानून का असंहिताबद्ध रूप—ब्रिटेन में संविधान की ही भांति विधि के अधिकांश भाग का विकास हुआ है, निर्माण नहीं। इसी कारण ब्रिटिश कानून का अधिकांश भाग असंहिताबद्ध ही है, भारत या अमरीका की भांति संहिताबद्ध नहीं है। ब्रिटिश कानून का अधिकांश भाग उस रूप में है, जिसे 'सामान्य कानून' (Common Law) कहते हैं और जिसे न्यायालयों के अनेक निर्णयों में देखा जा सकता है। औचित्य की धारणा के आधार पर न्यायाधीशों द्वारा दिये गये निर्णय भी असंहिताबद्ध कानून का ही एक बड़ा भाग है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं लिया जाना चाहिए कि ब्रिटेन में संहिताबद्ध कानून है ही नहीं। संसद का अधिकार क्षेत्र बढ़ने के साथ-साथ ब्रिटेन में संसदीय कानून और प्रदत्त व्यवस्थापन बढ़ता जा रहा है और कानून का यह रूप संहिताबद्ध ही है।

(3) दीवानी व फौजदारी कानून में भेद—ब्रिटेन में दीवानी व फौजदारी कानून तथा उनसे सम्बन्धित न्यायिक प्रक्रिया में भेद किया गया है। दीवानी कानून का सम्बन्ध समाज के सदस्यों अर्थात् उनके अधिकार, कर्तव्य तथा दायित्व सम्बन्धी विवादों से होता है और उनके अन्तर्गत व्यक्तियों के द्वारा स्वयं ही अभियोग चलाये जाते हैं, राज्य के द्वारा नहीं। फौजदारी कानूनों का सम्बन्ध पूरे समाज अथवा राज्य के विरुद्ध किये गये अपराधों से होता है और उनके अन्तर्गत अभियोग का संचालन राज्य की ओर से किया जाता है। लेकिन दीवानी और फौजदारी कानून की यह विभाजन रेखा सूक्ष्म ही है और अनेक ऐसे विवाद होते हैं, जिनका एक पक्ष दीवानी और दूसरा पक्ष फौजदारी कानून से सम्बन्धित होता है। दीवानी और फौजदारी विवादों में यह अन्तर है कि जुरी का प्रयोग सामान्यतया फौजदारी अभियोगों में ही किया जाता है।

(4) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता—ब्रिटेन में न्यायपालिका को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया गया है और इस सम्बन्ध में अनेक व्यवस्थाएं की गयी हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति राजमुकुट द्वारा लॉर्ड चान्सलर अथवा प्रधानमंत्री की सिफारिश पर की जाती है और न्यायाधीशों की छॉट अनुभवी बैरिस्टों में से की जाती है। उनकी नियुक्ति सदाचरण काल तक के लिए होती है और उन्हें सम्राट के द्वारा उसी स्थिति में पदच्युत किया जा सकता है, जबकि संसद के दोनों सदन इस उद्देश्य से सम्राट की सेवा में सम्बोधन प्रस्तुत करें। पदोन्नति की व्यवस्था भी ऐसी नहीं है कि उसका न्यायाधीशों की निष्पक्षता पर विपरीत प्रभाव पड़े। उदाहरणार्थ, काउण्टी के न्यायाधीशों को उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने की कोई आशा नहीं होती, जिसके कारण न्यायाधीश न तो शासन के दास होते हैं और न ही कृपाकांक्षी न्यायाधीश के लिए पर्याप्त वेतन की व्यवस्था की गयी है जिससे वे घूस के प्रलोभन से बचे रहें। न्यायाधीशों का वेतन संचित निधि पर भारित होने के कारण मतदान से बाहर होता है और संसद द्वारा उसमें कोई कमी नहीं की जा सकती। संसद में अथवा उससे बाहर न्यायाधीशों की कोई आलोचना नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसा करने वालों के विरुद्ध 'न्यायालय की अवमानना अपमान' (Contempt of Court) की कार्यवाही की जा सकती है।

सभी व्यक्तियों को निष्पक्ष न्याय प्राप्त हो सके, इसके लिए कुछ अन्य भी व्यवस्थाएं की गयी हैं। न्यायालय के द्वार सभी के लिए खुले हैं। वादी तथा प्रतिवादी दोनों अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए वकील रख सकते हैं और उनके द्वारा जुरी की मांग की जा सकती है। न्यायिक कार्यवाही खुले तौर पर होती है और न्यायाधीश अपने निर्णय के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। न्यायाधीशों के निर्णय के विरुद्ध अपील करने का अधिकार भी है। इस प्रकार

ब्रिटिश न्याय व्यवस्था स्वतन्त्र और निष्पक्ष है तथा इस सम्बन्ध में जैनिंग ने कहा है कि “ब्रिटिश न्यायाधीशों के विरुद्ध कभी भी पक्षपात, भ्रष्टाचार या राजनीतिक प्रभाव का आरोप नहीं लगाया जाता।”¹

2004 ई. तक ब्रिटिश न्यायपालिका की स्वतन्त्रता में एक कमी यह बताई जाती थी कि न्यायपालिका व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से स्वतन्त्र नहीं थी तथा लॉर्ड चांसलर (लॉर्ड सभा का सभापति और मन्त्रिमण्डल का सदस्य) ही ‘अन्तिम अपीलीय न्यायालय’ का मुख्य न्यायाधीश होता था लेकिन अब ‘संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005’ ई. के द्वारा इस स्थिति को दूर कर दिया गया है। 2005 ई. के इस अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटेन में एक ‘सर्वोच्च न्यायालय’ और इस सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश सहित 12 न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई है। यह सर्वोच्च न्यायालय और न्यायाधीश व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के हस्तक्षेप से पूर्णतया मुक्त रहते हुए अपने न्यायिक कार्यों का सम्पादन करते हैं। इस प्रकार न्यायपालिका की स्वतन्त्रता ने अब सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही रूपों में शत-प्रतिशत वास्तविकता का रूप प्राप्त कर लिया है।

(5) न्याय विभाग का सुव्यवस्थित संगठन—सन् 1873 से 1876 के बीच ब्रिटेन की न्याय व्यवस्था में अनेक सुधार किये गये, उनके परिणामस्वरूप न्याय विभाग को एक सुव्यवस्थित संगठन का रूप मिला। अब ‘संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005’ ई. के द्वारा समूचे न्याय विभाग को पहले की तुलना में भी अधिक सुव्यवस्थित संगठन का रूप प्रदान कर दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के अधीन 5 प्रकार के न्यायालय हैं तथा ये सभी न्यायालय एक सूत्र में आबद्ध हैं। सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश इन सभी न्यायालयों को आवश्यक निर्देश दे सकता है।

(6) न्यायिक पुनर्विलोकन का अभाव—भारत तथा संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त होता है, जिसके आधार पर उच्च स्तरीय न्यायालय ऐसे कानूनों को अवैध घोषित कर सकते हैं, जिनके द्वारा संविधान का उल्लंघन किया गया हो। इसी आधार पर न्यायपालिका को ‘संविधान-का संरक्षक’ (Guardian of the Constitution) कहा जाता है। लेकिन ब्रिटेन में संसद की सर्वोच्चता है और न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वे संसद के द्वारा पारित अधिनियमों की वैधानिकता की जांच कर सकें। संसद के द्वारा जब तत्कालीन संवैधानिक व्यवस्था के विपरीत किसी अधिनियम का निर्माण किया जाता है, तो संविधान के उल्लंघन का प्रश्न नहीं उठता, वरन् संविधान लचीला होने के कारण यही समझा जाता है कि संसद ने विधान में परिवर्तन कर दिया।

(7) जूरी प्रथा (Jury System)—ब्रिटिश न्याय व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषता जूरी प्रथा है, जिसका प्रयोग दीवानी अभियोगों की अपेक्षा फौजदारी अभियोगों में अधिक किया जाता है। यह जूरी प्रथा 12वीं शताब्दी से चली आ रही है। जूरी में 12 व्यक्ति होते हैं और वे मानवीय सिद्धान्तों के आधार पर अभियोग की सुनवाई करते हैं। अभियोग की पूरी सुनवाई के बाद न्यायाधीश के सम्मुख अपने विचार रखते हैं कि अभियुक्त दोषी है अथवा नहीं। न्यायाधीश सामान्यतया जूरी के परामर्श का बहुत सम्मान करते हैं। जब जूरी अभियुक्त के पक्ष में निर्णय देती है तो पुलिस उसके विरुद्ध निगरानी की अपील नहीं कर सकती। जूरी प्रथा के कारण न्याय के साथ दया का सम्मिश्रण हो जाता है। जूरी ने अनेक बार दमनकारी

1 “No allegation of partiality or corruption or political influence is ever made against British Judges.” —Sir Iver Jennings, *The Queen's Government*, p. 147.

तथा संकुचित कानून से नागरिकों की स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। ब्रिटिश जूरी अपनी निष्पक्षता, निर्भयता और विवेकशीलता के लिए विश्वविख्यात है।

(8) निःशुल्क कानूनी सहायता—ब्रिटिश न्याय व्यवस्था की एक अन्य विशेषता निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था है। कानूनी सहायता एवं परामर्श अधिनियम, 1949 तथा कानूनी सहायता (स्कॉटलैण्ड) अधिनियम, 1949 के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था है कि आर्थिक दृष्टि से निर्बल व्यक्तियों को दीवानी के मामलों में उच्च न्यायालय तथा 'अपील के न्यायालयों' (Courts of Appeal) के मामलों में स्कॉटलैण्ड व वेल्स में तथा दौरा न्यायालय व शेरिफ न्यायालयों के मामलों में स्कॉटलैण्ड में निःशुल्क कानूनी सहायता प्राप्त की जा सकती है। इंग्लैण्ड व वेल्स में लॉर्ड सभा की अपील के मामलों में भी कानूनी सहायता की व्यवस्था है। इस व्यवस्था के आधार पर निर्बल वर्ग को न्याय प्राप्त करने में सुविधा रहती है। लॉर्ड डेनिंग (Lord Denning) ने 2 जनवरी, 1976 को बम्बई विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए कहा था कि "निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था ने इंग्लैण्ड की समस्त न्याय व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं।"

(9) न्यायालय नागरिकों की स्वतन्त्रता के रक्षक—ब्रिटिश न्यायालय नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के रक्षक हैं। ब्रिटेन में कोई लिखित संविधान व मौलिक अधिकार न होने पर भी वहां के नागरिकों को अन्य देशों के नागरिकों से कम स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। विधि का शासन तो नागरिक स्वतन्त्रता का रक्षक है ही; इसके अतिरिक्त न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), उल्लेखण (Certiorari), प्रतिषेध (Prohibition), आदि के लेख जारी करके नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं और लोकतन्त्र को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं।

(10) विकेन्द्रित न्याय व्यवस्था—ब्रिटिश न्यायिक पद्धति की एक विशेषता उसके 'सर्किट न्यायालय' (Circuit Courts) हैं। ये न्यायालय मुकदमों की सुनवाई एक निश्चित स्थान पर करने के बजाय स्थान-स्थान पर जाकर करते हैं। इससे व्यवस्था विकेन्द्रित हो गयी है और व्यक्तियों को न्याय प्राप्त करने में सुविधा रहती है। काउण्टी न्यायालय, जिन्हें दीवानी विवादों के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार क्षेत्र प्राप्त हैं, लगभग 60 सर्किट समूहों में विभक्त हैं। इसी प्रकार अनेक फौजदारी मुकदमों की सुनवाई 'एसाइज न्यायालयों' (Assize Courts) द्वारा की जाती है और ऐसे न्यायालय वर्ष में तीन-चार बार अपने क्षेत्र के विभिन्न नगरों में मुकदमे सुनते हैं। इसलिए इन्हें 'क्वार्टर सेशन न्यायालय' भी कहा जाता है।

संवैधानिक सुधार अधिनियम 2005 ई. और सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना

(CONSTITUTIONAL REFORM ACT, 2005 AND
ESTABLISHMENT OF SUPREME COURT)

अधिनियम की पृष्ठभूमि—'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.' द्वारा ब्रिटिश न्यायिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन करते हुए एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। ब्रिटेन में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का यह कार्य किन्हीं 'तात्कालिक विचारों' पर आधारित

1 "The legal aid system had revolutionised the administration of Justice in England."
—Lord Denning, while delivering V. V. Chitale Memorial Law Lecture at Bombay on Jan. 2, 1976. (*The Times of India*, 3 Jan., 1976)

अनायास कार्य' नहीं है, अपितु 1990 से ही यह विचार निरन्तर बल पकड़ रहा था कि एक सदी से अधिक पुरानी ब्रिटिश न्यायिक व्यवस्था वर्तमान समय और परिस्थितियों के अनुकूल नहीं रही है। इस न्यायिक व्यवस्था की सबसे बड़ी कमी यह थी कि 'अन्तिम-अपीलीय न्यायालय' व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं था। अतः ब्रिटेन में व्यापक विचार विमर्श एवं विभिन्न रूपों में चर्चा होती रही कि 'लॉर्ड चांसलर और प्रिवी परिषद की न्यायिक समिति' (Judicial Committee of the Privy Council) की व्यवस्था समाप्त कर संयुक्त राज्य अमरीका की भांति एक सर्वोच्च न्यायालय (उच्चतम न्यायालय) की स्थापना की जानी चाहिये। 2003 ई. के मध्य से विधिवत् रूप से यह प्रस्ताव संसद के समक्ष रखा गया, किन्तु यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया। यही प्रस्ताव कुछ संशोधनों सहित 2005 ई. में संसद में लाया गया, जिसे संसद ने पारित कर दिया और 24 मार्च, 2005 ई. को उसे साम्राज्य की अनुमति प्राप्त हो गई। इस प्रकार ब्रिटेन की न्यायिक व्यवस्था में एक नये युग की शुरुआत हो गई।

संवैधानिक सुधार अधिनियम का सर्व प्रमुख लक्षण : व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पृथक् अस्तित्व वाली न्यायपालिका (प्रमुखतया सर्वोच्च न्यायालय) की स्थापना और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हेतु संवैधानिक व्यवस्था

'संवैधानिक सुधार कानून, 2005 ई.' के पूर्व ब्रिटेन में न्यायपालिका; व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से सिद्धान्ततः पृथक् नहीं थी। ब्रिटिश संसद के द्वितीय सदन लॉर्ड सभा का अध्यक्ष 'लॉर्ड चांसलर' (जो मन्त्री पद पर भी आसीन होता था) और 'न्यायिक लॉर्ड' ब्रिटेन के सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करते थे। इस प्रकार 'लॉर्ड चांसलर' व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों अंगों का सदस्य होता था; लेकिन '*Constitutional Reform Act, 2005*' के द्वारा औपचारिक और सारभूत; दोनों ही रूपों में न्यायपालिका या समस्त न्यायिक ढांचे में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों से मुक्त कर दिया गया है। अब एक सर्वोच्च न्यायालय और अन्य न्यायालयों की स्थापना की गई है जो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पूर्णतया मुक्त होंगे।

व्यवहार के अन्तर्गत तो ब्रिटिश न्यायपालिका 2005 ई. के पूर्व भी स्वतन्त्र थी न्यायपालिका की यह स्वतन्त्रता ब्रिटिश जनता की राजनीतिक जागरूकता और सुस्थापित परम्पराओं पर आधारित थी; लेकिन न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने हेतु संवैधानिक प्रावधान नहीं थे अब 'संवैधानिक सुधार कानून, 2005 ई.' के द्वारा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिये संवैधानिक व्यवस्था कर दी गई है। लॉर्ड चांसलर अब कोई न्यायाधीश नहीं है, लॉर्ड चांसलर की न्यायिक भूमिका समाप्त कर दी गई है तथा सुधार कानून में कहा गया है : लॉर्ड चांसलर या अन्य कोई मन्त्री किसी विशेष न्यायिक निर्णय या न्यायपालिका के कार्यों को प्रभावित करने की चेष्टा नहीं करेंगे।"

'विधि के शासन के प्रति सम्मान' और 'न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा' लॉर्ड चांसलर का सबसे प्रमुख कर्तव्य बताया गया है तथा उसे इस बात की शपथ लेनी होती है। ब्रिटेन में लॉर्ड चांसलर की स्थिति अब लगभग वही है, जो अन्य देशों में विधि और न्यायमन्त्री को प्राप्त होती है।

सर्वोच्च न्यायालय का गठन

‘संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.’ की धारा 23 में यह प्रावधान किया गया है कि ‘यूनाइटेड किंगडम’ (इंग्लैण्ड, वेल्स और उत्तरी आयरलैण्ड) का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा जिसमें मुख्य न्यायाधीश सहित 12 न्यायाधीश होंगे। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति साम्राज्ञी द्वारा जारी किये गये पत्र से होगी। साम्राज्ञी को समय-समय पर या भविष्य में इन न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने का भी अधिकार है किन्तु साम्राज्ञी ऐसा तभी कर सकती हैं, जबकि संसद के दोनों सदनों में ऐसा कोई संकल्प लाया गया हो तथा उन्होंने उसे पारित कर दिया हो। साम्राज्ञी 12 न्यायाधीशों में से ही एक न्यायाधीश को अध्यक्ष तथा एक न्यायाधीश को न्यायालय का उपाध्यक्ष नियुक्त करेगी। अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के अतिरिक्त शेष न्यायाधीश ‘सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश’ कहलायेंगे। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को दो नामों से जाना जायेगा : प्रथम, लॉर्ड चीफ जस्टिस (Lord Chief Justice), द्वितीय, इंग्लैण्ड और वेल्स के न्यायालयों के अध्यक्ष (President of the Courts of England and Wales)

अन्तरिम व्यवस्था—सर्वोच्च न्यायालय के अस्तित्व में आते ही पहली बार न्यायाधीशों की नियुक्ति स्वतन्त्र रूप से न करके ‘अपीलीय न्यायालय के लॉर्डों’ को सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाने का प्रावधान किया गया है। इस अन्तरिम काल में अपीलीय न्यायालय का वरिष्ठतम विधि लॉर्ड ही सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष होगा तथा दूसरा वरिष्ठतम विधि लॉर्ड उपाध्यक्ष होगा। यह व्यवस्था केवल अन्तरिम काल के लिए है, 2008 ई. के अंत तक के लिए।

न्यायाधीशों की नियुक्ति : आवश्यक योग्यताएं

ब्रिटेन में सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश वही व्यक्ति हो सकता है जो निम्न योग्यता रखता हो :

उसे किसी उच्च न्यायिक पद पर कम-से-कम दो वर्ष तक कार्य करने का अनुभव प्राप्त हो।

या

वरिष्ठ न्यायालयों में कम-से-कम 15 वर्ष की अवधि के लिये योग्य अधिवक्ता रहा हो।

किन्तु वह व्यक्ति न्यायाधीश पद के लिये, अयोग्य समझा जायेगा, जो न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्बन्धी आयोग का सदस्य हो।

चयन प्रक्रिया

ब्रिटेन में सर्वोच्च न्यायालय के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा अन्य न्यायाधीशों के चयन हेतु एक लम्बी प्रक्रिया को अपनाया गया है। न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु इस लम्बी प्रक्रिया को अपनाने का उद्देश्य यह है कि योग्य विधि वेत्ता और न्यायविद ही इस पद पर आसीन हो तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति में किसी भी पक्ष द्वारा मनमाना आचरण न किया जा सके। इस लम्बी प्रक्रिया की गुणवत्ता यह है कि यह नितान्त सुस्पष्ट और पारदर्शी है।

यद्यपि न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये प्रधानमंत्री साम्राज्ञी से अनुशंसा (सिफारिश) करते हैं, किन्तु वे उसी व्यक्ति के लिये ऐसी सिफारिश कर सकते हैं, जिसकी नियुक्ति हेतु लॉर्ड चांसलर ने ऐसा अनुरोध किया हो। इतना ही नहीं, लॉर्ड चांसलर को भी इस चयन प्रक्रिया में एक निर्धारित प्रक्रिया से गुजरते हुए ही अनुरोध करने का अधिकार है।

लॉर्ड चांसलर को सर्वोच्च न्यायालय में चयन हेतु एक 'चयन आयोग' (Selection Commission) स्थापित करना होता है। इस आयोग में निम्न सदस्य होते हैं :

- (i) उच्चतम न्यायालय का अध्यक्ष,
- (ii) उच्चतम न्यायालय का उपाध्यक्ष,
- (iii) निम्न आयोगों में से प्रत्येक से एक सदस्य, जिसे 'लॉर्ड चांसलर' मनोनीत करें :
 1. न्यायिक नियुक्ति आयोग,
 2. स्कॉटलैण्ड न्यायिक नियुक्ति बोर्ड,
 3. उत्तरी आयरलैण्ड न्यायिक नियुक्ति आयोग।

इस 'चयन आयोग' की अध्यक्षता सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष, और उसके अभाव में उपाध्यक्ष तथा उसकी अनुपस्थिति में क्षेत्रीय आयोगों में से वरिष्ठतम सदस्य करते हैं। किन्तु वह व्यक्ति इस आयोग का सदस्य बनने के लिये अपात्र होगा, जो स्वयं सर्वोच्च न्यायालय के किसी पद के लिये दावेदार हो।

चयन आयोग अपने गठन के पश्चात् न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये निर्धारित योग्यताओं को ध्यान में रखते हुए, योग्यता के आधार पर किसी एक या किन्हीं व्यक्तियों के नाम की सिफारिश लॉर्ड चांसलर से करता है, किन्तु आयोग को चयन प्रक्रिया के दौरान निम्न पदधारियों से अवश्य ही परामर्श लेना होता है :

- (i) वे वरिष्ठतम न्यायाधीश, जो न तो आयोग के सदस्य हैं और न ही नियुक्ति की अपेक्षा रखते हैं,
- (ii) लॉर्ड चांसलर,
- (iii) स्कॉटलैण्ड का प्रथम मन्त्री,
- (iv) वेल्स में 'परिषद प्रथम सचिव',
- (v) उत्तरी आयरलैण्ड के लिये 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट'।

इस चयन प्रक्रिया के पूर्ण होने पर आयोग अपनी रिपोर्ट 'लॉर्ड चांसलर को प्रेषित करता है इस रिपोर्ट में नियुक्ति हेतु अनुशंसित (Recommended) व्यक्ति का नाम, तथा उन वरिष्ठतम न्यायाधीशों के नाम, जिनसे चर्चा की गई, का उल्लेख होता है।

जब लॉर्ड चांसलर को रिपोर्ट प्राप्त हो जाती है, तो वह निम्न से विचार-विमर्श करता है :

- (i) उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीशों से,
- (ii) क्षेत्रीय न्यायालयों के किसी न्यायाधीश से,
- (iii) स्कॉटलैण्ड के प्रथम मन्त्री से,
- (iv) वेल्स में 'परिषद प्रथम सचिव' (Assembly's First Secy. in Wales) से,
- (v) उत्तरी आयरलैण्ड के लिये 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' से।

लॉर्ड चांसलर चयन आयोग द्वारा अनुशंसित व्यक्ति की नियुक्ति पर स्वीकृति अथवा अस्वीकृति देता है अथवा 'चयन आयोग' को ऐसी अनुशंसा पुनर्विचार के लिये लौटा सकता है। यदि लॉर्ड चांसलर द्वारा आयोग को पुनर्विचार के लिये अनुशंसा लौटायी जाती है तथा आयोग द्वारा पुनः उसी व्यक्ति के लिये अनुशंसा की जाती है, तब भी लॉर्ड चांसलर को अधिकार है कि वह अनुशंसा अस्वीकृत कर दें। आयोग की अनुशंसा स्वीकृत किये जाने पर

लॉर्ड चांसलर यह अनुशंसा प्रधानमन्त्री को प्रेषित करता है तथा प्रधानमन्त्री ऐसे व्यक्ति को सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाने हेतु साम्राज्ञी से अनुशंसा करता है।

कार्यकारी न्यायाधीश—नवीन 'संवैधानिक सुधार अधिनियम' के अन्तर्गत कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति का भी प्रावधान किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय के अध्यक्ष अथवा अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष द्वारा आग्रह किये जाने पर कार्यकारी न्यायाधीश या न्यायाधीशों की नियुक्ति की जा सकती है, किन्तु कार्यकारी न्यायाधीश उसे ही बनाया जा सकता है, जो क्षेत्रीय न्यायालयों में से किसी में भी वरिष्ठ न्यायाधीश हो अथवा 'न्यायाधीशों के पूरक पैनल' में उसका नाम हो।

कार्यकाल—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल उनकी 70 वर्ष की आयु तक होता है, किन्तु इसके पूर्व भी वे त्यागपत्र दे सकते हैं। ऐसा त्यागपत्र उन्हें लॉर्ड चांसलर को लिखित रूप में देना होता है।

पदव्युत्ति—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सव्यवहार के आधार पर अपने पद पर सेवा निवृत्ति की आयु तक बने रहते हैं, किन्तु उन्हें 'कदाचार' (Misbehaviour) के आधार पर संसद के दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव पारित करके हटाया जा सकता है।

'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005' ई. के अन्तर्गत शारीरिक अक्षमताओं के आधार पर न्यायाधीशों को सेवा निवृत्त करने का अधिकार लॉर्ड चांसलर को है। यदि लॉर्ड चांसलर को 'चिकित्सकीय प्रमाण-पत्र' के आधार पर यह संतुष्टि हो जाय कि न्यायाधीश अपनी शारीरिक अक्षमताओं के कारण पद के दायित्वों का निर्वाह करने में अक्षम है, तो लॉर्ड चांसलर अपने लिखित आदेश द्वारा ऐसे पद के रिक्त होने की घोषणा कर सकता है, किन्तु ऐसा करने के पूर्व उसे निम्न शर्तों का पालन करना होता है :

1. किसी न्यायाधीश को हटाते समय अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष की सहमति लेनी होगी।
2. अध्यक्ष को हटाते समय उपाध्यक्ष और वरिष्ठतम् न्यायाधीश की सहमति लेनी होगी।
3. उपाध्यक्ष को हटाते समय अध्यक्ष और वरिष्ठतम न्यायाधीश की सहमति लेनी होगी।

वेतन-भत्ते—न्यायाधीशों के वेतन-भत्तों का निर्धारण लॉर्ड चांसलर द्वारा 'ट्रेजरी' की सहमति के पश्चात् किया जाता है तथा उन्हें यह वेतन 'यूनाइटेड किंगडम की संचित निधि' से दिया जायेगा। लॉर्ड चांसलर इन वेतन-भत्तों में वृद्धि का प्रावधान कर सकता है, कोई कमी नहीं कर सकता। सेवा निवृत्ति के पश्चात् न्यायाधीशों के लिये पेन्शन का भी प्रावधान है।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

(JURISDICTION OF THE SUPREME COURT)

'यूनाइटेड किंगडम' के सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया है। इस क्षेत्राधिकार का संक्षिप्त उल्लेख निम्न प्रकार है :

- (1) सर्वोच्च न्यायालय उन सभी विषयों एवं विधियों पर अपील सुनता है, जिन्हें जन-सामान्य के हितों की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझा जाता है।
- (2) यह न्यायालय इंग्लैण्ड, वेल्स और उत्तरी आयरलैण्ड (यूनाइटेड किंगडम) में अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करता है।

(3) यह इंग्लैण्ड वेल्स, उत्तरी आयरलैण्ड स्कॉटलैण्ड में दीवानी (पारिवारिक)¹वादों में अन्तिम अपीलिय न्यायालय का कार्य करता है।

(4) वह इंग्लैण्ड, वेल्स और उत्तरी आयरलैण्ड में फौजदारीवादों में 'अन्तिम' अपीलिय न्यायालय' के रूप में सुनवाई करता है।

(5) 'प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति' के राष्ट्रमण्डलीय क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त शेष सारे क्षेत्राधिकार अब इस सर्वोच्च न्यायालय को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं।

(6) अभिलेख न्यायालय (Court of Record)—उपर्युक्त क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय 'ब्रिटेन का सर्वोच्च अभिलेख न्यायालय' है। अभिलेख न्यायालय का आशय यह है कि इस न्यायालय के अभिलेख सभी जगह साक्षी के रूप में प्रस्तुत किये जायेंगे तथा यूनाइटेड किंगडम के किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।

(7) लॉर्ड सभा को प्राप्त समस्त न्यायिक अधिकार अब सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त होंगे।

सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा यूनाइटेड किंगडम के किसी भी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील पर दिये गये निर्णय समस्त देश पर लागू होंगे, किन्तु 'हस्तान्तरित विषयों' (Devolution Matters) पर दिये गये सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय अधीनस्थ न्यायालयों पर बाध्यकारी रूप में लागू नहीं होंगे।

लॉर्ड चीफ जस्टिस की विशेष शक्ति और कार्य

'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.' के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश 'लॉर्ड चीफ जस्टिस' को एक और नाम तथा पद भी दिया गया है वह नाम और पद : 'इंग्लैण्ड और वेल्स के न्यायालयों का अध्यक्ष' (President of the Courts of England and Wales) इंग्लैण्ड और वेल्स के न्यायालयों के अध्यक्ष के रूप में उसे प्रमुख रूप से निम्न दो शक्तियाँ प्राप्त हैं :

(1) लॉर्ड चीफ जस्टिस 'इंग्लैण्ड और वेल्स के न्यायालयों के अध्यक्ष' के रूप में उपर्युक्त सभी पांच प्रकार के न्यायालयों का अध्यक्ष है। वह इनमें से किसी भी न्यायालय में बैठ सकता है, यह देख सकता है कि न्यायालय नियमानुसार कार्य कर रहा है अथवा नहीं तथा उपर्युक्त में से किसी भी न्यायालय को आवश्यक निर्देश दे सकता है। वह वस्तुतः इंग्लैण्ड और वेल्स की समस्त न्याय व्यवस्था का प्रधान है।

(2) इंग्लैण्ड और वेल्स के न्यायालयों के अध्यक्ष के रूप में 'लॉर्ड चीफ जस्टिस' इंग्लैण्ड और वेल्स के न्यायालयों के विचारों और न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित समस्त स्थितियों को संसद लॉर्ड चांसलर और मन्त्रिमण्डल के सम्मुख प्रस्तुत करेगा। उसका यह भी दायित्व है कि लॉर्ड चांसलर द्वारा प्रदान किये गये साधनों की सीमा में, इंग्लैण्ड और वेल्स के सभी न्यायालयों की समस्त व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करवाने की व्यवस्था करे तथा इसके लिये न्यायालयों को आवश्यक निर्देश दे। समितियों, बोर्डों और तत्सम्बन्धी इकाइयों

1 सामान्यतया समस्त विवादों और न्यायालयों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है : दीवानी और फौजदारी; 'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.' में 'दीवानी' के स्थान पर 'पारिवारिक' (Family) शब्द को अपनाया गया है।

एवं संस्थाओं में 'न्यायिक पदधारियों' (Judicial Office Holders) की नियुक्ति में भी उसकी भूमिका होगी।

न्यायिक प्रक्रिया (Judicial Proceedings)

सर्वोच्च न्यायालय में किसी मामले की सुनवाई तभी हो सकती है जबकि सुनवाई के लिये 'बेंच' (Bench) या पीठ का गठन निम्न प्रकार हो :

- (i) बेंच में न्यायाधीशों की संख्या 'विषम संख्या' (3, 5 या 7) में हो,
- (ii) बेंच में कम-से-कम तीन न्यायाधीश हों,
- (iii) उसमें से आधे स्थायी न्यायाधीश हों,

यदि सम्भव हो पाया, तो न्यायालय अपना निर्णय सर्व सम्मति से, नहीं हो बहुमत से देगा।

सर्वोच्च न्यायालय यदि यह सोचता है कि किसी विषय पर 'विशेष योग्य परामर्शदाताओं' के सहयोग की आवश्यकता है, तो वह एक या एक से अधिक विशेष परामर्शदाताओं को नियुक्त कर सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय का स्टाफ एवं कार्यालय

सर्वोच्च न्यायालय का अपना कार्यालय एवं स्टाफ होता है। लॉर्ड चांसलर सर्वोच्च न्यायालय के अध्यक्ष से परामर्श के पश्चात् एक 'मुख्य कार्यपालक' की नियुक्ति करता है जो अध्यक्ष के आधीन रहते हुए कार्यालय के दायित्वों का निर्वाह करता है तथा 'स्टाफ एवं कर्मचारियों' पर नियन्त्रण रखता है। सर्वोच्च न्यायालय का भवन लन्दन के 'मिडिलसेक्स गिल्डहॉल' (Middlesex Guildhall) में निर्मित किया जाना है।

न्यायिक क्षेत्र में दो विशेष आयोगों की व्यवस्था—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि न्यायालय अपना कार्य तभी भली-भांति सम्पन्न कर सकते हैं जबकि न्यायिक पदों पर 'योग्य विधिवेत्ता और न्यायविद्' आसीन हों तथा वे ऐसे चरित्रवान् व्यक्ति हों जो बिना किसी दबाव, भय या लालच के अपने कार्य सम्पन्न कर सकें। अन्य देशों की तुलना में भी ब्रिटेन इस बात के प्रति अधिक जागरूक है तथा 'संवैधानिक सुधार अधिनियम' में इसके लिये दो संस्थाओं की व्यवस्था की गई है। ये संस्थाएं हैं :

1. न्यायिक नियुक्ति आयोग (Judicial Appointments Commission)—
'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.' के अन्तर्गत एक न्यायिक नियुक्ति आयोग की स्थापना का प्रावधान किया गया है। इस आयोग में एक सभापति व 14 अन्य आयुक्त होंगे। 14 आयुक्तों में से वरिष्ठतम को उप-सभापति की स्थिति प्राप्त होगी। आयोग के सदस्यों की नियुक्ति साम्राज्ञी द्वारा लॉर्ड चांसलर की अनुशंसा पर की जाती है। कोई भी आयुक्त एक समय में 5 वर्ष से ज्यादा और कुल 10 वर्ष से ज्यादा अपने पद पर बना नहीं रह सकता है। आयुक्त इसके पूर्व साम्राज्ञी को त्यागपत्र दे सकते हैं तथा केवल कुछ विशेष स्थितियों में लॉर्ड चांसलर की अनुशंसा पर साम्राज्ञी द्वारा पदच्युत भी किया जा सकता है।
- न्यायिक नियुक्ति आयोग को स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए यह प्रावधान किया गया है कि उन्हें राजमुकुट के कर्मचारी या अभिकर्ता नहीं माना जायेगा।

आयोग की शक्तियां

आयोग अपने दायित्वों का निर्वाह करने के लिये वे सभी कार्य करने की शक्ति रखता है; जो उसके कार्य में सहायक हों, कार्य को आसान करते हों या प्रासंगिक हों, किन्तु वह लॉर्ड चांसलर की अनुमति के बिना किसी से धन उधार नहीं ले सकता है। आयोग अपने दायित्वों के निर्वाह के लिये समिति या उप-समितियां बना सकता है अथवा अपनी शक्तियां अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को प्रत्यायोजित कर सकता है। आयोग को प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अन्त में लॉर्ड चांसलर को प्रतिवेदन देना होता है, जिसे लॉर्ड चांसलर संसद के दोनों सदनों के पटल पर रखवाता है।

3 अप्रैल, 2006 ई. से अस्तित्व में आये इस 'गैर-विभागीय लोक निकाय' (Non-Departmental Public Body) का सबसे प्रमुख कार्य न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में अनुशंसा करना है। आयोग इस सम्बन्ध में निम्न तीन बातों को ध्यान में रखता है :

1. योग्यता (Merit) को परिभाषित करना, जो एक अच्छे न्यायाधीश में अपेक्षित हो।
2. योग्यता का मूल्यांकन करने हेतु प्रभावशाली तथा स्वच्छ पद्धतियों का विकास करना।
3. नियुक्तियों में श्रेष्ठ व व्यापक सीमाओं का निर्धारण करना।

आयोग संवैधानिक मामलों से सम्बद्ध रहते हुए अपना कार्य करता है।

न्यायिक नियुक्ति एवं आचरण ओम्बुड्समैन

(JUDICIAL APPOINTMENTS AND CONDUCT OMBUDSMAN)

'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.' के अन्तर्गत न्यायिक नियुक्ति प्रक्रिया तथा न्यायिक 'आचरण या अनुशासन' सम्बन्धी शिकायतों पर विचार करने और उन्हें दूर करने के लिये 'न्यायिक नियुक्ति एवं आचरण ओम्बुड्समैन' की स्थापना की गई है। ओम्बुड्समैन ने 3 अप्रैल, 2006 ई. से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। न्यायाधीशों की नियुक्ति और न्यायाधीशों के आचरण पर निगरानी रखने वाली यह संस्था सरकार और न्यायपालिका से स्वतन्त्र, किन्तु 'संवैधानिक मामलों के विभाग' से सम्बद्ध है। साम्राज्ञी लॉर्ड चांसलर द्वारा अनुशंसित व्यक्ति को ओम्बुड्समैन के पद पर नियुक्त करती है।

ओम्बुड्समैन को निश्चित कार्यकाल के लिये नियुक्त किया जाता है, किन्तु वह एक समय में 5 वर्ष से अधिक और कुल 10 वर्ष से अधिक इस पद पर नहीं रह सकता है। वह समय पूर्व साम्राज्ञी को त्यागपत्र दे सकता है अथवा विशेष स्थितियों में लॉर्ड चांसलर उसे उसके पद से पदच्युत कर सकता है। जब ओम्बुड्समैन पद रिक्त हो तो लॉर्ड चांसलर 'कार्यकारी ओम्बुड्समैन' की नियुक्ति कर सकता है। ओम्बुड्समैन के पास धन उधार लेने, सम्पत्ति बनाने एवं कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार नहीं है।

ओम्बुड्समैन की कार्य प्रक्रिया

ओम्बुड्समैन न्यायिक नियुक्तियों के विरुद्ध शिकायत तभी सुनता है जबकि शिकायतकर्ता स्वयं एक प्रतियोगी रहा हो अथवा वह इस नियुक्ति या नियुक्तियों से विपरीत रूप में प्रभावित हुआ हो।

इसी प्रकार ओम्बुड्समैन न्यायिक आचरण सम्बन्धी शिकायतों की जांच तभी करता है, जबकि ऐसी शिकायतें पहले से 'न्यायिक शिकायतें कार्यालय' (Judicial Complaints Office) के पास विचाराधीन हो अथवा अनुचित आचरण के 28 दिन पश्चात् तक ऐसी शिकायत भेजी गई हो।

ओम्बुड्समैन शिकायतों के सही पाये जाने पर दोषी को स्वयं दण्डित करने का अधिकार नहीं रखता है अपितु लॉर्ड चांसलर और 'न्यायिक नियुक्ति आयोग' को कार्यवाही की अनुशंसा कर सकता है। ओम्बुड्समैन की अनुशंसाओं के विरुद्ध अपील का कोई प्रावधान नहीं है, किन्तु 'न्यायिक आचरण सम्बन्धी शिकायतों' में ओम्बुड्समैन चाहे तो पुनर्विचार हेतु एक 'पुनर्विचार निकाय' गठित कर सकता है जो शिकायत पर सभी पहलुओं से विचार करने में सक्षम होता है तथा इस निकाय की अनुशंसा लॉर्ड चांसलर और लॉर्ड चीफ जस्टिस को भेजता है।

निष्कर्ष : न्यायपालिका के प्रसंग में श्रेष्ठ व्यवस्था

इस प्रकार 'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.' के द्वारा न्यायपालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से पूर्णतया पृथक् करते हुए स्वतन्त्र न्यायपालिका तथा एक स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है। न्यायापालिका और सर्वोच्च न्यायालय अपने समस्त कार्य स्वतन्त्रता के साथ सम्पन्न कर सके, इसके लिये समस्त आवश्यक संवैधानिक प्रावधान किये गये हैं। इस सुधार अधिनियम द्वारा दी गई व्यवस्था एक दृष्टि से अमरीका और भारत आदि देशों में की गई व्यवस्था से भी श्रेष्ठ है। न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु 'न्यायिक नियुक्ति आयोग' के रूप में एक स्वतन्त्र आयोग की स्थापना की गई है तथा इस विचार को अपनाया गया है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसंग में अपनाई गई श्रेष्ठ व्यवस्था के बावजूद न्यायाधीशों की नियुक्ति में कोई त्रुटि हो सकती है तथा विधि और न्याय के प्रसंग में अपनी समस्त योग्यता और चारित्रिक श्रेष्ठता के बावजूद न्यायाधीश निर्णय देने में कोई त्रुटि कर सकते हैं, अतः इन दोनों ही स्थितियों को दूर करने के लिये 'न्यायिक नियुक्ति एवं आचरण ओम्बुड्समैन' की स्थापना और व्यवस्था की गई है। आज न केवल भारत वरन् अमरीका में भी 'न्यायिक क्षेत्र में ओम्बुड्समैन' जैसी संस्था की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

न्यायपालिका का ढांचा—सर्वोच्च न्यायालय के बाद इंग्लैण्ड व वेल्स में प्रमुख रूप से 5 प्रकार के न्यायालय हैं। ये हैं :

1. The Court of Appeal, 2. The High Court, 3. The Crown Courts,
4. The County Courts, 5. The Magistrate's Courts.

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'विधि के शासन' का वर्णन कीजिए और वर्तमान समय में इसकी सीमाएं बताइए।
2. "विधि के शासन ब्रिटिश संविधान का एक विशिष्ट लक्षण है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए और विधि के शासन का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. 'विधि के शासन' से आप क्या समझते हैं? प्रो. ए. वी. डायसी ने इसका विश्लेषण किस प्रकार किया है? वर्तमान समय में इसके हास के लिए कौन-से कारण उत्तरदायी रहे हैं?
4. 'संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई.' के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय की संरचना की वर्णन कीजिए। इस अधिनियम का सबसे प्रमुख उद्देश्य और लक्षण क्या हैं?
5. सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिये और 'लॉर्ड चीफ जस्टिस' की भूमिका बताइए।
6. निम्न दो संस्थाओं पर टिप्पणी लिखिए :
(अ) न्यायिक नियुक्ति आयोग, (ब) न्यायिक नियुक्ति एवं आरक्षण ओम्बुड्समैन।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'विधि के शासन' से आप क्या समझते हैं?
2. विधि के शासन की सीमाएं बताइए।
3. ब्रिटेन में कानून व न्याय व्यवस्था की चार प्रमुख विशेषताएं बताइए।
4. संवैधानिक सुधार अधिनियम, 2005 ई. का सबसे प्रमुख लक्षण क्या है?
5. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद की योग्यताएं क्या हैं?
6. सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है और किस प्रकार की जाती है?
7. संक्षेप में सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार बताइए।
8. 'इंग्लैंड और वेल्स के न्यायालयों के अध्यक्ष' की भूमिका का वर्णन कीजिए।
9. 'न्यायिक नियुक्ति आयोग' पर टिप्पणी लिखिए।
10. 'न्यायिक नियुक्ति एवं आचरण ओम्बुड्समैन' पर टिप्पणी लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. ब्रिटेन में 'विधि के शासन' का सबसे अधिक विस्तार के साथ उल्लेख किस लेखक ने किया है :
(अ) लावेल (ब) लास्की (स) डार्यसी (द) ब्राइस
2. ब्रिटेन में निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था कब से प्रारम्भ की गई :
(अ) 1945 ई. से (ब) 1930 ई. से (स) 1924 ई. से (द) 1949 ई. से
3. ब्रिटिश न्याय व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है :
(अ) न्यायिक पुनर्विलोकन (ब) जूरी प्रथा
(स) प्रशासनिक कानून (द) प्रशासनिक न्यायालय
4. 'संवैधानिक सुधार अधिनियम' पर साम्राज्ञी ने अनुमति कब दी ?
(अ) 2004 ई. में (ब) 2005 ई. में
(स) 2006 ई. में (द) 2007 ई. में
5. 'लॉर्ड चीफ जस्टिस' की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है ?
(अ) लॉर्ड चांसलर द्वारा (ब) न्यायिक नियुक्ति आयोग द्वारा
(स) साम्राज्ञी द्वारा (द) न्यायिक नियुक्ति ओम्बुड्समैन द्वारा
6. वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की कुल संख्या है :
(अ) 10 (ब) 11 (स) 12 (द) 15
7. वरिष्ठ न्यायालय में कम-से-कम कितने वर्ष का अनुभव रखने वाला योग्य अधिवक्ता सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश पर प्रवृत्त कर सकता है ?
(अ) 12 वर्ष (ब) 10 वर्ष (स) 15 वर्ष (द) 20 वर्ष
8. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल कितने वर्ष की आयु तक होता है ?
(अ) 62 वर्ष (ब) 65 वर्ष (स) 70 वर्ष (द) 72 वर्ष
9. 'कदाचार' के आधार पर न्यायाधीशों की पदच्युति का अधिकार किसे प्राप्त है :
(अ) लॉर्ड चांसलर को (ब) प्रस्ताव पास कर संसद के दोनों सदनों को
(स) न्यायिक नियुक्ति आयोग को (द) न्यायिक ओम्बुड्समैन को
10. 'न्यायिक नियुक्ति आयोग' में कितने आयुक्त होते हैं :
(अ) 10 (ब) 12 (स) 14 (द) 16

[उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (ब), 4. (ब), 5. (स), 6. (स), 7. (स), 8. (स), 9. (ब), 10. (स)]

8

दलीय व्यवस्था

(PARTY SYSTEM)

“दलीय व्यवस्था ब्रिटेन के राजनीतिक जीवन की प्राणशक्ति है।” — मैकिन्तोष

ब्रिटेन में राजनीतिक दलों का महत्व

वर्तमान समय के सर्वाधिक प्रचलित शासन—अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के सफल संचालन हेतु राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। साधारणतया एक देश के विधान या कानून के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का उल्लेख नहीं होता है, किन्तु व्यवहार में राजनीतिक दलों का अस्तित्व भी उतना ही आवश्यक और उपयोगी होता है जितना कि विधान या कानून। प्रजातन्त्रीय शासन के अन्तर्गत केवल शासक दल का ही नहीं वरन् विरोधी दल का भी महत्व होता है।

वैसे तो विश्व के सभी देशों में राजनीतिक दलों का महत्व है, किन्तु ब्रिटिश संविधान और शासन-व्यवस्था में राजनीतिक दलों का महत्व विशेष रूप से देखा जा सकता है। आधुनिक समय में ब्रिटिश संविधान का विकास जिन दिशाओं में हो रहा है, वह राजनीतिक दलों का ही परिणाम है। ब्रिटिश संविधान के सभी लेखकों ने इस बात को एक मत से स्वीकार किया है कि दल प्रणाली ब्रिटिश राजनीतिक जीवन की आधारशिला है। जैनिंग्स ने तो इस सम्बन्ध में यहां तक कह दिया है कि “ब्रिटिश शासन राजनीतिक दलों से ही प्रारम्भ होता है और राजनीतिक दल में ही समाप्त हो जाता है।”²

मजदूर दल का उदय—बीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक नवीन विचारधारा और दृष्टिकोण के साथ एक नये दल का प्रादुर्भाव हुआ जिसका नाम है ‘मजदूर दल’। 1900 में ‘मजदूर प्रतिनिधित्व समिति’ नामक एक नया संगठन बना और 1906 के चुनाव में इसे लोकसदन में 24 स्थान मिले। इसके बाद इसने मजदूर दल का नाम ग्रहण किया। इस समय से लेकर प्रथम महायुद्ध के बाद तक लोकसदन में मजदूर दल के सदस्यों की संख्या 40-50 रहा करती थी और यह दल उदार दल के साथ सहयोग का कार्य करता था। इसका मुख्य उद्देश्य श्रमिक वर्ग की सुविधा हेतु कानूनों का निर्माण होता था।

प्रथम महायुद्ध ने वस्तुस्थिति में बहुत परिवर्तन कर दिया। युद्ध के कारण उत्पन्न असन्तोष, मताधिकार के विस्तार और सिडनी वैब तथा रैम्जे मैकडानल्ड जैसे नेताओं के प्रयत्न से मजदूर दल की शक्ति में तेजी से वृद्धि हुई और 1924 में इसे अपना प्रथम मन्त्रिमण्डल बनाने का अवसर प्राप्त हुआ। 1920-35 के काल में ब्रिटेन में तीन राजनीतिक शक्तियां (उदार दल,

1. “Party system is the life-blood of the body politic in Britain.”

—Mackintosh

2. “The British Government begins and ends with Parties.”

—W. I. Jennings

अनुदार दल और मजदूर दल) देखी गयीं, लेकिन मजदूर दल की शक्ति बढ़ने के साथ-साथ उदार दल का पतन प्रारम्भ हो गया और ब्रिटिश राजनीति में फिर से दो ही प्रमुख शक्तियाँ (अनुदार दल और मजदूर दल) रह गयीं।

1945 में पहली बार मजदूर दल की सरकार बनी, जिसने अपना पांच वर्ष का कार्यकाल पूरा किया। उसके बाद 1964 से 1969 तक और फरवरी 1974 से अप्रैल 1979 तक मजदूर दल सत्तारूढ़ रहा तथा शेष समस्त काल में अनुदार दल की सरकार रही। मई 1979 से अप्रैल 1997 के 18 वर्ष तक अनुदार दल निरन्तर सत्तारूढ़ रहा। 1979 से नवम्बर 1990 तक इस सरकार का नेतृत्व मार्ग्रेट थैचर ने किया और उसके बाद जॉन मेजर ने। मई 1997 में ब्रिटेन में सत्ता परिवर्तन हुआ और टोनी ब्लेयर के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार बनी। जून 2001 ई. के आम चुनाव के बाद टोनी ब्लेयर के नेतृत्व में पुनः मजदूर दल की सरकार बनी और मई 2005 ई. के चुनावों के परिणामस्वरूप मई 2005 ई. में टोनी ब्लेयर के ही नेतृत्व में तीसरी बार मजदूर दल की सरकार बनी है। मजदूर दल के इतिहास में टोनी ब्लेयर पहले ऐसे नेता हैं, जिनके नेतृत्व में मजदूर दल ने लगातार तीसरी बार विजयश्री प्राप्त की है।

ब्रिटिश लोकसदन के चुनाव (आम चुनाव : मई 2005)

ब्रिटिश लोक सदन के चुनाव जून 2001 ई. में सम्पन्न हुए थे, इस आधार पर लोक सदन के चुनाव जून 2006 ई. में होने थे; लेकिन प्रधानमन्त्री टोनी ब्लेयर ने कार्यकाल समाप्त होने के लगभग 13 माह पूर्व ही लोकसदन को भंग करवाकर 5 मई, 2005 ई. को लोक सदन के चुनाव करवाए।

ब्रिटिश राजनीति के दो प्रमुख दल तो मजदूर दल और अनुदार दल हैं, लेकिन तीसरा राजनीतिक दल 'लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी' भी ब्रिटिश राजनीति में निरन्तर आगे बढ़ रहा है। इन चुनावों में मजदूर दल का नेतृत्व टोनी ब्लेयर, अनुदार दल का नेतृत्व माइकल हावर्ड और लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी का नेतृत्व रॉबर्ट कैनेडी द्वारा किया गया। जनता के सामने सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न था, 'टोनी ब्लेयर या माइकल हावर्ड'। टोनी ब्लेयर ने घोषित कर दिया था कि 'यदि उनके दल को बहुमत मिला, तो प्रधानमन्त्री के पद पर यह उनका अन्तिम कार्यकाल होगा तथा इसके बाद वे चुनाव नहीं लड़ेंगे।' माइकल हावर्ड के नेतृत्व में अनुदार दल का यह पहला आम चुनाव था।

नेतृत्व के प्रश्न के अतिरिक्त चुनाव के अन्य प्रमुख मुद्दे थे—इराक युद्ध में ब्रिटेन की भूमिका, बेरोजगारी, आर्थिक स्थिति; शिक्षा, स्वास्थ्य, कर, पेन्शन, संवैधानिक सुधार, एकीकृत यूरोप तथा एशियाई व अफ्रीकी मूल के लोगों के प्रति 'आव्रजन नीति' (Immigration Policy)। वर्तमान समय में प्रतिवर्ष 1 लाख 40 हजार व्यक्ति विदेशों (विशेषतया एशियाई-अफ्रीकी देशों) से ब्रिटेन में रोजगार के लिए आते हैं। ब्रिटिश जनता के एक बड़े वर्ग की मांग है कि इन एशियाई-अफ्रीकी लोगों के ब्रिटिश आगमन पर रोक लगाई जानी चाहिए। कुछ सीमा तक तो मजदूर दल व लिबरल डेमोक्रेटिक दल भी इस रोक के पक्ष में हैं, अनुदार दल का रुख इस प्रश्न पर बहुत कड़ा है।

ब्रिटेन का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह 'एशियाई मूल के निवासी' (विशेषतया भारतीय, पाकिस्तानी और बांग्लादेशी) हैं, जिनकी कुल संख्या लगभग 22 लाख है। ये 22 लाख मतदाता लगभग 70 निर्वाचन क्षेत्रों में चुनाव परिणामों को प्रभावित करने की स्थिति में हैं। अतः 1997 तथा 2001 ई. के चुनावों के समान ही 2005 ई. के चुनावों में भी तीनों प्रमुख राजनीतिक दलों ने अपने चुनाव प्रचार में इन मतदाताओं को पूरा महत्व दिया।

ब्रिटेन में कुल मतदाता लगभग 4 करोड़ 45 लाख हैं। 1923 से लेकर 1997 तक ब्रिटिश आम चुनावों में सामान्यतया 70 प्रतिशत से अधिक मतदान होता रहा है, लेकिन 2001 ई. के चुनावों में राजनीतिक दलों के सभी प्रयत्नों के बावजूद केवल 59.4 प्रतिशत मतदाताओं ने ही अपने मताधिकार का प्रयोग किया। 2005 ई. के चुनावों में 61.3 प्रतिशत मतदाताओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया। इस प्रकार 2001 के चुनावों की तुलना में लगभग 2 प्रतिशत अधिक मतदाताओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया।¹ इन चुनावों की विशेष बात यह रही कि 'पोस्टल बैलट' (Postal Ballot) की व्यवस्था को अपनाया गया तथा 20 लाख से अधिक मतदाताओं द्वारा 'पोस्टल बैलट' की सुविधा का उपयोग किया गया।

चुनाव परिणाम—चुनाव के पूर्व निर्वाचन क्षेत्रों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण करते हुए लोक सदन के स्थानों की संख्या 659 से घटाकर 646 निर्धारित की गई। एक निर्वाचन क्षेत्र (स्टैफ़ोर्डशायर) के लिबरल डेमोक्रेट उम्मीदवार की मृत्यु हो गई, अतः लोक सदन के 645 स्थानों पर ही चुनाव हुए। इन चुनावों में विभिन्न राजनीतिक दलों को प्राप्त स्थान तथा उन्हें प्राप्त मत प्रतिशत की स्थिति निम्न प्रकार है :

राजनीतिक दल	चुनाव के पूर्व लोकसदन में स्थिति	चुनाव : 2005 लोकसदन में प्राप्त स्थान	चुनाव : 2005 प्राप्त मत प्रतिशत
मजदूर दल	403	356 (पहले से 47 कम)	35.2 प्रतिशत
अनुदार दल	164	197 (पहले से 33 अधिक)	32.3 प्रतिशत
लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी	51	62 (पूर्व से 11 अधिक)	22.0 प्रतिशत
अन्य दल	41	30	10.5 प्रतिशत
	659	645	100 प्रतिशत

ब्रिटिश दलीय-व्यवस्था की विशेषताएं

ब्रिटिश लोकतन्त्र वास्तव में देश की दलीय प्रणाली की क्रियान्विति ही है। ब्रिटिश दलीय प्रणाली की अपनी कुछ विशेषताएं हैं जिनकी विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती है :

(1) **द्विदल पद्धति**—ब्रिटिश दलीय प्रणाली की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि देश में दो लगभग समान रूप से शक्तिशाली एवं सुसंगठित राजनीतिक दल हैं और वे देश की राजनीति पर छाये रहते हैं। विधितः दो से अधिक राजनीतिक दलों का गठन किया जा सकता है और व्यवहार में भी दो से अधिक राजनीतिक दल हैं। गत चार दशक के आमचुनावों में 10 से अधिक राजनीतिक दल अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं; लेकिन लम्बे समय से शासन की शक्ति दो में से किसी एक राजनीतिक दल को ही प्राप्त होती रही है और दो दलों का ही देश की राजनीति में प्रभावपूर्ण स्थान है। अतः इस दलीय प्रणाली को द्वि-दलीय प्रणाली कहा जाता है।

सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में राजा और राजसत्ता के समर्थक 'केवेलियर्स' (Cavaliers) तथा धार्मिक सहिष्णुता और संसद के समर्थक 'राउण्डहेड्स' (Roundheads) कहलाते थे जिन्हें आज की भाषा में राजतन्त्रवादी और गणतन्त्रवादी कह सकते हैं। संसद की सर्वोच्चता निश्चित रूप से स्थापित होने के बाद इन दलों के नये नाम 'टोरी और व्हिग' (Tory of Whig) पड़ गये। सन् 1832 ई. के सुधार अधिनियम के पारित होने के बाद इन दलों के नाम अनुदार दल और उदार दल हो गये। अनुदार दल स्थापित व्यवस्था को बनाये रखने का

1 Source : *British Electoral Facts by Rallings and Thrasher.*

समर्थक, लेकिन उदार दल शासन पद्धति, उद्योग तथा सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में सुधारों का समर्थक था। बीसवीं सदी में मजदूर दल के उदय से ऐसा प्रतीत हुआ कि अब ब्रिटेन में द्विदलीय पद्धति के स्थान पर त्रिदलीय पद्धति स्थापित हो जायेगी, किन्तु मजदूर दल की शक्ति बढ़ने के साथ-साथ उदार दल का पतन प्रारम्भ हो गया और ब्रिटिश राजनीति में दो ही दलों का प्रभुत्व बना रहा।

द्विदलीय पद्धति के कारण—ब्रिटेन में द्विदलीय पद्धति के उदय और विकास के कई कारण हैं। प्रथमतः, अंग्रेजी भाषा-भाषी व्यक्ति सिद्धान्तवादी होने के बजाय व्यवहारवादी होते हैं और वे सैद्धान्तिक मतभेदों में उलझकर नवीन राजनीतिक दलों को जन्म देने के बजाय उस द्विदलीय पद्धति को बनाये रखना चाहते हैं, जो व्यवहार में ठीक प्रकार से कार्य कर रही है। सालवेडर डी. मैट्रियागा के अनुसार, “द्विदलीय पद्धति ब्रिटिश जाति की उस मनोवृत्ति का परिणाम है जो राजनीति को एक खेल मानती है और राजनीतिक जीवन को केवल खिलाड़ियों की दो टीमों के बीच संघर्ष।” द्वितीयतः, ब्रिटेन में यूरोप के अन्य देशों के समान राष्ट्रीयता, धर्म और भाषा ‘की समस्याएं नहीं हैं जो देश को खण्डित करती हैं और जिन्होंने फ्रांस तथा इटली जैसे देशों में बहुदलीय प्रणाली को जन्म दिया है। तृतीयतः, द्विदलीय पद्धति को जन्म देने वाला एक प्रमुख कारण ब्रिटिश चुनाव पद्धति है। यूरोप के अन्य देशों की भांति ब्रिटेन में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली नहीं वरन् साधारण बहुमत की प्रणाली और एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र है और इसी कारण छोटे-छोटे राजनीतिक दलों का विकास नहीं हो सका है। चतुर्थतः, ब्रिटिश लोकसदन के सभा भवन और कार्य पद्धति ने द्विदलीय पद्धति को स्थायी बनाने में योग दिया है। ब्रिटिश लोकसदन का आकार अनुप्रस्थाकार (horizontal) है, और आमने-सामने बैठने की इस पद्धति में कोई सदस्य सहज ही अपने दल की निष्ठा का त्याग नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, लोकसदन की कार्यविधि ही ऐसी है कि उसमें तीसरे दल के लिए कोई स्थान नहीं है। बहुमत वाला दल कार्यक्रम प्रस्तावित करता है, अल्पमत वाला दल इसका विरोध करता है, और संसदीय जीवन दो राजनीतिक दलों का सीधा संघर्ष हो गया है।

द्विदलीय पद्धति ने ब्रिटिश संवैधानिक व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया है। द्विदलीय पद्धति के कारण आम चुनाव में एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होना अवश्यम्भावी है और यह स्पष्ट बहुमत सबल तथा स्थायी मन्त्रिमण्डल को जन्म देता है। इस द्विदलीय पद्धति के कारण ही ब्रिटिश संसद की शक्ति का ह्रास और मन्त्रिमण्डल की शक्ति में वृद्धि हुई है।

वस्तुतः प्रतिनिधि शासन के संचालन के लिए द्विदलीय प्रणाली ही सर्वाधिक उपयुक्त है। द्विदलीय प्रणाली के लाभों का वर्णन करते हुए लॉस्क्री लिखते हैं, “यह एकमात्र प्रणाली है जिसके द्वारा जनता निर्वाचन के समय अपने शासन का प्रत्यक्ष चुनाव कर सकती है। यह उस शासन को अपनी नीति के अनुसार कानून बनाने की क्षमता प्रदान कर सकती है। यह उसकी असफलता के परिणामों को समझ में आने वाले रूप में सामने लाती है। यह दूरे दल के शासन की अविलम्ब स्थापना भी कर सकती है।” डॉ. फाइनर और ब्राइस, आदि लेखकों के द्वारा भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि एक विशाल देश में संसदीय जनतन्त्र द्विदलीय पद्धति के आधार पर ही सफलता प्राप्त कर सकता है और ब्रिटेन में संसदीय प्रजातन्त्र की सफलता का श्रेय द्विदलीय प्रणाली को ही है।

(2) **सुदृढ़ संगठन और केन्द्रीकरण**—ब्रिटेन के राजनीतिक दल बहुत अधिक संगठित और केन्द्रीकृत हैं। संसदीय शासन पद्धति के अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में निकट सम्पर्क आवश्यक होता है और इसे सुदृढ़ केन्द्रीकृत राजनीतिक दलों के आधार पर

ही प्राप्त किया जा सकता है। ब्रिटिश राजनीतिक दलों की वास्तविक शक्ति दल के शीर्ष संगठन में निवास करती है और वहीं से दलीय क्रिया-कलापों का नियन्त्रण और संचालन होता है। ब्रिटेन में नीचे से ऊपर तक समस्त राजनीतिक दल एकसूत्र में बंधा रहता है।

(3) कठोर अनुशासन—ब्रिटेन में सुदृढ़ और केन्द्रीकृत राजनीतिक दलों का स्वाभाविक परिणाम कठोर दलीय अनुशासन में देखा जा सकता है। कार्डर और अन्य के कथनानुसार, “ब्रिटिश दलपद्धति की सरलता तथा अनुशासन अमरीकावासियों के लिए प्रशंसा तथा ईर्ष्या का विषय है।” अमरीका में अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था होने के कारण कांग्रेस के किसी सदन में किये गये मतदान का सरकार के स्थायित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और इसी कारण अमरीका में अनेक बार कांग्रेस-सदस्य दल के नेता के निर्देश के विरुद्ध कांग्रेस में मतदान करते हैं। लेकिन ब्रिटेन में सरकार का भविष्य लोकसदन के प्रांगण में निश्चित होता है और इसी कारण ब्रिटिश लोकसदन में दलीय सचेतकों (Partywhips) की व्यवस्था की गयी है जो दलीय नेता के साथ सम्पर्क रखते हुए सदस्यों को निर्देश देते रहते हैं और सदस्यों के लिए निर्देशों का पालन आवश्यक होता है। न केवल अमरीका वरन् अन्य देशों के राजनीतिक दलों की तुलना में भी ब्रिटिश राजनीतिक दल निश्चित रूप से अधिक अनुशासित हैं।

(4) नेता की सर्वोच्च स्थिति—सभी देशों में राजनीतिक दलों के दलीय नेता का महत्व होता है, किन्तु ब्रिटेन में यह महत्व सर्वोपरि है। उन्नीसवीं-सदी के उत्तरार्द्ध में दो प्रभावशाली व्यक्तियों (ग्लैडस्टन और डिजरेली) के बीच प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ होने के समय से ब्रिटिश जनता दलीय कार्यक्रमों को नहीं, वरन् दलीय नेता को अपना मत प्रदान करती है और जब ‘चर्चिल अथवा एटली’ ‘बैचर अथवा फुट’ (1983 के चुनाव) या ‘बैचर अथवा नील किनॉक’ (1987 के चुनाव), जॉन मेजर अथवा नील किनॉक (अप्रैल 1992 के चुनाव) जॉन मेजर अथवा टोनी ब्लेयर (1997 के चुनाव) टोनी ब्लेयर अथवा विलियम हेग (2001 के चुनाव) और ‘टोनी ब्लेयर अथवा माइकल हार्ड’ (2005 के चुनाव) इस बात के आधार पर मतदान किया जाता है, तो स्वाभाविक रूप से दलीय नेता दलीय राजनीति में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लेता है। संसद सदस्य यह समझ लेते हैं कि उनकी विजय का आधार नेता का व्यक्तित्व है और वे नेता को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान करते हैं। लेकिन जब उस दल के सदस्यों के एक बड़े भाग को लगता है कि इस व्यक्ति के नेतृत्व में अगले चुनाव में विजय प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होगा तब दल अपने नेतृत्व में परिवर्तन भी कर लेता है। नवम्बर 1990 में तथा पुनः 2001 ई. में अनुदार दल ने यही किया। 2005 ई. से मजदूर दलीय प्रधानमन्त्री टोनी ब्लेयर की लोकप्रियता में तेजी से कमी आना प्रारम्भ हुआ और अन्ततोगत्वा टोनी ब्लेयर को जून 2007 में मजदूर दल के संसदीय नेता और प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

(5) राजनीतिक दलों की ‘वर्गीय प्रकृति’ का लगभग अन्त और उनका सामंजस्यकारी स्वरूप—अनुदार दल सदैव ही समाज के उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग से जुड़ा एक परम्परावादी राजनीतिक दल रहा है और मजदूर दल का उदय इस सदी के प्रारम्भ में मजदूर वर्ग और समाज के निम्न वर्ग से जुड़े समाजवादी विचारधारा के राजनीतिक दल के रूप में हुआ था। इस दृष्टि से ब्रिटेन के राजनीतिक दलों में वर्गीय प्रकृति का भेद बताया जाता रहा है, लेकिन राजनीतिक दलों का एक प्रमुख उद्देश्य होता है, सत्ता प्राप्त करना। अतः कालान्तर में ब्रिटेन के राजनीतिक दलों ने अनुभव किया कि उन्हें अपनी वर्गीय प्रकृति से आगे बढ़कर सभी

वर्गों का समर्थन प्राप्त करने की नीति अपनानी चाहिए। इस दृष्टि से अनुदार दल ने कुछ प्रगतिशील नीतियाँ अपनाई और 1983 से लेकर अब तक विशेषतया 1992-97 के वर्षों में मजदूर दल ने अपनी नीतियों में अधिक बड़े परिवर्तन किये। इन वर्षों में मजदूर दल ने समाजवाद और समाजवादी अर्थव्यवस्था को अपनाने की बात का लगभग त्याग कर बाजार की ओर उन्मुख आर्थिक नीतियों को स्वीकार कर लिया है। परिणामतया दो प्रमुख दलों (अनुदार दल और मजदूर दल) में वर्गीय प्रकृति का भेद लगभग समाप्त हो गया है और आज इन दलों ने सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करने की नीति अपना ली है। वैदेशिक क्षेत्र में भी अनुदार दल और मजदूर दल की नीति में अब कोई अन्तर नहीं रहा है।

(6) निरन्तर सक्रियता—अमरीका और अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था वाले अन्य देशों में राजनीतिक दल चुनाव के बाद दो-तीन वर्ष के लिए राजनीति के प्रति उदासीन हो जाते हैं क्योंकि यह स्पष्ट हो जाता है कि एक निश्चित समय के पूर्व सरकार में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। लेकिन ब्रिटेन में संसदात्मक व्यवस्था होने के कारण विरोधी राजनीतिक दल सरकार के पतन हेतु और शासक दल सत्ता बनाये रखने हेतु सदैव सक्रिय रहते हैं। राजनीतिक दलों के लिए सक्रिय रहना इसलिए भी जरूरी हो जाता है कि कभी भी तीन सप्ताह के नोटिस पर चुनाव की घण्टी बज सकती है जैसे—1950 के बाद 1951 के चुनाव हुए, 1964 के बाद 1966 में और फरवरी 1974 के बाद अक्टूबर 1974 में। इसके अतिरिक्त उप-चुनावों का भी महत्व होता है और कई बार तो उन पर सरकार का अस्तित्व निर्भर करता है। अतः राजनीतिक दल सभाएं बुलाने, साहित्य तैयार करने, स्थानीय शाखाओं को संगठित कर स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के चुनाव में भाग लेने, उप-चुनावों में भाग लेने और सामान्य जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने के कार्यों में निरन्तर सक्रिय रहते हैं।

(7) संयम और समझौते की प्रवृत्ति—ब्रिटिश राजनीतिक दलों का एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण संयम और समझौते की प्रवृत्ति है जिसने ब्रिटिश प्रजातन्त्र को सफलता प्रदान की है। राजनीतिक दलों के गठन का आधार भाषा, जाति या धर्मगत भेद नहीं है और दोनों ही राजनीतिक दलों का संवैधानिक साधनों में पूर्ण विश्वास है। इसके अतिरिक्त शासक दल इस बात को स्वीकार करता है कि विरोधी दल को शासन की आलोचना करने का अधिकार है और विरोधी दल मानता है कि बहुमत दल को जनता ने शासन करने का उत्तरदायित्व सौंपा है। दोनों ही राजनीतिक दल इस बात के प्रति भी सचेष्ट हैं कि उनकी स्थिति में परिवर्तन हो सकता है। आज यदि वह शासक दल है तो कल उसे विरोधी दल की स्थिति प्राप्त हो सकती है और आज के विरोधी दल को कल शासक दल की स्थिति। इसलिए न तो शासक दल मनमानी करता है और न ही विरोधी दल विरोध के लिए विरोध। दोनों एक-दूसरे के प्रति सम्मान, सहिष्णुता और समझौते की प्रवृत्ति अपनाते हैं।

(8) लूट प्रथा का अभाव—अमरीका में राष्ट्रपति के चुनाव के बाद स्थायी पदाधिकारियों का एक बड़ी संख्या में परिवर्तन होता है। पहले से कार्य कर रहे पदाधिकारियों के स्थान पर उन व्यक्तियों को इन पदों पर नियुक्त किया जाता है, जिन्होंने चुनाव के समय राष्ट्रपति को विजयी बनाने में योग दिया था। इसे ही 'लूट की पद्धति' कहते हैं। लेकिन ब्रिटिश राजनीति में राजनीतिक दलों के द्वारा इस प्रकार का आचरण नहीं किया जाता। प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति की निश्चित पद्धति है और चाहे जिस राजनीतिक दल की सरकार का निर्माण

हो, प्रशासनिक अधिकारी स्थायी रूप से अपने पदों पर बने रहते हैं। ब्रिटेन की यह पद्धति अमरीका की पद्धति की तुलना में निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

प्रमुख राजनीतिक दल : सिद्धान्त और संगठन

पिछले 60 वर्षों में ब्रिटेन की राजनीति में दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं: अनुदार दल और मजदूर दल। इसके अतिरिक्त एक अन्य दल 'लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी' को भी लगभग 20 प्रतिशत जनता का समर्थन प्राप्त है। इन दलों के अतिरिक्त साम्यवादी दल, फासिस्ट दल और स्काटिश नेशनल आदि कुछ अन्य राजनीतिक दल भी हैं, लेकिन इन दलों के प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित हैं।

अनुदार दल (Conservative Party)

अनुदार दल के सिद्धान्त—अनुदार दल, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, ब्रिटेन के परम्परागत आचार-विचार और संस्थाओं को बनाये रखने के पक्ष में है। उसका सिद्धान्त है कि इसमें परिवर्तन तभी किया जाना चाहिए जबकि परिवर्तन करना आवश्यक हो जाय और तब भी यह परिवर्तन धीरे-धीरे ही किया जाना चाहिए।

अनुदार दल निजी सम्पत्ति, संस्थापित चर्च, राजमुकुट, साम्राज्य और देश पर पूंजीगत व कुलीन वर्ग के प्रभुत्व का समर्थक है। डॉ. फाइनर का कथन है कि “अनुदारवाद का सार उसके द्वारा समर्थित सामाजिक संस्थाओं व उसकी प्रगति सम्बन्धी धारणाओं से स्पष्ट हो जाता है। अनुदार दल जिन सामाजिक संस्थाओं का समर्थन करता है, उनमें राजमुकुट, राष्ट्रीय एकता, चर्च, एक शक्तिशाली शासक श्रेणी और व्यक्तिगत सम्पत्ति की राज्य के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता है।” वैदेशिक क्षेत्र में अनुदार दल ब्रिटिश अहं का समर्थक रहा है और भूतकाल में उसने ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखने की अथक् चेष्टा की है। उसने आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता का कड़ा विरोध किया और भारत की स्वतन्त्रता का भी वह विरोधी ही रहा है। भूतकाल में उसने इस विश्वास को अपनाया कि अंग्रेज जाति का कर्तव्य संसार भर की पिछड़ी जातियों को सभ्य बनाना है, चाहे यह कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध ही क्यों न हो और चाहे उसके लिए पाशविक शक्ति का मार्ग ही क्यों न अपनाना पड़े। अनुदार दल प्रबल नौकरशाही के पक्ष में है और उसका विचार है कि लॉर्ड सभा के संगठन में चाहे सुधार किया जाय, लेकिन वर्तमान समय की अपेक्षा उसे अधिक शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए।

अनुदार दल की परम्परागत विचारधारा पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थन करने की रही है, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद जब अनुदार दल के सम्मुख मजदूर दल की गम्भीर चुनौती उपस्थित हुई, तो अनुदार दल की नीति में प्रगतिशीलता के चिन्ह दिखायी देने लगे। सन् 1947 में अनुदार दल के सम्मेलन द्वारा स्वीकृत 'औद्योगिक प्रपत्र' (Industrial Charter) में केन्द्रीय नियोजन को देश की प्रगति के लिए आवश्यक बताया गया। इसी प्रकार 1949 में प्रकाशित 'The Right Road for Britain' नामक नीति-पत्र में राज्य की ओर से आवश्यक समाज सेवाओं व सभी के लिए रोजगार की व्यवस्था किये जाने पर जोर दिया गया। दल के 1951 ई. के कार्यक्रम में 'गृह निर्माण योजना' अपनाने पर जोर दिया गया और इसके बाद भी दल निरन्तर सामाजिक सुरक्षा और लोक-कल्याण की नीति अपनाता रहा। 1972 में अनुदारदलीय सरकार द्वारा अधिनियम पारित कर 80 वर्ष से अधिक आयु वाले सभी व्यक्तियों के लिए पेन्शन की व्यवस्था की गयी।

1975 में दल की नीति में परिवर्तन—अक्टूबर 1974 के चुनावों में अनुदार दल की पराजय के बाद दल के नेतृत्व में परिवर्तन हुआ और दल के द्वारा एडवर्ड हीथ के स्थान पर मारग्रेट थैचर को अपना नेता चुना गया। महायुद्ध के बाद से ही और विशेष रूप से पिछले 10 वर्षों में हीथ के नेतृत्व में अनुदार दल के द्वारा दक्षिणपन्थ और वामपन्थ के बीच समन्वय स्थापित करने की नीति अपनायी गयी थी, लेकिन अक्टूबर 1975 में आयोजित 'ब्लैकपुल सम्मेलन' से स्पष्ट हो गया है कि श्रीमती थैचर के नेतृत्व में दल ने समन्वयवादी नीति को छोड़कर स्पष्ट रूप से समाजवाद का विरोध और दक्षिणपन्थ का समर्थन करने की नीति अपना ली है। अपने भाषण में उन्होंने कहा कि "ब्रिटेन के लिए समाजवाद बुरा है और हमें वर्तमान की तुलना में अधिक समाजवाद की नहीं, बल्कि कम समाजवाद की आवश्यकता है..... मैं समाजवाद का विरोध करती रहूँगी। पूंजीवादी राज्य समाजवादी राज्यों की तुलना में अधिक सम्पन्नता और अपने नागरिकों को अधिक प्रसन्नता प्रदान करते हैं।"¹

मई 1979 के आम चुनावों तथा उसके बाद जून 1983 के आम चुनावों में अनुदार दल ने इन्हीं नीतियों को दोहराया। 1987 के आम चुनावों में अनुदार दल के चुनाव घोषणा-पत्र की प्रमुख बातें थीं : कराधान में कमी की जायेगी, सरकारी खर्चों में कटौती की जायेगी, मजदूर संघों की गतिविधियों पर अंकुश लगाया जायेगा, सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के सफेद हाथियों को खत्म किया जायेगा और सम्पत्ति-कर के स्थान पर 'Poll Tax' लगाया जायेगा, जिसका भार अमीर-गरीब सब पर समान रूप से पड़े।² 1987-90 के वर्षों में थैचर सरकार ने समाज को नया स्वरूप प्रदान करने की योजना के अर्न्तगत अराष्ट्रीयकरण की दिशा में कदम बढ़ाये। पहले जल और विद्युत आपूर्ति व्यवस्था तथा उसके बाद 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना' का अराष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इसके साथ ही 'Poll Tax' भी लगा दिया गया।

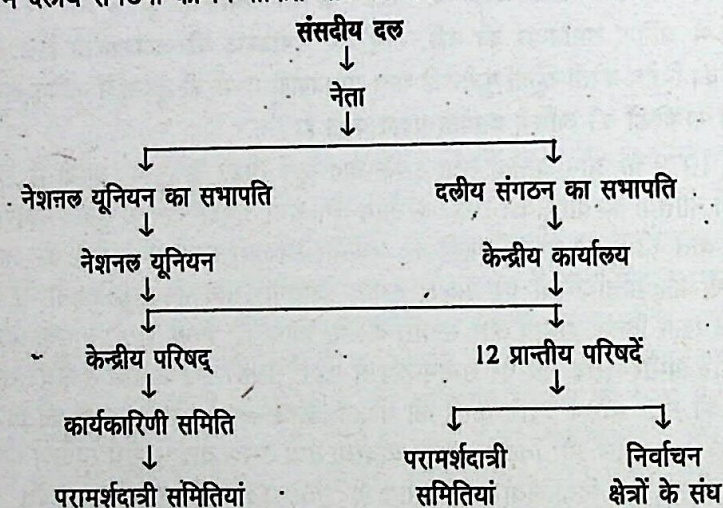
1990 के प्रारम्भ से ही थैचर सरकार के प्रति विरोध भावना और अनुदार दल में तीव्र मतभेदों का उदय हुआ। आर्थिक मंदी, बेरोजगारी, थैचर सरकार का यूरोप के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण और 'Poll Tax' इस स्थिति के कारण थे। ऐसी स्थिति में अनुदार दल में श्रीमती थैचर के नेतृत्व को चुनौती दी गई और श्रीमती थैचर के स्थान पर जॉन मेजर दल के नेता निर्वाचित हुए। जॉन मेजर के नेतृत्व में अनुदार दल ने अप्रैल '92 के आमचुनाव में बहुमत प्राप्त कर सरकार का गठन किया, लेकिन 92-96 के वर्षों में बेरोजगारी और आर्थिक मंदी का संकट कम होने के बजाय बढ़ गया। 2001 ई. के चुनावों में अनुदार दल ने पर्याप्त अंशों में अनुदारवादिता अर्थात् प्रगतिशील कदमों के विरोध की स्थिति को ही अपनाया। इन चुनावों में अनुदार दल के सबसे प्रमुख वायदे थे : कानून और व्यवस्था में सुधार, पेट्रोल पर करों में कमी, ब्रिटेन की स्वतन्त्र सत्ता पर बल और ब्रिटिश मुद्रा पाउंड की सुदृढ़ता आदि। 2001 ई. के आमचुनाव में अनुदार दल के नेतृत्व में परिवर्तन तथा नीतियों पर पुनर्विचार की मांग प्रबल हो गई। ऐसी स्थिति में विलियम हेग के स्थान पर माइकल होबर्ड को अनुदार दल का नया नेता चुना गया तथा यह भी निश्चित किया गया कि अनुदारवादिता को नियन्त्रित कर प्रगतिशीलता की दिशा में कुछ कदम बढ़ाने होंगे। मई 2005 ई.. के चुनाव माइकल

1 —Annual Conf. of the British Conservative Party at Blackpool on Oct. 10, 1975 (The Times of India, dated 12, 17 and 23 Oct., 1975)

2. The Times of India, 21 may, 1987.

हार्वर्ड के नेतृत्व में पहले आम चुनाव थे। इन चुनावों में अनुदार दल अपनी स्थिति में सुधार करने में सफल रहा, लेकिन अब भी सत्ता उससे दूर ही बनी रही।

दल का संगठन—सन् 1832 का सुधार अधिनियम पारित होने के बाद जब मतदाताओं की संख्या बढ़ गयी तो दल के द्वारा केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता अनुभव की गयी। सन् 1867 में 'कन्जरवेटिवों का तथा यूनियनिस्टों का राष्ट्रीय संघ' स्थापित हुआ। डिजरेली ने 1870 में दल का केन्द्रीय कार्यालय खोला और संगठन में आवश्यक परिवर्तन हुए, निर्वाचन क्षेत्रों में इसकी शाखाएं स्थापित की गयीं और संगठन को व्यापक रूप प्रदान किया गया। वर्तमान समय में दलीय संगठनों को निम्नांकित चार्ट की सहायता से समझा जा सकता है :



अनुदार दल का एक अखिल देशीय संगठन है जिसका अधिवेशन वर्ष में एक बार होता है। इस अधिवेशन में वार्षिक क्रियाकलाप का सिंहावलोकन किया जाता व आगामी वर्ष के लिए कार्यक्रम तैयार किया जाता है। अनुदार दल का सम्मेलन मजदूरदलीय सम्मेलन से कम शक्तिशाली होता है, क्योंकि इसके द्वारा पारित प्रस्ताव मात्र परामर्शात्मक होते हैं और दलीय नेता द्वारा इन्हें अस्वीकार किया जा सकता है। राष्ट्रीय संघ की अपनी एक केन्द्रीय परिषद् (Central Council) और एक कार्यकारिणी समिति होती है। केन्द्रीय परिषद् दल की प्रशासनिक संस्था है, लेकिन अपने बड़े आकार के कारण यह प्रभावदायक रूप में कार्य नहीं कर पाती। इसकी वर्ष में दो बैठकें होती हैं। कार्यकारिणी परिषद् की माह में एक बार बैठक होती है, लेकिन इसके कार्य मात्र परामर्शात्मक ही हैं। दल पर नियन्त्रण और निर्देशन की अन्तिम शक्ति दलीय नेता को प्राप्त होती है और केन्द्रीय परिषद् तथा कार्यकारिणी समिति ऐसे साधन मात्र हैं जिनके माध्यम से दल के सभी वर्गों से सम्पर्क स्थापित रखा जा सकता है। दल का प्रशासनिक संगठन और अनुशासन बनाये रखने का कार्य लन्दन स्थित कार्यालय द्वारा किया जाता है, जिसका प्रधान दल का अध्यक्ष होता है। केन्द्रीय कार्यालय दलीय उम्मीदवारों का मनोनयन करता है और दल के वित्तीय मामलों का प्रबन्ध करता है। यह दल की नीति का प्रचार करता और दलीय उम्मीदवारों के लिए समर्थन जुटाता है। केन्द्रीय कार्यालय पर दल के नेता का ही नियन्त्रण होता है जिसे दलीय संगठन में केन्द्रीय स्थिति प्राप्त होती है। दलीय कार्यक्रम के निर्धारण में नेता का महत्व सर्वोपरि होता है और वर्तमान समय में

तो नीति की घोषणा भी नेता के नाम से ही की जाती है; जैसे निर्वाचकों के नाम 'विलियम हेग की घोषणा' (2001 के चुनाव) या 'निर्वाचकों के नाम माइकल हावर्ड की घोषणा' (2005 ई.)। लोकसदन का प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र दल का प्राथमिक संगठन होता है।

मजदूर दल (Labour Party)

मजदूर दल की विधिवत् स्थापना 1899 में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के एक प्रस्ताव के आधार पर फरवरी 1900 में हुई। उस समय इसका नाम श्रमिक प्रतिनिधित्व समिति (Labour Representative Committee) रखा गया और 1906 में इसे बदलकर 'मजदूर दल' कर दिया गया।

मजदूर दल के सिद्धान्त—मजदूर दल की स्थापना मजदूरों तथा अन्य निम्नवर्ग के लोगों के हित साधन की दृष्टि से समाजवादी विचारधारा वाले राजनीतिक दल के रूप में की गई थी; लेकिन मजदूर दल ने अपने समाजवाद की प्रेरणा मार्क्सवादी दर्शन से प्राप्त नहीं की है और यह दल मार्क्सवादी समाजवाद की अपेक्षा लोकतन्त्रीय समाजवाद में विश्वास करता है। मार्क्सवादी समाजवाद से उसका भेद मूलतः दो बातों में देखा जा सकता है। प्रथमतः, मजदूर दल मार्क्सवाद के समान क्रान्ति की नीति में नहीं वरन् सुधार की नीति में विश्वास करता है। वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन हेतु शक्ति और बल प्रयोग के मार्ग को नहीं वरन् संवैधानिक और लोकतन्त्रात्मक मार्ग को अपनाने के पक्ष में है। डॉ. फाइनर के शब्दों में, "मजदूर दल दास कैपीटल की अपेक्षा बाइबिल से अधिक प्रभावित है।" इसी प्रकार 1950 में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में अपनी स्थिति प्रकट करते हुए श्रमिक दलीय सचिव मार्गन फिलिप्स ने कहा था कि "ब्रिटिश समाजवाद साम्यवाद की पद्धति पर नहीं वरन् मैथोडिज्म (ईसाई धर्म के एक पन्थ) की पद्धति पर आधारित है।"

मजदूर दल के समाजवाद का साम्यवाद से दूसरा अन्तर यह है कि मजदूर दल के अनुसार आर्थिक नियोजन का संचालन लोकतन्त्रात्मक विधि से निर्वाचित सरकार द्वारा किया जाना चाहिए, लेकिन आर्थिक नियोजन के नाम पर शासन द्वारा नागरिक स्वतन्त्रताओं का हनन नहीं किया जाना चाहिए। मजदूर दल साम्यवाद के समान नागरिक स्वतन्त्रताओं के मूल्य पर आर्थिक न्याय की प्राप्ति नहीं वरन् नागरिक स्वतन्त्रताओं के साथ आर्थिक न्याय की प्राप्ति करना चाहता है। इस प्रकार मजदूर दल लोकतान्त्रिक साधनों से समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहता है।

इसके अतिरिक्त समाजवाद के प्रति मजदूर दल का झुकाव सिद्धान्तवादी नहीं वरन् यथार्थवादी है और उसने राष्ट्रीयकरण को उतनी ही सीमा तक अपनाया है जितनी सीमा तक इसे अपनाना आवश्यक था। 1945-51 के काल में मजदूर दलीय सरकार ने बैंक ऑफ इंग्लैंड, कोयला उद्योग, यातायात उद्योग और लोहा तथा इस्पात उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया, लेकिन 1951 के बाद मजदूर दल ने समझ लिया कि न तो राष्ट्रीयकरण आर्थिक क्षेत्र की सभी बुराइयों का हल है और न ही राष्ट्रीयकरण के नाम पर ब्रिटिश मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। सन् 1951 के बाद ही मजदूर दल ने राष्ट्रीयकरण के स्थान पर 'समाजीकरण' (Socialization) पर बल देना आरम्भ किया है जिसका तात्पर्य यह है कि उद्योग चाहे व्यक्तिगत स्वामित्व के क्षेत्र में रहें, उनका संचालन सामाजिक हित की दृष्टि से होना चाहिए।

1 "Labour Party is inspired by the Bible rather than Das Capital."

मजदूर दल की नीति में क्रमशः परिवर्तन; वामपंथ से मध्यम मार्ग की दिशा—1974-80 के काल में मजदूर दल की नीति में असामंजस्य की स्थिति देखी गई। इस काल में कभी तो श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा और समाजवाद की बात जोर-शोर से कही गई और कभी वामपंथियों और दक्षिणपंथियों, दोनों का विरोध करते हुए मध्यम मार्ग को अपनाने की बात कही गई। 1980 के बाद मजदूर दल ने इस सच्चाई को समझ लिया कि दल के लिये अपने आधार को व्यापक बनाने की आवश्यकता है तथा इसके लिये वामपंथ का परित्याग कर मध्यम मार्ग की ओर बढ़ना होगा। उसी समय से मजदूर दल ने मध्यम मार्ग की दिशा में यात्रा प्रारम्भ कर दी और मई 1997 से मई 2005 ई. तक की लगातार तीन विजय यात्राओं में मध्यम मार्ग को सम्पूर्ण अर्थों में ग्रहण कर लिया गया है।

टोनी ब्लेयर का नेतृत्व और मजदूर दल का आधुनिकीकरण—1992 में दल का नेतृत्व नील किन्नॉक के स्थान पर टोनी ब्लेयर ने प्राप्त किया और ब्लेयर ने 'दल का आधुनिकीकरण' कर दिया है। दल का इस सीमा तक आधुनिकीकरण कर दिया गया है कि ब्लेयर इसे 'मजदूर दल' के स्थान पर 'नवीन मजदूर दल' कहते हैं। अब दल ने समाजवाद की ओर झुकी हुई छवि त्याग कर बाजारोन्मुख नीतियों को अंगीकार किया और चुनाव के पूर्व तथा चुनाव के बाद की स्पष्ट घोषणा की कि 'हम व्यापार और व्यापारिक क्षेत्रों के प्रति मित्रता का भाव अपनायेंगे।' ब्लेयरवाद स्वतंत्र बाजार के प्रति प्रतिबद्ध है तथा उसमें उन उद्योगों और सेवाओं को पुनः राष्ट्रीयकरण के लिये कोई स्थान नहीं है, जिनका थैचर काल में अराष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। 'ब्लेयरवाद नैतिक दृष्टि से जागरूक थैचरवाद ही है।'²

मजदूर दल मजदूर वर्ग को अपना समर्थक बनाये रखने के लिये प्रमुख रूप से एक ही बात 'राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन' की बात कहता है। चुनाव में मजदूर दल ने सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त किया है, और चुनाव के उपरान्त प्रथम नीति वक्तव्य में प्रधानमंत्री ने कहा है 'हमारा लक्ष्य आधुनिकीकृत लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। 2001 तथा 2005 ई. के चुनावों में मजदूर दल के सबसे प्रमुख वायदे रहे हैं : शिक्षा, स्वास्थ्य और परिवहन की सुविधाओं में भारी वृद्धि, बेरोजगारी पर प्रभावी रोक और उज्ज्वल भविष्य। मजदूर दल को अश्वेत व्यक्तियों (एशियाई मूल के व्यक्ति और अन्य), मजदूर वर्ग, निम्न मध्यम वर्ग, युवाओं और महिलाओं में अधिक समर्थन प्राप्त है।'

वैदेशिक क्षेत्र में मजदूर दल शान्तिवादी नीति में विश्वास करते हुए 'संयुक्त राष्ट्र में आस्था' की घोषणा करता रहा है, लेकिन अपने दूसरे कार्यकाल (2001-2005) में मजदूर दल की सरकार ने इराक युद्ध के प्रसंग में अमरीकी नीति का शत-प्रतिशत अनुसरण करते हुए मजदूर दल की विदेश नीति को अधिक विवादास्पद बना दिया। ब्लेयर सरकार का यह कार्य मजदूर दल की परम्परागत नीति से अलग हटकर था तथा ब्रिटिश मतदाताओं के एक भाग ने इसे पसन्द नहीं किया। अनुदार दल की अपेक्षा मजदूर दल रक्षा व्यय को सीमित रखने के पक्ष में है।

मजदूर दल : दल की प्रतिष्ठा में कमी और दल में टोनी ब्लेयर के नेतृत्व पर विवाद और अन्ततोगत्वा टोनी ब्लेयर का पद त्याग—मई, 2005 ई. के चुनाव में मजदूर दल ने टोनी ब्लेयर के नेतृत्व में सत्ता प्राप्त की थी; लेकिन 2005 ई. के अन्तिम दिनों से ही ब्रिटिश

1 "We will be business friendly".

2 "Blarism is a morally enlightened Thatcherism".

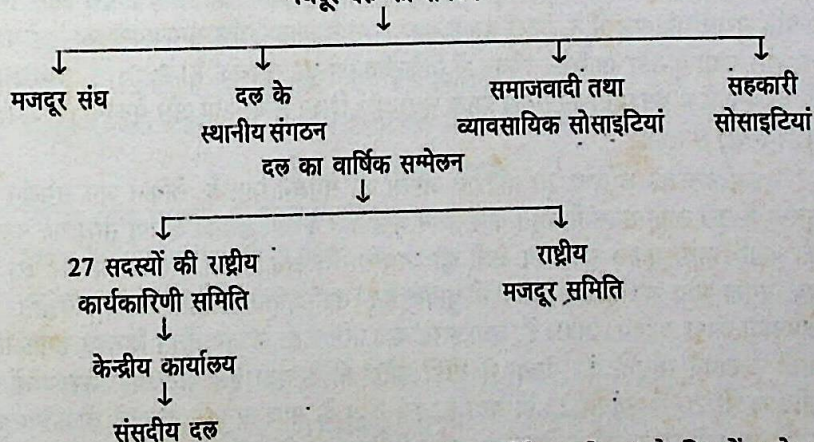
—Tony Blair

—S. Prasannarajan.

राजनीति में मजदूर दल के समर्थन और मजदूर दल में नेता के रूप में टोनी ब्लेयर की प्रतिष्ठा में तेजी से कमी आना प्रारम्भ हो गया। इस स्थिति का एक बड़ा कारण था, प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर द्वारा अमरीकी राष्ट्रपति बुश की इराक नीति का पूर्ण और लगभग अंध समर्थन। अब नेतृत्व में परिवर्तन की मांग की जाने लगी। पद त्याग के लिये बढ़ते हुए दबाव को देखकर प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने घोषणा की है कि वे 27 जून, 2007 को मजदूर दल के नेता पद और प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया और गॉर्डन ब्राउन को नया नेता चुना गया।

दल का संगठन—सन् 1918 तक दल की सदस्यता किसी सम्बद्ध संगठन के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती थी, लेकिन अब सीधे ही मजदूर दल की सदस्यता प्राप्त की जाती है, अब भी मजदूर संगठन मजदूर दल की शक्ति का आधार बने हुए हैं और मजदूर दल से सम्बद्ध संगठनों में प्रमुख ये हैं : (1) 600 से अधिक लोकसदन की निर्वाचन क्षेत्रीय दल की इकाइयाँ, जिनके लगभग 10 लाख व्यक्ति सदस्य हैं। ये दल वार्षिक सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि भेजते हैं और इन निर्वाचन क्षेत्रों के 11 क्षेत्रीय समूह बनाये गये हैं। (2) मजदूर संघ (Trade Unions) जिनकी संख्या 70 से अधिक है और जिनमें कुछ बहुत बड़े हैं तथा कुछ बहुत छोटे। उदाहरण के लिए, 'परिवहन और साधारण श्रमिकों के संघ' के 10 लाख सदस्य हैं। ये बड़े मजदूर संघ स्वयं अपने उम्मीदवार खड़ा करते हैं और इनकी सफलता निश्चित होती है। (3) सहकारी समितियाँ, जो निर्वाचन क्षेत्रों के संगठन से सहयोग करती हैं। (4) समाजवादी सोसाइटियाँ, इनका गठन बुद्धिजीवी वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए किया गया है और इनमें कुछ प्रमुख हैं—फेबीयन सोसाइटियाँ, समाजवादी चिकित्सकों व शिक्षकों के संघ, आदि।

मजदूर दल का संगठन



दल की नीति निर्धारित करने वाला मुख्य अंग 'वार्षिक सम्मेलन' है जिसमें प्रत्येक सम्बद्ध संगठन को 5,000 सदस्यों पर एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है। सांसद और उम्मीदवार इसके पदेन सदस्य होते हैं। दल की नियन्त्रणकारी व प्रशासनिक सत्ता 'राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति' में निहित है। इसका चुनाव वार्षिक सम्मेलन द्वारा होता है और इसके 25 सदस्य होते हैं। संसदीय दल का नेता, उपनेता और कोषाध्यक्ष इसके पदेन सदस्य होते हैं। राष्ट्रीय सम्मेलनों के बीच के काल में नीति सम्बन्धी प्रश्नों का निर्णय करने, नियमों को लागू करने और अनुशासन बनाये रखने का काम इसी के द्वारा किया जाता है। राष्ट्रीय

कार्यकारिणी समिति संसद के लिए उम्मीदवारों की छांट में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। दल के संसदीय अंग में सभी सदस्य सम्मिलित रहते हैं। इनके अधिकारियों में उपसभापति, मुख्य सचेतक और सदस्यों द्वारा निर्वाचित एक समिति होती है।

नेता का चयन—जनवरी 1981 में मजदूर दल का जो सम्मेलन हुआ, उसमें यह निश्चित किया गया कि मजदूर दल के नेता का चयन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जायेगा। इस निर्वाचक मण्डल में संसदीय मजदूर दल को 30 प्रतिशत मत, निर्वाचन क्षेत्रीय मजदूर दल को 30 प्रतिशत मत और मजदूर संघों को शेष 40 प्रतिशत मत प्राप्त होंगे।¹

लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी (Liberal Democratic Party)—इस दल को ब्रिटिश राजनीति की 'तीसरी शक्ति' कहा जा सकता है। 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक चरण में उदार दल की ब्रिटेन की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका रही है; लेकिन बीसवीं सदी में जैसे-जैसे मजदूर दल की शक्ति में वृद्धि हुई, उदार दल का पतन प्रारम्भ हो गया। 'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' के रूप में एक अन्य दल की स्थापना 1981 में हुई थी। 1983 और 1987 के चुनाव उदार दल और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने परस्पर समझौते के आधार पर लड़े लेकिन उन्हें अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हुई। अतः अगस्त 1987 में आयोजित सम्मेलन में 'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' का उदार दल में विलय हो गया और नये दल को 'लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी' का नाम मिला।

लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी की नीति वही है जो उदार दल की थी। नीति या विचारधारा की दृष्टि से लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी मजदूर दल के समीप है। यह दल सभी प्रकार की स्वतंत्रता का समर्थक है और वर्तमान में यह परम्परागत वैयक्तिक स्वतंत्रताओं के साथ-साथ आर्थिक समानता का भी समर्थक है। यह मजदूरों के अधिकारों को मान्यता देने और उनकी स्थिति सुधारने के पक्ष में है, किन्तु इसके साथ ही राष्ट्रीयकरण और समाजवाद का विरोधी है। यह दल उद्योगों और आर्थिक जीवन में विकेन्द्रीकरण का समर्थक है। 2001 ई. तथा 2005 ई. के चुनावों में इस पार्टी का सबसे प्रमुख नारा था : शिक्षा सुविधाओं और पेन्शनों (विशेषतया वृद्धावस्था) में वृद्धि।

इस दल को लगभग 20 प्रतिशत जनता का समर्थन प्राप्त है, लेकिन जन समर्थन की तुलना में उसे लोक सदन में बहुत कम स्थान प्राप्त होते हैं और इसका कारण साधारण बहुमत की पद्धति तथा एकल सदस्यीय क्षेत्रों की व्यवस्था है। अतः वर्तमान समय में इस दल की एक प्रमुख मांग यह है कि ब्रिटेन में चुनाव हेतु 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति' को अपनाया जाना चाहिए। 2001 ई. तथा इसके बाद 2005 ई. के चुनावों में लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी ने अपने सांसदों की संख्या में थोड़ी वृद्धि की है तथा इस पार्टी को प्राप्त मतों का प्रतिशत भी 20 से बढ़कर 22 हो गया है। इस तथ्य के साथ अनुदार दल की लोकप्रियता में उत्तरोत्तर कमी से उत्साहित होकर यह पार्टी ब्रिटिश राजनीति में अनुदार दल का स्थान प्राप्त करने की आशा संजो रही है तथा इसके लिए प्रयत्नशील है लेकिन इसके लिए एक लम्बा और कठिन रास्ता तय करना होगा। दल का नेतृत्व चार्ल्स क्लैन्डी कर रहे हैं।

अन्य दल (Other Parties)—**साम्यवादी दल (Communist Party)**—ब्रिटेन में साम्यवादी दल भी है, किन्तु इसे ब्रिटिश राजनीति में प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। लोकसदन में इसे कभी तो प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता और कभी एक या दो स्थान प्राप्त हो जाते हैं।

1 *The Times of India*, 29 Jan., 1981, p. 8.

इसके सदस्यों की संख्या 70 हजार के लगभग है। साम्यवादी दल के सदस्यों ने मजदूर दल में प्रवेश प्राप्त कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु मजदूर दल ने इन प्रयत्नों को सफल नहीं होने दिया।

फासिस्ट दल (Facist Party)—फासिस्ट दल की स्थिति साम्यवादी दल से भी बुरी है। इटली में मुसोलिनी के उत्थान के बाद ब्रिटेन में भी कुछ धनी घरानों के नवयुवक फासिस्ट बने और ओस्टवाल्ड मोस्ले ने फासिस्टों का एक संघ बनाया। युद्धकाल में मोस्ले को बन्दी बना लिया गया। जेल से छूटने पर मोस्ले ने फिर संगठन बनाया और पत्र भी निकाला। फासिस्ट दल को अब तक लोकसदन या स्थानीय संस्थाओं में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है और निकट भविष्य में भी सम्भावनाएं नहीं हैं।

ब्रिटिश राजनीति के अन्य कुछ दल हैं : नेशनल फ्रण्ट, सोशलिस्ट वर्कर्स पार्टी, कामनवैलथ दल, स्वतन्त्र मजदूर दल, आदि। नेशनल फ्रण्ट ब्रिटेन का सबसे बड़ा मुस्लिम विरोधी दल है, कभी-कभी इस दल में सभी अश्वेतों के प्रति विरोधी स्वर भी उभर जाते हैं। इन दलों ने अपने सीमित प्रभाव क्षेत्र का परिचय दिया है। ये दल हैं : स्कॉटिश नेशनल, प्लाइड साइमन्स, सरकारी यूनियनिस्ट, डेमोक्रेटिक यूनियनिस्ट, पापुलर यूनियनिस्ट, सोशल डेमोक्रेटिक और लेबर तथा सिन्न फिएन। प्लाइड साइमन्स वेल्स की राष्ट्रवादी पार्टी है, यूनियनिस्ट पार्टियां उत्तरी आयरलैंड की हैं, डेमोक्रेटिक और लेबर उत्तर आयरलैंड के कैथोलिक समर्थकों की पार्टी हैं, जबकि सिन्न फिएन आयरिश गणराज्य सेना की राजनीतिक शाखा है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रिटेन में राजनीतिक दलों के संगठन और उद्देश्य का वर्णन कीजिए।
2. ब्रिटेन में द्विदलीय पद्धति के विकास और अस्तित्व के लिए क्या कारण उत्तरदायी रहे हैं?
3. ब्रिटेन में राजनीतिक दलों पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
4. मजदूर दल की विचारधारा और संगठन पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश दलीय व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं बताइए।
2. ब्रिटेन में द्विदल पद्धति होने के कारण क्या हैं?
3. अनुदार दल के सिद्धान्त और संगठन पर प्रकाश डालिए।
4. मजदूर दल के सिद्धान्त और संगठन पर प्रकाश डालिए।
5. 'लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी' पर टिप्पणी लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. ब्रिटेन में मजदूर दल को पहली बार सरकार बनाने का अवसर मिला :
 (अ) 1900 ई. में (ब) 1906 ई. में
 (स) 1924 ई. में (द) 1930 ई. में
2. वर्तमान समय में ब्रिटेन में अनुदार दल और मजदूर दल के बाद तीसरे नम्बर पर राजनीतिक दल है :
 (अ) डेमोक्रेटिक पार्टी (ब) लिबरल पार्टी
 (स) लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी (द) समाजवादी पार्टी

3. 1997 के कामन्ससभा के चुनावों में किस दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ ?

- (अ) उदार दल को (ब) अनुदार दल को
(स) लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी को (द) मजदूर दल को

4. ब्रिटेन का प्राचीनतम राजनीतिक दल है :

- (अ) श्रमिक दल (ब) साम्यवादी दल
(स) अनुदार दल (द) उदार दल

5. ब्रिटेन में श्रमिक दल की स्थापना कब हुई ?

- (अ) 1916 ई. में (ब) 1906 ई. में
(स) 1926 ई. में (द) 1936 ई. में

6. ब्रिटिश दल प्रणाली की विशेषता नहीं है :

- (अ) द्विदल प्रणाली
(ब) निश्चित एवं स्पष्ट कार्यक्रम का अभाव
(स) कठोर दलीय अनुशासन
(द) सैद्धान्तिक मतभेद

7. ब्रिटिश दल प्रणाली की सबसे प्रमुख विशेषता है :

- (अ) एकदलीय प्रणाली (ब) एक दल प्रधान व्यवस्था
(स) द्विदलीय प्रणाली (द) बहुदलीय व्यवस्था

8. बीसवीं सदी में श्रमिक दल की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने प्रमुख रूप से किस दल की लोकप्रियता को आघात पहुंचाया :

- (अ) उदार दल (ब) अनुदार दल
(स) साम्यवादी दल (द) रिपब्लिकन दल

[उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (द), 4. (स), 5. (ब), 6. (ब), 7. (स), 8. (अ)]

प्रश्न 9. ब्रिटेन में अनुदार दल, मजदूर दल और लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी के अतिरिक्त अन्य कौन-से राजनीतिक दल हैं ?

[उत्तर—अन्य दल हैं : साम्यवादी दल, फासिस्ट दल, नेशनलिस्ट पार्टी, सोशलिस्ट वर्कर्स पार्टी, कामनवेल्थ दल, स्वतन्त्र मजदूर दल, आदि।]

प्रश्न 10. 'लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी' की स्थापना कब हुई ?

[उत्तर—अगस्त 1987 में आयोजित सम्मेलन में 'सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी' का उदार दल में विलय हो गया और नए दल को 'लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी' का नाम मिला।]

प्रश्न 11. ब्रिटेन की दलीय व्यवस्था की नौकरशाही और शासन से सम्बन्धित विशेष लक्षण क्या हैं ?

[उत्तर—लोक सेवाओं के प्रसंग में 'लूट प्रथा' (Spoils System) का अभाव।]

प्रश्न 12. निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

(i) डॉ. फ्राइजर : 'मजदूर दल' 'दास कैपीटल' की अपेक्षासे अधिक प्रभावित है।

(ii) 1980 से मजदूर दल वामपंथ सेकी दिशा में यात्रा कर रहा है।

[उत्तर—(i) बाइबल, (ii) मध्यम मार्ग।]

संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान

1

अमरीकी संविधान की पृष्ठभूमि, महत्व और विशेषताएं

(BACKGROUND, IMPORTANCE & SALIENT FEATURES
OF THE AMERICAN CONSTITUTION)

“यह (अमरीकी संविधान) एक महान भावना है, एक उत्कृष्ट एवं उदात्त घोषणा है तथा वास्तव में, शासन की नैतिकता की विजय है। यह राज्य का समुचित कार्यक्षेत्र राज्य को समर्पित करता है, किन्तु जनता के मूलभूत नैतिक अधिकारों को सुरक्षित रखकर ईश्वर के विषय ईश्वर के पास ही रहने देता है।”¹ —जेम्स बैक

अमरीका का क्षेत्रफल 98,26,629 वर्ग किलोमीटर और वर्ष 2000 ई. में हुई जनगणना के अनुसार अमेरिका की जनसंख्या 28 करोड़ 13 लाख 86 हजार बतलाई गई तथा अनुमान है कि 2005 ई. के प्रारम्भ में यह जनसंख्या 28 करोड़ 24 लाख हो गई है। प्राकृतिक साधनों से परिपूर्ण इस विशाल क्षेत्र और जनसंख्या ने अमरीका को एक महाशक्ति का रूप प्रदान करने में बहुत अधिक योग दिया है। बुनियादी तौर पर अमरीका बेशक गोरे लोगों का देश है, 76 प्रतिशत जनसंख्या श्वेत लोगों की है, लेकिन यहां 2 करोड़ 60 लाख काले वर्ण के व्यक्ति भी हैं। यह संख्या नाइजीरिया और इथियोपिया को छोड़कर किसी एक अफ्रीकी देश की जनसंख्या से अधिक है। अमरीका यद्यपि ईसाइयों का देश है, लेकिन यहां पर इजरायल से तीन गुना (60 लाख) यहूदी हैं। इसके साथ ही एशिया और निकट पूर्व के बौद्ध, मुसलमान तथा हिन्दुओं की संख्या दस लाख से अधिक है। दस लाख के लगभग मूल निवासी हैं जिन्हें ‘इण्डियन्स’ कहा जाता है। अमरीका यद्यपि प्रोटेस्टैंट देश है, लेकिन कैथोलिक सम्प्रदाय के सदस्यों की संख्या 6 करोड़ है। अमरीका की प्रमुख भाषा स्पानी है और 90% लोग इसे ही बोलते हैं। 30 जून, 2001 के आंकड़ों के अनुसार 143 राष्ट्रों के निवासी अमरीका में रह रहे हैं। इस प्रकार अमरीका निश्चित रूप से बहुत अधिक विविधताओं का देश है।

1 “It is a great spirit, a high and noble assertion and indeed a vindication of the morality of government. It renders unto Caesar, the thing that are Caesar's but in safeguarding the fundamental moral rights of the people, it renders unto God. the things that are God's.” —James Beck

संविधान का उदय

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का निर्माण 1789 में हुआ, परन्तु इस संविधान का निर्माण यकायक नहीं हो गया, वरन् इसके पीछे लगभग 150 वर्षों का संघर्षपूर्ण इतिहास रहा है, जिसके अन्तर्गत यूरोपवासी अमरीका में जाकर बसे, उन्होंने स्वतन्त्रता की घोषणा की और अपने लिए एक संविधान का निर्माण किया। इस प्रकार अमरीकी संविधान का उदय चार चरणों में हुआ: औपनिवेशिक युग, स्वतन्त्रता की घोषणा, परिसंघ की स्थापना और संविधान का निर्माण।

औपनिवेशिक युग (Dominion Period)—संयुक्त राज्य अमरीका आज विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली, समुन्नत और समृद्ध लोकतन्त्र है, परन्तु इतिहास की दृष्टि से यह संसार के नवीनतम देशों में से एक है। 1492 में स्पेन निवासी कोलम्बस ने 'पश्चिमी हिन्दू द्वीपों' (West Indies Islands) की खोज की और इस तरह उसने यूरोप के लिए अमरीका के द्वार खोल दिए। सत्रहवीं सदी में यूरोप के लोग बहुत बड़ी संख्या में और बहुत तीव्र गति से अमरीका जाकर बसने लगे। उनके अमरीका जाकर बसने के प्रमुख कारण आर्थिक और धार्मिक थे। यूरोप से अमरीका गये हुए ये व्यक्ति, जिनमें काफी बड़ी संख्या अंग्रेजों की थी, अपने साथ सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन की परम्पराएं और शासन सम्बन्धी विचार भी ले गये थे। व्यवस्थाप्रिय होने के नाते उनके द्वारा यह आवश्यक समझा गया कि उपनिवेशों की स्थापना के लिए ब्रिटिश सरकार से विधिवत् आज्ञापत्र प्राप्त किया जाय। अतः ब्रिटिश सम्राट से प्राप्त आज्ञापत्र के आधार पर 1775 तक अमरीका में अलग-अलग 13 उपनिवेशों की स्थापना हो गयी। इन उपनिवेशों की शासन-व्यवस्था में परस्पर कुछ अन्तर होते हुए भी एक यह सामान्य बात थी कि आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी मामलों में पर्याप्त सीमा तक स्वतन्त्रता प्राप्त होते हुए भी वैदेशिक तथा सेना सम्बन्धी मामलों का संचालन ब्रिटिश सरकार द्वारा किया जाता था।

स्वतन्त्रता की ओर (Towards Independence)—अमरीका में बसे हुए ये व्यक्ति मूलतः यूरोपियन और इनमें भी अधिकांशतया अंग्रेज थे, किन्तु समय बीतने के साथ-साथ इन उपनिवेशों की एक अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता का विकास होने लगा। इनमें अपने मातृ देश के प्रति भावनात्मक लगाव कम होने लगा और वे स्वशासन की दिशा में सोचने लगे। तात्कालिक अंग्रेज शासकों की अदूरदर्शिता ने इस निर्वल प्रवृत्ति को स्वतन्त्रता के प्रति अदम्य इच्छा में परिणत कर दिया। 1760 के आसपास ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी। इंग्लैण्ड ने अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए अमरीकन उपनिवेशों पर अनेक कर लगाने तथा ऐसे कठोर व्यापारिक कानून पारित करने शुरू किये जिनसे केवल इंग्लैण्ड को ही लाभ होता था। अमरीकन उपनिवेशों ने इन कानूनों का विरोध किया तथा नये अनुचित कर देने से स्पष्ट इंकार करते हुए 'प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं' (No Taxation without Representation) की घोषणा की। इंग्लैण्ड ने कठोरता के साथ अमरीकी जनता की आवाज को दबा देने का निश्चय किया और इंग्लैण्ड ने जितनी कठोरता प्रदर्शित की उतनी ही सीमा तक ये 13 उपनिवेश एक-दूसरे के निकट आते गये और उनमें सामान्य अमरीकी राष्ट्रीयता का विकास स्पष्ट हो गया।

इसी समय अर्थात् 16 दिसम्बर, 1773 ई. को मैसाचूसेट्स के बोस्टन नगर में नगरवासियों ने चाय से भरे हुए तीन जहाजों को नष्ट कर दिया। ब्रिटिश शासन ने विद्रोहियों

का दमन करने के लिए अनेक कानून बनाये। इन कानूनों से मैसाचूसेट्स में बहुत रोष फैला और अन्य उपनिवेशों ने भी मैसाचूसेट्स को सहायता देने का वचन दिया। उपनिवेशों की शोचनीय स्थिति पर विचार के लिए उपनिवेशों के प्रतिनिधियों की 5 सितम्बर, 1774 को फिलाडेल्फिया में बैठक हुई। यह सभा महाद्वीप की 'प्रथम कांग्रेस' कहलाती है। एक एसोसिएशन बनाया गया और इस कांग्रेस ने दमनकारी कानूनों को रद्द करने के लिए सम्राट के पास एक याचिका भेजी, लेकिन जार्ज तृतीय ने इस याचिका को ठुकरा दिया। इसके बाद अमरीका में विद्रोह की भावना बहुत तीव्र हो गयी।

ऐसी स्थिति में 10 मई, 1775 को फिलाडेल्फिया में 'दूसरी महाद्वीपीय कांग्रेस' हुई। महाद्वीपीय कांग्रेस में इंग्लैण्ड से युद्ध का प्रस्ताव पेश किया गया और जार्ज वाशिंगटन को अमरीका की नागरिक सेना का सर्वोच्च सेनापति भी नियुक्त कर दिया गया। इतना सब कुछ किये जाने के बावजूद अनेक अमरीकी प्रतिनिधि इंग्लैण्ड से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थे और जार्ज वाशिंगटन भी इसी विचारधारा के थे। अब भी उनकी प्रमुख मांग यह थी कि उनसे परामर्श लिए बिना ब्रिटिश संसद को उन पर कर लगाने का अधिकार नहीं होना चाहिए, लेकिन ब्रिटेन ने समझौते का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसके बाद 4 जुलाई, 1776 को औपचारिक रूप से 'अमरीका की स्वतन्त्रता की घोषणा' कर दी गयी, जिसमें कहा गया था कि :

“हम इन सत्तों को स्वयंसिद्ध मानते हैं कि सभी मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं और उनके सृष्टा ने इन्हें कुछ ऐसे अधिकार दिये हैं जो उनसे छीने नहीं जा सकते। इनमें जीवन, स्वतन्त्रता और सुख प्राप्त के लिए प्रयत्न करने का अधिकार भी है। इन अधिकारों की रक्षा हेतु ही मनुष्यों में सरकारों की स्थापना होती है और उन्हें शासन करने का अधिकार भी जनता की अनुमति से ही प्राप्त होता है। जब कभी कोई शासन इन उद्देश्यों के लिए घातक बन जाये तब लोगों को अधिकार होता है कि वे उसे बदल दें या समाप्त कर दें और ऐसे नवीन शासन की स्थापना करें जिससे उनकी अपनी सुरक्षा और सुख समृद्धि स्थायी रहने की सबसे अधिक आशा हो।”

23 अगस्त, 1775 को सम्राट जॉर्ज तृतीय ने घोषणा की कि उपनिवेशों ने विद्रोह कर दिया है। ब्रिटिश सरकार ने सैनिक शक्ति के बल पर विद्रोह को कुचलने का निश्चय किया। ग्रेट ब्रिटेन तथा अमरीकन उपनिवेशों में 6 वर्ष तक युद्ध चला जिसके अन्त में 19 अक्टूबर, 1781 को अमरीकन उपनिवेशों की जीत और ब्रिटिश सेनापति कार्नवालिस की पराजय हुई। ब्रिटिश लोकसदन ने युद्ध समाप्त करने के लिए मतदान किया और लॉर्ड नॉर्थ की सरकार ने अपना त्यागपत्र दे दिया। सम्राट जार्ज तृतीय ने नवीन सरकार गठित की जिसने अमरीका की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी। 1783 में ब्रिटेन और अमरीका के बीच सन्धि सम्पन्न हो गयी।

परिसंघ की स्थापना (Establishment of the Confederation)—4 जुलाई, 1776 को स्वतन्त्रता की घोषणा करने के साथ ही अमरीकी उपनिवेशों ने संगठित होने और एक इकाई के रूप में कार्य करने की आवश्यकता अनुभव की। महाद्वीपीय कांग्रेस के द्वारा पर्याप्त वाद-विवाद के बाद 17 नवम्बर, 1777 को परिसंघ की स्थापना का प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के आधार पर मार्च 1781 में परिसंघ की स्थापना हो गयी। परिसंघ प्रारम्भ से ही बहुत अधिक निर्बल था और परिसंघ के स्थान पर नवीन संविधान के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी।

वर्तमान संविधान का निर्माण (Enactment of the Present Constitution)—परिसंघ के आधार पर इंग्लैण्ड के विरुद्ध युद्ध जीत लिया गया, किन्तु प्रारम्भ से ही परिसंघ की व्यवस्था और उसके विधान की त्रुटियां नितान्त स्पष्ट हो गयी थीं। अतः विधान पर दुबारा विचार करने के लिए 25 मई, 1787 को फिलाडेल्फिया में एक सभा प्रारम्भ हुई। इस सभा में 13 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सभा में भाग लेने वाले कुछ अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति थे: जेम्स मेडीसन, बेंजामिन फ्रेंकलिन, एलेक्जेंडर हेमिल्टन, जार्ज मेसन, जेम्स विल्सन, रॉबर्ट मॉरिस और जॉन डिकिन्सन, आदि। जार्ज वाशिंगटन ने इस सभा की अध्यक्षता की। नवीन संविधान के निर्माण में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था। प्रारम्भ में ही सभा में दो वर्ग बन गये। प्रथम, संघवाद के समर्थक और द्वितीय संघवाद के विरोधी। अन्त में, संघवादी पक्ष की विजय हुई और परिसंघ के स्थान पर नवीन संघ राज्य की स्थापना के प्रारूप तैयार किये जाने लगे।

सम्मेलन के सम्मुख अब भी अनेक समस्याएं थीं। सम्मेलन ने राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के गठन की पद्धति पर बड़े और छोटे राज्यों के प्रतिनिधियों का आपसी विरोध भी सामने आया। अन्त में 10 दिन की बहस के बाद 'महान समझौता' सम्पन्न हुआ। इस समझौते के अनुसार केन्द्र में व्यवस्थापिका के दो सदनों की व्यवस्था की गयी। यह निश्चित किया गया कि निम्न सदन (प्रतिनिधि सभा) में जनसंख्या के आधार पर राज्यों के प्रतिनिधि चुने जायेंगे, लेकिन दूसरे सदन (सीनेट) में छोटे-बड़े सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। सम्मेलन के सदस्य माण्डेस्क्यू के शक्ति विभाजन सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित थे। अतः इंग्लैण्ड की शासन व्यवस्था से नितान्त भिन्न अध्यक्षतात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया। अन्त में 26 जुलाई, 1787 तक संविधान के प्रमुख सिद्धान्तों पर सहमति हो गयी और 26 प्रस्तावों के रूप में भावी संविधान को स्वीकार कर लिया गया। सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों को विधान का रूप देने के लिए 8 सितम्बर, 1787 को मि. मौरिस की अध्यक्षता में एक समिति बैठायी गयी, जिसने 15 सितम्बर तक संविधान का प्रारूप तैयार कर दिया और 17 सितम्बर, 1787 को इस पर हस्ताक्षर हो गए।

संविधान का अनुसमर्थन (Ratification)—फिलाडेल्फिया सम्मेलन एक सम्प्रभु संविधान सभा नहीं थी और इसके निर्णय तभी प्रभावशाली होते, जबकि दो-तिहाई राज्यों, अर्थात् 13 में से 9 राज्यों के द्वारा उन्हें स्वीकार किया जाता, लेकिन विधान को स्वीकार करने में राज्यों ने उत्साह का परिचय नहीं दिया। प्रथम, संघवाद के समर्थक (Federalists) अर्थात् केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाने के समर्थक और संघवाद के विरोधी (Anti-federalists) अर्थात् केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाने के विरोधी। संघवाद के विरोधियों द्वारा इस आधार पर भी विधान का विरोध किया गया कि संविधान में अधिकार-पत्र की व्यवस्था नहीं है। अन्त में संघवादियों ने स्वीकार किया कि संविधान में अधिकार-पत्र की व्यवस्था होनी आवश्यक है और उन्होंने आश्वासन दिया कि नवीन सरकार की स्थापना के तुरन्त बाद अधिकार-पत्र की व्यवस्था कर दी जायेगी। संघवाद के विरोधियों द्वारा केन्द्र सरकार के सम्बन्ध में संघवादियों के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया गया। यह निश्चित किया गया कि संविधान के अनुसार निर्वाचन होकर नयी सरकार 4 मार्च, 1789 से कार्य प्रारम्भ कर देगी। इस प्रकार विश्व के प्रथम निर्मित और लिखित संविधान का उदय हुआ। अमरीका की वर्तमान शासन व्यवस्था

का संचालन 1787 में निर्मित और 1789 से लागू इस संविधान के आधार पर ही किया जा रहा है, यद्यपि अब तक इसमें 27 संशोधन किये जा चुके हैं।

अमरीकी संविधान के स्रोत (Sources)—सामान्य व्यक्ति के लिए 1787 में फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा निर्मित प्रलेख ही अमरीकी संविधान है, लेकिन राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए यह सोचना उचित नहीं होगा कि वर्तमान समय में अमरीकी शासन व्यवस्था का संचालन एकमात्र इस प्रलेख के आधार पर ही किया जाता है। अमरीकी संविधान को निर्मित संविधान की श्रेणी में रखा जाता है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं लिया जाना चाहिए कि अमरीकी संविधान का विकास नहीं हुआ। 18वीं सदी का कृषि प्रधान देश आज औद्योगिक दृष्टि से विश्व का अत्यन्त विकसित राष्ट्र है और अमरीकी संघ में आज 13 के स्थान पर 50 इकाइयां हो गयी हैं। नवीन परिस्थितियों के अनुसार संविधान में परिवर्तन होना आवश्यक था और यह परिवर्तन हुआ भी है। मुनरो के शब्दों में, “यह संविधान 1787 का तिथि चिन्ह रखते हुए भी इन गुजरे हुए वर्षों में निरन्तर विकसित, विस्तृत और नवीन परिस्थितियों के अनुकूल होता गया है।”¹

अमरीकी संविधान के स्रोतों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा निर्मित संविधान**—अमरीकी संविधान का आज बहुत अधिक विकास हो गया है, लेकिन संविधान का मूल ढांचा अब भी वही है जिसे 1787 में फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा तैयार किया गया था। यह ढांचा संविधान का वह अस्थिपंजर है जिस पर संवैधानिक संशोधन, व्यवस्थापन, न्यायिक निर्णयों और परम्पराओं ने आवश्यक चर्चा चढ़ाने का कार्य किया है।

(2) **संवैधानिक संशोधन**—अमरीकी संविधान में हुए संवैधानिक संशोधनों ने भी संविधान के विकास में योग दिया है और अमरीकी संविधान में अब तक 27 संवैधानिक संशोधन हो चुके हैं जिनमें से कुछ अधिक प्रमुख संशोधनों का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम दस संशोधनों द्वारा नागरिकों के अधिकारपत्र को सम्मिलित किया गया है। संशोधन 13, 14 और 15 गृहयुद्ध जनित संशोधन हैं, 17वें संशोधन द्वारा सीनेट के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया है 19वें संशोधन द्वारा स्त्रियों के विरुद्ध मताधिकार सम्बन्धी भेदभाव का अन्त कर दिया गया है और 26वें संशोधन द्वारा मताधिकार की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी।

(3) **व्यवस्थापन या कांग्रेस अधिनियम**—1789 में लागू किये गये संविधान ने नवीन सरकार के मूल ढांचे मात्र की ही व्यवस्था की है और संविधान निर्माताओं ने विस्तार की बातों के सम्बन्ध में व्यवस्था करने का भार कांग्रेस पर छोड़ा है। कांग्रेस ने अनेक ऐसे अधिनियम पारित किये हैं जिनके आधार पर सरकार के अनेक अंगों के गठन, कार्यों और कार्य पद्धति को निश्चित किया गया है। उदाहरण के लिए, संविधान में राष्ट्रपति की केबिनेट के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है और प्रसंगवश कार्यपालिका विभागों के अध्यक्षों (Heads of Executive Departments) शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। विभिन्न कार्यपालिका विभागों

¹ “The Constitution although bearing the date mark of 1787, has been steadily changing, developing, expanding, adapting itself to new conditions throughout all the intervening years.”

—W. B. Munro, *The Government of the United States*, p. 69.

के गठन और कार्य, कांग्रेस द्वारा पारित अधिनियमों के आधार पर ही निश्चित किये गये हैं। इसी प्रकार कांग्रेस के द्वारा अधीनस्थ संघीय न्यायालयों के गठन और कार्य पद्धति को निश्चित किया गया है। वजट और विधि निर्माण की प्रक्रिया भी कांग्रेस ने ही निश्चित की है।

(4) कार्यपालिका द्वारा विकास—अमरीकी संघ की कार्यपालिका अर्थात् राष्ट्रपति पद ने भी संविधान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। जैक्सन, लिंकन, थियोडोर रूजवेल्ट और फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट की संविधान पर उतनी ही स्पष्ट छाप देखी जा सकती है जितनी कि संविधान-निर्माताओं में से किसी की हो। इन राष्ट्रपतियों ने अपनी कार्यपालिका शक्तियों का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करके व्यवस्थापिका और प्रशासन दोनों पर ही अपना नेतृत्व स्थापित किया है। संविधान में कहीं पर भी मन्त्रिमण्डल का उल्लेख नहीं है, किन्तु प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने मन्त्रिमण्डल की रचना की और वे परामर्श लेने लगे, तभी से मन्त्रिमण्डल शासन का एक आवश्यक अंग हो गया है। संविधान ने युद्ध की घोषणा करने की शक्ति राष्ट्रपति को नहीं दी है, लेकिन वुड्रो विल्सन और फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट जैसे राष्ट्रपतियों ने कांग्रेस से अधिकार प्राप्त किये बिना ही सेनाओं को युद्ध में लड़ने या युद्ध की तैयारी दिखाने के लिए भेज दिया। इन राष्ट्रपतियों का दृष्टिकोण था कि संविधान वैसा ही है जैसा वे कहते और करते हैं और उनका विचार मान्य हुआ।

(5) न्यायिक व्याख्याएं—न्यायिक व्याख्याओं ने अमरीकी संविधान के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। कांग्रेस या राज्य को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून या प्रशासनिक सत्ता के किसी कार्य को जब सर्वोच्च न्यायालय या अन्य किसी संघीय न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जाती है कि यह संविधान के प्रतिकूल है, तो न्यायालय निर्णय देने के पूर्व संविधान से सम्बन्धित प्रावधान की व्याख्या करता है और अपनी प्रत्येक नवीन व्याख्या से परोक्ष रूप में संविधान को संशोधित कर दिया जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान को महत्वपूर्ण दिशाएं प्रदान करने का कार्य किया है। 'निहित शक्तियों का सिद्धान्त' (Doctrine of Implied Powers) जिसने कि संघीय कांग्रेस को इतना शक्तिशाली बनाया, सर्वोच्च न्यायालय की ही देन है। सर्वोच्च न्यायालय ने ही अपने लगभग 100 निर्णयों में वाणिज्य से सम्बन्धित धारा की व्याख्या की और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गयी व्याख्याओं के परिणामस्वरूप रेल, तार, टेलीफोन, हवाई और जलीय यातायात और एक से अधिक राज्यों में काम करने वाले सामान्य औद्योगिक प्रतिष्ठान भी कांग्रेस के विधायी क्षेत्राधिकार में आ गये हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी व्याख्या के आधार पर ही 'संविदा की पवित्रता के सिद्धान्त' (Sanctity of the Contract Theory) का प्रतिपादन किया। न्यायिक निर्णय का संविधान में इतना अधिक महत्व है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही मुख्य न्यायाधीश ह्यूज ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए कहा था कि "हम संविधान के अन्तर्गत हैं, परन्तु संविधान वैसा ही है, जैसा न्यायाधीश कहते हैं।"¹

(6) परम्पराएं—अमरीकी संविधान में परम्पराओं को उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है जितना कि ब्रिटिश संविधान में, लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि अमरीकी संविधान में न केवल परम्पराओं का अस्तित्व है, वरन् उन्हें महत्वपूर्ण स्थान भी प्राप्त है। प्रथाओं और परम्पराओं ने कुछ बातों के सम्बन्ध में अमरीका के संविधान को एक ऐसा रूप प्रदान किया

1 "We are under the constitution, but the constitution is, what the judges says it is."

है जो संविधान के लिखित प्रावधानों के नितान्त विपरीत है। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण राष्ट्रपति के निर्वाचन मण्डल से सम्बन्धित उपबन्ध हैं जिन्होंने संविधान-निर्माताओं की इच्छा के विपरीत राष्ट्रपति के चुनाव को व्यवहार में एक प्रत्यक्ष निर्वाचन का रूप दे दिया है : परम्पराओं के कारण ही राष्ट्रपति को न केवल 'प्रमुख कार्यपालिका' वरन् अपने राजनीतिक दल का 'सामान्य राजनीतिक नेता' भी समझा जाता है। राष्ट्रपति की केबिनेट भी पूर्णतया परम्पराओं का ही परिणाम है और परम्पराओं ने ही यह निर्धारित किया है कि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति न केवल अलग-अलग राज्यों से वरन् देश के अलग-अलग क्षेत्रों से होंगे। इसी प्रकार संविधान के अनुसार प्रतिनिधि सभा के सदस्य के लिए उस राज्य का निवासी होना जरूरी है जिससे वह चुना गया है, लेकिन परम्पराओं के अनुसार उसके लिए उस जिले का निवासी होना भी जरूरी है जहां से वह चुनाव लड़ता है। 'सीनेट की शिष्टता' परम्पराओं का ही परिणाम है। इस प्रकार परम्पराओं ने जिन राजनीतिक संस्थाओं या राजनीतिक स्थितियों को जन्म दिया वे हैं :

- (i) राजनीतिक दल
- (ii) मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था
- (iii) राष्ट्रपति का चुनाव, जो वस्तुतः प्रत्यक्ष हो गया है।
- (iv) सीनेटीय शिष्टाचार का व्यवहार।

इस प्रकार 1787 में निर्मित प्रलेख में निरन्तर वृद्धि और उसका निरन्तर विकास होता रहा है। लॉर्ड ब्राइस ने स्वयं कहा है कि "जैसे अमरीका के राष्ट्रीय जीवन में परिवर्तन हुआ है वैसे ही अमरीका का संविधान भी बदल गया है। जनता की उस भावना में भी परिवर्तन हो गया है जिससे कि वह संविधान को देखती थी और इसलिए संविधान की अन्तर्निहित भावना भी बदल गयी है।"¹

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की विशेषताएं

फ्रेंच राजनीतिशास्त्री डी टाकविले का कथन है कि संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान एक आदर्श प्रजातन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करता है। यह संविधान सरल और संक्षिप्त है तथा इनमें आवश्यक स्पष्टता और निश्चितता भी है। ग्लैडस्टन ने एक बार कहा था, "अमरीकी संविधान मानव जाति की आवश्यकता तथा मस्तिष्क से उत्पन्न किसी निश्चित समय की सर्वाधिक आश्चर्यपूर्ण कृति है।" संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) निर्मित और लिखित संविधान—संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का निर्माण 1787 ई. में हुआ और यह विश्व का प्रथम लिखित संविधान है। ब्रिटिश संविधान की भांति इसका क्रमिक विकास नहीं हुआ, वरन् संविधान के मूल ढांचे का फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा निर्माण किया गया है। यह एक निश्चित समय की कृति है। यद्यपि न्यायिक व्याख्याओं, प्रशासनिक कार्यों और परम्पराओं के आधार पर संविधान का निरन्तर विकास होता रहा है, किन्तु संविधान की अधिकांश धाराएं और उनका मूल ढांचा लिपिबद्ध है, अमरीका ने लिखित संविधान की उपयोगिता स्पष्ट कर विश्व के अन्य राज्यों को इसे अपनाने की ओर प्रेरित किया है। ब्राइस के अनुसार, "अमरीका का संविधान विश्व के लिखित संविधानों में सर्वोच्च है।"

1 "The American constitution has necessarily changed as the nation has changed, in the spirit with which men regard it and therefore in its spirit." —Lord Bryce

(2) सर्वाधिक संक्षिप्त संविधान—अमरीकी संविधान विश्व के लिखित संविधानों में सर्वाधिक संक्षिप्त प्रलेख है। मुनरो के अनुसार, “संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में केवल 4,000 शब्द हैं, जो 10 या 12 पृष्ठों में मुद्रित हैं और जिन्हें आधे घण्टे में पढ़ा जा सकता है।” अमरीकी संविधान में केवल 7 अनुच्छेद हैं जबकि आस्ट्रेलिया के संविधान में 128 अनुच्छेद, कनाडा के संविधान में 147 अनुच्छेद, दक्षिणी अफ्रीका के संविधान में 153 अनुच्छेद तथा भारतीय संविधान में 395 अनुच्छेद तथा 12 अनुसूचियां हैं।

संविधान-निर्माता इस बात से परिचित थे कि वे भविष्य की समस्त व्यवस्था के सम्बन्ध में ठीक प्रकार से नहीं सोच सकते, इसलिए उन्होंने सभी बातों के सम्बन्ध में स्वयं व्यवस्था करने के बजाय संविधान का केवल मूल ढांचा तैयार किया और उसमें रेखाएं भरने का कार्य आने वाले समय पर छोड़ दिया। क्लाइडिस जॉनसन लिखते हैं, “संविधान का ढांचा बनाने वालों ने हमें अच्छा श्रीगणेश कराया, परन्तु आवश्यकतावश उन्होंने शेष बातों को भविष्य पर छोड़ दिया।”¹ संविधान की इस अत्यधिक संक्षिप्तता के कारण अनेक आवश्यक बातों का संविधान में उल्लेख होने से रह गया है। उदाहरणार्थ, बैंकों की व्यवस्था, विधि और बजट निर्माण, कृषि, श्रम, उद्योगों के संचालन और शिक्षा, आदि विषयों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है। संविधान में यह भी नहीं बताया गया है कि कांग्रेस के दोनों सदनों के अध्यक्षों की शक्तियां क्या होंगी या दोनों सदनों में विवाद उत्पन्न होने पर उसका निर्णय कैसे किया जायेगा।

संविधान की इस संक्षिप्तता का उसके आगामी विकास पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इसका एक प्रभाव विभिन्न प्रकार के संवैधानिक विवादों का उदय और परिणामस्वरूप न्यायपालिका के महत्व में वृद्धि हुआ है। संविधान की संक्षिप्तता के कुछ अन्य परिणाम हैं : निहित शक्तियों का सिद्धान्त और लाभ प्रदान करने की प्रणाली (Spoils System), आदि।

(3) लोकप्रिय सम्प्रभुता पर आधारित संविधान—अमरीका के संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। 1777 में ‘परिसंघ के विधान’ में इस सिद्धान्त का अभाव था, क्योंकि उसमें सम्प्रभुता राज्यों में निहित थी, लेकिन वर्तमान संविधान में इस त्रुटि को दूर कर दिया गया है। संविधान की प्रस्तावना में घोषणा की गयी है कि “हम संयुक्त राज्य अमरीका के लोग अधिक शक्तिशाली संघ बनाने, न्याय की स्थापना, आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति, सामान्य प्रतिरक्षा की व्यवस्था और सार्वजनिक कल्याण में बढ़ोत्तरी करने तथा अपने और अपनी सन्तान हेतु स्वतन्त्रता के वरदान को सुरक्षित रखने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के लिए इस संविधान को अपनाते हैं।” अमरीका का संविधान स्वतन्त्रता और आत्मनिर्णय का प्रतीक है। संविधान का निर्माण जन-प्रतिनिधियों द्वारा किया गया है और संविधान के द्वारा अन्तिम सत्ता जनता को ही प्रदान की गयी है।

(4) संविधान की सर्वोच्चता—फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा निर्मित प्रलेख संयुक्त राज्य अमरीका का सर्वोच्च कानून है और राष्ट्रपति, कांग्रेस, सर्वोच्च न्यायालय तथा संघ की इकाइयां सब इसके अधीन हैं और किसी के भी द्वारा इसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। अमरीका के संविधान के अनुच्छेद 6 में कहा गया है, “यह संविधान और इसके अनुसार

1 “The framers of Constitution gave us a good start, but per force left the rest to the future.”

—Claudius O. Johnson & Associates, *American National Government*, p. 46.

बनाये गये सभी कानून तथा संयुक्त राज्य अमरीका के प्राधिकार के अधीन की गयी अथवा भविष्य में की जाने वाली सभी सन्धियां, देश का सर्वोच्च कानून होगा और प्रत्येक राज्य के न्यायाधीश उससे बाध्य होंगे। किसी भी राज्य के संविधान अथवा कानून की कोई भी बात जो इस संविधान के विरुद्ध होगी अवैध समझी जायेगी।¹ द्वायर लिखते हैं कि “व्यवहार में भी अमरीकी अपने संविधान के प्रति जितना सम्मान रखते हैं, उतना अन्य किसी भी देश के नागरिक अपने संविधान के प्रति नहीं।”²

(5) कठोर संविधान (Rigid Constitution)—संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान कठोर है। अर्थात् अमरीकी कांग्रेस के द्वारा जिस प्रक्रिया के आधार पर सामान्य कानूनों का निर्माण किया जाता है उसी प्रक्रिया के आधार पर संवैधानिक कानूनों का निर्माण अर्थात् संविधान में संशोधन का कार्य नहीं किया जा सकता। संवैधानिक संशोधन के लिए साधारण कानूनों के निर्माण से भिन्न प्रक्रिया को अपनाया जाना आवश्यक है। संघात्मक शासन व्यवस्था स्थापित किये जाने के कारण अमरीका के लिए कठोर संविधान को अपनाना आवश्यक भी था। अमरीकी संविधान न केवल पारिभाषिक दृष्टि से कठोर है, वरन् व्यवहार में भी संविधान में परिवर्तन किया जाना बहुत अधिक कठिन है। इसी कारण लगभग 210 वर्षों के संवैधानिक इतिहास में संविधान में केवल 27 संशोधन ही हुए हैं और इनमें भी प्रथम 10 संशोधन तो एक साथ संविधान निर्माण के तुरन्त बाद नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान करने हेतु प्रस्तावित किये गये थे।

संविधान में संशोधन की पद्धति (Amendment Procedure)—संविधान में संशोधन की प्रक्रिया पांचवीं धारा द्वारा निर्धारित की गयी है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि संविधान की प्रथम धारा की नवीं उपधारा के पहले व चौथे उपबन्धों को संशोधित नहीं किया जा सकता और न ही सम्बन्धित राज्य की अनुमति के बिना किसी राज्य को उसे सीनेट में प्राप्त प्रतिनिधित्व व मताधिकार से वंचित किया जा सकता है।

संविधान में संशोधन की प्रक्रिया के दो चरण हैं—(i) संशोधन की प्रस्तावना, और (ii) संशोधन का अनुसमर्थन या इसकी पुष्टि।

संशोधन की प्रस्तावना (Initiation of the Amendment)—संशोधन दो में से किसी एक पद्धति के आधार पर प्रस्तावित किया जा सकता है। प्रथम, कांग्रेस के दोनों सदन अपने दो-तिहाई बहुमत से संशोधन का प्रस्ताव प्रस्तावित कर सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में स्पष्ट कर दिया है कि यह दो-तिहाई बहुमत संशोधन पर मत देने वाले सदस्यों का होना चाहिए न कि समस्त सदस्यों का। दूसरी पद्धति यह है कि अमरीकी संघ की कम-से-कम दो-तिहाई राज्यों की विधानसभाएं कांग्रेस से संशोधन की प्रार्थना करें। ऐसी प्रार्थना की जाने पर कांग्रेस संविधान संशोधन करने के लिए एक सम्मेलन (Convention) आमन्त्रित करती है और इस सम्मेलन द्वारा संशोधन प्रस्तावित किया जा सकता है।

1 “The Constitution and the law of the United States which shall be made in pursuance thereof and all treaties made, or which shall be made, under the authority of the United States shall be the supreme law of the land and the judges in every State shall be bound thereby, anything in the Constitution or laws of any States to the contrary notwithstanding.” —Article VI

2 “There can, indeed, be no other people anywhere in the world, who regard their constitution with greater respect than do the Americans.” —K. C. Wheare, *Modern Constitutions*, p. 113.

संशोधन की पुष्टि (Ratification of the Amendment)—संशोधन प्रक्रिया का दूसरा चरण संशोधन की पुष्टि का है। संविधान में संशोधन के लिए प्रस्तावित प्रस्ताव तभी पारित समझा जाता है जब या तो (i) संघ के तीन-चौथाई राज्यों के विधानमण्डल उसकी पुष्टि कर दें; या (ii) इस कार्य के लिए राज्यों में आमन्त्रित किये गये सम्मेलनों में से तीन-चौथाई राज्यों के सम्मेलनों द्वारा संशोधन की पुष्टि की जाय। संशोधन की पुष्टि के लिए उपर्युक्त दो विधियों में से कौन-सी विधि प्रयोग में लयी जाय इसका निर्णय कांग्रेस करती है।

संविधान संशोधन प्रक्रिया में निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं :

(i) संशोधन प्रक्रिया में राष्ट्रपति की कोई भूमिका नहीं है। केवल 13वें संशोधन की पुष्टि राष्ट्रपति लिंकन द्वारा की गयी, परन्तु उसी समय सीनेट ने यह घोषणा कर दी कि संशोधन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक नहीं है।

(ii) संविधान में संशोधन के प्रस्ताव पर अपनी पुष्टि प्रदान करने के बाद कोई राज्य अपनी स्वीकृति वापस नहीं ले सकता, परन्तु कोई भी राज्य किसी प्रस्ताव को अस्वीकार करके बाद में अपनी स्वीकृति दे सकता है।

(iii) कांग्रेस के द्वारा संविधान के संशोधन के प्रस्ताव की पुष्टि के लिए कोई अवधि निर्धारित की जा सकती है। उदाहरणार्थ, 18वें और 21वें संशोधन के लिए 7 वर्ष अवधि रखी थी, लेकिन यदि कांग्रेस संशोधन की पुष्टि के लिए अवधि निश्चित न करे तो सम्बन्धित प्रस्ताव पुष्टि के लिए अनिश्चित काल तक राज्य के पास पड़ा रह सकता है। कांग्रेस ने सन् 1924 में बाल श्रम अधिनियम प्रस्तावित किया था, परन्तु संशोधन प्रस्ताव न तो समाप्त हुआ है और न ही अब तक संविधान का एक अंग बन सका है, क्योंकि अभी तक आवश्यक संख्या में राज्यों द्वारा उसे पुष्टि प्रदान नहीं की गयी है।

व्यवहार में 21वें संशोधन के अतिरिक्त सभी संशोधन कांग्रेस के बहुमत से प्रस्तावित किये गये हैं और 3/4 राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा उनकी पुष्टि की गयी है। केवल 21वां संशोधन ही राज्यों की प्रार्थना पर बुलाये गये संविधान सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित किया गया और केवल इसे ही राज्यों के संविधान संशोधन सम्मेलनों द्वारा पुष्टि प्रदान की गयी।

संशोधन की इस प्रक्रिया से यह नितान्त स्पष्ट है कि संघ की इकाइयों को उचित महत्व प्रदान कर इसे अधिकाधिक संघीय बनाने का प्रयत्न किया गया है। राज्यों को संविधान में संशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार प्राप्त है और कोई भी संशोधन तब तक पारित नहीं समझा जा सकता जब तक कि तीन-चौथाई राज्यों के द्वारा उसे अपनी स्वीकृति न प्रदान कर दी जाय। इसके अतिरिक्त संविधान में कोई ऐसा संशोधन नहीं किया जा सकता जिससे राज्यों को सीनेट में प्राप्त प्रतिनिधित्व से वंचित किया जाय। इस प्रकार संविधान में संशोधन की पद्धति निश्चित रूप से संचालक व्यवस्था के अनुकूल है।

लेकिन कुछ आधारों पर संशोधन प्रक्रिया की आलोचना की जाती है :

1. संशोधन की प्रक्रिया निश्चित रूप से बहुत अधिक क्लिष्ट और जटिल है और इसके आधार पर संशोधन सरलतापूर्वक नहीं हो सकते। संशोधन प्रक्रिया की जटिलता के कारण कई बार आवश्यक संशोधन समय पर नहीं हो पाये हैं। संशोधन प्रक्रिया की जटिलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 1789 से 1980 तक कांग्रेस के सम्मुख संशोधन के लिए 5 हजार से अधिक प्रस्ताव आये हैं, लेकिन उनमें से केवल 27 ही स्वीकृत हो सके हैं। 16वां संशोधन 42 बार कांग्रेस के समक्ष रखा गया और 43वीं बार ही उसे

दोनों सदनों का दो-तिहाई बहुमत मिल सका और 17वां संशोधन 198 असफल प्रयत्नों के बाद ही पारित हो सका है। संशोधन प्रक्रिया की इस जटिलता के कारण ही बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार संविधान को विकसित करने के लिए अन्य मार्ग (न्यायिक निर्णय, प्रशासनिक कार्य या परम्पराएं) खोजने पड़े हैं। मुनरो के शब्दों में, “यह विरोधाभास लगता है, लेकिन यह सत्य है कि अमरीकी संविधान में अधिकांश संशोधन संवैधानिक उपबन्धों में बिना कोई संशोधन किये हुए ही हो गये हैं।”¹ यह कोई सुखद स्थिति नहीं है। न्यायाधीश मार्शल ने इस संशोधन पद्धति को सत्य रूप से ही ‘अत्यधिक कठिन और कष्टकारी’ (unwieldy and cumbrous) बताया है।

2. एक आपत्ति यह भी की जाती है कि देश की जनता का संशोधन की प्रस्तावना या उसकी पुष्टि में कोई हाथ नहीं है। संशोधन प्रणाली इस दृष्टि से भी अग्रजातान्त्रिक है कि संशोधन के प्रस्ताव को 35 सीनेटर रोक सकते हैं या 13 राज्य, जिनकी जनसंख्या चाहे कितनी ही कम क्यों न हो, संशोधन प्रस्ताव की पुष्टि न करके उसे समाप्त कर सकते हैं। इसे बहुमत की प्रगति के विरुद्ध अल्पमत को प्राप्त विशेषाधिकार का ही एक उदाहरण कहा जा सकता है।

3. संशोधन की पुष्टि के सम्बन्ध में राज्यों पर समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं है और इसी कारण कभी-कभी वर्षों तक संशोधन के भाग्य का निबटारा नहीं हो पाता। इस दोष को अनुभव करते हुए ही कांग्रेस ने पुष्टि के समय को सीमित करने का प्रावधान किया है और 18वें, 20वें और 21वें संशोधन में यह समय 7 वर्ष का रखा गया है।

विदेशी लेखकों द्वारा संशोधन प्रक्रिया को अत्यधिक जटिल बताकर उसकी आलोचना की गयी है, लेकिन अमरीकी लेखक इसे उचित प्रकार की पद्धति मानते हैं। संविधान सभा के प्रमुख सदस्य मेडीसन ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि “अमरीका में संविधान के संशोधन का ढंग उस अत्यधिक सरलता के विरुद्ध भी सचेत है जिसके कारण संविधान को अत्यधिक सरलता से नष्ट किया जा सकता है और उस अत्यधिक कठिनाई के विरुद्ध भी सचेत है जिसके कारण जाने हुए दोष भी दूर न किये जा सकें।” अमरीकी लेखकों और सामान्य जनता का दृष्टिकोण भी यही है। ग्रिफिथ लिखता है, “इस कठोर संविधान ने व्यवहार में आश्चर्यजनक लचीलापन प्रदर्शित किया है।”²

संवैधानिक संशोधनों पर एक दृष्टि (Constitutional Amendment at a Glance)—
संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में अब तक जो 27 संशोधन हुए, वे इस प्रकार हैं :

संविधान में प्रथम 10 संशोधन नागरिकों के अधिकारपत्र से सम्बन्ध रखते हैं। इन संशोधनों के आधार पर ही संविधान को राज्यों द्वारा पुष्टि प्रदान की गयी थी, इसलिए ये 10 संशोधन संविधान का मूल अंग ही समझे जाते हैं।

11वें और 12वें संशोधन संविधान की अपूर्णताओं को दूर करने के लिए किये गये। 11वें संशोधन के द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध नागरिक द्वारा अभियोग चलाने का अधिकार

1 “It may sound like paradox, but it is true that most of the amending has been done without adding amendment.”
—W. B. Munro, *The Government of the United States*, p. 17.

2 “This rigid constitution has in practice shown a surprising flexibility.”
—E. S. Griffith, *The American System of Government*, p. 17.

समाप्त कर दिया गया और 12वें संशोधन द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के अलग-अलग चुनाव की व्यवस्था की गयी।

संशोधन 13, 14 और 15 गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप किये गये। 13वें संशोधन द्वारा दास प्रथा समाप्त हुई, 14वें द्वारा नागरिकता परिभाषित की गयी और यह स्पष्ट किया गया कि राजद्रोह या अन्य भीषण अपराध के अतिरिक्त अन्य किसी अपराध पर कोई भी नागरिक, नागरिकता के अधिकार से वंचित नहीं किया जायेगा। 15वें संशोधन द्वारा भी जाति, वर्ण या दासत्व के आधार पर किसी को नागरिकता से वंचित न करने की व्यवस्था की गयी।

16वें संशोधन द्वारा सीनेट को आय-कर लगाने का अधिकार मिला, जिसकी राशि वह राज्यों में बांटने के लिए बाध्य नहीं थी। 17वें संशोधन द्वारा सीनेट का प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रारम्भ हुआ। 18वें संशोधन द्वारा राष्ट्रीय मद्यनिषेध किया गया और 20वें संशोधन द्वारा इसे समाप्त कर दिया गया। 19वें संशोधन द्वारा स्त्रियों को मताधिकार मिला तथा 21वें संशोधन से राष्ट्रपति के पद ग्रहण की तिथि 20 जनवरी निश्चित की गयी और कांग्रेस के 'लेम डक अधिवेशन' (Lame Duck Session) को समाप्त कर दिया गया।

1951 में 22वां संशोधन हुआ जिसके द्वारा निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति पुनः चुनाव लड़ सकता है, परन्तु उसका कार्यकाल 10 वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। 23वें संशोधन (1961) के द्वारा कोलम्बिया जिले को राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेने का अधिकार दिया गया। 24वें संशोधन (1964) के अनुसार किसी भी नागरिक को कर न देने के कारण किसी पद पर चुने जाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

1967 के पूर्व तक यह स्थिति थी कि राष्ट्रपति की शारीरिक या मानसिक अस्वस्थता या मृत्यु के कारण जब उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति के रूप में कार्य करना होता या स्वयं उपराष्ट्रपति की अस्वस्थता, मृत्यु या त्यागपत्र के कारण उपराष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है तो उपराष्ट्रपति का पद अगले उपराष्ट्रपति के चुनाव तक के लिए रिक्त ही रहता था, लेकिन 25वें संशोधन (1967) के अनुसार अब राष्ट्रपति पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति को अधिकार होगा कि वह किसी को उपराष्ट्रपति पद पर नियुक्त कर सके। संविधान के 25वें संशोधन के अधीन ही एग्न्यू के त्यागपत्र के बाद निक्सन ने जेराल्ड फोर्ड को और 1974 में जेराल्ड फोर्ड ने रॉकफेलर को उप-राष्ट्रपति पद पर मनोनीत किया।

26वां संशोधन—1970 में पारित 'मतदान अधिकार अधिनियम' के आधार पर संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में 26वां संशोधन किया गया है। 1970 के पूर्व 21 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक नर-नारी को मत देने का अधिकार प्राप्त था, किन्तु इस संशोधन के द्वारा 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक नर-नारी को मताधिकार प्रदान कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त मतदान सूची में नाम पंजीकृत कराने के लिए साक्षरता परीक्षा का प्रतिबन्ध भी हटा दिया गया है। नीग्रो लोगों को मताधिकार प्रदान करने के उद्देश्य से ही ऐसा किया गया।

7 मई 1992 को पारित 27वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार ऐसी कोई भी विधि का क्रियान्वयन प्रभावशाली नहीं होगा, जो कि सीनेट एवं प्रतिनिधि सभा (कांग्रेस) के सदस्यों के पारिश्रमिक में परिवर्तन करती हो; जब तक कि प्रतिनिधियों का नया चुनाव इस समयावधि के बीच में सम्पन्न नहीं हो जाता।

(6) गणतन्त्र की स्थापना (Establishment of a Republic)—संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान द्वारा अमरीका में गणतन्त्र की स्थापना की गयी है जिसका तात्पर्य यह है कि

अमरीकी लोकतन्त्र का अध्यक्ष ब्रिटेन के प्रधान (सम्राट) की भांति उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद ग्रहण नहीं करता है, वरन् वह निर्वाचित है। संयुक्त राज्य अमरीका के संघ का अध्यक्ष राष्ट्रपति है जो जनता द्वारा निर्वाचित निर्वाचक मण्डल के सदस्यों द्वारा चुना जाता है। न केवल संघ वरन् इकाइयों में भी गणतन्त्र की स्थापना की गयी है। संविधान की धारा 4 के चौथे अनुबन्ध में कहा गया है कि संयुक्त राज्य की संघीय सरकार इस संघ के प्रत्येक राज्य में गणतन्त्रीय सरकार की स्थापना की गारण्टी देगी।

(7) संघात्मक शासन की स्थापना (Establishment of the Federal Government)—1787 में फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा निर्मित संविधान के द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका में एक संघ राज्य की स्थापना की गयी। 1787 के विधान द्वारा एक परिसंघ (Confederation) की स्थापना की गयी थी, किन्तु शीघ्र ही परिसंघ की निर्बलता स्पष्ट हो गयी और नवीन संविधान के द्वारा एकता और सुदृढ़ता प्राप्त करने के लिए परिसंघ के स्थान पर संघ को अपनाया गया। 1789 में इस अमरीकी संघ की 13 इकाइयां या राज्य थे, किन्तु नवीन राज्यों ने संघ में प्रवेश किया और आज अमरीकी संघ में 50 इकाइयां या राज्य हैं।

संविधान के द्वारा विश्व के प्रथम और पूर्ण संघ राज्य की स्थापना की गयी है और संघ राज्य के सभी प्रमुख लक्षण इसमें विद्यमान हैं। प्रथम, संघ राज्य के संविधान द्वारा संघीय सरकार तथा राज्य सरकारों में शक्ति का विभाजन किया जाना चाहिए। यह शक्ति विभाजन संविधान द्वारा ही किया गया है और इसका उल्लेख अनुच्छेद 1 के उपभाग 8, 9 और 10 में है। द्वितीय, 'संविधान की सर्वोच्चता' की धारणा को स्वीकार करते हुए अनुच्छेद 6 में संविधान को राज्य का सर्वोच्च कानून घोषित किया है। तृतीय, संघात्मक व्यवस्था के अनुकूल कठोर संविधान को अपनाया गया है। चतुर्थ, संघ की आवश्यकता के अनुकूल एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गयी है जो संघीय सरकार तथा राज्य सरकारों के मध्य उत्पन्न होने वाले संवैधानिक विवादों का निर्णय करता है। संघ के अन्य लक्षणों (दोहरी नागरिकता और संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में इकाइयों के समान प्रतिनिधित्व) को भी अपनाया गया है।

अमरीकी संघ में राज्यों की शक्तियां मौलिक हैं और केन्द्र की शक्तियां प्रदत्त हैं। केन्द्र की शक्तियों का वर्णन संविधान में कर दिया गया है और केन्द्र को केवल वे ही शक्तियां प्राप्त हैं। अवशेष शक्तियां संविधान ने राज्यों को प्रदत्त की हैं। संविधान-निर्माता पृथक्-पृथक् राज्यों की सत्ता के प्रति अधिक सचेत थे और उनके द्वारा राज्यों को अधिक शक्तियां प्रदान की गयी हैं, लेकिन संविधान द्वारा किया गया यह शक्ति-विभाजन बदलती हुई परिस्थितियों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। न्यायिक व्याख्याओं, निहित शक्तियों के सिद्धान्त, राष्ट्रीय संकट और अन्य परिस्थितियों के कारण आज केन्द्र अधिक शक्तिशाली हो गया है और राज्य केन्द्र की तुलना में निर्बल हैं।

(8) प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की स्थापना (Establishment of the Representative Type of Democracy)—लोकतन्त्रात्मक शासन के दो भेद होते हैं : (1) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र, और (2) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र। अमरीकी संविधान-निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि संयुक्त राज्य अमरीका जैसे विशाल राज्य में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को अपनाया सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए उनके द्वारा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र को ही अपनाया गया जिसके अन्तर्गत सामान्य जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन कार्य में भाग लेती है।

इस सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि अमरीकी संघ के कुछ राज्यों में लोक निर्णय (Referendum), आरम्भक (Initiative) और प्रत्यावाहन (Recall) जैसी प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक पद्धतियों को अपनाया गया है। अमरीका के 50 राज्यों में से 39 राज्यों के संविधानों में जनमत संग्रह या लोकनिर्णय (Referendum) की व्यवस्था है। इनमें से 35 राज्यों में कुछ स्थानीय सरकारी इकाइयों को भी जनमत संग्रह कराने का अधिकार प्राप्त है। जिन 11 राज्यों में राज्य स्तर पर जनमत संग्रह कराने का प्रावधान नहीं है, वे कुछ स्थानीय इकाइयों में जनमत संग्रह करा सकते हैं। इस प्रकार अमरीकी संघ के राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय साधनों को अपनाया गया है, किन्तु संघीय स्तर पर इन साधनों को अपनाने की कोई व्यवस्था नहीं है और इसलिए इस सम्बन्ध में अमरीकी व्यवस्था की तुलना स्विट्जरलैण्ड की व्यवस्था से नहीं की जा सकती है और यही कहना होगा कि संविधान ने अमरीका में प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की स्थापना की है।

(9) न्यायिक सर्वोच्चता (Supremacy of the Judiciary)—सभी संघात्मक राज्यों के अन्तर्गत एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की जाती है जिसका कार्य संविधान की व्याख्या एवं रक्षा करना होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में संघात्मक व्यवस्था को अपनाने के कारण स्वाभाविक रूप से न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है। इस प्रकार ब्रिटेन में जहां संसद की सर्वोच्चता है, वहां अमरीका में न्यायिक सर्वोच्चता है। न्यायिक सर्वोच्चता का तात्पर्य यह है कि सर्वोच्च न्यायालय संविधान का उल्लंघन करने वाले कांग्रेस के कानूनों, राष्ट्रपति की आज्ञाओं अथवा राज्य सरकारों के कानूनों और कार्यों को अवैध घोषित कर सकता है। इसी को 'न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review) का अधिकार' भी कहते हैं। इसी शक्ति के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को अपने-अपने क्षेत्रों तक सीमित रखता है। सन् 1803 में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने 'मारबरी बनाम मेडीसन' नामक विवाद में न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट कहा था कि सब प्रकार के कानूनों की संवैधानिकता की जांच करने का एकमात्र अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है।

(10) अध्यक्षात्मक शासन की व्यवस्था—प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के भी दो भेद होते हैं—(i) संसदात्मक या मन्त्रिमण्डलात्मक शासन, और (ii) अध्यक्षीय शासन। अमरीकी संविधान के निर्माता लॉक और माण्टेस्क्यू के दर्शन से प्रभावित थे और शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा का साधन मानते थे, इसलिए उनके द्वारा ब्रिटेन जैसी संसदात्मक व्यवस्था के स्थान पर अध्यक्षीय व्यवस्था को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका विभाग व्यवस्थापन विभाग से सर्वथा पृथक होता है, कार्यपालिका विभाग के प्रधान का कार्यकाल निश्चित होता है और वह अपनी नीति तथा कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता।

संयुक्त राज्य अमरीका में कार्यपालिका के औपचारिक और वास्तविक प्रधान राष्ट्रपति को वैधानिक दृष्टि से देश के नागरिकों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है, परन्तु व्यवहार में इस पद्धति ने प्रत्यक्ष निर्वाचन का रूप ग्रहण कर लिया है। निर्वाचित होने के बाद राष्ट्रपति किन्हीं भी व्यक्तियों को मन्त्रिपद पर नियुक्त कर सकता है और इस प्रकार मन्त्रिपरिषद का निर्माण होता है। ये मन्त्री व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं और मन्त्रिपरिषद का अस्तित्व तथा कार्य सम्पूर्णतया राष्ट्रपति पर ही निर्भर करते हैं। राष्ट्रपति कांग्रेस के नियन्त्रण से पृथक रहकर शासन शक्ति का संचालन करता है। राष्ट्रपति

या मन्त्रिपरिषद् के सदस्य व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते हैं और संसदीय शासन के समान कार्यपालिका व्यवस्थापिका को विघटित भी नहीं कर सकती है। ब्राजील और दक्षिण अमरीका के अन्य कुछ राज्यों में इसी प्रकार की शासन व्यवस्था है।

(11) सीमित शासन का सिद्धान्त—अमरीकी संविधान-निर्माताओं ने स्वयं ब्रिटिश सम्राट जॉर्ज तृतीय के अत्याचारों को सहन किया था और वे चाहते थे कि आने वाली पीढ़ियों को अमर्यादित शासन की बुराइयों से बचाने के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जायें। इसके अतिरिक्त वे लॉक के व्यक्तिवादी दर्शन से प्रभावित थे और शासन को एक 'न्यास' (trust) मात्र मानते थे। जेम्स बेक के मतानुसार संविधान-निर्माता सरकार की शक्ति से अत्यन्त सशंक थे। उनका विश्वास था कि "शक्ति जितनी अधिक असीमित होगी उसके दुरुपयोग का उतना ही अधिक खतरा होगा।" अतः उनके द्वारा अनेक उपाय किये गये हैं, यथा संविधान की सर्वोच्चता, अधिकार-पत्र की व्यवस्था, शक्ति पृथक्करण, न्यायपालिका की स्वतन्त्र सत्ता, आदि।

(12) मौलिक अधिकारों की व्यवस्था—शासन को सीमित रखने और नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा के उपाय के रूप में अमरीकी संविधान में मौलिक अधिकारों को अपनाया गया है। फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा निर्मित संविधान के मूल प्रलेख में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था नहीं की गयी थी, लेकिन संविधान में अनुसमर्थन हेतु विविध पक्षों के बीच जो परस्पर समझौता हुआ, उस समझौते के अंग के रूप में संविधान में 1791 में प्रथम दस संशोधन करते हुए मौलिक अधिकारों को अपनाया गया। संविधान का 13वां, 14वां और 15वां संशोधन भी नागरिक अधिकारों से ही सम्बन्धित है। नागरिक अधिकारों का लेखबद्ध रूप में उल्लेख शासन कला को अमरीकी संविधान की एक मुख्य देन है, जिसका अनुकरण आयरलैण्ड, जापान, भारत और अन्य अनेक देशों द्वारा किया गया है।

संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त ये अधिकार इस प्रकार हैं :

संविधान के पहले संशोधन द्वारा धर्म की स्वतन्त्रता, भाषण और प्रेस की स्वतन्त्रता तथा आवेदनपत्र देने का अधिकार प्रदान किया गया है।

दूसरे संशोधन द्वारा नागरिकों को शस्त्र रखने और धारण करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

तीसरे संशोधन में कहा गया है कि शान्तिकाल में कोई भी सैनिक किसी मकान में उसके स्वामी की अनुमति के बिना नहीं रखा जा सकता है और युद्ध-काल में राज्य यह कार्य विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के आधार पर ही कर सकता है।

चौथे संशोधन द्वारा व्यक्तियों को स्वयं की, अपने घर और सामान की अनुचित तलाशी और जब्ती से स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है।

पांचवें संशोधन से आठवें संशोधन तक व्यक्ति स्वातन्त्र्य, निष्पक्ष न्याय और सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था की गयी है। पांचवें संशोधन में कहा गया है कि उचित कानूनी प्रक्रिया का अनुसरण किये बिना किसी के जीवन अथवा सम्पत्ति का अपहरण नहीं किया जा सकता है। बिना मुआवजा दिये राज्य किसी की सम्पत्ति को हस्तगत नहीं कर सकता। एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही बार दण्डित किया जा सकता है और व्यक्ति को स्वयं के विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

छठे संशोधन में कहा गया है कि सभी फौजदारी अभियोगों में अभियुक्त को तुरन्त और सार्वजनिक न्यायिक कार्यवाही का अधिकार प्राप्त होगा। उन्हें निष्पक्ष जूरी की मांग करने तथा वकील की सहायता प्राप्त करने का भी अधिकार होगा।

सातवें संशोधन के अनुसार बीस डालर से अधिक मूल्य के दीवानी विवादों में व्यक्तियों को जूरी की मांग करने का अधिकार प्राप्त है।

आठवें संशोधन में कहा गया है कि व्यक्तियों को अत्यधिक जमानत, अत्यधिक जुर्माने या अत्यन्त कठोर दण्ड से सुरक्षा प्राप्त होगी।

भारतीय नागरिकों को केवल वे ही अधिकार प्राप्त हैं जिनका उल्लेख संविधान में किया गया है, किन्तु अमरीकी नागरिकों के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न है। इस सम्बन्ध में संविधान के नौवें संशोधन में कहा गया है कि संविधान में कुछ अधिकारों के उल्लेख का आशय यह नहीं लिया जायेगा कि नागरिकों को वर्तमान समय में प्राप्त अन्य अधिकारों से वंचित कर दिया गया है।

दसवें संशोधन द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि संविधान में जो शक्तियाँ संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार को नहीं दी गयी हैं और राज्यों को मना नहीं की गयी हैं, वे राज्यों या जनता के लिए सुरक्षित हैं।

तेरहवें संशोधन द्वारा दासता का निषेध किया गया है, “चौदहवें संशोधन द्वारा सभी व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्रदान किया गया है और पन्द्रहवें संशोधन में कहा गया है कि राज्यों द्वारा जाति व रंग भेद के आधार पर अथवा प्राचीन दासत्व के कारण व्यक्ति को नागरिक अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता और न इस आधार पर किसी व्यक्ति को मताधिकार से ही वंचित किया जा सकता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह नितान्त स्पष्ट है कि अमरीकी संविधान में किये गये संशोधनों द्वारा नागरिकों को वे सभी अधिकार प्रदान कर दिये गये हैं, जिनकी आशा एक सभ्य और श्रेष्ठ राष्ट्र से की जा सकती है, लेकिन संविधान द्वारा प्रदान किये गये ये अधिकार असीमित नहीं हैं¹ और उनके दुरुपयोग को रोकने के लिए उन पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं।

(13) दोहरी नागरिकता—संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में संघात्मक व्यवस्था को अपनाने के साथ-साथ दोहरी नागरिकता को अपनाया गया है। वहाँ प्रत्येक नागरिक दोहरी नागरिकता प्राप्त करता है। प्रथम, संयुक्त राज्य अमरीका की नागरिकता और द्वितीय, उस राज्य की नागरिकता जिसमें वह निवास करता है। उदाहरण के लिए, न्यूयार्क में रहने वाला नागरिक न्यूयार्क का नागरिक है और संयुक्त राज्य अमरीका का भी।

(14) व्यक्तिवादी दर्शन पर आधारित संविधान—जिस प्रकार पूर्व सोवियत संघ का संविधान और राज्य साम्यवादी दर्शन पर आधारित था, उसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान को व्यक्तिवादी दर्शन पर आधारित सबसे प्रमुख संविधान और राज्य कहा जा सकता है। फिलाडेल्फिया सम्मेलन के सदस्य लॉक के व्यक्तिवादी दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे और सम्पत्ति के अधिकार को जीवन तथा स्वतन्त्रता के समान ही पवित्र और अनुल्लंघनीय मानते थे। व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण अमरीकी संविधान में ‘स्वतन्त्र आर्थिक नीति’ को अपनाया गया और संविधान में यह उद्घोषणा की गयी कि कानून की उचित प्रक्रिया के बिना किसी भी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता और यदि सार्वजनिक हित के लिए भी सम्पत्ति को हस्तगत किया जाय, तो उचित मुआवजा दिया जायेगा। संविधान का निर्माण हो चुकने के बाद भी व्यक्तिवादी दर्शन का प्रभाव देखा जा

1 “No right conferred by either national or state constitution is unlimited.”

—W. B. Munro, *The Government of United States*, p. 93.

सकता है, क्योंकि संविधान के चौदहवें संशोधन के द्वारा निगम, श्रम, व्यापार, आदि की चर्चा पर सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को अधिक व्यापक बनाया गया और आर्थिक व्यक्तिवाद की नींव सुदृढ़ की गयी। अमरीकी विधान के इसी लक्षण के कारण ब्रोगन और चार्ल्स वियर्ड जैसे लेखकों के द्वारा इसे 'अमीरों की आवश्यकताओं की परिपूर्ति करने वाला और दरिद्रों की आवश्यकता पूर्ति में बाधा उपस्थित करने वाला संविधान' बताया गया है, लेकिन वास्तव में यह बात अधिक से अधिक आंशिक रूप में ही सत्य है। अमरीकी नागरिकों का वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार पूर्णतया अमर्यादित नहीं है और सार्वजनिक हित में इसे सीमित किया जा सकता है। फ्रैंकलिन रूजवेल्ट जैसे राष्ट्रपतियों के द्वारा तो 'नव-निर्माण आर्थिक नीति' के आधार पर अमरीकी शासन को प्रगतिशील रूप प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया गया।

(15) संविधान में कुछ महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख नहीं—भारतीय-संविधान-निर्माताओं द्वारा जहां अपने संविधान को अधिकाधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया गया है, वहां अमरीकी संविधान के निर्माताओं द्वारा अनेक आवश्यक और महत्वपूर्ण बातों का भी संविधान में उल्लेख नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए, संविधान में बैंक, निगम, शिक्षा, लोक सेवा, बजट, कृषि, श्रम, उद्योग, राजनीतिक दल, आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है। संविधान में प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष की शक्तियों का उल्लेख नहीं किया गया है और न ही संघीय सरकार तथा इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन उतना स्पष्ट है जितना कि अपेक्षित होता है। मुनरो का मत है कि "संयुक्त राज्य अमरीका की विशिष्टता इसमें दर्ज बातों के कारण ही नहीं, वरन् इसलिए भी है कि इसमें कई महत्वपूर्ण बातें छोड़ दी गयी हैं।" संविधान-निर्माताओं द्वारा ऐसा भूलवश नहीं किया गया है, वरन् उनका विचार था कि भविष्य में उत्पन्न होने वाली सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सामना करने के लिए संविधान को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए, जिससे समय की मांग को पूरा करने के लिए उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके।

(16) शक्ति विभाजन और नियन्त्रण तथा सन्तुलन के सिद्धान्त पर आधारित (Based on the Theory of Separation of Powers and Checks and Balances)—अमरीकी संविधान की अन्तिम, लेकिन सबसे अधिक विशिष्ट विशेषता यह है कि यह संविधान शक्ति विभाजन और नियन्त्रण तथा सन्तुलन के सिद्धान्त पर आधारित है। अमरीकी संविधान के निर्माता अमरीका में एक सीमित शासन की स्थापना करना चाहते थे और इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि शासन अत्यधिक शक्तिशाली होकर नागरिक स्वतन्त्रताओं को आघात न पहुंचा सके। इस हेतु उनके द्वारा न केवल संघीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया और संविधान में प्रथम दस संशोधन करते हुए मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी, वरन् अपने संविधान को शक्ति विभाजन पर आधारित किया गया।

यह विचार कि शासन के तीन प्रमुख कार्य (कानून निर्माण, प्रशासन और न्याय) तीन अलग-अलग सत्ताओं द्वारा किये जाने चाहिए, राजनीतिक दर्शन में अरस्तू के समय से चला आ रहा है, लेकिन इसे एक विधिवत् धारणा का रूप प्रदान करने और लोकप्रिय बनाने का कार्य लॉक, माण्टेस्क्यू और ब्लैकस्टोन के द्वारा किया गया, जिसमें सर्वाधिक प्रमुख रूप में माण्टेस्क्यू का नाम ही इस धारणा के साथ जुड़ा हुआ है। संविधान-निर्माता माण्टेस्क्यू के सिद्धान्त से प्रभावित थे और इसे मानवीय स्वतन्त्रता का रक्षक मानते थे, इसका प्रमाण यह

है कि क्रान्तिकाल में निर्मित सभी संविधानों में इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है और इसे अपनाने की घोषणा की गयी है। इसके बाद 'परिसंघ के विधान' (Articles of Confederation) में यद्यपि शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का उल्लेख किया गया, लेकिन परिसंघ का विधान तो अन्य अनेक बातों में भी अपूर्ण था।

1787 में फिलाडेल्फिया सम्मेलन के द्वारा जब नवीन संविधान के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया, तो संविधान-निर्माताओं ने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को संविधान का आधारभूत सिद्धान्त बनाने का निश्चय किया। संविधान सभा का एक प्रमुख सदस्य मेडीसन बार-बार कहा करता था कि "हम निरन्तर माण्डेस्व्यू की अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं।" डॉ. फाइनर ने तो लिखा है कि "अमरीका का संविधान जान-बूझकर एवं प्रयास करके शक्तियों के पृथक्करण पर एक विस्तृत निबन्ध बनाया गया था। यह संविधान इस सिद्धान्त पर चलने वाला विश्व में सर्वाधिक प्रसिद्ध राज्य शासन है।"²

अमरीकी संविधान में शक्ति विभाजन के इस सिद्धान्त के साथ-साथ नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाया गया है, जिससे शासन का कोई अंग असीमित शक्तियां प्राप्त कर शक्तियों का दुरुपयोग न कर सके।

अमरीकी संविधान की ये विशेषताएं यद्यपि राजनीतिक दर्शन की दृष्टि से नवीन नहीं हैं, लेकिन फिर भी इन्हें इस दृष्टि से मौलिक कहा जा सकता है कि लिखित संविधान, सीमित शासन के सिद्धान्त, अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था और मौलिक अधिकार जैसी बातों को सर्वप्रथम अमरीका में ही कार्यरूप प्रदान किया गया। संवैधानिक दर्शन और राज्य सम्बन्धी धारणा को अमरीकी संविधान की यह महत्वपूर्ण देन है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के प्रमुख लक्षणों या संविधान की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. संसदात्मक तथा अध्यक्षीय शासन प्रणालियों का भेद इंग्लैण्ड तथा अमरीका के संविधानों की दृष्टि में रखते हुए स्पष्टतया समझाइए।
3. संयुक्त राज्य अमरीका में संविधान संशोधन की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।
4. अमरीकी संविधान में वर्णित संशोधन प्रक्रिया का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। स्विट्जरलैण्ड में वर्णित संशोधन प्रक्रिया से यह किस प्रकार भिन्न है?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. अमेरिकी संविधान के दो प्रमुख स्रोत स्पष्ट कीजिए।
2. 'अमेरिकी संविधान विश्व का सर्वाधिक संक्षिप्त संविधान है' स्पष्ट कीजिए।
3. अमेरिकी संविधान में संशोधन का प्रस्ताव किस प्रकार प्रस्तावित किया जाता है?

1 "The oracle who is always consulted and cited on the subject."

—The Federalist, No. XVIII

2 "The American constitution was consciously and elaborately made an essay in separation of powers and is today the important polity in the world, which operates upon this principle."

—Finer, *The Theory and Practice of Modern Government*, p. 29.

4. अमेरिकी संविधान में संशोधन प्रस्ताव की पुष्टि की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
5. अमेरिका में सीमित शासन का सिद्धान्त किस प्रकार अपनाया गया है?
6. अमेरिकी संविधान द्वारा प्रदत्त प्रमुख मौलिक अधिकार बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. वर्तमान में संयुक्त राज्य अमेरिका की जनसंख्या है :
(अ) लगभग 30 करोड़ (ब) लगभग 22 करोड़
(स) लगभग 28 करोड़ (द) लगभग 15 करोड़
2. अमेरिकी संविधान में अनुच्छेद हैं :
(अ) 11 (ब) 13
(स) 21 (द) 7
3. अमेरिकी संविधान सभा के अध्यक्ष थे :
(अ) बेंजामिन फ्रैंकलिन (ब) एलेक्जेंडर हेमिल्टन
(स) जार्ज वाशिंगटन (द) अब्राहम लिंकन
4. अमेरिकी संविधान का निर्माण किया गया :
(अ) फिलाडेल्फिया सम्मेलन में (ब) वाशिंगटन सम्मेलन में
(स) अटलाण्टिक चार्टर में (द) इनमें से कोई नहीं
5. अमेरिका में 'दासता का निषेध' किस संवैधानिक संशोधन के आधार पर हुआ ?
(अ) 10वें (ब) 13वें
(स) 14वें (द) 15वें
6. अमेरिकी संविधान में अब तक कितने संशोधन हुए हैं :
(अ) 27 (ब) 74
(स) 75 (द) 26
7. अमेरिकी संविधान की प्रमुख विशेषता है :
(अ) विधि का शासन (ब) संवैधानिक अभिसमय
(स) न्यायिक पुनर्विलोकन (द) बहुल कार्यपालिका
8. अमेरिकी संविधान की विशेषता नहीं है :
(अ) न्यायिक पुनर्विलोकन (ब) संविधान की सर्वोच्चता
(स) एकात्मक शासन (द) शक्ति विभाजन का सिद्धान्त
[उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (स), 4. (अ), 5. (ब), 6. (अ), 7. (स), 8. (स)]
- प्रश्न 9. मूल अधिकारों की व्यवस्था को कब और किस प्रकार अपनाया गया ?
[उत्तर—मूल अधिकारों की व्यवस्था को 1791 ई. में प्रथम दस संवैधानिक संशोधनों के आधार पर अपनाया गया]
- प्रश्न 10. अमेरिका में गृहयुद्ध की स्थिति कब और किस प्रश्न पर खड़ी हुई थी ?
[उत्तर—गृहयुद्ध की स्थिति 1861-65 के वर्षों में दासता के अन्त के प्रश्न को लेकर खड़ी हुई थी]
- प्रश्न 11. फिलाडेल्फिया सम्मेलन में भाग लेने वाले दो प्रमुख व्यक्तियों के नाम बताइए।
[उत्तर—एलेक्जेंडर हेमिल्टन और बेंजामिन फ्रैंकलिन]
- प्रश्न 12. अमेरिकी संविधान की दो प्रमुख विशेषताएं बताइए।
[उत्तर—(i) संघात्मक शासन (ii) अध्यक्षीय शासन]

प्रश्न 13. अमेरिकी संविधान के अनुसार संविधान संशोधन के प्रस्ताव के पुष्टिकरण के लिए कितने राज्यों के विधानमण्डलों की सहमति आवश्यक है।

[उत्तर—तीन चौथाई राज्यों के विधानमण्डलों से पुष्टि आवश्यक है।]

प्रश्न 14. अमेरिका में दोहरी नागरिकता से क्या तात्पर्य है ?

[उत्तर—अमेरिका में प्रत्येक व्यक्ति को दो नागरिकताएं प्राप्त होती हैं : प्रथम, संयुक्त राज्य अमेरिका की नागरिकता; द्वितीय, संघ के 50 राज्यों में से वह जहां रहता है, उस राज्य (उदाहरण के लिए फ्लोरिडा) की नागरिकता।]

प्रश्न 15. अमेरिकी संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख संविधान की किस धारा में किया जाता है ?

[उत्तर—संविधान की पांचवीं धारा में।]

प्रश्न 16. अमेरिकी संविधान की किस धारा को संशोधित नहीं किया जा सकता ?

[उत्तर—संविधान की प्रथम धारा की नौवीं उपधारा के पहले व चौथे उपबन्धों को संशोधित नहीं किया जा सकता और न ही सम्बन्धित राज्य की अनुमति के बिना उसे सीनेट में प्राप्त प्रतिनिधित्व या मताधिकार से वंचित किया जा सकता है।]

प्रश्न 17. अमेरिकी संविधान को किन शासन व्यवस्थाओं का जनक समझा जाता है ?

[उत्तर—(i) अध्यक्षीय शासन व्यवस्था का जनक, (ii) संघात्मक शासन व्यवस्था का जनक।]

2

शक्तियों का पृथक्करण एवं नियन्त्रण तथा सन्तुलन

(SEPARATION OF POWERS AND CHECKS AND BALANCES)

“अमरीकी शासन का कोई लक्षण इतना प्रमुख नहीं है जितना कि नियन्त्रण तथा सन्तुलन की धारणा के साथ अपनाया गया शक्ति-विभाजन सिद्धान्त”¹—ऑग और रे

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ—सरकार के तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। सरकार के इन तीनों अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होना चाहिए, यह समस्या राजनीति विज्ञान में अत्यन्त विवादग्रस्त रही है और इस सम्बन्ध में समय-समय पर जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त सबसे अधिक प्रमुख है।

यह सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि निरंकुश शक्तियों के मिल जाने से व्यक्ति भ्रष्ट हो जाते हैं और अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का विचार है कि व्यवस्थापिका का काम कानून बनाना होना चाहिए, कार्यपालिका उन कानूनों को क्रियान्वित करे और उनके अनुसार शासन चलाये तथा न्यायपालिका उन कानूनों के अनुसार निर्णय करे। शक्ति-विभाजन सिद्धान्त का सबसे प्रमुख प्रतिपादक माण्टेस्क्यू है और माण्टेस्क्यू ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि “सरकार के तीन अंगों में से प्रत्येक अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होना चाहिए, उसे अपने कार्यक्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहिए और उसके द्वारा दूसरे अंग के कार्य को प्रभावित करने या उस पर नियन्त्रण स्थापित करने की चेष्टा नहीं की जानी चाहिए।”

अमरीकी संविधान-निर्माताओं पर शक्ति-विभाजन सिद्धान्त का प्रभाव—अमरीकी संविधान के निर्माता अमरीका में एक सीमित शासन की स्थापना करना चाहते थे और इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि शासन अत्यधिक शक्तिशाली होकर नागरिक स्वतन्त्रताओं को आघात न पहुंचा सके। इस हेतु उनके द्वारा न केवल संघीय शासन को अपनाया गया और संविधान में प्रथम 10 संशोधन करते हुए मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी, वरन् अपने संविधान को शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित किया गया।

1 “No feature of American government is more characteristic than this Separation of Powers combined with the precautionary checks and balances.”
—Ogg & Ray, *Essentials of American Government*, p. 31.

संविधान निर्माता माण्टेस्क्यू के शक्ति विभाजन सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित थे। उनका विश्वास था कि “जितनी अधिक शक्ति होती है, उतनी ही अधिक उसके दुरुपयोग की आशंका रहती है।” संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य मेडीसन ने इस सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए प्रसिद्ध पत्रिका ‘फेडरलिस्ट’ (Federalist) में लिखा था कि “व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक ही हाथों में एकत्रित होना चाहे वह एक व्यक्ति हो, थोड़े हों या अधिक और चाहे वंशानुगत हों, स्वतः नियुक्त हों या निर्वाचित हों, अत्याचारी शासन की उपयुक्त परिभाषा कही जा सकती है।”¹ अतः 1787 में फिलाडेल्फिया सम्मेलन के द्वारा जब नवीन संविधान के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया, तो संविधान निर्माताओं ने शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को संविधान का आधारभूत सिद्धान्त बनाने का निश्चय किया। मेडीसन बार-बार कहा करता था कि “हम निरन्तर माण्टेस्क्यू की अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं।”² डॉ. फाइनर ने तो लिखा है कि “अमरीकी संविधान शक्ति विभाजन सिद्धान्त पर आधारित विश्व में सर्वाधिक प्रसिद्ध राज्य शासन है।”

अमरीकी संविधान और शक्तियों का पृथक्करण—संविधान में शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को अपनाने की कोई औपचारिक घोषणा नहीं की गयी है और न ही संविधान में किसी स्थान पर शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को परिभाषित किया गया है, लेकिन शक्ति-विभाजन सिद्धान्त अमरीकी संविधान की मूल भावना है और संविधान के प्रथम तीन अनुच्छेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संविधान शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है।

संविधान के ये अनुच्छेद इस प्रकार हैं :

अनुच्छेद 1, खण्ड 1 : संविधान में प्रदान की गयी समस्त व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ एक कांग्रेस में निहित होंगी।

अनुच्छेद 2, खण्ड 1 : समस्त कार्यपालिका शक्ति संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति में निहित होगी।

अनुच्छेद 3, खण्ड 1 : न्याय सम्बन्धी समस्त शक्ति एक सर्वोच्च न्यायालय तथा उन नीचे के न्यायालयों में निहित होगी, जिन्हें कांग्रेस समय-समय पर प्रतिष्ठित व स्थापित करेगी।

इस प्रकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है। संविधान निर्माता चाहते थे कि न केवल सिद्धान्त में, वरन् व्यवहार में भी सरकार के इन तीन अंगों की प्रकृति अलग-अलग होनी चाहिए तथा उनके द्वारा अपने कार्यों का सम्पादन एक दूसरे से अधिकाधिक स्वतन्त्र रहते हुए किया जाना चाहिए। अतः संविधान सरकार के इन अंगों की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने के लिए निम्न व्यवस्थाएं करता है :

(1) शासन के तीनों अंगों के सदस्यों के चयन की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया—कांग्रेस अर्थात् सीनेट और प्रतिनिधि सभा के सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। राष्ट्रपति एक निर्वाचक मण्डल द्वारा अर्थात् जनता द्वारा परोक्ष रूप से निर्वाचित होता है और न्यायाधीशों की नियुक्ति सीनेट के अनुसमर्थन पर राष्ट्रपति द्वारा होती है। यद्यपि आज राष्ट्रपति के परोक्ष निर्वाचन की बात केवल सिद्धान्त में ही है, लेकिन संविधान निर्माताओं ने सरकार के तीन

1 “The accumulation of all powers—legislative, executive and judicial—in the same hands—whether of one a few or many and whether hereditary, self appointed or elective; may justly be pronounced the very definition of tyranny.” —Madison

2 “The oracle who is always consulted and cited on the subject.”

—The Federalist; No. XVIII.

अंगों के लिए क्रमशः प्रत्यक्ष निर्वाचन, परोक्ष निर्वाचन और मनोनयन की पद्धति, यह सोचकर भी अपनाई थी कि सरकार के तीनों अंगों की प्रकृति अलग-अलग रहे।

(2) शासन के एक ही अंग की सदस्यता का प्रावधान—अमरीका में कोई भी नागरिक व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या न्यायपालिका सरकार के इन तीनों अंगों में से किसी एक अंग की सदस्यता ही प्राप्त कर सकता है। यदि कांग्रेस के किसी सदस्य को मन्त्रिपरिषद का सदस्य अथवा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर दिया जाय, तो पद ग्रहण से पूर्व उसे कांग्रेस की सदस्यता से त्याग-पत्र देना होगा। यह व्यवस्था ब्रिटेन की व्यवस्था के नितान्त विपरीत है।

(3) सरकार के विभिन्न अंगों का अलग-अलग कार्यकाल और कार्यकाल की निश्चितता—प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल 2 वर्ष, सीनेट सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष, और राष्ट्रपति का कार्यकाल 4 वर्ष है। न्यायाधीशों की नियुक्ति जीवन पर्यन्त के लिए होती है और वे सदाचार पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त इन सभी संस्थाओं का कार्यकाल निश्चित है, एक दूसरे पर निर्भर नहीं है। राष्ट्रपति कांग्रेस के किसी भी सदन को समय से पूर्व भंग नहीं कर सकता और कांग्रेस केवल महाभियोग की प्रक्रिया के आधार पर ही राष्ट्रपति अथवा न्यायाधीशों को पदच्युत कर सकती है। महाभियोग असामान्य और अत्यधिक कठिन प्रक्रिया है।

(4) विविध अंगों के सदस्यों के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में भिन्नता—संविधान के द्वारा भी चुनाव के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गयी है, उसके आधार पर प्रतिनिधि सभा का सदस्य अपने आपको जिले के मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी समझता है, सीनेट सदस्य स्वयं से सम्बद्ध संघ की इकाई अर्थात् सम्पूर्ण राज्य के प्रति उत्तरदायी समझता है, राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी है और न्यायाधीश संविधान के प्रति उत्तरदायी है।

इन सबके अतिरिक्त शक्ति-विभाजन सिद्धान्त से प्रभावित होने के कारण ही अमरीका में संसदात्मक शासन को नहीं, वरन् अध्यक्षीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया है।

इस प्रकार संविधान शासन की विविध शक्तियों के प्रयोग के लिए अलग-अलग संस्थाओं और पदाधिकारियों की व्यवस्था करता है। शासन का प्रत्येक अंग अपनी शक्तियां सीधे संविधान से प्राप्त करता है और प्रत्येक अंग न केवल संवैधानिक, वरन् पर्याप्त सीमा तक राजनीतिक दृष्टि से भी शासन के अन्य अंगों से स्वतन्त्र है। सरकार के अंगों की एक-दूसरे से यह स्वतन्त्रता ही शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का मूल तत्व है, जिसकी सुनिश्चित व्यवस्था अमरीकी संविधान में की गयी है। अमरीकी न्यायपालिका भी शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को अमरीकी संविधान का एक प्रमुख आधार मानती है और इसकी रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रही है। 'किलबोर्न बनाम थाम्पसन' के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को अमरीकी संविधान का एक प्रमुख लक्षण और गुण बतलाया है। इस विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा था कि, "अमरीका के लिखित संवैधानिक कानून का यह मुख्य लक्षण है कि इसके अनुसार राज्यों अथवा राष्ट्र से सम्बन्धित जो शक्तियां सरकार को दी गई हैं, वे तीन भागों में बंटी हुई हैं : कार्यपालिका, विधानमण्डल और न्यायपालिका। सरकार के इन तीन विभागों से सम्बन्धित कार्य सार्वजनिक राज्य कर्मचारियों के तीन अलग-अलग वर्गों द्वारा किये जायेंगे तथा इस प्रणाली की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि इन तीनों विभागों के कार्य क्षेत्रों को सुनिश्चित एवं स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् रखा जाय।"

नियन्त्रण और सन्तुलन

अर्थ एवं प्रकृति—नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त का आशय यह है कि शासन के विविध अंग एक-दूसरे की शक्तियों को इस प्रकार नियन्त्रित करें कि शक्तियों का सन्तुलन स्थापित हो और सरकार का कोई भी अंग अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न कर सके। शक्ति पृथक्करण और नियन्त्रण तथा सन्तुलन ये दो सिद्धान्त ऊपर से देखने पर परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते हैं, लेकिन वस्तुतः इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। ये दो सिद्धान्त और व्यवस्थाएँ तो एक-दूसरे की सहायक और पूरक हैं। इन दोनों सिद्धान्तों का उद्देश्य एक ही है और वह है : शासन की शक्तियों को मर्यादित कर संविधानवादी शासन की स्थापना, जिससे शासन नागरिकों की स्वतन्त्रताओं को कोई आघात न पहुँचा सके, अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न कर सके।

अमरीकी संवैधानिक व्यवस्था में नियन्त्रण तथा सन्तुलन

संविधान-निर्माताओं ने शासन को मर्यादित रखने और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की रक्षा हेतु शक्ति-विभाजन सिद्धान्त को अपनाया, लेकिन इसके साथ ही वे शक्ति-विभाजन सिद्धान्त की सीमाओं से भी परिचित थे। शक्ति-विभाजन के सबसे प्रमुख समर्थक मेडीसन ने अपने पत्र 'Federalist' में लिखा था कि "शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का आशय यह नहीं है कि व्यवस्थापिका और न्यायपालिका का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहे।" उन्होंने आगे लिखा कि "जब तक ये तीनों अंग एक-दूसरे से सम्बन्ध न किये जायेंगे और इस तरह से मिला नहीं दिये जायेंगे कि एक का नियन्त्रण दूसरे पर स्थापित हो जाय, तब तक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कदापि नहीं हो सकती है।"

इसके अतिरिक्त संविधान-निर्माताओं द्वारा यह भी सोचा गया है कि शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को पूरी-पूरी सीमा तक अपनाने पर शासन का प्रत्येक अंग अपने निश्चित क्षेत्र में असीमित शक्तियाँ प्राप्त कर शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है। अतः उनके द्वारा यह निश्चय किया गया कि तीनों अंगों की शक्तियाँ अलग-अलग करने के साथ-साथ ऐसी व्यवस्था कर दी जाय कि एक अंग दूसरे अंग को नियन्त्रित करता रहे और ऐसा शक्ति सन्तुलन स्थापित कर दिया जाय कि कोई भी अंग बहुत अधिक शक्तिशाली न हो सके। इस प्रकार एलेक्जेंडर हेमिल्टन के शब्दों में, 'शक्ति की प्रतिद्वन्द्वी शक्ति' (Power as the Rival of Power) का निर्माण किया गया और शक्ति विभाजन सिद्धान्त के सहायक रूप में एवं उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने हेतु नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाया गया। बॉयल के शब्दों में, "नियन्त्रण और सन्तुलन की व्यवस्था सोच-समझकर की गयी है, जिससे शासन की कोई शाखा पागलपन न कर बैठे।"

नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाने का रूप यह है कि शासन के तीनों अंगों (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका) में से प्रत्येक अंग पर अन्य दो अंगों के द्वारा नियन्त्रण रखते हुए ऐसा शक्ति सन्तुलन स्थापित किया जाता है कि कोई भी अंग बहुत अधिक शक्तिशाली न हो जाय। नियन्त्रण और सन्तुलन के इस सिद्धान्त को अमरीकी कांग्रेस और राष्ट्रपति के पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक प्रमुखता के साथ अपनाया गया और

1 "The constitution was carefully designed to provide a system of checks and balances to prevent any branch of the Government running amuck."

—D.C. Boyle, *The United States Political System*, p. 16.

न्यायपालिका के सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप से अपेक्षाकृत सीमित रूप में। सरकार के तीनों अंगों के सम्बन्ध में नियन्त्रण तथा सन्तुलन की व्यवस्था का अध्ययन निम्न प्रकार है :

(1) कांग्रेस की शक्ति पर नियन्त्रण—कानून निर्माण की शक्ति कांग्रेस को प्राप्त है, लेकिन कांग्रेस की इस शक्ति पर राष्ट्रपति और सर्वोच्च न्यायालय का प्रतिबन्ध है। कांग्रेस द्वारा पारित विधेयकों पर राष्ट्रपति को 'विलम्बकारी निषेधाधिकार' (Suspensive Veto) और 'जेबी निषेधाधिकार' (Pocket Veto) प्राप्त होता है। राष्ट्रपति को प्राप्त निषेधाधिकार की यह शक्ति कांग्रेस की कानून निर्माण की शक्ति पर एक प्रभावी नियन्त्रण है, जिसके प्रयोग में समय के साथ वृद्धि हुई है। राष्ट्रपति को ऐसे कुछ साधन भी प्राप्त हैं, जिनके आधार पर कांग्रेस द्वारा किये जाने वाले कानून निर्माण के कार्य को प्रभावित किया जा सकता है। व्यवहार के अन्तर्गत राष्ट्रपति के द्वारा कांग्रेस को सन्देश भेजकर, राष्ट्र के नाम अपील प्रसारित करके, कांग्रेस सदस्यों पर विभिन्न अनुग्रह करके और एक विशेष राजनीतिक दल के नेता के रूप में भी कानून-निर्माण के कार्य को प्रभावित किया जा सकता है। कांग्रेस की कानून निर्माण की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय से ही प्रतिबन्धित होती है। संविधान की व्याख्या करते हुए सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ऐसे कानूनों को अवैधानिक घोषित किया जा सकता है, जो उनके विचार में संविधान के प्रतिकूल हैं। इस प्रकार कांग्रेस को कानून-निर्माण की शक्ति प्राप्त है, लेकिन इस सम्बन्ध में उसके द्वारा मनमानी नहीं की जा सकती है।

(2) राष्ट्रपति (कार्यपालिका) की शक्ति पर नियन्त्रण—राष्ट्रपति देश की कार्यपालिका का प्रधान है, लेकिन वह प्रशासनिक क्षेत्र में मनमानी करते हुए तानाशाह नहीं बन सकता। कांग्रेस द्वारा अनेक रूपों में राष्ट्रपति की शक्ति पर अंकुश रखा जाता है। सर्वप्रथम राष्ट्र के वित्त पर कांग्रेस का अधिकार है और कांग्रेस राष्ट्रपति द्वारा चाहे गये धन की स्वीकृति देने से इन्कार कर राष्ट्रपति की शक्ति पर अंकुश लगा सकती है। व्यवहार में अनेक बार कांग्रेस ने अपनी इस शक्ति का प्रभावशाली रूप में प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति देश की सेना का अध्यक्ष है और वह परराष्ट्र सम्बन्धों का संचालन करता है, लेकिन कांग्रेस राष्ट्रपति की इस शक्ति पर दो रूपों में नियन्त्रण रखती है। प्रथमतः, संविधान के अनुसार यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति द्वारा की गयी युद्ध की घोषणा की पुष्टि कांग्रेस करे। इसी प्रकार राष्ट्रपति द्वारा किये गये समझौतों और सन्धियों की पुष्टि सीनेट के द्वारा अपने 2/3 बहुमत से की जानी आवश्यक है, इस पुष्टि के अभाव में सन्धियां और समझौते व्यर्थ हो जाते हैं। यह सर्वविदित है कि कांग्रेस द्वारा पुष्टि प्रदान न किये जाने के कारण ही राष्ट्रपति विल्सन अमरीका को राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना सके थे। इसी प्रकार राष्ट्रपति को बड़े-बड़े पदों पर नियुक्तियों को करने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग न कर सके, इसके लिए यह व्यवस्था की गयी है कि नियुक्तियों पर सीनेट की स्वीकृति आवश्यक है। इसके लिए यह व्यवस्था की गयी है कि नियुक्तियों पर सीनेट की स्वीकृति आवश्यक है। कांग्रेस के द्वारा राष्ट्रपति पर महाभियोग भी लगाया जा सकता है। राष्ट्रपति की शक्ति को न्यायपालिका द्वारा भी नियन्त्रित किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति के कार्यों का सर्वेक्षण कर सकता है और यदि वे कार्य संविधान की व्यवस्था के प्रतिकूल हों, तो उन्हें अवैध घोषित कर सकता है।

(3) न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) की शक्ति पर आंशिक नियन्त्रण—न्यायपालिका पर भी व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के द्वारा सीमित नियन्त्रण रखा जाता है। कांग्रेस के द्वारा न्यायाधीशों की संख्या और उनका वेतन निश्चित किया जाता है और राष्ट्रपति सीनेट

की सहमति से न्यायाधीशों को नियुक्त करता है। कांग्रेस के द्वारा संघीय न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार सीमित किया जा सकता है और कांग्रेस महाभियोग के आधार पर न्यायाधीशों को पदच्युत भी कर सकती है। यदि सर्वोच्च न्यायालय कोई ऐसा निर्णय दे दे, जो कांग्रेस की दृष्टि में अनुचित है, तो कांग्रेस संविधान में संशोधन करके उसे उचित घोषित कर सकती और लागू कर सकती है। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह न्यायपालिका द्वारा दण्डित किसी व्यक्ति को क्षमा कर दें, उसका दण्ड स्थागित कर दें-अथवा दण्ड कम कर दें।

सरकार के ये अंग तो एक-दूसरे को नियन्त्रित करते ही हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ और नियन्त्रण हैं :

(4) कांग्रेस के दोनों सदनों का एक-दूसरे पर नियन्त्रण—कानून निर्माण के क्षेत्र में कांग्रेस के दोनों सदनों को लगभग समान शक्ति प्राप्त है। अतः प्रतिनिधि सभा और सीनेट एक-दूसरे को नियन्त्रित करते हैं।

(5) संघीय सरकार और राज्य सरकारों का एक-दूसरे पर नियन्त्रण—संविधान द्वारा स्थापित संघात्मक व्यवस्था में राज्य सरकारों को भी पर्याप्त शक्तियां प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए, संविधान संशोधन के प्रस्तावों पर तीन-चौथाई राज्यों के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार संघीय सरकार और राज्य सरकारें एक-दूसरे को नियन्त्रित करते हुए शक्ति सन्तुलन स्थापित करती हैं।

इसी प्रकार शासन के तीनों अंग एक-दूसरे को नियन्त्रित करते हुए शक्ति-सन्तुलन स्थापित करते हैं। इसी बात को लक्ष्य करते हुए सन् 1941 में जॉन एडम्स ने अपने एक पत्र में जॉन टेलर को लिखा था कि “आरम्भ से अन्त तक अमरीकी संविधान में एक अंग दूसरे अंग पर प्रतिबन्ध रखता है।” ऑग और रे लिखते हैं कि “अमरीकी शासन का कोई लक्षण इतना प्रमुख नहीं है जितना कि नियन्त्रण और सन्तुलन की धारणा के साथ अपनाया गया शक्ति विभाजन सिद्धान्त।” वाटरगेट काण्ड के सम्बन्ध में अमरीकी कांग्रेस और न्यायपालिका द्वारा जिस प्रकार से कार्यवाही की गयी और अन्ततोगत्वा निक्सन को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया गया, वह नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त का अत्यधिक सजीव उदाहरण है।

नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory of Checks and Balances)—अमरीकी शासन व्यवस्था नियन्त्रण और सन्तुलन की प्रणाली पर आधारित है। जहां इसका लाभदायक पक्ष यह है कि शासन का कोई भी अंग बहुत अधिक शक्तिशाली होकर नागरिक स्वतन्त्रताओं के लिए घातक नहीं हो पाता, वहां इसका एक अन्य पक्ष भी है जिसके कारण इसकी आलोचना की जाती है।

प्रथमतः, शक्ति-विभाजन और नियन्त्रण तथा सन्तुलन के सिद्धान्त के कारण अमरीकी शासन में एकता का अभाव है। इंग्लैण्ड की शासन व्यवस्था के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री को पूरे शासन के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, परन्तु अमरीका में किसी एक अंग को पूरे शासन के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। एक विशेष समय पर उत्पन्न कुव्यवस्था के लिए राष्ट्रपति और कांग्रेस-एक-दूसरे पर उत्तरदायित्व डालने का प्रयत्न कर सकते हैं।

द्वितीयतः, नियन्त्रण और सन्तुलन के कारण अनेक बार राष्ट्रपति और कांग्रेस के बीच पारस्परिक विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह स्थिति विशेष तौर पर उस समय देखने में आती है, जबकि राष्ट्रपति एक राजनीतिक दल का हो और कांग्रेस के दोनों सदनों में

दूसरे राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त हो। 1974-75, 1980-82 तथा 1986-90 के वर्षों में ऐसी ही स्थिति थी, लेकिन इन वर्षों में इस स्थिति ने किसी टकराव को जन्म नहीं दिया, लेकिन 1995 में इस दलीय स्थिति के कारण सालाना वजट सम्बन्धी मामले पर गतिरोध खड़ा हो गया और सरकार को अपने कई विभागों को कुछ समय के लिए बंद करना पड़ा। यह स्थिति राष्ट्रपति पद तथा कांग्रेस में पारस्परिक विरोध तथा विभाजित उत्तरदायित्व को जन्म देती है जिससे कार्य की गति धीमी पड़ जाती है और नेतृत्व को निराशा होती है। वर्तमान समय (राष्ट्रपति चुनाव और प्रतिनिधि सभा व सीनेट के चुनाव के बाद 2005 ई. में) स्थिति यह है कि राष्ट्रपति पद पर रिपब्लिकन पार्टी ने पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा अमरीकी कांग्रेस के दोनों सदनों; प्रतिनिधि सभा और सीनेट में भी रिपब्लिकन पार्टी को बहुमत प्राप्त है।

शक्ति विभाजन और नियन्त्रण तथा सन्तुलन सिद्धान्त का प्रभाव कम होना—एक अन्य बात यह है कि वर्तमान समय में अमरीकी शासन व्यवस्था के अन्तर्गत शक्ति पृथक्करण और नियन्त्रण तथा सन्तुलन के सिद्धान्त का प्रभाव पर्याप्त सीमा तक कम हो गया है। इस सिद्धान्त के प्रभाव को कम करने वाले तत्व ये हैं :

(i) प्रथाएं—बीसवीं सदी में ऐसी कुछ प्रथाओं का विकास हुआ है जिनसे नियन्त्रण तथा सन्तुलन के सिद्धान्त का प्रभाव कम हो गया है। ये प्रथाएं हैं : सीनेटीय शिष्टता (Senatorial courtesy), अवकाश नियुक्तियों की प्रथा और कार्यपालिका समझौतों की प्रथा।

‘सीनेटीय शिष्टता’ के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों पर सीनेट का अनुसमर्थन सुनिश्चित हो जाता है; यदि सम्बन्धित नियुक्तियां वह सीनेटर स्वीकार कर ले, जिसके राज्य में नियुक्तियों की जानी हैं। इस प्रथा ने राष्ट्रपति तथा सीनेट के बीच ‘सद्भाव और सौदेबाजी की मिली-जुली स्थिति’ को जन्म दे दिया है।

इसी प्रकार ‘अवकाश नियुक्तियों की प्रथा’ ने राष्ट्रपति को सीनेट के अवकाश काल में सीनेट के अनुसमर्थन के बिना नियुक्तियां करने का अधिकार दे दिया है। ‘कार्यपालिका समझौतों की प्रथा’ ने सन्धियों के सम्बन्ध में सीनेट की स्थिति को प्रभावहीन बना दिया है। ‘कार्यपालिका समझौतों’ पर सीनेट के अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए राष्ट्रपति दूसरे देशों के साथ सन्धियां करने के स्थान पर कार्यपालिका समझौतों पर बल देता है। ऐसा विशेषकर उस स्थिति में किया जाता है जब सीनेट में विरोधी दल का बहुमत हो और सीनेट उद्दण्ड आचरण को अपना रही हो।

(ii) राजनीतिक दल—राजनीतिक दलों के विकास के कारण शासन के तीनों अंगों में सहयोग की भावना पैदा हो गई है और शासन की शक्ति पर नियन्त्रण कमजोर हो गये हैं। यह भावना विशेष रूप से उस समय विद्यमान रहती है जब राष्ट्रपति उसी दल से जुड़ा होता है जिसे कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त होता है, लेकिन उस समय राष्ट्रपति की कठिनाइयां बढ़ जाती हैं जब कांग्रेस में विरोधी दल का बहुमत होता है।

(iii) राष्ट्रपति का नेतृत्व—इन सबके अतिरिक्त आज अमरीका की शासन व्यवस्था और अमरीकी राष्ट्र पर राष्ट्रपति का नेतृत्व स्थापित हो गया है। रेडियो, टेलीविजन और प्रेस सम्मेलनों,

आदि के माध्यम से अमरीकी राष्ट्रपति अमरीकी जनता के साथ सीधा जुड़ गया है। यदि राष्ट्रपति प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला है तो वह अमरीकी जनता से सीधे अपील करते हुए कांग्रेस तथा कुछ सीमा तक तो सर्वोच्च न्यायालय को भी प्रभावित कर सकता है।

व्यवहार में देखा गया है कि आपात्काल में तो शक्ति-विभाजन और नियन्त्रण तथा सन्तुलन का सिद्धान्त लगभग पूर्णतया ही समाप्त हो जाता है और समस्त शासनतन्त्र पर राष्ट्रपति का निर्विवाद नेतृत्व स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार सामान्य काल में शक्ति विभाजन तथा नियन्त्रण और सन्तुलन सिद्धान्त प्रभावी होते हैं। नियन्त्रण तथा सन्तुलन सिद्धान्त अधिक प्रभावी उस समय होता है जब राष्ट्रपति पद पर एक राजनीतिक दल का अधिकार हो और कांग्रेस में दूसरे राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त हो। इस सम्बन्ध में मुनरो ठीक ही लिखते हैं कि, “परम्पराओं द्वारा नियन्त्रण और सन्तुलन की प्रणाली पारस्परिक उत्तरदायित्व में बदल गई है। साथ ही यद्यपि शक्ति विभाजन का सिद्धान्त अमरीकी सैवैधानिक सिद्धान्त के रूप में चल रहा है और अमरीकी सरकार द्वारा व्यवहार में उसे सामान्यतया मान्यता दी जाती है, परन्तु जब संकट काल आता है तब इसे शीघ्र और समर्थ कार्यवाही के मार्ग में बाधक नहीं होने दिया जाता।”¹

निबन्धात्मक प्रश्न

1. “अमरीकी संविधान शक्ति पृथक्करण एवं नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्तों पर आधारित है।” इस कथन की समीक्षा कीजिए।
2. ‘शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त से आपका क्या तात्पर्य है? नियन्त्रण एवं सन्तुलन की व्यवस्था के द्वारा इसे किस प्रकार अमरीका में व्यावहारिक बनाया गया है?’
3. संयुक्त राज्य अमरीका में शक्ति पृथक्करण की प्रकृति तथा नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त के क्रियात्मक पहलू का परीक्षण कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. अमेरिकी संविधान निर्माताओं पर शक्ति विभाजन सिद्धान्त का प्रभाव बताइए।
2. नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?
3. अमेरिका में कांग्रेस की शक्ति पर नियन्त्रण की क्या व्यवस्था है?
4. अमेरिकी राष्ट्रपति की शक्ति पर नियन्त्रण की क्या व्यवस्था है?
5. न्यायपालिका की शक्ति पर आंशिक नियन्त्रण की व्यवस्था किस प्रकार है?
6. शक्ति विभाजन और नियन्त्रण के सिद्धान्त के प्रभाव को कम करने वाले दो तत्व बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. अमेरिकी संविधान का प्रमुख आधार स्तम्भ है :

(अ) विधि का शासन

(ब) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र

(स) संवैधानिक परम्पराएं

(द) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त

1 W. B. Munro, *The Government of the United States*, p. 60.

2. राष्ट्रपति पर न्यायपालिका किसके माध्यम से नियन्त्रण रखती है :
 (अ) पॉकेट वीटो (ब) सीनेट का शिष्टाचार
 (स) सन्धियों के पुष्टिकरण द्वारा (द) न्यायिक पुनर्विलोकन
3. अमेरिकी संविधान के निर्माताओं को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला दार्शनिक :
 (अ) कार्ल मार्क्स (ब) माण्टेस्क्यू
 (स) सुकरात (द) लास्की
4. अमेरिका का राष्ट्रपति कांग्रेस के अधिवेशन के अन्तिम दस दिनों में किस प्रकार के वीटो का प्रयोग करता है :
 (अ) पॉकेट वीटो (ब) सामान्य वीटो
 (स) परम्परागत वीटो (द) वैधानिक वीटो
5. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से जुड़ी हुई स्थिति है ?
 (अ) संघात्मक शासन (ब) संसदीय सर्वोच्चता
 (स) नियन्त्रण एवं सन्तुलन (द) सीनेट की विशेष शक्तियाँ
- [उत्तर—1. (द), 2. (द), 3. (ब), 4. (अ), 5. (स)]

प्रश्न 6. अमेरिकी राष्ट्रपति अपनी किस शक्ति के आधार पर कांग्रेस को नियन्त्रित करता है ?

[उत्तर—विधेयकों पर निषेधाधिकार की शक्ति और 'कार्यपालिका आदेश' (Executive orders) जारी करने की शक्ति।]

प्रश्न 7. अमेरिकी सीनेट राष्ट्रपति को कैसे नियन्त्रित करती है ?

[उत्तर—प्रथम, नियुक्तियों की पुष्टि करने की शक्ति; और द्वितीय, सन्धियों की पुष्टि करने की शक्ति के आधार पर सीनेट राष्ट्रपति को नियन्त्रित करती है।]

3

अमरीका की संघीय व्यवस्था

(FEDERAL SYSTEM OF AMERICA)

“अमरीकी संविधान में कहीं पर भी ‘संघीय’ (Federal) या ‘संघ’ (Federation) शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है, लेकिन फिर भी इसे संघीय संविधान कहा जाता है और वर्तमान समय में सभी व्यक्ति संयुक्त राज्य अमरीका को संघीय शासन का एक आदर्श उदाहरण मानते हैं।”¹ —ह्वीयर

संघीय शासन

(FEDERAL GOVERNMENT)

संघीय शासन, शासन व्यवस्था के अन्तर्गत एक नवीन देन है। ‘संघ’ शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची ‘फेडरेशन’ (Federation) लैटिन भाषा के शब्द ‘फोएडस’ (Foedus) से निकला है जिसका अर्थ है सन्धि या समझौता। अतः शब्द व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से समझौते द्वारा निर्मित राज्य को ‘संघ राज्य’ कहा जा सकता है। संवैधानिक दृष्टिकोण से संघात्मक शासन का तात्पर्य एक ऐसे शासन से होता है जिसमें संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति विभाजन कर दिया जाता है और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि इन दोनों पक्षों में से कोई एक अकेला इस शक्ति विभाजन में परिवर्तन न कर सके। संघ राज्य की परिभाषा करते हुए डायसी लिखते हैं कि “एक संघात्मक राज्य, एक ऐसे राजनीतिक उपाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्य अधिकारों में मेल स्थापित करना है।”

डॉ. गार्नर अधिक स्पष्टता के साथ संघ की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि “संघ एक ऐसी प्रणाली है जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में जिसे संविधान अथवा संघ का कोई कानून निश्चित करता है, सर्वोच्च होती हैं, संघ सरकार जैसा कि प्रायः यह कह दिया जाता है, अकेली केन्द्रीय सरकार नहीं होती, वरन् वह केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों को मिलाकर बनती है। स्थानीय सरकारें उसी प्रकार संघ का भाग हैं, जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार। वे केन्द्र द्वारा निर्मित अथवा नियन्त्रित नहीं होतीं।”

1. “The words ‘federation or federal’ occur nowhere in the American constitution. Nonetheless it has always been called the ‘Federal Constitution’ and now-a-days everybody regards the United States as an example of federal government.”

—K. C. Wheare, *Federal Government*, p. 1.

अमरीका में संघीय व्यवस्था क्यों?

(WHY FEDERAL SYSTEM IN THE U.S.A.?)

संघीय व्यवस्था संयुक्त राज्य अमरीका की एक प्रमुख विशेषता है और विश्व में सबसे पहले संयुक्त राज्य अमरीका के द्वारा ही इसे अपनाया गया। फिलाडेल्फिया सम्मेलन के द्वारा जब अमरीकी संविधान का निर्माण किया जा रहा था, उसके पूर्व अमरीकी क्षेत्र के 13 उपनिवेश पृथक्-पृथक् रहते हुए अपना राजनीतिक जीवन व्यतीत कर रहे थे। लम्बे समय से अलग रहने के कारण उनमें अपनी पृथक् सत्ता के प्रति स्वाभाविक रूप से तीव्र मोह उत्पन्न हो गया था और वे इसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे, लेकिन इसके साथ ही ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने वाले इन 13 राज्यों को इस बात का पूरा भय था कि ब्रिटेन या यूरोप का अन्य कोई देश उन्हें पुनः पराधीन करने के लिए प्रयत्न कर सकता है। अतः बाहरी दबाव का सफलतापूर्वक मुकाबला करने के लिए उनका एक होना आवश्यक था। उनके सामने समस्या यह थी कि विविध राज्य अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता बनाये रखते हुए भी एक हो जायें और ऐसा केवल संघीय व्यवस्था को अपनाकर ही किया जा सकता था बर्न्स और पेल्टासन के शब्दों में, “सन् 1787 में अमरीका के समक्ष संघीय व्यवस्था को अपनाने के अतिरिक्त दूसरा कोई व्यावहारिक विकल्प नहीं था”¹

तत्कालीन परिस्थितियों के अतिरिक्त अमरीका के विशाल क्षेत्रफल और जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए भी कहा जा सकता है कि इतने बड़े देश में एकात्मक शासन नहीं चल सकता। संघीय व्यवस्था ही उसके लिए स्वाभाविक और उपयुक्त हो सकती है। जेम्स ब्राडिस के शब्दों में, “अत्यन्त प्राचीन काल से अमरीका के सब लोग इस बात पर एकमत हैं कि उनके देश में शासन का केवल संघीय रूप ही सम्भव है। यह सब समझते हैं कि इतने बड़े भूखण्ड के लिए केन्द्रीकृत (एकात्मक) व्यवस्था यदि असम्भव नहीं, तो अव्यावहारिक अवश्य ही होगी।”

संविधान द्वारा स्थापित संघात्मक व्यवस्था ने न केवल तत्कालीन समस्याओं को हल किया, वरन् आगे भी अमरीका को प्रगति के मार्ग पर बढ़ाकर अपने आपको सफल और उपयोगी सिद्ध किया। अमरीकी संघ की सफलता का प्रमाण यह है कि अमरीकी संघ में आज 13 के स्थान पर 50 इकाइयाँ हो गयी हैं और विश्व के अन्य अनेक राज्यों (कनाडा, स्विट्जरलैण्ड, मैक्सिको, आस्ट्रेलिया, भारत, आदि) के द्वारा संघात्मक व्यवस्था को ग्रहण किया गया है।

अमरीकी व्यवस्था में संघीय तत्व

(FEDERAL ELEMENTS IN AMERICAN SYSTEM)

अमरीकी संविधान में कहीं पर भी ‘संघीय’ (Federal) या ‘संघ’ (Federation) शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है, लेकिन अमरीकी संविधान में संघीय शासन के तत्व नितान्त स्पष्ट हैं और उन्हें निम्न रूपों में देखा जा सकता है :

(1) प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग (Dual Application of the Governmental Power)—यद्यपि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता और संघ राज्य में भी सम्प्रभुता अविभाज्य होती है, किन्तु संघ राज्य में सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति अवश्य ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारें (राज्य सरकारें) इस प्रकार के दो साधनों द्वारा होती हैं। अमरीकी

1 Burns and Peltason, *Government of the People*, p. 83.

संविधान के अन्तर्गत प्रभुत्व शक्ति के दोहरे प्रयोग की ही व्यवस्था की गयी है। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों, दोनों को ही संविधान से मान्यता प्राप्त है और ये अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हैं। संघीय शासन के इस तत्व को अमरीकी संविधान के अन्तर्गत विस्तृत और पूर्ण रूप में अपनाया गया है।

(2) शक्तियों का विभाजन (Division of Powers)—शक्तियों का विभाजन संघीय व्यवस्था का निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। संघीय शासन के अन्तर्गत संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है।

अमरीकी संविधान के अनुच्छेद 1 की आठवीं और दसवीं उपधाराओं में केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों में शक्तियों का बंटवारा किया गया है। शक्ति विभाजन के सम्बन्ध में अमरीकी संविधान के अन्तर्गत 'गणना व अवशेष के सिद्धान्त' (Principle of Enumeration and Residuum) को अपनाया गया जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारें इन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष की शक्तियों की गणना करके उन्हें निश्चित कर दिया जाता है और अवशेष सभी शक्तियां दूसरे पक्ष को दे दी जाती हैं। संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की शक्तियों की गणना की गयी है और अवशेष सभी शक्तियां राज्य को प्रदान कर दी गयी हैं। इस सम्बन्ध में स्थिति स्पष्ट करते हुए संविधान के दसवें संशोधन में कहा गया है कि "वे शक्तियां जो कि संविधान द्वारा संयुक्त राज्य की सरकार को नहीं दी गयी हैं और न ही राज्यों को मना की गयी हैं, वे राज्यों के लिए या जनता के लिए सुरक्षित हैं।" शक्ति विभाजन में अपनाये गये इस ढंग के आधार पर कहा जाता है कि केन्द्रीय सरकार की शक्तियां प्रदत्त हैं और राज्यों व जनता की शक्तियां मौलिक, लेकिन संविधान का आगे चलकर जिस दिशा में विकास हुआ, उसमें मौलिक और प्रदत्त शक्तियों के इस अन्तर का कोई महत्व नहीं रहा है।

केन्द्रीय सरकार की शक्तियां

(POWERS OF THE CENTRAL GOVERNMENT)

प्रथम अनुच्छेद की आठवीं उपधारा में कांग्रेस अर्थात् केन्द्रीय सरकार को निम्न विषयों के सम्बन्ध में शक्तियां प्रदान की गयी हैं :

- (1) कर लगाने तथा एकत्रित करने का अधिकार।
- (2) संयुक्त राज्य अमरीका का विदेशों में, राज्यों के परस्पर और भारतीय कबीलों से व्यापार का नियमन करना।
- (3) संयुक्त राज्य अमरीका की साख पर ऋण लेना।
- (4) संयुक्त राज्य अमरीका में विदेशियों द्वारा नागरिकता प्राप्ति और दिवालियेपन के सम्बन्ध में एक जैसे नियमों का निर्माण करना।
- (5) मुद्रा का निर्माण तथा उसका मूल्य निर्धारित करना व माप तौल का स्तर निर्धारित करना।
- (6) नकली मुद्रा बनाने तथा नोट छापने के लिए दण्ड विधान की व्यवस्था करना।
- (7) डाक और तार इत्यादि का प्रबन्ध करना।
- (8) विज्ञापन तथा उपयोगी कलाओं को उन्नत करना और इस हेतु सीमित समय के लिए लेखकों तथा आविष्कारों को अपनी कृतियों तथा आविष्कारों का एकमात्र अधिकार देना।

(9) सर्वोच्च न्यायालय के अधीन अन्य न्यायालयों का गठन करना।

(10) समुद्री डाकुओं और लुटेरों के विरुद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने के लिए कानून की व्यवस्था करना।

(11) युद्ध की घोषणा करना।

(12) सेना की स्थापना तथा व्यवस्था करना।

(13) जल सेना की स्थापना तथा व्यवस्था करना।

(14) स्थलीय तथा जल सेना के नियमन के लिए नियम बनाना।

(15) संयुक्त राज्य अमरीका के कानूनों को लागू करने, विद्रोहियों को दबाने तथा आक्रमण का प्रतिकार करने के लिए 'मिलिशिया' (Militia) का संगठन करना उसके संगठन, शस्त्रीकरण तथा अनुशासन के लिए नियम बनाना।

(16) संघीय जिले का निर्माण करना और सार्वजनिक हित के अन्य आवश्यक कार्यों हेतु भवनों का निर्माण करने के लिए भूमि प्राप्त करना। केन्द्रीय सरकार ने इस शक्ति के आधार पर कोलम्बिया जिले का निर्माण किया और उसे 'वाशिंगटन' का नाम देकर अमरीका की राजधानी बनाया गया है।

(17) उपर्युक्त शक्तियों की क्रियान्विति हेतु सभी आवश्यक और उचित कानूनों का निर्माण करना अथवा संविधान द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार अथवा उसके किसी विभाग या अधिकारों को दी हुई शक्तियों को लागू करने के लिए कोई कानून बनाना।

आठवीं उपधारा के अन्तिम शब्दों में केवल कांग्रेस को उपर्युक्त शक्तियों की क्रियान्विति हेतु 'आवश्यक और उचित' कानूनों का निर्माण करने की जो शक्ति प्रदान की गयी, उसकी व्याख्या करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने निहित शक्तियों के सिद्धान्त को जन्म दिया और आज केन्द्रीय सरकार को संविधान में वर्णित उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों में भी निहित शक्तियां प्राप्त हैं। ये विषय इस प्रकार हैं—बैंक व अन्य कॉरपोरेशन स्थापित करना, सड़कें, स्कूल, स्वास्थ्य, बीमा, आदि पर खर्च करना, सैनिक व अन्य शिक्षणशालाएं खोलना, विद्युत उत्पादन करना, कृषि का संचालन करना व उसे सहायता देना।

राज्यों की शक्तियां (Powers of the States)—संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में केवल केन्द्रीय सरकार की शक्तियों का उल्लेख किया गया है और शेष सभी शक्तियां, जो संविधान द्वारा राज्यों के लिए निषिद्ध नहीं हैं, राज्यों को प्रदान की गयी हैं। अमरीकी संविधान के प्रसिद्ध लेखक मुनरो ने राज्य की कुछ शक्तियों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—स्थानीय कर लगाना, स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं स्थापित करना, राज्य की साख पर ऋण लेना, शिक्षा का संचालन करना, अनुदान तथा दान देना, सड़कें और यातायात नियमों की स्थापना तथा नियन्त्रण, दीवानी तथा फौजदारी कानूनों का निर्माण, लोगों की सम्पत्ति तथा जीवन की सुरक्षा, लोगों के स्वास्थ्य तथा नैतिक जीवन को उन्नत करना, संघीय संविधान के संशोधन का अनुसमर्थन करना, राज्यों के संविधान में संशोधन करना और चुनावों का संचालन करना।

संघ और राज्य सरकार की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन निम्न तालिका के आधार पर किया जा सकता है।¹

	संघीय शक्तियाँ	राज्यों की शक्तियाँ
1.	संघीय कार्यों के लिए करारोपण।	स्थानीय कार्यों के लिए करारोपण।
2.	राष्ट्रीय साख पर ऋण प्राप्ति।	राज्यों की साख पर ऋण प्राप्ति।
3.	वैदेशिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियमन।	राज्यों के आन्तरिक क्षेत्र में व्यापार का नियमन।
4.	मुद्रा और सिक्के।	दीवानी और फौजदारी कानून।
5.	वैदेशिक सम्बन्ध और सन्धियाँ।	पुलिस शक्तियाँ।
6.	सेना, नौ सेना।	शिक्षा।
7.	डाक सेवा।	स्थानीय स्वशासन पर नियन्त्रण।
8.	पेटेण्ट और स्वत्वाधिकार (Copyright)।	परोपकार और सुधार।
9.	नाप-तौल का नियमन	राजमार्ग और यातायात।
10.	नवीन राज्यों का प्रदेश	निगमों का संगठन और नियन्त्रण।

अमरीकी संविधान द्वारा किये गये शक्ति विभाजन की एक विशेषता यह है कि एक तो संविधान में उन विषयों का उल्लेख किया गया है, जिनके सम्बन्ध में क्रमशः केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों द्वारा कार्य किया जायेगा तथा दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के लिए निषिद्ध शक्तियों का उल्लेख किया गया है।

केन्द्रीय सरकार के लिए निषिद्ध शक्तियाँ (Powers forbidden to the Central Government)—प्रथम अनुच्छेद की नवीं उपधारा में केन्द्रीय सरकार के लिए निषिद्ध शक्तियों का उल्लेख किया गया है अर्थात् केन्द्रीय सरकार इन विषयों के सम्बन्ध में कार्य नहीं कर सकती। ये विषय इस प्रकार हैं : केन्द्रीय सरकार बन्दी प्रत्यक्षीकरण के अधिकार पर रोक नहीं लगा सकती, नागरिकों को मताधिकार से वंचित नहीं कर सकती, भाषण की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती और सम्मानसूचक उपाधियों का वितरण नहीं कर सकती। केन्द्रीय सरकार किसी राज्य से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर कोई कर अथवा प्रशुल्क नहीं लगा सकती और राष्ट्रीय कोष में से कोई भी धन तब तक खर्च नहीं कर सकती, जब तक कि कानून द्वारा स्वीकृत न मिल जाय।

राज्य सरकारों के लिए निषिद्ध शक्तियाँ (Powers forbidden to the State Governments) प्रथम अनुच्छेद की दसवीं उपधारा में राज्य सरकारों के लिए निषिद्ध शक्तियों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं : राज्यों के द्वारा विदेशों के साथ सन्धि या समझौते नहीं किये जा सकते, शान्ति के समय ये सेना और युद्धपोत नहीं रख सकते और न वे तब तक युद्ध में ही प्रवेश कर सकते हैं, जब तक किसी राज्य द्वारा उन पर आक्रमण न किया जाय। कांग्रेस की सहमति के बिना राज्यों के द्वारा निर्यात तथा आयात कर नहीं लगाया जा सकता, राज्य अपने क्षेत्र में स्थित राष्ट्रीय सरकार की सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगा सकते, राज्य सरकारें नोट या मुद्रा नहीं चला सकतीं और अपने ऋण चुकाने के लिए सोने और चांदी की मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की मुद्रा का प्रयोग नहीं कर

1 Quoted from W. B. Munro's, *The Government of the United States*, p. 56.

सकतीं। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें दास प्रथा लागू नहीं रख सकतीं और जाति अथवा रंग भेद के आधार पर अपने नागरिकों को मताधिकार से वंचित नहीं कर सकतीं।

संविधान के द्वारा केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के लिए शक्तियों का जो निवेध किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि संविधान के द्वारा सम्प्रभुता केन्द्रीय सरकार या राज्य सरकारों को सौंपने के बजाय 'लोक प्रभुता' (Popular Sovereignty) के सिद्धान्त को अपनाया गया है। राज्य की अन्तिम सम्प्रभुता जनता में ही निहित है।

(3) संविधान की सर्वोच्चता (Supremacy of the Constitution)—संघ शासन समझौते द्वारा स्थापित शासन होता है। यह समझौता संविधान में निहित होता है और संघ राज्य का यह संविधान सर्वोच्च होता है। केन्द्रीय सरकार, इकाइयों की सरकारें तथा सरकार के विभिन्न अंग संविधान के प्रतिकूल किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते।

संयुक्त राज्य अमरीका में 'संविधान की सर्वोच्चता' के सिद्धान्त को अपनाया गया है। फिलाडेल्फिया सम्मेलन द्वारा निर्मित प्रलेख उसमें किये गये संशोधनों सहित संयुक्त राज्य अमरीका का सर्वोच्च कानून है और राष्ट्रपति, कांग्रेस, सर्वोच्च न्यायालय तथा संघ की इकाइयां सब इसके अधीन हैं और किसी के भी द्वारा इसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। अमरीकी संविधान के अनुच्छेद 6 में कहा गया है, "यह संविधान और इसके अनुसार बनाये गये सभी कानून तथा संयुक्त राज्य अमरीका के प्राधिकार के अधीन की गयी अथवा भविष्य में की जाने वाली सभी सन्धियां, देश का सर्वोच्च कानून होगा और प्रत्येक राज्य के न्यायाधीश उससे बाध्य होंगे। किसी भी राज्य के संविधान अथवा कानून की कोई भी बात, जो इस संविधान के विरुद्ध होगी, अवैध समझी जायेगी।"

(4) न्यायपालिका की सर्वोच्चता (Supremacy of the Judiciary)—सभी संघात्मक राज्यों के अन्तर्गत एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की जाती है, जिसका कार्य संविधान की व्याख्या एवं रक्षा करना होता है। सर्वोच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार या सरकार के किसी अंग द्वारा संविधान के प्रतिकूल किये गये कार्यों को अवैधानिक घोषित कर सकता है और यही न्यायिक सर्वोच्चता है। चार्ल्स बियर्ड तो न्यायिक सर्वोच्चता को ही संघात्मक शासन प्रणाली की सर्वप्रमुख विशेषता मानते हैं।

अमरीका में न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त को भी अपनाया गया है और सर्वोच्च न्यायालय संविधान का उल्लंघन करने वाले कांग्रेस के कानूनों, राष्ट्रपति की आज्ञाओं अथवा राज्य सरकारों के कानूनों और कार्यों को अवैध घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय अपनी इस शक्ति के माध्यम से केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों को अपने-अपने क्षेत्रों तक सीमित रखता है और इनमें से किसी भी पक्ष के द्वारा संविधान का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। 1803 में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने 'मारबरी बनाम मेडीसन' नामक विवाद में न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट कहा था कि सब प्रकार के कानूनों की संवैधानिकता की जांच करने का एकमात्र अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है।

(5) दोहरी नागरिकता (Dual Citizenship)—दोहरी नागरिकता को भी सामान्यतया संघ राज्य का एक तत्व समझा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति केन्द्रीय सरकार का तथा उस राज्य सरकार का नागरिक होगा, जिसमें वह रहता है।

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में दोहरी नागरिकता को अपनाया गया है। वहां प्रत्येक व्यक्ति को दो नागरिकताएं प्राप्त होती हैं। प्रथम, संयुक्त राज्य अमरीका की नागरिकता

और द्वितीय, उस राज्य की नागरिकता, जिसमें वह निवास करता है। उदाहरण के लिए, न्यूयार्क राज्य में रहने वाला नागरिक न्यूयार्क का नागरिक और इसके साथ ही संयुक्त राज्य अमरीका का भी नागरिक होता है। सर्वोच्च न्यायालय ने ड्रेड स्टॉक नामक विवाद में प्रत्येक नागरिक की दोहरी नागरिकता को स्वीकार किया है।

(6) संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व (Equal Representation of the Units in Second Chamber of the Federal Legislature)—संघ राज्य के उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त अन्य कुछ गौण लक्षण भी माने जाते हैं। संघीय व्यवस्था के इन गौण लक्षणों में एक यह है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में प्रतिनिधित्व संघीय आधार पर प्रदान किया जाना चाहिए, जनसंख्या के आधार पर नहीं। संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा ही किया गया है। कांग्रेस के प्रथम सदन (प्रतिनिधि सभा) में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर प्रदान किया गया और इस सदन में बड़े राज्यों को अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है और छोटे राज्यों को कम, लेकिन द्वितीय सदन (सीनेट) में छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। इसमें प्रत्येक इकाई के द्वारा अपने दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। संविधान में यह भी व्यवस्था की गयी है कि सम्बन्धित राज्य की अनुमति के बिना किसी राज्य को उसे सीनेट में प्राप्त प्रतिनिधित्व से वंचित नहीं किया जा सकता है।

(7) राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता अनुल्लंघनीय (Inviolability of the Territorial Integrity of States)—संघ राज्य का एक सिद्धान्त यह माना जाता है कि संघ को इकाइयों के क्षेत्र में परिवर्तन का अधिकार नहीं होना चाहिए। संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में ऐसा ही किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 4 की उपधारा 3 में स्पष्ट किया गया है कि कांग्रेस नवीन राज्यों को संघ में प्रवेश दे सकेगी, परन्तु कोई नया राज्य दूसरे राज्य के क्षेत्राधिकार में स्थापित नहीं किया जायेगा और न ही दो या अधिक राज्यों या उनके भागों को मिलाकर उन राज्यों के विधानमण्डल तथा कांग्रेस की सहमति के बिना किसी नवीन राज्य का निर्माण किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य की सीमाओं में उनकी सहमति से ही परिवर्तन किया जा सकता है।

इन सबके अतिरिक्त अमरीकी संघ की इकाइयों को संविधान संशोधन सम्बन्धी कार्य के विषय में पूरी-पूरी शक्ति प्राप्त है। संविधान में संशोधन की प्रक्रिया के दो चरण हैं। संशोधन की प्रस्तावना और संशोधन की पुष्टि। संशोधन की पुष्टि का कार्य तो इकाइयों द्वारा ही किया जाता है, इकाइयों को संशोधन प्रस्तावित करने के सम्बन्ध में भी शक्ति प्राप्त है।

अमरीका में संघीय संविधान से अलग राज्यों के अपने अलग-अलग संविधान हैं। राज्यों के संविधान पर शर्त केवल यह है कि वह संविधान संघीय संविधान के विरुद्ध नहीं होना चाहिए और उसमें गणतन्त्रीय शासन प्रणाली के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की शासन प्रणाली नहीं अपनायी जानी चाहिए। अमरीका में राज्यों के गवर्नरों की नियुक्ति भारत के समान राष्ट्रपति द्वारा नहीं की जाती है, वरन् वे सम्बन्धित राज्य के नागरिकों द्वारा चुने जाते हैं, राज्य के इन गवर्नरों को राष्ट्रपति पदच्युत भी नहीं कर सकते, सम्बन्धित राज्य का विधानमण्डल ही उन्हें महाभियोग के आधार पर पदच्युत कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि अमरीकी संविधान के द्वारा न केवल एक 'संघ राज्य' वरन् द्वीयर के शब्दों में एक 'आदर्श संघ' की स्थापना की गयी है।

स्ट्रांग के द्वारा भी संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान को विश्व का सर्वाधिक पूर्ण संघात्मक विधान कहा गया है।

निहित शक्तियों का सिद्धान्त (DOCTRINE OF IMPLIED POWERS)

अमरीकी संविधान संक्षिप्तता का एक उदाहरण है और संविधान के अन्तर्गत संघीय शक्तियों की जो सूची है, वह बहुत अधिक संक्षिप्त और सामान्य है। उसमें ऐसी शक्तियों का उल्लेख भी नहीं किया गया है, जिनका प्रयोग किये बिना न तो संघ अपने उत्तरदायित्व पूरे कर सकता और न ही संघीय व्यवस्था को बनाये रख सकता है। ऐसी स्थिति में संघीय शासन द्वारा इस धारणा को अपनाया गया है कि संविधान द्वारा सौंपी गयी शक्तियों और उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए जिन किन्हीं शक्तियों का प्रयोग किया जाना आवश्यक हो, संघीय शासन द्वारा उन शक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। संघीय शासन द्वारा उन शक्तियों को इस आधार पर अपने हाथ में ले लिया जा सकता है कि ये शक्तियाँ संविधान में दी गयी मूल शक्तियों की क्रियान्विति हेतु आवश्यक हैं और इस दृष्टि से संविधान में निहित हैं। इसी आधार पर 'निहित शक्तियों के सिद्धान्त' का उदय हुआ।

सिद्धान्त का संवैधानिक आधार (CONSTITUTIONAL BASIS OF THE THEORY)

निहित शक्तियों के सिद्धान्त का उदय किसी कानून के अन्तर्गत नहीं, वरन् एक ऐसी परम्परा के रूप में हुआ है, जिसे बाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार मान्यता प्रदान की गयी और जो अमरीका की संवैधानिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार बन गया है। सिद्धान्त के इस परम्पराजनित उदय के कारण संविधान की संकुचित रूप में व्याख्या करने वाले पक्ष के द्वारा निरन्तर यह बात कही जाती रही है कि निहित शक्तियों के सिद्धान्त का कोई संवैधानिक आधार नहीं है, लेकिन वास्तव में ऐसी धारणा को अपनाना उचित नहीं है। इस सिद्धान्त का उदय परम्पराजनित होते हुए भी इसका संवैधानिक आधार है और यह आधार अनुच्छेद 1 की उपधारा 8 में देखा जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि "उपर्युक्त शक्तियों की क्रियान्विति हेतु सभी आवश्यक और उचित कानूनों का निर्माण करने की शक्ति कांग्रेस को प्राप्त होगी।" निहित शक्तियों के सिद्धान्त का उदय इसी आधार पर हुआ है। जॉनसन ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "निहित शक्तियाँ वे हैं, जो संविधान के ढांचे के परिणामस्वरूप विकसित हुई हैं।"

सिद्धान्त का उदय और इतिहास (ORIGIN AND HISTORY OF THE THEORY)

अमरीकी संविधान-निर्मात्री सभा, फिलडेल्फिया सम्मेलन में दो पक्ष थे : प्रथम, संघवादी (Federalists) और द्वितीय, संघवाद के विरोधी (Anti-federalists)। संघवादी संविधान की उदार व्याख्या करते हुए केन्द्रीय सरकार को अधिक शक्तियाँ सौंपने के पक्ष में थे, संघवाद के विरोधी संविधान का अक्षरशः पालन करते हुए केन्द्रीय सरकार का कार्यक्षेत्र सीमित रखने के पक्ष में थे। प्रथम पक्ष का प्रतिनिधित्व हेमिल्टन और मेडीसन द्वारा किया जा रहा था और

1 "The constitution of the United States is the most completely federal constitution in the world."
—C.F. Strong, *Modern Political Constitution*, p. 143.

द्वितीय पक्ष का प्रतिनिधित्व जेफरसन द्वारा। संविधान को कार्य रूप में अपनाने के बाद जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में जिस पहली सरकार का गठन हुआ, उसमें भी इन दोनों पक्षों का यही पारस्परिक विरोध देखा गया। 1890 में ही हेमिल्टन ने 'संयुक्त राज्य के एक बैंक' की स्थापना का प्रस्ताव किया। जेफरसन ने इसका विरोध करते हुए कहा कि ऐसा करना संविधान के प्रतिकूल होगा, क्योंकि संविधान ने राष्ट्रीय सरकार को ऐसी कोई शक्ति प्रदान नहीं की है। जेफरसन के आरोप का उत्तर देते हुए हेमिल्टन ने कहा था कि यद्यपि एक केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का अधिकार संविधान ने राष्ट्रीय सरकार को स्पष्ट रूप से नहीं दिया है, लेकिन संविधान ने राष्ट्रीय सरकार को विदेशों के साथ व परस्पर राज्यों के व्यापार का प्रबन्ध करने की शक्ति दी है और संविधान में यह भी कहा गया है कि संघ सरकार को उन समस्त कानूनों के निर्माण का अधिकार होगा, जो अनुच्छेद 1 की उपधारा 8 में दिये गये कार्यों को करने के लिए आवश्यक तथा उचित हों। राष्ट्रीय सरकार द्वारा व्यापार का प्रबन्ध करने की शक्ति का प्रयोग किया जा सके, इसके लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना नितान्त आवश्यक है। अन्त में, हेमिल्टन का विचार मान्य हुआ और एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना हुई।

बैंक की स्थापना की शक्ति से सम्बन्धित निर्णय विषय विशेष से सम्बन्धित निर्णय था और इसने किसी नीति या सिद्धान्त को जन्म नहीं दिया। अतः अब भी इस बात पर विवाद किया जाता रहा है कि निहित शक्ति की बात सिद्धान्त रूप में मान्य है अथवा नहीं। अन्त में 1819 में 'मैक्कलोच बनाम मैरीलैण्ड' के विवाद में मुख्य न्यायाधीश मार्शल के द्वारा जो निर्णय दिया गया, उससे निहित शक्तियों के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हुई। उन्होंने अपने इस ऐतिहासिक निर्णय में कहा कि "सरकार की शक्तियाँ सीमित हैं और उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। पर हमारा विचार है कि संविधान के स्वरूप एवं ढांचे में राष्ट्रीय व्यवस्थापिका को उन साधनों के विषय में विवेक से काम लेने की अनुमति अवश्य होनी चाहिए, जिसके द्वारा उन शक्तियों को क्रियान्वित किया जाना है जो संविधान ने राष्ट्रीय व्यवस्थापिका को प्रदान की हैं, जिससे यह संस्था अपने लिए निर्धारित महान् कर्तव्यों को ऐसे ढंग से पूरा कर सके, जो जनसाधारण के लिए सबसे अधिक लाभकारी हो।" उन्होंने आगे कहा है कि "यदि उद्देश्य उचित है और वह संविधान की सीमाओं के अनुकूल है, तो वे सभी साधन, जो कि स्पष्ट रूप से उद्देश्य के अनुकूल हैं, जिनका कि संविधान में निषेध नहीं किया है तथा जो संविधान के शब्द और भाव के अनुकूल हैं संवैधानिक हैं।"

इस प्रकार निहित शक्तियों का तात्पर्य उन शक्तियों से है जो संविधान द्वारा प्रदत्त मूल शक्तियों को पूरा किया जाने के लिए आवश्यक हैं। इस दृष्टि से निहित शक्तियाँ मौलिक शक्तियों का ही अंग हैं और मौलिक शक्तियाँ यदि साध्य हैं तो निहित शक्तियों को इन्हें पूरा करने का साधन माना जा सकता है। किसी भी शक्ति को निहित शक्ति तभी माना जा सकता है, जबकि उसका प्रयोग मूल शक्ति को कार्य रूप में परिणत करने के लिए आवश्यक हो। कोई कार्य निहित शक्तियों के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं, इसका निर्णय कांग्रेस अथवा राष्ट्रपति द्वारा नहीं, वरन् न्यायपालिका के द्वारा किया जायेगा। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि निहित शक्तियों का सिद्धान्त राष्ट्रीय सरकार के सम्बन्ध में ही है, राज्य

सरकार के सम्बन्ध में नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में प्रतिपादन किया है कि “यह शक्ति राज्यों के साथ बंटी हुई नहीं है, वरन् यह केवल राष्ट्रीय सरकार में निहित है।”¹

निहित शक्तियों के सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझने के लिए निहित शक्तियों के कुछ उदाहरणों का अध्ययन किया जा सकता है, जो निम्न प्रकार हैं :

(1) संविधान ने कांग्रेस को विदेशों के साथ व परस्पर राज्यों के व्यापार प्रबन्ध करने की शक्ति दी है। व्यापार के प्रबन्ध हेतु बैंकिंग प्रणाली, यातायात और संचार के साधनों पर नियन्त्रण आवश्यक होता है अतः कांग्रेस ने रेल व सड़क यातायात, टेलीग्राफ व टेलीफोन की कम्पनियों, वायुयान, भापयान, बैंक प्रणाली, विनिमय केन्द्र व रेडियो के सम्बन्ध में शक्ति प्राप्त कर ली है।

(2) संविधान ने कांग्रेस को सेना तथा जल सेना की स्थापना की शक्ति प्रदान की है, इसके अन्तर्गत सैनिक तथा सेना अकादमियों की स्थापना की शक्ति निहित मान ली गयी है।

(3) संविधान के अनुसार सामान्य कल्याण की साधना का दायित्व कांग्रेस का है और कांग्रेस ने अपनी इस शक्ति के अन्तर्गत रोजगार, वृद्धावस्था-पेंशन की व्यवस्था और अन्य अनेक कार्य अपने हाथ में ले लिये हैं।

(4) संविधान के अनुसार कांग्रेस को संयुक्त राज्य अमरीका की साख पर ऋण लेने का अधिकार प्राप्त है, कांग्रेस ने अपने इस अधिकार के अन्तर्गत संघीय बैंक व सहयोगी ऋण समितियों की स्थापना और राष्ट्र के ऋणों की देखभाल करने की शक्ति अपने हाथ में ले ली है।

(5) निहित शक्तियों के सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में हुआ। संविधान के द्वारा कांग्रेस को युद्ध की घोषणा की शक्ति प्रदान की गयी है और कांग्रेस ने इसके आधार पर सन्धियों, समझौतों व कूटनीतिक नियुक्तियों से सम्बन्धित समस्त शक्तियां प्राप्त कर ली हैं।

निहित शक्तियों पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Implied Powers)—निहित शक्तियों के सम्बन्ध ने केन्द्रीय सरकार की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि की है, लेकिन यह नहीं समझा जाना चाहिए कि कांग्रेस या केन्द्रीय सरकार इस सिद्धान्त के आधार पर मनमानी शक्तियों का प्रयोग कर सकती हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर केन्द्रीय सरकार केवल उन्हीं शक्तियों का प्रयोग कर सकती है जो संविधान द्वारा केन्द्रीय शासन को प्रदत्त शक्तियों से सम्बद्ध और उन पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं शक्तियों का प्रयोग उनके द्वारा नहीं किया जा सकता है।

केन्द्रीय शासन द्वारा इस सिद्धान्त का दुरुपयोग किये जाने के विरुद्ध एक प्रभावशाली प्रतिबन्ध न्यायपालिका की शक्ति का है। कोई शक्ति निहित शक्ति है अथवा नहीं, इसका अन्तिम निर्णय कांग्रेस या राष्ट्रपति के द्वारा नहीं, वरन् सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा किया जाता है। जब कभी केन्द्रीय सरकार ने मनमानी शक्तियों की मांग की, तो सर्वोच्च न्यायालय ने उसे अस्वीकार कर दिया। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट के द्वारा जब इस मत

1 “This power is not shared by the states, it is vested in the national government exclusively.”
—*Supreme Court in United States Vs. Pink.*

का प्रतिपादन किया गया कि समस्त राष्ट्र से सम्बद्ध सभी विषय संघीय शासन के अन्तर्गत हैं, चाहे संविधान के द्वारा उन्हें संघीय नियन्त्रण में न दिया गया हो, तो सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा केन्सास बनाम कोलाराडो (Kansas vs. Colorado) के विवाद में इसे अस्वीकार कर दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय ने घोषित किया कि संविधान-निर्माताओं की यह इच्छा कदापि नहीं थी। इस सम्बन्ध में मुनरो ने कहा है कि “अपनी निहित शक्तियों की निर्णायक कांग्रेस नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ऐसे विषयों का अन्तिम निर्णायक है। अनेक अवसरों पर निहित शक्ति सम्बन्धी कांग्रेस के दावे को उसने अस्वीकार भी कर दिया है।”¹

वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार राजनीतिज्ञों में हेमिल्टन और जैफरसन के द्वारा दो परस्पर नितान्त विरोधी दृष्टिकोणों का प्रतिपादन किया गया, उसी प्रकार न्यायाधीशों में भी विचार और दृष्टिकोण का भेद रहता है। मार्शल जैसे मुख्य न्यायाधीश के द्वारा जहां संविधान की व्यापक रूप से व्याख्या की गयी, वहां दोनी जैसे न्यायाधीश ने संविधान की अक्षरशः व्याख्या करने के जैफरसन के दृष्टिकोण को अपनाया और निहित शक्ति सम्बन्धी कांग्रेस के दावों को अस्वीकार कर दिया। यह तथ्य है कि न्यायपालिका निहित शक्तियों के सिद्धान्त पर एक प्रभावशाली प्रतिबन्ध है और कांग्रेस या राष्ट्रपति इस सिद्धान्त के आधार पर मनमानी नहीं कर सकते।

सिद्धान्त का प्रभाव (Impact of the Theory)—निहित शक्तियों के सिद्धान्त ने अमरीकी संवैधानिक व्यवस्था को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है और इससे अमरीकी संविधान और शासन व्यवस्था को महत्वपूर्ण दिशा प्राप्त हुई है। सर्वप्रथम, इसने अमरीकी संविधान को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप विकसित होने में सहायता प्रदान की है। आज से लगभग 216 वर्ष पूर्व निर्मित संविधान में अब तक केवल 27 संशोधन हुए हैं और इतने कम संशोधनों से, घोड़े-बगियों के समय में निर्मित संविधान, आज के रॉकेट के युग में भी भली-भांति कार्य कर रहा है, इसका बहुत कुछ श्रेय निहित शक्तियों के सिद्धान्त को जाता है।

द्वितीय, इस सिद्धान्त ने केन्द्रीय सरकार को उन उत्तरदायित्वों को पूरा करने की क्षमता प्रदान की है, जो संविधान ने उसे सौंपे थे। केन्द्रीय सरकार ने इस सिद्धान्त के आधार पर उन शक्तियों को प्राप्त कर लिया जो उनके मूल कर्तव्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक थीं। इस सिद्धान्त के अभाव में अमरीकी संघीय व्यवस्था के संचालन में निश्चित रूप से बाधा पहुंचती है।

तृतीय, इस सिद्धान्त ने संघीय केन्द्रीकरण को जन्म दिया है। संविधान-निर्माता इकाइयों की सत्ता के प्रति अधिक जागरूक थे और इसी कारण उनके द्वारा अवशेष शक्तियां इकाइयों को प्रदान की गयी थीं, लेकिन आज केन्द्र इकाइयों की तुलना में अधिक शक्तिशाली हो गया है और जिन कारणों से ऐसा हुआ है, उनमें निहित शक्तियों का सिद्धान्त एक प्रमुख तत्व है।

1 “The Congress is not the judge of its own implied power. The Supreme Court is the final arbiter in such matters and on several occasions it has denied congressional claims to implied authority.”

—W. B. Munro.

चतुर्थ, इस सिद्धान्त ने न्यायपालिका की स्थिति को और अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है, क्योंकि कोई कार्य निहित शक्तियों के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं, इसका अन्तिम निर्णय सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जाता है।

निहित शक्तियों के सिद्धान्त ने अमरीकी संविधान के विकास में निश्चित रूप से उपयोगी भूमिका अदा की है। इसकी उपयोगिता का प्रमाण यह है कि इस मान्यता के सबसे प्रबल विरोधी जैफरसन 1801 में जब राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, तो उन्होंने 1801 से 1809 के अपने राष्ट्रपति काल में कुछ ऐसे कार्य किये जो निहित शक्तियों पर आधारित कहे जा सकते हैं। 1803 में लुईसियाया को अपने अधीन करने और 1807 में विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने के जो कार्य उन्होंने किये, वे निहित शक्तियों की मान्यता के ही अनुरूप थे।

संघीय केन्द्रीकरण

(FEDERAL CENTRALISATION)

अमरीकी संघ का निर्माण करते समय अमरीकी संघ की इकाइयों को अपने राज्यों की सत्ता के प्रति बहुत अधिक मोह था। इस कारण उनके द्वारा एक ऐसे संघ का निर्माण किया गया, जिसमें केन्द्रीय सरकार को सीमित शक्तियाँ ही प्रदान की गयी थीं और इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि केन्द्र अधिक शक्तिशाली होकर राज्यों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित न कर ले, लेकिन अनेक बार संविधानों का विकास संविधान निर्माताओं द्वारा सोची गयी दिशा में ही नहीं होता। अमरीकी संविधान के अन्तर्गत भी संघीय व्यवस्था के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ है। संविधान को कार्य रूप प्रदान करने के थोड़े समय बाद से ही संयुक्त राज्य अमरीका की आन्तरिक स्थिति और विदेशों के साथ उसके सम्बन्धों की स्थिति में इस प्रकार परिवर्तन हुआ कि केन्द्र की स्थिति अधिकाधिक प्रभावशाली होती गयी और इकाइयों का महत्व कम होता गया। अमरीकी संविधान और राज्य में क्रियाशील इसी प्रवृत्ति को 'संघीय केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति' कहा जा सकता है। डिमॉक और डिमॉक के शब्दों में, "केन्द्रीकरण का तात्पर्य शिखर पर सत्ता केन्द्रित होने की प्रवृत्ति के साथ निम्न सत्ता से उच्च सत्ता को शक्ति का हस्तान्तरण है।"¹

संघीय केन्द्रीकरण के उत्तरदायी तत्व

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संघीय केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति के कारण क्या है? संघीय केन्द्रीकरण के लिए उत्तरदायी तत्वों की विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती है :

(1) भौतिक, आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन (Materialistic, Economic and Social Changes)—संघीय केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का सम्भवतया सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण भौतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। संविधान लागू किये जाने के समय से लेकर आज तक के लगभग 216 वर्षों में अमरीकी राष्ट्र की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनों ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को स्वाभाविक रूप से प्रभावित किया है।

1 "Centralisation is the shifting of governing authority from lower or member unit to higher units, with a tendency for power at the top."

—Dimock and Dimock, *American Government in Action*, p. 134.

1789 में अमरीका, जो कि एक छोटा, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति उदासीन और सीधी-सादी कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाला राज्य था, उसने विकसित होकर अत्यधिक औद्योगिक और आज सम्भवतया विश्व के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य का रूप ग्रहण कर लिया है। अमरीकी क्षेत्र के विस्तार, जनसंख्या की वृद्धि, आर्थिक और सामाजिक संगठन की बढ़ती हुई जटिलता, आदि तत्वों ने राष्ट्रीय सरकार के पक्ष में शक्ति सन्तुलन स्थापित कर दिया है। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप संविधान लागू किये जाने के समय जो तत्व स्थानीय प्रकृति के थे, वे अपने क्षेत्र और महत्व की दृष्टि से राष्ट्रीय प्रकृति के बन गये हैं। यातायात, संचार के साधनों और व्यापार के व्यापक विकास, महान् यान्त्रिक प्रगति और अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के उदय ने ऐसी समस्याओं को जन्म दिया, जिन्हें नियमित और नियन्त्रित करने का राज्यों द्वारा प्रयत्न किया गया, लेकिन वे असफल रहे। नागरिकों के द्वारा अब ऐसी सेवाओं की मांग की जाने लगी, जिन्हें प्रदान करने में राज्य न तो समर्थ थे और न ही इच्छुक। क्रम-क्रम से राष्ट्रीय सरकार के द्वारा उन कार्यों को अपने हाथ में ले लिया गया, जिन्हें राज्य नहीं कर सकते थे और न ही कर पाये। इस प्रकार सत्ता का केन्द्रीकरण होता गया।

(2) गृहयुद्ध (Civil War)—1861 से 1865 तक अमरीका में जो गृहयुद्ध चला, उसने राष्ट्र-राज्य सम्बन्धों का निर्णय राष्ट्रीय सरकार के पक्ष में किया। गृहयुद्ध को अमरीका के संवैधानिक इतिहास में इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना कहा जा सकता है कि इसने सदैव के लिए यह बात स्पष्ट कर दी कि अमरीकी संघ की कोई इकाई अमरीका से अलग नहीं हो सकती है। इसने राज्य स्वायत्तता और राज्य के प्रति भक्ति को निर्बल करते हुए राष्ट्रीय दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने दासता के अन्त में जिस साहस का परिचय दिया था, उससे यह स्पष्ट हो गया कि केन्द्र राज्यों द्वारा दी गयी किसी भी चुनौती का सफलता के साथ सामना करने में समर्थ है। ग्रिफिथ के शब्दों में, “गृहयुद्ध और उसके बाद के पुनर्निर्माण में राष्ट्रपति और कांग्रेस के कार्यों ने बड़ी हुई शक्तियों की परम्परा स्थापित की और बाद में इन शक्तियों को कभी नहीं छोड़ा गया।”

(3) निहित शक्तियों का सिद्धान्त और न्यायिक निर्णय (Doctrine of Implied Powers and Other Judicial Decisions)—संघीय केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को जन्म देने वाला एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय रहा है। केन्द्रीय सरकार द्वारा अपनी अधिकांश अतिरिक्त शक्ति संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से नहीं, वरन् सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गयी संवैधानिक व्याख्या से प्राप्त की गयी है और केन्द्रीय सरकार की शक्ति बढ़ाने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व उनके द्वारा की गयी निहित शक्तियों के सिद्धान्त की खोज रहा है। केन्द्रीय सरकार को ‘निहित शक्तियों के सिद्धान्त’ के नाम पर अपनी शक्तियां बढ़ाने का अवसर मिला और इसने शक्ति सन्तुलन निश्चित रूप से केन्द्र के पक्ष में कर दिया। निहित शक्तियों के सिद्धान्त के अतिरिक्त भी सामान्यतया सर्वोच्च न्यायालय का दृष्टिकोण संविधान की उदार व्याख्या करते हुए केन्द्रीय शासन के पक्ष का समर्थन करने का ही रहा है।

(4) सहायता अनुदान (Grants-in-aid)—वर्तमान समय में अमरीकी संघ के राज्यों की स्वायत्तता पर यदि प्रत्यक्ष रूप से किसी तत्व के द्वारा आघात किया गया है, तो वे केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले सशर्त सहायता अनुदान ही हैं। 19वीं सदी के अन्त तक

अमरीकी संघ की इकाइयां वित्तीय दृष्टि से लगभग आत्मनिर्भर थीं और केन्द्र के द्वारा राज्यों को जो थोड़ी-बहुत सहायता दी जाती थी, वह बिना किसी शर्त के होती थी, लेकिन वर्तमान समय में केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये जाने वाले सहायता अनुदानों की मात्रा बहुत बढ़ गयी है। 1901 में केन्द्र द्वारा राज्यों को 3 मिलियन डॉलर की सहायता दी गयी थी, लेकिन 1952 में तीन हजार मिलियन डॉलर की आर्थिक सहायता प्रदान की गयी और इस प्रकार 51 वर्षों में यह सहायता एक हजार गुना हो गयी है। 1952 के बाद भी इस सहायता में निरन्तर वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में यह सहायता शर्तों के साथ दी जाती है। उदाहरणार्थ, यह शर्त लगायी जाती है कि धनराशि उसी कार्य में व्यय की जाय, जिसके लिए ली गयी है? केन्द्र द्वारा राज्यों से सम्बन्धित कार्यों का निरीक्षण और हिसाब की जांच की जा सकती है और केन्द्र को यह भी अधिकार रहता है कि यदि राज्य केन्द्र के आदेशों के अनुसार न चलें, तो वह वित्तीय सहायता पर रोक लगा दे। 'नियन्त्रण डॉलर का अनुगमन करता है' (Control follows the dollar) यह बात इस सम्बन्ध में पूर्णतया लागू होती है और राज्यों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता बढ़ने के साथ-साथ उन पर संघीय नियन्त्रण भी बढ़ता ही जा रहा है। लियोनार्ड ने तो इस सम्बन्ध में यहां तक कहा है कि "जहां धन होता है, वहां शक्ति होती है और जहां अधिक परिमाण में धन होता है, वहां शक्ति भी अधिक होनी चाहिए। वित्तीय निर्भरता इस प्रकार भी हो सकती है कि शक्ति का संवैधानिक विभाजन समाप्त हो जाय।"¹

(5) अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति (International Position)—प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक अमरीका यूरोपियन राजनीति के प्रति लगभग पूर्ण उदासीन था, लेकिन महायुद्ध के समय से ही स्थिति परिवर्तित होने लगी और द्वितीय महायुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमरीका को प्रथम श्रेणी के राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। महायुद्ध के बाद शीतयुद्ध की जिस राजनीति का उदय हुआ, उसमें संयुक्त राज्य और सोवियत संघ एक-दूसरे का विरोध करने के लिए तत्पर थे और सैनिक तत्परता की इस स्थिति में केन्द्रीय सत्ता का शक्तिशाली होना अवश्यम्भावी था। लियोनार्ड ने कहा था कि "रूसी भालू ही स्पष्ट रूप से वह राक्षस है जो हमें केन्द्र की ओर बढ़ा रहा है।"² 1964-70 तक अमरीका द्वारा वियतनाम युद्ध में भाग लिये जाने के कारण संघीय केन्द्रीकरण देखा गया। आज 'एकल ध्रुवीय विश्व' (अमरीका विश्व की एकमात्र शक्ति) की स्थिति में अमरीका ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति अपने दायित्वों को बहुत बढ़ा लिया है और संघीय केन्द्रीकरण में और अधिक वृद्धि हुई है।

(6) केन्द्र के प्रति जनता का परिवर्तित दृष्टिकोण (Changed Outlook of the People Towards Centre)—अमरीकी संविधान का निर्माण होने के समय अमरीकी जनता में राज्यों की सत्ता के प्रति बहुत अधिक सम्मान था, लेकिन संविधान को कार्यरूप प्रदान करने

1 "Where there is money, there is power, and where there is money on this scale, there is substantial power. There can be a type of fiscal dependence which can erase the constitutional division of power."

—D. Leonard, *The States and Nation*, p. 18.

2 "The most obvious giant pushing us towards the centre is the Russian bear."

—D. Leonard, *The State and Nation*, p. 24.

के बाद जब-जब अमरीकी राष्ट्र के जीवन में संकट के अवसर आये, उस समय केन्द्र द्वारा ही इन संकटों का सफलतापूर्वक सामना किया गया। 1930 के आर्थिक संकट के समय बेरोजगारी, आदि की समस्याओं को राज्यों के द्वारा हल नहीं किया जा सका। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 'नव निर्माण आर्थिक नीति' (New Deal Economic Policy) अपनाकर ही इन्हें हल किया। इसी प्रकार प्रथम महायुद्ध में राष्ट्रपति विल्सन और द्वितीय महायुद्ध में फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने अमरीकी राष्ट्र का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। इन बातों के परिणामस्वरूप वर्तमान समय में अमरीकी नागरिक राज्यों की अपेक्षा केन्द्र के प्रति ही श्रद्धा और सम्मान रखते हैं और प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में जनता की इस प्रवृत्ति ने केन्द्र को और सबलता प्रदान की है। डिमॉक और डिमॉक के शब्दों में केन्द्रीकरण के कुछ अप्रिय अर्थ हो सकते हैं, किन्तु जनता इससे प्राप्त होने वाले लाभों से परिचित है।¹

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के संघ में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि होती रही है और ब्रोगन ने तो इस सम्बन्ध में कहा है कि "संयुक्त राज्य अमरीका का संवैधानिक इतिहास राज्यों की महत्वपूर्ण शक्तियों के केन्द्रीय सरकार को हस्तान्तरण की लम्बी प्रक्रिया है।"²

संघात्मक व्यवस्था का मूल्यांकन

(ASSESSMENT OF THE FEDERAL SYSTEM)

संयुक्त राज्य अमरीका में संघीय केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति को देखकर अनेक पक्षों द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया है कि अमरीका में संघात्मक व्यवस्था संकट में पड़ गयी है। संघीय केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति को देखते हुए लियोनार्ड ने भविष्य के सम्बन्ध में कहा है कि "आगामी चौथाई शताब्दी में राज्य खाली खोखले बन जायेंगे, जो मुख्यतया संघीय विभागों के ग्रामीण जिलों के रूप में कार्य करेंगे तथा जो अपने भरण-पोषण के लिए संघीय कोष पर निर्भर करेंगे।" रोसे ड्रमण्ड का तो विचार है कि संघीय व्यवस्था समाप्त हो चुकी है। उनके ही शब्दों में, "वास्तविक रूप में हमारी संघीय व्यवस्था अब अस्तित्व में नहीं है और उसे पुनः अस्तित्व में लाने की कोई सम्भावना भी नहीं है।"

लेकिन लियोनार्ड या रोसे ड्रमण्ड जैसे लेखकों द्वारा किया गया अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था का यह मूल्यांकन सही नहीं है। राज्य अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग हैं और वे इस रूप में बने रहेंगे। वस्तुस्थिति यह है कि अमरीका जैसे विशाल और आर्थिक तथा भौतिक विविधताओं से परिपूर्ण देश में एकात्मक व्यवस्था कभी भी कार्य ही नहीं कर सकती। अमरीकी संघ के राज्य संघात्मक व्यवस्था की स्वायत्त प्रशासनिक इकाइयाँ बने

1 "Centralization may have unpleasant connotations, but the people are aware of the benefits out of it."

—Dimock & Dimock, *American Government in Action*, p. 125.

2 "American constitutional history has been one long process of transferring the more important functions of government from the states to the Union."

—D. W. Brogan, *The American Political System*, p. 21.

रहेंगे, यह इस मनोवैज्ञानिक आधार पर भी कहा जा सकता है कि यद्यपि अमरीकी नागरिकों में केन्द्र के प्रति सम्मान बढ़ा है, किन्तु अपने-अपने राज्यों के प्रति सम्मान और लगाव की भावना अब भी उनमें बनी हुई है, संघीय केन्द्रीकरण हुआ है, लेकिन इसके साथ ही यह भी तथ्य है कि “इन वर्षों में राष्ट्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि हुई है, लेकिन इसके साथ ही राज्य सरकारों और समुदायों की शक्तियों में भी वृद्धि हुई है”¹ राज्य सरकारों के भी कार्यक्षेत्र में वृद्धि हुई है, इसका प्रमाण यह है कि 1915 में सभी राज्यों के द्वारा किया जाने वाला कुछ व्यय 500 मिलियन डालर था, जो 1960 में बढ़कर 15 हजार मिलियन डालर हो गया, अर्थात् 30 गुना बढ़ गया है। चुनाव व्यवस्था और पुलिस प्रशासन पर राज्यों को ही नियन्त्रण प्राप्त है, दीवानी और फौजदारी कानूनों पर उनका ही नियन्त्रण है और शिक्षा वे ही प्रदान करते हैं। स्थानीय स्वशासन का संचालन उन्हीं के द्वारा किया जाता है और सुसंगठित राजनीतिक दलों की जड़ें राज्यों में ही हैं। वस्तुतः जैसा कि मुनरो ने कहा है, “राज्य अब भी वे धुरी हैं जिनके आस-पास अमरीका का सम्पूर्ण राजनीतिक चक्र घूमता है”² संघीय केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति संघात्मक व्यवस्था के लिए भय का कारण नहीं है, यह इस आधार पर भी कहा जाता है कि वर्तमान समय में न केवल अमरीकी संघ वरन् विश्व के सभी संघ राज्यों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का रूप परिवर्तित होता रहता है और वस्तुस्थिति यह है कि अमरीकी संघ उस स्थिति से गुजर चुका है, जिसमें केन्द्र और इकाइयों को एक-दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी समझा जाता था; अब अमरीकी संघ ने ‘सहयोगात्मक संघात्मकता’ (Co-operative Federalism) की स्थिति में प्रवेश किया है, जिसमें केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों ने अपने साझी वित्तीय साधनों के बल पर अनेक योजनाओं को अपनाया है। इन योजनाओं की वास्तविक क्रियान्विति में पर्याप्त विकेन्द्रीकरण है और इन योजनाओं के आधार पर राज्य सरकारों ने केन्द्रीय सरकार के अनुभव और व्यवस्था से लाभ उठाया है। यह स्थिति केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को एक नया और पारस्परिक सहयोगात्मक रूप प्रदान कर संघात्मक व्यवस्था को सफलता प्रदान करने वाली है। अमरीकी राजनीति में संघात्मक व्यवस्था पूर्णतया सुरक्षित है और राज्यों की स्वायत्ता या संघात्मक व्यवस्था के लिए भय का कोई कारण नहीं है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के मुख्य संघीय लक्षण बताइए। संघ राज्य में प्रभुता कहाँ निवास करती है?
2. निहित शक्ति के सिद्धान्त का उदाहरण सहित वर्णन और स्पष्टीकरण कीजिए।

1 “National power has extended over the years, but so has the powers of states and communities.” —Thomas R. Dye, *Politics in States and Communities*, p. 48.
 2 “The states are still the pivots around which the whole American political system revolves.” —W. B. Munro, *The Government of the United States*, p. 589.

3. संयुक्त राज्य अमरीका में संघवाद के क्रियात्मक पहलू का परीक्षण कीजिए।
4. संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में संघीय व्यवस्था का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। संघीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि के लिए उत्तरदायी तत्वों की चर्चा कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. अमेरिका में संघीय व्यवस्था को क्यों अपनाया गया?
2. अमेरिका में संघ की स्थापना किस प्रकार हुई?
3. अमेरिकी व्यवस्था में संघीय तत्व बताइए।
4. केन्द्र सरकार के लिए निषिद्ध शक्तियां बताइए।
5. राज्य सरकारों के लिए निषिद्ध शक्तियां बताइए।
6. 'न्यायपालिका की सर्वोच्चता' और 'दोहरी नागरिकता' पर टिप्पणी लिखिए।
7. 'निहित शक्तियों का सिद्धान्त' क्या है?
8. 'निहित शक्तियों के सिद्धान्त' के प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
9. भौतिक, आर्थिक व सामाजिक परिवर्तनों ने किस प्रकार संघीय केन्द्रीकरण को जन्म दिया है?
10. केन्द्रीय सरकार के प्रति जनता का दृष्टिकोण किस प्रकार परिवर्तित हुआ है?
11. अमेरिका की संघीय व्यवस्था का अति संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. किस देश में राज्यों के पृथक् संविधान हैं ?
 (अ) इंग्लैण्ड (ब) अमेरिका
 (स) भारत (द) जनवादी चीन
2. रूसी मालू ही वह राक्षस है, जो हमें केन्द्रवाद की ओर धकेल रहा है' यह कथन किसका है :
 (अ) हरफन फाइनर (ब) मुनरो
 (स) लियोनार्ड (द) ऑग एवं जिक
3. 'निहित शक्तियों का सिद्धान्त' किस देश की संघीय व्यवस्था की विशेषता है :
 (अ) इंग्लैण्ड (ब) अमेरिका
 (स) स्विट्जरलैण्ड (द) जनवादी चीन
4. केन्द्र और राज्यों के मध्य विवाद में निष्पक्ष निर्णायक (umpire) की भूमिका का निर्वाह कौन करता है ?
 (अ) राष्ट्रपति (ब) सर्वोच्च न्यायालय
 (स) सीनेट (द) प्रतिनिधि सभा
5. केन्द्र सरकार की शक्तियों में वृद्धि की दृष्टि से अमेरिका में किसका नाम उल्लेखनीय है :
 (अ) जार्ज वाशिंगटन (ब) जैफरसन
 (स) न्यायमूर्ति मार्शल (द) अब्राहम लिंकन
6. संयुक्त राज्य अमेरिका का संघ प्रारम्भ में कितने राज्यों से मिलकर बना :
 (अ) 25 (ब) 13
 (स) 48 (द) 50

7. किस देश के संविधान में अवशिष्ट शक्तियां राज्यों को प्रदान की गई हैं :

(अ) इंग्लैण्ड

(व)-अमेरिका

(स) जनवादी चीन

(द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—1. (व), 2. (स), 3. (व), 4. (व), 5. (स), 6. (व), 7. (व)]

प्रश्न 8. अमेरिकी संघ में प्रारम्भ में कितनी इकाइयां थीं और आज कितनी इकाइयां हैं ?

[उत्तर—अमेरिकी संघ के अन्तर्गत प्रारम्भ में 13 इकाइयां थीं और आज 50 इकाइयां हैं।]

प्रश्न 9. 'निहित शक्तियों के सिद्धान्त' से आप क्या समझते हैं ?

[उत्तर—इस सिद्धान्त का आशय है : संविधान द्वारा सौंपी गई शक्तियों और दायित्वों को पूरा करने के लिए जिन किन्हीं शक्तियों का प्रयोग किया जाना आवश्यक हो, संघीय शासन द्वारा उन शक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है।]

प्रश्न 10. अमेरिका में 'परिसंघ' (confederation) की स्थापना कब की गई ?

[उत्तर—मार्च 1781 ई. में।]

प्रश्न 11. अमेरिकी संघ में केन्द्रीकरण के कोई तीन कारण बताइए।

[उत्तर—(i) सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन, (ii) निहित शक्तियों का सिद्धान्त और अन्य न्यायिक निर्णय, (iii) केन्द्र द्वारा राज्यों को अनुदान।]

4

संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति एवं केबिनेट

(FEDERAL EXECUTIVE : THE PRESIDENT AND
THE CABINET)

“मंगल ग्रह से आने वाला व्यक्ति अमरीका के संविधान को पढ़ते हुए समझेगा कि राष्ट्रपति एक निर्वल कार्यपालिका है जो बहुत सीमा तक कांग्रेस की इच्छा के अधीन है। वह अमरीका की शासन प्रणाली को कांग्रेस की सरकार कहेगा, परन्तु उन शक्तिशाली व्यक्तियों (जैफरसन, जैक्सन, लिंकन, क्लीबलैण्ड, थियोडोर रूजवेल्ट, विल्सन और फ्रैंकलिन रूजवेल्ट), जिन्होंने इस पद को धारण किया, इस पद को अत्यन्त शक्तिशाली कार्यपालिकाओं में से एक बना दिया है।”¹

—फर्ग्युसन और मेक्हेनरी

राष्ट्रपति पद

(OFFICE OF THE PRESIDENT)

अमरीकी संविधान में राष्ट्रपति की शक्ति का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 2 के एक छोटे से वाक्य में किया गया है जिसमें कहा गया है कि “अमरीकी संघ की कार्यपालिका शक्ति एक राष्ट्रपति में निहित होगी।”² लेकिन संविधान के इस वाक्य से राष्ट्रपति की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। ‘वस्तुतः कोई भी महत्वपूर्ण संस्था वैसी ही नहीं रहती, जैसी कानून उसे बनाता है, यह कथन सबसे अधिक प्रमुख रूप में अमरीकी राष्ट्रपति के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। फिलाडेल्फिया सम्मेलन के सदस्य नागरिक अधिकारों तथा स्वतन्त्रता और राज्यों की सत्ता को बनाये रखने के बहुत अधिक इच्छुक थे और राष्ट्रपति पद को बहुत अधिक शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहते थे, लेकिन संविधान लागू किये जाने के बाद से लेकर अब तक राष्ट्रपति की शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती रही है और श्लेसिंगर के शब्दों में कहा जा

1 “The man from Mars reviewing the American constitution, might see the President as a weak executive, subject to a larger extent to the will of Congress. He might call our system as did the young Woodrow Wilson, Congressional Government, but the forceful men who have held presidency—Jefferson, Jackson, Lincoln, Cleveland, Theodore Roosevelt, Wilson and Franklin Roosevelt—have built the office into one of the most powerful executive posts in the modern world.”

—Ferguson and McHenry, *The American Federal Government*, p. 310.

2 “The executive powers shall be vested in a President.”

—Article 2 of the American Constitution

सकता है कि “वाशिंगटन के समय से लेकर अब तक प्रत्येक राष्ट्रपति पदधारी ने इसे अधिक शक्तिशाली बनाने में योग दिया है।” ऑग के शब्दों में, “अमरीका का राष्ट्रपति संसार में सबसे महान् शासक हो गया है।”¹ इसी प्रकार मुनरो ने लिखा है कि “अब तक एक लोकतन्त्र में किसी भी व्यक्ति ने इतनी अधिक सत्ता का प्रयोग नहीं किया, जितना कि अमरीकी राष्ट्रपति करता है।”²

राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएं

(QUALIFICATIONS FOR THE OFFICE OF THE PRESIDENT)

राष्ट्रपति पद की योग्यताओं का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 2 की उपधारा 1 में किया गया है, जिसमें कहा गया है कि राष्ट्रपति पद के लिए वही व्यक्ति पात्र होगा जो (i) संयुक्त राज्य अमरीका का जन्मजात नागरिक हो, (ii) उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो, और (iii) वह संयुक्त राज्य अमरीका का कम-से-कम 14 वर्ष का निवासी रहा हो। इसके सम्बन्ध में उसके लिए लगातार 14 वर्ष तक अमरीका में रहना आवश्यक नहीं है, वरन् कुल मिलाकर उसके द्वारा अपने जीवन के 14 वर्ष अमरीका में व्यतीत किये हुए होने चाहिए।

व्यावहारिक स्थिति के सम्बन्ध में लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है कि “राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार कोई ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सार्वजनिक जीवन के किसी क्षेत्र में कोई विशेष कार्य करने के लिए प्रसिद्ध रहा हो। वह कांग्रेस का सदस्य, राज्य का गवर्नर, किसी बड़े नगर का मेयर, मन्त्रिमण्डल का सदस्य, राजदूत, न्यायाधीश अथवा असाधारण रूप से प्रसिद्ध पत्रकार हो सकता है।” व्यवहार के अन्तर्गत महत्वपूर्ण और धनी आबादी वाले राज्य के निवासी के इस पद पर चुने जाने के अवसर अधिक रहते हैं।

वेतन (Compensation)³ भत्ते और अन्य सुविधाएं—राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते निर्धारित करने का अधिकार कांग्रेस को प्राप्त है। राष्ट्रपति के कार्यकाल में उसके वेतन भत्तों में कमी या बढ़ोत्तरी नहीं की जा सकती है। इस सम्बन्ध में जो भी परिवर्तन करने हों, वे नवीन राष्ट्रपति के कार्यकाल के प्रारम्भ से ही किये जा सकते हैं। 1909 और 1949 के बीच में राष्ट्रपति का वार्षिक वेतन 75 हजार डॉलर था जिसमें क्रमशः बढ़ोत्तरी की गयी और मई 1999 में राष्ट्रपति का वेतन 2 लाख डॉलर से बढ़ाकर 4 लाख डॉलर कर दिया गया। इसके अतिरिक्त उन्हें 50 हजार डॉलर ‘सामान्य खर्च कोष’ के रूप में दिए जाते हैं। वेतन और 50 हजार डॉलर की यह राशि कर मुक्त नहीं है। ‘यात्रा व्यय’ के रूप में राष्ट्रपति प्रतिवर्ष अधिकतम एक लाख डॉलर खर्च कर सकते हैं। यह राशि आयकर से मुक्त है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को अपने पद के सम्मान के अनुकूल अन्य अनेक सुविधाएं भी प्राप्त होती हैं, जिनमें निजी हवाई जहाज और छोटे से समुद्री जहाज की सुविधा भी सम्मिलित है। राष्ट्रपति के निवास-स्थान ‘व्हाइट हाउस’ (White House) के खर्च हेतु बजट में अलग व्यवस्था की जाती है।

1 “The American President has become the greatest ruler of the world.” —Ogg
2 “The President of the U.S.A. exercise the largest amount of authority ever wielded by any man in a democracy.”

—W. A. Munro : *Government of the United States*, p. 164.

3 अमरीकी संविधान में Pay या Salary शब्द का नहीं; वरन् इस सम्बन्ध में मुआवजे या क्षतिपूर्ति (Compensation) शब्द का प्रयोग किया गया है।

उन्मुक्तियाँ—अन्य देशों के कार्यपालिका प्रधानों की भांति ही राष्ट्रपति को कुछ उन्मुक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। यद्यपि संविधान में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, फिर भी परम्परा के अनुसार उसे किसी भी अपराध के आरोप में गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। उसके विरुद्ध 'परमादेश' (Mandamus) या 'आदेश' (Injunctions) भी जारी नहीं किये जा सकते हैं। उसे किसी न्यायालय में साक्षी या प्रतिवादी के रूप में उपस्थित होने के आदेश नहीं दिये जा सकते, केवल सीनेट में उसे महाभियोग के समय बुलाया जा सकता है। एक बार राष्ट्रपति जैफरसन को साक्षी के लिए बुलाया गया था, परन्तु उन्होंने उपस्थित होने से इन्कार कर दिया। राष्ट्रपति स्वेच्छा से किसी न्यायालय में साक्षी के रूप में उपस्थित हो सकते हैं। राष्ट्रपति को प्राप्त इस प्रकार की विशेष स्थिति की सीमा है, यह बात 'वाटरगेट काण्ड' और सार्वजनिक पद पर रहते हुए नैतिक आचरण की मान-मर्यादाओं के प्रसंग में 'क्लिण्टन विवाद' से स्पष्ट हो गयी है।

कार्यकाल—फिलाडेल्फिया सम्मेलन में राष्ट्रपति पद के कार्यकाल पर बहुत अधिक मतभेद थे, अन्त में पर्याप्त वाद-विवाद के बाद संविधान के अनुच्छेद 2 की उपधारा 1 में निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति का कार्यकाल 4 वर्ष होगा तथा पुनर्निर्वाचन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा, लेकिन प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने तीसरी बार राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार यह परम्परा स्थापित की गयी कि राष्ट्रपति 2 अवधियों से अधिक अपने पद पर नहीं रहेगा। राष्ट्रपति जैफरसन (1801-1809), जेम्स मेडीसन (1809-1817), जेम्स मुनरो (1817-25) तथा एण्ड्रयू जैक्सन (1829-37) ने भी तीसरी अवधि का विरोध किया। ये सभी व्यक्ति इतने लोकप्रिय थे कि तीसरी बार भी राष्ट्रपति चुने जा सकते थे। राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट (1901-1909) ने इस परम्परा को तोड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु तीसरी बार वे आम चुनाव में पराजित हो गये। इस प्रकार यह परम्परा भली-भांति स्थापित हो गयी कि राष्ट्रपति तीसरी बार चुनाव नहीं लड़ेगा, परन्तु राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट ने 1940 में तीसरी बार और 1944 में चौथी बार चुनाव लड़कर इस परम्परा को तोड़ा, परन्तु चौथी अवधि पूरी करने के पूर्व ही अप्रैल 1945 में उनका निधन हो गया। 1964 में कांग्रेस के चुनाव में रिपब्लिकन पार्टी को बहुमत प्राप्त हुआ और उस दल ने राष्ट्रपति की तीसरी अवधि के विरुद्ध संविधान में संशोधन विधेयक रखा। कांग्रेस द्वारा पारित करने और राज्यों द्वारा अनुसमर्थन कर दिये जाने पर 1 मार्च, 1951 को संविधान में यह 22वां संशोधन हो गया। 22वें संशोधन के अनुसार एक ही व्यक्ति तीसरी बार राष्ट्रपति पद पर नहीं चुना जा सकता है। इसके साथ ही यदि कोई व्यक्ति जब उपराष्ट्रपति पद पर कार्य कर रहा था, तभी राष्ट्रपति पद रिक्त हो गया और उस समय उसके द्वारा राष्ट्रपति पद पर कार्य किया गया जैसा कि फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट के निधन पर ट्रूमैन द्वारा और कैनेडी के निधन पर लिंडन डी. जॉनसन द्वारा पद धारण किया गया, तो उसका कुल कार्यकाल 10 वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। इसी संशोधन के अनुसार युद्धकाल में कांग्रेस के द्वारा राष्ट्रपति पदधारी से चुनाव लड़कर तीसरी बार राष्ट्रपति पद धारण करने के लिए आग्रह किया जा सकता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन

ब्रिटिश राजनीति का सर्वाधिक आकर्षक तत्व यदि सम्राट का पद और व्यक्तित्व है तो अमरीकी राजनीति का सर्वाधिक रंगीन और आकर्षक तत्व अमरीकी राष्ट्रपति का निर्वाचन है। राष्ट्रपति पद पर आसीन व्यक्ति से लेकर साधारण से साधारण व्यक्ति द्वारा इसमें रुचि ली जाती है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया पर अमरीकी संविधान में बहुत अधिक मतभेद था। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो सुझाव दिये गये थे। प्रथम, राष्ट्रपति जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हो, किन्तु सभा द्वारा इसे अस्वीकार कर दिया गया, क्योंकि प्रत्यक्ष निर्वाचन राजनीतिक दलबन्दी में फंसे बिना सम्भव नहीं था और संविधान निर्माता राजनीतिक दलबन्दी को देश के लिए घातक मानते थे तथा कम से कम देश की कार्यपालिका के प्रधान को दलबन्दी से बाहर रखना चाहते थे। दूसरा सुझाव यह था कि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका राष्ट्रपति का निर्वाचन करे, किन्तु इसे इस दृष्टि से उचित नहीं समझा गया कि राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के हाथ का खिलौना बन जायेगा। इसके अतिरिक्त अमरीकी संविधान सभा के सदस्य शक्ति विभाजन के सिद्धान्त से अत्यधिक प्रभावित थे और यह पद्धति शक्ति विभाजन के विरुद्ध होती। संविधान सभा के द्वारा अन्त में यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से हो। इस अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत जनता द्वारा एक निर्वाचक मण्डल का चुनाव किया जाय और निर्वाचक मण्डल के द्वारा राष्ट्रपति का। संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में कहा गया है कि “प्रत्येक राज्य अपनी व्यवस्थापिका के आदेशानुसार निर्वाचक चुने, जिनकी संख्या उस राज्य की सीनेट और प्रतिनिधि सभा के प्रतिनिधियों के बराबर हो। समय आने पर ये निर्वाचक अपने-अपने राज्य में एक स्थान पर एकत्रित हों और लिखित रूप में अपने मत दो व्यक्तियों को दें, जिसमें से कम-से-कम एक उस राज्य का निवासी न हो, जिस राज्य की ओर से वे निर्वाचक नियुक्त किये गये हैं। उसके बाद मतों को एक पेटिका में मुहर लगाकर सीनेट के अध्यक्ष के पास भेज दिया जाय, जो कांग्रेस के दोनों सदनों की उपस्थिति में उन्हें गिनकर परिणाम की घोषणा करे। जिस व्यक्ति को सबसे अधिक मत प्राप्त हों, वह राष्ट्रपति निर्वाचित होगा, बशर्ते कि उसे मतों का पूर्ण बहुमत भी प्राप्त हो। उससे कम पाने वाला व्यक्ति उसी प्रकार बहुमत पाने पर उपराष्ट्रपति निर्वाचित होगा।”

संविधान द्वारा की गयी इस व्यवस्था में कुछ संशोधन हो गये और व्यवहार में तो यह पद्धति नितान्त परिवर्तित हो गयी है। प्रथमतः संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के लिए एक साथ मतदान की व्यवस्था की गयी थी, लेकिन 1880 में इस सम्बन्ध में कठिनाई उत्पन्न हुई। अतः संविधान के 12वें संशोधन द्वारा दोनों के लिए अलग-अलग मतदान की व्यवस्था कर दी गयी।

इस प्रक्रिया में दूसरा परिवर्तन संविधान के 23वें संशोधन द्वारा किया गया। इस संशोधन के द्वारा कोलम्बिया जिले को भी निर्वाचक मण्डल के 3 सदस्य चुनने का अधिकार दिया गया। यद्यपि कोलम्बिया जिले को कांग्रेस में, प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है, क्योंकि कोलम्बिया एक जिला है, राज्य नहीं। इस प्रकार वर्तमान समय में निर्वाचक मण्डल के सदस्य 538 हैं (3 कोलम्बिया के प्रतिनिधि तथा वर्तमान समय में कांग्रेस में 535 सदस्य हैं; 435 सदस्य प्रतिनिधि सभा में और 100 सीनेट में)।

संविधान-निर्माताओं द्वारा उपर्युक्त पद्धति अपनाते हुए आशा की गयी थी कि राष्ट्रपति का निर्वाचन शान्त वातावरण में सम्भव हो सकेगा, किन्तु 1800 में ही अमरीका में राजनीतिक दलों का उदय हो गया और इन दलों ने निर्वाचक मण्डल के लिए उम्मीदवार खड़े करने शुरू कर दिये। राजनीतिक दलों के समर्थन से निर्वाचक मण्डल के जो सदस्य चुने जाते हैं, वे राष्ट्रपति पद हेतु अपने ही राजनीतिक दल के उम्मीदवार का समर्थन करने के लिए वचनबद्ध होते हैं। इस तथ्य ने राष्ट्रपति के निर्वाचन को व्यवहार में अप्रत्यक्ष निर्वाचन से प्रत्यक्ष

निर्वाचन में परिवर्तित कर दिया है। इस प्रकार वर्तमान समय में राष्ट्रपति का निर्वाचन न तो शान्त वातावरण में सम्पन्न होता है और न ही यह निर्वाचन वस्तुतः अप्रत्यक्ष निर्वाच्य रहा है। लॉस्की ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि “संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रपति के निर्वाचन की जो विधि अपनायी थी, उस पर उन्हें विशेष रूप से गर्व था, परन्तु उनकी आशाओं में से इससे अधिक और कोई आशा भंग नहीं हुई है।”

वर्तमान समय में राष्ट्रपति के निर्वाचन में अपनायी जाने वाली पद्धति के प्रमुखतया पांच चरण हैं जिनका उल्लेख इस प्रकार है :

(1) उम्मीदवारों का मनोनयन—राष्ट्रपति के निर्वाचन का प्रथम चरण देश के विविध राजनीतिक दलों के द्वारा राष्ट्रपति पद के उम्मीदवारों का मनोनयन है। अतः 1840 से रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक दोनों राजनीतिक दलों के उम्मीदवारों का मनोनयन विविध राजनीतिक दलों के अखिल देशीय सम्मेलनों द्वारा किया जाने लगा।

उम्मीदवारों के मनोनयन की यह पद्धति परम्परा के आधार पर अपनायी गयी है और इस सम्बन्ध में संविधान में कुछ भी नहीं कहा गया है। प्रत्येक दल की राष्ट्रीय समिति अपने-अपने दल के सम्मेलन के लिए समय और स्थान का निर्णय करती और प्रारम्भिक व्यवस्था करती है। प्रत्येक दल के राष्ट्रीय सम्मेलन के लिए प्रतिनिधि विभिन्न उपायों के द्वारा चुने जाते हैं। कुछ प्रारम्भिक क्षेत्रों से, कुछ राज्य सम्मेलनों से और कुछ केन्द्रीय समितियों द्वारा। इन प्रतिनिधियों की संख्या सामान्यतया 1,500 और 3,000 के बीच होती है। चुनाव वर्ष के जुलाई या अगस्त के महीने में एक बड़े हाल में यह सम्मेलन होता है। सम्मेलन बहुत अधिक उत्तेजना और शोर-शराबे के वातावरण में होता है और सम्मेलन में ही दल के प्रमुख नेतागण परस्पर सौदेबाजी करते हैं। दल के द्वारा उम्मीदवार चुने जाने के लिए आवश्यक है कि वह प्रतिनिधियों के मतों का पूर्ण बहुमत प्राप्त करे। मतदान की प्रक्रिया किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त होने तक जारी रहती है। कई बार मतदान के अनेक दौर होते हैं।

उपराष्ट्रपति पद के लिए मनोनयन—उपराष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवारों की नामजदगी भी राष्ट्रपति पद के समान ही होती है। संयुक्त राज्य अमरीका में अब इस सम्बन्ध में यह परम्परा स्थापित हो गयी है कि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पद के उम्मीदवार न केवल अलग-अलग राज्यों वरन् दो अलग-अलग क्षेत्रों से होने चाहिए। इसका अर्थ यह है कि यदि राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार उत्तरी राज्यों से है तो उपराष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार दक्षिणी राज्यों से होना चाहिए। उपराष्ट्रपति पद के लिए प्रायः कड़ा संघर्ष नहीं होता और शीघ्र ही कोई-न-कोई उम्मीदवार स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर इस पद के लिए दल का उम्मीदवार बन जाता है।

(2) चुनाव अभियान—सम्मेलन समाप्त होने के पूर्व उपराष्ट्रपति पद के लिए मनोनीत उम्मीदवार के द्वारा दल की एक राष्ट्रीय समिति चुनी जाती है। यह समिति अपना एक प्रधान और कोषाध्यक्ष चुनती है। यह समिति अपने दल के उम्मीदवार के परामर्श से राज्यों में अपने दल के उम्मीदवार के पक्ष में तीव्र अभियान चलाती है। यद्यपि चुनाव कानून के अनुसार राष्ट्रपति के चुनाव अभियान पर अधिकतम खर्च 30 हजार डालर ही हो सकता है, परन्तु इसका उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नहीं की जाती। चुनाव अभियान के प्रमुख साधन टेलीविजन, रेडियो, ट्रेन, समाचार-पत्र और अपने उम्मीदवार के पक्ष में विविध प्रकार के साहित्य का प्रकाशन है।

(3) निर्वाचक मण्डल का चुनाव—इसके बाद दोनों दलों द्वारा निर्वाचक मण्डल के लिए अपने उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं। निर्वाचक मण्डल के इन उम्मीदवारों को शपथ लेनी

होती है कि चुने जाने पर वे राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव में अपने ही दल के उम्मीदवारों को मत देंगे। 23वें संशोधन से अब निर्वाचक मण्डल के सदस्यों की संख्या 538 हो गयी है। निर्वाचक मण्डल का चुनाव 'लीप वर्ष' (Leap Year) या चुनाव वर्ष के नवम्बर के महीने के पहले मंगलवार को या सरकार द्वारा निर्धारित अन्य किसी तिथि को होता है। निर्वाचकों को प्रत्यक्ष रूप से मतदाताओं द्वारा चुना जाता है। निर्वाचकों के चुनाव और अन्य चुनावों में किन व्यक्तियों को मत देने का अधिकार होगा, इस सम्बन्ध में 1970 में 'मतदान अधिकार अधिनियम' में संशोधन किया गया है। मतदाता होने के लिए अब केवल दो योग्यताएं आवश्यक हैं। प्रथम, सम्बन्धित व्यक्ति ने 18 वर्ष की आयु प्राप्त कर ली हो। द्वितीय, सम्बन्धित व्यक्ति उस राज्य में कम-से-कम 30 दिन से रह रहा हो। मतदाता होने के लिए अब साक्षर होना आवश्यक नहीं है। 1974 के कानून के अनुसार राष्ट्रपति पद के चुनाव-प्रचार के लिए सार्वजनिक वित्त व्यवस्था है।

राज्यों में निर्वाचक मण्डल के सदस्यों का चुनाव 'सूची प्रणाली' (List System) के आधार पर होता है अर्थात् मत किसी उम्मीदवार के लिए नहीं, वरन् दल की सूची के पक्ष में डाले जाते हैं। राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता निर्वाचक मण्डल का चुनाव लड़ते हैं, ज्यादातर राज्यों में जिला व राज्य स्तरीय पार्टी सम्मेलनों में निर्वाचक मण्डल के उम्मीदवारों का मनोनयन होता है। संविधान में यह भी कहा गया है कि कांग्रेस का कोई सदस्य या संयुक्त राज्य अमरीका में लाभ के पद पर आसीन कोई व्यक्ति निर्वाचक मण्डल का सदस्य नहीं बन सकता है। इस निर्वाचक मण्डल का कार्य राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति चुनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मतदान के एक दिन पूर्व राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार मतदाताओं से रेडियो तथा टेलीविजन पर अन्तिम अपील करते हैं। निर्वाचक मण्डल के सदस्यों का चुनाव व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है, अर्थात् जिस दल को किसी राज्य में मतदाताओं का बहुमत प्राप्त हो जाता है, उसी दल के सब उम्मीदवार राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के सदस्य चुने जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि न्यूयार्क राज्य में रिपब्लिकन निर्वाचन सूची को 30,00,000 मत मिलते हैं और डेमोक्रेटिक निर्वाचन सूची को 31,00,000 मत तो न्यूयार्क राज्य से निर्वाचन मण्डल के सभी 43 सदस्य डेमोक्रेटिक दल से चुन लिये जायेंगे। राष्ट्रपति का जो उम्मीदवार 538 निर्वाचकों में से 270 मत प्राप्त कर लेता है, उसे राष्ट्रपति पद प्राप्त होने का विश्वास हो जाता है।

(4) निर्वाचक मण्डल द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव—निर्वाचक मण्डल द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव मात्र एक औपचारिकता है क्योंकि ऑग और रे के शब्दों में—“निर्वाचक मण्डल के सदस्य अपने राजनीतिक दल की रिकार्डिंग मशीन मात्र होते हैं।” प्रायः निर्वाचक मण्डल के सदस्य लोकप्रिय मतों का आदर करते हुए राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव में अपने ही दल के उम्मीदवार के पक्ष में मतदान करते हैं, लेकिन अमरीकी कानून के अनुसार वे किसी भी उम्मीदवार को अपना मत देने के लिए स्वतन्त्र हैं। अमरीकी इतिहास में ऐसा अनेक बार हुआ है कि किसी राजनीतिक दल के निर्वाचक मण्डल के सदस्य ने किसी अन्य दल के उम्मीदवार को अपना मत दिया। बुधवार को निर्वाचक मण्डल के सदस्य अपने-अपने राज्यों की राजधानियों में एकत्रित होते हैं और राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति पद के लिए विभिन्न उम्मीदवारों

1 अमरीका के मतदाता निर्वाचक मण्डल के सदस्यों को चुनने के लिए जो मत डालते हैं, उसे लोकप्रिय मत कहा जाता है।

के पक्ष में मतदान करते हैं। मतों की गणना की जाती है और प्रमाणीकृत करने के बाद सीनेट के अध्यक्ष के पास भेज दिया जाता है। सीनेट का अध्यक्ष कांग्रेस के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में मतों की गणना करता और कानूनी तौर पर जीतने वाले व्यक्ति की घोषणा करता है।

जब किसी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता—यदि राष्ट्रपति पद के दो उम्मीदवारों को बराबर मत प्राप्त हों अथवा किसी को भी मतदाताओं का पूर्ण या निरपेक्ष बहुमत (Absolute Majority) प्राप्त न हो, तो प्रतिनिधि सभा सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाले प्रथम तीन उम्मीदवारों में से किसी एक को राष्ट्रपति निर्वाचित कर सकती है, प्रतिनिधि सभा जब इस प्रकार राष्ट्रपति को निर्वाचित करती है, तब प्रतिनिधि सभा में प्रत्येक राज्य का केवल एक मत होता है। प्रत्येक राज्य के सदस्य बहुमत से निर्णय करते हैं कि उनके राज्य का मत किस उम्मीदवार के पक्ष में गिना जाय। यदि किसी राज्य के प्रतिनिधि समान रूप से इस विषय पर बंट जायं तो उनका मत गिना नहीं जाता है।

(5) नवीन राष्ट्रपति का पद ग्रहण—1933 के पूर्व तक निर्वाचित होने के लगभग 4 मास पश्चात् 4 मार्च को नवीन राष्ट्रपति द्वारा पद ग्रहण किया जाता था, किन्तु बीसवें संशोधन (1933) के अनुसार राष्ट्रपति 4 मार्च के बजाय 20 जनवरी को अपना पद ग्रहण करता है। इस संशोधन में यह भी निश्चित किया गया है कि यदि नव-निर्वाचित राष्ट्रपति की अपने पद पर आसीन होने के पूर्व मृत्यु हो जाती है, तो उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति बन जायेगा।

पद ग्रहण के समय राष्ट्रपति को शपथ लेनी होती है जो उसे सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा दिलायी जाती है। शपथ इस प्रकार है—“मैं गम्भीरतापूर्वक शपथ लेता हूँ कि अमरीका के राष्ट्रपति पद पर निष्ठापूर्वक कार्य करूँगा और अपनी योग्यता भर अमरीका के संविधान का संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा।”

राष्ट्रपति चुनाव, 2004

इन चुनावों में कुल 8 उम्मीदवार थे; इनमें से 5 उम्मीदवारों के नाम केवल कुछ राज्यों के मतपत्रों में ही थे, इसलिए यह कहना उचित होगा कि तीन उम्मीदवार थे। ये थे :

1. जार्ज बुश (रिपब्लिकन पार्टी)
2. जॉन कैरी (डेमोक्रेटिक पार्टी)
3. रॉल्फ नैडर (रिफार्स पार्टी द्वारा समर्थित उम्मीदवार)

चुनाव संघर्ष वस्तुतः प्रथम दो उम्मीदवारों के बीच ही था और यह निश्चित रूप से कड़ा संघर्ष था।

निर्वाचक मण्डल के 538 सदस्यों को चुनने के लिए 2 नवम्बर, 2004 ई. को 12 करोड़ से अधिक मतदाताओं ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया। विजयी होने के लिए उम्मीदवार को निर्वाचक मण्डल के 270 मत प्राप्त करने आवश्यक हैं। प्रथम दो उम्मीदवारों ने निम्न प्रकार से मत प्राप्त किए :

जार्ज बुश (रिपब्लिकन पार्टी) — 274 मत

जॉन कैरी (डेमोक्रेटिक पार्टी) — 252 मत

शेष 12 मत अनिर्णीत रहे। तीसरे उम्मीदवार रॉल्फ नैडर एक भी निर्वाचक मत प्राप्त नहीं कर सके। लोकप्रिय मतों की दृष्टि से 51 प्रतिशत मत जार्ज बुश ने व 48 प्रतिशत मत जॉन कैरी ने प्राप्त किए। इस प्रकार बुश ने लगभग 36 लाख लोकप्रिय मतों के अन्तर

से यह चुनाव जीता। यह राष्ट्रपति पद पर अब तक की सबसे बड़ी जीत है। जार्ज बुश ने दूसरी बार 20 जनवरी, 2005 ई. को राष्ट्रपति पद की शपथ ली।

निर्वाचन प्रणाली की आलोचना

अमरीकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में जिस प्रणाली को अपनाया जाता है, उसकी कई आधारों पर आलोचना की जाती है :

प्रथमतः, निर्वाचक मण्डल के सदस्य दलीय आधार पर चुने जाते हैं, लेकिन चुने जाने के बाद वे इस बात के लिए कानूनन स्वतन्त्र हैं कि वे किसी भी उम्मीदवार को मत दें। साधारणतया वे अपने राजनीतिक दल का समर्थन करते हैं, किन्तु कई बार ऐसा भी हुआ है कि किसी दल के निर्वाचक मण्डल के सदस्य ने किसी अन्य दल के उम्मीदवार को अपना मत दिया है।

द्वितीयतः, त्रुटि निश्चित रूप से अधिक गम्भीर है और वह निर्वाचन प्रणाली की इस बात में निहित है कि राज्य विशेष में जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है, उसे उस राज्य के सभी निर्वाचकों को चुनने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस बात के कारण चुनाव परिणाम बहुत त्रुटिपूर्ण रूप से सामने आते हैं। सन् 1860 और 1912 में क्रमशः अब्राहम लिंकन और बुड्रो विल्सन जब राष्ट्रपति चुने गये, तो उन्हें देश की जनता का बहुमत नहीं मिला था। 2000 ई. के राष्ट्रपति चुनावों में पुनः यह स्थिति बनी। डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार अलगोर ने रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार जार्ज बुश की तुलना में अमरीकी जनता से तीन लाख मत अधिक प्राप्त किए, लेकिन उन्हें निर्वाचक मण्डल का बहुमत प्राप्त नहीं हुआ तथा इसी कारण वे राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं हुए। इन स्थितियों में निर्वाचन प्रणाली स्वाभाविक रूप से बहुत अधिक आलोचना का विषय बन जाती है।

तृतीयतः, उपर्युक्त निर्वाचन प्रणाली के कारण राष्ट्रपति के निर्वाचन में घनी आबादी वाले राज्यों का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है और कम आबादी वाले राज्यों तथा ग्रामीण क्षेत्रों की उपेक्षा होती है। पिछले लगभग 100 वर्षों में राष्ट्रपति पद पर विजयी सभी उम्मीदवार बड़े राज्यों से ही थे। संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यावहारिक राजनीतिक दृष्टि से इसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

चतुर्थतः, निर्वाचन प्रणाली की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि यदि निर्वाचक मण्डल के मतदान के परिणामस्वरूप किसी भी उम्मीदवार को आवश्यक बहुमत प्राप्त न हो और ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जाय, तो परिणाम उससे सर्वथा भिन्न हो सकता है जो साधारणतया होना चाहिए था।

पंचम, 2000 ई. के राष्ट्रपति चुनाव में अमरीकी चुनाव व्यवस्था और राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया की एक बड़ी त्रुटि सामने आई है। भारत में चुनाव सम्बन्धी समस्त कार्यों को सम्पन्न करने के लिए स्वयं संविधान द्वारा ही एक संस्था 'चुनाव आयोग' की व्यवस्था की गई है लेकिन अमरीका में चुनाव कार्यों को सम्पन्न करने के लिए चुनाव आयोग जैसी कोई स्वतन्त्र और केन्द्रीय संस्था नहीं है। अमरीकी संघ के सर्वोच्च पद राष्ट्रपति पद के चुनाव और सीनेट तथा प्रतिनिधि सभा के चुनाव में 50 राज्यों को इस बात की स्वतन्त्रता दी गई है कि वे अपने राज्य में अपनी इच्छानुसार चुनाव पद्धति की व्यवस्था कर सकते हैं। अतः प्रत्येक राज्य राष्ट्रपति पद के चुनाव हेतु अलग-अलग मतपत्र छपाता है और चुनाव तथा मतगणना हेतु

नियम बनाता है। इस बात ने 2000 ई. के राष्ट्रपति चुनावों में कुछ विचित्र स्थितियों को जन्म दिया तथा यह बात संघीय ढांचे के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

इन सबके अतिरिक्त यह कहा जाता है कि राष्ट्रपति पद हेतु उम्मीदवारों के मनोनयन के लिए जिस पद्धति को अपनाया गया है, उसमें राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार बनने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों की योग्यताओं पर ध्यान नहीं दिया जाता और राष्ट्रीय सम्मेलनों के उत्तेजनापूर्ण वातावरण के कारण असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार नहीं हो पाते। लॉस्की ने अमरीकी राष्ट्रपति के चुनाव को सर्वाधिक भ्रष्ट चुनाव और 'वित्तीय साधनों का खेल' (Game of financial resources) बताया है। इस निर्वाचन पद्धति के कारण प्रायः शासन सम्बन्धी अनुभव से शून्य व्यक्ति ही राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होते हैं। अनेक बार राष्ट्रपति पद पर चुने जाने के लिए जिन भ्रष्ट उपायों को अपनाया जाता है, उनकी एक झांकी 1973 में प्रकाश में आये 'वाटरगेट काण्ड' से मिल जाती है। भारत के एक प्रमुख पत्र ने इस चुनाव प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए डेढ़ दशक पूर्व लिखा था कि, "यह प्रक्रिया अत्यधिक खर्चीली, जटिल और लम्बे समय तक चलने वाली है। इस चुनाव प्रक्रिया में मूल बात की अपेक्षा छवि का महत्व अधिक हो जाता है।"¹

2000 ई. के राष्ट्रपति चुनाव और चुनाव प्रक्रिया से उत्पन्न विवाद

2000 ई. के राष्ट्रपति पद के चुनाव में चार उम्मीदवार थे : रिपब्लिक पार्टी के जार्ज डब्ल्यू. बुश, डेमोक्रेटिक पार्टी के अलगोर, ग्रीन पार्टी के उम्मीदवार (कानूनी दृष्टि से निर्दलीय) राल्फ नैडर और रिफॉर्म पार्टी (कानूनी दृष्टि से निर्दलीय) के उम्मीदवार पैट बुकनैन। फ्लोरिडा के अलावा 49 राज्यों और कोलम्बिया जिले में निर्वाचक मण्डल के जो चुनाव हुए उनमें डेमोक्रेटिक पार्टी (अलगोर) ने निर्वाचक मण्डल के 262 मत, रिपब्लिकन पार्टी (बुश) ने 246 मत, ग्रीन पार्टी (राल्फ नैडर) ने 05 मत प्राप्त किए लेकिन फ्लोरिडा राज्य के लोकप्रिय मतों की गणना के प्रसंग में भारी विवाद ने जन्म ले लिया तथा विभिन्न स्तरों पर 36 दिन के कानूनी और न्यायिक विवाद के बाद ही और अन्तिम रूप में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से ही यह तय हुआ कि फ्लोरिडा राज्य के 25 मत रिपब्लिकन पार्टी के पक्ष में हैं। इसके बाद जब निर्वाचक मण्डल ने राष्ट्रपति चुनने के लिए अपने मतों का प्रयोग किया, तब स्थिति निम्न प्रकार से रही :

जार्ज डब्ल्यू बुश (रिपब्लिकन पार्टी)	271 मत
अलगोर (डेमोक्रेटिक पार्टी)	266 मत ²

इस मतदान में राल्फ नैडर के पांच निर्वाचकों ने अलगोर के पक्ष में मतदान किया था। इस प्रकार बुश निर्धारित मतों (270 मत) से 1 मत अधिक प्राप्त कर राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए और 20 जनवरी 2001 को अमरीकी गणतन्त्र के 43वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। इन चुनावों की एक विशेष बात यह रही कि डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार अलगोर ने रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार जार्ज बुश की तुलना में अमरीकी जनता से तीन लाख

1 "The process has been extremely costly, cumbersome and time consumingIn this election process image matters more than the substance."

—The Times of India, 8 Nov. 1984

2 निर्वाचक मण्डल के एक सदस्य (कोलम्बिया से निर्वाचित) ने कांग्रेस में कोलम्बिया जिले का प्रतिनिधित्व न होने के विरोध में मतदान नहीं किया।

मत अधिक प्राप्त किए थे लेकिन निर्वाचक मण्डल का बहुमत जार्ज बुश को प्राप्त हुआ तथा इसी आधार पर जार्ज बुश राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए। अमरीका के संवैधानिक इतिहास में यह चौथा अवसर है, जबकि राष्ट्रपति पद के विजेता की तुलना में पराजित उम्मीदवार ने अधिक लोकप्रिय मत प्राप्त किए।

रिपब्लिकन पार्टी के रिचर्ड डिक चैनी उप राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

राष्ट्रपति चुनाव की पद्धति और प्रक्रिया में सुधार हेतु सुझाव

राष्ट्रपति चुनाव की त्रुटियों को देखते हुए इसमें मूल सुधार के प्रस्ताव किए जाते रहे हैं; 2000 ई. के राष्ट्रपति चुनावों ने इन त्रुटियों की ओर समस्त विश्व का ध्यान आकर्षित कर सुधार की आवश्यकता को पहले से बहुत अधिक प्रबल बना दिया है। इस सम्बन्ध में प्रथम और सर्वप्रमुख सुझाव तो यह है कि राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से अमरीकी गणतन्त्र के समस्त मतदाताओं द्वारा किया जाए। 22 मार्च, 1977 को अमरीकी राष्ट्रपति द्वारा अमरीकी कांग्रेस के सम्मुख 'राष्ट्रपति चुनाव की पद्धति में परिवर्तन और चुनाव सुधार सम्बन्धी' एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था। इस प्रस्ताव में मुख्य सुझाव यह था कि अमरीकी राष्ट्रपति के लिए प्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति अपनाई जाए, लेकिन इस प्रस्ताव को समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। समय-समय पर अन्य और विविध पक्षों द्वारा भी इसी आशय का प्रस्ताव किया गया है। 2000 ई. में सीनेट के लिए नव निर्वाचित सदस्य हिलेरी क्लिण्टन के द्वारा इसी प्रकार की मांग की गई है, लेकिन अमरीकी कांग्रेस इस प्रकार के किसी प्रस्ताव को स्वीकार करेगी; इस बात की आशा बहुत कम है। दूसरा सुझाव यह है कि प्रत्येक राज्य में राष्ट्रपति पद के प्रथम तीन उम्मीदवारों में उनके द्वारा प्राप्त किए गए 'लोकप्रिय मतों' के अनुपात में उस राज्य के निर्वाचकों के मतों का विभाजन होना चाहिए। तृतीय सुझाव यह है कि 'राष्ट्रपति निर्वाचक मण्डल' के सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा उसी प्रकार से हो, जिस प्रकार सीनेट या प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्येक राज्य में होता है।

राष्ट्रपति की पदच्युति (महाभियोग की प्रक्रिया)

अमरीकी संविधान के अनुच्छेद 2 की उपधारा 4 के अनुसार राष्ट्रपति को केवल महाभियोग (Impeachment) के आधार पर ही पदच्युत किया जा सकता है और महाभियोग देशद्रोह, भ्रष्टाचार या अन्य किसी घोर अपराध या कदाचार के आधार पर ही चलाया जा सकता है। महाभियोग की पद्धति यह है कि प्रतिनिधि सभा का कोई एक या कुछ सदस्य राष्ट्रपति के विरुद्ध उपर्युक्त आधार पर आरोप लगा सकते हैं। इसके बाद ये आरोप किसी न्यायिक समिति या विशेष जांच समिति को दे दिये जाते हैं। जांच समिति द्वारा प्रतिवेदन दिये जाने पर यदि प्रतिनिधि सभा आवश्यक समझे, तो वह एक प्रस्ताव तैयार करती है, जिसमें राष्ट्रपति पर लगाये गये आरोपों का उल्लेख किया जाता है और प्रतिनिधि सभा को यह प्रस्ताव अपने बहुमत से पारित करना होता है। इस आरोप-पत्र की एक प्रति सूचनार्थ राष्ट्रपति को भेजी जाती है।

इसके पश्चात् यह प्रस्ताव सीनेट के पास भेजा जाता है। सीनेट निश्चित तिथि को इन आरोपों की जांच हेतु एक न्यायालय के रूप में बैठती है और सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश इस बैठक की अध्यक्षता करता है। प्रतिनिधि सभा की ओर से भेजा गया प्रतिनिधि सीनेट के आरोपों के बारे में पूरी जानकारी देता है। राष्ट्रपति को अपने बचाव हेतु स्वयं

उपस्थित होने या अपने प्रतिनिधियों और वकीलों को भेजने का अधिकार होता है। यदि पूरी छानबीन के बाद सीनेट अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित कर दे कि राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाये गये आरोप ठीक हैं तो उसे पदच्युत कर दिया जाता है और पदच्युति के बाद उसके विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा चलाया जा सकता है। अब तक केवल एक बार 1867 में राष्ट्रपति एण्ड्रयू जॉनसन के विरुद्ध महाभियोग लगाया गया था, लेकिन सीनेट में इस प्रस्ताव को बहुमत प्राप्त होने में एक मत की कमी रह गयी, और राष्ट्रपति को पद से नहीं हटाया जा सका।

अमरीकी इतिहास में दूसरी बार इस प्रकार की स्थिति 1974 में उत्पन्न होने जा रही थी। 28 जुलाई, 1974 को प्रतिनिधि सभा की न्यायिक समिति ने प्रतिनिधि सभा से सिफारिश की कि राष्ट्रपति निक्सन के विरुद्ध वाटरगेट काण्ड के आधार पर महाभियोग चलाया जाय, लेकिन महाभियोग की कार्यवाही प्रारम्भ होने के पूर्व ही 6 अगस्त, 1974 को निक्सन के द्वारा अपने पद से त्यागपत्र दे दिया गया। 1998-99 में राष्ट्रपति क्लिण्टन के आचरण को लेकर इस प्रकार की मांग उठी थी, लेकिन क्लिण्टन के माफी, मांगने पर इस मांग ने अपनी शक्ति खो दी।

राष्ट्रपति पद के लिए उत्तराधिकार (SUCCESSION TO THE PRESIDENCY)

संविधान के अनुच्छेद 2 की उपधारा 1 द्वारा यह निर्धारित किया गया है कि मृत्यु, त्यागपत्र, महाभियोग या अन्य किसी कारण राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाय, तो राष्ट्रपति पद की सभी शक्तियाँ और कर्तव्य उत्तराधिकार के रूप में उपराष्ट्रपति के पास जायेंगी। यदि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों के पद रिक्त हो जायें, तो कांग्रेस निर्णय करेगी कि कौन अधिकारी राष्ट्रपति पद पर कार्य करेगा।

सन् 1886 में कांग्रेस द्वारा इस सम्बन्ध में एक अधिनियम पारित किया गया, जिसके अनुसार राष्ट्रपति के बाद राज्य सचिव (Secretary of State) को तथा उसके बाद वित्त सचिव और युद्ध सचिव को यह पद संभालने का अधिकार दिया गया। 1947 में कांग्रेस ने पुनः 'राष्ट्रपति उत्तराधिकार कानून' पारित कर स्थिति में परिवर्तन किया, जिसके अनुसार राष्ट्रपति पद में स्थायी रिक्तता होने पर उपराष्ट्रपति शेष अवधि के लिए राष्ट्रपति बन जाता है। यदि किसी कारण से उपराष्ट्रपति भी इस पद के लिए उपलब्ध न हो, तो प्रतिनिधि सभा का स्पीकर, सीनेट का स्थायी अध्यक्ष, राज्य सचिव, वित्त सचिव, युद्ध सचिव, आदि क्रमशः इस पद को धारण करेंगे। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक जब कभी राष्ट्रपति पद रिक्त हुआ, तब उपराष्ट्रपति के द्वारा ही इसे धारण किया गया है।

अब तक सदैव ही जब कभी राष्ट्रपति पद रिक्त हुआ, तो उपराष्ट्रपति के द्वारा राष्ट्रपति पद धारण किया गया और इस प्रकार की प्रत्येक स्थिति में उपराष्ट्रपति पद रिक्त रहा। ऐसा अब तक 16 बार हो चुका है। इस स्थिति को संविधान के 25वें संशोधन (1967) द्वारा दूर किया गया है। संशोधन के प्रथम भाग में उल्लेख है कि मृत्यु, त्यागपत्र अथवा पदच्युति पर राष्ट्रपति पद रिक्त होने पर उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति बन जायेगा। संशोधन के दूसरे भाग में उल्लेख है कि जब कभी उपराष्ट्रपति का पद रिक्त होगा, तो राष्ट्रपति एक उपराष्ट्रपति को नामजद करेगा, जो कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा पुष्टि किये जाने पर अपना पद ग्रहण करेगा। संविधान के इस संशोधन के अन्तर्गत ही 1974 में जेरोल्ड फोर्ड ने राष्ट्रपति पद और नेल्सन रॉकफेलर ने उपराष्ट्रपति पद ग्रहण किया।

राष्ट्रपति की शक्तियां (POWERS OF THE PRESIDENT)

अमरीकी संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति की शक्तियों को निर्धारित करने में संविधान निर्माताओं को कठिन समस्या का सामना करना पड़ा। इस सम्बन्ध में एक ओर तो उनके सामने उपनिवेशों के गवर्नरों के अनुभव थे, जिसमें उन्होंने देखा था कि शक्तिशाली शासक किस प्रकार जन-स्वातन्त्र्य को नष्ट करने का प्रयत्न कर सकते हैं, और दूसरी तरफ उन्होंने परिसंघ के विधान में निर्बल कार्यपालिका के दुष्परिणाम भी देख लिए थे। अतः अपने परस्पर विरोधी अनुभवों के आधार पर वे एक ऐसी कार्यपालिका का निर्माण करना चाहते थे जो सुशासन स्थापित करने में समर्थ हो, लेकिन तानाशाही जैसी स्थिति प्राप्त न कर ले। अमरीकी राष्ट्रपति के रूप में उनके द्वारा एक ऐसे ही पद की व्यवस्था की गयी। मूल संविधान द्वारा राष्ट्रपति को पर्याप्त शक्तियां प्रदान की गयी थीं और कांग्रेस के अधिनियमों, प्रथाओं, परम्पराओं तथा न्यायिक व्याख्याओं के द्वारा भी इस पद की शक्ति में वृद्धि ही की गयी है। आज अमरीका के राष्ट्रपति पद के सम्बन्ध में फर्ग्युसन और मेक्हेनरी के शब्दों में कहा जा सकता है कि, “किसी भी प्रजातान्त्रिक राष्ट्र द्वारा निर्मित यह सर्वाधिक शक्तिशाली पद है।”¹ राष्ट्रपति की व्यापक शक्तियों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) कार्यपालिका शक्तियां—राष्ट्रपति को यद्यपि अमरीकी शासन और राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में शक्तियां प्राप्त हैं, लेकिन इनमें सर्वाधिक प्रमुख उसकी कार्यपालिका शक्तियां ही हैं। ऑग और रे के शब्दों में, “राष्ट्रपति प्रमुख विधि-निर्माता, दलीय नेता, राष्ट्रीय हितों का सामान्य संरक्षक या अन्य चाहे जो कुछ भी हो, वह सर्वप्रथम एक कार्यपालिका ही है।”² संविधान में भी कहा गया है कि “कार्यपालिका शक्तियां संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति में निहित होंगी।”³ कार्यपालिका क्षेत्र में उसके विभिन्न कार्य निम्नवत् हैं :

(i) कानूनों को लागू करना तथा व्यवस्था बनाये रखना—कार्यपालिका क्षेत्र में उसकी प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण शक्ति संघीय कानूनों को लागू करना और व्यवस्था बनाये रखना है। अनुच्छेद 2 की तीसरी उपधारा के अनुसार राष्ट्रपति सभी संघीय कानूनों को समुचित रूप से लागू करने के लिए उत्तरदायी है। उसका यह प्रमुख दायित्व है कि वह कांग्रेस द्वारा पारित सभी विधियों तथा सीनेट द्वारा अनुमोदित सभी सन्धियों का निष्ठापूर्वक पालन कराये। राष्ट्रपति इस शक्ति का कुछ सीमा तक अपने विवेक के अनुसार प्रयोग करता है। वह इस बात का निर्णय करता है कि किन कानूनों को अत्यधिक कठोरता के साथ लागू किया जाय, किन्हें कम कठोरता के साथ लागू किया जाय तथा किन्हें लागू करने के लिए कोई भी कदम न उठाया जाय। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड और मैकिन्ले के द्वारा ‘Sherman Anti-trust Law (1890)’ को लागू करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया, और ये कानून

1 “The President of the United States holds one of the most powerful offices ever created in a democratic nation.”

—Ferguson & McHenry, *The American System of Government*, p. 361.

2 “For whatever else he may be—chief legislator, party leader, general custodian of national interest the President is, first of all an executive.”

—Ogg & Ray, *The Essentials of American Government*, p. 294.

3 “The executive powers shall be vested in the President of the United States.”

1901 में थियोडोर रूजवेल्ट द्वारा पद ग्रहण किये जाने पर ही प्रभावी हो सके। कानून लागू करने के महान दायित्व को पूरा करने में राष्ट्रपति को अटार्नी जनरल, 25 लाख संघीय कर्मचारियों, न्याय विभाग, सेना और राष्ट्रीय दलों से पूर्ण सहायता मिलती है।

कानून लागू करने के साथ ही उसका सम्पूर्ण संयुक्त राज्य अमरीका में व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व है। इस दायित्व का संवैधानिक आधार संविधान के अनुच्छेद 4 में वर्णित यह बात है कि “संघीय सरकार प्रत्येक राज्य में एक गणतन्त्रीय सरकार की गारण्टी देती है और प्रत्येक राज्य की बाहरी आक्रमण तथा आन्तरिक हिंसा से रक्षा करेगी।” यदि किसी राज्य में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था को खतरा हो या उस पर बाहरी आक्रमण की आशंका हो, तो राष्ट्रपति राज्य के अधिकारियों से प्रार्थना की प्रतीक्षा किये बिना स्वयं अपनी पहल पर कार्य कर सकता है। आन्तरिक हिंसा या उपद्रव की स्थिति में राष्ट्रपति राज्य के गवर्नर या विधानमण्डल के आग्रह पर ही सैनिक सहायता प्रदान करता है, लेकिन यदि ऐसी स्थिति में संघीय कानूनों की क्रियान्विति में बाधा उपस्थित हो या संघीय सम्पत्ति अथवा अन्तर्राज्यीय वाणिज्य को खतरा हो तो राष्ट्रपति अपनी पहल पर भी कार्य कर सकता है। अब तक के संवैधानिक इतिहास में अनेक बार विभिन्न राष्ट्रपतियों द्वारा ऐसा किया गया है। 1894 में राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड ने इल्लिनोइस के गवर्नर के विरोध के बावजूद शिकागो नगर में रेलवे हड़ताल को भंग करने के लिए इस आधार पर सशस्त्र सैनिक भेजे थे कि इस हड़ताल से अन्तर्राज्यीय वाणिज्य में अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी है। 1922 में राष्ट्रपति हार्डिङ ने एक हड़ताल को दबाने के लिए सशस्त्र सैनिकों को तैनात रहने का आदेश दिया था। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने भी गवर्नर के विरोध के बावजूद ‘लिटिल रॉक स्कूल समन्वय विवाद’ के सम्बन्ध में सेना का उपयोग किया था। ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि राष्ट्रपति व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्यों के शासनतन्त्र में हस्तक्षेप कर सकता है और सेना का प्रयोग कर सकता है।

(ii) प्रशासन का संचालन—राष्ट्रपति कार्यपालिका का अध्यक्ष होने के साथ-साथ प्रशासन का सर्वोच्च निर्देशक है। यह देखना राष्ट्रपति का प्रमुख संवैधानिक दायित्व है कि शासन के विभिन्न पदाधिकारी संविधान के उपबन्धों, अन्य राज्यों से की गयी सन्धियों तथा सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के अनुरूप कार्य कर रहे हैं अथवा नहीं। राष्ट्रपति के द्वारा इस हेतु अध्यादेश अथवा अनुदेश, नियम, उपनियम या आदेश जारी किये जा सकते हैं। उसके द्वारा विभिन्न विभागों के अध्यक्षों तथा अन्य अधिकारियों को आदेश जारी किये जा सकते हैं और सम्बन्धित अधिकारियों के लिए इन आदेशों का पालन करना अनिवार्य होता है। वह प्रत्येक विभाग के अधिकारी से किसी विषय पर प्रतिवेदन या सम्मति की मांग कर सकता है।

(iii) नियुक्ति और पदच्युति की शक्ति—राष्ट्रपति की एक महत्वपूर्ण शक्ति विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति से सम्बन्धित है जिसके आधार पर राष्ट्रपति वास्तविक प्रशासनिक शक्ति प्राप्त करता है और कांग्रेस पर अपना प्रभाव स्थापित करता है।

संविधान में संघ सरकार द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों को दो भागों में बांटा गया है : (1) वे उच्च पद जिन पर राष्ट्रीय सीनेट के परामर्श और उनके बहुमत की सहमति से नियुक्तियां कर सकता है, और (2) वे निम्न पद जिन पर कांग्रेस की सहमति से राष्ट्रपति स्वयं अथवा विभागीय अध्यक्ष तथा न्यायालय नियुक्तियां कर सकते हैं। क्योंकि संविधान में निम्न पदों की व्याख्या नहीं की गयी है, इसलिए यह निश्चित करना कि निम्न पदों के

अन्तर्गत कौन अधिकारी आते हैं, कांग्रेस के अधिकार में है और वही इन पदों पर नियुक्ति के ढंग को निश्चित कर सकती है।

संविधान के अनुसार राजदूतों, अन्य प्रदूतों, वाणिज्य दूतों, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, विभिन्न आयोगों के अध्यक्षों, उनके सचिवों, विभिन्न संघीय आयोगों के सदस्यों, चुंगी अधिकारियों, राजस्व अधिकारियों और सेना तथा नौ-सेना में उच्चाधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति कर सकते हैं, परन्तु सीनेट के द्वारा अपने बहुमत से इन नियुक्तियों की पुष्टि की जानी अनिवार्य है। सामान्यतया मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों, राजदूतों, राष्ट्रपति के व्यक्तिगत सहायकों और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति को सीनेट के द्वारा पुष्टि प्रदान कर दी जाती है, यद्यपि इसके कुछ अपवाद हैं। अब तक 8 बार सीनेट ने राष्ट्रपति द्वारा की गयी मन्त्रियों की नियुक्ति को अस्वीकार किया है और राजदूतों तथा न्यायाधीशों की लगभग 1/5 नियुक्तियों को सीनेट ने अस्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में अभी हाल ही के वर्षों से कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। 1968 में राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा नियुक्त फोर्टस को मुख्य न्यायाधीश के पद के लिए सीनेट ने स्वीकृति नहीं दी और राष्ट्रपति निक्सन द्वारा प्रस्तावित ब्लेमेन्ट हिसवर्थ और हैरल्ड कास्बिल को सीनेट ने तीव्र जांच-पड़ताल के बाद अस्वीकार कर दिया। शेष जो लगभग 15 हजार नियुक्तियां हैं उनके सम्बन्ध में सामान्य व्यवहार यह है कि राष्ट्रपति के दल के सीनेट सदस्य राष्ट्रपति के सम्मुख नाम प्रस्तावित करते हैं और सामान्यतः राष्ट्रपति इन्हें स्वीकार कर लेता है। जिन अधिकारियों की नियुक्ति के लिए सीनेट की सहमति आवश्यक होती है, उनकी भी राष्ट्रपति एक विशेष विधि के अनुसार कुछ समय तक सीनेट की सहमति के बिना नियुक्ति कर सकता है। इसे 'अल्पावकाश नियुक्ति' (Recess Appointments) कहते हैं और इसके अन्तर्गत राष्ट्रपति सीनेट के दो अधिवेशनों के बीच के काल में नियुक्ति कर सकता है, लेकिन वर्तमान समय में इस विधि का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। संविधान के 25वें संशोधन के अनुसार उपराष्ट्रपति पद रिक्त हो जाने पर उपराष्ट्रपति की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा ही की जाती है, यद्यपि इसे भी सीनेट की स्वीकृति प्राप्त होना अनिवार्य है।

(iv) सीनेट के प्रति शिष्टता (Senatorial Courtesy)—अनेक संघीय पदों, विशेषतया राज्य विशेष से सम्बन्धित संघीय पदों पर एक विशेष पद्धति द्वारा नियुक्तियों की जाती हैं, जिसे 'सीनेट के प्रति शिष्टता' कहा जाता है। यह एक अलिखित नियम या परम्परा है जिसके अनुसार राष्ट्रपति अपने दल के उन सीनेट सदस्यों से नियुक्ति के सम्बन्ध में मन्त्रणा करता है जो उस राज्य की ओर से सीनेट के सदस्य हैं जिसमें नियुक्ति करनी है। यदि राष्ट्रपति ऐसा नहीं करता और अपनी निजी इच्छा से ही नियुक्तियां करता है, तो अन्य सदस्य सीनेट के प्रति शिष्टता के नियम के अनुसार सम्भवतः राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्ति को अस्वीकार कर देंगे। इस नियम के प्रवर्तन का एक अच्छा उदाहरण 1938-39 का फ्लाइड एच. रॉबर्ट का मामला है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने फ्लाइड एच. रॉबर्ट को पश्चिमी वर्जीनिया के संघीय जिला न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त कर दिया। इस नियुक्ति पर वर्जीनिया राज्य के दोनों सीनेट सदस्यों ने आपत्ति की; लेकिन राष्ट्रपति ने इस आपत्ति को कोई महत्व नहीं दिया और रॉबर्ट का नाम सीनेट के पास पुष्टिकरण के लिए भेज दिया। सीनेट ने इसे अस्वीकृत कर दिया। सीमित रूप में इस परम्परा का लाभ वे सदस्य भी उठा सकते हैं जो राष्ट्रपति के दल के नहीं हैं। उदाहरण के लिए, 1950 में भिशीगन के सीनेटर होमर फर्ग्युसन ने मोटर कैरियर

क्लेम्स कमीशन पर 1948 के चुनाव में अपने असफल प्रतिद्वन्द्वी फ्रैंक एफ. हुक की नियुक्ति की पुष्टि नहीं होने दी। उन्होंने यह तर्क दिया कि उन्हें इस नियुक्ति पर व्यक्तिगत रूप से आपत्ति है और यह उनके सम्मान के विरुद्ध होगा। इस प्रकार सीनेट के सदस्य 'शक्ति एक की नहीं, समूह की होती है और समूह के बल पर ही एक शक्तिशाली होता है' के सिद्धान्त पर आचरण करते हुए एक-दूसरे के प्रति शिष्टता बरतते हैं और राष्ट्रपति की नियुक्ति की शक्ति पर अंकुश रखते हैं। 'सीनेट के प्रति शिष्टता' राष्ट्रपति की शक्ति पर एक अंकुश होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राष्ट्रपति संरक्षण के बहुत महत्वपूर्ण अधिकारों का उपभोग करता है और ऊँचे वेतन प्राप्त करने वाले हजारों अधिकारियों की नियुक्ति राष्ट्रपति के हाथ में रहती है।

संविधान के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में स्पष्ट व्यवस्था नहीं की गयी है कि राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों को पदच्युत कर सकता है अथवा नहीं। संविधान में केवल यह कहा गया है कि देशद्रोह, भ्रष्टाचार या अन्य गम्भीर अपराधों के लिए पदाधिकारियों को महाभियोग द्वारा पदच्युत किया जा सकता है, परन्तु यह प्रक्रिया निश्चित रूप से कष्टकारी है। अक्षमता अथवा अनुत्तरदायित्व के आधार पर पदच्युत करने के सम्बन्ध में संविधान मौन है, परन्तु इसे अपना निहित अधिकार मानकर राष्ट्रपति के द्वारा इसका प्रयोग किया जा रहा है। समय-समय पर कांग्रेस ने राष्ट्रपति के इस अधिकार को सीमित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह उसमें असफल रही। 'मेयर्स बनाम संयुक्त राज्य' (Myers vs. United States) के विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय किया कि जिन पदों पर राष्ट्रपति नियुक्ति करता है, उन पदाधिकारियों को वह पदच्युत भी कर सकता है और कांग्रेस विधि द्वारा राष्ट्रपति की इस शक्ति को सीमित नहीं कर सकती, लेकिन राष्ट्रपति संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों को, कांग्रेस द्वारा स्थापित स्वतन्त्र बोर्ड, संस्था या आयोग के सदस्यों को और लोक सेवा नियमों के अन्तर्गत नियुक्त पदाधिकारियों को पदच्युत नहीं कर सकता है।

(v) क्षमादान का अधिकार—संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति को अन्य देशों के अध्यक्षों की भांति अपराधियों को क्षमा प्रदान करने, उनके दण्ड को स्थगित करने या कम करने का अधिकार प्राप्त है। राष्ट्रपति के द्वारा एक ही प्रकार के अपराध में दण्डित अनेक व्यक्तियों को 'सर्वक्षमा' (amnesty) भी प्रदान की जा सकती है। राष्ट्रपति की इस क्षमादान की शक्ति पर दो प्रतिबन्ध हैं। प्रथम, राज्यों की विधि के विरुद्ध किये गये अपराधों में दण्डित व्यक्तियों को क्षमा करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त नहीं है, वह केवल संघीय विधि के विरुद्ध किये गये अपराधों में ही क्षमा प्रदान कर सकता है। द्वितीयः, राष्ट्रपति महाभियोग द्वारा दण्डित व्यक्तियों को क्षमा प्रदान नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति ने अपनी क्षमादान की शक्ति के अन्तर्गत 8 सितम्बर, 1974 को भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन को सम्पूर्ण और निर्बाध क्षमादान प्रदान किया है। राष्ट्रपति फोर्ड द्वारा भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन को यह क्षमादान उनके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही होने और न्यायालय द्वारा उन्हें दण्डित किये जाने के पूर्व ही प्रदान किया गया है और यही बात विवाद का विषय बन गयी। प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष कार्ल कल्बर्ट और अन्य अनेक सदस्यों ने कहा कि 'इस तरह के क्षमादान राष्ट्रपति के अधिकारों का दुरुपयोग है'।

(vi) परराष्ट्र सम्बन्धों का संचालन—संयुक्त राज्य अमरीका राज्य की कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते राष्ट्रपति अमरीका की परराष्ट्र नीति निर्धारित करता है और विश्व के अन्य राज्यों के साथ अमरीका के परराष्ट्र सम्बन्धों का संचालन करता है। सन् 1800 में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने घोषणा की थी कि “वैदेशिक सम्बन्धों में राष्ट्रपति राष्ट्र का एकमात्र अधिकरण है और विदेशी राष्ट्रों के मध्य वह उसका एकमात्र प्रतिनिधि है।” सन् 1936 के ‘करटिस राइट विवाद’ में मुख्य न्यायाधीश सदरलैण्ड ने इस स्थिति को स्वीकार करते हुए कहा था कि “राष्ट्रपति ही पूर्ण रूप से संघीय शासन के वैदेशिक सम्बन्धों के निर्वहन में अधिकृत प्रवक्ता तथा साधन है। इस अधिकार के उपभोग के लिए राष्ट्रपति को कांग्रेस के अधिनियम की आवश्यकता नहीं है। उसको शासन के अन्य अधिकारों की भांति ही प्रयुक्त किया जा सकता है, बशर्ते कि इस अधिकार का प्रयोग संविधान के उपबन्धों के अनुसार हो।” हूवर आयोग, सिडनी हेमैन और लॉस्की द्वारा भी राष्ट्रपति की इस स्थिति को स्वीकार किया गया है और वस्तुतः इस पर कोई विवाद नहीं है।

परराष्ट्र सम्बन्धों के संचालन के क्षेत्र में राष्ट्रपति के द्वारा निम्न कार्य किये जाते हैं :

राजदूतों एवं प्रतिनिधियों की नियुक्ति—राष्ट्रपति राजदूतों एवं राजनीतिक तथा व्यापारिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति कर परराष्ट्र सम्बन्धों के संचालन में महत्वपूर्ण रूप से भाग लेता है। राजदूतों की नियुक्ति पर सीनेट की सहमति आवश्यक है, अतः अनेक बार राष्ट्रपति अपने विशेष अभिकर्ताओं की नियुक्ति करते हैं, जिन पर सीनेट के समर्थन की आवश्यकता नहीं रहती। राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन के विशेष अभिकर्ता कर्नल हाउस, फ्रेंकलिन रूजवेल्ट के हेरी हॉपकिन्स और ट्रूमैन और लिंडन जॉनसन के ऐबरेल हैरीमैन ने अमरीका की कूटनीति में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया है। राष्ट्रपति निक्सन के प्रथम कार्यकाल में उनके विशेष अभिकर्ता डॉ. हैनरी कीसिंगर ने अमरीका के साम्यवादी चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने तथा वियतनाम शान्ति समझौते में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया।

अमरीकी विदेश नीति का प्रवक्ता—राष्ट्रपति अमरीका की विदेश नीति का मुख्य प्रवक्ता होता है तथा कांग्रेस को समय-समय पर भेजे गये राष्ट्रपति के सन्देशों द्वारा ही कई महत्वपूर्ण विदेश नीति सम्बन्धी उद्घोषणाओं को जन्म दिया गया यथा—अलगाव सिद्धान्त (Doctrine of Isolation), मुनरो सिद्धान्त, ट्रूमैन का चार सूत्रीय कार्यक्रम तथा मध्य पूर्व के लिए आइजनहॉवर सिद्धान्त। राष्ट्रपति द्वारा घोषित इन सिद्धान्तों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमरीका की भूमिका को निश्चित किया है।

विदेशी सरकार को मान्यता प्रदान करना—विदेश नीति के क्षेत्र में राष्ट्रपति को एक अन्य उल्लेखनीय शक्ति विदेशी सरकारों को मान्यता प्रदान करने की प्राप्त है। इस अधिकार का प्रयोग राष्ट्रपति स्वविवेक से करता है और कभी-कभी वह इसे विदेश नीति के महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रयुक्त करता है। राष्ट्रपति हूवर चाहते थे कि जापान अपनी आक्रामक नीति का परित्याग कर दे, अतः उसने जापान की कठपुतली मंचूको सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की। सामान्यतः यह माना जाता है कि राष्ट्रपति ट्रूमैन ने उचित समय के पूर्व ही इजरायल राज्य को मान्यता प्रदान कर दी थी और इसका उद्देश्य अरब राज्यों के विरोध का प्रतिकार एवं नवोदित राज्य इजरायल को सुदृढ़ता प्रदान करना था। राष्ट्रपति राजदूतों को वापस बुलाकर या उनके स्तर में परिवर्तन करके भी अपना असन्तोष व्यक्त कर सकता है। उदाहरण के रूप में, 1936 में जब इटली ने ईथियोपिया पर विजय प्राप्त कर ली, तो इथियोपिया के

अमरीकी राजदूतावास को वाणिज्य दूतावास बना दिया गया और 1940 में जर्मनी का वाणिज्य दूतावास बन्द कर दिया गया।

सन्धियाँ और प्रशासकीय समझौते—वैदेशिक नीति से सम्बन्धित राष्ट्रपति का सबसे प्रमुख कार्य विदेशी राज्यों से सन्धियाँ या समझौते करना है, लेकिन ये सन्धियाँ तभी वैध समझी जाती हैं, जबकि सीनेट द्वारा अपने 2/3 बहुमत से इनकी पुष्टि कर दी जाय। यदि सीनेट राष्ट्रपति की विरोधी हो तो राष्ट्रपति स्वेच्छानुसार सन्धियाँ कभी भी नहीं कर सकता। सीनेट द्वारा वर्साय की सन्धि का अनुसमर्थन न किये जाने के कारण ही अमरीका राष्ट्रसंघ का सदस्य न बन सका, यद्यपि राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्रसंघ के निर्माण में सबसे प्रमुख रूप से भाग लिया था। सीनेट की विदेश सम्बन्ध समिति इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। वर्तमान समय में प्रायः सभी राष्ट्रपति प्रभावशाली सीनेटरों को सन्धि-वार्ता में सम्मिलित करते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने वाले शिष्टमण्डलों में उन्हें उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करते हैं और इसी प्रकार के अन्य उपायों द्वारा उनका समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

सन्धियों की क्रियान्विति हेतु उन पर सीनेट का अनुसमर्थन आवश्यक होता है, अतः अनेक बार राष्ट्रपति दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सन्धियों के स्थान पर 'प्रशासकीय समझौतों' (Executive agreements) का मार्ग अपनाते हैं, क्योंकि इन पर सीनेट के अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं होती। प्रशासकीय समझौता दो देशों की कार्यपालिका के प्रधानों के बीच सम्पन्न होता है। राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने डोमीनिकन रिपब्लिक तथा जापान के सम्राट के साथ इसी प्रकार के महत्वपूर्ण समझौते किये थे। दूसरे महायुद्ध के समय एफ. डी. रूजवेल्ट ने एक प्रशासकीय समझौते 'Destroyer Bases Agreements' के माध्यम से ब्रिटेन को 50 अमरीकी विध्वंसक दिये थे। कांग्रेस भी राष्ट्रपति को अन्य राष्ट्रों के साथ समझौता करने का अधिकार दे सकती है। जैसे 1934 में 'परस्पर सम्बन्ध सूचक व्यापार अधिनियम' (Reciprocal Trade Act) के अनुसार राष्ट्रपति को विदेशों से आये व्यापारिक समझौते करने का अधिकार दिया गया। गुप्त कूटनीति (Secret Diplomacy) के आधार पर राष्ट्रपति को 'गुप्त समझौते' करने की भी शक्ति प्राप्त है। सन् 1905 में थियोडोर रूजवेल्ट ने जापान के साथ गुप्त समझौता करके निश्चित किया था कि फिलीपाइन्स द्वीप में अमरीकी प्रभुत्व को जापान मान्यता देगा तथा कोरिया में जापान के आधिपत्य को अमरीका स्वीकार करेगा। द्वितीय महायुद्ध के काल में रूजवेल्ट ने चर्चिल और अन्य राजनेताओं के साथ गुप्त मन्त्रणाएं करके अमरीकी विदेश नीति को नया मोड़ दिया था।

(vii) विदेशों में अमरीकी नागरिकों का संरक्षण (Protection of American Citizens in Foreign Countries)—राष्ट्रपति का यह भी कर्तव्य है कि वह विदेश यात्रा करने वाले और प्रवासी अमरीकी नागरिकों को संरक्षण प्रदान करे। यदि प्रवास-काल में अमरीकी नागरिक के साथ वहाँ दुर्व्यवहार किया जाता है, तो राष्ट्रपति ऐसे मामलों में हस्तक्षेप कर हर्जाने की मांग कर सकता है।

इन सबके अतिरिक्त अमरीकी राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेता है और अमरीका के सर्वोच्च प्रतिनिधि के रूप में विदेश यात्राएं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा है।

यदि पिछले वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत अमरीका द्वारा अपनायी गयी स्थिति का अध्ययन किया जाय, तो भी यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है कि अमरीका की

विदेश नीति के संचालन में राष्ट्रपति सर्वाधिक प्रमुख रूप से भाग लेता है। 1962 में क्यूबा विवाद के अन्तर्गत अमरीका द्वारा अपनायी गयी कठोर स्थिति राष्ट्रपति कैंनेडी के व्यक्तिगत निर्णय का परिणाम थी। राष्ट्रपति जॉनसन के द्वारा अपने कार्यकाल में जिस प्रकार वियतनाम युद्ध में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेने की नीति अपनायी गयी और 1971-73 के काल में राष्ट्रपति निक्सन के द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ में साम्यवादी चीन को प्रवेश प्रदान करने, साम्यवादी चीन के साथ अमरीका के सम्बन्ध सुधारने और वियतनाम के सम्बन्ध में शान्ति समझौते के जो कार्य किये गये वे सभी इन राष्ट्रपतियों के व्यक्तिगत निर्णय के परिणाम थे और इनमें उनके द्वारा पहल की गयी थी। इसी प्रकार 1979 में अमरीकी राष्ट्रपति कार्टर द्वारा मिस्र और इजराइल के बीच शान्ति समझौता करवाया गया तथा मध्यपूर्व में स्थायी शान्ति को सम्भव बनाने के प्रयत्न किये गये। यह एक तथ्य है कि वैदेशिक सम्बन्धों का अन्तिम नियन्त्रण राष्ट्रपति के हाथों में है और एक महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति विदेश नीति को अपनी इच्छानुसार दिशा प्रदान कर सकता है।

(viii) सशस्त्र बलों का प्रधान सेनापतित्व—संविधान के अनुसार राष्ट्रपति सशस्त्र बलों का सर्वोच्च सेनापति है और इस नाते वह जिस प्रकार चाहे, सशस्त्र बलों का प्रयोग कर सकता है। राष्ट्र की प्रतिरक्षा का उत्तरदायित्व राष्ट्रपति का है और इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए उसे यह स्थिति प्रदान की गयी है। संविधान के अनुसार युद्ध की घोषणा करने की शक्ति कांग्रेस को प्राप्त है, लेकिन सशस्त्र बलों को आदेश देने और युद्ध का संचालन करने की शक्ति राष्ट्रपति को प्राप्त है। व्यवहार के अन्तर्गत राष्ट्रपति सशस्त्र बलों का प्रयोग इस प्रकार कर सकता है कि कांग्रेस के सामने युद्ध घोषित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहे। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण द्वितीय विश्वयुद्ध के घटनाचक्र से दिया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत रूजवेल्ट प्रशासन द्वारा मित्रराष्ट्रों को दी जाने वाली सहायता के कारण जापान द्वारा अमरीकी जहाज 'पर्ल हार्बर' को नष्ट किया गया और ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर कांग्रेस को जापान और धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी, यद्यपि कांग्रेस इसके पूर्व तीन बार 'तटस्थता अधिनियम' पारित चुकी थी। इसी प्रकार 1950 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कांग्रेस के अनुसमर्थन के बिना ही संयुक्त राष्ट्र संघ के झण्डे के नीचे अमरीकी सैनिकों को उ. कोरिया से युद्ध करने के लिए भेजकर अमरीका को कोरिया युद्ध में शामिल कर दिया था। सन् 1965 में उत्तरी वियतनाम पर बमबारी का आदेश देकर राष्ट्रपति जॉनसन ने अमरीका को वियतनाम युद्ध में झोंक दिया। कांग्रेस के आदेश के बिना ही सेनाएं भेजने का कार्य भूतकाल में राष्ट्रपति पोक, राष्ट्रपति मैक्किनले और राष्ट्रपति विल्सन के द्वारा भी किया जा चुका है। अब तक के इस समस्त घटनाचक्र को दृष्टि में रखते हुए सिडनी हेमेन के शब्दों में कहा जा सकता है कि "शीत-युद्धों, अर्द्ध-युद्धों तथा अघोषित युद्धों के इस युग में अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति की युद्ध करने की शक्ति ने कांग्रेस के युद्ध घोषित करने के अधिकार को हड़प लिया है।"¹

सर्वोच्च सेनापति के रूप में राष्ट्रपति व्यापक शक्तियों का प्रयोग करता है। वह निश्चित करता है कि सेनाएं एकत्र की जायें तथा हवाई अड्डे और जहाजी बेड़े कहां स्थापित किये

1 "In this epoch of cold wars, half wars and undeclared wars, it appears at times that the president's powers to make war has virtually swallowed the Congressional right to declare war."

—Hayman Sydney, *The American Presidents*, p. 294.

जायें। दोनों महायुद्धों को दृष्टि में रखते हुए यह कहना बहुत अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि युद्धकाल में उसकी स्थिति लगभग एक अधिनायक जैसी हो जाती है। 1991 में अमरीका तथा उसके सहयोगी देशों ने इराक के विरुद्ध जिस रूप में कार्यवाही की, उसमें भी यही बात स्पष्ट हुई है।

(2) विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)—शक्ति विभाजन सिद्धान्त पर आधारित अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था को अपनाने के कारण अमरीकी संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को प्रत्यक्ष रूप में विधि-निर्माण की शक्ति प्रदान नहीं की गयी है, लेकिन संविधान-निर्माता शक्ति विभाजन सिद्धान्त की सीमाओं से परिचित थे और उनके द्वारा राष्ट्रपति को विधायी क्षेत्र में कुछ कार्य सौंपे गये थे। पीटर के शब्दों में, “संविधान ने राष्ट्रपति को विधायी प्रक्रिया के प्रारम्भ और अन्त में स्थान दिया है।”¹ राष्ट्रपति अपने इन कार्यों के आधार पर परोक्ष रूप में विधि-निर्माण को प्रभावित कर सकता है और वर्तमान समय में तो राष्ट्रपति के ये कार्य इतने बढ़ गये हैं कि इनके आधार पर उसे ‘प्रधान विधायक’ (Chief Legislator) कहा जाने लगा है। विधायी क्षेत्र में राष्ट्रपति द्वारा किये जाने वाले कार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार है :

(i) कांग्रेस को सन्देश भेजना (Power to Send Message to Congress)—संविधान में व्यवस्था की गयी है कि “समय-समय पर राष्ट्रपति कांग्रेस को संघ की स्थिति के बारे में जानकारी देगा और उसके विचार के लिए ऐसे सुझावों की सिफारिश करेगा, जिन्हें वह आवश्यक और लाभकर समझे।” राष्ट्रपति कांग्रेस को वार्षिक सन्देश भेजते हैं। इन सन्देशों में देश की सामान्य स्थिति पर प्रकाश डालते हैं, प्रमुख समस्याओं पर कांग्रेस का ध्यान आकर्षित करते हैं और आवश्यक कानूनों के निर्माण की सिफारिश करते हैं। इसके अतिरिक्त वे कभी-कभी विशेष परिस्थितियों के बारे में विशेष सन्देश भेजते हैं और आवश्यक कानूनों के निर्माण का सुझाव देते हैं। राष्ट्रपति वाशिंगटन तथा एंड्रसॉन कांग्रेस में स्वयं उपस्थित होकर सन्देश पढ़ते थे, जैफरसन ने इस प्रथा को बन्द कर दिया और कांग्रेस को लिखित सन्देश भेजने लगे। सन् 1913 में विल्सन ने कांग्रेस के सामने उपस्थित होने की प्रथा को पुनः प्रारम्भ किया और तब से यह प्रथा बराबर चल रही है। कांग्रेस राष्ट्रपति की सिफारिशों को मानने के लिए बाध्य नहीं है, लेकिन वह उसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकती।

(ii) कांग्रेस के विशेष अधिवेशन आमन्त्रित करना (To Call Special Sessions of the Congress)—ब्रिटिश सम्राट या भारत के राष्ट्रपति के समान अमरीकी राष्ट्रपति द्वारा कांग्रेस को साधारण दिनों में आमन्त्रित या स्थगित नहीं किया जा सकता, लेकिन कांग्रेस के दोनों सदनों में स्थगन के प्रश्न पर मतभेद होने की स्थिति में वह उन्हें स्थगित कर सकता है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि यदि कोई महत्वपूर्ण या अत्यावश्यक स्थिति उत्पन्न हो जाय, तो वह कांग्रेस के चलते हुए साधारण अधिवेशन को कुछ और दिनों तक चलाने का अनुरोध कर सकता है। यदि कांग्रेस राष्ट्रपति के अनुरोध से सहमत न हो, तो वह कांग्रेस को धमकी दे सकता है कि अधिवेशन की समाप्ति के शीघ्र बाद विशेष अधिवेशन आमन्त्रित होगा। सामान्यतः कांग्रेस के सदस्य विशेष अधिवेशन नहीं चाहते और वे राष्ट्रपति की बात को स्वीकार कर लेते हैं।

1 “The Constitution puts the President at the beginning and end of the legislative process.” —A. M. Potter, *American Governments and Politics*, p. 197.

(iii) निषेधाधिकार (Veto Power)—राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण निषेधाधिकार की शक्ति है। संविधान में कहा गया है कि सीनेट और प्रतिनिधि सभा में पारित होने के पश्चात् विधेयक के कानून बनने के पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के पास भेजा जायेगा। राष्ट्रपति को विधेयक पर पूर्ण निषेधाधिकार नहीं वरन् सीमित निषेधाधिकार ही प्राप्त है। उसकी निषेधाधिकार शक्ति के दो रूप हैं : विलम्बकारी निषेधाधिकार (Suspensive Veto) और जेबी निषेधाधिकार (Pocket Veto)।

विलम्बकारी निषेधाधिकार—जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए आता है तो राष्ट्रपति उसे अस्वीकृत कर सकता है और अपनी आपत्तियों के साथ उसे उस सदन को लौटा देता है, जिसमें वह प्रारम्भ हुआ था। यदि पुनः दोनों सदन दो-तिहाई बहुमत से इसे पारित कर देते हैं, तो वह कानून बन जाता है और इस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार राष्ट्रपति का निषेधाधिकार मर्यादित है, पूर्ण नहीं, लेकिन इसका महत्व इस दृष्टि से है कि सदा दो-तिहाई बहुमत का मिलना आसान नहीं होता और राष्ट्रपति द्वारा एक बार अस्वीकृत कर दिये जाने पर प्रायः विधेयक समाप्त ही हो जाता है। इसका प्रमाण यह है कि 1789 से 1925 तक राष्ट्रपति ने 600 बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया था, जिसमें केवल 36 कांग्रेस द्वारा पुनः पारित हो सके।

जेबी निषेधाधिकार—जब कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा हो, उस समय राष्ट्रपति के पास यदि कोई विधेयक स्वीकृति के लिए आता है, तो राष्ट्रपति के द्वारा उस पर अवकाश के दिनों के अतिरिक्त 10 दिन तक विचार किया जा सकता है, 10 दिन के बाद राष्ट्रपति की बिना स्वीकृति के ही वह विधेयक कानून बन जाता है, परन्तु यदि इन 10 दिनों में कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो जाय, तो राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिलने पर यह विधेयक अपने आप ही निषिद्ध हो जाता है। इसमें राष्ट्रपति को प्रत्यक्ष रूप से निषेध करने की आवश्यकता नहीं होती और इसे राष्ट्रपति का 'जेबी निषेधाधिकार' (Pocket Veto) कहते हैं। अभिप्राय यह है कि राष्ट्रपति ने विधेयक को अपनी जेब में रख लिया है। इसे न तो स्वीकार किया है और न अस्वीकार। इस शक्ति का महत्व इस दृष्टि से है कि कांग्रेस अपने अधिवेशन के अन्तिम दिनों में जल्दी-जल्दी विधेयक पारित करती है, परन्तु जेबी निषेधाधिकार के कारण ये विधेयक विधि का रूप नहीं ले पाते।

प्रारम्भ में राष्ट्रपतियों ने निषेधाधिकार की शक्ति का प्रयोग सीमित रूप में किया, किन्तु बाद में इसका व्यापक प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिए, क्लीवलैण्ड द्वारा 414 बार, फ्रैंकलिन रूजवेल्ट द्वारा 631 बार और ट्रूमैन द्वारा 224 बार निषेधाधिकार की शक्ति का प्रयोग किया गया। आइजनहॉवर के द्वारा भी इस शक्ति का पर्याप्त प्रयोग किया गया और 1973-74 में राष्ट्रपति निक्सन द्वारा इस शक्ति का व्यापक रूप में प्रयोग किया गया। राष्ट्रपति फोर्ड ने अपने लगभग दो वर्ष से कुछ अधिक कार्यकाल में 56 विधेयकों पर निषेधाधिकार का प्रयोग किया। राष्ट्रपति निषेधाधिकार की शक्ति के प्रयोग की धमकी देकर भी विधेयक का प्रारूप अपनी इच्छानुसार बनवा सकता है। थियोडोर रूजवेल्ट और ट्रूमैन ने इस धमकी का अधिक प्रयोग किया था। ऑग और रे ने राष्ट्रपति की इस निषेधाधिकार शक्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि "प्रथाओं द्वारा निषेधाधिकार में इतनी वृद्धि हो गयी है कि वह विधेयक को दोहराने की सामान्य शक्ति बन गयी है, जिसका प्रयोग सभी प्रकार के विधेयकों के सम्बन्ध में किया जाता है।"

(iv) कार्यपालिका आदेश (Executive Orders)—निषेधाधिकार राष्ट्रपति को निषेधात्मक विधायी शक्ति प्रदान करता है तो राष्ट्रपति के द्वारा सकारात्मक विधायी शक्ति का प्रयोग कार्यपालिका आदेश के माध्यम से किया जाता है। राष्ट्रपति को शासन विषयक आदेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है। कांग्रेस कानून बनाते समय केवल नीति का निर्देश कर देती है और उनके सम्बन्ध में विशद् रूप से नियम बनाने का अधिकार कार्यपालिका विभाग को दे दिया जाता है। इस व्यवस्था से लाभ उठाकर राष्ट्रपति शासन विषयक विभिन्न आदेश जारी करता है, जिनका कानून के समान ही महत्व होता है। इसे 'प्रदत्त व्यवस्थापन' (Delegated Legislation) या 'अध्यादेश शक्ति' (Ordinance Power) भी कहते हैं।

व्यवस्थापन को प्रभावित करने के अन्य साधन (Other means to Influence the Legislation)—उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी राष्ट्रपति व्यवस्थापन को प्रभावित कर सकता है। यद्यपि संविधान राष्ट्रपति को विधेयकों का प्रारूप निर्धारित करने का अधिकार प्रदान नहीं करता, किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति के अधिक प्रशासनिक अनुभव ने उसे यह शक्ति प्रदान कर दी है। कांग्रेस के अन्दर और बाहर राष्ट्रपति की एक प्रभावशाली लॉबी होती है, जो राष्ट्रपति की इच्छानुसार कानून निर्माण का प्रयत्न करती है। राष्ट्रपति को हजारों पदों पर नियुक्तियाँ करने का जो अधिकार प्राप्त है, उसके आधार पर राष्ट्रपति कांग्रेस सदस्यों पर कृपा कर उनसे बदले में विधि-निर्माण क्षेत्र में सहयोग और सद्भाव की आशा कर सकता है। यदि कांग्रेस राष्ट्रपति की इच्छानुसार कानून-निर्माण का कार्य नहीं कर रही है तो वह राष्ट्र के सर्वोच्च नेता के रूप में लोकमत से सीधी अपील भी कर सकता है और इन सबके अतिरिक्त कांग्रेस सदस्यों के साथ सम्मेलन और अनुरोध के आधार पर उसके द्वारा विधि-निर्माण कार्य को प्रभावित करने का सफल प्रयत्न किया जा सकता है।

वस्तुतः राष्ट्रपति विधि के क्षेत्र में शक्तिशाली होता है। एल. एच. चेम्बरलेन ने 1946 में 50 वर्षों में कांग्रेस द्वारा निर्मित 96 महत्वपूर्ण कानूनों का विश्लेषण अपनी पुस्तक 'राष्ट्रपति, कांग्रेस और विधायन' (*The President, Congress and Legislation*) में करते हुए बताया है कि "20 प्रतिशत कानून कार्यपालिका के प्रभाव से, 40 प्रतिशत कांग्रेस के प्रभाव से, 30 प्रतिशत कांग्रेस और कार्यपालिका दोनों के समान प्रभाव से तथा 10 प्रतिशत गैर-सरकारी निजी हितों के प्रभाव से बने थे।" उसने यह भी बताया कि "बीसवीं सदी के अमरीकी संवैधानिक इतिहास की एक प्रमुख घटना विधि-निर्माण के क्षेत्र में कार्यपालिका का एक शक्ति के रूप में उदय है।"

विधि-निर्माण के क्षेत्र में इन समस्त शक्तियों के बावजूद यह मानना होगा कि राष्ट्रपति विधि-निर्माण कार्य को प्रभावित ही कर सकता है, नियन्त्रित नहीं। विधि-निर्माण में उसका वास्तविक प्रभाव स्वयं उसके व्यक्तित्व, कांग्रेस के दोनों सदनों में उसके दल की स्थिति और उसकी नीति की लोकप्रियता पर निर्भर करता है।

(3) न्यायिक शक्तियाँ (Judicial Powers)—राष्ट्रपति को न्यायिक क्षेत्र में भी शक्तियाँ प्राप्त हैं। सीनेट की सहमति से वह संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है, किन्तु वह उन्हें पदच्युत नहीं कर सकता। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को अमरीकी संघ के विरुद्ध किये गये अपराधों के सम्बन्ध में अपराधियों के दण्ड को स्थगित करने या क्षमा प्रदान करने की शक्ति प्राप्त है, परन्तु महाभियोग द्वारा दण्डित व्यक्तियों को राष्ट्रपति क्षमादान नहीं कर सकता है। राष्ट्रपति सर्वक्षमा (amnesty) अर्थात् एक साथ अनेक व्यक्तियों को क्षमा

भी प्रदान कर सकता है, जैसा कि राष्ट्रपति जॉनसन ने 1868 में उन सभी व्यक्तियों को क्षमा कर दिया जो गृहयुद्ध में दक्षिण की ओर से लड़े थे।

(4) राष्ट्रपति, एक दलीय नेता (President, a Party Leader)—राष्ट्रपति अपने दल का नेता होता है और इस रूप में भी इसे बहुत अधिक शक्ति तथा प्रभाव प्राप्त होता है। वह अपने दल की राष्ट्रीय समिति के चेयरमेन को नियुक्त करता है और उसके परामर्श से दल के अन्य महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति करता है। उसके दल के पदाधिकारी दल की सभी महत्वपूर्ण नीतियों और राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में उससे परामर्श करते हैं और उसके विचार सभी महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णायक होते हैं। यदि राष्ट्रपति के दल को कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त हो तो वह दलीय नेता के रूप में विधि-निर्माण कार्य अपनी इच्छानुसार करवा सकता है।

(5) अमरीकी राष्ट्र का सर्वोच्च नेता (Supreme Leader of the American Nation)—इन सबके अतिरिक्त, राष्ट्रपति अमरीकी राष्ट्र का सर्वोच्च नेता होता है। अमरीकी राष्ट्रपति का चुनाव एक दलीय व्यक्ति के रूप में किया जाता है, लेकिन राष्ट्रीय कार्यपालिका के सर्वोच्च प्रधान के रूप में उसे जो स्थिति प्राप्त होती है, उसके कारण यह दलीय नेता से ऊपर उठकर राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है। अमरीकी संविधान-निर्माता नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त में विश्वास करते थे और उनके द्वारा संगठित या एकसूत्रीय नेतृत्व के स्थान पर बिखरे हुए या कुछ सीमा तक विभाजित नेतृत्व की व्यवस्था की गयी थी, लेकिन अमरीकी जनता की लालसा सदैव एक ही सत्ता का नेतृत्व प्राप्त करने की रही और उनके द्वारा कांग्रेस की अपेक्षा राष्ट्रपति के रूप में यह नेतृत्व प्राप्त किया गया है। राष्ट्रपति अमरीकी राजनीति का सर्वोच्च व्यक्तित्व है, सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व उसके द्वारा ही किया जा सकता है और कठिन तथा संकटपूर्ण स्थिति में व्यक्ति उसी की ओर बुद्धिमत्तापूर्ण तथा प्रभावशाली नेतृत्व के लिए देखते हैं। इन सब बातों ने उसे राष्ट्र के सर्वोच्च नेता की स्थिति प्रदान कर दी है और उसे यह स्थिति न केवल आन्तरिक राजनीति वरन् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी प्राप्त होती है। राष्ट्रपति विल्सन ने इस सम्बन्ध में लिखा है, समस्त राष्ट्र ने उसे राष्ट्रपति निर्वाचित किया है और उसे यह ध्यान रखना है कि अमरीकी राष्ट्र का अन्य कोई राजनीतिक प्रवक्ता नहीं है। केवल उसका उद्घोष ही राष्ट्रीय होता है। उसे एक बार देश का विश्वास तथा प्रशंसा जीत लेने दो और कोई अकेली शक्ति उसका सामना नहीं कर सकती, कई शक्तियों का संगठन भी उसे सरलता से नहीं हरा सकता। उसकी स्थिति राष्ट्रीय हो जाती है। वह किसी एक निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधि न होकर समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है।”

लेकिन वास्तविक स्थिति बहुत कुछ सीमा तक राष्ट्रपति के अपने व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। कूलिज और बुचानन जैसे औसत व्यक्ति राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति का संकुचित रूप ग्रहण करते हुए राष्ट्रीय राजनीति में एक साधारण भूमिका निभाते हैं, लेकिन लिंकन, बुडरो विल्सन और फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट जैसे शक्तिशाली व्यक्ति जीवन के सभी क्षेत्रों में राष्ट्र को शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान करते हैं। संकटकाल में तो राष्ट्रपति पद की कोई भी सीमाएं नहीं रहतीं। मुनरो लिखता है कि “युद्धकाल में राष्ट्रपति की शक्तियां उतनी ही अधिक हैं, जितनी नेपोलियन या ऑलिवर क्रामवेल की थीं।” लेकिन सामान्य काल में राष्ट्रपति एक तानाशाह की भांति नहीं, वरन् एक प्रजातन्त्रात्मक राज्य के सर्वोच्च प्रधान के रूप में कार्य करता है।

राष्ट्रपति की शक्तियों में वृद्धि और उसके कारण (INCREASING POWERS OF THE PRESIDENT AND ITS REASONS)

संयुक्त राज्य अमरीका के संवैधानिक विकास के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रपति पद की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि होती रही है। जार्ज वाशिंगटन के समय से बिल क्लिण्टन और जार्ज बुश के समय तक राष्ट्रपति पद विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली पद हो गया। अमरीकी संविधान के निर्माता नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करते हुए किसी भी पदाधिकारी को बहुत अधिक शक्तिशाली नहीं होने देना चाहते थे, लेकिन परिस्थितियों-वश राष्ट्रपति पद सभी संवैधानिक सीमाओं को पार कर गया है। पीटर के शब्दों में, “राष्ट्रपति का पद एक विस्तारशील शक्ति का पद रहा है।”

राष्ट्रपति पद की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि के कारणों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) राष्ट्रपति पद की शक्तियों में वृद्धि का सर्वप्रथम कारण इस पद को धारण करने वाले महान व्यक्ति रहे हैं, जिन्होंने संविधान की उदार व्याख्या को ग्रहण करते हुए दूरदर्शिता और साहस के साथ राष्ट्रीय हित में कार्य किया। इन राष्ट्रपतियों की धारणा यह थी कि यदि संविधान स्पष्ट शब्दों में उसे ऐसा करने से रोकता न हो, तो आवश्यकतानुसार जो कुछ भी वह इस देश के हित में ठीक समझें करें। ऐसे महान राष्ट्रपतियों में जैक्सन, लिंकन और एफ. डी. रूजवेल्ट, विल्सन तथा कैनेडी के द्वारा भी बहुत कुछ सीमा तक इसी सिद्धान्त के आधार पर आचरण किया गया। इन राष्ट्रपतियों के कार्यों को देखते हुए बुड्रो विल्सन का यह कथन सर्वथा सत्य है कि “कानून तथा नीति, दोनों की दृष्टि से एक राष्ट्रपति उतना महान बनने के लिए स्वतन्त्र है, जितनी कि उसमें सामर्थ्य है। उसकी अपनी क्षमता ही उसकी महानता की सीमा है।”

(2) सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गयी संविधान की व्याख्याओं ने भी राष्ट्रपति पद को शक्तिशाली बनाने का ही कार्य किया है। संविधान की अस्पष्टता या उसके मौन की स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की व्याख्या इस प्रकार की है कि राष्ट्रपति को बहुमुखी शक्ति प्राप्त हो गयी। उदाहरण के लिए, संविधान सार्वजनिक अधिकारियों की पदच्युति की विधि के सम्बन्ध में मौन है, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने संवैधानिक शब्दावली की उदार व्याख्या करते हुए मेयर्स नामक विवाद में मत प्रकट किया है कि राष्ट्रपति स्वेच्छा से ऐसे पदाधिकारियों को पदच्युत कर सकता है। अन्य क्षेत्रों में भी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गयी व्याख्याओं ने राष्ट्रपति पद की शक्तियों को बढ़ाया है।

(3) राष्ट्रपति पद के प्रजातन्त्रीकरण ने भी उसकी शक्तियां बढ़ाने में योग दिया है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से राष्ट्रपति का निर्वाचन आज भी अप्रत्यक्ष रीति से ही होता है, किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति के निर्वाचकों का चुनाव जिस प्रकार से होता है और उसके बाद जिस प्रकार वे राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं, उसने इसे एक प्रत्यक्ष निर्वाचन का रूप प्रदान कर दिया है। राष्ट्रपति पद के इस पूर्ण प्रजातन्त्रीकरण के कारण राष्ट्रपति जनता का निर्द्वन्द्व नेता और उसकी आकांक्षाओं का मूर्त रूप बन गया है। जनता का जैसा विश्वास उसे प्राप्त है,

1 “The Presidency has been an office of expanding powers,”

—A. M. Petter, *American Government and Politics*, p. 203.

वैसा अन्य किसी भी पदाधिकारी या संस्था को नहीं। हेनरी जेम्स फोर्ड के शब्दों में “संवैधानिक ढांचे को तोड़कर राष्ट्रपति पद को महान् बनाना जनता का ही काम है।”¹

(4) संयुक्त राज्य अमरीका के एक महान् विश्व शक्ति के रूप में उदय और अमरीका द्वारा लोककल्याणकारी राज्य की धारणा को अपना लेने के कारण भी राष्ट्रपति पद की शक्तियों में वृद्धि हुई है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमरीकी राष्ट्र के अनेक उत्तरदायित्व हैं और ये उत्तरदायित्व राष्ट्रपति के द्वारा ही पूरे किये जा सकते हैं। राज्य के कार्यक्षेत्र में होने वाली निरन्तर वृद्धि ने राष्ट्रपति की शक्तियों में किस प्रकार से वृद्धि की है, इसके सम्बन्ध में कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। 1791 में राष्ट्रपति वाशिंगटन ने 9 अपराधियों को क्षमा प्रदान की और 65 व्यक्तियों को संघीय पदों पर नियुक्त किया, लेकिन ट्रूमैन ने अपने कार्यकाल के एक वर्ष में 500 नागरिकों तथा 9 हजार सैनिक व्यक्तियों को क्षमा प्रदान की और 25 हजार व्यक्तियों को नियुक्त किया।

(5) अमरीकी संविधान को लागू करने के बाद अमरीकी राष्ट्र के सम्मुख जो संकट आये, उन्होंने राष्ट्रपति पद की शक्तियों में भारी वृद्धि की है। संकटकाल में राष्ट्र को कुशल एवं सुदृढ़ नेतृत्व की आवश्यकता होती है और यह नेतृत्व राष्ट्रपति के द्वारा ही प्रदान किया जा सकता है। लिंकन के शासनकाल में गृहयुद्ध के कारण राष्ट्रपति को नवीन शक्तियां मिलीं। इसी प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध, 1930 के आर्थिक संकट, द्वितीय विश्वयुद्ध और युद्धोपरान्त शीतयुद्ध ने राष्ट्रपति पद की शक्तियों को बढ़ाया है। इन संकटों का सफलतापूर्वक सामना करने से राष्ट्रपति पद की गौरवगरिमा भी बढ़ी है। संकट के समय राष्ट्रपति को जो शक्तियां दी जाती हैं, संकट समाप्त होने पर उनमें से अधिकांश को वापस ले लिया जाता है, किन्तु समस्त शक्तियों को पूर्ण रूप से वापस लेना प्रायः असम्भव होता है और मुन्रो के शब्दों में, “इसलिए प्रत्येक राष्ट्रीय संकट का परिणाम राष्ट्रपति की सत्ता में स्थायी रूप से कुछ बातों का जुड़ जाना होता है।”²

(6) वर्तमान समय में प्रशासनिक पेचीदगियां बढ़ जाने से ‘कार्यपालिका आदेश’ की प्रवृत्ति का विकास हुआ है और इसने राष्ट्रपति को न केवल प्रशासन, वरन् कानून-निर्माण के क्षेत्र में भी शक्ति प्रदान कर दी है।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति की शक्तियों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है और आज की स्थिति के सम्बन्ध में स्ट्रोंग के शब्दों में कहा जा सकता है कि “विश्व के अन्य किसी भी संवैधानिक राज्य में अमरीकी राष्ट्रपति के समान व्यापक शक्तियों वाला कोई पदाधिकारी नहीं है।”³

राष्ट्रपति और कांग्रेस

(PRESIDENT AND CONGRESS)

अमरीकी संविधान-निर्माता शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त से प्रभावित थे और उनके द्वारा अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। इस कारण अमरीकी शासन व्यवस्था के

1 “The greatness of the Presidency is the work of the people, breaking through the constitutional form.”

—H. J. Ford

(Quoted by Burns & Peltason, *Government by the People*, p. 378)

2 “Every national emergency results, therefore, in some permanent additions to presidential authority.”

—W. B. Munro, *op. cit.*, p. 183.

3 “It is safe to say that in no constitutional state in the world does there exist an officer with such vast powers as those of the President of the American Union.”

—C. F. Strong, *Modern Political Constitution*, p. 266.

अन्तर्गत राष्ट्रपति और कांग्रेस के बीच वैसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि प्रत्यक्ष सम्बन्ध ब्रिटेन में लोकसदन और केबिनेट के बीच देखा जा सकता है। ब्रिटेन में लोकसदन (व्यवस्थापिका) और केबिनेट कार्यकाल और कार्य दोनों की ही दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं, लेकिन अमरीका में राष्ट्रपति और कांग्रेस कार्यकाल की दृष्टि से एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। राष्ट्रपति का कार्यकाल 4 वर्ष है और कांग्रेस के द्वारा महाभियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से इस अवधि के पूर्व उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता एवं महाभियोग निश्चित रूप से एक अपवादस्वरूप प्रक्रिया है। इसी प्रकार कांग्रेस के दोनों सदनों में से प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल 2 वर्ष और सीनेट सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष होता है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री जिस प्रकार सम्राट को परामर्श देकर लोकसदन को समय के पूर्व भंग करवा सकता है, उसी प्रकार राष्ट्रपति द्वारा प्रतिनिधि सभा या सीनेट को समय के पूर्व भंग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कार्यकाल की दृष्टि से राष्ट्रपति और कांग्रेस एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं।

लेकिन जहां तक कार्यों का सम्बन्ध है, कानून-निर्माण और प्रशासन का कार्य अपनी प्रकृति से एक-दूसरे पर निर्भर है और अमरीकी संविधान-निर्माता भी इस तथ्य से परिचित थे। इसके अतिरिक्त सरकार के किसी अंग विशेष को अपने सीमित क्षेत्र में निरंकुशता की प्रवृत्ति को ग्रहण करने से रोकने के लिए उनके द्वारा शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के साथ नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाया गया है। इस प्रकार अमरीका में राष्ट्रपति और कांग्रेस बहुत कुछ सीमा तक एक-दूसरे पर निर्भर हैं। फाइनर ने इन दोनों की अन्तरनिर्भरता का उल्लेख करते हुए लिखा है, "राष्ट्रपति और कांग्रेस की शक्तियां एक बैंक नोट के दो भागों की भांति हैं, जिसमें प्रत्येक दूसरे के बिना व्यर्थ हैं।"¹

राष्ट्रपति कांग्रेस के कार्यों को कैसे प्रभावित करता है?

(HOW PRESIDENT INFLUENCES THE CONGRESS)

संविधान के अनुसार व्यवस्थापन कांग्रेस का एकाधिकार है और राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान है। अमरीकी राष्ट्रपति ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री की भांति व्यवस्थापिका में स्वयं उपस्थित होकर विधेयक प्रस्तावित करने और विधि निर्माण के कार्य में व्यवस्थापिका को नेतृत्व प्रदान करने का कार्य तो नहीं करता, लेकिन वह अनेक प्रकार से कांग्रेस के कार्यों को प्रभावित करता है।

सर्वप्रथम, राष्ट्रपति को अधिकार है कि समय-समय पर कांग्रेस को सन्देश भेजे। इन सन्देशों में वह देश की सामान्य स्थिति की विवेचना करते हुए कांग्रेस को सुझाव देता है कि विद्यमान परिस्थितियों का मुकाबला करने और देश के सामने प्रस्तुत समस्याओं को हल करने के लिए किस प्रकार का व्यवस्थापन आवश्यक है। संवैधानिक इतिहास से स्पष्ट होता है कि इन सन्देशों का प्रायः सम्मान किया जाता है और कांग्रेस के व्यवस्थापन कार्यक्रम का श्रीगणेश सामान्यतया राष्ट्रपति के सन्देश से ही होता है।

द्वितीय, यदि राष्ट्रपति समझे कि कांग्रेस के द्वारा अनुचित प्रकार के कानूनों का निर्माण करने की चेष्टा की जा रही है, तो राष्ट्रपति निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। राष्ट्रपति

1 "The powers of the President and Congress resemble the two halves of a bank note, each useless without the other."

—S. E. Finer, *Comparative Government*, p. 233.

को यद्यपि पूर्ण निषेधाधिकार नहीं, वरन् मर्यादित निषेधाधिकार ही प्राप्त है, लेकिन सामान्यतया ऐसा देखा गया है कि राष्ट्रपति द्वारा किया गया विलम्बकारी निषेधाधिकार का प्रयोग विधेयक के जीवन को समाप्त ही कर देता है।

तृतीय, राष्ट्रपति को 'कार्यपालिका आदेश' जारी करने की शक्ति प्राप्त है, जिसका प्रभाव कानून के समान ही होता है। इन कार्यपालिका आदेशों के माध्यम से राष्ट्रपति सकारात्मक रूप से कानून-निर्माण की शक्तियों का प्रयोग कर सकता है।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अन्य प्रकार से भी विधि-निर्माण को प्रभावित कर सकता है। राष्ट्रपति के द्वारा कांग्रेस के विशेष अधिवेशन बुलाये जा सकते हैं। संविधान राष्ट्रपति को विधेयकों का प्रारूप निर्धारित करने का अधिकार प्रदान नहीं करता, किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति के अधिक प्रशासनिक अनुभव ने उसे यह शक्ति प्रदान कर दी है। कांग्रेस के अन्दर और बाहर राष्ट्रपति की एक प्रभावशाली लॉबी होती है, जो राष्ट्रपति की इच्छानुसार कानून-निर्माण का प्रयत्न करती है। राष्ट्रपति को हजारों पदों पर नियुक्तियां करने का जो अधिकार प्राप्त है, उसके आधार पर राष्ट्रपति कांग्रेस सदस्यों पर कृपा कर उनसे बदले में विधि-निर्माण क्षेत्र में सहयोग और सद्भावना की आशा कर सकता है। यदि कांग्रेस राष्ट्रपति की इच्छानुसार कानून-निर्माण का कार्य नहीं कर रही है तो वह राष्ट्र के सर्वोच्च नेता के रूप में लोकमत से सीधी अपील कर सकता है और इन सबके अतिरिक्त कांग्रेस सदस्यों के साथ सम्मेलन और अनुरोध के आधार पर उसके द्वारा विधि-निर्माण कार्य को प्रभावित करने का सफल प्रयास किया जा सकता है।

इस प्रकार राष्ट्रपति व्यवस्थापन के क्षेत्र में कांग्रेस के कार्यों पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। कांग्रेस राष्ट्रपति के सन्देश से प्राप्त प्रेरणा के आधार पर व्यवस्थापन कार्य प्रारम्भ करती है और व्यवस्थापन बहुत कुछ सीमा तक राष्ट्रपति की इच्छानुसार ही सम्पन्न होता है।

कांग्रेस राष्ट्रपति के कार्यों को कैसे प्रभावित करती है?

(HOW CONGRESS INFLUENCE THE PRESIDENTIAL ACTIONS?)

यदि एक ओर राष्ट्रपति कांग्रेस के व्यवस्थापन कार्य को प्रभावित करता है, तो दूसरी ओर कांग्रेस राष्ट्रपति के क्रिया-कलाप पर प्रभाव डालती है।

जहां तक राष्ट्रपति की प्रशासनिक शक्तियों का सम्बन्ध है, उनके प्रयोग में कांग्रेस, विशेषतया सीनेट, राष्ट्रपति की सहभागिनी है। कार्यपालिका के प्रधान के रूप में राष्ट्रपति उच्च पदों पर नियुक्तियां करता है, लेकिन इन नियुक्तियों को सीनेट के द्वारा अपने सामान्य बहुमत से स्वीकार किया जाना आवश्यक है। राष्ट्रपति के द्वारा विदेशों के साथ सन्धियां करने का कार्य किया जाता है, लेकिन ये सन्धियां तभी लागू हो सकती हैं, जबकि सीनेट अपने दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दे। परराष्ट्र सम्बन्धों के क्षेत्र में राष्ट्रपति द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर सीनेट की 'विदेशी मामलों की समिति' कड़ी नजर रखती है और वर्तमान समय में राष्ट्रपति सामान्यतया वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन सीनेट की इस समिति और सीनेट के अन्य महत्वपूर्ण सदस्यों के परामर्श से ही करते हैं। किसी देश के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने से पूर्व भी राष्ट्रपति के लिए यह जरूरी होता है कि वह इस सम्बन्ध में प्रतिनिधि सभा और सीनेट की सम्मिलित स्वीकृति प्राप्त कर ले।

कांग्रेस राष्ट्रपति के कार्यों को एक अन्य प्रकार से भी प्रभावित कर सकती है। राष्ट्रपति प्रशासन का प्रधान है, लेकिन प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन हेतु धन की आवश्यकता

होती है और धन की स्वीकृति कांग्रेस के द्वारा ही दी जाती है। कांग्रेस राष्ट्रपति द्वारा चाहे गये धन में कटौती करके उसे प्रशासन के क्षेत्र में कुछ सीमा तक कांग्रेस की इच्छानुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर सकती है। उदाहरण के लिए नवम्बर 1995 ई. में अमरीकी कांग्रेस ने क्लिंटन प्रशासन के बजट प्रस्तावों में कांट-छांट करके शासन के सामने कठिन स्थिति खड़ी कर दी थी।

इन सबके अतिरिक्त कांग्रेस को राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि महाभियोग के आधार पर राष्ट्रपति को पदच्युत करना सरल नहीं है, लेकिन 1974 के घटनाचक्र से यह स्पष्ट हो गया है कि कांग्रेस महाभियोग की धमकी मात्र से राष्ट्रपति को औचित्य पर चलने या त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकती है।

इस प्रकार राष्ट्रपति और कांग्रेस दोनों संविधान के अन्तर्गत की गयी व्यवस्थाओं और परम्पराओं के आधार पर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और बहुत कुछ सीमा तक परस्पर आश्रित हैं। वर्तमान समय में तो प्रशासन और कानून-निर्माण के क्षेत्र की जटिल परिस्थितियों के कारण इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग नितान्त आवश्यक समझा जाता है। लेकिन यदि राष्ट्रपति पद पर एक राजनीतिक दल का नेता पदासीन हो और कांग्रेस में दूसरे राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त हो, तो राष्ट्रपति और कांग्रेस प्रशासनिक गतिरोध उत्पन्न होने की सीमा तक एक-दूसरे का विरोध करने की प्रवृत्ति अपना सकते हैं। 1984 से 1992 के वर्षों में यह स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इन वर्षों में राष्ट्रपति पद पर रिपब्लिकन पार्टी का अधिकार था, लेकिन कांग्रेस के दोनों सदनों में डेमोक्रेटिक पार्टी को बहुमत प्राप्त था। 2000 ई. में राष्ट्रपति पद पर रिपब्लिकन पार्टी के जार्ज बुश के निर्वाचित होने के साथ ही यह स्थिति कुछ समय के लिए समाप्त हो गई थी। प्रतिनिधि सभा में रिपब्लिकन पार्टी को बहुमत प्राप्त हो गया तथा सीनेट में दोनों दलों ने 50-50 स्थान प्राप्त किए थे लेकिन मई 2001 ई. में रिपब्लिकन पार्टी के एक सीनेटर जेम्स जैफर्ड्स ने दल बदल करते हुए रिपब्लिकन पार्टी छोड़कर निर्दलीय सदस्य की स्थिति प्राप्त कर ली¹ तथा इस प्रकार सीनेट में अब दलीय स्थिति है : डेमोक्रेटिक पार्टी-50, रिपब्लिकन पार्टी-49 और निर्दलीय-1।

कांग्रेस और राष्ट्रपति—इन दोनों में से किसके द्वारा और किस सीमा तक अधिक शक्तियों का प्रयोग किया जायेगा, यह राष्ट्रपति के व्यक्तित्व और समकालीन परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि राष्ट्रपति सामान्य व्यक्तित्वधारी व्यक्ति है और देश में संकट की स्थिति नहीं है तो राष्ट्रपति और कांग्रेस शासन व्यवस्था के समस्त ढांचे में लगभग समान साझीदार होते हैं, लेकिन जब राष्ट्रपति पद पर जैक्सन, लिंकन, थियोडोर रूजवेल्ट या एफ. डी. रूजवेल्ट जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला व्यक्ति आसीन होता है तो कांग्रेस राष्ट्रपति के व्यक्तित्व के सामने दब जाती है और राष्ट्रपति उस पर छा जाता है। राष्ट्रपति के ही राजनीतिक दल को कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त होने पर विशेष रूप से यह बात देखी जा सकती है।

इन दोनों संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों में राष्ट्रपति को शक्तिशाली बनाने वाला दूसरा तत्व संकटकालीन स्थिति है। संकटकाल में कांग्रेस राष्ट्रपति का नेतृत्व स्वीकार कर लेती है और संकट का सामना करने के लिए राष्ट्रपति संविधान के बाहर जाकर कांग्रेस के कार्यक्षेत्र में भी प्रवेश कर सकता है। 1803 में राष्ट्रपति जैफरसन ने कांग्रेस की स्वीकृति के बिना ही

1 'Aya Ram in Washington', *Hindustan Times*, May 26, 2001.

नेपोलियन से लुईसियान का क्षेत्र खरीद लिया था। गृहयुद्ध के समय अब्राहम लिंकन ने बन्दी प्रत्यक्षीकरण विधि को निलम्बित कर दिया था, क्योंकि उनकी दृष्टि में पूरे संविधान की रक्षा के लिए संविधान के एक भाग को अप्रभावी करना उचित था। सन् 1917 में वुडरो विल्सन ने कांग्रेस की अस्वीकृति के बावजूद व्यवसायी जहाजों का शस्त्रीकरण कर दिया था और 1930-33 में आर्थिक संकट की स्थिति का अन्त करने के लिए कांग्रेस ने रूजवेल्ट को आर्थिक विषयों पर विधि-निर्माण की शक्ति दे दी थी। इस स्थिति के आधार पर ही राइकर लिखता है कि “हमारा राजनीतिक इतिहास हमें यही शिक्षा देता है कि यदि संकट अधिक होता है तो हम शक्ति-विभाजन पर विजय पा सकते हैं।”¹

बीसवीं सदी में कांग्रेस के स्थान पर राष्ट्रपति के अधिक शक्तिशाली बनने की प्रवृत्ति देखी जाती है और इसी आधार पर वियर्ड कहते हैं कि “रचनात्मक कार्यकुशलता के क्षेत्र में कांग्रेस का हास हुआ है और इसके साथ ही कार्यपालिका के क्षेत्र में लगभग क्रान्तिकारी वृद्धि हुई है।”² लेकिन इसके साथ ही 1973-74 के घटनाचक्र से स्पष्ट हो गया है कि यदि राष्ट्रपति द्वारा अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया जाता है तो अमरीकी कांग्रेस राष्ट्रपति को उसके पद की सीमाओं से परिचित करा देती और उसे संवैधानिक मर्यादाओं में रहने के लिए बाध्य करती है। बहुत कुछ सीमा तक अमरीकी कांग्रेस द्वारा बाध्य किये जाने के कारण ही पहले उपराष्ट्रपति एग्न्यू और बाद में राष्ट्रपति निक्सन को अपना त्यागपत्र देना पड़ा।

तुलनात्मक विवेचन (COMPARATIVE STUDY)

संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति की विश्व के जिन अन्य अधिकारियों के साथ तुलना की जाती है। उनमें सबसे प्रमुख हैं ब्रिटिश सम्राट और ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री।

अमरीकी राष्ट्रपति और ब्रिटिश सम्राट (AMERICAN PRESIDENT AND THE BRITISH KING)

लॉस्की ने संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति पद पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि “संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति एक सम्राट से कम या अधिक है। वह एक प्रधानमन्त्री से भी कम तथा अधिक है। उसके पद का जितना ही अधिक सावधानी से अध्ययन किया जाय, उतनी ही उसकी अनुपमता का बोध होता है।”³

यद्यपि कुछ बातों में ये दोनों पद एक-दूसरे के समान हैं, लेकिन महत्वपूर्ण बातों में एक-दूसरे से नितान्त असमान हैं और असमानताओं के अन्तर्गत केवल कुछ ही बातों में अमरीकी राष्ट्रपति को ब्रिटिश सम्राट से कम कहा जा सकता है, अधिकांश बातों में वह न केवल ब्रिटिश सम्राट से अधिक वरन् बहुत अधिक है।

1 “The lesson of our political history is that we can overcome the separation, if the crisis is great enough.”

—William H. Riker, *Democracy in the United States*, p. 201.

2 “The decline of Congress in creative efficiency has been accompanied by an almost revolutionary increase in the powers of the executive.” —Charles Beard

3 “The President of the U.S.A. is both more or less than a king, He is also both more or less than a Prime Minister, the more carefully his office is studied, the more does its unique character appears.”

—H. J. Laski, *The American President*, p. 23.

समानता—अमरीकी राष्ट्रपति और ब्रिटिश सम्राट में एकमात्र समानता यह है कि ये दोनों ही सम्बन्धित राज्यों के प्रधान हैं। अतः दोनों को कई औपचारिक कार्य करने होते हैं जैसे विदेशी राजदूतों का स्वागत करना, समारोहों का उद्घाटन करना, स्वागत समारोह करना और औपचारिक भाषण करना, आदि। लेकिन इस क्षेत्र में भी दोनों की स्थिति में महत्वपूर्ण अन्तर है। ब्रिटिश सम्राट क्योंकि एक वैधानिक प्रधान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उसके वे औपचारिक कार्य उसके कर्तव्यों का एक बड़ा भाग है, लेकिन अमरीकी राष्ट्रपति न केवल राज्य वरन् राष्ट्रीय प्रशासन का भी प्रमुख होता है और इस कारण उसके द्वारा किये जाने वाले ये औपचारिक कार्य उसके कर्तव्यों का बहुत छोटा और अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण भाग होते हैं।

असमानताएं—(1) ब्रिटिश सम्राट राज्य का नाममात्र का प्रधान होता है, जबकि अमरीका का राष्ट्रपति राज्य एवं शासन दोनों का प्रधान होता है। इंग्लैण्ड का सम्राट राज्य करता है, शासन नहीं करता। इसका तात्पर्य यह है कि शासन के क्षेत्र में इंग्लैण्ड के सम्राट को कोई वास्तविक शक्तियां प्राप्त नहीं हैं। ब्रिटिश सम्राट तो एक वंशानुगत सम्राट है, जिसे महिमा और गौरव तो प्राप्त है लेकिन शक्ति नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि यद्यपि इंग्लैण्ड का शासन सम्राट के नाम से चलाया जाता है, किन्तु सम्राट के पास कोई अधिकार नहीं रह गये हैं और सम्राट के तथाकथित अधिकारों का प्रयोग केबिनेट के द्वारा किया जाता है। सम्राट के पास अब केवल प्रोत्साहन, परामर्श और चेतावनी देने का अधिकार ही नहीं रह गया है।

इसके विपरीत, अमरीका का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका नहीं, वरन् वास्तविक कार्यपालिका है। उसके द्वारा उन सभी शक्तियों का स्वयं प्रयोग किया जाता है, जिनका प्रयोग ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री और केबिनेट करते हैं। वह मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति करता है। सेना के विभिन्न अंगों के प्रधानों तथा अन्य महत्वपूर्ण प्रशासनिक और राजनीतिक पदों पर नियुक्तियां करता है।

(2) ब्रिटिश सम्राट को संसद के द्वारा पारित विधेयकों पर अपनी अनुमति देनी होती है और रानी ऐने के बाद अब तक किसी सम्राट ने निषेधाधिकार की शक्ति का प्रयोग नहीं किया है, लेकिन अमरीकी राष्ट्रपति को 'विलम्बकारी निषेधाधिकार' तथा 'जेबी निषेधाधिकार' की शक्ति प्राप्त है। निषेधाधिकार की यह शक्ति मर्यादित होते हुए भी वास्तविक है और वर्तमान समय में इसके प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है।

(3) ब्रिटिश सम्राट को प्रशासनिक आदेश या अध्यादेश जारी करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है, लेकिन अमरीकी राष्ट्रपति प्रशासनिक आदेश जारी कर सकता है व अन्य अनेक उपायों से भी विधि-निर्माण कार्य को प्रभावित कर सकता है।

(4) अमरीका के राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्रियों के सम्बन्ध भी सम्राट और उसके मन्त्रियों के सम्बन्धों से नितान्त भिन्न हैं। ब्रिटेन में सम्राट परामर्श देता है और निर्णय मन्त्री करते हैं, लेकिन अमरीका में निर्णय राष्ट्रपति करता है और मन्त्रियों को उसकी आज्ञानुसार चलना होता है।

इसमें सन्देह नहीं कि सम्राट अमरीकी राष्ट्रपति की तुलना में केवल नाममात्र का प्रधान होता है, किन्तु सम्राट के व्यक्तित्व में जो आकर्षण है और उसके पद में जो गौरव है, वह राष्ट्रपति के व्यक्तित्व और पद में नहीं है। ब्रिटिश सम्राट निष्पक्ष तथा निर्दलीय होता है और इस कारण ब्रिटेन का प्रत्येक नागरिक उसकी जयजयकार करता है, लेकिन अमरीका का

राष्ट्रपति दलीय प्रतिनिधि होता है और इस कारण उसे अपने विरोधी पक्ष की आलोचना भी सहन करनी होती है। सम्राट अपने जीवनपर्यन्त शासन करता है और उसे अपनी प्रजा में पिता का स्थान प्राप्त होता है, लेकिन अमरीकन राष्ट्रपति राजनीतिक दल की सहायता से चुनाव के आधार पर और केवल 4 वर्ष की अवधि के लिए इस पद को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि अमरीका का राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट से अधिक भी है और कम भी।

अमरीका का राष्ट्रपति और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री

(AMERICAN PRESIDENT AND THE BRITISH PRIME MINISTER)

अमरीकी राष्ट्रपति न केवल ब्रिटिश सम्राट से कुछ कम और कुछ अधिक है वरन् वह ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से भी कुछ कम और कुछ अधिक है। जबकि ब्रिटिश सम्राट राज्य करता है, शासन नहीं और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री शासन करता है, राज्य नहीं; अमरीकी राष्ट्रपति राज्य भी करता है और शासन भी। ब्रोगन के शब्दों में, "उसके व्यक्तित्व में सम्राट और प्रधानमन्त्री दोनों का समावेश है।" दूसरे शब्दों में, 'वह एक ऐसा सम्राट है जो कि स्वयं ही अपना प्रधानमन्त्री है।'

संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति और ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री दोनों ही अपने-अपने देशों में प्रमुख शासनाधिकारी हैं और यह कहना निश्चित रूप से बहुत अधिक कठिन है कि इनमें से कौन अधिक शक्तिशाली है। यह अवश्य ही एक तथ्य है कि दोनों की स्थिति भिन्न है और उनकी स्थिति में यह भेद दोनों की शासन व्यवस्थाओं के मूल भेद—संसदात्मक और अध्यक्षीय शासन के भेद—के कारण हैं।

इन दोनों पदाधिकारियों की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पूर्व दोनों सम्बन्धित देशों की शासन व्यवस्थाओं के भेद को दृष्टि में रखा जाना चाहिए और वह ब्रिटेन के एकात्मक शासन व अमरीका के संघात्मक शासन का भेद है। ब्रिटेन में एकात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण ब्रिटिश प्रधानमन्त्री पूरे ग्रेट ब्रिटेन के लिए कार्य करता है। अमरीका में संघात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण राष्ट्रपति संघीय क्षेत्र में ही कार्य कर सकता है, इकाइयों के क्षेत्र में नहीं। यद्यपि अमरीकी संघ में संघीय केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है, लेकिन कितना भी केन्द्रीकरण क्यों न हो, संघात्मक व्यवस्था राष्ट्रपति के कार्यक्षेत्र को सीमित अवश्य ही करती है।

एक अन्य भेद यह है कि अमरीका के राष्ट्रपति द्वारा जिन शक्तियों का प्रयोग किया जाता है, वे संविधान द्वारा स्वयं उसे ही प्रदत्त हैं, किन्तु ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री द्वारा जिन शक्तियों का प्रयोग किया जाता है, वे उसकी अपनी शक्तियां न होकर संविधान द्वारा सम्राट को प्रदत्त शक्तियां हैं। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री पद को कानूनी मान्यता भी 1937 ई. में ही प्राप्त हुई है। इस प्रकार अमरीकी राष्ट्रपति की शक्तियों का आधार संविधान और कानून है, लेकिन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की शक्तियों का आधार प्रथाएं और परम्पराएं हैं, लेकिन इस सैद्धान्तिक भेद के कारण इन दोनों पदाधिकारियों की व्यावहारिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा है और वस्तुस्थिति यह है कि आज अमरीकी राष्ट्रपति को भी प्राप्त शक्तियों का एक अंश परम्पराओं पर ही आधारित है।

इन दोनों पदाधिकारियों की शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन अग्र रूपों में किया जा सकता है :

(1) प्रशासनिक क्षेत्र में (In Administrative Sphere)—प्रशासनिक क्षेत्र में अमरीकी राष्ट्रपति निर्विवाद रूप से ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से अधिक शक्तिशाली होता है और उसे यह अधिक महत्वपूर्ण स्थिति दो बातों के कारण प्राप्त है :

प्रथमतः, अमरीकी राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होता है, लेकिन प्रधानमन्त्री का कार्यकाल लोकसदन के विश्वास पर निर्भर करता है और लोकसदन कभी भी अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर केबिनेट को पदच्युत कर सकता है। यद्यपि बीसवीं सदी में लोकसदन द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित किये जाने के उदाहरण अपवादस्वरूप ही हैं (1924 और 1979), लेकिन ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि प्रधानमन्त्री के प्रति लोकसदन के विश्वास में कमी होने पर एक के स्थान पर दूसरी सरकार का निर्माण हुआ या प्रधानमन्त्री द्वारा लोकसदन को विघटित करवाकर जनता से नवीन आदेश प्राप्त किया गया। प्रधानमन्त्री पदधारी के प्रति लोकसदन में तीव्र असन्तोष उत्पन्न होने के कारण 1940 में चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल और 1957 में इडन के स्थान पर मैकमिलन ने प्रधानमन्त्री पद धारण किया था। इसी कारण 1990 में मार्ग्रेट थैचर को त्यागपत्र देना पड़ा तथा उनके स्थान पर जॉन मेजर प्रधानमन्त्री बने। ये उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लोकसदन के प्रति और अन्तिम रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी होता है और यह तथ्य प्रधानमन्त्री की शक्ति पर निश्चित रूप से एक अंकुश है।

लेकिन इसके विपरीत राष्ट्रपति को उसके चार वर्ष के निश्चित कार्यकाल के पूर्व कांग्रेस महाभियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से पदच्युत नहीं कर सकती है। महाभियोग भी किसी नीति भेद के कारण नहीं चलाया जा सकता है, अपितु संविधान के उल्लंघन, देशद्रोह, भ्रष्टाचार या ऐसे ही किन्हीं गम्भीर आरोपों के आधार पर चलाया जा सकता है। अब तक महाभियोग का राष्ट्रपति के विरुद्ध कभी भी सफल प्रयोग नहीं किया जा सका है; यद्यपि महाभियोग की धमकी ने अगस्त 1974 में निक्सन को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया है। वर्तमान समय में स्थिति यह है कि राष्ट्रपति अपने दूसरे कार्यकाल में संवैधानिक सीमाओं के अन्तर्गत रहते हुए पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ आचरण कर सकता है, क्योंकि अब जनता या कांग्रेस न तो उसे कोई पुरस्कार दे सकती है और न ही दण्ड।

द्वितीयतः, यद्यपि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री और अमरीकी राष्ट्रपति दोनों का ही अपना मन्त्रिमण्डल होता है, लेकिन अपने मन्त्रिमण्डल के साथ सम्बन्धों में राष्ट्रपति की स्थिति जितनी शक्तिशाली है, प्रधानमन्त्री की स्थिति उतनी शक्तिशाली कभी भी नहीं हो सकती है। अमरीकी राष्ट्रपति को अपने मन्त्रिमण्डलीय साथियों के चयन में जितनी स्वतन्त्रता है, प्रधानमन्त्री को उतनी स्वतन्त्रता नहीं है। लोकसदन द्वारा एक बार चुन लिए जाने के बाद भी प्रधानमन्त्री का सम्पूर्ण राजनीतिक अस्तित्व लोकसदन के बहुमत समर्थन पर निर्भर करता है। इस कारण प्रधानमन्त्री अपने दल के महत्वपूर्ण सदस्यों को मन्त्रिमण्डल में शामिल करने के लिए बाध्य होता है और सामान्यतया मन्त्रिमण्डल के कम-से-कम एक-दो सदस्य इतने प्रभावशाली होते हैं कि प्रधानमन्त्री कभी भी उन पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता, लेकिन अमरीकी मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के सम्मुख बौने की भांति होते हैं और उनमें से कोई राष्ट्रपति का सफल विरोध नहीं कर पाता।

ब्रिटेन में सुस्थापित राजनीतिक परम्परा के अनुसार प्रधानमन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह सभी महत्वपूर्ण विषय निर्णय के लिए केबिनेट के सामने प्रस्तुत करे। प्रधानमन्त्री

यह भी चेष्टा करता है कि केबीनेट के निर्णय सर्वसम्मत हों। इस सर्वसम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए जहां अनेक बार केबीनेट सदस्य प्रधानमन्त्री की इच्छा के सामने झुकते हैं, वहां कभी-कभी प्रधानमन्त्री को भी केबीनेट के महत्वपूर्ण सदस्यों के सामने सिर झुकाना होता है, लेकिन अमरीका में राष्ट्रपति को इस बात की स्वतन्त्रता है कि मन्त्रिमण्डल से परामर्श ले अथवा न ले और यदि वह मन्त्रिमण्डल से परामर्श लेता है तो इस परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना उसके अपने विवेक पर निर्भर करता है। अमरीकी मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में लिंकन ने एक बार पूर्णतया सत्य ही कहा था कि “अमरीकी मन्त्रिमण्डल में केवल एक मत—राष्ट्रपति के मत का महत्व होता है।”¹

अमरीका में राष्ट्रपति विल्सन ने अपने शक्तिशाली सचिव ब्रायन को और राष्ट्रपति आर्थर ने अपने सचिव ब्लेन को बिना किसी कठिनाई के हटा दिया था, लेकिन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को ऐसा करने से पूर्व दस बार साहस एकत्रित करना पड़ता है। इसलिए ब्रोगन ने कहा है कि “अमरीकी पद्धति में मन्त्रिमण्डल वैसा ही होता है जैसा राष्ट्रपति उसको बनाना चाहता है। यह उसकी कठपुतली है। उसकी तनिक-सी इच्छा इसे हटा सकती है, जैसे कि उसकी तनिक-सी इच्छा इसे बना सकती है।”² अमरीका में वास्तविक कार्यपालिका शक्ति अकेले राष्ट्रपति को प्राप्त है, लेकिन ब्रिटेन में कार्यपालिका शक्ति केबीनेट सहित प्रधानमन्त्री को प्राप्त होती है। डॉ. जैनिंग्स ने ‘अटलॉटिक घोषणापत्र’ का सन्दर्भ देते हुए लिखा है कि “अमरीका के राष्ट्रपति ने ही उसे संयुक्त राज्य अमरीका की ओर से स्वीकृति दे दी, परन्तु इंग्लैण्ड की ओर से उसे इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री ने ही नहीं, वरन् युद्ध मन्त्रिमण्डल ने स्वीकार किया।”

(2) विधायी क्षेत्र में (In Legislative Sphere)—यद्यपि प्रशासनिक क्षेत्र में अमरीकी राष्ट्रपति ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से अधिक शक्तिशाली है, लेकिन अन्य क्षेत्रों में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की स्थिति सुदृढ़ है। अमरीका में राष्ट्रपति कुछ उपायों के आधार पर कांग्रेस और व्यवस्थापन कार्य को प्रभावित अवश्य ही कर सकता है, लेकिन यह कांग्रेस का स्वामी कभी नहीं बन सकता। इस सम्बन्ध में लॉस्की ने लिखा है, “वह तर्क कर सकता है, धमकी दे सकता है, खुशामद कर सकता है, समझा सकता है, परन्तु वह सदैव कांग्रेस के बाहर है और एक ऐसी इच्छा के अधीन है जिस पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है।”³ यदि कांग्रेस के दोनों सदनों में राष्ट्रपति को ही बहुमत प्राप्त हो तो भी राष्ट्रपति और कांग्रेस में कुछ सीमा तक द्वेष होता ही है और कांग्रेस स्वयं व्यवस्थापन कार्य राष्ट्रपति की इच्छानुसार नहीं करती है। लिंकन, विल्सन और रूजवेल्ट जैसे शक्तिशाली राष्ट्रपति भी युद्ध या अन्य किसी संकट की अवधि में ही कांग्रेस से अपनी इच्छानुसार व्यवस्थापन करवा सके हैं। यदि सामान्य काल हो और साथ ही राष्ट्रपति के विरोधी दल को कांग्रेस में बहुमत प्राप्त हो तो राष्ट्रपति की स्थिति बहुत अधिक कठिन और कभी-कभी तो दयनीय हो जाती है, क्योंकि विरोधी दल राजनीतिक लाभ

1 “The only vote that counts is the President's own.” —Lincoln (Quoted from Ferguson and McHenry), *The American Federal Government*, p. 300.

2 “In the American system the Cabinet is only what the president wants it to be. It is his tool and for its members, a breath unmakes them as a breath has made” —Brogan, *American Political System*, p. 127.

3 “He can argue, bully, persuade, cajole, but he is always outside Congress and subject to a will, he cannot dominate.”

—H. J. Laski, *The American Presidency*, p. 24.

उठाने की दृष्टि से आवश्यक कानूनों का निर्माण न कर प्रशासन को निर्बल बनाने का प्रयत्न कर सकता है।

लेकिन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को व्यवस्थापन के क्षेत्र में कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। प्रधानमन्त्री लोकसदन में बहुमत दल का नेता होता है और बहुमत दल के निश्चित समर्थन के आधार पर वह अपनी इच्छानुसार व्यवस्थापन करवा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री को लोकसदन को विघटित कराने की एक ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिसके आधार पर वह लोकसदन को अपनी इच्छा के सामने झुकने के लिए बाध्य कर सकता है। ब्रोगन ने तुलनात्मक दृष्टि से लिखा है, “एक प्रधानमन्त्री लोकसदन में अपने बहुमत दल के समर्थन के कारण कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के क्षेत्र में ऐसे अधिकारों का उपयोग करता है, जिनका उपभोग अमरीका के सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्रपति भी नहीं कर सके हैं। यदि उन्होंने किया भी है, तो बहुत ही थोड़े समय के लिए।”¹

(3) वित्तीय क्षेत्र में (In Financial Sphere)—वित्तीय क्षेत्र में भी राष्ट्रपति की तुलना में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को सुदृढ़ स्थिति प्राप्त है। अमरीका में बजट ‘बजट ब्यूरो’ (Bureau of the Budget) के द्वारा राष्ट्रपति के निर्देशन में तैयार किया जाता है और ब्यूरो के निर्देशक द्वारा प्रतिनिधि सभा में प्रस्तुत किया जाता है। कांग्रेस को बजट में संशोधन करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है और व्यवहार में भी कांग्रेस बजट में अनेक कटौतियाँ और अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन करती है। इससे अमरीकी राष्ट्रपति को बहुत कठिनाई होती है, लेकिन इस सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की स्थिति सुदृढ़ है। वित्तमन्त्री के द्वारा प्रधानमन्त्री की देख-रेख में बजट तैयार किया जाता है और वित्तमन्त्री उसे लोकसदन के सम्मुख प्रस्तावित करता है। बजट में सदन के द्वारा केवल वे ही परिवर्तन किये जा सकते हैं जो वित्तमन्त्री अर्थात् सरकार को स्वीकार हों। बजट में कटौती का अर्थ मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास होता है और लोकसदन का बहुमत दल कभी भी अपनी सरकार का पतन नहीं चाहता। इसलिए प्रधानमन्त्री लोकसदन में अपने बहुमत की सहायता से बहुत साधारण से परिवर्तनों सहित बजट पारित करवा लेता है।

(4) न्यायिक नियन्त्रण की दृष्टि से (From the Point of View of Judicial Control)—यदि दोनों पदाधिकारियों के न्यायपालिका के साथ सम्बन्धों या न्यायपालिका पर इनके नियन्त्रण की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की स्थिति राष्ट्रपति की तुलना में सुदृढ़ है। ब्रिटेन में संसद की सर्वोच्चता है और इस कारण ब्रिटिश न्यायपालिका संसद या प्रधानमन्त्री के कार्यों को अवैधानिक घोषित नहीं कर सकती, लेकिन अमरीकी राष्ट्रपति पर सर्वोच्च न्यायालय का नियन्त्रण है। उदाहरणार्थ, अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट की ‘नव निर्माण आर्थिक नीति’ (New Deal Laws) को अवैधानिक घोषित कर दिया था। इसी प्रकार कोरिया युद्ध के समय जब राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इस्पात के निजी कारखानों पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया क्योंकि उनमें हड़ताल के भय से युद्ध और

1 “A Prime Minister with a party majority in the House of Commons, commands all the executive and legislative powers in a fashion that the most potent American President has not done save for very brief period.”

—Brogan, *American Political System*, p. 118.

प्रतिरक्षा में बाधा पहुंचने की आशंका थी, तो सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रपति की इस कार्यवाही को अवैध घोषित कर दिया।

(5) दलीय नेता की दृष्टि से (From the Point of View of Party Leader)—आज की स्थिति में, ब्रिटेन और अमरीका, दोनों ही देशों में राजनीतिक दल देश की व्यावहारिक राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ब्रिटेन में प्रधानमन्त्री अपने दल का और अमरीका में राष्ट्रपति अपने दल का नेता है, लेकिन दलीय नेता के रूप में प्रधानमन्त्री की स्थिति अधिक सुदृढ़ है। इसका एक कारण तो संसदात्मक और अध्यक्षतात्मक शासन व्यवस्था का भेद है। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश राजनीतिक दलों में जहां कठोर अनुशासन है, अमरीकी राजनीतिक दलों का अनुशासन अपेक्षाकृत शिथिल है। ब्रोगन ने इस सम्बन्ध में लिखा है, “न केवल प्रधानमन्त्री राजनीतिक जीवन का ऐसा केन्द्र है, जैसा केन्द्र अमरीकी जीवन में नहीं देखा जाता, वरन् वह एक ऐसे रूप में दलीय संगठन का प्रधान होता है, जिस रूप में बहुत कम राष्ट्रपति देखे जाते हैं।”

अमरीकी राष्ट्रपति और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री पद की तुलनात्मक विवेचना के आधार पर कहा जाता है कि जहां राष्ट्रपति प्रशासनिक क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली है, प्रधानमन्त्री की स्थिति विधायी, वित्तीय और कुछ अन्य क्षेत्रों में अधिक सुदृढ़ है। लॉस्की का कथन सत्य है कि “वह (अमरीकी राष्ट्रपति) ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से कुछ कम भी है और कुछ अधिक भी।”

इन दोनों पदाधिकारियों में कौन अधिक शक्तिशाली है, इसका कोई ऐसा उत्तर नहीं है जो सभी परिस्थितियों में सही उतरे। ब्रोगन और रेन्जे म्योर की विचारधारा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को अधिक शक्तिशाली समझने की रही है। उनका दृष्टिकोण इस विचार पर आधारित है कि विधायी और वित्तीय क्षेत्र में राष्ट्रपति पद की सीमाएं अनेक बार प्रशासनिक क्षेत्र में भी राष्ट्रपति को निर्बल बना देती हैं, क्योंकि प्रशासनिक कार्य आवश्यक कानूनों और वित्त के आधार पर ही सम्भव हो पाता है। इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए रेन्जे म्योर लिखते हैं कि “इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री, जब तक उसके पीछे लोकसदन में सशक्त और निष्ठावान बहुमत है, इतनी अधिक शक्तियों से सुशोभित है कि विश्व के किसी भी देश का संवैधानिक अध्यक्ष, यहां तक कि संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति भी उसका मुकाबला नहीं कर सकता।” दूसरी ओर यद्यपि मुनरो, ऑग, और स्ट्रोंग, आदि लेखकों द्वारा इन दोनों पदों का विशद तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया, लेकिन वे सामान्यतया राष्ट्रपति को अधिक शक्तिशाली मानते हैं।

इन दोनों पदाधिकारियों में एक विशेष समय पर कौन अधिक शक्तिशाली होगा यह अनेक तथ्यों पर निर्भर करता है जिसमें प्रथम और एक मुख्य तत्व है सम्बन्धित पदाधिकारियों का व्यक्तित्व। कूलिज, बुचानन या हूवर जैसे राष्ट्रपतियों के द्वारा ग्लैडस्टन, डिजरेले, पामस्टर्न, पील और चर्चिल जैसे प्रधानमन्त्रियों का मुकाबला नहीं किया जा सकता है और न ही चैम्बरलेन, मैकमिलन या सर एलेक डगलस होम जैसे औसत प्रधानमन्त्री जैक्सन, लिंकन या एफ. डी. रूजवेल्ट जैसे राष्ट्रपतियों का मुकाबला कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति की स्थिति तत्कालीन परिस्थितियों (संकटकाल में उसकी शक्तियां निश्चित रूप से बढ़ जाती हैं) और कांग्रेस में उसके दल की स्थिति पर निर्भर करती है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की स्थिति भी

1 “Not only is the Prime Minister the political centre in a way unknown to American life he is the head of the party organization a way that few American Presidents have been.”
—Brogan, *American Political System*, p. 118.

तत्कालीन परिस्थितियों, अपने राजनीतिक दल में उसकी स्थिति और लोकसदन में उसके राजनीतिक दल की स्थिति पर निर्भर करती है। यदि प्रधानमंत्री को अपने दल में निर्विवाद नेतृत्व की स्थिति प्राप्त नहीं है या लोकसदन में उसके राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं है या बहुत ही थोड़ा बहुमत प्राप्त है, तो ऐसे प्रधानमंत्री की तुलना में अमरीकी राष्ट्रपति की स्थिति अधिक सुदृढ़ होती है।

उपराष्ट्रपति

(VICE-PRESIDENT)

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में राष्ट्रपति पद के साथ-साथ उपराष्ट्रपति पद की व्यवस्था की गयी है। जब अमरीकी संविधान का निर्माण हो रहा था, तो अनेक व्यक्तियों ने उपराष्ट्रपति पद के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया और बैजामिन फ्रैंकलिन जैसे व्यक्तियों ने उपराष्ट्रपति को 'बर्ध का महिमावान् व्यक्ति' (His Superfluous Highness) भी कहा था, परन्तु अन्य सदस्यों ने इस पद की आवश्यकता और महत्व पर बल दिया है। मृत्यु, त्यागपत्र, महाभियोग, आदि स्थितियों के कारण राष्ट्रपति पद रिक्त हो सकता है। अतः इस विशेष बात के कारण उपराष्ट्रपति पद की व्यवस्था करना आवश्यक था।

योग्यताएं, निर्वाचन, आदि—संविधान के अनुसार उपराष्ट्रपति पद के लिए भी वे ही योग्यताएं हैं, जो राष्ट्रपति पद के लिए हैं। वर्तमान समय में अमरीका में प्रमुख राजनीतिक दल उपराष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार का चयन इस दृष्टि से करते हैं कि राष्ट्रपति पद पर उनके उम्मीदवार की विजय के अवसर बढ़ जायें। उदाहरण के लिए, यदि राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार उत्तरी राज्यों से है, तो उपराष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार दक्षिणी राज्यों में से लिया जाता है। कभी-कभी उपराष्ट्रपति पद को दल के असन्तुष्ट वर्ग को सन्तुष्ट करने का आधार भी बना लिया जाता है। दोनों का चुनाव एक ही निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है। मूल संविधान में इन दोनों के अलग-अलग निर्वाचन की व्यवस्था नहीं थी। जिसे दूसरे नम्बर पर सबसे अधिक मत प्राप्त होते, उसे उपराष्ट्रपति बना दिया जाता था।

लेकिन यह व्यवस्था 1804 ई. के 12वें संशोधन द्वारा बदल दी गयी। नयी व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति पद के लिए अलग-अलग उम्मीदवार खड़े किये जाने व दोनों के लिए अलग-अलग मत डालने की पद्धति अपनायी गयी। उपराष्ट्रपति के लिए भी उम्मीदवार को समस्त निर्वाचकों का बहुमत प्राप्त होना आवश्यक है, और यदि किसी उम्मीदवार को निर्वाचकों का बहुमत प्राप्त न हो, तो सीनेट के द्वारा प्रथम दो उम्मीदवारों में से उपराष्ट्रपति का चयन किया जाता है।

उपराष्ट्रपति को 43 हजार डालर वार्षिक वेतन प्राप्त होता है, जिस पर उसे आय-कर देना होता है। इसके अतिरिक्त उसे अन्य खर्चों के लिए भत्ते के रूप में 10 हजार डालर मिलते हैं, जिस पर उसे आय-कर नहीं देना होता।

उपराष्ट्रपति का कार्यकाल 4 वर्ष होता है और इस अवधि के पूर्व कांग्रेस द्वारा महाभियोग के आधार पर उसे पदच्युत किया जा सकता है।

कार्य—संयुक्त राज्य अमरीका का उपराष्ट्रपति अपने कार्यों की कमी के लिए प्रसिद्ध है और इसी कारण इसका अनेक प्रकार से मजाक उड़ाया जाता है तथा संयुक्त राज्य के महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ इस पद की प्राप्ति की कभी आकांक्षा ही नहीं करते।

उपराष्ट्रपति का प्रथम कार्य राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग या पदच्युति की स्थिति में राष्ट्रपति पद का कार्यभार सम्भालना है। उस समय उसे राष्ट्रपति पद के सभी अधिकार तथा शक्तियाँ प्राप्त होंगी। इस सम्बन्ध में 1841 से ही यह परम्परा स्थापित हो गयी कि उसके द्वारा कार्यवाहक राष्ट्रपति (Acting President) के रूप में नहीं, वरन् राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया जायेगा। संयुक्त राज्य अमरीका में इस तरह से 9 उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति पद धारण कर चुके हैं।

उपराष्ट्रपति का दूसरा कार्य सीनेट का सभापतित्व करना है। 'सीनेट' कांग्रेस का द्वितीय सदन है और इसे अपने सभापति को अपने आप चुनने का अधिकार नहीं है। उपराष्ट्रपति ही इसका 'पदेन (Ex-officio) सभापति' होता है। सीनेट के अध्यक्ष के रूप में उपराष्ट्रपति को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं है। सीनेट का सदस्य न होने के कारण उसे मत देने का अधिकार नहीं है, लेकिन किसी विषय पर बराबर मत आये तो निर्णायक मत का अधिकार अवश्य ही प्राप्त है। सीनेट के कार्य-संचालन की सुनिश्चित परम्पराएं होने के कारण इस रूप में उसकी स्थिति औपचारिक ही है।

वर्तमान समय में उपराष्ट्रपति इन दो कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य भी सम्पादित करने लगे हैं। अनेक राष्ट्रपति प्रशासनिक कार्यवाही के संचालन में उपराष्ट्रपति का सहयोग लेते हैं। सन् 1931 में राष्ट्रपति हार्डिंग उपराष्ट्रपति कूलिज को मन्त्रिमण्डल की बैठकों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया करते थे। इसी प्रकार राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने हेनरी वेल्स, गार्नर, ट्रैमैन, इत्यादि उपराष्ट्रपतियों की मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही के संचालन में सहायता ली। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने उपराष्ट्रपति पद का महत्व और अधिक बढ़ाया। उन्होंने तत्कालीन उपराष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन को विदेशों में सद्भावना यात्रा के लिए भेजा तथा निक्सन ने विदेशी राज्याध्यक्षों तथा प्रधानमन्त्रियों से बातचीत कर अमरीका के लिए सद्भावना उत्पन्न की और राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट देकर उन्हें वास्तविक स्थिति से परिचित कराया। इसी प्रकार उपराष्ट्रपति एग्न्यू ने जनवरी 1970 में एशिया के 11 देशों की यात्रा कर अमरीका के लिए सद्भावना प्राप्त की।

उपराष्ट्रपति पद के कार्य और इसकी स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि वह राष्ट्रपति का कितना विश्वासपात्र है और वह अपने आपको कितना उपयोगी प्रमाणित करता है। वर्तमान समय में लॉस्की जैसे लेखकों ने यह सुझाव दिया है कि उपराष्ट्रपति को और अधिक कार्य सौंपे जायं, जिससे राष्ट्रपति का कार्यभार कुछ हल्का हो सके।

राष्ट्रपति का मन्त्रिमण्डल (PRESIDENT'S CABINET)

अमरीकी संविधान के द्वारा समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ राष्ट्रपति को प्रदान की गयी हैं और संविधान के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। इस सम्बन्ध में संविधान में यही उल्लेख है कि "राष्ट्रपति सरकार के विभिन्न प्रशासकीय विभागों के अधिकारियों से उनके अपने विभागों से सम्बन्धित विषयों पर लिखित राय ले सकता है।"¹ अतः वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल का जिस रूप में विकास हुआ है, वह संवैधानिक परम्परा पर आधारित है।

1 "The President may require the opinion in writing of the principal officer; in each of the executive departments upon any subject relating to the duties of their respective offices."

मन्त्रिमण्डल का उदय (Origin of the Cabinet)—संविधान-निर्माता यह अवश्य ही अनुभव करते थे कि राष्ट्रपति को अपने कार्य-संचालन में मन्त्रणा की आवश्यकता हो सकती है। वे यह आशा करते थे कि राष्ट्रपति सीनेट से विचार-विमर्श कर सकेगा। इसी विश्वास से प्रेरित होकर संयुक्त राज्य के प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अमरीका के मूल निवासियों से सम्बन्धित विषयों पर सीनेट से परामर्श मांगा, लेकिन सीनेट सदस्यों का रुख कुछ ऐसा था जैसे सलाह देने का काम उनके लिए गौरवपूर्ण न हो। बाद में राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से किन्हीं विषयों पर परामर्श लेने का प्रयत्न किया, किन्तु यहां भी उसे निराश होना पड़ा, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय ने किसी भी ऐसे कानूनी मामले पर अपने विचार प्रकट करने से इंकार कर दिया, जो कि उसके सामने मुकदमे के रूप में नहीं आता। अतः राष्ट्रपति ने अपने नीचे के विभागीय अध्यक्षों से सलाह (परामर्श) लेना शुरू किया। पहले राष्ट्रपति उनके विचारों को लिखित रूप में मांगता था, बाद में वह इनकी बैठकें बुलाने लग गया और इस प्रकार अमरीका में 'मन्त्रिमण्डल' नामक संस्था का उदय हुआ।

मन्त्रिमण्डल की रचना (Composition of the Cabinet)—मन्त्रिमण्डल की रचना में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। राष्ट्रपति वाशिंगटन के प्रथम मन्त्रिमण्डल में तत्कालीन चार विभागों के प्रधान ही थे, लेकिन तब से आवश्यकतानुसार कांग्रेस के द्वारा नवीन विभागों की स्थापना की गयी और आज मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या 12 हो गयी है। प्रत्येक सचिव या मन्त्री को 34 हजार डॉलर वार्षिक वेतन प्राप्त होता है।

मन्त्रिमण्डल की सदस्य संख्या—अमरीकी राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल के आकार में निरन्तर वृद्धि हुई है। प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन के समय प्रशासन के चार विभाग (विदेश, वित्त, युद्ध और न्याय) तथा इन विभागों के चार मन्त्री थे, लेकिन 1985 से व्यवस्था यह है कि उप राष्ट्रपति के अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल में निम्न 13 विभागों के सचिव होते हैं। ये विभाग हैं :

1. कृषि विभाग, 2. वाणिज्य विभाग, 2. सुरक्षा विभाग, 4. शिक्षा, 5. ऊर्जा,
6. स्वास्थ्य एवं मानव सेवा, 7. भवन एवं शहरी विकास, 8. आन्तरिक मामले, 9. न्याय,
10. श्रम, 11. विदेश, 12. यातायात एवं 13. कोष।

इन विभागीय अध्यक्षों को मन्त्री नहीं, वरन् 'सचिव' (Secretaries) कहते हैं। न्याय विभाग का अध्यक्ष 'अटार्नी जनरल' कहलाता है। इन 13 विभागों के अध्यक्षों की संस्था को 'मन्त्रिमण्डल' कहा जाता है।

मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है, लेकिन इसे सीनेट की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए। सीनेट इनके मनोनयन पर स्वीकृति देने से बहुत कम इंकार करती है, क्योंकि राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के व्यक्तिगत सहायक होते हैं, और इसलिए ऐसा माना जाता है कि उनका चुनाव राष्ट्रपति की पसन्द से ही होना चाहिए। सीनेट ने अब तक केवल 7 बार मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की नामजदगी को अस्वीकार किया है, जिन्हें अपवाद ही कहा जा सकता है।

राष्ट्रपति को अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के चयन में बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, किन्तु व्यवहार में मन्त्रिमण्डल के साथियों का चयन करने में उसके द्वारा अनेक बातों का ध्यान रखा जाता है। सर्वप्रथम, वह अपने दल के समर्थकों और मित्रों को प्रसन्न करने के लिए उनमें से कुछ को सचिवों के रूप में नियुक्ति दे देता है। द्वितीय, उसे कुछ बड़े राज्यों (न्यूयार्क, पैन्सिलवेनिया और मैसाचुसेट्स) में से अवश्य ही एक-एक मन्त्री चुनना

होता है। राष्ट्रपति के द्वारा विरोधी दल का सहयोग प्राप्त करने के लिए उसके कुछ सदस्य भी मन्त्रिमण्डल में लिए जा सकते हैं। डेमोक्रेटिक राष्ट्रपतियों (थियोडोर रूजवेल्ट और टाफ्ट) ने अपने युद्ध मन्त्रियों की नियुक्तियाँ रिपब्लिकन दल में से की थीं और रिपब्लिकन राष्ट्रपति हूवर ने एटार्नी जनरल के पद पर डेमोक्रेटिक पार्टी के एक सदस्य को नियुक्त किया था। इसी प्रकार एफ. जी. रूजवेल्ट ने 1940 में दो प्रसिद्ध रिपब्लिकन नेताओं (स्टिमसन, फ्रैंक नोब्स) को युद्ध मन्त्री तथा नौसेना मन्त्री नियुक्त किया था, लेकिन महायुद्ध के बाद का चलन मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों को अपने ही राजनीतिक दल में से लेने का है। राष्ट्रपति ऐसे व्यक्तियों को मन्त्री नियुक्त करता है, जिनका कांग्रेस में प्रभाव हो। प्रशासनिक अनुभव या विशिष्ट योग्यता के आधार पर भी मन्त्रियों का चुनाव किया जाता है। वाणिज्य-व्यापार, उद्योग-धन्धे व मजदूर आन्दोलन कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें से मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का चुनाव आमतौर पर होता ही है।

मन्त्रिमण्डल की स्थिति और राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल में सम्बन्ध—मन्त्रिमण्डल की स्थिति के सम्बन्ध में विलियम हार्वर्ट टाफ्ट ने लिखा है कि “मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति की इच्छा का परिणाम मात्र है। इसका कोई विधितः या सैद्धान्तिक आधार नहीं है। इसके अस्तित्व का आधार केवल परम्परा है। यदि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल का अन्त करना चाहे, तो वह ऐसा भी कर सकता है।”¹ इस प्रकार मन्त्रिमण्डल की स्थिति राष्ट्रपति के साथ बदलती रहती है। अनेक राष्ट्रपतियों ने मन्त्रिमण्डल को कोई महत्व नहीं दिया और वे इसे गौण स्थिति में रखते रहे। जैक्सन, ग्राण्ट, विल्सन व रूजवेल्ट ऐसे ही राष्ट्रपति थे। जैक्सन मन्त्रिमण्डल की बैठक को अनावश्यक समझता था और इसी प्रकार उसने दो वर्ष तक मन्त्रिमण्डल की बैठक ही नहीं की। राष्ट्रपति ग्राण्ट मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को सेना के सैकेण्ड लैफ्टिनेण्ट समझता था, जिनका काम राष्ट्रपति की आज्ञाओं का पालन मात्र है। विल्सन मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को साधारण कर्मचारियों से अधिक नहीं मानता था और राष्ट्रपति एफ. डी. रूजवेल्ट पहले खुद निर्णय ले लिया करते थे और उनकी सूचना मन्त्रिमण्डल को दिया करते थे। इसके विपरीत, कुछ राष्ट्रपतियों द्वारा मन्त्रिमण्डल को पर्याप्त महत्व दिया गया। राष्ट्रपति क्लीवलैण्ड मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को प्रसन्न रखते थे और बुचानन, हार्डिंग और कूलिज मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को पर्याप्त महत्व देते थे।

वर्तमान समय में साधारणतया सप्ताह में एक बार मन्त्रिमण्डल की बैठकें अवश्य होती हैं। युद्ध तथा अन्य संकट के समय अधिक बैठकें बुलायी जा सकती हैं। इन बैठकों में राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से विचार-विनिमय करते हैं और इनकी कार्यवाही गुप्त ही रखी जाती है। राष्ट्रपति प्रशासनिक दृष्टि से सभी महत्वपूर्ण विषयों पर मन्त्रिमण्डल से परामर्श लेने को बाध्य नहीं है। वह जिन विषयों पर परामर्श प्राप्त करना चाहे, उन्हीं विषयों को विचार के लिए प्रस्तुत करता है। निर्णय करने में मत लेने का नियम कम है और यदि मत लिये जायं तो राष्ट्रपति के लिए बहुमत की बात मानना जरूरी नहीं है। यदि मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य राष्ट्रपति को एक ही प्रकार का परामर्श दें, तो भी राष्ट्रपति इसे ठुकरा सकता है, राष्ट्रपति

1 “The Cabinet is a mere creation of the president's will. It is an extra-statutory and extra-constitutional body. It exists only by custom. If the President desired to dispense with it, he could do so.”

—W. H. Taft, *Our Chief Magistrate & His Powers*, p. 30.

लिंगन ने ऐसा ही किया था। एक बार लिंगन मन्त्रिमण्डल के सभी सात सदस्यों ने राष्ट्रपति के प्रस्ताव का विरोध किया, तो राष्ट्रपति ने कहा कि सात मत विपक्ष में हैं और एक पक्ष में, इसलिए प्रस्ताव के पक्ष में निर्णय हुआ' (Seven nays, one aye, the ayes have it)।

इस सम्बन्ध में निर्णायक बात यह है कि प्रशासन का अन्तिम उत्तरदायित्व राष्ट्रपति पर ही होता है और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का काम राष्ट्रपति के आदेशों का पालन करना मात्र है। यदि मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य ऐसा न कर सके, तो उसे अपने पद से त्यागपत्र देना होगा। राष्ट्रपति अपने आदेशों का पालन न करने वाले मन्त्री को पदच्युत भी कर सकता है और व्यवहार में देखा गया है कि एक निर्बल राष्ट्रपति को भी शक्तिशाली मन्त्री को पदच्युत करने में कठिनाई नहीं होती। राष्ट्रपति आर्थर ने सरलता से मि. ब्लेन से छुटकारा पा लिया, यद्यपि ब्लेन राष्ट्रपति के दल का बहुत प्रसिद्ध और शक्तिशाली व्यक्ति था। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने शक्तिशाली मन्त्री ब्रायन को पदच्युत कर दिया। ब्रोगन इसी पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि "जिस प्रकार राष्ट्रपति की तनिक-सी इच्छा मन्त्रिमण्डल को बनाती है, उसी प्रकार तनिक-सी इच्छा इसे हटा भी सकती है।"

अमरीका में केबिनेट इतनी कम महत्वपूर्ण संस्था है तथा केबिनेट की बैठकें इतनी नीरस और उबाऊ होती हैं कि "अमरीकी राष्ट्रपति केबिनेट की बैठकों के दौरान बैठे-बैठे सो जाते हैं।" कैनेडी, फोर्ड, कार्टर, और रेगन—इन सभी के लिए काबिना की बैठक के दौरान आंखें खुली रहना कठिन रहा है।¹

राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के पारस्परिक सम्बन्धों में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अनेक बार राष्ट्रपति अनेक विभागों के प्रमुखों के वजाय अपने निजी मित्रों और अनौपचारिक परामर्शदाताओं पर अधिक निर्भर करते हैं। राष्ट्रपति जैक्सन के अपने कुछ विश्वस्त परामर्शदाता थे, जिन्हें सामूहिक रूप से किचन केबिनेट (Kitchen Cabinet) या 'प्रासाद रक्षक' (Palace Guards) कहा जाता था। विल्सन पर कर्नल हाउस का जितना प्रभाव था, उतना मन्त्रिमण्डल के अन्य किसी सदस्य का नहीं। नव निर्माण आर्थिक नीति को अपनाते समय राष्ट्रपति रूजवेल्ट के कुछ ऐसे परामर्शदाता थे, जो मन्त्रिमण्डल के सदस्य नहीं थे, किन्तु उन पर राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों से भी अधिक विश्वास करते थे। राष्ट्रपति निक्सन के प्रथम कार्यकाल में डॉ. हेनरी कीसिंगर राष्ट्रपति के जितने निकट थे उतना मन्त्रिमण्डल का कोई भी सदस्य नहीं और वर्तमान समय में भी मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा राष्ट्रपति का व्यक्तिगत सहायक वर्ग अधिक शक्तिशाली है।

इस प्रकार राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के पारस्परिक सम्बन्ध में आधारभूत तथ्य राष्ट्रपति की सर्वश्रेष्ठता है। इस सम्बन्ध में लॉस्की के शब्दों में कहा जा सकता है कि "राष्ट्रपति कुछ सीमा तक सारे राष्ट्र का प्रतीक होता है और यही कारण है कि जब तक वह अपने पद पर रहता है, तब तक उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता।" उसके सामने केबिनेट के सदस्य की आवाज मात्र फुसफुसाहट है, जिसे सुना भी जा सकता है और नहीं भी।"³

1 दिनमान; 16-22 सितम्बर 1984, पृष्ठ 27।

2 वही।

3 "The President in a word, symbolises the whole nation in a way that admits of no competitor while he is in office. Alongside his, the voice of a Cabinet officer is at best, a whisper, which may not be heard."
—Laski

यद्यपि मन्त्रिमण्डल पर राष्ट्रपति की प्रभुता है, लेकिन अमरीकी प्रशासन का अधिकांश कार्य इन विभाग प्रमुखों द्वारा ही किया जाता है और अमरीकी मन्त्रिमण्डल की अपनी उपयोगिता है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

अमरीकी और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की तुलना (AMERICAN AND THE BRITISH CABINET COMPARED)

अमरीका में राष्ट्रपति को परामर्श देने वाली समिति के रूप में जिस संस्था का उदय हुआ, उसे मन्त्रिमण्डल कहा जाता है, लेकिन वस्तुतः इसे मन्त्रिमण्डल का नाम देना उचित नहीं है। मन्त्रिमण्डल शब्द मन्त्रिमण्डलात्मक शासन व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है और केबिनेट या मन्त्रिमण्डल में इस शासन व्यवस्था के लक्षण होने चाहिए, लेकिन अमरीका में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण इस प्रकार के लक्षण विद्यमान नहीं हैं। अतः लॉस्की के शब्दों में, “अमरीकी मन्त्रिमण्डल की कल्पना उस नमूने से कोई मेल नहीं खाती, जिसे हम बहुत पुराने समय से यूरोप की प्रतिनिधि सरकारों में देखने के अभ्यस्त हैं।”¹

अमरीकी मन्त्रिमण्डल और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में एक ही समानता बतायी जा सकती है और वह यह है कि ये दोनों ही संस्थाएं परम्पराओं की देन हैं, संविधान या कानून व्यवस्था की नहीं। इसके अतिरिक्त इन दोनों संस्थाओं में भेद ही भेद हैं। इन दोनों संस्थाओं के भेदों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) मन्त्रिमण्डल के निर्माण में भेद (Difference in the Composition of the Cabinet)—अमरीकी मन्त्रिमण्डल का निर्माण राष्ट्रपति द्वारा और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का निर्माण प्रधानमन्त्री द्वारा किया जाता है, लेकिन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री द्वारा मन्त्रिमण्डल के निर्माण में उतनी स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं किया जा सकता जितनी स्वतन्त्रता का उपभोग अमरीकी राष्ट्रपति के द्वारा किया जा सकता है, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के लिए आवश्यक है कि वह अपने दल के महत्वपूर्ण सदस्यों को मन्त्रिमण्डल में शामिल करे, वह उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता, लेकिन अमरीकी राष्ट्रपति जिन किन्हीं व्यक्तियों को मन्त्रिमण्डल में शामिल करना या न करना चाहे, उसके द्वारा ऐसा किया जा सकता है।

(2) मन्त्रियों का कार्यकाल सम्बन्धी भेद (Difference in the Term of Ministers)—यद्यपि सिद्धान्ततया ब्रिटिश प्रधानमन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल में मनचाहे परिवर्तन कर सकता है और उसके द्वारा मन्त्रिमण्डल के किसी भी सदस्य को पदच्युत किया जा सकता है, लेकिन व्यवहार में प्रधानमन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल के सबसे महत्वपूर्ण साधियों को तब तक पदच्युत नहीं कर सकता, जब तक कि ऐसा करने के विशेष कारण न हों। यदि प्रधानमन्त्री मन्त्रियों को हटाने में मनमानी करते, तो इससे उसका राजनीतिक अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है। उदाहरणार्थ, लॉर्ड जॉन रसेल पामस्टर्न को 1851 में पदच्युत कर

1 “It is important to realise atonce that the American Cabinet hardly corresponds to the classic idea of a Cabinet to which representative government in Europe has accustomed us.”

अधिक दिनों तक प्रधानमन्त्री नहीं रह पाये। अन्य भी ऐसे कुछ उदाहरण हैं। इस प्रकार ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का कार्यकाल केवल कुछ ही सीमा तक प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है, लेकिन अमरीकी मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का कार्यकाल पूरी-पूरी सीमा तक राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है और यह बात मन्त्रिमण्डल के सर्वाधिक शक्तिशाली समझे जाने वाले सदस्यों के सम्बन्ध में भी सत्य है।

(3) मन्त्रिमण्डल की स्थिति में भेद (Difference in the Position of Cabinet)—ब्रिटेन में प्रधानमन्त्री केबिनेट के साथ मिलकर समस्त शासन व्यवस्था का संचालन करता है। प्रधानमन्त्री इस बात के लिए बाध्य है कि वह सभी विषयों पर मन्त्रिमण्डल से परामर्श ले और महत्वपूर्ण प्रशासनिक निर्णय मन्त्रिमण्डल की सहमति से ही किये जाते हैं, लेकिन अमरीकी मन्त्रिमण्डल तो पूर्ण रूप से राष्ट्रपति के अधीनस्थ एक संस्था है और यह राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है कि वह इस संस्था का कितना और किस प्रकार से उपयोग करे। ब्रिटेन साझा बाजार की सदस्यता प्राप्त करे, यह ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का निर्णय था, लेकिन वियतनाम शान्ति समझौता अमरीकी राष्ट्रपति का ऐसा निर्णय है, जो उन्होंने व्यक्तिगत सहायक वर्ग की मन्त्रणा के आधार पर किया और जिसमें मन्त्रिमण्डल ने कोई भाग नहीं लिया। इस प्रकार ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्रधानमन्त्री के सहयोगी होते हैं, अमरीकी मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के सहायक-मात्र।

(4) राजनीतिक सजातीयता का भेद (Difference in Political Homogeneity)—ब्रिटेन में अब यह परम्परा भली-भांति स्थापित हो गयी है कि युद्ध या संकटकालीन स्थिति में तो राष्ट्रीय मन्त्रिमण्डल का गठन किया जाता है, लेकिन सामान्य परिस्थितियों में प्रधानमन्त्री केवल अपने ही दल के सदस्यों को मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित करता है। इसके विपरीत, अमरीकी मन्त्रिमण्डल में राजनीतिक सजातीयता नहीं पायी जाती और राष्ट्रपति विरोधी राजनीतिक दल के सदस्यों या दलीय राजनीति से अलग रहने वाले व्यक्तियों को उनकी विशिष्ट योग्यता के आधार पर मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित कर लेता है।

(5) मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापिका में सम्बन्ध का भेद (Difference in Relation between Cabinet and Legislature)—अमरीकी और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सबसे अधिक प्रमुख भेद व्यवस्थापिका के साथ उनके सम्बन्धों के विषय में है। ब्रिटेन में संसदात्मक शासन व्यवस्था है और वहां पर मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका अर्थात् संसद से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्य मन्त्री पद प्राप्त करने के बाद भी संसद के सदस्य रहते हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्य कानून-निर्माण में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं और संसद सदस्यों द्वारा मन्त्रिमण्डल पर दिन-प्रतिदिन का और इसके साथ ही अन्तिम राजनीतिक नियन्त्रण भी रखा जाता है। मन्त्रिमण्डल और लोकसदन का कार्यकाल भी एक-दूसरे की इच्छा पर निर्भर है। मन्त्रिमण्डल लोकसदन को विघटित करवा सकता है और लोकसदन मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है।

अमरीका में शक्ति-विभाजन सिद्धान्त पर आधारित अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था है और इस कारण मन्त्रिमण्डल और कांग्रेस में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य कांग्रेस

द्वारा किये जाने वाले कानून-निर्माण कार्य में भाग नहीं लेते और न ही मन्त्रिमण्डल तथा कांग्रेस का कार्यकाल एक-दूसरे पर निर्भर है।

(6) सामूहिक उत्तरदायित्व सम्बन्धी भेद (Difference Regarding Collective Responsibility)—ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है, जिसका तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल एक इकाई की भांति कार्य करता है, और लॉर्ड मार्ले की भाषा में 'इसके सदस्य साथ-साथ तैरते और साथ-साथ डूबते हैं।' वित्तमन्त्री को विदेश विभाग के दुष्कर्मों का फल भोगना होता है, लेकिन अमरीकी मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य नहीं करता। मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यक्तिगत रूप से केवल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। अमरीका में सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का कतई पालन नहीं होता, इसका एक उदाहरण राष्ट्रपति हार्डिंग के समय से लिया जा सकता है। हार्डिंग मन्त्रिमण्डल के तीन मन्त्री तेल सम्बन्धी भ्रष्टाचार में फंसे हुए थे, इसमें से दो पर फौजदारी अभियोग चला और एक को जेल भी हुई, लेकिन इस काण्ड का राष्ट्रपति या मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लॉस्की ने लिखा है कि "अमरीकी मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति के सलाहकारों की एक संस्था है। यह सहयोगियों की एक ऐसी परिषद नहीं है जिसके साथ उसे कार्य करना है और जिसकी सहमति पर वह निर्भर करता है। संयुक्त राज्य अमरीका में केबिनेट का सामूहिक उत्तरदायित्व नहीं है।"¹

(7) मन्त्रियों में राजनीतिक स्तर सम्बन्धी भेद (Difference in the Political Status of the Ministers)—ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की सदस्यता उन व्यक्तियों को प्राप्त होती है, जिन्होंने 'समस्त गम्भीरता' के साथ राजनीति को अपनाया हुआ है और जो एक लम्बा तथा सफल राजनीतिक जीवन व्यतीत कर चुके हैं। ब्रिटिश राजनीति में केबिनेट की सदस्यता सर्वोच्च राजनीतिक सफलता मानी जाती है और मन्त्रिमण्डल के कुछ सदस्य तो प्रधानमन्त्री के समकक्ष ही होते हैं, संयोग उनका साथ दे तो वे इस पद को प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन अमरीका में ऐसा नहीं है। अमरीका में राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति मन्त्रिपद के बजाय सीनेट की सदस्यता के ही इच्छुक होते हैं। मन्त्रि पद राष्ट्रपति पद को प्राप्त करने की सीढ़ी भी नहीं है। अमरीकी मन्त्रिमण्डल राजनीतिक दृष्टि से अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण व्यक्तियों का स्थान है।

वस्तुतः अमरीकी मन्त्रिमण्डल ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल अथवा केबिनेट की मूल धारणा के अनुरूप नहीं, वरन् इससे नितान्त भिन्न है। मूल बात सिडनी टी. बेली के शब्दों में यह है कि "अमरीकी मन्त्रिमण्डल को उस अर्थ में सरकार नहीं कहा जा सकता, जिस अर्थ में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल को सरकार कहा जाता है।"²

1 "The Cabinet is a body of advisors to the President. It is not a Council of Colleagues with whom he has to work and upon whose approval he depends. In the U.S.A. Collective cabinet responsibility does not exist."

—H. J. Laski, *The American Presidency*, p. 82.

2 "The American Cabinet is not a government, as is the British."

—Sydney T. Bailey, *Aspects of American Government*, p. 30.

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार होता है? उसकी शक्तियों और भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. अमरीका के राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। व्यवहार में यह कहाँ तक प्रत्यक्ष निर्वाचन बन गयी है?
3. “अमरीका का राष्ट्रपति सम्राट से कुछ कम और कुछ अधिक है वह प्रधानमन्त्री से भी कुछ कम और कुछ अधिक है।” इस कथन की दृष्टि में अमरीकी राष्ट्रपति की शक्तियों और स्थिति की तुलना ब्रिटिश सम्राट (साम्राज्ञी) और प्रधानमन्त्री के साथ कीजिए।
4. ब्रिटिश प्रधानमन्त्री और अमरीकी राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति और शक्तियों की तुलना कीजिए तथा भेद बताइए।
5. “अमरीकी मन्त्रिमण्डल ब्रिटिश अर्थों में मन्त्रिमण्डल नहीं है।” (वेले) विवेचना कीजिए।
6. “अमरीका के राष्ट्रपति का पद एक विचित्र संस्था है।” इस कथन का परीक्षण कीजिए।
7. संयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रपति एवं कांग्रेस के बीच सम्बन्धों का मूल्यांकन कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. अमेरिकी संघ की कार्यपालिका शक्ति से सम्बन्धित संविधान का अनुच्छेद उद्धृत कर उसकी संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।
2. राष्ट्रपति पद के लिए योग्यताएं क्या हैं?
3. राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति की कुछ प्रमुख बातें बताइए।
4. राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति की संक्षिप्त आलोचना कीजिए।
5. अमेरिकी राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों के केवल शीर्षक उपशीर्षक दीजिए।
6. अमेरिकी राष्ट्रपति को विधेयकों पर प्राप्त निषेधाधिकार की शक्ति की व्याख्या कीजिए।
7. राष्ट्रपति की शक्तियों में वृद्धि के दो प्रमुख कारण स्पष्ट कीजिए।
8. राष्ट्रपति कांग्रेस के कार्यों को किस प्रकार प्रभावित करता है?
9. कांग्रेस राष्ट्रपति के कार्यों को किस प्रकार प्रभावित करती है?
10. अमेरिकी राष्ट्रपति और ब्रिटिश सम्राट—इन दो पदों की स्थिति में जो समानता है, उसकी विवेचना कीजिए।
11. प्रशासनिक क्षेत्र में अमेरिकी राष्ट्रपति अधिक शक्तिशाली है या ब्रिटिश प्रधानमन्त्री स्पष्ट कीजिए।
12. विधायी क्षेत्र में अमेरिकी राष्ट्रपति अधिक शक्तिशाली है या ब्रिटिश प्रधानमन्त्री स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. (i) ‘अमेरिकी संघ की कार्यपालिका शक्ति एक राष्ट्रपति में निहित होगी’ यह बात अमेरिकी संविधान के अनुच्छेद.....में कही गई है।
- (ii) संविधान संशोधनके अनुसार एक ही व्यक्ति तीसरी बार राष्ट्रपति नहीं चुना जा सकता।

(iii) 23वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार कोलम्बिया जिले को राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल मेंसदस्य चुनने का अधिकार दिया गया है।

(iv) अमेरिकी राष्ट्रपति चुने जाने के बाद दि.को अपना पद ग्रहण करता है।

(v) यदि पूरी छानबीन के बाद सीनेट अपनेबहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव पारित कर दें, तो राष्ट्रपति को पदत्याग करना होता है।

[उत्तर—(i) अनुच्छेद 2, (ii) 22 वें संवैधानिक संशोधन, (iii) तीन सदस्य, (iv) 20 जनवरी, (v) दो-तिहाई बहुमत॥]

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. अमेरिकी राष्ट्रपति का कार्यकाल है :

- | | |
|------------|------------|
| (अ) 4 वर्ष | (ब) 5 वर्ष |
| (स) 6 वर्ष | (द) 7 वर्ष |

2. अमेरिकी राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के सदस्यों की संख्या है :

- | | |
|---------|---------|
| (अ) 535 | (ब) 530 |
| (स) 538 | (द) 438 |

3. तीसरी बार राष्ट्रपति पद ग्रहण करने का निषेध किस संवैधानिक संशोधन के आधार पर किया गया है :

- | | |
|-----------|-----------|
| (अ) 20वें | (ब) 22वें |
| (स) 18वें | (द) 21वें |

4. अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा की गई सन्धियों की पुष्टि किस संस्था द्वारा की जाती है ?

- | | |
|----------------------|-----------------------|
| (अ) अमेरिकी कांग्रेस | (ब) सर्वोच्च न्यायालय |
| (स) सीनेट | (द) प्रतिनिधि सभा |

5. उस समय अमेरिकी राष्ट्रपति को कौन निर्वाचित करता है, जब किसी प्रत्याशी को निर्वाचक मण्डल में बहुमत नहीं मिलता :

- | | |
|----------------|-----------------------|
| (अ) सीनेट | (ब) प्रतिनिधि सभा |
| (स) चुनाव आयोग | (द) सर्वोच्च न्यायालय |

6. सात ना और एक हां, पर चलेगी एक हां की' यह कथन राष्ट्रपति अब्राहम ने किसके बारे में कहा है :

- | | |
|-------------------|-----------------------|
| (अ) सीनेट | (ब) मन्त्रिमण्डल |
| (स) प्रतिनिधि सभा | (द) सर्वोच्च न्यायालय |

7. कौन-सा वक्तव्य अमेरिकी मन्त्रिमण्डल की विशेषता बतलाता है :

(अ) अमेरिकी मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है।

(ब) अमेरिकी मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में कार्य करता है।

(स) अमेरिकी मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानना या न मानना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है।

(द) अमेरिकी मन्त्रिमण्डल के सदस्य राष्ट्रपति के समकक्षी और समान पद वाले होते हैं।

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (स), 5. (ब), 6. (ब), 7. (स)॥]

प्रश्न 8. राष्ट्रपति के चुनाव में यदि किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत न मिले, तो उसे किस प्रकार चुना जाएगा?

[उत्तर—यदि राष्ट्रपति पद के किसी भी उम्मीदवार को मतदाताओं का पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो, तो प्रतिनिधि सभा प्रथम तीन उम्मीदवारों में से किसी एक को राष्ट्रपति निर्वाचित कर सकती है।]

प्रश्न 9. 'सीनेट के प्रति शिष्टता' का आशय क्या है?

[उत्तर—इसका आशय है—राष्ट्रपति जिस राज्य में नियुक्तियाँ करें, उसके सीनेटरों (विशेषतया अपने दल से जुड़े सीनेटरों) से परामर्श कर लें।]

प्रश्न 10. अमेरिकी राष्ट्रपति को कानून निर्माण के क्षेत्र में कौन सी सकारात्मक शक्ति प्राप्त है?

[उत्तर—उसे 'कार्यपालिका आदेश' (Executive orders) जारी करने की सकारात्मक शक्ति प्राप्त है।]

प्रश्न 11. यदि उप-राष्ट्रपति पद के चुनाव में किसी को स्पष्ट बहुमत न मिले, तो चुनाव किस प्रकार होगा?

[उत्तर—ऐसी स्थिति में सीनेट के द्वारा प्रथम दो उम्मीदवारों में से उप-राष्ट्रपति का चयन किया जाता है।]

प्रश्न 12. अमेरिकी राष्ट्रपति को किस रूप में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से अधिक शक्ति प्राप्त है?

[उत्तर—निश्चित कार्यकाल की व्यवस्था और मन्त्रिमण्डल पर पूर्ण नियन्त्रण के कारण कार्यपालिका क्षेत्र में अमेरिकी राष्ट्रपति को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री से अधिक शक्ति प्राप्त है।]

प्रश्न 13. ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को अमेरिकी राष्ट्रपति से किस रूप में अधिक शक्ति प्राप्त है?

[उत्तर—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री कार्यपालिका का प्रधान होने के साथ-साथ लोकसदन का नेता भी होता है तथा इसे विधायी क्षेत्र में अमेरिकी राष्ट्रपति से अधिक शक्ति प्राप्त है।]

प्रश्न 14. अमेरिकी राष्ट्रपति को किस प्रकार पदच्युत किया जा सकता है?

[उत्तर—अनुच्छेद 2 की उपधारा 4 के अनुसार अमेरिकी कांग्रेस महाभियोग के आधार पर राष्ट्रपति को पदच्युत कर सकती है।]

प्रश्न 15. लाभ प्रदान करने या 'लूट की प्रणाली' (spoils system) का आशय क्या है?

[उत्तर—राष्ट्रपति के चुनाव में विजयी दल को अधिकार प्राप्त है कि वह पहले से कार्यकर रहे नागरिक सेवा के अधिकारियों को पदच्युत कर अपने समर्थकों की नियुक्ति कर दें।]

5

कांग्रेस : संगठन और कार्य

(CONGRESS : ORGANISATION AND FUNCTIONS)

“इसके अन्तर्गत प्रदान की गयी व्यवस्थापन सम्बन्धी समस्त शक्तियां संयुक्त राज्य की एक कांग्रेस में निहित होंगी, जिसका निर्माण एक सीनेट व प्रतिनिधि सभा से मिलकर होगा।”¹
—अमरीकी संविधान के प्रथम अनुच्छेद की प्रथम उपधारा

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आवश्यकता (NECESSITY OF A BICAMERAL LEGISLATURE)

फिलाडेल्फिया सम्मेलन के सदस्य अमरीका में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की आवश्यकता पर लगभग एक मत थे। अमरीका में उपनिवेश काल में भी अधिकांश राज्यों में द्विसदनात्मक प्रणाली को ही अपनाया गया था और ‘परिसंघ’ के अन्तर्गत अपनायी गयी एकसदनात्मक व्यवस्थापिका नितान्त असन्तोषजनक तथा असफल सिद्ध हुई थी। संघात्मक व्यवस्थापिका को अपनाने के कारण भी द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को अपनाना आवश्यक था। अतः इस बात पर तो सहमति थी कि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के दो सदन होने चाहिए, लेकिन इस बात पर तीव्र विवाद था कि व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के निर्माण का आधार क्या हो। अमरीकी संघ की बड़ी इकाइयों द्वारा इस सम्बन्ध में जनसंख्या के आधार को अपनाने पर बल दिया गया, जिससे बड़ी इकाइयों को अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके, लेकिन छोटी इकाइयों द्वारा व्यवस्थापिका के दोनों ही सदनों का निर्माण संघ की सभी इकाइयों की समानता के सिद्धान्त के आधार पर करने पर बल दिया गया। अन्त में संघ की बड़ी इकाइयों और छोटी इकाइयों के बीच इस सम्बन्ध में एक समझौता सम्पन्न हुआ, जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रीय व्यवस्थापिका (कांग्रेस) के निम्न सदन (प्रतिनिधि सभा) का निर्माण जनसंख्या के आधार पर हो, लेकिन उच्च सदन (सीनेट) के निर्माण में इकाइयों की समानता के सिद्धान्त को अपनाया जाय, अर्थात् छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को इसमें समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।

1 “All legislative powers herein granted shall be vested in a Congress of the United States which shall consist of a Senate and a House of Representatives.”

—Section I of Article I of the American Constitution

कांग्रेस की शक्तियां तथा कार्य (POWERS AND FUNCTIONS OF THE CONGRESS)

संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि “इसके अन्तर्गत प्रदान की गयी व्यवस्थापन सम्बन्धी समस्त शक्तियां संयुक्त राज्य की एक कांग्रेस में निहित होंगी।” लेकिन व्यवहार में कांग्रेस को न केवल विधायी, वरन् प्रशासनिक और न्यायिक शक्तियां भी प्राप्त हैं। पोर्टेण्ट ने तो कांग्रेस की शक्तियों के सम्बन्ध में लिखा है कि “पर्यवेक्षण एवं वित्त सम्बन्धी अपनी शक्तियों के कारण, प्रशासन सम्बन्धी अन्तिम शक्ति राष्ट्रपति से भी अधिक कांग्रेस को प्राप्त है तथा महाभियोग सम्बन्धी अपनी शक्ति के कारण.....वह देश का सबसे (सर्वोच्च न्यायालय से भी) उच्चतर न्यायालय है।”¹

कांग्रेस के कार्य और शक्तियां निम्न हैं :

(1) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य (Legislative Function)—कांग्रेस का प्रथम और सर्वप्रमुख कार्य कानून निर्माण करना है। संघात्मक व्यवस्था होने के कारण इस सम्बन्ध में कांग्रेस को सीमित शक्तियां ही प्राप्त हैं, असीमित नहीं। कांग्रेस की विधायी शक्तियों का उल्लेख अनुच्छेद 1 के आठवें उपभाग तथा शक्तियों का विस्तृत वर्णन चौथे अध्याय में दिया गया है। इस सम्बन्ध में कांग्रेस की शक्तियां तीन प्रकार की हैं : प्रदत्त (Delegate), निहित (Inherent), तथा समवर्ती (Concurrent)। प्रदत्त शक्तियों के अन्तर्गत कांग्रेस को कर लगाने तथा एकत्रित करने, ऋण चुकाने की व्यवस्था करने, देश की प्रतिरक्षा की व्यवस्था करने, मुद्रा के निर्माण (नाप-तौल का स्तर निर्धारित करने) और डाक तथा तार, इत्यादि का प्रबन्ध करने की शक्ति दी गयी है। कांग्रेस सर्वोच्च न्यायालय के अधीन अन्य न्यायालयों का गठन कर सकेगी और स्थल सेना तथा जल सेना के नियमन हेतु कानून बना सकेगी। कांग्रेस को कानून-निर्माण के सम्बन्ध में अन्तर्निहित शक्तियां भी प्राप्त हैं, जिनका उल्लेख संविधान के चौथे अध्याय में किया गया है। इन शक्तियों में बैंक तथा कॉरपोरेशन स्थापित करना, कृषि की सहायता और नियन्त्रण, बिजली उत्पन्न करना तथा फालतू बिजली का बेचना, सैनिक तथा जल सेना अकादमियां स्थापित करना और सड़कों, स्कूल, स्वास्थ्य, बीमा, आदि पर धन-खर्च करना भी शामिल है। समवर्ती सूची में वे विषय शामिल हैं, जिन पर कांग्रेस तथा राज्यों के विधानमण्डल दोनों ही कानून बना सकते हैं। कर लगाना, ऋण लेना, न्यायालयों की स्थापना तथा व्यवस्था, बैंक व कॉरपोरेशन की स्थापना लोगों के हित के लिए सम्पत्ति बनाना तथा सार्वजनिक कल्याण के लिए खर्च करना समवर्ती सूची में शामिल है।

(2) चुनाव सम्बन्धी कार्य (Elective Function)—राष्ट्रपति के चुनाव में मतगणना कांग्रेस के दोनों सदनों के सम्मुख होती है। यदि राष्ट्रपति पद के चुनाव में किसी भी उम्मीदवार को निर्वाचक मण्डल का निरपेक्ष बहुमत (Absolute majority) प्राप्त न हो, तो प्रतिनिधि सभा पहले तीन उम्मीदवारों में से राष्ट्रपति चुनने के लिए मतदान करती है। इसी प्रकार यदि उपराष्ट्रपति पद के लिए किसी भी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो सीनेट प्रथम दो उम्मीदवारों में से उपराष्ट्रपति चुनती है। प्रतिनिधि सभा के द्वारा अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तथा सीनेट के द्वारा अपने उपसभापति का चुनाव किया जाता है। इसके अतिरिक्त कांग्रेस का प्रत्येक सदन अपने सदस्यों के चुनाव तथा उनकी योग्यताओं का निर्णय करता है। 1926

1 A. B. Fourtellon, *An Anatomy of American Politics*, p. 78.

में फिलाडेल्फिया से विलियम एस. बेयर और इलिनोइस से फ्रेंक एल. स्मिथ सीनेट सदस्य निर्वाचित हुए, किन्तु सीनेट ने इन्हें इस आधार पर सीनेट में पद ग्रहण नहीं करने दिया कि उन्होंने अपने चुनाव में भारी धनराशि खर्च की थी।

(3) कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य (Executive Function)—संविधान के द्वारा कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां राष्ट्रपति को प्रदान की गयी हैं, किन्तु कांग्रेस और प्रमुखतया सीनेट राष्ट्रपति के इन कार्यों और शक्तियों में भागीदार है। राष्ट्रपति की नियुक्तियां करने और सन्धियां करने से सम्बन्धित शक्ति पर सीनेट के द्वारा प्रभावशाली रूप में नियन्त्रण रखा जाता है। युद्ध की घोषणा केवल कांग्रेस के द्वारा ही की जा सकती है।

(4) प्रशासन का निर्देशन व नियन्त्रण (Direction and Control of the Administration)—कांग्रेस का एक कार्य प्रशासन का निर्देशन और नियन्त्रण है। कार्यपालिका विभागों से रिपोर्ट और सूचनाएं मांग कर इसके द्वारा निर्देशन और नियन्त्रण की शक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। कांग्रेस द्वारा प्रशासनिक एजेंसियों और सेवाओं की स्वयं व्यवस्था की जा सकती है तथा उनके कार्य भी निर्धारित किये जा सकते हैं।

(5) जांच-पड़ताल करना (Investigatory Function)—निर्देशन और नियन्त्रण से ही सम्बन्धित कार्य जांच-पड़ताल (Investigation) करने का है। कांग्रेस को प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार की जांच करने या अन्य किसी मामले की जांच करने के लिए जांच समिति नियुक्त करने का अधिकार है। वर्तमान समय में कांग्रेस के जांच-पड़ताल करने के इस कार्य का महत्व बढ़ता जा रहा है और कांग्रेस ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों में जांच कर शासन कार्य को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है।

(6) नवीन राज्यों को संघ में प्रवेश देना (Admission of New States in the Federation)—कांग्रेस कानून द्वारा नवीन राज्यों को संघ में प्रवेश दे सकती है। आरम्भ में अमरीकी संघ में 13 राज्य थे, किन्तु अब 50 राज्य हैं और कांग्रेस ने कानून बनाकर ही इन राज्यों को संघ में प्रवेश प्रदान किया है।

(7) दोनों सदनों के अनुशासन और कार्यविधि के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार (Right to form Rules regarding Discipline and Working in both Chambers)—कांग्रेस को अधिकार प्राप्त है कि वह दोनों सदनों के सदस्यों से अनुशासन का पालन कराने के लिए नियमों का निर्माण करे। यदि कांग्रेस का कोई सदस्य सदन में अनुशासन भंग करे तो सम्बन्धित सदन बहुमत से प्रस्ताव परित कर उसे सदन से निष्कासित कर सकता है।

(8) वित्तीय कार्य (Financial Function)—कांग्रेस का एक महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण है। यद्यपि वार्षिक बजट, बजट ब्यूरो के द्वारा राष्ट्रपति के निर्देशन में तैयार किया जाता है, लेकिन बजट कांग्रेस के द्वारा ही पारित किया जाता है और ऐसा करते हुए उसके द्वारा बजट में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जाते हैं। कांग्रेस अपनी इस शक्ति के आधार पर कार्यपालिका विभागों के कार्य-संचालन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर सकती है।

(9) न्यायिक कार्य (Judicial Function)—संविधान में कांग्रेस को यह अधिकार दिया गया है कि देशद्रोह, भ्रष्टाचार या अन्य घोर अपराध पर वह राष्ट्रपति, या अन्य किसी भी उच्च पदाधिकारी को महाभियोग के द्वारा पदच्युत कर सकती है।

अमरीकन कांग्रेस और ब्रिटिश संसद

(AMERICAN CONGRESS AND THE BRITISH PARLIAMENT)

अमरीका की राष्ट्रीय व्यवस्थापिका कांग्रेस ब्रिटिश संसद से मूलभूत रूप में भिन्न है। ब्रोगन के शब्दों में, 'अमरीकी कांग्रेस संसदों की जननी से नितान्त भिन्न है।' यह ब्रिटिश संसद से न केवल शक्तियों की दृष्टि से वरन् कार्यपालिका विभाग के साथ सम्बन्धों में भी भिन्न है।

ब्रिटिश संसद विश्व की एकमात्र सम्प्रभु व्यवस्थापिका है और इसकी कानून निर्माण की शक्ति की कोई वैधानिक सीमा नहीं है। इसके द्वारा किसी भी कानून का निर्माण किया जा सकता है। पहले से चले आ रहे किसी भी कानून में संशोधन किया जा सकता है या उसे रद्द किया जा सकता है और न्यायालय इस बात के लिए बाध्य हैं कि वे संसद द्वारा पारित प्रत्येक कानून को मान्यता प्रदान करें तथा उसे लागू करें। ब्रिटेन में न्यायिक पुनर्विलोकन की कोई व्यवस्था नहीं है और ऐसी कोई सत्ता नहीं है जो संसद द्वारा पारित कानूनों को अवैधानिक घोषित कर सके, लेकिन अमरीकी कांग्रेस एक सम्प्रभु संस्था नहीं है और इसकी शक्तियाँ प्रभावशाली प्रतीत होते हुए भी दो रूपों में बहुत अधिक सीमित हैं।

अमरीकी कांग्रेस की शक्तियों की प्रथम सीमा उसकी संचालक व्यवस्था के कारण है। संविधान के द्वारा केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों में शक्ति विभाजन किया गया है और अनेक विषयों पर संघीय कांग्रेस द्वारा नहीं, वरन् इकाइयों के विधानमण्डलों द्वारा ही कानूनों का निर्माण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, शिक्षा, श्रम-पूंजी सम्बन्धों, विवाह, तलाक और अन्य अनेक विषयों पर संघीय व्यवस्थापिका के द्वारा कानूनों का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ब्रिटिश संसद तो ब्रिटेन में किन्हीं भी विषयों पर कानूनों का निर्माण करने में स्वतन्त्र है, लेकिन अमरीकी कांग्रेस केवल संघीय विषयों पर ही कानूनों का निर्माण कर सकती है।

अमरीकी कांग्रेस की शक्तियों की दूसरी सीमा सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति (Power of Judicial Review) है। संघीय क्षेत्र के अन्तर्गत भी कांग्रेस के द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया जाता है, सर्वोच्च न्यायालय उसकी इस आधार पर परीक्षा करता है कि वे संविधान के प्रावधानों के अनुरूप हैं अथवा नहीं और सर्वोच्च न्यायालय यदि इन्हें संविधान के प्रावधानों के अनुरूप न समझे, तो उसके द्वारा उन्हें अवैध घोषित किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति अमरीकी कांग्रेस की विधि निर्माण की शक्ति पर बहुत बड़ा प्रतिबन्ध है।

अमरीकी कांग्रेस और ब्रिटिश संसद इन दो व्यवस्थापिकाओं में न केवल शक्ति की दृष्टि से, वरन् अपने-अपने देश की कार्यपालिका के साथ सम्बन्ध की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण अन्तर है। ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्य संसद से ही लिये जाते हैं और वे संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। लोकसदन का बहुमत मन्त्रिमण्डल का समर्थन करता है और इस समर्थन के बल पर ही मन्त्रिमण्डल शासन व्यवस्था का संचालन करता है। यदि लोकसदन बहुमत से अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दे, तो मन्त्रिमण्डल का पतन हो जाता है। इसका

1 "American Congress is something very different from the mother of Parliaments."

—D. W. Brogan, *The American Political System*, p. 137.

एक दूसरा पक्ष यह भी है कि प्रधानमन्त्री सम्राट को परामर्श देकर लोकसदन को भंग करवा सकता है। ब्रिटेन में वास्तविक स्थिति चाहे जो भी हो सिद्धान्त में संसद, विशेषतया लोकसदन, मन्त्रिमण्डल का स्वामी कहा जा सकता है। अमरीका में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को अपनाने के कारण कांग्रेस और राष्ट्रपति एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के सदस्य कांग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते। राष्ट्रपति और कांग्रेस न केवल एक-दूसरे से पृथक् वरन् नितान्त स्वतन्त्र भी हैं। कांग्रेस महाभियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रक्रिया से राष्ट्रपति को चार वर्ष की निश्चित अवधि के पूर्व पदच्युत नहीं कर सकती और न ही राष्ट्रपति कांग्रेस के किसी सदन को भंग कर सकता है।

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से अमरीकी कांग्रेस की स्थिति ब्रिटिश संसद की तुलना में बहुत कम महत्वपूर्ण है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से अमरीकी कांग्रेस को ब्रिटिश संसद की तुलना में अधिक शक्ति प्राप्त है। ब्रिटिश संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि 'जो कुछ है वह दिखायी नहीं देता और जो कुछ नहीं है वह दिखायी देता है' सिद्धान्त में तो संसद की सम्प्रभुता की बात कही जाती है, लेकिन व्यवहार में द्विदलीय पद्धति और राजनीतिक दलों के कठोर अनुशासन के कारण संसद केबीनेट के हाथ की कठपुतली बनकर रह गयी है। यदि केबीनेट के पीछे लोकसदन में अनुशासित बहुमत हो तो उसे विधियों के निर्माण और वित्तीय प्रस्तावों को स्वीकार करने में कोई भी कठिनाई नहीं होती है और सामान्यतया केबीनेट के पीछे लोकसदन के बहुमत की शक्ति होती है। अतः व्यवहार में संसद केबीनेट पर नियन्त्रण नहीं रखती, वरन् स्वयं केबीनेट से नियन्त्रित होती है और केबीनेट की शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि 'केबीनेट के अधिनायकत्व' की बात कही जाने लगी है, लेकिन अमरीका में स्थिति यह है कि संकटकाल में भले ही राष्ट्रपति कुछ सीमा तक कानून निर्माण की शक्तियों का प्रयोग करे, लेकिन शान्तिकाल में वह सीधे ही विधायी क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। राष्ट्रपति प्रत्यक्ष और परोक्ष साधनों से कांग्रेस को प्रभावित कर सकता है, नियन्त्रित नहीं। कानून-निर्माण तथा वित्तीय क्षेत्र में अन्तिम शक्ति कांग्रेस को ही प्राप्त है, राष्ट्रपति को नहीं।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद सम्प्रभु है जबकि अमरीकी कांग्रेस को इस प्रकार की सम्प्रभुता प्राप्त नहीं है, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि कानून-निर्माण और राष्ट्रीय वित्त पर कांग्रेस को जैसा प्रभावी नियन्त्रण प्राप्त है, आज की स्थिति में ब्रिटिश संसद को वैसा प्रभावी नियन्त्रण प्राप्त नहीं रहा है। इसके अतिरिक्त कांग्रेस, विशेषतया सीनेट, के द्वारा राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों पर भी प्रभावशाली रूप से नियन्त्रण रखा जाता है।

सीनेट (SENATE)

अमरीकी कांग्रेस के द्वितीय सदन (सीनेट) में सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है और अमरीकी संघ की प्रत्येक इकाई (राज्य) के द्वारा इसमें अपने दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। सीनेट में प्राप्त इस प्रतिनिधित्व से किसी भी राज्य को उसकी इच्छा के बिना वंचित नहीं किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 5 में स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है "किसी राज्य को उसकी सहमति के बिना सीनेट में प्रतिनिधित्व की समानता से वंचित नहीं किया जा सकता।" प्रारम्भ में जब 13 राज्यों ने मिलकर अमरीकी संघ का निर्माण किया, उस समय सीनेट के सदस्यों की संख्या केवल 26 थी, परन्तु अब अमरीकी संघ में 50 राज्य हैं और सीनेट की सदस्य संख्या 100 हो गयी है।

सदस्यों के लिए योग्यताएं—जो व्यक्ति सीनेट की सदस्यता के लिए उम्मीदवार होना चाहते हैं, उनमें निम्नलिखित योग्यताएं होनी अनिवार्य हैं :

- (1) वह 30 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
- (2) वह उस राज्य का निवासी हो, जिसका प्रतिनिधित्व वह सीनेट में करना चाहता है।
- (3) वह कम से कम 9 वर्ष से संयुक्त राज्य अमरीका में निवास करता हो।

सदस्यों का चुनाव (Election of the Members)—प्रारम्भ में सीनेट सदस्यों के निर्वाचन हेतु अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था को अपनाया गया था और वह व्यवस्था की गयी थी कि राज्यों के विधानमण्डल सीनेट सदस्यों को निर्वाचित करके भेजेंगे। कुछ समय तक तो यह व्यवस्था ठीक चली, किन्तु बाद में इस व्यवस्था में अनेक दोष उत्पन्न होने लगे। कुछ राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों में आपसी झगड़े और मतभेद इतने उग्र थे कि वे अनेक बार किसी भी सदस्य को सीनेट के लिए नहीं चुन सके। अतः सीनेट में कई राज्यों के स्थान रिक्त पड़े रहे। 1890 से 1912 तक के समय में कम से कम 11 राज्यों का किसी-न-किसी समय सीनेट में एक प्रतिनिधि ही रहा है और 1901 में डलावार राज्य का कोई भी प्रतिनिधि सीनेट के लिए निर्वाचित नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त सीनेट सदस्यों के निर्वाचन में भ्रष्ट साधनों का प्रयोग किया जाने लगा। विशेषतया छोटे राज्यों के विधानमण्डल के सदस्यों को रिश्तत, आदि देकर धनी लोग अपने प्रस्तावित व्यक्ति को सीनेट के लिए निर्वाचित करवा लेते। इस प्रकार योग्यता के आधार पर निर्वाचन किये जाने के बजाय पदों का क्रय-विक्रय किया जाने लगा। यह निश्चित रूप से चिन्ताजनक स्थिति थी और इसे दूर करने के लिए जनता में यह विचार बल पकड़ने लगा कि सीनेट के सदस्यों को भी प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाना चाहिए।

इसी कारण 1912 में संविधान में 17वां संशोधन प्रस्तावित किया गया, जिसका उद्देश्य था कि सीनेट के सदस्यों का चुनाव सीधे जनता द्वारा किया जाये। यह संशोधन 1913 में पारित हुआ और तब से ही सीनेट के सदस्यों का प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचन होता है। इसके परिणामस्वरूप सीनेट का महत्व बढ़ गया है और अब यह जनता की वैसी ही प्रतिनिधि बन गयी है जैसी कि प्रतिनिधि सभा।

अवधि—सीनेट एक स्थायी सदन है, जिसके सदस्य 6 वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किये जाते हैं। प्रति दो वर्ष बाद एक-तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं जिनके स्थान पर नवीन निर्वाचन कराये जाते हैं। सदस्यों के पुनर्निर्वाचन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और अनेक सदस्य लम्बे समय तक इसके सदस्य बने रहते हैं।

गणपूर्ति—सीनेट की बैठकों के लिए कुल सदस्यों के बहुमत की उपस्थिति आवश्यक है।

वेतन¹, भत्ते और उन्मुक्तियाँ—कांग्रेस के दोनों सदनों का वेतन, भत्ते और उन्मुक्तियाँ समान हैं। उन्हें 30 हजार डालर वार्षिक वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त 17,500 डॉलर क्लर्क के लिए और 12 हजार डॉलर कार्यालय के लिए वार्षिक खर्च मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्हें यात्रा भत्ते व स्टेशनरी व्यय आदि कुछ अन्य खर्च भी प्राप्त होते हैं। उन्हें निःशुल्क तार सेवा, टेलीफोन सेवा व चिकित्सा सुविधा भी प्राप्त है। सदस्यों को भाषण की

1 संविधान में *Compensation* शब्द का प्रयोग किया गया है, Pay या Salary शब्द का नहीं।

स्वतन्त्रता भी प्राप्त है और सदन में किये गये उनके भाषण के आधार पर उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

अधिवेशन (Session)—1933 में पारित किये गये बीसवें संशोधन के अनुसार सीनेट का अधिवेशन 3 जनवरी की दोपहर को प्रतिनिधि सभा के साथ ही प्रारम्भ होता है और दोनों सदनों का अधिवेशन उस समय तक चलता है, जब तक कि दोनों सदन अधिवेशन के स्थगन या समाप्ति के लिए प्रस्ताव पारित न करें। यदि दोनों सदनों में अधिवेशन स्थगन की तिथि पर मतभेद उत्पन्न हो जाये तो राष्ट्रपति तिथि निश्चित करता है। सामान्यतया यह अधिवेशन जुलाई में समाप्त होता है, किन्तु युद्ध या अन्य संकट की स्थिति में अधिक समय तक भी चल सकता है। राष्ट्रपति के द्वारा कांग्रेस के सदनों के विशेष अधिवेशन भी आमन्त्रित किये जा सकते हैं।

सभापति तथा अन्य पदाधिकारी (Chairman and other Office holders)—संयुक्त राज्य अमरीका का उपराष्ट्रपति सीनेट का पदेन सभापति होता है। उपराष्ट्रपति सीनेट का सदस्य नहीं होता और प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष की तुलना में उसके द्वारा सीनेट की कार्यवाही का संचालन लगभग पूर्ण निष्पक्षता के साथ किया जाता है। वह मतदान में भाग नहीं लेता और पक्ष-विपक्ष के बराबर मत आने अर्थात् 'टाई' (tie) पड़ने की स्थिति में ही अपने मतदान का प्रयोग करता है। सीनेट की कार्यवाही के सुनिश्चित नियम हैं और सीनेट के सदस्य अमरीकी राजनीति के वरिष्ठ सदस्य होते हैं, इसलिए ऐसे अवसर सामान्यतया नहीं आते हैं, जिनमें सभापति को व्यवस्था स्थापित करने की अपनी शक्तियों का प्रयोग करना पड़े। सभापति के द्वारा सदस्यों को उसी क्रम से बोलने की आज्ञा प्रदान की जाती है, जिस क्रम से वे बोलने के लिए उठे हों।

सीनेट को अपना एक 'सामयिक अध्यक्ष' (President Protempore) भी चुनने का अधिकार होता है। यह बहुमत दल का मनोनीत सदस्य होता है। सीनेट के सभापति और उपसभापति की अनुपस्थिति में यह सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है। सामयिक अध्यक्ष सदन का सदस्य होने के नाते, उसे सदन की सभी कार्यवाहियों में भाग लेने और मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। सीनेट के अन्य पदाधिकारी भी होते हैं जैसे बहुमत दल का नेता, दल सचेतक, सचिव, सार्जेंट एट आर्म्स और सदन या लिपिक, आदि।

फिलिबस्टर (Filibuster)—सीनेट की कार्यवाही की एक विशेष बात (जिसे उसका दोष कहा जा सकता है) यह रही है कि सीनेट के सदस्यों को मनचाहे समय तक बोलने की स्वतन्त्रता प्राप्त है और यदि वाद-विवाद प्रारम्भ होने के पूर्व ही विचार व्यक्त करने पर समय के प्रतिबन्ध के रूप में समझौता न हो जाय, तो सदस्यों के ऊपर समय का कोई प्रतिबन्ध लागू नहीं होता है। केवल इतना प्रतिबन्ध है कि कोई सदस्य एक दिन में एक ही विषय पर दो से अधिक बार नहीं बोल सकता, लेकिन संशोधनों पर बोलने में यह भी प्रतिबन्ध नहीं होता।

मूल रूप में यह व्यवस्था इस दृष्टि से की गयी थी कि प्रस्तावित विषयों पर पूर्ण वाद-विवाद हो सके, लेकिन कालान्तर में सदस्यों, विशेषतया अल्पमत वाले सदस्यों, द्वारा इसका दुरुपयोग प्रारम्भ कर दिया गया। उनके द्वारा एक विशेष विधेयक या सरकारी कामकाज में रुकावट डालने की दृष्टि से बहुत लम्बे समय तक बोलने की प्रवृत्ति अपना ली गयी और

ऐसे लम्बे-लम्बे भाषण दिये जाने लगे जो विचाराधीन विषय से बिल्कुल भी सम्बन्धित नहीं थे। सदन के कामकाज में रुकावट डालने की दृष्टि से अनावश्यक रूप से किये जा रहे इस वाद-विवाद को ही 'फिलिबस्टर' कहा जाता है।

1917 और 1937 में इस बुराई को भीषण रूप में देखा गया। 1917 में 11 सीनेटरों ने मिलकर व्यापारिक जहाजों के शस्त्रीकरण विधेयक को असफल कर दिया और 1937 में दक्षिण क्षेत्र के 20 सीनेटरों ने मिलकर 'एण्टीलिंविंग विधेयक' (Anti-Linching Bill) के विरुद्ध फिलिबस्टर का प्रयोग किया, जिसके परिणामस्वरूप 6 जनवरी से 21 फरवरी, 1937 तक के डेढ़ महीने में सीनेट कोई कार्य नहीं कर सकी। राष्ट्रपति विल्सन ने इस बुराई पर आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा था कि "हठी ब्यक्तियों का कोई भी एक छोटा गुट संयुक्त राज्य की महान् सरकार को असहाय और तुच्छ बना सकता है।" अतः फिलिबस्टर के विरुद्ध जनमत जागृत हुआ और 1917 में 'समापन नियम' (Closure) अपनाया गया; जिसे 1949 में संशोधित करते हुए सीनेट ने यह नियम बना दिया कि यदि कुल संख्या के दो-तिहाई सदस्य (100 में से 67 सदस्य) वाद-विवाद बन्द करने के लिए एक प्रस्ताव पारित कर दें, तो वाद-विवाद समाप्त हो जायेगा, लेकिन फिलिबस्टर पर रोक लगाने के लिए 2/3 बहुमत की प्राप्ति कठिन होती है, इसलिए वाद में भी फिलिबस्टर की प्रवृत्ति को अपनाया जाता रहा और 1953 में सीनेटर मौरिस ने 22 घण्टे 6 मिनट तक भाषण देकर इसी प्रवृत्ति को अपनाया। 1917 के नियम के आधार पर अब तक केवल चार बार ही 'फिलिबस्टर' पर रोक लगायी जा सकी है। सीनेट के समय के अधिक अच्छे उपयोग की दृष्टि से फिलिबस्टर पर प्रभावी रोक लगाना आवश्यक है, लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में इसकी सम्भावना कम ही दिखायी देती है। सीनेट के द्वारा फिलिबस्टर की धमकी का प्रयोग किया जा सकता है। 1968 में एवे फोर्टस की सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के प्रस्ताव पर कुछ सीनेट सदस्यों ने फिलिबस्टर के प्रयोग की धमकी दी और राष्ट्रपति को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा।

सीनेट की शक्तियां और कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE SENATE)

फिलाडेल्फिया सम्मेलन के सदस्यों द्वारा अमरीकी संविधान का निर्माण करने में शक्ति विभाजन सिद्धान्त के साथ-साथ नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाया गया था और उनका विचार था कि राष्ट्रपति और प्रतिनिधि सभा दोनों पर ही अंकुश रखने वाली एक संस्था होनी चाहिए, जिससे इन दोनों में कोई भी संस्था निरंकुशता की प्रवृत्ति को न अपना सके। सीनेट की रचना एक ऐसी संस्था के रूप में ही की गयी है। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, "सीनेट शासन में गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र है। एक ओर तो वह प्रतिनिधि सभा की लोकतन्त्रात्मक असावधानी और धृष्टता पर तथा दूसरी ओर राष्ट्रपति की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं पर रोक लगाने वाली एक सत्ता है।"¹

सीनेट की शक्तियों और कार्यों का अध्ययन अग्र रूपों में किया जा सकता है।

- 1 "The Senate is the centre of gravity in the Government, an authority to check and correct, on the one hand, the democratic recklessness of the House and on the other the monarchical ambitions of the President."

—Bryce

(1) कानून-निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ (Legislative Powers)—सीनेट अमरीकी कांग्रेस का द्वितीय सदन है और सामान्यतया वर्तमान समय में प्रजातन्त्रात्मक देशों में व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन को कानून-निर्माण में गौण स्थिति ही प्राप्त होती है, लेकिन अमरीकी सीनेट के सम्बन्ध ऐसी स्थिति नहीं है। मुनरो के शब्दों में, “यह कांग्रेस की एक समानपदी शाखा है, अधीन नहीं है और निम्न सदन के साथ राष्ट्रीय कानून-निर्माण के कार्य में साझेदार है।”¹ सीनेट की कानून-निर्माण सम्बन्धी शक्तियों का विवेचन साधारण विधेयकों, संवैधानिक विधेयकों और वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् किया जा सकता है।

साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में सीनेट को प्रतिनिधि सभा के बिल्कुल समान शक्तियाँ प्राप्त हैं। साधारण विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं और वे तब तक पारित नहीं समझे जाते, जब तक दोनों सदन उन्हें स्वीकार न कर लें।

संवैधानिक विधेयकों के सम्बन्ध में भी दोनों की स्थिति पूर्णतया समान है। संविधान में संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं और ऐसा प्रत्येक विधेयक पारित समझे जाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे दोनों सदन अपने-अपने दो-तिहाई बहुमत से पारित करें।

वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में संविधान प्रतिनिधि सभा को अवश्य ही कुछ उच्च स्थिति प्रदान करता है। संविधान के अनुसार वित्तीय विधेयकों का सूत्रपात प्रतिनिधि सभा में ही हो सकता है, सीनेट में नहीं, किन्तु संविधान यह भी कहता है कि सीनेट वित्तीय विधेयकों में अन्य विधेयकों की भांति संशोधन कर सकती है या उन्हें अस्वीकार कर सकती है और वित्तीय विधेयक तभी पारित समझा जायेगा, जबकि कांग्रेस के दोनों सदन उसे स्वीकृति प्रदान कर दें। सीनेट ने वित्तीय विधेयक के संशोधन करने के अधिकार का अर्थ यह लगाया है कि वह उसके पास भेजे गये बजट या अन्य विधेयक को नये सिरे से बनाने का अधिकार रखती है। कभी-कभी तो सीनेट किसी वित्तीय विधेयक को इतना संशोधित और परिवर्तित कर देती है कि सम्बन्धित विधेयक के शीर्षक के अतिरिक्त और सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक राजस्व विधेयक में सीनेट ने 847 संशोधन प्रस्तावित किये थे। मुनरो के शब्दों में, ‘सीनेट वह कार्य करने लगी है, जिसे संविधान नहीं चाहता था, कि वह करे’

इस प्रकार वित्त विधेयक के सम्बन्ध में सीनेट की स्थिति सैद्धान्तिक दृष्टि से ही गौण है, व्यवहार में नहीं। इसके अतिरिक्त व्यवहार में एक बात ने तीनों ही प्रकार के विधेयकों के सम्बन्ध में सीनेट को प्रतिनिधि सभा से उच्च स्थिति प्रदान कर दी है। यदि किसी भी विधेयक पर दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाये, तो यह विधेयक ‘सम्मेलन समिति’ को सौंपा जाता है, जिसमें दोनों सदनों के बराबर-बराबर की संख्या प्रायः 3-3 सदस्य होते हैं और सम्मेलन समिति दोनों सदनों में समझौता कराने का प्रयत्न करती है। व्यवहार में सीनेट के सदस्य अधिक योग्य, अनुभवी और कार्यकुशल होते हैं और समझौता बहुत कुछ सीमा तक उसी रूप में सम्पन्न हो जाता है जिस रूप में सीनेट चाहती है।

(2) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ—सीनेट को न केवल व्यवस्थापन वरन् प्रशासनिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। कार्यपालिका क्षेत्र में उसकी शक्तियाँ प्रतिनिधि सभा

1 “It is a co-ordinate, not a subordinate branch of the American Congress and divides with the House of Representatives, the function of making the national laws.”
—*The National Government of the U. S. A.*, p. 301.

की तुलना में निश्चित रूप से बहुत बढ़कर हैं। कार्यपालिका के क्षेत्र में उसकी प्रमुख शक्तियां तीन हैं :

(i) कार्यपालिका क्षेत्र में उसकी प्रथम शक्ति नियुक्तियों के पुष्टिकरण से सम्बन्धित है। राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियां तभी वैध होती हैं, जबकि सीनेट के द्वारा अपने साधारण बहुमत से उन्हें स्वीकृति प्रदान कर दी जाय। राष्ट्रपति दो प्रकार की नियुक्तियां कर सकता है। पहली प्रकार की वे नियुक्तियां हैं जो सारे राष्ट्र से सम्बन्धित होती हैं जैसे राजदूत, मन्त्रिमण्डल के सदस्य, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश और उच्च सैनिक अधिकारी, आदि। दूसरे प्रकार की नियुक्तियां उन संघीय अधिकारियों की होती हैं जो किसी राज्य में की जाती हैं जैसे संघीय जिला न्यायाधीश, पोस्टमास्टर्स के कुछ वर्ग, जिला न्यायवादी तथा मार्शल, इत्यादि। पहली प्रकार की नियुक्तियां सामान्यतया सीनेट के द्वारा इस आशा के साथ स्वीकार कर ली जाती हैं कि राष्ट्रपति दूसरी श्रेणी की नियुक्तियों में उससे परामर्श करे। वर्तमान समय में अमरीका में 'सीनेटीय शिष्टता' (Senatorial Courtesy) का नियम प्रचलित है जिसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रपति जिस राज्य में नियुक्तियां करे, उस राज्य के वरिष्ठ सीनेटर से परामर्श कर ले। यदि वरिष्ठ सीनेटर उसके दल से सम्बन्धित नहीं है तो उसके द्वारा 'कनिष्ठ' (Junior) सीनेटर से परामर्श किया जाता है। यदि दोनों ही सीनेटर राष्ट्रपति के दल से सम्बन्धित नहीं हैं, तो वह सीनेटरों से परामर्श करने के लिए बाध्य नहीं हैं, परन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति उस राज्य के सीनेटरों से परामर्श कर लेता है, चाहे वे विरोधी दल के ही हों, जिससे सीनेट में उन नियुक्तियों का विरोध न हो।

जब-जब राष्ट्रपति ने सीनेटीय शिष्टता की इस परम्परा को तोड़ने की कोशिश की, राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों को सीनेट ने अस्वीकार कर दिया। 1938 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने वर्जीनिया में एक संघीय न्यायाधीश की नियुक्ति वहां के सीनेटर गार्टर ग्लास के परामर्श के बिना ही कर दी। सीनेट ने 72 के विरुद्ध 6 के मत से इस आधार पर नियुक्ति को रद्द कर दिया कि राष्ट्रपति ने सीनेट के अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन किया है। इसी प्रकार 1951 में राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा इलिनोइस राज्य में की गयी संघीय न्यायाधीशों की नियुक्ति को सीनेट द्वारा रद्द कर दिया गया। ऐसे अन्य भी अनेक उदाहरण हैं। 1968 में राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा मनोनीत फोर्टस को मुख्य न्यायाधीश के पद के लिए सीनेट ने स्वीकृति नहीं दी। राष्ट्रपति निक्सन द्वारा प्रस्तावित दो अन्य नामों क्लेमेण्ट हिंसवर्थ और हैरल्ड कार्सवेल को भी सीनेट ने तीव्र जांच-पड़ताल के बाद अस्वीकार कर दिया। सीनेट ने राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों को स्वीकार या अस्वीकार करने की इस शक्ति के आधार पर राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में भी कुछ भाग प्राप्त कर लिया है।

(ii) कार्यपालिका क्षेत्र में सीनेट की दूसरी अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण शक्ति सन्धियों के विषय में है। सन्धियों के सम्बन्ध में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति द्वारा विदेशों के साथ की गयी सन्धियां उस समय तक लागू नहीं समझी जायेंगी, जब तक कि सीनेट उन्हें दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार न कर ले। सीनेट की यह शक्ति महत्वपूर्ण है और सीनेट अपनी इस शक्ति के आधार पर वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में राष्ट्रपति की भागीदार बन गयी है। सीनेट अपनी इस शक्ति के सम्बन्ध में सदैव ही सचेत रही है और इसने अवसर पड़ने पर कुछ सन्धियों को अस्वीकार भी किया है। सन् 1789 से 1934 के बीच जितनी सन्धियां हुईं, उनमें से सीनेट ने 682 को स्वीकार किया, 173 को संशोधित किया और 15 को अस्वीकार किया।

सीनेट द्वारा वर्साय की सन्धि की अस्वीकृति तो सर्व प्रसिद्ध है। जॉन हे का तो कहना है कि “सीनेट में आने वाली सन्धि अखाड़े में जाने वाले सौड़ के समान है। यह नहीं कहा जा सकता है कि उस पर अन्तिम प्रहार किस प्रकार और कब होगा, परन्तु एक बात निश्चित है कि वह अखाड़े से जीवित बाहर नहीं जायेगा।”¹

अनेक बार यह कहा जाता है कि प्रशासनिक समझौतों की प्रथा के कारण सीनेट की सन्धियों को स्वीकार करने की शक्ति का महत्व कम हो गया है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि प्रशासनिक समझौते का प्रयोग सीमित रूप में ही किया जा सकता है और प्रशासकीय समझौते सभी बातों के सम्बन्ध में सन्धि का विकल्प नहीं हो सकते। वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में राष्ट्रपति भी अपनी सीमाओं से परिचित है और वर्तमान समय में उसके द्वारा वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन सीनेट की परराष्ट्र समिति के निकट सम्पर्क में रहते हुए ही किया जाता है। सीनेट की इस शक्ति के सम्बन्ध में प्रो. लास्की का कहना है कि “अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में प्रभाव रखने की दृष्टि से विश्व का कोई भी विधायी सदन सीनेट का मुकाबला नहीं कर सकता।”

(iii) सीनेट की तीसरी कार्यपालिका शक्ति युद्ध की घोषणा से सम्बन्धित है। संविधान के अनुसार युद्ध की घोषणा कांग्रेस के द्वारा ही की जा सकती है। सीनेट अपनी प्रथम दो कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग तो अकेले ही करती है, किन्तु इस तीसरी शक्ति का प्रयोग उसके द्वारा प्रतिनिधि सभा के साथ मिलकर किया जाता है।

(3) अन्वेषण की शक्ति—सीनेट को एक अन्य महत्वपूर्ण शक्ति अन्वेषण या जांच के सम्बन्ध में प्राप्त है। संविधान के द्वारा तो सीनेट को व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों के लिए ही अन्वेषण की शक्ति प्रदान की गयी थी, किन्तु सीनेट ने अपनी इस शक्ति के आधार पर अनेक बार प्रशासनिक विभागों के कार्यों की व्यापक जांच की है और सीनेट के इन अन्वेषणों को इस आधार पर उचित ठहराया जाता है कि शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित संवैधानिक व्यवस्था में प्रशासनिक भ्रष्टाचारों को प्रकाश में लाने का यही एकमात्र साधन है। सीनेट द्वारा किये गये अन्वेषण से राष्ट्रपति हार्डिंज के काल में तेल षड्यन्त्र प्रकाश में आया जिसके परिणामस्वरूप तीन मन्त्रियों को त्यागपत्र देना पड़ा। 1929-30 के आर्थिक संकट के पूर्व और संकटकाल में वाल स्ट्रीट के द्वारा अपनाये गये भ्रष्ट तरीके सीनेट के अन्वेषण के परिणामस्वरूप ही प्रकाश में आये। सीनेट के इस अन्वेषण सम्बन्धी कार्य ने अभी हाल ही में अत्यधिक महत्व प्राप्त कर समस्त विश्व का ध्यान आकर्षित किया है। वाटरगेट काण्ड के सत्यों को प्रकाश में लाने के लिए सीनेटर जेम्स इर्विन की अध्यक्षता में सीनेट की न्यायिक समिति ने जांच कार्य किया और न्यायालय के साथ-साथ सीनेट द्वारा की गयी जांच ने अमरीका की समस्त प्रशासनिक व्यवस्था (हाइट हाउस और राष्ट्रपति) को हिलाकर रख दिया। इसी प्रकार सीनेट की उपसमिति ने 17 सितम्बर, 1974 को सुझाव दिया है कि ‘केन्द्रीय गुप्तचर अभिकरण’ (C. I. A.) के संचालक मि. रिचर्ड हेमल्स और तीन अन्य सरकारी अधिकारियों को चिली काण्ड में उनकी भूमिका के लिए दण्डित किया जाना चाहिए।²

1 “A treaty entering the Senate is like a bull going into the arena, no one can say just how or when the final blow will fall, but one thing is certain. It will never leave arena alive.”
—John Hay (Quoted from Munro's, *The National Government of the United States*, p. 294.)

2 *The Indian Express*, September 19, 1974.

वस्तुतः सीनेट द्वारा किये गये कुछ अन्वेषणों ने महती सेवा की है। इस आधार पर लॉस्की लिखते हैं कि “अमरीकी अन्वेषण समिति की व्यवस्था में ब्रिटिश रॉयल कमीशन तथा लोकसदन में प्रश्न-काल दोनों के गुण समन्वित हैं।”¹ गोलावे ने सीनेट की इन अन्वेषण समितियों को कार्यपालिका के साथ सम्बन्ध स्थापित करने वाली कड़ियाँ बताया है।

सीनेट की इस शक्ति का दूषित पक्ष यह है कि इसका दुरुपयोग भी किया जा सकता है।

(4) न्यायिक शक्तियाँ—सीनेट को न्यायिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं जिनमें सबसे प्रमुख महाभियोग की जांच का अधिकार है। प्रतिनिधि सभा में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, सैनिक अधिकारियों तथा न्यायाधीशों पर देशद्रोह, भ्रष्टाचार तथा अन्य गम्भीर अपराध के लिए महाभियोग लगाया जा सकता है। महाभियोग की सुनवाई सीनेट में होती है और वही उस पर अपना निर्णय देती है। महाभियोग की सुनवाई करते हुए यह न्यायिक प्रक्रिया के सभी कार्य (जैसे आदेश जारी करना, गवाहों को बुलाना और उन्हें शपथ दिलाना, आदि) करती है। महाभियोग की सुनवाई के समय सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश सीनेट की अध्यक्षता करता है। अपराध सिद्धि के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। अभी तक सीनेट के द्वारा कुल 12 बार महाभियोग प्रस्तावों की जांच की गयी और इनमें से 4 बार महाभियोग का प्रस्ताव पारित किया गया। 1868 में राष्ट्रपति एण्ड्रयू जॉनसन पर महाभियोग लगाया गया, किन्तु असफल हो गया। ब्राइस ने महाभियोग को ‘कांग्रेस के शस्त्रागार का सबसे भारी शस्त्र’ कहा है।

(5) अन्य शक्तियाँ—सीनेट को अन्य कुछ शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। वह राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए किये गये मतदान की गणना करती है और निर्वाचन परिणाम की घोषणा करती है। विशेष दशाओं में वह उपराष्ट्रपति का निर्वाचन भी करती है। यदि उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में किसी उम्मीदवार को पूर्ण संख्या का बहुमत प्राप्त न हो, तो सीनेट सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले प्रथम दो उम्मीदवारों में से किसी एक को उपराष्ट्रपति निर्वाचित कर सकती है। सीनेट को अपने सदस्यों के निर्वाचन एवं उनकी योग्यता के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्नों के निर्णय का अधिकार भी प्राप्त है।

सीनेट की शक्तियों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीनेट प्रतिनिधि सभा से अधिक शक्तिशाली है। यदि विश्व के अन्य देशों की व्यवस्थापिकाओं के द्वितीय सदनों से इसकी तुलना की जाय, तो इसे विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली द्वितीय सदन कहा जा सकता है।

सीनेट की आलोचना—कुछ आधारों पर सीनेट की कड़ी आलोचना की जाती है। प्रो. लॉस्की ने सीनेट की निम्न त्रुटियों का विशेष उल्लेख किया है :

(1) सीनेट विश्व की अन्य व्यवस्थापिकाओं की अपेक्षा बहुत अधिक समय नष्ट करती है। इस सम्बन्ध में सीनेट में अपनाये गये फिलिबस्टर का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

(2) सीनेट की कार्यवाही का एक आधार ‘लॉंग रोलिंग (Long Rolling) पद्धति है, जो पारस्परिक सहयोग का एक भ्रष्ट साधन है।

1 “The method combines something of the value of Royal Commission in Britain with the illumination afforded by question time in the House of Commons.”

(3) नियुक्तियों के सम्बन्ध में स्थापित 'सीनेट के प्रति शिष्टाचार' की व्यवस्था अत्यन्त दूषित और भ्रष्ट राजनीति की जनक है। इस व्यवस्था के आधार पर सीनेटर अपने ही राजनीतिक स्वार्थों को दृष्टि में रखते हुए अपने राजनीतिक समर्थकों और मित्रों को उच्च पदों पर नियुक्त करवा देते हैं और गुण तथा योग्यता की उपेक्षा होती है।

(4) सीनेट, जो कि प्रशासन के प्रति या प्रशासनिक कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं है, उसे महत्वपूर्ण प्रशासनिक शक्तियाँ प्राप्त होना किसी भी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता।

(5) सीनेट की अन्वेषण सम्बन्धी समितियों की कार्यवाही राजनीतिक दलबन्दी से प्रभावित होती है और इसमें राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की जाती है।

(6) सीनेट का संगठन अप्रजातन्त्रात्मक है। अमरीकी संघ की इकाइयों में जनसंख्या की दृष्टि से बहुत भेद है, किन्तु सीनेट में सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। सीनेट सदस्यों का बहुमत अमरीकी संघ की जनसंख्या के पांचवें से भी कम हिस्से का प्रतिनिधित्व करता है।

(7) सीनेट के सदस्य समाज के अत्यन्त कुलीन वर्ग में से आते हैं और उनके द्वारा जनसाधारण के हितों की उपेक्षा की जाती है। अनेक बार सीनेट सदस्यों के निर्वाचन में भ्रष्ट साधनों और धन का प्रयोग किये जाने की बात भी कही जाती है और यह निर्मूल नहीं।

(8) सीनेट की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि इसके द्वारा 'सीनेटीय अहं' के वशीभूत होकर राष्ट्रपति का अनावश्यक विरोध करने और राष्ट्रपति को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया जाता है। कभी-कभी राष्ट्रीय संकट की स्थिति में भी सीनेट की यह प्रवृत्ति बनी रहती है और इससे राष्ट्रीय हितों को क्षति पहुँचती है।

सीनेट की महत्ता और उसके कारण

(IMPORTANCE OF THE SENATE AND FACTORS FOR IT)

सीनेट की उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह एक तथ्य है कि सीनेट विश्व की श्रेष्ठतम राजनीतिक संस्थाओं में से एक है। प्रो. लास्की के कथनानुसार "सीनेट अमरीकन शासन प्रणाली की अद्वितीय सफलताओं में से एक है।" प्रो. लिण्डले, रोजर्स का कथन है कि "सीनेट आधुनिक राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार है।" सर हेनरी मेन का कथन है कि "जब से आधुनिक प्रजातन्त्र का विकास हुआ है तब से जितनी भी संस्थाओं का निर्माण किया गया है, उनमें यही एकमात्र पूर्ण सफल संस्था रही है।" जिस प्रकार रोमन यह कहते हुए कभी नहीं थकते कि पीरुस के राजदूत ने रोमन सीनेट को राजाओं की सभा कहा था, वैसे ही अमरीकावासी भी अपनी सीनेट को 'राजनीतिज्ञों एवं सन्तों का ओलम्पियन निवास-स्थान' (Olympian dwelling place of Statesmen and Sages) कहकर पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र के अधिकारी विद्वान लॉर्ड ब्राइस, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टन तथा फ्रेंच लेखक रॉकवेल ने भी सीनेट की बड़ी प्रशंसा की है।

सीनेट की महत्ता के कारणों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) संविधान-निर्माताओं द्वारा सीनेट को प्रदत्त महत्वपूर्ण स्थान (Important Position Assigned to the Senate by the Constitution-makers)—संविधान की भाषा से यह नितान्त स्पष्ट है कि संविधान-निर्माता स्वयं सीनेट को महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान करना चाहते थे। मुनरो के अनुसार, "संविधान के प्रथम अनुच्छेद में जहाँ द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की बात

कही गयी है, सीनेट का नाम पहले दिया जाना कोई साधारण लिखने की गलती नहीं है। संविधान-निर्माताओं में से अधिकांश सीनेट को संघीय व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी की दृष्टि से देखते थे।¹ संविधान-निर्माताओं को इस बात का भय था कि कहीं जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सभा प्रजातन्त्रात्मक उत्तरदायित्वहीनता की स्थिति को न अपना ले या कहीं राष्ट्रपति एक निरंकुश शासक की स्थिति को ग्रहण न कर ले। इस कारण उनके द्वारा सीनेट को प्रतिनिधि सभा की विधायी शक्ति और राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति दोनों पर ही अंकुश लगाने का अधिकार प्रदान किया गया है। इसी कारण स्थिति यह है कि सीनेट और राष्ट्रपति दोनों मिलकर प्रतिनिधि सभा की सहमति के बिना अनेक कार्य कर सकते हैं। इसी प्रकार सीनेट और प्रतिनिधि सभा राष्ट्रपति की उपेक्षा कर अनेक कार्य सम्पन्न कर सकती है, परन्तु ऐसे कार्य लगभग नहीं हैं जिन्हें राष्ट्रपति और प्रतिनिधि सभा दोनों मिलकर सीनेट की उपेक्षा करते हुए सम्पन्न कर सकें। इस प्रकार संविधान-निर्माताओं द्वारा सीनेट को शासन के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र की स्थिति प्रदान की गयी है।

(2) सीनेट की विशेष शक्तियाँ (Special Powers of the Senate)—संविधान और परम्पराओं के आधार पर सीनेट को कुछ ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं, जो विश्व की किसी भी व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन को प्राप्त नहीं हैं और इन शक्तियों के आधार पर सीनेट की महत्ता बहुत अधिक बढ़ गयी है। कानून-निर्माण के क्षेत्र में सीनेट प्रतिनिधि सभा के समकक्ष है और यह बात न केवल साधारण विधेयकों वरन् वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में भी सत्य है। सीनेट को नियुक्तियों की पुष्टि और सन्धियों की पुष्टि की दो ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिनके आधार पर सीनेट कार्यपालिका क्षेत्र में राष्ट्रपति की साझेदार बन गयी है। नियुक्तियों की पुष्टि के आधार पर सीनेट आन्तरिक प्रशासनिक कार्य को प्रभावित करती है और सन्धियों की पुष्टि के आधार पर सीनेट के द्वारा वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। सीनेट की इन कार्यपालिका शक्तियों के कारण उसके सम्मान में अत्यधिक वृद्धि हुई है और इसी तथ्य के कारण इसने सर्वाधिक योग्य और राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित किया है।

(3) मन्त्रिमण्डलात्मक पद्धति का अभाव (Absence of Cabinet System)—यदि अमरीका में ब्रिटेन की ही भांति मन्त्रिमण्डलात्मक पद्धति होती तो प्रतिनिधि सभा और सीनेट के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थिति दूसरी हो सकती थी। मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था होने पर अमरीकी कार्यपालिका अर्थात् राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के निम्न सदन अर्थात् प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी होता और केवल इसी तथ्य के कारण प्रतिनिधि सभा सीनेट की तुलना में अधिक महत्व प्राप्त कर लेती, लेकिन अमरीका में अध्यक्षतात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है और प्रतिनिधि सभा को कार्यपालिका पर नियन्त्रण की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। अतः कांग्रेस के प्रथम सदन (प्रतिनिधि सभा) की तुलना में सीनेट अधिक शक्तिशाली हो गयी है।

1 "It was by no mere slip of the pen that the first article of the constitution, in establishing a Congress of two chambers, gives the Senate priority of mention. The men who framed this document, most of them looked up the Senate as the backbone of the whole federal system."

—W. B. Munro, *The National Government of the United States*, p. 270.

(4) प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct Election)—ब्रिटेन की लॉर्ड सभा, भारत की राज्य सभा तथा फ्रांस की सीनेट को प्रथम सदन की तुलना में कम महत्व प्राप्त होने का एक प्रमुख कारण यह है कि इन देशों में द्वितीय सदन के सदस्यों का या तो मनोनयन होता है अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन और ये पद्धतियाँ लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल हैं। मूल अमरीकी संविधान में सीनेट सदस्यों के भी अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गयी थी, लेकिन 1918 में संविधान में सत्रहवें संशोधन के द्वारा सीनेट सदस्यों के प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गयी। सीनेट सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होने के कारण विश्व के अन्य देशों में जिस तत्व के आधार पर द्वितीय सदन का अपेक्षाकृत कम महत्व होता है, वह बात अमरीकी राजनीति में नहीं रही है और सीनेट के लोकतन्त्रीय आधार ने उसे प्रजातन्त्र का प्रतीक बना दिया है। निर्वाचन सम्बन्धी ही एक अन्य बात ने सीनेट को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का निर्वाचन 'क्षेत्रीय नियम' (Locality rule) के अनुसार होता है, अतः उनका दृष्टिकोण बहुत संकुचित हो जाता है, लेकिन सीनेटर पूरे राज्य का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत व्यापक होता है।

(5) सीनेट का स्थायित्व और सीनेट सदस्यों का दीर्घ कार्यकाल (Permanency of the Senate and long-term of the Senators)—सीनेट का स्थायित्व तथा सदस्यों का दीर्घ कार्यकाल भी सीनेट की शक्ति में वृद्धि का रहस्य है। सीनेट इस अर्थ में स्थायी है कि न तो पूरी सीनेट कभी भंग होती है न ही सीनेट के सभी सदस्यों का कार्यकाल नये सिरे से शुरू होता है। सीनेट सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है और 6 वर्ष के इस कार्यकाल का महत्व इस दृष्टि से है कि इसकी तुलना में प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल 2 वर्ष ही है। प्रतिनिधि सभा के सदस्य जहाँ एक बार निर्वाचित होने के लगभग तुरन्त बाद ही पुनर्निर्वाचन की चिन्ता में लग जाते हैं वहाँ सीनेट सदस्य एक बार निर्वाचित होने के बाद लगभग 5 वर्ष तक स्वतन्त्रता और निर्भीकता के साथ राष्ट्रीय सेवा में लगे रहते हैं। पुनर्निर्वाचन पर कोई प्रतिबन्ध न होने के कारण अनेक सदस्य 18, 24 और कभी-कभी 30 वर्ष से भी अधिक समय तक इसके सदस्य रहते हैं और अपने इस दीर्घ अनुभव के आधार पर ये सीनेटर और सीनेट अमरीकी राजनीति में अपना विशिष्ट स्थान बना लेते हैं। ऑग और रे के अनुसार, "प्रतिनिधि सभा प्रति दो वर्ष के उपरान्त एक नयी संस्था बन जाती है, नवनिर्वाचन से उसकी सदस्यता में बहुत परिवर्तन हो जाता है और उसे पुनः नीचे से ऊपर तक अपने को संगठित करना पड़ता है। इसके विपरीत, प्रत्येक समय पर सीनेट के दो-तिहाई से अधिक ऐसे सदस्य होते हैं जो प्रतिनिधियों की अपेक्षा कम से कम दो वर्ष सीनेटर के रूप में सेवा कर चुके हैं। नेतृत्व का विकास धीरे-धीरे होता है और साधारणतया इसमें परिवर्तन भी धीरे-धीरे होता है और सीनेट में इसकी अनवरत प्रवाहित धारा राजनीति में इसे विशिष्ट महत्ता प्रदान कर देती है।"

(6) सीनेट का लघु आकार (Small Size of the Senate)—सीनेट के लघु आकार के कारण भी उसकी महत्ता तथा प्रतिष्ठा बढ़ी है। सीनेट की कुछ सदस्य संख्या 100 है जबकि प्रतिनिधि सभा में 435 सदस्य हैं। छोटे आकार के कारण इसके सदस्यों में पारस्परिक घनिष्टता रहती है और वे स्वतन्त्रतापूर्वक वाद-विवाद कर पाते हैं। सीनेट का आकार इतना अवश्य है कि उसमें विचारों की विभिन्नता रहती है पर वह इतना अधिक नहीं है जिससे कि विधायी विचार-विमर्शों और कार्यवाहियों में सजीवता न रह सके। लॉर्ड ब्राइस का कथन है कि "इसका लघु आकार योग्य तथा होनहार व्यक्तियों को योग्यता प्रदर्शित करने का अवसर प्रदान करता है

तथा प्रतिभा एवं चातुर्य वाले व्यक्तियों को अपना पराक्रम दिखाने तथा राष्ट्र के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रसिद्धि प्राप्त करने का अवसर देता है।”

(7) सीनेट सदस्यों में संस्था के प्रति सम्मान और परस्पर ऐक्य (Loyalty of the Members and Senate's Solidarity)—वैसे तो स्वाभाविक रूप से सभी संस्थाओं के सदस्य अपनी संस्था के प्रति सम्मान रखते हैं और उनमें परस्पर ऐक्य की भावना होती है, लेकिन सीनेट के सदस्य अपनी संस्था के प्रति जितना सम्मान भाव रखते हैं और उनमें परस्पर जितना ऐक्य है, उतना अन्यत्र नहीं है। सीनेट सदस्यों के ऐक्य को दृष्टि में रखते हुए कहा जाता है कि, ‘सीनेट सदस्य औसत प्रतिनिधि की अपेक्षा भिन्न प्रकार के राजनीतिक प्राणी होते हैं।’ वे सीनेट के अन्दर एक-दूसरे पर कटु आक्षेप कर सकते हैं, परन्तु कुछ ही देर बाद आप देखेंगे कि बाहर वे हाथ में हाथ डाले घूम रहे हैं। जब किसी राष्ट्रपति के द्वारा ‘सीनेट के प्रति शिष्टाचार’ (Senatorial Courtesy) या सीनेट की अन्य किन्हीं सुनिश्चित परम्पराओं का उल्लंघन किया जाता है, तो सीनेट के सदस्य अपने राजनीतिक दल के प्रति भक्ति को भूलकर सीनेट के सम्मान की रक्षा हेतु एक हो जाते हैं। 1938 में जब राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सीनेट के प्रति शिष्टाचार की अवज्ञा का प्रयत्न किया, तो पूरी सीनेट ने, जिसमें राष्ट्रपति के दल के सदस्य भी सम्मिलित थे, राष्ट्रपति का डटकर और सफल विरोध किया।

(8) सीनेट की कार्यप्रणाली (Working System of the Senate)—सीनेट की कार्यप्रणाली भी उसकी शक्ति का स्रोत है। सीनेट की कार्यप्रणाली ऐसी है कि उसमें सदस्यों के बोलने का समय निश्चित नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप यहां विषयों पर विचार अधिक पूर्णता के साथ होता है और निश्चय पर पहुंचने के पूर्व उसके सभी पहलुओं पर पूर्णता के साथ विचार कर लिया जाता है। अच्छी तरह विचार के बाद किये गये निर्णय देश के लिए अधिक लाभकारी होते हैं और उनके कारण सीनेट की महत्ता में वृद्धि हुई है। यद्यपि कार्यप्रणाली की इस सरलता का दुरुपयोग भी किया गया है और भाषण की स्वतन्त्रता की आड़ में सदन में वाइबिल और शब्दकोश तक पढ़ कर सुनाये गये हैं, लेकिन ये अपवादस्वरूप हैं और कार्यविधि की सरलता ने सामान्यतया सीनेट के स्तर को उच्चता ही प्रदान की है।

(9) सीनेट सदस्यों की गुणात्मक उच्चता (Higher Qualities of the Senators)—संस्था की महत्ता उसके सदस्यों पर निर्भर करती है और सीनेट को इतनी अधिक महत्ता प्राप्त होने का अन्तिम, किन्तु एक महत्वपूर्ण कारण प्रतिनिधि सभा की तुलना में सीनेट सदस्यों की गुणात्मक श्रेष्ठता है। सीनेट कार्यपालिका शक्तियों में राष्ट्रपति की सहभागी है, इस कारण शासन तन्त्र में उसका स्थान बड़े महत्व का हो गया है। परिणामस्वरूप वे राजनीतिक नेता, जो अपने को देश के राजनीतिक जीवन में अधिक से अधिक शक्तिशाली बनाना चाहते हैं अधिकांश सीनेट की ही ओर आकर्षित होते हैं। सीनेट की शक्ति इस प्रकार जब योग्य हाथों में रहती है तो उसका उपयोग अच्छा होता है और इस प्रकार जब सीनेट लोगों की अच्छी सेवा करती है, तो सीनेट के सम्मान और उसकी महत्ता में वृद्धि होती है। गवर्नर, उपराष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति बनने के लिए सीनेट ही सबसे महत्वपूर्ण सीढ़ी है। प्रतिनिधि सभा में जो कुछ होता है उसकी ओर समाचारपत्रों का ध्यान भी नहीं जाता, परन्तु सीनेट सदस्यों के वक्तव्य समाचारपत्रों में शीर्ष स्थान पाते हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक डी. टाकविले ने दोनों सदनों के विषय में विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि, “वाशिंगटन की प्रतिनिधि सभा में घुसते ही व्यक्ति का ध्यान उस बड़ी सभा के भेदे दिखावे की ओर साधारणतया आकृष्ट हुए बिना नहीं

रहता। उसकी दीवारों के भीतर प्रायः कोई भी प्रतिभा का व्यक्ति नहीं दिखायी देता। उसके प्रायः सभी सदस्य साधारण व्यक्ति होते हैं। उससे थोड़ी ही दूरी पर सीनेट का द्वार है जिसके अपने थोड़े से स्थान में अमरीका के प्रतिभाशाली व्यक्तियों का अधिकांश समाया रहता है।”

सीनेट की लॉर्ड सभा तथा विश्व के अन्य द्वितीय सदनों से तुलना (SENATE COMPARED WITH HOUSE OF LORDS AND OTHER SECOND CHAMBERS OF THE WORLD)

सीनेट अमरीकी कांग्रेस का द्वितीय सदन है और सीनेट की अन्य राज्यों की व्यवस्थापिकाओं के द्वितीय सदन से तुलना करना असंगत न होगा। इस प्रकार की तुलना के सम्बन्ध में लिण्डसे रोजर्स का यह कथन नितान्त सत्य है कि “सीनेट विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली सदन है। दूसरे देशों की राजनीतिक व्यवस्था में तो द्वितीय सदन की शक्तियाँ कम हुई हैं, परन्तु सीनेट की शक्तियों का विस्तार हुआ है।”¹

अमरीकी सीनेट और ब्रिटिश लॉर्ड सभा (American Senate and British House of Lords)—सीनेट अमरीकी कांग्रेस का और लॉर्ड सभा ब्रिटिश संसद का द्वितीय सदन है, लेकिन संगठन और शक्ति की दृष्टि से ब्रिटिश लॉर्ड सभा तथा अमरीका की सीनेट में महान् अन्तर है। जहाँ सीनेट विश्व के द्वितीय सदनों में सबसे अधिक शक्तिशाली है, लॉर्ड सभा को विश्व के द्वितीय सदनों में सबसे अधिक शक्तिहीन कहा जा सकता है।

इन दोनों संस्थाओं की तुलना प्रमुखतया निम्न आधारों पर की जाती है :

संगठन (Composition)—एक राजनीतिक संस्था के कार्यों और शक्तियों पर उसकी संगठन की पद्धति का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। सीनेट और लॉर्ड सभा के संगठन में तीन प्रमुख अन्तर हैं। प्रथम, सीनेट की सदस्य संख्या 100 है, किन्तु लॉर्ड सभा की सदस्य संख्या लगभग 650 है। 600 से अधिक सदस्यों वाली लॉर्ड सभा न तो ठीक प्रकार से कार्य कर सकती है और न ही उससे ऐसी आशा की जा सकती है, लेकिन सीनेट-एक छोटी संस्था होने के कारण एक सुसंगठित इकाई के रूप में कार्य कर सकती है। सीनेट के सदस्यों में परस्पर ऐक्य है, जबकि लॉर्ड सभा के सदस्य परस्पर अपरिचित भी हो सकते हैं। द्वितीयतः, लॉर्ड सभा के अधिकांश सदस्य वंश परम्परा के आधार पर अपना पद ग्रहण करते हैं। इस कारण वे जन-प्रतिनिधि होने का दावा नहीं कर सकते और बिना किसी प्रयत्न के मिली हुई सदस्यता उनके लिए तिरस्कार की वस्तु बन सकती है; सीनेट सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर पद ग्रहण करते हैं, प्रयत्नपूर्वक प्राप्त की गयी सदस्यता को वे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और सत्य रूप में जन-प्रतिनिधि होने का दावा कर सकते हैं। तृतीयतः, लॉर्ड सभा के सदस्यों को सदस्यता आजीवन प्राप्त रहती है, सीनेट की सदस्यता का कार्यकाल 6 वर्ष है।

संगठन के इन भेदों के कारण लॉर्ड सभा के सदस्य जहाँ अपने पद और कर्तव्यों के प्रति उदासीन होते हैं, सीनेट सदस्य अधिकाधिक सक्रिय।

1 “The Senate of the United States is now the most powerful second chamber in the world. In all other constitutional systems of Government, the powers of the upper chambers have waned. The authority of the Senate has waxed.”

—Lindsay Rogers

शक्तियां (Powers)—शक्तियों की दृष्टि से सीनेट लॉर्ड सभा की तुलना में अत्यधिक शक्तिशाली है। इन शक्तियों की तुलना विधायी, कार्यपालिका और न्यायिक इन तीनों क्षेत्रों में की जा सकती है।

सन् 1911 और 1949 का संसदीय अधिनियम पारित होने के पूर्व लॉर्ड सभा लोकसदन के समकक्ष थी, लेकिन वर्तमान समय में यह न केवल द्वितीय वरन् गौण सदन बनकर रह गयी है। लॉर्ड सभा अवितीय विधेयकों को 1 वर्ष तक और वितीय विधेयक को 1 माह तक रोके रखने का कार्य ही कर सकती है, लेकिन सीनेट को व्यवस्थापन के क्षेत्र में आज भी वही स्थिति प्राप्त है, जो लॉर्ड सभा को 1911 का संसदीय अधिनियम पारित होने से पूर्व प्राप्त थी। वितीय क्षेत्र में प्रतिनिधि सभा और सीनेट की स्थिति में जो थोड़ा-सा अन्तर है, वह भी व्यवहार में महत्वहीन हो गया है।

कार्यपालिका क्षेत्र में लॉर्ड सभा के द्वारा मन्त्रिमण्डल से प्रश्न पूछने और उसकी आलोचना करने का कार्य किया जा सकता है, लेकिन लॉर्ड सभा द्वारा की गयी मन्त्रिमण्डल की आलोचना का कोई वैधानिक महत्व नहीं है क्योंकि मन्त्रिमण्डल लोकसदन के ही प्रति उत्तरदायी होता है; लॉर्ड सभा के प्रति नहीं। अमरीकी सीनेट को कार्यपालिका अर्थात् राष्ट्रपति पर नियन्त्रण रखने की कुछ वास्तविक शक्तियां प्राप्त हैं। नियुक्तियां और सन्धियां सीनेट की स्वीकृति के बिना वैध नहीं होतीं, युद्ध की घोषणा कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा ही की जा सकती है और सीनेट के द्वारा अन्वेषण समितियों के आधार पर प्रशासन की जांच करने का कार्य किया जा सकता है। बात यह है कि नियुक्तियों और सन्धियों को स्वीकृति प्रदान करने और जांच समितियां स्थापित करने से सम्बन्धित शक्ति अकेली सीनेट को प्राप्त है और प्रतिनिधि सभा सीनेट की इन शक्तियों में भागीदार नहीं है।

न्यायिक क्षेत्र में लॉर्ड सभा सीनेट से अधिक शक्तिशाली है। सीनेट तथा लॉर्ड सभा दोनों को ही निम्न सदन द्वारा लगाये गये महाभियोग को सुनने का अधिकार प्राप्त हैं, लेकिन लॉर्ड सभा ब्रिटेन में अपील का सर्वोच्च न्यायालय भी है और उसे पीयर लोगों के देशद्रोह से सम्बन्ध रखने वाले महाभियोग को सुनने का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। ये अधिकार सीनेट के पास नहीं हैं।

ब्रिटेन की लॉर्ड सभा जहां लोकसदन की तुलना में बहुत अधिक निर्बल है, अमरीका की सीनेट प्रतिनिधि सभा की तुलना में बहुत अधिक सबल। ब्रिटेन में राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति लोकसदन की ओर आकर्षित होते हैं, अमरीका में राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्तियों का आकर्षण केन्द्र सीनेट है। निकट भविष्य में सीनेट की शक्तियां कम किये जाने की भी कोई प्रवृत्ति अमरीकी राजनीति में दिखायी नहीं देती। सीनेट का महत्त्व और उसका सम्मान निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

सीनेट और भारत की राज्यसभा (Senate and the Indian Council of State)—भारत की राज्यसभा की तुलना में भी सीनेट बहुत अधिक शक्तिशाली है। भारत में राज्यसभा को साधारण विधेयकों के बारे में लोकसभा के समान ही शक्तियां प्रदान की गयी हैं, परन्तु दोनों में गतिरोध उत्पन्न होने पर संसद के दोनों सदनों की बैठक बुलायी जाती है, जिसमें लोकसभा की सदस्य संख्या राज्य सभा की दुगुनी से अधिक होने के कारण उसकी स्थिति बहुत सुदृढ़ रहती है। राज्यसभा वितीय विधेयकों को केवल 14 दिन तक रोके रख सकती है और उसकी अस्वीकृति का कोई महत्व नहीं है, जबकि सीनेट की स्वीकृति के

बिना वित्तीय विधेयक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकता। राज्यसभा कार्यपालिका को प्रभावित तो कर सकती है, लेकिन उस पर अन्तिम नियन्त्रण रखने की शक्ति उसे प्राप्त नहीं है, सीनेट के द्वारा कार्यपालिका पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जाता है। न्यायिक क्षेत्र में दोनों की स्थिति समान है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लॉर्ड सभा सीनेट जैसा शक्तिशाली द्वितीय सदन नहीं है।

पूर्व सोवियत संघ की राष्ट्रीयताओं की परिषद् और स्विट्जरलैण्ड की राज्य परिषद् से अमरीकी सीनेट की तुलना (American Senate compared with Soviet Council of Nationalities and Swiss Council of State)—सोवियत रूस में प्रथम सदन संघ की सोवियत और दूसरा सदन राष्ट्रीयताओं की सोवियत (Soviet of the Nationalities) कहलाता है। सोवियत रूस में साधारण तथा वित्तीय दोनों ही प्रकार के विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों की शक्तियां समान हैं। दोनों में ही विधेयक प्रस्तावित हो सकते हैं और प्रत्येक विधेयक अलग-अलग दोनों सदनों द्वारा पारित होना आवश्यक है। दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न होने की स्थिति में 'समझौता आयोग' (Conciliation Commission) इन मतभेदों को दूर करने की चेष्टा करता है और उसके असफल रहने की स्थिति में प्रेजीडियम दोनों सदनों को विघटित कर नये चुनाव करा सकता है। इस प्रकार रूस में द्वितीय सदन प्रथम सदन के समान ही शक्तिशाली है, परन्तु फिर भी इसे दो कारणों से सीनेट के समान शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः, सोवियत रूस की सर्वोच्च सोवियत, जिसका एक अंग राष्ट्रीयताओं की सोवियत है, की शक्तियां अवास्तविक हैं और कानून निर्माण तथा प्रशासनिक क्षेत्र में यदि कोई इकाई वास्तविक महत्व रखती है तो वह है साम्यवादी दल की सर्वोच्च सत्ता। अमरीकी सीनेट को न केवल ये शक्तियां प्राप्त हैं, वरन् उसके द्वारा व्यवहार में भी इन शक्तियों का उपयोग किया जाता है। द्वितीयतः, राष्ट्रीयताओं की सोवियत न तो प्रथम सदन से अधिक शक्तिशाली है और न ही कम, लेकिन अमरीकी सीनेट प्रतिनिधि सभा से अधिक शक्तिशाली है। नियुक्तियों और सन्धियों को स्वीकृति प्रदान करने की शक्ति के माध्यम से उसके द्वारा प्रशासन पर जैसा प्रभावी नियन्त्रण रखा जा सकता है, वैसा नियन्त्रण रखना 'राष्ट्रीयताओं की सोवियत' के लिए सम्भव नहीं है।

स्विट्जरलैण्ड में भी संविधान की दृष्टि में राष्ट्रीय व्यवस्थापिका (संघीय सभा) के दोनों सदनों—राष्ट्रीय परिषद् और राज्य परिषद्—की शक्तियां समान हैं, लेकिन व्यावहारिक राजनीति के कुछ कारणों के आधार पर व्यवहार में प्रथम सदन द्वितीय सदन से अधिक शक्तिशाली हो गया है। इसके अतिरिक्त स्विस् राज्य परिषद् को नियुक्तियों और सन्धियों के विषय में ऐसे अनन्य अधिकार प्राप्त नहीं हैं, जैसे कि अमरीकी सीनेट को। इस प्रकार स्विस् राज्य परिषद् से अमरीकी सीनेट पर्याप्त शक्तिशाली है।

अमरीकी सीनेट की जापान के द्वितीय सदन 'सभासद-सदन' से तुलना (American Senate compared with Japanese Second Chamber 'House of Councillors')—जापान की डाइट का प्रथम सदन 'प्रतिनिधि सभा' (House of Representative) द्वितीय सदन 'सभासद सदन' (House of Councillors) से अधिक शक्तिशाली है। साधारण विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है, परन्तु वित्त विधेयक प्रथम सदन में ही प्रस्तावित किया जा सकता है। यदि प्रतिनिधि सभा किसी साधारण विधेयक को पारित कर दे और सभासद सदन उसे रद्द कर दे, तो प्रतिनिधि सभा द्वारा पुनः उसे बहुमत से

पारित किये जाने पर विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायेगा और कानून बन जायेगा। वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में जापान के सभासद सदन की स्थिति ब्रिटिश लॉर्ड सभा के समान है, उसके द्वारा वित्त विधेयक को केवल 30 दिन की अवधि तक रोके रखने का कार्य किया जा सकता है। जापान की संसदात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति प्रथम सदन को प्राप्त है, जबकि अमरीका में राष्ट्रपति की शक्तियों पर सीनेट के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। इस प्रकार जापान के द्वितीय सदन (सभासद सदन) की तुलना में अमरीकी सीनेट बहुत अधिक शक्तिशाली है।

अमरीकी सीनेट की कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के द्वितीय सदन से तुलना (American Senate compared with Second Chamber of Canada and Australia)—इसी प्रकार अमरीकी सीनेट कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के द्वितीय सदनों से भी अधिक शक्तिशाली है क्योंकि इन देशों में संसदात्मक शासन व्यवस्था है, जिसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका के निम्न सदन के ही प्रति उत्तरदायी होती है। अतः इन देशों में द्वितीय सदन प्रथम सदन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, जबकि अमरीका में स्थिति विपरीत ही है। अमरीकी सीनेट को नियुक्तियों और सन्धियों पर स्वीकृति प्रदान करने और प्रशासन के विषयों की जांच करने की जो अनन्य शक्ति प्राप्त है, उसके कारण सीनेट इन देशों के द्वितीय सदनों से अधिक शक्तिशाली हो गयी है।

विश्व के विभिन्न देशों के द्वितीय सदनों की शक्तियों की सीनेट से तुलना करने पर यह नितान्त स्पष्ट है कि अमरीकी सीनेट इन सभी द्वितीय सदनों से अधिक शक्तिशाली है। कुछ से यदि सीनेट बहुत ही अधिक शक्तिशाली है तो कुछ से कुछ अधिक शक्तिशाली और यह स्थिति न केवल सिद्धान्त, वरन् व्यवहार में भी है। प्रो. स्ट्रॉंग ने सत्य ही कहा है कि “सीनेट की बहुत अधिक शक्तियां हैं। सम्भवतया विश्व का कोई ऐसा द्वितीय सदन नहीं होगा जो राष्ट्रीय सरकार के सभी मामलों में वास्तविक और सीधा महत्वपूर्ण प्रभाव रखता हो, विदेशी मामलों से लेकर संघीय कानून-निर्माण तथा वित्त तक, सरकारी क्षेत्र की प्रत्येक छोटी से छोटी बात पर सीनेट का प्रत्यक्ष प्रभाव है।”¹

इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों के द्वितीय सदन जहां अपना महत्व क्रमशः खोते जा रहे हैं, अमरीकी राजनीति में इस प्रकार की कोई प्रवृत्ति होने के बजाय उसके महत्व और सम्मान में क्रमशः वृद्धि ही होती जा रही है। आज की स्थिति और भविष्य की प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए प्रो. मुनरो ने ठीक ही लिखा है, “अभी तक ऐसा कोई समय नहीं आया और सम्भवतः कभी आयेगा भी नहीं, जबकि कांग्रेस का दूसरा सदन (सीनेट) द्वितीय श्रेणी का सदन कहलायेगा। सम्भवतः सीनेट की हालत वैसी कभी नहीं होगी, जैसी कि ग्रेट ब्रिटेन की संसद में लॉर्ड सभा की हुई है। इसकी वैधानिक शक्तियां अत्यधिक व्यापक हैं।”²

1 “The powers of the Senate are very great. Probably no second chamber of the world today has an influence so real and direct, not only in the most obviously national concerns such as foreign affairs but down to the very minutest business of federal legislation including finance.”

—C. F. Strong, *Modern Political Constitutions*, p. 213.

2 “There has never been a time and probably will never be when the second chamber of Congress, the Senate, can be termed a secondary chamber. The Senate is not likely to meet the same fate as the House of Lords has encountered in the Parliament of Great Britain. Its constitutional powers are far reaching.”

—W. B. Munro, *The Government of the United States*, p. 285.

अतः यह मानना होगा कि सीनेट की स्थिति बहुत अधिक दृढ़ है और वह विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली द्वितीय सदन है।

प्रतिनिधि सभा (HOUSE OF REPRESENTATIVES)

अमरीकी कांग्रेस के दोनों ही सदन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं, लेकिन कांग्रेस का लोकप्रिय सदन प्रतिनिधि सभा ही है। इसका कारण यह है कि जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधि सभा का ही गठन होता है, सीनेट का गठन तो संघीय आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल केवल 2 वर्ष होने से इसके सदस्यों पर जनता के विचारों की अधिक और तत्काल प्रतिक्रिया होती है और वे उसी के अनुरूप आचरण भी करते हैं। जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होने के कारण प्रतिनिधि सभा में बड़े राज्यों को अधिक और छोटे राज्यों को कम प्रतिनिधित्व प्राप्त है। प्रतिनिधि सभा के लिए न्यूयार्क राज्य से 43 प्रतिनिधि चुने जाते हैं, लेकिन अलास्का, डैलावेयर, नेवादा और व्योमिंग राज्यों में से प्रत्येक से एक प्रतिनिधि चुना जाता है।

प्रतिनिधि सभा की रचना (Composition of the House of Representatives)—अमरीका के मूल संविधान में लिखा है कि “प्रतिनिधि अनेक राज्यों में उनके अनुपात के अनुसार बांटे जायेंगे। जो इण्डियन टैक्स नहीं देते हैं, उनको उनमें शामिल नहीं किया जायेगा। 30 हजार व्यक्तियों के ऊपर एक प्रतिनिधि लिया जायेगा, परन्तु प्रत्येक राज्य से कम से कम एक प्रतिनिधि अवश्य लिया जायेगा।” प्रारम्भ में अमरीकी प्रतिनिधि सभा के सदस्यों की संख्या 65 थी, लेकिन नवीन राज्यों के अमरीकी संघ में प्रवेश करने और जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ यह सदस्य संख्या बढ़ती गयी। अब 1929 में निर्मित और 1941 में संशोधित ‘पुनर्निर्धारण एक्ट’ (Re apportionment Act) के अनुसार प्रतिनिधि सभा की सदस्य संख्या स्थायी रूप से 435 निश्चित कर दी गयी है। मूल संविधान में 30 हजार मतदाताओं के लिए एक सदस्य चुनने की व्यवस्था की गयी थी, परन्तु जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होते जाने के कारण 1963 में 4 लाख 45 हजार जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि निश्चित किया गया। मूल संविधान में की गयी यह व्यवस्था अब तक बनी हुई है कि अमरीकी संघ की प्रत्येक इकाई द्वारा प्रतिनिधि सभा के लिए एक प्रतिनिधि अवश्य ही निर्वाचित किया जायेगा, चाहे उसकी जनसंख्या कितनी ही कम क्यों न हो।

सदस्यों के लिए योग्यताएं—प्रतिनिधि सभा के उम्मीदवार में निम्न योग्यताएं होनी आवश्यक हैं :

- (1) वह 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
- (2) वह कम से कम 7 वर्ष से संयुक्त राज्य अमरीका का नागरिक हो। इस सम्बन्ध में उसके लिए अमरीका का जन्मजात नागरिक होना आवश्यक नहीं है।
- (3) वह संयुक्त राज्य अमरीका में कोई नागरिक या सैनिक पदाधिकारी न हो।
- (4) वह उस राज्य का निवासी हो, जिस राज्य से वह प्रतिनिधि सभा का चुनाव लड़ना चाहता है। वर्तमान समय में, अधिकांश राज्यों में यह परम्परा स्थापित हो गयी है कि उम्मीदवार न केवल उस राज्य का वरन् उस निर्वाचन क्षेत्र का भी निवासी हो, जहां से वह चुनाव लड़ रहा है। इसे ‘स्थानीयता का नियम’ (Locality Rule) कहते हैं।

प्रतिनिधि सभा का चुनाव—प्रतिनिधि सभा के सदस्य भारतीय लोक सभा की भांति ही वयस्क मताधिकार के आधार पर एकल सदस्यीय चुनाव क्षेत्र प्रणाली द्वारा चुने जाते हैं। पहले संयुक्त राज्य में महिलाओं को मताधिकार प्राप्त नहीं था। 1920 में किये गये संविधान के 19वें संशोधन द्वारा उन्हें मताधिकार प्रदान किया गया है। 1964-65 में नागरिक मताधिकार अधिनियम पारित करते हुए अशिक्षित हस्तियों को भी मताधिकार प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार मताधिकार के सम्बन्ध में लिंग तथा रंग पर आधारित सभी भेदभाव समाप्त कर दिये गये हैं। 26वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार अब अमरीका में 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त है। मतदाता बनने के लिए यह भी जरूरी है कि वह व्यक्ति उस राज्य में कुछ समय तक रहा हो। यह अवधि विभिन्न राज्यों में 6 माह से लेकर 2 वर्ष तक है। पागलों और दिवालियों को मताधिकार से वंचित कर दिया गया है।

कार्यकाल—प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल 2 वर्ष है और इस निश्चित अवधि को न तो कम किया जा सकता है और न ही बढ़ाया जा सकता है, प्रतिनिधि सभा को अवधि के पूर्व विघटित नहीं किया जा सकता है।

वेतन—प्रतिनिधि सभा व सीनेट के प्रत्येक सदस्य को 1,33,600 डॉलर वार्षिक वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त उसे क्लर्क, स्टेशनरी व कार्यालय के लिए अलग से भत्ते मिलते हैं, उन्हें यात्रा खर्च भी मिलता है।

गणपूर्ति—कुल सदस्यों का बहुमत सदन की गणपूर्ति करता है।

अधिवेशन—अमरीकी संविधान के बीसवें संशोधन के अनुसार, 'कांग्रेस का प्रतिवर्ष एक अधिवेशन अवश्य होगा तथा यह 3 जनवरी की दोपहर से प्रारम्भ होगा। कांग्रेस के दोनों सदनों का अधिवेशन उस समय तक चलता रहता है, जब तक कि उसके सदस्य अधिवेशन के स्थगन के लिए मत न दें। दोनों सदनों का अधिवेशन एक साथ स्थागित होता है। यदि दोनों सदन एक ही तिथि पर स्थगन के लिए सहमत न हों, तो राष्ट्रपति स्थगन की तिथि निश्चित करते हैं। राष्ट्रपति किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए दोनों सदनों का विशेष अधिवेशन बुला सकते हैं।

जैरीमैण्डरिंग (Gerrymandering)—प्रतिनिधि सभा के गठन से सम्बन्धित एक प्रथा जैरीमैण्डरिंग है। प्रतिनिधि सभा के सदस्य एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाते हैं और चुनाव क्षेत्रों का निर्धारण अमरीका में राज्य विधानमण्डलों का उत्तरदायित्व है। व्यवहार में सत्ताधारी दल चुनाव क्षेत्रों का निर्धारण इस प्रकार से करता है कि विरोधी दल के समर्थकों की संख्या को थोड़े-से चुनाव क्षेत्रों में सीमित कर दिया जाय और अपने समर्थकों को अधिक-से अधिक क्षेत्रों में इस प्रकार से फैला दिया जाय कि थोड़े-थोड़े बहुमत से अधिक संख्या में अपने उम्मीदवार विजयी हो जायें। 1824 में एलब्रिज जैरी मैसाचुसेट्स के गवर्नर थे और उनके द्वारा ही सबसे पहले इस प्रथा को अपनाया गया। अतः उनके नाम पर इसे 'जैरीमैण्डरिंग' कहा जाता है। जैरीमैण्डरिंग की प्रथा सत्ताधारी दल द्वारा सत्ता के दुरुपयोग का एक उदाहरण है और इसके कारण प्रतिनिधि सभा का गठन दोषपूर्ण हो गया है। 'जैरीमैण्डरिंग' को दृष्टि में रखते हुए ही बियर्ड (Beard) ने लिखा है कि 'प्रतिनिधि सभा राजनीतिक विचारों का सही दर्पण नहीं है।' अमरीका में 'जैरीमैण्डरिंग' की प्रथा पर रोष अवश्य है, किन्तु अब तक इस

बुराई को दूर नहीं किया जा सका है। मुनरो ने लिखा है कि “अमरीकी राजनीति में जैरीमैण्डरिंग एक दूषित तत्व रहा है तथा जनता की भावनाएं धीरे-धीरे इसके विरुद्ध होती जा रही हैं। आज यदि कोई दल इसका प्रयोग करता है, तो स्वयं उसके लिए विनाशकारी सिद्ध होता है।”

प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष

(SPEAKER OF THE HOUSE OF REPRESENTATIVES)

प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष को ‘स्पीकर’ कहते हैं और यह पद अमरीकी राजनीति में बहुत अधिक सम्मान और महत्व का है। प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति से दूसरे दर्जे पर समझा जाता है। यदि किसी विशेष स्थिति में राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों के ही पद रिक्त हो जायें तो प्रतिनिधि सभा का स्पीकर ही राष्ट्रपति पद को धारण करता है। प्रतिनिधि सभा के स्पीकर को 62,500 डॉलर वार्षिक वेतन तथा 10 हजार भत्ते के रूप में मिलता है।

‘स्पीकर’ का चुनाव—संविधान के अनुच्छेद 1, खण्ड 2 में कहा गया है कि “प्रतिनिधि सभा के सदस्य सभा के सभापति व अन्य अधिकारियों का चुनाव करेंगे।” प्रतिनिधि सभा प्रत्येक 2 वर्ष के बाद अर्थात् सभा के निर्वाचन के उपरान्त प्रथम सत्र में ‘स्पीकर’ का चुनाव करती है। व्यवहार में स्पीकर सदा ही सदन में बहुमत वाले दल का प्रत्याशी होता है। स्पीकर का चुनाव बहुमत दल अपने ‘काकस’ (Caucus) अर्थात् ‘अन्तरंग सम्मेलन’ में कर लेता है फिर भी सदन में उसके चुनाव की औपचारिक कानूनी कार्यवाही की जाती है। स्पीकर साधारणतया कोई अनुभवी और वरिष्ठ सदस्य होता है, किन्तु व्यक्तिगत लोकप्रियता भी उसके निर्वाचन में सहायक सिद्ध होती है। ब्रिटिश लोकसदन के स्पीकर का चुनाव प्रायः सर्वसम्मति से होता है और वहां ‘एक बार स्पीकर, सदैव स्पीकर’ के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है, परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका में स्पीकर का चुनाव सर्वसम्मति से नहीं, वरन् बहुमत दल के द्वारा किया जाता है। इस सम्बन्ध में अब यह परम्परा अवश्य ही स्थापित हो गयी है कि यदि प्रतिनिधि सभा में पुनः उसी दल का बहुमत हो जाय तो पूर्वगामी सभा का स्पीकर ही पुनः स्पीकर निर्वाचित कर लिया जाता है। यदि पहले का अल्पमत दल बहुमत में आ गया है तो उसके द्वारा अपने उम्मीदवार को स्पीकर निर्वाचित किया जाता है। स्पीकर के चुनाव की पद्धति को दृष्टि में रखते हुए ऑग तथा रे ने लिखा है कि “अमरीकी स्पीकर के पद का विकास इंग्लैण्ड से बहुत भिन्न रूप में हुआ और वह दलीय सम्बन्ध से मुक्त नहीं है। रीड और केनन के समय तो वह राष्ट्रपति से दूसरे स्थान पर दल का नेता होता था।”¹

शक्तियां और कार्य (Powers and Functions)—अमरीका का संविधान निर्माण करते समय यह सोचा गया था कि विधि-निर्माण के क्षेत्र में प्रतिनिधि सभा स्वयं ही अपना नेतृत्व कर लेगी। प्रारम्भ में प्रतिनिधि सभा की सदस्य संख्या 65 थी और ऐसा होना सम्भव भी था, किन्तु अमरीका संघ में नवीन इकाइयों के प्रवेश करने और प्रतिनिधि सभा की सदस्य संख्या बढ़ने के साथ यह बात सम्भव नहीं रही तथा यह स्पष्ट हो गया कि विधि-निर्माण का कार्य भली-भांति सम्पन्न करने के लिए सभा में नेतृत्व की आवश्यकता है। शक्ति-विभाजन पर

1 “The American speakership has been developed on very different lines and has been quite rankely partisan. In the days of Reed and Cannon, he was a party figure second only to President himself.”

—Ogg and Ray, *Essentials of American Government*, p. 199.

आधारित अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के द्वारा तो यह नेतृत्व किया नहीं जा सकता था, अतः सभा में बहुमत दल के नेता का भार 'स्पीकर' पर पड़ा और इस बात ने स्पीकर पद को अमरीकी राजनीति में बहुत शक्तिशाली बना दिया। हेनरी क्ले के समय स्पीकर पद की शक्तियों में वृद्धि प्रारम्भ हुई और धीरे-धीरे वह बहुमत दल और सदन का मान्य नेता बन गया। स्पीकर रीड और उसके बाद बीसवीं सदी के प्रारम्भ में स्पीकर जोसेफ जी. केनन के समय में तो स्पीकर पद की शक्तियाँ इतनी अधिक बढ़ गयीं कि स्पीकर पदधारी को तानाशाह कहा जाने लगा। इस समय 'स्पीकर' नियम समिति (Rules Committee) का अध्यक्ष था और इसलिए सदन में उसी कार्य को प्राथमिकता दे सकता था, जिसे वह उचित समझे। इसके अतिरिक्त वह स्थायी समितियों और प्रवर समितियों को नियुक्त करता था और इसके द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार से किया जाने लगा कि वह कानून-निर्माण के क्षेत्र में अन्तिम शक्ति बन गया। इसके द्वारा अपनी इन शक्तियों के प्रयोग में मनमानी भी की जाने लगी।

स्पीकर की इस मनमानी के विरुद्ध 1910 में विरोधी दल (रिपब्लिकन दल) ने विद्रोह खड़ा कर दिया और स्पीकर के दल के ही कुछ सदस्यों ने भी इस विद्रोह में साथ दिया। उसे नियम समिति के अध्यक्ष पद से हटा दिया गया और स्थायी समितियों तथा प्रवर समितियों की नियुक्ति की शक्ति सदन के द्वारा अपने हाथ में ले ली गयी।

स्पीकर की शक्तियों का एक महत्वपूर्ण भाग छीन लिये जाने के बाद भी उसके पास पर्याप्त शक्तियाँ हैं जिनका उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

1. सदन की अध्यक्षता करना—वह प्रतिनिधि सभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है। प्रतिदिन अपना आसन ग्रहण करने के बाद वह कार्य प्रारम्भ करने की घोषणा करता है तथा उस दिन के कार्यक्रम की घोषणा करता है। उसे यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी अनुपस्थिति में सदन की कार्यवाही चलाने के लिए तीन दिन तक किसी भी व्यक्ति को अस्थायी रूप से अध्यक्ष नियुक्त कर सकता है।

अध्यक्ष के रूप में वह सदस्यों को सदन में बोलने की स्वीकृति प्रदान करता है। स्पीकर की यह शक्ति महत्वपूर्ण है और उसके द्वारा इस अधिकार का प्रयोग इस प्रकार से किया जाता है कि उसके सदस्यों को बोलने के अधिक अवसर प्राप्त हों। इस सम्बन्ध में उसके मार्गदर्शन हेतु सदन के कुछ निश्चित नियम भी हैं।

2. सदन में शान्ति, व्यवस्था और अनुशासन बनाए रखना—सदन में शान्ति, व्यवस्था और अनुशासन बनाए रखना स्पीकर का सबसे प्रमुख अधिकार और दायित्व है। यदि सदन में कोई भी उपद्रव अव्यवस्था, अभद्र या अशिष्ट व्यवहार की स्थिति हो, तो वह गैलरियों तथा समाकक्षों को खाली करवाने का आदेश दे सकता है तथा इस कार्य के लिए वह सारजेण्ट की सहायता ले सकता है। अधिक अशान्ति उत्पन्न होने पर वह सदन की कार्यवाही को स्थगित कर सकता है। यदि कोई सदस्य सदन की कार्यवाही में अव्यवस्था उत्पन्न करे तो अध्यक्ष सदन को उस सदस्य के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए कह सकता है। वह स्वयं किसी सदस्य को दण्डित नहीं कर सकता, सदस्य को दण्डित करने का कार्य पूरा सदन ही कर सकता है।

3. नियमों की व्याख्या करना—अध्यक्ष सदन के नियमों की व्याख्या करता है तथा उन्हें लागू करता है। उसे अपना यह महत्वपूर्ण कार्य उन नियमों के अन्तर्गत ही करना होता है, जिन्हें 'नियम निर्माण समिति' बनाती है।

4. दल के नेता के रूप में कार्य—स्पीकर प्रतिनिधि सभा में अपने दल का नेता भी होता है। वह स्वयं दल के नेता के रूप में भाषण दे सकता है। जब सदन 'सम्पूर्ण सदन की समिति' के रूप में एकत्रित होता है, उस समय 'स्पीकर' इसकी अध्यक्षता नहीं करता तथा वह वाद-विवाद से अधिक सक्रिय रूप में भाग ले सकता है।

5. निर्णायक मत (Casting Vote) देने का अधिकार—साधारणतया उसे मत देने का अधिकार नहीं होता, लेकिन मत बराबर होने की स्थिति में उसके द्वारा 'निर्णायक मत' का प्रयोग किया जा सकता है। व्यवहार में वह, अपने निर्णायक मत का प्रयोग सदैव अपने दल के हित में करता है।

6. समितियों सम्बन्धी अधिकार—वह विविध स्थायी समितियों के पास विधेयकों को भेजता है। इसके अतिरिक्त दोनों सदनों के बीच मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति में वह 'सम्मेलन समिति' तथा अन्य विशेष समितियों की नियुक्ति करता है।

7. परिणामों की घोषणा और हस्ताक्षर—विधेयकों और प्रस्तावों पर वहस के पश्चात् वह सदन में मतदान करवाता है, मतों की गणना करता तथा उनके परिणामों की घोषणा करता है। वह सभी प्रस्तावों, लेखों (Writs), अधिपत्रों (Warrants) और विधेयकों पर हस्ताक्षर करता है।

यह एक तथ्य है कि अमरीका में प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष दलीय आधार पर कार्य करता है तथा व्यवहार में अध्यक्ष पद कभी अधिक शक्तिशाली रहा है तो कभी कम शक्तिशाली।

फर्ग्यूसन और मैक्हेनरी ने लिखा है कि 'स्पीकर पद कभी बहुत अधिक महत्व का और कभी साधारण महत्व का हो जाता है। इसकी स्थिति पदधारी व्यक्ति के व्यक्तित्व और अपने दल (कांग्रेस) तथा देश की परिस्थितियों पर निर्भर करती है। शक्तिशाली स्पीकरों (रीड, कैनेन और लॉगवर्थ) ने इस पद की सत्ता और सम्मान को उच्चतम स्तर पर पहुँचा दिया था, लेकिन कुछ स्पीकर पदाधिकारियों ने औपचारिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हुए ही सन्तोष कर लिया।'

प्रतिनिधि सभा के स्पीकर की ब्रिटिश लोकसदन के स्पीकर से तुलना

(SPEAKER OF THE HOUSE OF REPRESENTATIVES COMPARED
WITH THE SPEAKER OF THE BRITISH HOUSE OF COMMONS)

यद्यपि प्रतिनिधि सभा के स्पीकर का पद ब्रिटिश लोकसदन के स्पीकर पद से उदयभूत है, और यद्यपि इन दोनों ही देशों में स्पीकर के द्वारा सदन की अध्यक्षता और सदन में व्यवस्था बनाये रखने से सम्बन्धित कुछ समान शक्तियों का उपभोग किया जाता है, परन्तु प्रतिनिधि सभा के स्पीकर का स्वरूप लोकसदन के स्पीकर के स्वरूप से नितान्त भिन्न है :

निर्वाचन में अन्तर (Difference in Election)—नवीन लोकसदन के निर्माण के बाद लोकसदन के अध्यक्ष का चुनाव सामान्यतया सर्वसम्मति से होता है और इंग्लैण्ड में 'एक बार स्पीकर, सदा के लिए स्पीकर' की परम्परा का पालन किया जाता है। जो व्यक्ति स्पीकर पद पर कार्य कर रहा है सामान्यतया उसे उसके निर्वाचन क्षेत्र से निर्विरोध चुना जाता है और सदन में चाहे किसी भी राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त हो, पहले के स्पीकर को ही पुनः स्पीकर निर्वाचित कर लिया जाता है, लेकिन अमरीका में प्रतिनिधि सभा के स्पीकर का चुनाव दलीय आधार पर होता है। बहुमत दल और अल्पमत दल के द्वारा अपने-अपने उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं और बहुमत दल का उम्मीदवार स्पीकर पद पर निर्वाचित होता

है। इस चुनाव सम्बन्धी अन्तर को दृष्टि में रखते हुए ही ऑग और रे ने लिखा है कि “अमरीका में स्पीकर पद का विकास इंग्लैण्ड से बहुत भिन्न रूप में हुआ है।”

दलीय स्थिति में अन्तर (Difference in Party Position)—इन दोनों पदाधिकारियों का मूल और सबसे प्रमुख अन्तर दलीय स्थिति से सम्बन्धित ही है। लोकसदन का स्पीकर निर्वाचन के बाद दल से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है और दलीय राजनीति से किसी भी रूप में कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। वह सदन के वाद-विवाद में कोई भाग नहीं लेता। ‘टाई’ (tie) पड़ने की स्थिति में, यद्यपि उसे निर्णायक मत के प्रयोग का अधिकार प्राप्त है, लेकिन उसके द्वारा अपने इस मत का प्रयोग भी इस प्रकार से किया जाता है कि अन्तिम निर्णय सदन के ही द्वारा हो।

लेकिन प्रतिनिधि सभा में स्पीकर का चुनाव दलीय आधार पर होता है और जैसा कि फाइनर लिखते हैं, “अध्यक्ष बनने पर वह अपना राजनीतिक चरित्र छोड़ नहीं देता, वरन् और अधिक राजनीतिक होने के लिए ही वह अध्यक्ष बनता है।”¹ वह अपने दल के हितों की वृद्धि के लिए अपनी शक्ति और अधिकार का व्यापक तथा निरन्तर प्रयोग करता है। अध्यक्ष निकोलस लॉगवर्थ ने एक बार कहा था, “अपने दलीय मंच पर खड़े होकर, जहां तक सम्भव हो, उचित रीति से अपने दल के घोषित सिद्धान्तों और नीतियों के अनुकूल विधान निर्माण में सहायता करना और इस प्रकार अपने दल की घोषित नीतियों के प्रतिकूल विधान को रोकना स्पीकर का प्रथम कर्तव्य है।” वह अन्य सदस्यों की तरह ही सदन के वाद-विवाद में भाग लेता और मतदान भी करता है। एक बार अध्यक्ष हैनरी ली ने मतदान के समय सर्वप्रथम अपना नाम पुकारा था, जिससे उसका मत उसके अनुयायियों को प्रभावित कर सके। इन दोनों पदाधिकारियों की स्थिति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ. फाइनर ने लिखा है कि “लोकसदन का स्पीकर केवल नियमों का उल्लेख करता है और उन्हें निष्पक्षता से लागू करता है, जबकि प्रतिनिधि सभा का स्पीकर अपनी इच्छा से नियमों का पुनर्निर्माण करता है और सदन की कार्यवाही के निर्धारण में भी भाग लेता है।”²

शक्तियों का अन्तर (Difference in Powers)—इन दोनों पदाधिकारियों की शक्तियों में भी कुछ अन्तर है। ब्रिटिश लोकसदन के स्पीकर को 1911 के संसदीय अधिनियम के अनुसार वित्त विधेयक को प्रमाणित (certify) करने की शक्ति प्राप्त है, परन्तु प्रतिनिधि सभा में स्पीकर को इस प्रकार की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है।

एक अन्तर यह भी है कि लोकसदन में स्पीकर का निर्णय सभी नियमों के बारे में अन्तिम होता है, परन्तु संयुक्त राज्य में स्पीकर का यह निर्णय अन्तिम नहीं होता और उसके निर्णय के विरुद्ध सदन में अपील की जा सकती है।

इस प्रकार प्रतिनिधि सभा के स्पीकर का पद और व्यक्तित्व दलीय होता है, लोकसदन के स्पीकर का पद निर्दलीय। इसी तथ्य ने इस भेद को जन्म दिया है कि ब्रिटेन में स्पीकर

1 “Instead of losing his partisan character on becoming Speaker, he becomes speaker in order to be more political.” —Finer, Herman, *Theory and Practice of Modern Government*, p. 48.

2 “Where as the Speaker of the House of Commons simply utters the rules of the House, the speaker of the House of Representatives has often made the rules of the House, with power over the proceedings of the House.”

—Finer, Harman, *Ibid.*, p. 477.

का पद बहुत अधिक प्रतिष्ठा और सम्मान का समझा जाता है, लेकिन प्रतिनिधि सभा के स्पीकर को ऐसी प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त नहीं है। लोकसदन के स्पीकर का पद प्रतिष्ठा और गौरव का पद है, प्रतिनिधि सभा के स्पीकर का पद लोकसदन की तुलना में अधिक वास्तविक राजनीतिक शक्ति, लेकिन कम प्रतिष्ठा का पद है।

प्रतिनिधि सभा की शक्तियाँ और कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE HOUSE OF REPRESENTATIVES)

संविधान के अनुसार संयुक्त राज्य अमरीका की समस्त विधायी शक्तियाँ कांग्रेस में निहित हैं, जिनका प्रयोग प्रतिनिधि सभा और सीनेट समान रूप से करती हैं। इस प्रकार प्रतिनिधि सभा की मुख्य शक्ति कानून-निर्माण से सम्बन्धित है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी उसके द्वारा कुछ अन्य कार्य किये जाते हैं। उसकी शक्तियाँ और कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) विधायी शक्तियाँ—संविधान के अनुसार कांग्रेस को सभी संघीय विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है। इस सम्बन्ध में उसके द्वारा संविधान में उल्लिखित विषयों के अतिरिक्त अन्तर्निहित विषयों पर भी कानून-निर्माण का कार्य किया जाता है। कानून-निर्माण के सम्बन्ध में कांग्रेस के दोनों सदनों को समान शक्ति प्राप्त है। कोई भी विधेयक जब तक दोनों सदनों से पारित नहीं हो जाता, कानून नहीं बन सकता। वितीय विधेयक प्रतिनिधि सभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, सीनेट में नहीं, किन्तु सीनेट को इन विधेयकों में संशोधन करने का पर्याप्त अधिकार प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान-निर्माता कानून-निर्माण के क्षेत्र में प्रतिनिधि सभा को सर्वोपरि स्थिति देना चाहते थे, किन्तु कालान्तर में कानून-निर्माण के क्षेत्र में भी सीनेट ने प्रतिनिधि सभा के समकक्ष ही और व्यवहार में कभी-कभी शक्तिशाली स्थिति प्राप्त कर ली।

(2) संवैधानिक संशोधन की शक्ति—अमरीकी कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित कर संविधान में संशोधन प्रस्तावित करने का कार्य किया जाता है।

(3) कार्यपालिका शक्तियाँ—कार्यपालिका क्षेत्र में प्रतिनिधि सभा को दो शक्तियाँ प्राप्त हैं। प्रतिनिधि सभा सीनेट के साथ मिलकर युद्ध की घोषणा करती है। इसके अतिरिक्त वह अपनी स्थायी तथा विशेष समितियों के द्वारा संघीय सरकार के प्रशासन तथा संघीय न्यायपालिका के कार्यों की जांच कर सकती है।

(4) राष्ट्रपति को निर्वाचित करने की शक्ति—राष्ट्रपति का चुनाव निर्वाचक मण्डल के द्वारा किया जाता है, परन्तु यदि किसी भी उम्मीदवार को निर्वाचन मण्डल का पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो, तो प्रतिनिधि सभा प्रथम तीन प्रत्याशियों में से किसी एक को राष्ट्रपति निर्वाचित करती है।

(5) न्यायिक शक्तियाँ—न्यायिक शक्ति के अन्तर्गत प्रतिनिधि सभा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति एवं अन्य संघीय अधिकारियों के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव प्रस्तावित करती है जिसे सीनेट द्वारा निश्चित प्रक्रिया के आधार पर स्वीकार कर लिए जाने पर सम्बन्धित अधिकारी पदच्युत हो जाता है।

(6) अन्य शक्तियाँ—प्रतिनिधि सभा को कुछ अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। वह अपने सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकती है और ऐसे किसी व्यक्ति को दण्डित

कर सकती है जिसके व्यवहार से सदन की कार्यवाही में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप अथवा बाधा पड़ती हो। प्रतिनिधि सभा को अपनी कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में नियम-निर्माण का अधिकार प्राप्त है। यह सभा अपने सदस्यों के लिए योग्यताएं निर्धारित कर सकती और उसके चुनाव सम्बन्धी विवादों का निर्णय कर सकती है। यदि सदन दो-तिहाई बहुमत से किसी सदस्य को दोषी ठहराये, तो उसकी सदस्यता समाप्त हो सकती है।

सीनेट की तुलना में प्रतिनिधि सभा की दुर्बलता (WEAKNESS OF THE HOUSE OF REPRESENTATIVES IN COMPARISON WITH SENATE)

विश्व के अन्य देशों के समान संयुक्त राज्य अमरीका में भी द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है, लेकिन विश्व के अन्य देशों की तुलना में अमरीकी कांग्रेस के दोनों सदनों का पारस्परिक सम्बन्ध परस्पर विपरीत रूप में ही है। भारत, ब्रिटेन, कनाडा, जापान, आदि देशों में निम्न सदन को जनता की आकांक्षाओं का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करने के कारण लोकतन्त्र का सजग प्रहरी माना जाता है और उसे उच्च सदन की तुलना में अधिक शक्तियां प्राप्त होती हैं, परन्तु अमरीका में प्रतिनिधि सभा सीनेट की तुलना में कम शक्तिशाली है।

कानून-निर्माण के क्षेत्र में (In Legislative Sphere)—संविधान के अनुसार अवितीय विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों को बिल्कुल समान शक्तियां प्राप्त हैं, किन्तु व्यवहार में एक बात के कारण सीनेट कुछ अधिक शक्तिशाली हो गयी है। दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति में विधेयक 'सम्मेलन समिति' को सौंपा जाता है और सम्मेलन समिति में सीनेट सदस्यों के अधिक प्रभावशाली होने के कारण बहुत कुछ सीमा तक निर्णय सीनेट के विचार के अनुसार होता है।

वित्तीय क्षेत्र में (In Financial Sphere)—संविधान के अनुसार वित्तीय विधेयक प्रतिनिधि सभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, सीनेट में नहीं और संविधान में की गयी इस व्यवस्था से प्रतीत होता है कि संविधान-निर्माता वित्तीय क्षेत्र में अन्तिम शक्ति प्रतिनिधि सभा को ही देना चाहते थे, लेकिन सीनेट को वित्तीय विधेयकों में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है और अपने इस अधिकार के माध्यम से सीनेट ने संविधान-निर्माताओं द्वारा किये गये भेद को महत्वहीन कर दिया है। इसके अतिरिक्त, वित्तीय विधेयक भी दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है और सदनों में परस्पर विरोध होने पर सम्मेलन समिति की जो व्यवस्था की गयी है, उसके कारण अनेक बार वित्तीय क्षेत्र में भी सीनेट अधिक शक्तिशाली हो जाती है।

कार्यपालिका क्षेत्र में (In Executive Sphere)—भारत, ब्रिटेन, कनाडा, जापान, आदि देशों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होती है और यह तथ्य द्वितीय सदन की तुलना में प्रथम सदन को बहुत अधिक शक्तिशाली बना देता है, लेकिन अमरीका में राष्ट्रपति पर नियन्त्रण की शक्ति सीनेट को प्राप्त है, प्रतिनिधि सभा को नहीं और इस बात ने सीनेट की तुलना में प्रतिनिधि सभा की स्थिति को बहुत निर्बल कर दिया है।

व्यवहार में प्रतिनिधि सभा अपने सदस्यों की अपेक्षाकृत कम योग्यता के कारण भी एक निर्बल संस्था बनकर रह गयी है।

प्रतिनिधि सभा विश्व का सर्वाधिक निर्बल प्रथम सदन (House of the Representatives, Weakest First Chamber of the World)—अमरीकी कांग्रेस के दो सदनों में से सीनेट को यदि सर्वाधिक शक्तिशाली द्वितीय सदन कहा जा सकता है, तो प्रतिनिधि सभा विश्व का सर्वाधिक निर्बल प्रथम सदन है। भारत, ब्रिटेन, कनाडा, जापान, स्विट्जरलैण्ड, पूर्व सोवियत संघ, आदि देशों की व्यवस्थापिकाओं के प्रथम सदन की तुलना में यह निश्चित रूप से बहुत निर्बल है। भारत और ब्रिटेन में यद्यपि कानून-निर्माण की शक्ति संसद को प्राप्त है, लेकिन संसद के दो सदनों में निम्न सदन द्वितीय सदन की तुलना में बहुत अधिक शक्तिशाली है और इसी कारण व्यवहार के अन्तर्गत ब्रिटेन में संसद का तात्पर्य लोकसदन से और भारत में संसद का तात्पर्य लोकसभा से हो गया है। जापान और कनाडा में भी स्थिति यही है। स्विट्जरलैण्ड में यद्यपि संविधान के द्वारा संघीय सभा के दोनों सदनों को समान शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं, लेकिन व्यवहार में प्रथम सदन द्वितीय सदन से अधिक शक्तिशाली हो गया है। अन्य सदन, जहाँ द्वितीय सदन की तुलना में प्रमुखता की स्थिति रखते हैं, प्रतिनिधि सभा को सीनेट की तुलना में गौण स्थिति प्राप्त है। कार्यपालिका क्षेत्र में तो उसकी यह गौण स्थिति नितान्त स्पष्ट है और इसी बात ने प्रतिनिधि सभा को विश्व का सर्वाधिक निर्बल प्रथम सदन बना दिया है। लॉस्की के शब्दों में, “प्रतिनिधि सभा उन कृत्यों को करने में, जो उससे अपेक्षित हैं, नितान्त असफल रही है।”

प्रतिनिधि सभा की दुर्बलता के कारण (FACTORS RESPONSIBLE FOR THE WEAKNESS OF THE HOUSE OF REPRESENTATIVES)

प्रतिनिधि सभा सीनेट की तुलना में निर्बल है और विश्व के अन्य देशों के प्रथम सदनों की तुलना में भी। प्रतिनिधि सभा की दुर्बलता के कारणों की विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती है :

(1) **कानून-निर्माण में समानपदीय द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका (Equal Status of Both Chambers in Legislation)**—भारत और ब्रिटेन, आदि देशों के संविधान में कानून-निर्माण के क्षेत्र में प्रथम सदन को द्वितीय सदन की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गयी है, किन्तु अमरीका में सीनेट को हर प्रकार से प्रतिनिधि सभा के समान ही स्थिति प्राप्त है। इंग्लैण्ड में लॉर्ड सभा एक साधारण विधेयक को अधिक से अधिक एक वर्ष तक रोक रख सकती है और अन्तिम रूप में कानून-निर्माण लोक सदन की इच्छा पर निर्भर करता है, लेकिन अमरीका में सीनेट की स्वीकृति के बिना प्रतिनिधि सभा कानून-निर्माण के क्षेत्र में कुछ भी नहीं कर सकती।

(2) **प्रतिनिधि सभा को वित्तीय क्षेत्र पर एकाधिकार प्राप्त न होना (House of Representatives do not have the Monoply in Financial Sphere)**—सामान्यतया राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के प्रथम सदन को राष्ट्रीय वित्त पर एकाधिकार प्राप्त होता है। भारत, ब्रिटेन, कनाडा, जापान, आदि देशों में ऐसा ही है और इसके कारण प्रथम सदन सर्वोपरि स्थिति प्राप्त कर लेता है, लेकिन अमरीका में प्रतिनिधि सभा को राष्ट्रीय वित्त पर भी एकाधिकार प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में सीनेट उसकी सहभागिनी है। सीनेट वित्तीय विधेयकों में संशोधन कर सकती है और उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी वित्त विधेयक पारित नहीं हो सकता।

(3) अमरीका की अध्यक्षतात्मक व्यवस्था (Presidential System of America)—संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से ली जाती है और वह व्यवस्थापिका के निम्न सदन के प्रति उत्तरदायी होती है, लेकिन अमरीका में अध्यक्षतात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल न तो कांग्रेस में से लिए जाते हैं और न ही प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतः प्रतिनिधि सभा राष्ट्रपति पर नियन्त्रण रखने में नितान्त असमर्थ है।

(4) सीनेट की विशिष्ट कार्यपालिका शक्तियाँ (Special Executive Powers of the Senate)—विश्व के अन्य देशों में तो कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति प्रथम सदन को प्राप्त होती है, लेकिन अमरीका में यह शक्ति द्वितीय सदन को प्राप्त है। संविधान-निर्माता सम्भवतया सीनेट को राष्ट्रपति की परामर्शदात्री समिति बनाना चाहते थे और इसी कारण उनके द्वारा सीनेट को नियुक्तियों की स्वीकृति, सन्धियों की पुष्टि और विभागीय जांच, आदि के अधिकार प्रदान किये गये। सीनेट को प्रदान की गयी इन कार्यपालिका शक्तियों के कारण अमरीकी प्रशासन में द्वितीय सदन (सीनेट) को वह विशिष्ट स्थिति प्राप्त हो गयी है, जो ब्रिटेन और भारत की प्रशासनिक व्यवस्था में क्रमशः लोकसदन और लोकसभा को प्राप्त है। सीनेट की इन कार्यपालिका शक्तियों के कारण प्रतिनिधि सभा स्वाभाविक रूप से एक निर्बल सदन बनकर रह गया है।

(5) प्रतिनिधि सभा की अल्पावधि (Short-term of House of Representatives)—प्रतिनिधि सभा की निर्बलता का एक प्रमुख कारण उसकी अल्पावधि है, जबकि ब्रिटेन और भारत में निम्न सदन का कार्यकाल 5 वर्ष है, अमरीका में प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल 2 वर्ष ही है। इस अल्प कार्यकाल के कारण प्रतिनिधि-गण सदा चुनाव की चिन्ता में ग्रस्त रहते हैं और अपने कर्तव्यों की पूर्ति की ओर उचित ध्यान नहीं दे पाते। इसके विपरीत, सीनेट सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है, जिससे सीनेट को स्थायित्व प्राप्त होता है और उसके सदस्य अधिक अच्छे रूप में अपने कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं।

(6) विशाल आकार तथा कठिन कार्यविधि (Big Size and Difficult Working System)—प्रतिनिधि सभा का विशाल आकार तथा कठिन कार्यविधि भी इसकी दुर्बलता के लिए उत्तरदायी है। जबकि सीनेट में केवल 100 सदस्य हैं, प्रतिनिधि सभा 435 सदस्यों वाली वृहत् संस्था है, अतः किसी भी विषय पर आवश्यक गम्भीरता के साथ विचार नहीं कर पाती। सीनेट सदस्यों की तुलना में इस सभा के सदस्यों की भाषण की स्वतन्त्रता भी अत्यन्त सीमित है। वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे प्रतिनिधि सभा में रिकार्ड में छपवा दिया जाता है, अतः सदस्य वाद-विवाद में विशेष रुचि नहीं लेते। इन सबके कारण प्रतिनिधि सभा का वास्तविक कार्य तो समितियों की गुप्त बैठकों में होता है और प्रतिनिधि सभा का महत्व कम हो गया है।

(7) सदस्यों की गुणात्मक हीनता (Qualitative Inferiority of the Members)—प्रतिनिधि सभा गुणात्मक दृष्टि से भी निर्बल है। जहां सीनेट के सदस्य देश के अनुभवी व वरिष्ठ राजनीतिज्ञ और प्रसिद्ध विधि-विशेषज्ञ होते हैं वहां प्रतिनिधि सभा के सदस्य साधारण श्रेणी के लोग होते हैं। प्रतिनिधि सभा के अल्प कार्यकाल और अपेक्षाकृत कम शक्तियों के कारण अधिक योग्य और अनुभवी व्यक्ति इस सदन की ओर आकर्षित नहीं होते। इसके अतिरिक्त प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन में 'क्षेत्रीय नियम' (Locality Rule) का अनुसरण किया जाता है। परिणामस्वरूप अनेक योग्य व अनुभवी व्यक्ति प्रतिनिधि सभा के सदस्य नहीं

बन पाते, जबकि इसी नियम के कारण एक विशेष चुनाव क्षेत्र योग्य उम्मीदवारों के अभाव में साधारण श्रेणी के उम्मीदवारों का चुनाव करता है।

प्रतिनिधि सभा की उपर्युक्त दुर्बलता को दृष्टि में रखते हुए ही लॉस्की ने लिखा है कि “वह एक महान राष्ट्र के लिए अनुपयुक्त सदन ही है।”

अमरीकी कांग्रेस की समिति व्यवस्था (COMMITTEE SYSTEM OF THE AMERICAN CONGRESS)

वर्तमान समय में कानून-निर्माण का कार्य बहुत अधिक बढ़ गया है और इसके साथ ही यह कार्य बहुत अधिक जटिल हो गया है। ऐसी स्थिति में सदन के साधारण बुद्धि वाले सदस्यों से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि उनके द्वारा अपने सीमित समय में सभी विषयों पर उचित प्रकार के कानूनों का निर्माण किया जा सके। कानून-निर्माण के कार्य में वृद्धि और कार्य की जटिलता की इस दोहरी कठिनाई को दूर करने के लिए सभी देशों में ‘समिति प्रणाली’ (Committee System) को अपनाया जाता है। विधेयकों पर विस्तृत और पूर्ण वाद-विवाद का कार्य समितियों द्वारा कर लिया जाता है जिससे सदन का बहुमूल्य समय बच जाता है और विचाराधीन विधेयकों पर बहुत अधिक अच्छे प्रकार से विचार करने का कार्य सम्पन्न हो जाता है।

कांग्रेस में समितियों की आवश्यकता इस बात से नितान्त स्पष्ट है कि कांग्रेस के प्रत्येक सत्र में लगभग 10 हजार से लेकर 15 हजार तक विधेयक प्रस्तावित किये जाते हैं और किसी भी विधायी संस्था के द्वारा स्वयं इतनी बड़ी संख्या में विधेयकों पर विचार करने का कार्य नहीं किया जा सकता। अतः अमरीका में भी इंग्लैण्ड के समान समिति व्यवस्था को अपना लिया गया है।

समितियों का कार्य और महत्व

(FUNCTIONS OF THE COMMITTEES AND THEIR IMPORTANCE)

संयुक्त राज्य अमरीका की व्यवस्था में अन्य किसी देश की तुलना में समितियों की अधिक आवश्यकता और उनका अधिक महत्व है। ग्रेट ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था में मन्त्रिमण्डल के द्वारा कानून-निर्माण के कार्य में संसद का नेतृत्व किया जाता है। मन्त्रिमण्डल संसद का कार्यक्रम निश्चित करता है और विधेयकों का प्रारूप तैयार कर उन्हें संसद के सम्मुख लाता है, परन्तु अमरीका में राष्ट्रपति या मन्त्रिमण्डल के सदस्य कानून-निर्माण के कार्य में भाग नहीं लेते और इस कार्य में कांग्रेस को स्वयं ही अपना नेतृत्व करना होता है। ऐसी स्थिति में अधिकांश विधेयकों का प्रारम्भ समितियों में ही होता है। जब कभी राष्ट्रपति किसी विशेष कानून की आवश्यकता पर बल देता है तब उस पर समितियों में ही विचार किया जाता है और समितियाँ ही इन विधेयकों के लिए प्रारूप तैयार करती हैं।

अमरीका में समितियाँ विधेयक के प्रारूप पर ही नहीं, वरन् उनके सिद्धान्तों पर भी विचार करके उन्हें ठीक रूप दे सकती हैं। यदि वे विधेयक को अवांछनीय समझें तो उनके द्वारा बिना प्रतिवेदन दिये विधेयक को अपने पास पड़े रहने दिया जाता है जिसे विधेयक को ‘कबूतर के दरबे में डाल देना’ (Pigeon-holing of the Bill) कहा जाता है और इससे विधेयक के जीवन का अन्त हो जाता है। सैद्धान्तिक स्थिति यह है कि समिति ने जिस विधेयक को समाप्त करने हेतु उसे अपने पास रख लिया है, उसे सम्बन्धित सदन में वापस विचारार्थ

मंगवाया जा सकता है, यदि विधेयक का प्रस्तावक उस विधेयक के पक्ष में सदन के कुल सदस्यों के बहुमत के हस्ताक्षर (435 में से 218) प्राप्त कर ले, किन्तु व्यवहार में इस अधिकार का प्रयोग कम ही किया जाता है और स्थिति यह है कि विधेयक के जीवन-मरण का अन्तिम अधिकार समितियों के हाथ में है। समितियों की इस स्थिति को दृष्टि में रखते हुए ही फाइजर इन्हें 'सदन की वास्तविक विधानसभाएं' (Real Legislative Bodies of the House) और राष्ट्रपति विल्सन इन्हें 'लघु विधानसभाएं' (Little Legislatures) के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार स्पीकर रीड ने समितियों का विवरण देते हुए कहा था कि "ये सदन की आंख, कान, हाथ और अधिकांशतया उसका मस्तिष्क होती हैं।"¹

समितियों के प्रकार (Kinds of Committees)—अमरीकी कांग्रेस में विभिन्न प्रकार की समितियां हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) **स्थायी समितियां (Standing Committees)**—स्थायी या नियमित समितियां अमरीकी कांग्रेस की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समितियां होती हैं। फर्ग्यूसन और मैक्हेनरी के शब्दों में, "स्थायी समितियां वे बड़ी चलनी हैं जो प्रस्तावित व्यवस्थापन के एक बड़े भाग का सूक्ष्म परीक्षण करती हैं।"² 19वीं सदी के प्रारम्भ में प्रतिनिधि सभा में केवल 5 स्थायी समितियां थीं और सीनेट में एक भी नहीं थी, किन्तु आवश्यकतानुसार इनकी संख्या में वृद्धि होती गयी और 1927 में इनकी संख्या 61 हो गयी, परन्तु सन् 1948 के 'विधायिका पुनर्गठन अधिनियम' ने इनकी संख्या 19 निश्चित कर दी। वर्तमान समय में प्रतिनिधि सभा में 19 स्थायी समितियां हैं। प्रतिनिधि सभा की स्थायी समितियां इस प्रकार हैं—कृषि विनियोग (Appropriations), सशस्त्र सेनाएं, बैंकिंग तथा करेंसी, कोलम्बिया जिला, शिक्षा तथा श्रम, वैदेशिक मामले, 'सरकारी संक्रिया', सदन का प्रशासन, आन्तरिक तथा द्वितीय मामले, अन्तर्राज्यीय तथा वैदेशिक व्यापार, न्यायपालिका, समुद्री व्यापार तथा मछलियों के स्थान, डाकखाने तथा नागरिक सेवाएं, सार्वजनिक कार्य, नियम तथा विज्ञापन और विमान, अमरीका विरोधी गतिविधियां, भूतपूर्व कर्मचारियों के मामले, उपाय तथा साधन (Ways and Means)।

सीनेट की स्थायी समितियां इस प्रकार हैं—वैधानिक अन्तरिक्ष विज्ञान, कृषि तथा वन, विनियोग, सशस्त्र सेनाएं, बैंकिंग तथा करेंसी, कोलम्बिया जिला, वित्त, वैदेशिक सम्बन्ध, सरकारी संक्रिया, आन्तरिक तथा द्वितीय मामले, अन्तर्राज्यीय तथा वैदेशिक व्यापार, न्यायपालिका, श्रम तथा सार्वजनिक कल्याण, डाकखाने तथा नागरिक सेवाएं, सार्वजनिक कार्य, निगम तथा प्रशासन।

स्थायी समितियों का गठन—ये स्थायी समितियां प्रत्येक कांग्रेस के प्रारम्भ में गठित होती हैं और 1911 के बाद से इनका निर्माण सभा द्वारा होता है, न कि अध्यक्ष द्वारा। प्रतिनिधि सभा की विविध स्थायी समितियों की सदस्य संख्या 9 से लेकर 50 तक होती है और सीनेट की इन समितियों की सदस्य संख्या 2 से लेकर 17 तक होती है। वास्तव में स्थायी समितियों के इन सदस्यों का चयन दल की 'समितियों सम्बन्धी समिति' के द्वारा किया जाता है। प्रत्येक

1 "The eye, the ear, the hand and very often the brain of the House."

—Thomas, B. Reed.

2 "The standing committees constitute the screen through which the great mass of proposed legislation is shifted."

—Ferguson McHenry, *American System of Government*, p. 35.

दल की इस समिति में दल के वरिष्ठ सदस्य होते हैं और वे ही निर्णय करते हैं कि दल के किस सदस्य को किस समिति में रखा जाय। प्रत्येक दल को प्रायः समितियों में उसी अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है जो अनुपात उसका सदन में हो। समिति के सभापति की नियुक्ति ज्येष्ठता के आधार पर की जाती है और सामान्यतया यह बहुमत दल का सदस्य ही होता है।

कार्य—दोनों सदनों की विधायी प्रक्रिया का अधिकांश कार्य स्थायी समितियां ही सम्पन्न करती हैं। समितियों के पास जो विधेयक आते हैं, उनका सूक्ष्म परीक्षण करती हैं और सदन को अपनी रिपोर्ट देती हैं जिसके आधार पर सदन उन्हें शीघ्रता से निबटा सकता है। उन्हें यह महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है कि जिन विधेयकों को अनुपयुक्त समझकर समाप्त करना चाहें उनके सम्बन्ध में रिपोर्ट ही प्रस्तुत न करें। लगभग तीन-चौथाई विधेयक समितियों द्वारा यों ही समाप्त कर दिये जाते हैं। स्थायी समितियां, विधेयकों पर जैसी चाहें, खुली या गुप्त, बैठकें कर सकती हैं, गवाहों की साक्षी ले सकती हैं, बाहर के व्यक्तियों को बुलाकर प्रश्न पूछ सकती हैं तथा विधेयकों में संशोधन के सुझाव भी दे सकती हैं। स्थिति यह है कि समिति की सिफारिश के बिना कोई भी विधेयक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकता।

(2) नियम-निर्माण समिति (The House Committee on Rules)—स्थायी समितियों में सबसे महत्वपूर्ण समिति प्रतिनिधि सभा की नियम-निर्मात्री समिति है जिसे फर्ग्युसन और मैक्हेनरी के शब्दों में, “प्रतिनिधि सभा में विधायन के ऊपर जीवन और मरण की शक्ति प्राप्त है।” वे आगे लिखते हैं कि “इसने प्रतिनिधि सभा के कार्य-संचालन के अर्द्ध-अधिनायकत्व की स्थिति प्राप्त कर ली है।”²

इस समिति के 15 सदस्य होते हैं और समिति का अध्यक्ष सदन द्वारा नियुक्त किया जाता है। विषय समितियां जिन विधेयकों के पक्ष में रिपोर्ट देती हैं, वे सभी इनके सम्मुख लाये जाते हैं और यही उनके भाग्य का निर्णय करती हैं। ये न केवल विधेयकों पर विचार करने का क्रम निर्धारित करती हैं, अपितु यह भी निर्णय करती हैं कि प्रत्येक विधेयक को कितना समय दिया जायेगा और विधेयक की किन धाराओं में किस प्रकार के संशोधन किये जा सकेंगे। इसे किसी भी विधेयक पर वहस को बीच में ही रोककर अपने किसी प्रस्ताव को आगे बढ़ा देने का अधिकार प्राप्त है। नियम समिति सदन को तीव्र गति से विधि निर्माण की क्षमता प्रदान करती है, लेकिन इस पर सामान्यतया अनुदार तत्वों का नियन्त्रण होने से इन्हें उदार व्यवस्था को रोकने का दोषी ठहराया जाता है। नियम समिति पर राष्ट्रपति के समर्थक तत्वों का नियन्त्रण होने पर यह राष्ट्रपति को शासन संचालन में बहुत सहायक होती है और विपरीत स्थिति में बाधक।

(3) विशेष समितियां (Special Committees)—ये समितियां अस्थायी होती हैं जिनका गठन विशेष प्रकार के कार्य को सम्पन्न करने के लिए किया जाता है और ज्यों ही इनका कार्य समाप्त होता है, उन्हें भंग कर दिया जाता है। इस प्रकार की समितियों में विशेष जांच समितियों (Special Investigation Committees) का विशेष महत्व है। प्रतिनिधि सभा

1 “The House Committee on Rules has virtual life and death power over legislation in the lower house.”

—Ferguson & McHenry, *The American System of Government*, p. 303.

2 “It has acquired a Quasi-dictatorship in House Affairs.”

—*Ibid.*, p. 304.

और सीनेट दोनों ही इस प्रकार की समितियों का गठन कर सकती हैं और इनके द्वारा विभिन्न राजनीतिक, प्रशासकीय व कानून-निर्माण सम्बन्धी मामलों पर जांच की जाती है। इन मामलों में जानकारी के लिए ये समितियां देश में घूम-घूमकर आंकड़े एकत्रित कर सकती हैं, गवाहियां ले सकती हैं और प्रशासकीय व सैनिक अधिकारियों को बुलाकर उनके विचार जान सकती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में कार्यपालिका और प्रशासक वर्ग व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और ये जांच समितियां ही एकमात्र ऐसा माध्यम हैं जिनके आधार पर प्रशासनिक कमियों को जनता के सामने रखा जा सकता है तथा प्रशासनिक स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। इस दृष्टि से इन जांच समितियों का विशेष महत्व है और आजकल इस प्रकार की जांच करना कांग्रेस का प्रमुख कर्तव्य बन गया है। वर्तमान समय में इस प्रकार की जांच समितियों का उद्देश्य विधि-निर्माण से अधिक राजनीतिक होता है।

(4) सम्पूर्ण सदन की समिति (Committee of the Whole House)—अमरीका में भी सम्पूर्ण सदन की समिति की व्यवस्था की गयी है, लेकिन इंग्लैण्ड में की गयी व्यवस्था से यह कुछ भिन्न है। इंग्लैण्ड में सम्पूर्ण सदन समिति केवल वित्त विधेयकों पर ही विचार करती है, लेकिन अमरीका में द्वितीय वाचन के अन्तर्गत सभी विधेयकों पर विचार करने के लिए सदन को सम्पूर्ण सदन की समिति का रूप दे दिया जाता है। यह व्यवस्था इस दृष्टि से की गयी है कि बिना किन्हीं औपचारिकताओं के विधेयक पर पूर्ण विचार किया जा सके। इस व्यवस्था से कार्य शीघ्र सम्पन्न हो जाता है और प्रत्येक को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिलता है। समय के सदुपयोग की दृष्टि से प्रत्येक वक्ता के लिए पांच मिनट की समय-सीमा निर्धारित कर दी जाती है। सम्पूर्ण सभा की समिति का सभापति स्पीकर नहीं होता, वरन् अन्य समितियों की तरह इस समिति के लिए भी एक विशेष अध्यक्ष का चुनाव किया जाता है। सदन की बैठकों में गणपूर्ति कुल सदस्य संख्या का बहुमत होता है, लेकिन सम्पूर्ण सदन की समिति में गणपूर्ति केवल 100 है।

(5) सम्मेलन समितियां (Conference Committees)—इस प्रकार की समितियां ब्रिटेन या अन्य देशों में गठित नहीं की जातीं और न ही वहां इनकी आवश्यकता होती है। अमरीका में कानून-निर्माण के सम्बन्ध में कांग्रेस के दोनों सदनों को समान शक्तियां प्राप्त हैं। इसलिए अनेक बार विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद होने पर गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के गतिरोध को दूर करने के लिए सम्मेलन समिति का गठन किया जाता है। इस समिति में दोनों सदनों के सदस्य बराबर-बराबर की संख्या में सामान्यतया 3-3 होते हैं, जिनका चुनाव सदन की सहायता से सम्बन्धित सदन के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। सदन के वरिष्ठ और योग्यतम सदस्यों को ही इन समितियों की सदस्यता प्रदान की जाती है। अमरीका के राजनीतिक जीवन में इन समितियों का विशेष महत्व है और अनेक महत्वपूर्ण विधेयकों के सम्बन्ध में इन समितियों का गठन करना होता है।

(6) संयुक्त समितियां (Joint Committees)—अनेक बार कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए दोनों सदनों की संयुक्त समितियां स्थापित की जाती हैं। ये समितियां स्थायी भी हो सकती हैं और अस्थायी भी। पहले इनका गठन कांग्रेस के एक प्रस्ताव के आधार पर होता था, परन्तु 1947 में इनका चुनाव दोनों सदनों की स्थायी समितियों में से किया जाता है। इस प्रकार की समितियों में अणुशक्ति सम्बन्धी समिति, कांग्रेस के संगठन से सम्बन्धित समिति मुद्रण और आय-कर विषयों से सम्बन्धित समिति प्रमुख हैं।

(7) **संचालन समितियाँ (Steering Committees)**—अमरीका में एक अन्य समिति भी होती है, जिसका निर्माण सदन में व्यवस्थापन कार्य का संचालन करने के लिए किया जाता है और इसे 'संचालन समिति' कहते हैं। इसका चयन सदन के बहुमत दल द्वारा अपने दल के सदस्यों में से किया जाता है और सदन के बहुमत दल का नेता इसका अध्यक्ष होता है। बहुमत दल की ओर से यही समिति विधेयक को सदन के सम्मुख प्रस्तुत करती है और उसे सदन से पारित कराती है। इंग्लैण्ड में इस प्रकार की कोई समिति नहीं है, क्योंकि वहां पर व्यवस्थापन कार्य का संचालन मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है।

समिति व्यवस्था के दोष (Defects of the Committee System)—अमरीकी कांग्रेस की समिति व्यवस्था सर्वथा दोषमुक्त नहीं है। सर्वप्रथम, समितियों के अत्यधिक शक्तिशाली हो जाने से सदन का महत्व समाप्त हो गया है और सदन समितियों द्वारा स्वीकृत विधेयकों को रजिस्टर करने की एजेन्सी-मात्र बनकर रह गया है। द्वितीय, समितियों की अधिकांश कार्यवाही गुप्त होती है और साधारणतया इस प्रकार की बात कही जाती है कि अनेक बार समिति के अध्यक्ष और सदस्यों को अनैतिक साधनों से प्रभावित करने का सफल प्रयत्न किया जाता है। तृतीय, कांग्रेस की जांच समितियों की आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि इनका उद्देश्य कानून-निर्माण न होकर शासन को बदनाम करना और चुनाव प्रचार हेतु सामग्री प्राप्त करना होता है।

अमरीका तथा ब्रिटिश समिति व्यवस्था की तुलना (American Committee compared with British System)—अमरीकी कांग्रेस और ब्रिटिश संसद दोनों में ही समितियों का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है, किन्तु इन दोनों देशों की समिति व्यवस्था में पर्याप्त भिन्नता है :

(1) इन दोनों देशों की समिति व्यवस्था में सबसे प्रमुख अन्तर शक्तियों से सम्बन्धित है और कांग्रेस की समितियाँ इंग्लैण्ड की संसदीय समितियों की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति का प्रयोग करती हैं। वे किसी विधेयक को सदन के विचारार्थ वापस न भेजकर उसका अन्त कर सकती हैं, परन्तु ब्रिटिश समितियों को अपने पास आया प्रत्येक विधेयक अपनी रिपोर्ट के साथ सदन को वापस भेजना होता है। ब्रिटिश समितियाँ विधेयक की अन्येष्टि नहीं कर सकतीं और संशोधन भी कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर ही कर सकती हैं। इस प्रकार ब्रिटिश समितियों की स्थिति सदन के प्रति अधीनता की है, जबकि अमरीका में समितियों ने वास्तविक विधायी संस्था का रूप ग्रहण कर लिया है। जैसा कि के. सी. व्हीयर ने कहा है कि "इंग्लैण्ड को यदि संसदीय व्यवस्थापन पर गर्व है, तो संयुक्त राज्य अमरीका में समिति व्यवस्थापन है।"¹

(2) इन दोनों देशों की स्थायी समितियों की संख्या में अन्तर है। इंग्लैण्ड के लोकसदन में केवल 5 स्थायी समितियाँ हैं, जबकि अमरीका की प्रतिनिधि सभा में इनकी संख्या 20 है। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड में जहाँ सभी समितियाँ महत्वपूर्ण और क्रियाशील हैं, अमरीका में कुछ समितियाँ तो पर्याप्त महत्वपूर्ण और क्रियाशील हैं, लेकिन कुछ समितियाँ बहुत कम सक्रिय हैं और इन्हें 'निष्क्रिय समितियाँ' (Phantom Committees) कहा जाता है।

1 "If England proude in Legislation by parliament, in the U. S. A. there is Committee Legislation."
—K. C. Wheare

(3) दोनों देशों में समितियों के गठन में भी अन्तर है। ब्रिटेन में समितियों का गठन दलों के नेताओं द्वारा मनोनीत की गयी चयन समिति द्वारा होता है, जबकि अमरीकी प्रतिनिधि सभा में दोनों दलों के वरिष्ठ सदस्यों द्वारा दी गयी सूचियों के आधार पर सदन में सदस्यों का चुनाव होता है जो एक औपचारिकता-मात्र है। सदस्यों के चुनाव में अमरीका की अपेक्षा ब्रिटेन में दलीय दृष्टिकोण को कम ध्यान में रखा जाता है।

(4) समिति के अध्यक्ष और सदस्यों के चुनाव में अमरीका में वरिष्ठता (Seniority) के नियम का कठोरता से पालन किया जाता है, लेकिन ब्रिटेन में इस नियम का कठोरता से पालन नहीं किया जाता है। ब्रिटेन में यदि कोई जूनियर सदस्य अत्यन्त योग्य है तो उसे भी किसी समिति की अध्यक्षता दी जा सकती है।

(5) ब्रिटेन में समितियां सामान्य उद्देश्य से बनायी जाती हैं। उनके नाम 'ए', 'बी', 'सी', 'डी', आदि हैं और स्पीकर के द्वारा विधेयक, किसी भी समिति के पास भेजा जा सकता है। अमरीका में स्थायी समितियों का गठन विषयवार है और विधेयक सम्बन्धित समिति के पास ही भेजा जाता है।

(6) इंग्लैण्ड में विशिष्ट समितियों का प्रयोग अमरीका की तुलना में अधिक होता है, क्योंकि वहां पर स्थायी समितियों का निर्माण विषयवार नहीं होता और विशिष्ट मामलों पर विचार हेतु विशिष्ट समितियों का गठन करना होता है, लेकिन अमरीका में स्थायी समितियों का निर्माण ही विषयवार होता है और इन समितियों के सदस्य अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ बन जाते हैं, अतः विशिष्ट समितियों के अधिक प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती।

(7) इन दोनों देशों में विधेयकों को सदन के पास भेजने के समय में भी अन्तर है। ग्रेट ब्रिटेन में विधेयक समितियों में द्वितीय वाचन के पश्चात् भेजे जाते हैं, जबकि सदन विधेयक के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार कर चुकता है। इसलिए समितियां उसमें आधारभूत परिवर्तन नहीं कर सकती हैं, परन्तु अमरीका में विधेयक समितियों के प्रथम वाचन के पश्चात् ही भेज दिये जाते हैं, इसलिए वहां समितियां उनमें आधारभूत परिवर्तन कर सकती हैं।

(8) ग्रेट ब्रिटेन में सरकारी विधेयक और निजी सदस्यों के विधेयक में अन्तर किया जाता है और निजी सदस्यों के विधेयक पर विचार करने के लिए गैर-सरकारी विधेयक समितियां होती हैं, लेकिन अमरीका में कार्यपालिका द्वारा कोई भी विधेयक प्रस्तावित नहीं किया जाता। इस प्रकार अमरीका में सरकारी निजी विधेयक और निजी सदस्यों के विधेयक का अन्तर नहीं है और स्वाभाविक रूप से दोनों प्रकार के विधेयकों पर विचार करने के लिए अलग-अलग समितियां नहीं हैं।

(9) अमरीका में संचालन समिति है जिसके द्वारा बहुमत दल की ओर से सदन में कानून निर्माण कार्य का संचालन किया जाता है, लेकिन ब्रिटेन में यह कार्य मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है और संचालन समिति की कोई व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार अमरीकी कांग्रेस की प्रतिनिधि सभा में 'नियम समिति' होती है, लेकिन ब्रिटेन के लोकसदन या लॉर्ड सभा में इस प्रकार की कोई समिति नहीं है।

अमरीका में विधि-निर्माण प्रणाली

(LAW-MAKING PROCEDURE IN THE U.S.A.)

संयुक्त राज्य अमरीका में विधि निर्माण की प्रक्रिया ब्रिटेन की विधि-निर्माण प्रक्रिया से भिन्न है और यह भेद संसदात्मक तथा-अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के भेद में निहित है। ब्रिटेन में अधिकांश महत्वपूर्ण विधेयक मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं वे

ही उनके प्रारूप तैयार करते और उन्हें पारित करवाते हैं, लेकिन अमरीका में मन्त्रिमण्डल के सदस्य कांग्रेस सदस्य नहीं होते और विधेयक राष्ट्रपति या मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा नहीं, वरन् सदन के सदस्यों द्वारा स्वयं ही प्रस्तावित किये जाते हैं। क्योंकि सभी विधेयक कांग्रेस सदस्यों द्वारा ही प्रस्तावित किये जाते हैं, इसलिए अमरीका में सरकारी विधेयकों और निजी सदस्यों के विधेयकों (Private Member's Bill) का भी कोई भेद नहीं है। वस्तुतः अमरीका में सभी विधेयक निजी सदस्यों के विधेयक ही होते हैं। इतना होते हुए भी दोनों देशों की विधि-निर्माण प्रक्रिया लगभग एक सी है जैसे विधेयक के तीन वाचन, समिति प्रतिवेदन और कार्यपालिका प्रधान के हस्ताक्षर दोनों ही देशों में विधि-निर्माण प्रक्रिया के चरण हैं।

अमरीका में विधि-निर्माण प्रक्रिया के विभिन्न चरणों का उल्लेख इस प्रकार है :

(1) विधेयक प्रस्तावित करना (Introduction of the Bill)—वित्त विधेयक के अतिरिक्त अन्य सभी विधेयक कांग्रेस के किसी भी सदन, प्रतिनिधि सभा या सीनेट, में प्रस्तावित किये जा सकते हैं। वित्त विधेयक प्रतिनिधि सभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, सीनेट में नहीं, यद्यपि सीनेट को इनमें संशोधन करने का अधिकार प्राप्त होता है। विधेयक प्रस्तावित करने की पद्धति सरलता की प्रतिमूर्ति है। जो सदस्य विधेयक प्रस्तावित करना चाहता है, वह उस विधेयक की एक प्रति पर अपने हस्ताक्षर कर उसे सदन के सचिव की डेस्क पर बाक्स में डाल देता है। केवल इतने से ही विधेयक का प्रस्तुतीकरण हो जाता है। इसके पश्चात् विधेयक को क्रम पर रख दिया जाता है। विधेयक का नम्बर आने पर इसे छपवा दिया जाता है तथा उसकी प्रति प्रत्येक सदस्य को दे दी जाती है।

सामान्यतया कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में 10 हजार से लेकर 15 हजार तक विधेयक प्रस्तावित किये जाते हैं। इसका कारण यह है कि कांग्रेस के सदस्य कितने ही विधेयक प्रस्तुत कर सकते हैं, उनके इस अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सदस्य अपने मित्रों और समर्थकों को प्रसन्न करने के लिए भी अनेक विधेयक प्रस्तुत करते हैं। ऐसा करने से उनके नाम समाचारपत्रों में प्रकाशित होते हैं और अपने निर्वाचकों में वे सक्रिय समझे जाते हैं।

(2) समिति स्तर—विधेयक को क्रम पर रख दिया जाता है। यदि यह विवाद उत्पन्न हो जाय कि विधेयक को किस समिति के पास भेजा जाय तो सदन का अध्यक्ष इसका निर्णय करता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है। समिति विधेयक के मूल सिद्धान्तों पर विचार करती है और यदि उसकी राय में विधेयक की कोई उपयोगिता नहीं है, तो वह विधेयक पर आगे बिना विचार किये विधेयक को अपने पास पड़े रहने देती है और इससे विधेयक समाप्त हो जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी है कि प्रतिनिधि सभा अपने कुल बहुमत से 33 दिन के अन्दर किसी विधेयक को समिति से स्वयं विचार करने के लिए वापस मांग सकती है। इस प्रकार यदि सीनेट ने प्रस्ताव द्वारा समिति को विधेयक पर विचार करने से मुक्त कर दिया है तो उस विधेयक पर सीनेट सीधे रूप से विचार कर सकती है, परन्तु व्यवहार में प्रतिनिधि सभा और सीनेट दोनों में ही ऐसा कम होता है और तीन-चौथाई से भी अधिक विधेयकों का समिति स्तर पर अन्त हो जाता है।

यदि समिति विधेयक को उपयोगी समझे तो उस पर आगे कार्यवाही करती है। वह विभागों से तथ्य तथा आंकड़े प्राप्त करती है और सरकारी अधिकारियों की राय ले सकती है। यदि विधेयक सर्वसाधारण से सम्बन्धित है, तो समिति विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं को

विधेयक पर अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर देती है। यदि समिति आवश्यक समझे, तो उसके द्वारा विधेयक पर विचार हेतु उपसमिति का निर्माण भी किया जा सकता है। इतनी कार्यवाही करने के पश्चात् वह सदन को उस विधेयक पर अपनी सम्मति देती है। समिति विधेयक में संशोधन कर सकती है, सदस्य द्वारा प्रस्तावित विधेयक को समाप्त कर नया विधेयक प्रस्तुत कर सकती है अथवा वह सदन को दिये गये अपने प्रतिवेदन में सिफारिश कर सकती है कि विधेयक को अस्वीकृत कर दिया जाय।

(3) कैलेण्डर स्तर—जब समिति विधेयक पर अपनी रिपोर्ट दे देती है, तब वह विधेयक निम्न विवरण पत्रिकाओं में से किसी एक में सम्मिलित कर दिया जाता है :

- (i) संघीय विवरण पत्रिका (Union Calendar)—इसमें राजस्व तथा नियोजन, सम्पत्ति तथा वित्त सम्बन्धी सार्वजनिक विधेयक रखे जाते हैं।
- (ii) भवन विवरण पत्रिका (House Calendar)—समस्त राज्यों के हितों से सम्बन्धित अन्य विधेयक, जिनका सम्बन्ध वित्त से नहीं होता, इसमें रखे जाते हैं।
- (iii) सम्पूर्ण सदन की समिति सूची—इसमें स्थानीय विषयों तथा निजी निगमों से सम्बन्धित विधेयक सम्मिलित किये जाते हैं।
- (iv) राष्ट्रीय महत्व के विषयों की सूची—चौथी सूची उन विषयों की होती है, जो राष्ट्रीय महत्व के होते हैं और जिन्हें सर्वसम्मति से पारित किया जाना होता है।
- (v) पांचवीं सूची में उन विधेयकों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें सदन विशेष आदेशों के साथ समितियों को लौटाता है जिससे उन आदेशों पर समितियों में पुनः विचार हो सके।

(4) द्वितीय वाचन (Second Reading)—कैलेण्डर अवस्था के पश्चात् विधेयक का द्वितीय वाचन प्रारम्भ होता है। कैलेण्डर अवस्था से इतनी बड़ी संख्या में विधेयक सदन में आते हैं कि इन सभी विधेयकों पर पहले से निश्चित किये गये क्रम में विचार करना सम्भव नहीं होता। अतः अनेक उपायों के आधार पर आवश्यक समझे जाने वाले विधेयकों को प्राथमिकता प्रदान कर दी जाती है। किन् विधेयकों को प्रामाणिकता प्रदान की जाय, इस सम्बन्ध में सदन की 'नियम-समिति' (Rules Committee) का विचार बहुत अधिक महत्व रखता है। अति आवश्यक समझे जाने वाले विधेयकों को द्वितीय वाचन और तृतीय वाचन की विभिन्न औपचारिकताएं पूरी किये बिना भी सदन द्वारा पारित किया जा सकता है, लेकिन ऐसा केवल कुछ ही विधेयकों के सम्बन्ध में और सदन की सर्वसम्मति से ही किया जाता है।

अन्य विधेयकों के लिए विधेयक का द्वितीय वाचन सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। उन्हीं विधेयकों पर द्वितीय वाचन के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था है कि सदन 'सम्पूर्ण सदन की समिति' (Committee of the Whole House) के रूप में परिवर्तित हो जाता है और अध्यक्ष उठ जाता है। विधेयक पर बिना किन्हीं औपचारिकताओं के पूर्ण विचार किया जा सके, इस दृष्टि से ऐसा किया जाता है। सम्पूर्ण सदन की समिति विधेयक के सिद्धान्तों और स्वरूप पर पूर्ण विचार करती है। विधेयक पर प्रति धारा, उपधारा, प्रति शब्द और प्रति वाक्य पर विचार किया जाता है और उसमें आवश्यक समझे जाने वाले संशोधन किये जाते हैं। इस स्थिति के अन्तर्गत प्रतिनिधि सभा में समिति का अध्यक्ष प्रत्येक सदस्य को 5 मिनट बोलने की स्वीकृति देता है, लेकिन सीनेट में कोई सदस्य कितने ही समय तक बोल सकता है। विचार-विमर्श

के बाद अध्यक्ष सदन का मत लेता है कि क्या उसे तृतीय वाचन के लिए रखा जाय? यदि सदन इसके पक्ष में निर्णय करता है तो विधेयक तृतीय वाचन के लिए सुरक्षित कर लिया जाता है, अन्यथा विधेयक यहीं पर समाप्त हो जाता है।

(5) तृतीय वाचन (Third Reading)—तृतीय वाचन बहुत कुछ सीमा तक एक औपचारिकता ही है। इसमें विधेयक के शीर्षक को पढ़कर सुनाया जाता है, यदि कोई सदस्य इस पर आपत्ति करते हुए मांग करे कि सम्पूर्ण विधेयक को पढ़कर सुनाया जाय, तो अध्यक्ष सदन की राय लेता है। यदि राय सम्बन्धित सदस्य के विचार के पक्ष में होती है तो विधेयक को पूरा पढ़ा जाता है, अन्यथा अध्यक्ष विधेयक पर सदन का अन्तिम निर्णय प्राप्त करता है। मतदान के लिए इन तरीकों में से किसी एक को अपनाया जा सकता है—(i) मौखिक मतदान, (ii) उठकर मत देना, और (iii) हां या न द्वारा। तृतीय वाचन में जब विधेयक सदन द्वारा स्वीकृत हो जाता है तो उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं और वह सदन से पारित समझा जाता है।

विधेयक दूसरे सदन में (Bill in another Chamber)—एक सदन द्वारा विधेयक स्वीकृत हो जाने पर उसे दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। दूसरे सदन में भी विधेयक को उन्हीं स्थितियों से होकर गुजरना होता है जिन स्थितियों में वह एक सदन से गुजर चुका है यथा प्रथम वाचन, समिति अवस्था, द्वितीय वाचन, तृतीय वाचन, आदि। यदि दूसरा सदन भी विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर देता है, तो विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है, परन्तु यदि दूसरा सदन विधेयक में संशोधन चाहे तो विधेयक को संशोधन के साथ प्रस्तावित सदन में भेज दिया जाता है। यदि संशोधन पर दोनों सदनों में सहमति नहीं होती तो विधेयक को 'सम्मेलन समिति' (Conference Committee) के पास भेज दिया जाता है, जिसमें बराबर-बराबर की संख्या में दोनों सदनों के सदस्य होते हैं। सम्मेलन समिति दोनों सदनों के मतभेद को दूर करने का प्रयत्न करती है और यदि वह इसमें सफल रहे तो सम्मेलन समिति द्वारा स्वीकृत रूप में विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया जाता है। यदि समिति किसी सामान्य निर्णय पर नहीं पहुँच पाती तो विधेयक समाप्त हो जाता है।

राष्ट्रपति की स्वीकृति—विधेयक दोनों सदनों से पारित होने के पश्चात् उसे राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति को इस विधेयक पर विचार करने के लिए 10 दिन का समय प्राप्त होता है और उसके सामने तीन विकल्प होते हैं। प्रथम विकल्प यह है कि वह 10 दिन के भीतर विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे दे। यदि राष्ट्रपति 10 दिन के भीतर अपनी स्वीकृति नहीं देता है और 10 दिन के बाद भी यदि कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा है, तो समझा जाता है कि राष्ट्रपति ने विधेयक को स्वीकार कर लिया है और वह कानून का रूप ग्रहण कर लेता है। दूसरा विकल्प यह है कि राष्ट्रपति विधेयक को अस्वीकार कर दे और ऐसा करने का कारण बताते हुए विधेयक कांग्रेस के उस सदन को भेज दे जिसमें वह प्रस्तावित किया गया था। राष्ट्रपति की अस्वीकृति के होते हुए भी यदि कांग्रेस उस पर पुनः विचार करना आवश्यक समझती है, तो वह उस पर पुनः विचार करती है। यदि वह विधेयक प्रत्येक सदन द्वारा अपने दो-तिहाई बहुमत से पुनः पारित कर दिया जाता है, तो राष्ट्रपति को उसे अनिवार्यतः स्वीकार करना होता है। इस प्रकार राष्ट्रपति को विलम्बकारी निषेधाधिकार (Suspensive Veto) ही प्राप्त है, पूर्ण निषेधाधिकार नहीं, लेकिन व्यवहार में यह निषेधाधिकार पर्याप्त प्रभावशाली होता है।

राष्ट्रपति के सामने तीसरा विकल्प जेबी निषेधाधिकार के प्रयोग का होता है। राष्ट्रपति का यह अधिकार परम्परागत ही है, वैधानिक नहीं। कांग्रेस अपने अधिवेशन के अन्तिम दिनों में जिन विधेयकों को पारित कर राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजती है, राष्ट्रपति उन विधेयकों को बिना स्वीकार या अस्वीकार किये 10 दिन तक अपने पास पड़ा रहने देता है। जब 10 दिन में कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो जाता है तो राष्ट्रपति द्वारा बिना अस्वीकार किये ही विधेयक अस्वीकृत हो जाता है। राष्ट्रपति के इस अधिकार का इस दृष्टि से बड़ा महत्व है कि कांग्रेस द्वारा अपने अधिवेशन के अन्तिम दिनों में बहुत बड़ी संख्या में विधेयक पारित किये जाते हैं।

वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में प्रक्रिया (PROCEDURE REGARDING FINANCIAL BILLS)

सन् 1921 के पूर्व सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय-व्यय पर एक साथ विचार नहीं किया जाता था, वरन् इस सम्बन्ध में दोनों सदनों की अनेक समितियाँ थीं, जो अलग-अलग विषयों के सम्बन्ध में व्यय के अनुमान लगाती थीं, लेकिन इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न विभागों द्वारा अपने लिए अधिक-से-अधिक धनराशि प्राप्त करने की रीति अपना ली गयी। अतः 1921 में कांग्रेस द्वारा 'बजट और एकाउण्टिंग कानून' (Budget and Accounting Law) पारित करते हुए अन्य देशों के समान ही राष्ट्रीय वार्षिक बजट पद्धति को अपनाया गया और इस हेतु 'बजट ब्यूरो' (Bureau of the Budget) की स्थापना की गयी।

वर्तमान समय में बजट ब्यूरो के निर्देशक द्वारा राष्ट्रपति के निर्देशन में इंग्लैण्ड की पद्धति पर ही बजट तैयार किया जाता है तथा ब्यूरो का निर्देशक राष्ट्रपति की जिम्मेदारी पर उसकी ओर से प्रतिनिधि सभा में बजट प्रस्तावित करता है। बजट या अन्य कोई वित्त विधेयक प्रतिनिधि सभा में प्रस्तावित किया जा सकता है, सीनेट में नहीं। यहां पर सदन की दो समितियाँ 'उपाय और साधन समिति' (Committees of Ways and Means) तथा 'विनियोग समिति' (Appropriation Committee) विचार करती है। ये समितियाँ अपना प्रतिवेदन सदन को देती हैं जो कि वाद-विवाद के पश्चात् वित्तीय विधेयक तथा विनियोग विधेयक पारित करती हैं। उसके पश्चात् ये दोनों विधेयक सीनेट के पास भेजे जाते हैं और सीनेट के द्वारा भी इनमें संशोधन किये जा सकते हैं। ब्रिटेन में बजट प्रस्तावित करते हुए वित्तमन्त्री संसद के दोनों सदनों के सम्मुख आय-व्यय के सम्बन्ध में शासन का दृष्टिकोण प्रतिपादित करता है और शासन के त्यागपत्र की धमकी देकर लोकसदन से बजट पारित करवा लेता है, लेकिन अमरीकी कार्यपालिका का कोई सदस्य या बजट ब्यूरो का निर्देशक कांग्रेस के दोनों में से किसी भी सदन में नहीं बैठता है। यद्यपि राष्ट्रपति के द्वारा कांग्रेस के सदस्यों और विशेषतया अपने दल के सदस्यों के साथ अनौपचारिक मुलाकातों में प्रशासन की आवश्यकताओं के बारे में जानकारी दी जाती है, लेकिन फिर भी अनेक बार प्रतिनिधि सभा और सीनेट बजट प्रस्तावों में अनेक संशोधन कर देते हैं। कांग्रेस को न केवल खर्च में कटौती वरन् खर्च में नयी मदें दर्ज करने या किन्हीं मदों पर किये जाने वाले खर्च को बढ़ाने का भी अधिकार प्राप्त है। कांग्रेस जिन संशोधनों सहित बजट पारित करना चाहे, करती है और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से यह कानून का रूप ग्रहण करता है। वित्तीय विधेयकों पर भी दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति में वही व्यवस्था है जो साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में है।

अमरीका तथा ब्रिटेन की विधि-निर्माण प्रक्रिया की तुलना

(AMERICAN LAW MAKING PROCESS COMPARED WITH BRITISH PROCESS)

यद्यपि अमरीकी कांग्रेस में अपनायी गयी विधि-निर्माण की प्रक्रिया पर ब्रिटिश विधायी प्रक्रिया की स्पष्ट छाप है, लेकिन फिर भी यह ब्रिटिश विधायी प्रक्रिया से पर्याप्त भिन्न है। इनमें प्रमुखतया निम्न भेद हैं :

(1) प्रथम और सर्वप्रमुख भेद, ब्रिटेन और अमरीका की शासन व्यवस्था के मूल भेद, संसदात्मक व्यवस्था और अध्यक्षतात्मक व्यवस्था पर आधारित है। ब्रिटेन की संसदात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत विधि-निर्माण के क्षेत्र में मन्त्रिमण्डल द्वारा संसद का नेतृत्व किया जाता है, लेकिन अमरीका की अध्यक्षतात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका कानून-निर्माण सम्बन्धी कार्यों में भाग नहीं लेती और इस क्षेत्र में कांग्रेस स्वयं ही अपना नेतृत्व करती है।

(2) साधारण और वित्तीय, सभी विधेयकों के सम्बन्ध में विधि-निर्माण प्रक्रिया का द्वितीय महत्वपूर्ण भेद दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों के अन्तर पर आधारित है। ब्रिटेन में लॉर्ड सभा संसद का अधीनस्थ सदन है, अमरीका में सीनेट विधि-निर्माण में प्रतिनिधि सभा का समानपदीय सदन है। इंग्लैण्ड में चाहे साधारण विधेयक हों, चाहे वित्तीय विधेयक; विधेयक का भाग्य अन्तिम रूप से लोकसदन की इच्छा और विचार पर निर्भर करता है, लेकिन अमरीका में दोनों ही प्रकार के विधेयकों के सम्बन्ध में प्रतिनिधि सभा और सीनेट को समान शक्तियाँ प्राप्त हैं। इसी कारण अमरीका में 'सम्मेलन समिति' की जो व्यवस्था की गयी है वैसी कोई व्यवस्था न तो ब्रिटेन में है और न ही उसकी कोई आवश्यकता है।

(3) इंग्लैण्ड में विधि-निर्माण में पहल मन्त्रियों द्वारा की जाती है, अमरीका में ऐसा नहीं है, वहाँ विभिन्न समितियों के अध्यक्ष इस सम्बन्ध में पहल करते हैं। इंग्लैण्ड में समितियों के अध्यक्षों का महत्व मन्त्रियों के आगे समाप्त हो जाता है।

(4) ब्रिटेन में सरकारी और गैर-सरकारी, सार्वजनिक तथा असार्वजनिक विधेयकों में भेद किया जाता है और उन्हें पारित किये जाने की प्रक्रिया अलग-अलग है, किन्तु अमरीका में सरकारी और गैर-सरकारी जैसा कोई भेद नहीं है तथा सार्वजनिक और असार्वजनिक विधेयक एक ही विधि से पारित किये जाते हैं।

(5) इंग्लैण्ड में विधेयक द्वितीय वाचन के बाद समिति को भेजे जाते हैं, जबकि अमरीका में द्वितीय वाचन के पूर्व ही विधेयक समिति के सुपुर्द कर दिये जाते हैं। इंग्लैण्ड में विधेयक के मूल सिद्धान्तों पर विचार एवं तत्सम्बन्धी निर्णय संसद करती है, जबकि अमरीका में विधेयक के मौलिक स्वरूप व उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार और निर्णय समिति में ही होता है और कांग्रेस को उस पर विचार करने का अवसर उसके बाद मिलता है।

(6) इंग्लैण्ड में समितियाँ किसी भी विधेयक का अन्त नहीं कर सकतीं, उन्हें अपने प्रतिवेदन सहित विधेयक वापस लौटाना ही पड़ता है जबकि अमरीकी समितियाँ विधेयक पर कोई निर्णय न करके उनका अन्त कर सकती हैं। गैलोब के मतानुसार, "व्यवस्थापन सम्बन्धी वास्तविक शक्ति प्रतिनिधि सभा या सीनेट में नहीं है, यह तो उनकी स्थायी समितियों में निहित है।"

(7) अमरीका में सभी विधेयकों पर द्वितीय वाचन के अन्तर्गत सम्पूर्ण सदन की समिति के द्वारा विचार किया जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में सम्पूर्ण सदन की समिति केवल वित्तीय विषयों पर ही विचार करती है।

(8) इंग्लैण्ड में संसद सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपना पूरा भाषण देते हैं, परन्तु अमरीकी कांग्रेस, विशेषतया प्रतिनिधि सभा, के सदस्य छोटा-सा भाषण देकर अपने विस्तृत भाषण के प्रकाशन की अनुमति ले लेते हैं। कभी-कभी तो ऐसे विस्तृत भाषण प्रकाशित होते हैं जिनके सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं कहा गया था।

वित्तीय विधेयकों के पारित होने की प्रक्रिया में अन्तर

(1) अमरीका में बजट, बजट ब्यूरो के निर्देशक द्वारा तैयार किया जाता है तथा वह उसे राष्ट्रपति की ओर से कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत, इंग्लैण्ड में वित्तमन्त्री बजट तैयार करता है और स्वयं उसे लोकसदन में प्रस्तावित करता है।

(2) बजट प्रस्तावित होने के पश्चात प्रतिनिधि सभा की साधन तथा विनियोग समिति के विचार के लिए भेजा जाता है, जबकि ब्रिटेन में लोकसदन सम्पूर्ण सदन की समिति के रूप में बजट पर विचार करता है।

(3) अमरीका में कांग्रेस के सदस्यों को बजट में कटौती, खर्च में वृद्धि तथा खर्च की नवीन मदों की व्यवस्था का भी अधिकार प्राप्त है, लेकिन इंग्लैण्ड में संसद को खर्च में केवल कटौती करने का अधिकार प्राप्त है, संसद के द्वारा खर्च में वृद्धि नहीं की जा सकती है।

कांग्रेस के संगठन व कार्यवाही का मूल्यांकन

(GENERAL APPRAISAL OF THE ORGANIZATION AND FUNCTIONING OF CONGRESS)

अमरीकी संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि “अमरीकी संघ की विधायी शक्ति एक कांग्रेस में निहित होगी।” संविधान के द्वारा कांग्रेस को न केवल राष्ट्रीय जीवन के नियन्त्रण के कारण कानून-निर्माण और राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण की शक्ति प्रदान की गयी, वरन् उसे राष्ट्रीय सेनाओं के संगठन और युद्ध की घोषणा का अधिकार भी प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा कांग्रेस के एक सदन (सीनेट) को राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों पर नियन्त्रण का अधिकार प्रदान किया गया। संविधान में ही यह भी व्यवस्था की गयी कि कांग्रेस राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा सर्वोच्च न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाकर उन्हें पदच्युत कर सकती है। संविधान में की गयी इन व्यवस्थाओं से यह नितान्त स्पष्ट है कि अमरीकी संविधान के निर्माता कांग्रेस को अमरीकन शासन-प्रणाली की सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न व प्रभावशाली संस्था बनाना चाहते थे। वे उसे राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने वाली सर्वोच्च संस्था का रूप देना चाहते थे, लेकिन ऐसा माना जाता है कि कांग्रेस संविधान-निर्माताओं के उद्देश्य की पूर्ति करने में असफल रही है। कांग्रेस के संगठन, कार्यों और कार्यप्रणाली की आलोचना न केवल अन्य राजनीतिज्ञों, वरन् स्वयं कांग्रेस सदस्यों द्वारा भी की गयी है। यह भी कहा जाता है कि जहां राष्ट्रपति पद के सम्मान और प्रभाव में वृद्धि हुई है और सर्वोच्च न्यायालय अपनी स्थिति बनाये रखने में सफल रहा है, वहां कांग्रेस के प्रभाव और सम्मान में गिरावट आयी है और वह अपने कर्तव्यों के पालन में भी असफल रही है। ऑग और रे के कथनानुसार; “दोनों सदन अकुशल, गैर-जिम्मेदार, विलम्बकारी, फिजूलखर्च करने वाले, क्षेत्रीय प्रेमी, निरुद्देश्य, अदूरदर्शी व साधारण जनता के वित्त को अनुचित ढंग से खर्च करने वाले हैं।”

कांग्रेस के प्रभाव में कमी आने और उसकी आलोचना के प्रमुख कारण अग्र हैं :

(1) संगठित नेतृत्व का अभाव (Absence of Organized Leadership)—वर्तमान समय में व्यवस्थापिका सभाओं का कानून-निर्माण सम्बन्धी कार्य बहुत अधिक बढ़ गया है और इसमें अत्यधिक जटिलता व पेचीदगी आ गयी है। ऐसी स्थिति में बुद्धिमान व्यक्तियों के संगठित नेतृत्व में ही कार्य भली-भाँति सम्पन्न किया जा सकता है। ब्रिटिश संसद मन्त्रिमण्डल के नेतृत्व में कुशलतापूर्वक यह कार्य सम्पन्न करती है, लेकिन अमरीकी शासन व्यवस्था शक्ति विभाजन सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण कांग्रेस को कार्यपालिका का संगठित नेतृत्व प्राप्त नहीं है। कांग्रेस में विभिन्न स्वार्थी और राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व होता है, वे सभी विरोधी उद्देश्यों को लेकर चलते हैं और इसके परिणामस्वरूप विधान निर्माण में अनेक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वर्तमान समय में कांग्रेस स्पीकर, नियम समिति और विभिन्न समितियों के अध्यक्षों के नेतृत्व में काम करती है, परन्तु यह नेतृत्व संगठित नहीं होता है, इसलिए कांग्रेस में उत्तरदायित्व का विभाजन हो जाता है। कांग्रेस द्वारा अपना कानून-निर्माण सम्बन्धी कार्य भली प्रकार न कर सकने के कारण उसके प्रभाव में गिरावट आयी है।

(2) कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था नहीं (Congress is not a National Institution)—कांग्रेस की आलोचना का सर्वप्रमुख आधार यह है कि कांग्रेस राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। टूर्लेंट के शब्दों में, “कांग्रेस किन्हीं भी अर्थों में राष्ट्रीय प्रतिनिध्यात्मक संस्था नहीं है, यह तो क्षेत्रीय और राज्य प्रतिनिधि मण्डलों का योग है।” राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि समझा जाता है और वह सभी वर्गों व हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता है, लेकिन कांग्रेस सदस्यों की कोई राष्ट्रीय विचारधारा नहीं होती; वे तो अपने आपको क्षेत्र विशेष का प्रतिनिधि ही मानते हैं और अपने निर्वाचकों को प्रसन्न रखना उनका सबसे प्रमुख उद्देश्य होता है। यह क्षेत्रीय प्रवृत्ति विशेषतया प्रतिनिधि सभा के सदस्यों में देखी जाती है और इसका कारण प्रतिनिधि सभा का दो वर्ष का कार्यकाल और उनके चुनाव के सम्बन्ध में ‘क्षेत्रीय नियम’ (Locality rule) की परम्परा है जिसके अनुसार एक व्यक्ति उस क्षेत्र विशेष से ही प्रतिनिधि सभा का चुनाव लड़ सकता है जिसमें वह मतदाता है। प्रो. ऑग ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि, “कांग्रेस अपने मतदाताओं के स्थानीय, व्यक्तिगत व विशिष्ट हितों के बोझ से इतनी दबी रहती है कि राष्ट्रीय नीति के निर्माण की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। ऐसा अनुमान है कि कांग्रेस के एक सदस्य का 80 प्रतिशत समय ऐसे कामों को करने में गुजर जाता है जिनका कानून-निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कांग्रेस के सदस्य हमेशा ही अपने मतदाताओं के किसी-न-किसी काम के लिए इधर-उधर दौड़ते रहते हैं।”

(3) लॉबिंग और कानून-निर्माण पर अन्य दूषित प्रभाव (Lobbying and other Undesirable Influences on Legislation)—कांग्रेस में संगठित नेतृत्व का अभाव होने के कारण कांग्रेस के सदस्य कानून-निर्माण के सम्बन्ध में सदैव ही लॉबिंग और अन्य दूषित प्रवृत्तियों से प्रभावित रहते हैं। विभिन्न निहित स्वार्थ कांग्रेस सदस्यों पर प्रभाव डालकर अपने हित में कानून-निर्माण का जो प्रयत्न करते हैं वही लॉबिंग है। ये निहित स्वार्थ पत्र-व्यवहार, तार, टेलीफोन के द्वारा बातचीत, समाचार-पत्रों में लेख छपवाकर, सीधी बातचीत और निजी सम्बन्ध स्थापित करके तथा कभी-कभी रिश्वत देकर भी कांग्रेस सदस्यों को प्रभावित करते हैं।

संयुक्त राज्य के प्रायः सभी प्रमुख व्यवसायों और हितों के एजेण्ट वाशिंगटन में कांग्रेस सभा भवन तथा सदस्यों के निवास-गृह के चक्कर काटते रहते हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य विशेष प्रकार के कानून पास करवाना या विशेष प्रकार के विधेयकों को कानून का रूप ग्रहण करने से रोकना होता है। अमरीकन रेलवे संघ, अमरीकन मजदूर संघ, राष्ट्रीय पेट्रोल व्यापारी संघ, फार्म ब्लॉक, व्यापार मण्डल, आदि प्रमुख हितों के प्रतिनिधि तो सदैव ही वाशिंगटन में रहते हैं। इनका उद्देश्य वर्गीय स्वार्थों व हितों की रक्षा करना होता है। इन गुटों के प्रभाव के अधीन कांग्रेस के सदस्य विशिष्ट वर्गों व स्वार्थों के हाथों में खिलौने बन जाते हैं और अपनी स्वतन्त्रता खो बैठते हैं। अमरीका में कानून-निर्माण पर लॉबिंग का प्रभाव इतना अधिक है कि लास्की ने लॉबिंग को 'कांग्रेस के पीछे एक और कांग्रेस'¹ की संज्ञा दी है। ऑग और रे, चार्ल्स बियर्ड तथा अन्य लेखकों ने भी लॉबिंग की कटु आलोचना की है। अमरीका में 1946 के 'विधायी पुनर्गठन अधिनियम' (Legislative Reorganisation Act) के द्वारा लॉबिंग की कुछ बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली है। लॉबिंग से कभी-कभी लाभ भी प्राप्त होता है, परन्तु बहुधा इस कार्य के लिए भ्रष्ट तरीके अपनाये जाते हैं। इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा को तीव्र आघात पहुंचा है।

लॉबिंग के अतिरिक्त कांग्रेस (विशेष रूप से प्रतिनिधि सभा) की कार्यप्रणाली में 'पार्क बैरल' (Park Barrel) और 'लॉग रोलिंग' (Log Rolling) की बुराइयां भी देखी जाती हैं। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को प्रति दो वर्ष बाद चुनाव लड़ना होता है और इस हेतु अपने निर्वाचकों को प्रसन्न रखना जरूरी हो जाता है। अतः प्रतिनिधिगण इस बात का प्रयत्न करते हैं कि राष्ट्रीय धन की अधिकाधिक राशि उनके निर्वाचन क्षेत्र में व्यय के लिए स्वीकार की जाये। ऐसा करते हुए उनके द्वारा राष्ट्रीय हित के स्थान पर क्षेत्रीय हित की दृष्टि से ही विचार किया जाता है और इसी को 'पार्क बैरल व्यवस्थापन' कहते हैं।

प्रतिनिधियों के द्वारा राष्ट्रीय धन में से अपने क्षेत्र के लिए अधिकाधिक धनराशि दलीय नेताओं की सहमति और समान उद्देश्य वाले लोगों के समर्थन से प्राप्त की जा सकती है। अतः स्वार्थ सिद्धि वाले कानूनों के निर्माण और अपने क्षेत्र हेतु अधिकाधिक धनराशि प्राप्त करने के लिए प्रतिनिधि सभा में अस्थायी गठबन्धन स्थापित हो जाते हैं और स्वार्थसिद्धि के लिए किया गया यह पारस्परिक सहयोग ही 'लॉग रोलिंग' (Log Rolling) है। पार्क बैरल और लॉग रोलिंग प्रतिनिधि सभा में बहुत देखी जाती हैं और ये इस दृष्टि से बुरी हैं कि इनमें राष्ट्रीय हितों की नितान्त उपेक्षा की जाती है।

(4) प्रशासन और कांग्रेस में पृथक्करण की स्थिति (Division between Congress and Administration)—सुशासन का संचालन कांग्रेस और राष्ट्रपति के पारस्परिक सहयोग से ही सम्भव हो सकता है, लेकिन अमरीका में ऐसा नहीं है। संविधान-निर्माताओं द्वारा राष्ट्रपति और कांग्रेस को अस्तित्व और कार्यों की दृष्टि से नितान्त स्वतन्त्र रखा गया है। ये एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं, किन्तु इन्हें एक-दूसरे की शक्तियों में भागीदार बना दिया गया है और एक-दूसरे पर नियन्त्रण का अधिकार भी दे दिया गया है। प्रशासन के संचालन की

1 "Lobbying is a kind of Congress behind the Congress."

—H. J. Laski, *The American President*, p. 84.

जिम्मेदारी तो राष्ट्रपति पर है, परन्तु कांग्रेस को प्रशासकीय कार्यों के नियन्त्रण का अधिकार है, ऐसी स्थिति में कांग्रेस अपनी प्रशासकीय शक्तियों के प्रयोग में लापरवाही कर सकती है और राष्ट्रपति तथा कांग्रेस प्रशासन के दोषों का उत्तरदायित्व एक-दूसरे पर डाल सकते हैं। प्रो. ऑग का कहना है कि “प्रशासन के साथ सम्पर्क के साधन ठीक न होने के कारण दोनों भागों का सामूहिक व संयुक्त जिम्मेदारी से कार्य कर सकना बहुत कठिन है।” कांग्रेस और राष्ट्रपति के पारस्परिक सम्बन्धों की भी बड़ी आलोचना की जाती है। कभी तो कांग्रेस राष्ट्रपति के कड़े विरोध की प्रवृत्ति अपनाते हुए कानून-निर्माण में राष्ट्रपति की इच्छा के नितान्त विरुद्ध कार्य करती है और कभी वह राष्ट्रपति के हाथों का खिलौना बन जाती है।

(5) सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति (Power of Judicial Review of the Supreme Court)—संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को प्रदान की गयी ‘न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review) की शक्ति के कारण भी कांग्रेस की शक्ति तथा प्रभाव में और कमी हुई है। कांग्रेस की कानून-निर्माण की शक्तियां सीमित हैं और कांग्रेस द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया जाता है, उनके सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय निर्णय करता है कि वे संविधान के अनुसार हैं अथवा नहीं। यदि सर्वोच्च न्यायालय उन्हें संविधान के विरुद्ध समझे तो वह उन्हें असंवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति के कारण कांग्रेस कानून पारित करते हुए उसके भविष्य के सम्बन्ध में सर्वथा निशंक नहीं होती और इससे उसकी प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा है।

इन सबके कारण कांग्रेस राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रही है। कांग्रेस राष्ट्र की विश्वासपात्र संस्था नहीं है उसके विश्वास का केन्द्र बिन्दु तो राष्ट्रपति पद ही है।

कांग्रेस की स्थिति में सुधार हेतु सुझाव (Suggestions for Improvement in the Position of the Congress)—कांग्रेस के उपर्युक्त दोषों को दूर करने का एकमात्र मार्ग कांग्रेस को राष्ट्रपति का सुदृढ़ नेतृत्व प्रदान करना ही हो सकता है। ऐसा होने पर ही कांग्रेस के द्वारा राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाते हुए कुशलता के साथ कानून-निर्माण का कार्य किया जा सकता है। कांग्रेस और राष्ट्रपति में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रमुख रूप से तीन सुझाव दिये जाते हैं :

प्रथम सुझाव यह है कि राष्ट्रपति की केबिनेट के सदस्यों को कांग्रेस की बैठकों में उपस्थित होने, कांग्रेस के सदनों में विधेयक प्रस्तावित करने, कांग्रेस को सूचना देने तथा अन्य कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो, परन्तु उन्हें कांग्रेस में मत देने का अधिकार न दिया जाये।

दूसरा सुझाव यह है कि केबिनेट और कांग्रेस दोनों के प्रमुख सदस्यों की एक संयुक्त समिति बनायी जाय। इस संयुक्त समिति में विधायी क्षेत्र की महत्वपूर्ण समितियों के अध्यक्ष व प्रशासनिक एजेन्सियों के सदस्य भी शामिल किये जा सकते हैं। यह समिति राष्ट्रीय नीति निर्धारित करने व कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में सहयोग स्थापित करने का कार्य करे।

तीसरा सुझाव यह है कि राष्ट्रपति कांग्रेस के प्रमुख सदस्यों की एक सलाहकार समिति का निर्माण करे और प्रशासन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर केबिनेट तथा इस सलाहकार समिति से परामर्श ले।

अमरीकी शासन-व्यवस्था का मूल आधार शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त है और उपर्युक्त में से किसी भी सुझाव को अपनाने का तात्पर्य शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का त्याग और अमरीकी शासन-व्यवस्था के मूलधार में परिवर्तन है। इसी कारण वर्तमान परिस्थितियों में इनमें से किसी सुझाव को अपनाये जाने की सम्भावना नहीं है, लेकिन कांग्रेस की स्थिति और सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में सुधार के लिए इन सुझावों पर पूरी गम्भीरता के साथ विचार किये जाने की आवश्यकता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "अमरीकी सीनेट विश्व के सभी उच्च सदनों में सर्वाधिक शक्तिशाली है।" व्याख्या कीजिए।
2. अमरीकी कांग्रेस की शक्तियों की विवेचना कीजिए। उसकी शक्तियों पर क्या सीमाएं हैं?
3. अमरीकी प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष का किस प्रकार निर्वाचन होता है? उसके अधिकारों तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. अमरीका में समिति व्यवस्था के स्वरूप, कार्यकरण तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. अमरीकी सीनेट के अधिकारों तथा स्थिति का वर्णन कीजिए। उन कारणों का उल्लेख कीजिए, जिनकी वजह से प्रतिनिधि सभा की तुलना में इसकी स्थिति सवल है?
6. अमरीकी सीनेट के सर्वशक्तिशाली द्वितीय सदन होने के क्या कारण हैं?
7. अमरीका की सीनेट का वह भाग्य नहीं होगा जो इंग्लैण्ड में लॉर्ड सभा का हुआ, क्योंकि उसकी शक्तियों का दूरगामी प्रभाव है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।
8. अमरीका में विधि-निर्माण की प्रक्रिया की विवेचना कीजिए तथा ब्रिटेन में विधि-निर्माण की प्रक्रिया से इसकी तुलना कीजिए।
9. सीनेट की शक्तियों का वर्णन कीजिए। संयुक्त राज्य अमरीका में इसकी सुदृढ़ स्थिति के लिए उत्तरदायी कारणों पर प्रकाश डालिए।
10. संयुक्त राज्य अमरीका की सीनेट की शक्तियों की तुलना ब्रिटिश लॉर्ड सभा की शक्तियों से कीजिए। बताइये कि दोनों में से कौन अधिक शक्तिशाली है और क्यों?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. कांग्रेस का कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य बतलाइए।
2. कांग्रेस के प्रमुख कार्यों के शीर्षक दीजिए।
3. किन कारणों से अमेरिकी कांग्रेस एक सम्प्रभु व्यवस्थापिका नहीं है?
4. सीनेट का गठन किस प्रकार होता है?
5. 'फिलिबस्टर' पर टिप्पणी लिखिए।
6. 'सीनेटीय शिष्टता' से आप क्या समझते हैं?
7. सीनेट की 'अन्वेषण की शक्ति' स्पष्ट कीजिए।
8. सीनेट की आलोचना की तीन प्रमुख बातें लिखिए।
9. सीनेट को क्या विशेष शक्तियां प्राप्त हैं?

10. प्रतिनिधि सभा का गठन किस प्रकार होता है?
11. प्रतिनिधि सभा के स्पीकर की स्थिति क्या है?
12. दलीय स्थिति की दृष्टि से प्रतिनिधि सभा के स्पीकर की तुलना ब्रिटिश लोकसदन के स्पीकर से कीजिए।
13. 'प्रतिनिधि सभा विश्व का सर्वाधिक निर्बल सदन है' स्पष्ट कीजिए।
14. अमेरिकी कानून निर्माण में समितियों की महत्वपूर्ण स्थिति स्पष्ट कीजिए।
15. वित्तीय विधेयकों को पारित किए जाने की क्या प्रक्रिया है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. अमेरिका में मताधिकार की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष की गई :
 (अ) 24वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर
 (ब) 25वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर
 (स) 26वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर
 (द) 20वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर
2. अमेरिकी प्रतिनिधि सभा की सदस्य संख्या कितनी है ?
 (अ) 530 (ब) 100
 (स) 435 (द) 535
3. अमेरिकी कांग्रेस के द्वितीय सदन सीनेट का गठन किस प्रकार होता है :
 (अ) प्रत्यक्ष चुनाव (ब) अप्रत्यक्ष चुनाव
 (स) मनोनयन (द) प्रतिनिधि सभा द्वारा चुनाव
4. प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल कितने वर्ष है ?
 (अ) 6 वर्ष (ब) 5 वर्ष
 (स) 2 वर्ष (द) 4 वर्ष
5. अमेरिका में विधि निर्माणी सभा को क्या कहते हैं ?
 (अ) संसद (ब) व्यवस्थापिका
 (स) कांग्रेस (द) डायट
6. प्रतिनिधि सभा की दुर्बलता का कारण है :
 (अ) लघु आकार (ब) उच्च स्तर के प्रतिनिधि
 (स) सीमित शक्तियां (द) लम्बी कार्यविधि
7. प्रतिनिधि सभा के बारे में सही है :
 (अ) क्षेत्रीय नियम (ब) प्रत्यक्ष निर्वाचन
 (स) स्पीकर की दलीय प्रकृति (द) उपर्युक्त तीनों
8. प्रतिनिधि सभा के स्पीकर के बारे में सही है :
 (अ) निष्पक्षता (ब) दलीय प्रकृति
 (स) तटस्थता (द) दलबन्दी से दूर रहना
9. अमेरिकी प्रतिनिधि सभा की शक्तिशाली समिति है :
 (अ) पूर्ण सदन की समिति (ब) प्रवर या विशेष समिति
 (स) नियम समिति (द) सम्मेलन समितियां

10. कौन-सा वक्तव्य सही नहीं है :

(अ) अमेरिका में प्रथम वाचन के बाद ही विधेयक समिति को भेज-दिए जाते हैं।

(ब) वित्त विधेयक केवल प्रतिनिधि सभा में ही प्रारम्भ किए जा सकते हैं।

(स) राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित विधेयक को अस्वीकृत कर दोनों सदनों में पुनः विचारार्थ वापस भेज सकता है।

(द) अमेरिका में स्पीकर की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।

[उत्तर—1. (स), 2. (स), 3. (अ), 4. (स), 5. (स), 6. (स), 7. (द), 8. (ब), 9. (स), 10. (द)]

प्रश्न 11. सीनेट का सभापति कौन होता है?

[उत्तर—अमेरिका का उप-राष्ट्रपति सीनेट का पदेन सभापति होता है।]

प्रश्न 12. 'लॉबिंग' (Lobbying) से आप क्या समझते हैं?

[उत्तर—विभिन्न निहित स्वार्थ कांग्रेस सदस्यों पर प्रभाव डालकर अपने हित में कानून निर्माण का जो प्रयत्न करते हैं, वहीं लॉबिंग है।]

प्रश्न 13. 'फिलिबस्टर' (Filibuster) का आशय क्या है?

[उत्तर—सदन के काम-काज में रुकावट डालने की दृष्टि से अनावश्यक रूप से किए जा रहे वाद-विवाद को ही 'फिलिबस्टर' कहा जाता है।]

प्रश्न 14. प्रतिनिधि सभा और सीनेट का कार्यकाल क्या है?

[उत्तर—प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल दो वर्ष है। सीनेट एक स्थायी सदन है जो कभी भंग नहीं होता। सीनेट के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष होता है प्रति दो वर्ष बाद एक तिहाई सदस्य पद निवृत्त हो जाते हैं।]

प्रश्न 15. सीनेट की दो अनन्य कार्यपालिका शक्तियां बताइए।

[उत्तर—सीनेट की दो अनन्य कार्यपालिका शक्तियां हैं : (i) राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों की पुष्टि (ii) राष्ट्रपति द्वारा दूसरे देशों के साथ की गई सन्धियों की पुष्टि।]

6

संघीय न्यायपालिका और न्यायिक पुनर्विलोकन

(FEDERAL JUDICIARY AND JUDICIAL REVIEW)

“संवैधानिक विवादों के अन्तिम निर्णायक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय का विकास शासन विज्ञान को अमरीकी लोगों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देनों में से एक है।”¹

—मुनरो

संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायपालिका की विशेष स्थिति (IMPORTANT POSITION OF THE JUDICIARY IN THE U. S. A.)

न्यायपालिका का अस्तित्व वर्तमान समय के सभ्य राज्य की प्रथम आवश्यकता समझा जाता है और अमरीकी संवैधानिक व्यवस्था की तो एक प्रमुख विशेषता संघीय न्यायपालिका को प्राप्त महत्वपूर्ण स्थिति है। सन् 1777 में जिस परिसंघ की स्थापना की गयी थी, उसमें संघीय न्यायपालिका के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी और राज्यों के न्यायालय ही समस्त न्यायिक विवाद का निर्णय करते थे, लेकिन यह व्यवस्था दोषपूर्ण थी। विभिन्न राज्यों की न्याय व्यवस्था में विभिन्नता थी, इसलिए कभी-कभी परस्पर विरोधी निर्णय होते थे, जिससे अनिश्चितता और अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। अमरीकी संविधान के निर्माता परिसंघ की इस दुर्बलता को दूर करते हुए एक ऐसी न्यायपालिका की स्थापना करना चाहते थे, जो संविधान की रक्षा करने में समर्थ हो। हेमिल्टन का सुझाव इस सम्बन्ध में एक ऐसे सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना का था, जो संघ की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए संघ और राज्यों के अन्य न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई करे और सम्पूर्ण देश में कानूनों की व्याख्या की एकरूपता बनाये रखे। इस दृष्टि से संविधान की तीसरी धारा में व्यवस्था की गयी है कि “न्याय सम्बन्धी शक्ति एक सर्वोच्च न्यायालय व उन अन्य नीचे के न्यायालयों में निहित होगी जिसकी स्थापना व प्रतिष्ठा कांग्रेस द्वारा समय-समय पर की जायेगी।”² सीनेट के तो व्यवस्थापन कार्य का प्रारम्भ ही इस धारा को क्रियान्वित करने के लिए प्रस्तावित विधेयक से हुआ।

1 “The development of the Supreme Court into a final arbiter of constitutional disputes is one of America's most important contribution to the Science of Governments.” —W. B. Munro, *The Government of the United States*, p. 574.

2 “Judicial power will be vested in one Supreme Court and such other courts as the Congress may from time to time ordain and establish.” —Article III

अमरीका में संघीय न्यायपालिका को दो विशेष कारणों से अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है। प्रथमतः, अमरीका में संघात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया गया है और संघवाद में एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता होती है जो केन्द्र और इकाइयों में उत्पन्न होने वाले विवादों को हल कर सके। इसके अतिरिक्त, अमरीकी संवैधानिक व्यवस्था शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक और स्वतन्त्र हैं और इन दोनों के बीच अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। अतः इन विवादों का निबटारा करने के लिए भी संघीय न्यायपालिका जैसी एक सत्ता का अस्तित्व नितान्त आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार न्यायपालिका ने संविधान के संरक्षक की स्थिति प्राप्त कर ली है।

संघीय न्यायपालिका का संगठन

(ORGANIZATION OF THE FEDERAL JUDICIARY)

संघीय न्यायपालिका के अन्तर्गत दो प्रकार के न्यायालय हैं—व्यवस्थापक न्यायालय और संवैधानिक न्यायालय।

व्यवस्थापक न्यायालय (Legislative Courts)—व्यवस्थापक न्यायालय वे न्यायालय हैं; जिनकी स्थापना संविधान की तीसरी धारा के अधीन नहीं, वरन् कांग्रेस के द्वारा अपनी विधायिनी शक्ति के अन्तर्गत की गयी है। ये न्यायालय न्यायिक शक्ति का उपयोग नहीं करते, वरन् इसका कार्य कांग्रेस द्वारा निर्मित कानूनों के क्रियान्वयन में प्रशासन की सहायता करना है। उदाहरणार्थ, कांग्रेस की पहली धारा की आठवीं उपधारा कांग्रेस को विविध प्रकार के कर लगाने व उन्हें वसूल करने का अधिकार प्रदान करती है। इस सम्बन्ध में कांग्रेस द्वारा निर्मित कानून पर जो वाद उत्पन्न हों, उनका निर्णय करने के लिए कांग्रेस ने नौ न्यायाधीशों के एक न्यायालय की स्थापना की है, जिसे 'संयुक्त राज्य का कस्टम न्यायालय' (United States Customs Court) कहा जाता है। इसी प्रकार कुछ अन्य व्यवस्थापक न्यायालय हैं जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, सार्वजनिक धन के व्यय और कर की वसूली से होता है।

व्यवस्थापक न्यायालयों और संवैधानिक न्यायालयों के न्यायाधीशों में भी अन्तर है। संवैधानिक न्यायालय के न्यायाधीशों को महाभियोग द्वारा ही हटाया जा सकता है, लेकिन व्यवस्थापक न्यायालयों के न्यायाधीशों को प्रशासन द्वारा बिना महाभियोग के ही पदच्युत किया जा सकता है। संवैधानिक न्यायालयों के न्यायाधीश सद्व्यवहार-पर्यन्त कार्य करते हैं, परन्तु कांग्रेस द्वारा स्थापित न्याय के न्यायाधीशों का कार्यकाल निश्चित होता है और निश्चित अवधि की समाप्ति पर उन्हें पदों से हटाया जा सकता है।

संवैधानिक न्यायालय (Constitutional Courts)—संघीय न्यायपालिका का मूल आशय संविधान की धारा 3 के अन्तर्गत स्थापित संवैधानिक न्यायालयों से ही है। संघीय न्यायपालिका का यह ढांचा त्रिस्तरीय है जिसमें सबसे नीचे के स्तर पर जिला न्यायालय, उसके ऊपर 'संघीय अपील न्यायालय' (Circuit Courts of Appeals) होते हैं और सर्वोच्च स्तर पर संयुक्त राज्य अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय है।

जिला न्यायालय (District Courts)—संयुक्त राज्य की संघीय न्यायपालिका का सबसे निचला न्यायालय जिला न्यायालय है। संयुक्त राज्य अमरीका के समस्त क्षेत्र में इस प्रकार के न्यायालयों की संख्या 88 है। अमरीकी संघ के प्रत्येक राज्य में कम-से-कम एक जिला न्यायालय अवश्य होता है। साधारणतया प्रत्येक राज्य में एक ही जिला न्यायालय होता है,

किन्तु क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से जो विशाल राज्य हैं, उनमें आवश्यकतानुसार अधिक जिला न्यायालय स्थापित कर दिये गये हैं।

एक जिला न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या उस क्षेत्र में न्यायिक कार्य को देखकर निश्चित की है। जिला न्यायालय में न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या 16 हो सकती है और व्यवहार में यह 1 से लेकर 16 तक है। जिला न्यायालयों में एक से अधिक न्यायाधीश हैं, वहां न्यायालय के विभिन्न भाग हो जाते हैं और ये अलग-अलग क्षेत्रों में एक साथ कार्य करते हैं।

जिला न्यायालयों को केवल प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र (Original Jurisdiction) ही प्राप्त है, अपील सुनने का अधिकार प्राप्त नहीं है, इनमें संघीय कानून से सम्बन्धित दीवानी व फौजदारी, दोनों ही प्रकार के मुकदमे पेश किये जा सकते हैं। कुछ मामलों में तो जिला न्यायालय के निर्णय की अपील संघीय न्यायालय में की जा सकती है और कुछ मामलों में इसके निर्णय की अपील सीधे सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है।

संघीय अपील न्यायालय (The Circuit Courts of Appeals)—जिला न्यायालयों के ऊपर संघीय अपील न्यायालयों का गठन किया जाता है। इन न्यायालयों के द्वारा अलग-अलग क्षेत्रों का दौरा करते हुए अपना कार्य किया जाता है और इसी कारण इनको 'दौरा करने वाले न्यायालय' भी कहा जाता है। ये जिला न्यायालय और अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के बीच में स्थित हैं। इन न्यायालयों की कुल संख्या 11 है। इनमें से 1 केवल कोलम्बिया जिले के लिए ही कार्य करता है और शेष 10 न्यायालय 20 प्रदेशों में कार्य करते हैं, जिनमें संयुक्त राज्य का बंटवारा किया जाता है। प्रारम्भ में जिला न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय की ही स्थापना की गयी थी, लेकिन जब सर्वोच्च न्यायालय का कार्यभार बहुत अधिक बढ़ गया और इसके परिणामस्वरूप कठिनाइयां उत्पन्न होने लगीं तो सर्वोच्च न्यायालय के कार्यभार को हल्का करने के लिए 'संघीय अपील न्यायालयों' की स्थापना की गयी।

संघीय अपील न्यायालयों को प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त नहीं है, वरन् इन्हें केवल जिला न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार है। सन् 1925 में कांग्रेस ने इन्हें कई मामलों में अपील सुनकर अन्तिम निर्णय करने का अधिकार दे दिया है, परन्तु सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार है कि वह ऐसे किसी भी मामले को अपने पास पुनर्विचार के लिए मंगवा सकता है, जिसमें कि इस न्यायालय द्वारा निर्णय किया जा चुका हो। इन न्यायालयों के न्यायाधीश अक्सर दौरे पर जाते हैं और अपने क्षेत्र में अलग-अलग स्थानों पर अदालत लगाते हैं।

इन न्यायालयों को अन्तरराज्य व्यापार कमीशन, संघीय सुधार परिषद व संघीय व्यापार परिषद के आदेशों व निर्णयों का पुनरावलोकन करने और उन्हें रद्द करने का अधिकार प्राप्त है।

इन न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या साधारणतया 3 से लेकर 9 तक होती है। अपील न्यायालय में किसी विवाद की सुनवायी कम-से-कम दो न्यायाधीशों की बेंच द्वारा की जाती है। जिला न्यायालय और संघीय अपील न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट की सहमति से करता है।

सर्वोच्च न्यायालय (SUPREME COURT)

संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना 1789 के न्यायिक अधिनियम के अनुसार हुई है। सर्वप्रथम यह न्यूयार्क नगर की वाल स्ट्रीट में स्थापित किया गया, बाद में यह फिलाडेल्फिया में चला गया और वर्तमान समय में यह वाशिंगटन में स्थित है।

रचना (Composition)—सर्वप्रथम जब सर्वोच्च न्यायालय का गठन हुआ, तो इसमें 1 मुख्य न्यायाधीश तथा 5 अन्य न्यायाधीश थे। कांग्रेस के द्वारा समय-समय पर इस संख्या में परिवर्तन किया जाता रहा। 1801 में इसकी संख्या 5 कर दी गयी। इसके बाद 1807 में यह संख्या 7, 1837 में 9 और 1863 में 10 कर दी गयी। 1866 में इसके न्यायाधीशों की संख्या पुनः 7 कर दी गयी। 1869 में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायालयों की संख्या 9 निर्धारित की गयी और उस समय से लेकर अब तक यह संख्या 9 ही है। वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय में 1 मुख्य न्यायाधीश तथा 8 अन्य न्यायाधीश हैं।

नियुक्ति (Appointment)—न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सीनेट की सहमति से की जाती है। संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए कोई योग्यताएं निर्धारित नहीं की गयी हैं, इसलिए राष्ट्रपति किसी भी ऐसे व्यक्ति को इस महान् पद पर नियुक्त कर सकता है, जिसके नाम पर सीनेट की स्वीकृति प्राप्त हो सके। सामान्यतया इस पद के लिए राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तावित नाम को सीनेट स्वीकार कर लेती है, परन्तु कभी-कभी सीनेट किसी विशेष व्यक्ति की इस पद पर नियुक्ति को अस्वीकार भी कर देती है। उदाहरणस्वरूप, 9 अप्रैल, 1970 को राष्ट्रपति निक्सन ने सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश पद के लिए 'हेरल्ड कासवेल' का नाम प्रस्तावित किया था, किन्तु सीनेट ने उसे स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया।

वेतन तथा पदावधि (Salary and Terms)—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन कांग्रेस द्वारा निर्धारित किया जाता है और न्यायाधीश की पदावधि में इस वेतन में वृद्धि तो की जा सकती है, लेकिन कमी नहीं। वर्तमान समय में मुख्य न्यायाधीश को प्रतिवर्ष 1,71,500 डॉलर और अन्य न्यायाधीशों को 1,64,100 डॉलर वेतन मिलता है।

न्यायाधीशों की पदावधि आजीवन है और वे सदाचार पर्यन्त अपने पद पर बने रहते हैं। न्यायाधीशों द्वारा इसके पूर्व स्वेच्छा से पद त्याग किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि किसी व्यक्ति ने 10 वर्ष तक सर्वोच्च न्यायालय की सेवा की है और उसकी आयु 70 वर्ष हो चुकी है अथवा यदि वह 15 वर्ष तक सर्वोच्च न्यायालय की सेवा कर चुका है तथा उसकी आयु 65 वर्ष हो चुकी है, तो स्वेच्छा से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी उसे जीवनपर्यन्त अपने पद पर पूरा वेतन प्राप्त होता रहेगा। यह स्पष्ट है कि 70 वर्ष की आयु के बाद भी अपने पद से अवकाश ग्रहण करना न्यायाधीश की इच्छा पर निर्भर है।

महाभियोग (Impeachment)—सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश को केवल महाभियोग के आधार पर ही पदच्युत किया जा सकता है। महाभियोग का प्रस्ताव प्रतिनिधि सभा में प्रस्तावित किया जाता है और प्रतिनिधि सभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित कर दिये जाने पर सीनेट द्वारा उसकी जांच की जाती है। यदि सीनेट भी अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव की पुष्टि कर दे, तो महाभियोग का प्रस्ताव पारित समझा जाता है और सम्बन्धित

न्यायाधीश को पद त्याग करना होता है। अब तक के संवैधानिक इतिहास में संघीय न्यायपालिका के 9 न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव रखा गया और इनमें से केवल 4 के विरुद्ध यह प्रस्ताव पारित हो सका। सर्वोच्च न्यायालय के तो केवल एक न्यायाधीश सेम्युअल चेज के विरुद्ध यह प्रस्ताव लाया गया, लेकिन उनके विरुद्ध भी प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। इस प्रकार फर्ग्यूसन और मैक्हेनरी के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि “महाभियोग की प्रक्रिया अपवादस्वरूप ही है।”¹

सर्वोच्च न्यायालय की कार्यविधि (Working System of the Supreme Court)—सर्वोच्च न्यायालय का अधिवेशन प्रति वर्ष अक्टूबर के प्रथम सोमवार को प्रारम्भ होता है और प्रायः अगले वर्ष के जून माह के पहले सप्ताह तक चलता रहता है। विशेष आवश्यकता पड़ने पर मुख्य न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय का विशेष अधिवेशन भी बुला सकते हैं। मुख्य न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय का कार्यपालिका अधिकारी है। यह अधिवेशन की अध्यक्षता करता और निर्णयों की घोषणा करता है, लेकिन उसे अन्य न्यायाधीशों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। अभियोगों की सुनवाई, मंगल, बुध, गुरु तथा शुक्र को होती है। शनिवार को न्यायाधीश परस्पर विचार-विमर्श करते हैं तथा सोमवार को सार्वजनिक रूप में निर्णय देते हैं। अभियोग की सुनवाई तथा निर्णय के लिए 6 न्यायाधीशों की गणपूर्ति (quorum) रखी गयी है। अभियोग का निर्णय बहुमत से होता है। मुख्य न्यायाधीश सबसे पहले अपने विचार बताता है, किन्तु मत सबसे अन्त में देता है। कोई भी न्यायाधीश बहुमत के निर्णय से भिन्न मत व्यक्त कर सकता है। बहुमत निर्णय तथा उससे सहमत न होने वाले न्यायाधीशों के ‘असहमति विचार’ जनता तथा न्यायालयों के पथ-प्रदर्शन के लिए संयुक्त राज्य की रिपोर्ट में छापे जाते हैं।

क्षेत्राधिकार (JURISDICTION)

सर्वोच्च न्यायालय को संविधान से ही शक्तियां प्राप्त होती हैं और इस रूप में वह अमरीकी संघ की कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका, दोनों से ही स्वतन्त्र है। सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार इस प्रकार है :

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction)—सर्वोच्च न्यायालय को दो प्रकार के अभियोगों में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं—(i) वे सभी विवाद जिनमें राजदूत, अन्य सार्वजनिक मन्त्री, वाणिज्य दूत अथवा विदेशी प्रतिनिधि कोई पक्ष हो। (ii) ऐसे सभी विवाद जिनमें संयुक्त राज्य अमरीका का संघ या अमरीकी संघ का कोई एक या अधिक राज्य एक पक्ष हो।

अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)—शेष सभी विवादों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय को अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं अर्थात् निचले न्यायालयों के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में सुनी जा सकती है। राज्यों के न्यायालयों की अपील संघ के सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है, अन्य किसी भी संघीय न्यायालय में नहीं। संविधान सर्वोच्च न्यायालय को कानून तथा तथ्यों के बारे में अपीलीय क्षेत्राधिकार देता है, परन्तु कांग्रेस

1 Ferguson & McHenry, *The American Federal Government*, p. 334.

को इसे नियमित करने का अधिकार है। 1925 के कांग्रेस के अधिनियम द्वारा अपील का अधिकार केवल निम्नांकित विषयों तक सीमित कर दिया गया है :

- (i) जिनमें संघीय कानून तथा सन्धियों को राज्य के न्यायालय में संविधान के विरुद्ध घोषित कर दिया गया हो।
- (ii) जिनमें राज्य के किसी कानून को जो किसी संघीय न्यायालय के संघ के संविधान, किसी कानून अथवा सन्धि के विरुद्ध घोषित कर दिया गया हो, जबकि राज्यों के न्यायालय राज्यों में उस कानून को वैध ठहरावें।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के मामलों में सर्वोच्च न्यायालय को अपील सुननी होती है। अन्य मामलों में सर्वोच्च न्यायालय को अपील का अधिकार है, परन्तु सर्वोच्च न्यायालय की इच्छा पर निर्भर है कि वह इसका प्रयोग करे या न करे। इस श्रेणी में संघीय अपील न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध अपील शामिल है, जिनमें किसी संघीय कानून अथवा सन्धि को असंवैधानिक घोषित कर दिया गया हो या जिनमें राज्य के किसी कानून या संवैधानिक उपबन्ध को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया गया हो कि वह संघीय संविधान, कानून अथवा सन्धि के विरुद्ध है। जिला न्यायालय के भी कुछ निर्णयों की अपील सीधे सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है।

सर्वोच्च न्यायालय परामर्श देने का कार्य नहीं करता और इस दृष्टि से वह भारतीय सर्वोच्च न्यायालय से भिन्न है।

न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार (सर्वोच्च न्यायालय : संविधान का संरक्षक)

[POWER OF JUDICIAL REVIEW (SUPREME COURT :
GUARDIAN OF THE CONSTITUTION)]

सर्वोच्च न्यायालय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार है, जिसके आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के संरक्षक की स्थिति प्राप्त कर ली है। ब्राइस ने सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति के सम्बन्ध में लिखा है, “संयुक्त राज्य अमरीका सरकार की किसी और विशेषता ने यूरोपीय जगत में इतनी अधिक जिज्ञासा जाग्रत नहीं की, इतनी अधिक चर्चा पैदा नहीं की जितनी कि सर्वोच्च न्यायालय के उन कर्तव्यों और कार्यों ने की है जो वह संविधान की रक्षा करते हुए करता है।”¹

सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या का एकमात्र अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के अन्तर्गत उसके द्वारा उन सभी कानूनों की संवैधानिकता की परीक्षा की जाती है, जिन्हें संघीय कांग्रेस तथा राज्य सरकारों द्वारा पारित किया गया है। इनमें से किसी कानून को जब सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी जाय, तब यदि सर्वोच्च न्यायालय ऐसा समझे कि ये कानून संविधान के प्रतिकूल हैं तो उनके द्वारा इन्हें अवैध घोषित किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को ही ‘न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति’ (Power of Judicial

1 “No feature of the government of the United States has awakened so much curiosity in the European mind, caused so much discussion, received so much admiration, and been more frequently misunderstood than the duties assigned to the Supreme Court and the function, which it discharges in guarding the constitution.”

—James Bryce.

Review) कहते हैं। इस शक्ति के आधार पर न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत कार्यपालिका द्वारा किये गये वे कार्य भी आते हैं जो ऐसे कानूनों के आधार पर उसने किये हों। कोर्विन ने न्यायिक पुनर्विलोकन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “न्यायिक पुनर्विलोकन का तात्पर्य न्यायालयों की उस शक्ति से है जो उन्हें अपने न्यायक्षेत्र के अन्तर्गत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के सम्बन्ध में तथा उन कानूनों को लागू करने से इंकार करने के सम्बन्ध में प्राप्त हैं, जिन्हें वह अवैध और इसलिए व्यर्थ समझे।”¹

न्यायिक पुनर्विलोकन की इस शक्ति के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के संरक्षक की स्थिति प्राप्त कर ली है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए जस्टिस हूज ने कहा था कि “अमरीकन जनता संविधान के अधीन अवश्य रहती है, परन्तु संविधान वही है, जो न्यायाधीश कहते हैं।”² इसी प्रकार जस्टिस फ्रैंकफर्टर ने कहा था कि “सर्वोच्च न्यायालय ही संविधान है।”³ सर्वोच्च न्यायालय को उसकी इस शक्ति के आधार पर ‘कांग्रेस का तृतीय सदन’ (Third Chamber of the Congress) कहा जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें हैं। सर्वप्रथम, सर्वोच्च न्यायालय अपनी ही पहल (initiative) पर किसी कानून की वैधानिकता और अवैधानिकता पर विचार नहीं कर सकता। इसके द्वारा यह कार्य तभी किया जा सकता है, जब कोई व्यक्ति या समुदाय किसी विवाद या अपील के अन्तर्गत किसी कानून की संवैधानिकता को चुनौती दे। द्वितीय, न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का प्रयोग केवल सर्वोच्च न्यायालय ही नहीं करता वरन् निम्न संघीय न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालय भी इस अधिकार का प्रयोग करते हैं। इतना अवश्य है कि उनके निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है और इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक सर्वोच्च न्यायालय ही है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का संवैधानिक आधार

(CONSTITUTIONAL BASIS OF THE POWER OF JUDICIAL REVIEW)

इस बात पर बहुत अधिक विवाद है कि सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का कोई संवैधानिक आधार है अथवा नहीं। एक पक्ष का विचार है कि इसका कोई वैधानिक आधार नहीं है और सर्वोच्च न्यायालय ने मनमाने तरीके से यह शक्ति अपने हाथ में ले ली है। संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य और बाद में राष्ट्रपति जैफरसन ने तो स्पष्ट कहा था कि पूर्वजों ने जिस ढांचे की स्थापना की थी, उसके अन्तर्गत प्रशासन के तीनों भाग पूर्णतया स्वतन्त्र होने थे तथा अब यदि न्यायपालिका कांग्रेस व राष्ट्रपति के अधिकारों के पुनर्विलोकन के अधिकार का प्रयोग करती है, तो यह शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का ही उल्लंघन नहीं, वरन् संविधान-निर्माताओं के विचारों का भी अनादर है।

1 “Judicial Review is the power of courts to pass judgement upon the constitutionality of legislative act, which fall within their normal jurisdiction to enforce and the power to refuse to enforce such as they and unconstitutional are hence void.”
—Corwin in *Encyclopaedia of Social Sciences*.

2 “We are under a Constitution, but the Constitution is, what the judges says it is.”
—Justice Hughes

3 “The Supreme Court is the Constitution.”
—Justice Frankfurter

परन्तु वास्तव में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का वैधानिक आधार है। संविधान के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में स्पष्ट तौर पर चाहे कुछ भी न कहा गया हो, लेकिन संविधान के दो प्रावधानों (अनुच्छेद 6 व अनुच्छेद 3 की उपधारा 2) में यह शक्ति निहित है। संविधान के अनुच्छेद 6 में कहा गया है कि “यह संविधान तथा अमरीका के सब कानून तथा उसके अनुसार बतायी गयी सन्धियां अमरीका का सर्वोच्च कानून होगा। न्यायाधीश इससे बंधे हुए होंगे। किसी राज्य के संविधान तथा कानून में यदि संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के विरुद्ध कोई बात होगी, तो वह वैध नहीं मानी जायेगी।” इसी प्रकार अनुच्छेद 3 की उपधारा 2 में कहा गया है कि “कानून व औचित्य के अनुसार न्यायपालिका की शक्ति के क्षेत्र में वे सब मामले आयेंगे, जो इस संविधान, संयुक्त राज्य के कानूनों व उनके अन्तर्गत की गयी अथवा की जाने वाली सन्धियों के अन्तर्गत उत्पन्न हों।”

इन दोनों अनुच्छेदों की व्याख्या करते हुए न्यायिक पुनर्विलोकन की धारणा के समर्थकों का कथन है कि संविधान की सर्वोच्चता बनी रहे और किसी ओर से उसका उल्लंघन न हो, यह देखना सर्वोच्च न्यायालय का कार्य है और सर्वोच्च न्यायालय यह कार्य तभी सम्पन्न कर सकता है, जबकि उसे संविधान की व्याख्या करने और संघीय या राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित ऐसे कानूनों को अवैध घोषित करने का अधिकार प्राप्त हो, जो उसके विचार में संविधान के प्रतिकूल हैं। फिलाडेल्फिया सम्मेलन के प्रसिद्ध सदस्य हेमिल्टन ने यही दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए ‘Federalist’ नामक पत्रिका में लिखा था, “कानूनों की व्याख्या करना न्यायालयों का उचित व विशिष्ट कार्यक्षेत्र है। संविधान आधारभूत कानून होता है और न्यायालयों को उसे आधारभूत कानून ही मानना चाहिए। इसलिए यह उनका कार्य होना चाहिए कि वे उसका तथा व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये किसी भी कानून का अर्थ निश्चित करें। यदि दोनों में कोई ऐसा अन्तर हो, जिसमें साम्य न बैठया जा सके, तो निश्चित ही उसे ग्रहण किया जाना चाहिए, जिसकी मान्यता तथा वैधता श्रेष्ठतर हो; दूसरे शब्दों में, कानून की तुलना में संविधान को तथा जनता के प्रतिनिधियों की इच्छा की तुलना में जनता की मान्यता अधिक होनी चाहिए।”

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रयोग (APPLICATION OF JUDICIAL REVIEW BY SUPREME COURT)

सन् 1803 में मारबरी बनाम मेडीसन के विवाद में न्यायमूर्ति मार्शल द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया और तब से अब तक इस सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस द्वारा निर्मित 18 कानूनों को अवैध घोषित कर चुका है। उपर्युक्त प्रसिद्ध विवाद इस प्रकार का था, कि मार्च 1801 को राष्ट्रपति एडम्स ने मारबरी को कोलम्बिया जिले का न्यायाधिकारी (Justice of Peace) नियुक्त किया, लेकिन उपर्युक्त आदेश मारबरी को भेजे जाने के पूर्व ही राष्ट्रपति एडम्स का कार्यकाल समाप्त हो गया और नवीन राष्ट्रपति जैफरसन व उनके न्यायमन्त्री मेडीसन ने मारबरी को उपर्युक्त आदेश भेजने से इंकार कर दिया। अतः मारबरी ने 1789 के न्यायपालिका अधिनियम की व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रपति के विरुद्ध परमादेश (Mandamus) जारी करने की प्रार्थना की। 1789 के न्यायपालिका अधिनियम में व्यवस्था की गयी थी कि प्रशासनिक अधिकारियों को परामर्श दिये जाने हेतु सर्वोच्च न्यायालय से प्रार्थना की जा सकती है और सर्वोच्च न्यायालय को ऐसा आदेश जारी करने का अधिकार होगा। इस विवाद में सर्वोच्च न्यायालय की ओर

से न्यायाधीश मार्शल ने यह निर्णय दिया कि 1789 के न्यायपालिका अधिनियम के अन्तर्गत मारबरी नियुक्ति सम्बन्धी आज्ञापत्र प्राप्त करने का अधिकारी है, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सम्बन्धित अधिकारियों को परमादेश नहीं दिया जा सकता, क्योंकि 1789 के जिस न्यायपालिका अधिनियम के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय को परमादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है, वह स्वयं संविधान की तीसरी धारा के विरुद्ध है क्योंकि इसके द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का प्रारम्भिक न्याय क्षेत्र उस न्याय क्षेत्र से अधिक कर दिया गया है, जो संविधान की उक्त धारा में दिया गया है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय ने 1789 के न्यायपालिका अधिनियम की एक व्यवस्था को अवैध घोषित करते हुए उसे लागू करने से इंकार कर दिया। न्यायाधीश मार्शल के उपर्युक्त निर्णय को निम्न रूपों में व्यक्त किया गया है :

- (i) संविधान एक लेखपत्र (Document) है जो शासन की शक्तियों को निश्चित और मर्यादित करता है।
- (ii) संविधान देश का सर्वोच्च कानून है और इसलिए कांग्रेस द्वारा पारित अन्य कानूनों की तुलना में श्रेष्ठ है।
- (iii) इसलिए संविधान के विपरीत बनाये गये कानून असंवैधानिक हैं और न्यायालय अवैध घोषित करते हुए उन्हें मानने से इंकार कर सकता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना

(CRITICISM OF THE JUDICIAL REVIEW)

न्यायाधीश मार्शल द्वारा अपने निर्णय में न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धान्त को प्रतिपादित किये जाने के पूर्व से ही इस धारणा की आलोचना की जाती रही है। जैफरसन इस शक्ति के प्रारम्भ से ही आलोचक थे और सीनेट के उम्मीदवार के रूप में प्रचार करते हुए अब्राहम लिंकन ने भी सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति की कटु आलोचना की थी। अमरीकी संविधान के लेखकों में ब्रोगन लुई, बोदां, एडम ब्रुक्स तथा लॉस्की इसके प्रमुख आलोचक रहे हैं। इन लेखकों द्वारा की गयी आलोचना के प्रमुख आधार निम्न प्रकार हैं :

(1) न्यायिक पुनर्विलोकन का कोई संवैधानिक आधार नहीं (No Constitutional basis of Judicial Review)—आलोचकों के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के इस अधिकार का कोई संवैधानिक आधार नहीं है। संविधान में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि सर्वोच्च न्यायालय कानूनों की संवैधानिकता की परीक्षा कर उन्हें रद्द कर सकता है।

इस प्रकार की आलोचना का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति का बहुत कुछ सीमा तक संवैधानिक आधार है। इसके अतिरिक्त पिछले लगभग 216 वर्षों से इस अधिकार का प्रयोग किया जा रहा है और किसी ने भी न्यायालय के इस अधिकार को गम्भीर चुनौती नहीं दी है।

(2) सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय राजनीति से प्रेरित (Decisions of the Supreme Court are inspired by Politics)—यह तो माना जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय को वैधानिकता के आधार पर कानूनों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश वैधानिक निर्णय देते हुए उन्हें अपनी

राजनीतिक विचारधारा से रंग देते हैं। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि “केवल काला लबादा ओढ़ लेने से ही कोई व्यक्ति राजनीति से मुक्त नहीं हो जाता।” न्यायाधीश लोग जीवित प्राणी होते हैं, वे सामाजिक और राजनीतिक जीवन से प्रभावित होते हैं, अतः जब कभी कांग्रेस का कोई ऐसा अधिनियम उनके सामने आता है जो उनकी विचारधारा के विरुद्ध होता है तो वे संवैधानिकता की आड़ में उसे रद्द कर देते हैं।

न्यायाधीशों के निर्णय आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा पर आधारित होते हैं, इसका प्रमाण यह है कि न्यायिक निर्णय में परिवर्तन होते रहे हैं। 1923 में कांग्रेस द्वारा कोलम्बिया जिले के लिए पारित ‘न्यूनतम मजदूरी अधिनियम’ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया गया कि यह संविधान के पांचवें संशोधन द्वारा प्रदत्त संविदा की स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है, लेकिन 1957 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही पुराने निर्णय को रद्द करते हुए संविदा की स्वतन्त्रता को दूसरे ही रूप में ग्रहण किया। मुख्य न्यायाधीश मार्शल और मुख्य न्यायाधीश टॉनी की विचारधारा में वैसा ही अन्तर देखा जा सकता है, जैसा क्रमशः हेमिल्टन और जैफरसन की विचारधारा में था।

(3) प्रगतिशीलता में बाधक (Obstructive in Progressivism)—इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि सर्वोच्च न्यायालय ने इस शक्ति के प्रयोग में सामान्यतया प्रतिक्रियावादिता और रूढ़िवादिता का ही परिचय दिया है। सर्वोच्च न्यायालय आय-कर व्यवस्था, न्यूनतम वेतन, उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के काम करने के घण्टे निश्चित करने व दास-प्रथा को समाप्त करने से सम्बन्धित प्रगतिशील विधेयकों को रद्द कर प्रगतिशीलता में बाधक बना है। राष्ट्रपति, रूजवेल्ट की नव-निर्माण आर्थिक नीति व उनके प्रशासन-काल में कांग्रेस द्वारा पारित ‘राष्ट्रीय पुनरुद्धार एक्ट’ (National Industrial Recovery Act) तथा ‘कृषि आयोगक एक्ट’ (Agriculture Adjustment Act) रद्द करके तो सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी प्रतिक्रियावादिता पर मोहर ही लगा दी। इसी आधार पर प्रो. लॉस्की का कथन है कि “सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों ने सदा ही सम्पत्तिशाली वर्ग के हितों की रक्षा की है और वह लॉर्ड सभा की भांति ही सम्पत्तिशाली वर्ग का गढ़ रहा है।”

(4) सर्वोच्च न्यायालय : कांग्रेस का तृतीय सदन (Supreme Court : Third Chamber of the Congress)—आलोचना का प्रमुख आधार यह है कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी इस शक्ति के आधार पर कांग्रेस के तीसरे सदन की स्थिति प्राप्त कर ली है, जो नितान्त अनुचित है। प्रजातन्त्र में कानून-निर्माण की शक्ति जन-प्रतिनिधियों को ही प्राप्त होनी चाहिए और अमरीकी जनता इस कार्य के लिए कांग्रेस सदस्यों को चुनती है, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस द्वारा पारित अधिनियमों को अवैध घोषित कर एक ‘उच्च विधानमण्डल’ की स्थिति प्राप्त कर लेता है। सर्वोच्च न्यायालय का संगठन लोकतन्त्रीय नहीं है और न्यायाधीशों को कार्यपालिका ही नामजद करती है। अतः इन न्यायाधीशों को जन-प्रतिनिधियों से उच्च स्थिति प्रदान करना निश्चित रूप से अलोकतन्त्रीय ही है। लॉस्की और ब्रोगन ने इसी आधार पर सर्वोच्च न्यायालय को ‘कांग्रेस का तृतीय सदन’ कहा है। जब सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा राष्ट्रपति रूजवेल्ट की नव-निर्माण आर्थिक नीति को रद्द किया गया, तो संघीय न्यायपालिका

के पूर्ण पुनर्गठन की आवश्यकता बताते हुए राष्ट्रपति ने कांग्रेस को अपने सन्देश में कहा था "इस बात का महत्व ही नहीं है कि कांग्रेस ने कानून का निर्माण किया है, कार्यपालिका ने उस पर हस्ताक्षर किये हैं और प्रशासकीय तन्त्र उसे क्रियान्वित करने की प्रतीक्षा कर रहा है। न्यायपालिका एक अतिरिक्त कार्य अपने हाथ में ले रही है और उसके द्वारा राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के ढीले रूप में संगठित तथा धीमी प्रक्रिया से कार्य करने वाले तृतीय सदन का रूप ग्रहण किया जा रहा है।"¹

(5) निर्णय की त्रुटिपूर्ण प्रक्रिया (Defective Process of Decisions)—सर्वोच्च न्यायालय की बहुमत निर्णय की जो प्रक्रिया है उसकी आलोचना की जाती है। सर्वोच्च न्यायालय के अधिकांश निर्णय 4 के विरुद्ध 5 न्यायाधीशों के बहुमत से किये जाते हैं। 4 न्यायाधीश तो कानून की संवैधानिकता में विश्वास व्यक्त करते हैं, लेकिन 5 न्यायाधीश उसे असंवैधानिक कहकर रद्द कर देते हैं। इस प्रकार एक न्यायाधीश सम्पूर्ण कांग्रेस और राष्ट्रपति के निर्णय पर निषेधाधिकार का प्रयोग करता है और यह स्थिति सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की बुद्धिमत्ता के प्रति शंका उत्पन्न कर देती है। प्रश्न यह है कि यदि कानून असंवैधानिक है तो न्यायाधीशों में मतभेद क्यों है? निर्णय की यह त्रुटिपूर्ण प्रक्रिया जनता में अविश्वास और निराशा भर देती है।

(6) सामाजिक व आर्थिक जीवन में अस्थिरता (Instability in Social and Economic Life)—सर्वोच्च न्यायालय की यह शक्ति सामाजिक और आर्थिक जीवन में बड़ी अस्थिरता उत्पन्न करने का भी कारण होती है। कई बार ऐसा होता है कि कांग्रेस का एक कानून काफी लम्बे समय तक प्रयोग में आता रहता है और लोग उसके अनुसार अपना कार्य करते रहते हैं, लेकिन फिर एक दिन सर्वोच्च न्यायालय उसे अवैध घोषित कर देता है और वर्षों से उसके आधार पर किया गया समस्त कार्य असंवैधानिक हो जाता है। यह स्थिति नागरिकों में समस्त कानूनी ढांचे के प्रति शंका उत्पन्न कर देती है। इससे राजनीतिक जीवन के उद्देश्य भी निश्चित नहीं हो पाते। कोई भी राजनीतिक दल विश्वास के साथ यह नहीं कह सकता कि उसके द्वारा बनाये गये कार्यक्रम की कौन-सी बात कानून बनने पर न्यायाधीशों द्वारा असंवैधानिक घोषित कर दी जायेगी।

(7) विधानमण्डलों में उत्तरदायित्व का ह्रास (Decline of Responsibility in Legislature)—प्रो. ब्रोगन द्वारा इस आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना की गयी है कि इसके परिणामस्वरूप विधानमण्डलों के उत्तरदायित्व की भावना कम होती है तथा उनके काम में लापरवाही व असावधानी बढ़ जाती है। कांग्रेस सदस्य यह सोचकर निश्चित हो जाते हैं कि यदि उनके द्वारा निर्मित कानूनों में कोई कमी रह भी गयी, तो सर्वोच्च न्यायालय उसे दूर कर लेगा।

1 "It matters not that Congress has enacted the law, that the executive has signed it and the administrative machine is waiting to function.....the judiciary.....is assuming an additional function and is coming more and more to constitute a scattered, loosely organized and slowly operating third house of the National Legislature."
—F. D. Roosevelt's Message to Congress in February 1973
(Quoted from Strong, F. in *Modern Political Constitution*, p. 113.)

न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व (IMPORTANCE OF JUDICIAL REVIEW)

यद्यपि कुछ लेखकों द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की आलोचना की गयी है, लेकिन सामान्य अमरीकी दृष्टिकोण न्यायिक पुनर्विलोकन का प्रशंसक है और इसका महत्व बताते हुए अग्र बातें कही जाती हैं, जिनमें पर्याप्त सार है :

(1) सीमित शासन की कल्पना को साकार करना—अमरीकी संविधान-निर्माताओं द्वारा एक ऐसे सीमित शासन की कल्पना की गयी थी, जिसमें सरकार के प्रत्येक अंग की शक्तियाँ सीमित हों। इस आदर्श को न्यायिक पुनर्विलोकन के आधार पर ही प्राप्त किया जा सका है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी इस शक्ति के आधार पर कांग्रेस व राष्ट्रपति को अपनी सीमाओं के भीतर रहने पर विवश किया और उन्हें निरंकुश व अनियन्त्रित सत्तासम्पन्न नहीं होने दिया।

(2) संघात्मक व्यवस्था की रक्षा—सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी इस शक्ति के आधार पर संघात्मक व्यवस्था की भी रक्षा की है। संविधान-निर्माताओं ने केन्द्र और इकाइयों की सरकारों के बीच जिस शक्ति-विभाजन की व्यवस्था की थी, उसे बनाये रखते हुए संघात्मक व्यवस्था की रक्षा का भार सर्वोच्च न्यायालय पर ही था और सर्वोच्च न्यायालय ने इसे भलीभाँति निभाया है। इसी आधार पर डॉ. फाइनर लिखते हैं कि “यह एक सीमेण्ट है, जिसने सारे संघीय ढांचे को स्थिरता दी है।”¹ मुनरो का तो विचार है कि “सर्वोच्च न्यायालय के अभाव में अमरीकी संघ की इकाइयाँ अनेक मुंह वाले दैत्यों का रूप ग्रहण कर संवैधानिक व्यवस्था को समाप्त कर देंगी”²

(3) नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा—सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी इस शक्ति के बल पर सदैव ही नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा का कार्य किया है। सर्वोच्च न्यायालय नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा के प्रति कितना जागरूक है, इसका प्रमाण यह है कि गृहयुद्ध की स्थिति में भी जब राष्ट्रपति लिंकन ने बन्दी प्रत्यक्षीकरण के अधिकारों को स्थगित कर दिया, तो मुख्य न्यायाधीश टॉनी ने इसे अनुचित बताया।

(4) संविधान की गतिशीलता प्रदान करना—इन सबके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति का सर्वाधिक महत्व इस दृष्टि से है कि इसने संविधान को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप गतिशीलता प्रदान की है। प्रत्येक संविधान को लागू किये जाने के बाद देश की परिस्थितियों में जो परिवर्तन होते हैं, उनके कारण संविधान में संशोधन जरूरी हो जाता है। अमरीकी संविधान में संशोधन की प्रक्रिया पर्याप्त कठिन होने के कारण औपचारिक रूप में ऐसे परिवर्तन कर सकना सरल नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का ही परिणाम है कि बिना औपचारिक परिवर्तनों के संविधान बदलती हुई परिस्थितियों

1 “It is the cement which has fixed firm the whole federal structure.” —Dr. Finer

2 “The American constitutional system would have become a hydraheaded monstrosity of forty-eight rival states.”

—Munro, *The Government of the U. S. A.*, p. 571.

के अनुरूप ढल गया है। हीयर के शब्दों में, “संविधान को नवीन समाज की आवश्यकताओं के अनुसार ढालना सर्वोच्च न्यायालय का ही कार्य है।”¹

सर्वोच्च न्यायालय अपनी व्याख्याओं के आधार पर संविधान को निरन्तर गतिशीलता प्रदान कर रहा है, इस बात को दृष्टि में रखते हुए बेक ने कहा कि “सर्वोच्च न्यायालय न्याय प्रदान करने की एक एजेन्सी ही नहीं, वरन् एक अर्थ में निरन्तर कार्य करने वाली संविधान सभा है। इसने उन व्याख्याओं के आधार पर संविधान में परिवर्तन करते हुए 1787 के संवैधानिक सम्मेलन के कार्य को जारी रखा है।”²

सर्वोच्च न्यायालय के पुनर्गठन के सुझाव

(PROPOSALS FOR THE REORGANIZATION OF THE SUPREME COURT)

सर्वोच्च न्यायालय और उसकी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के विविध दोष बताये जाते हैं और सर्वोच्च न्यायालय के संगठन, कार्यप्रणाली एवं शक्तियों को संशोधित करने के अनेक सुझाव दिये जाते हैं :

सर्वप्रथम 20वीं सदी के प्रारम्भिक चरण में राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने यह सुझाव दिया था कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किये गये कानूनों पर लोकनिर्णय (referendum) की व्यवस्था होनी चाहिए और जनता को अधिकार होना चाहिए कि वह अपने बहुमत से सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को रद्द कर सके।

दूसरा सुझाव यह है कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा कानूनों को अवैध घोषित किये जाने की प्रक्रिया में परिवर्तन होना चाहिए। वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय अपने सामान्य बहुमत से कानून को अवैध घोषित कर सकता है, लेकिन इसके स्थान पर दो-तिहाई बहुमत की अनिवार्यता ठहराते हुए यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि सर्वोच्च न्यायालय 9 में से कम से कम 7 न्यायाधीशों के निर्णय से ही कानून को अवैध घोषित कर सके।

तीसरा सुझाव भी सर्वोच्च न्यायालय के कानूनों को अवैध घोषित करने की शक्ति पर नियन्त्रण के रूप में ही है। इसमें यह कहा गया है कि जिस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा किये गये निषेधाधिकार के प्रयोग को कांग्रेस दो-तिहाई बहुमत से पुनः वह विधेयक पारित कर रद्द कर सकती है, उसी प्रकार कांग्रेस को अधिकार होना चाहिए कि यदि सर्वोच्च न्यायालय ने किसी कानून को अवैध घोषित कर दिया है और कांग्रेस उसे राष्ट्रीय हित में आवश्यक समझती है, तो कांग्रेस दो-तिहाई बहुमत से इस विधेयक को पारित कर सकती है और अब इस कानून पर सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए।

अमरीका के अब तक के संवैधानिक इतिहास में कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच सबसे प्रबल संघर्ष राष्ट्रपति रूजवेल्ट के दूसरे-तीसरे कार्यकाल (1932-37) में हुआ। रूजवेल्ट की नव-निर्माण आर्थिक नीति के अन्तर्गत निर्मित व्यवस्थापन को जब सर्वोच्च

1 “That the constitution has been adapted to the new society is the work of the Supreme Court.” —Wheare, *Modern Constitution*, p. 160.

2 “Thus, The Supreme Court is not only a Court of Justice, but in a qualified sense a continuous constitutional convention. It continues the work of the convention of 1787 by adapting through interpretation the great charter of government.” —J. M. Beck, *Constitution of the United States*, p. 221.

न्यायालय ने अवैध घोषित कर दिया तो राष्ट्रीय जीवन में खलबली मच गयी और ऐसी स्थिति में रूजवेल्ट ने सर्वोच्च न्यायालय में सुधार का प्रस्ताव किया। रूजवेल्ट ने यह योजना रखी कि राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया जाये कि वह 70 वर्ष से अधिक आयु वाले न्यायाधीशों की संख्या के बराबर सीनेट की सहमति से अतिरिक्त न्यायाधीशों को नामजद कर सके, परन्तु ऐसे न्यायाधीशों की संख्या 6 से अधिक नहीं होनी चाहिए, परन्तु राष्ट्रपति रूजवेल्ट के इस प्रस्ताव का कड़ा विरोध हुआ। सर्वत्र यह कहा जाने लगा कि राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय को अपने समर्थकों से भरकर उसकी स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को समाप्त कर देना चाहते हैं। अतः कांग्रेस द्वारा रूजवेल्ट का प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। इस प्रस्ताव की अस्वीकृति के थोड़े समय बाद ही राष्ट्रपति रूजवेल्ट के दृष्टिकोण से असहमत एक-दो न्यायाधीशों की मृत्यु हो जाने से सर्वोच्च न्यायालय का बहुमत राष्ट्रपति के दृष्टिकोण का समर्थक हो गया और इस प्रकार के किसी प्रस्ताव की आवश्यकता नहीं रही।

उस समय से लेकर अब तक सर्वोच्च न्यायालय के संगठन और शक्तियों में सुधार की योजना प्रस्तावित नहीं की गयी। वास्तव में, इस प्रकार की किसी योजना को कानूनी रूप देने के लिए संविधान में संशोधन की आवश्यकता होगी और अमरीकी संविधान में संशोधन निश्चित रूप से एक दुष्कर कार्य है।

इसके अतिरिक्त अमरीकी जनता सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान संगठन और उसकी शक्तियों को बनाये रखने के पक्ष में ही है। वे इसे संविधान और नागरिक अधिकारों का रक्षक मानते हैं और सामान्यतया सर्वोच्च न्यायालय ने इसी रूप में कार्य कर अपने लिए महान प्रतिष्ठा और सम्मान अर्जित किया है। अंग्रेज विचारक लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि “अमरीका के संघीय न्यायालय तथा उनसे भी अधिक वहां के सर्वोच्च न्यायालय को जितना सम्मान प्राप्त है, उतना ही संयुक्त राज्य के जीवन पर उनका प्रभाव भी है।”¹

अमरीकी न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

(INDEPENDENCE OF THE AMERICAN JUDICIARY)

सन् 1974 की घटनाओं से अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय और समस्त न्यायपालिका की स्वतन्त्रता अत्यधिक श्रेष्ठ रूप में स्पष्ट हो गयी है। वाटरगेट काण्ड को प्रकाश में लाने और अपराधियों को दण्डित करने के सम्बन्ध में न्यायाधीश जॉन सिरिका की भूमिका महत्वपूर्ण रही और जब ह्वाइट हाउस के ‘टेप’ से सम्बन्धित विवाद सर्वोच्च न्यायालय में उपस्थित हुआ, तो 24 जुलाई, 1974 को सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वसम्मति से राष्ट्रपति को आदेश दिया कि वे ह्वाइट हाउस के 64 टेप और उनसे सम्बन्धित दस्तावेज विशेष महाधिवक्ता लियोन जावोरस्की को सौंप दें। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों की अवहेलना न कर सके। अभी जनवरी '98 में राष्ट्रपति बिल क्लिन्टन न्यायालय में स्वयं उपस्थित हुए और उनसे अदालत में लगातार 6 घण्टे पूछताछ हुई। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि न केवल सिद्धान्त, वरन् व्यवहार में भी अमरीका की राजनीतिक व्यवस्था में न्यायपालिका को सर्वोपरि महत्व प्राप्त है।

1 “The respect in which the federal courts and above all the Supreme Court are held, is hardly surpassed by the influence they exert on the life of the United States.”

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संयुक्त राज्य अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय के संगठन, शक्तियों और भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. "सर्वोच्च न्यायालय संविधान और नागरिक अधिकारों का रक्षक है" इस कथन को दृष्टि में रखते हुए अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों एवं स्थिति की विवेचना कीजिए।
3. "न्यायिक पुनर्विलोकन अमरीकी राजनीतिक जीवन का आधार है" विवेचना कीजिए।
4. न्यायिक पुनर्विलोकन की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। संयुक्त राज्य अमरीका में इसकी कार्य प्रणाली एवं महत्व का वर्णन कीजिए।
5. संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रकृति तथा कार्य पद्धति की विवेचना कीजिए।
6. "न्यायिक पुनर्विलोकन के प्रयोग द्वारा अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय वस्तुतः तृतीय सदन बन गया है" कैसे?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'संयुक्त राज्य अमेरिका में न्यायपालिका को विशेष स्थिति प्राप्त है' स्पष्ट कीजिए।
2. संघीय न्यायपालिका के अन्तर्गत 'व्यवस्थापक न्यायालय' पर टिप्पणी लिखिए।
3. 'जिला न्यायालय' पर टिप्पणी लिखिए।
4. संघीय अपील न्यायालय के गठन और कार्यक्षेत्र को स्पष्ट कीजिए।
5. सर्वोच्च न्यायालय का गठन किस प्रकार होता है?
6. सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।
7. 'न्यायिक पुनर्विलोकन' से आप क्या समझते हैं?
8. न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रमुख आलोचना क्या है?
9. न्यायिक पुनर्विलोकन का महत्व बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. 'हम संविधान के अन्तर्गत हैं, परन्तु संविधान वैसा ही है जैसा न्यायाधीश कहते हैं' यह कथन है :
 (अ) जस्टिस फ्रैंक फर्टर (ब) जस्टिस हूज
 (स) जस्टिस मार्शल (द) इनमें से कोई नहीं
2. अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या है :
 (अ) 11 (ब) 25
 (स) 9 (द) 13
3. अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय को सबसे अधिक महत्वपूर्ण शक्ति कौन-सी प्राप्त है :
 (अ) प्रासम्भिक क्षेत्राधिकार (ब) अपीलीय क्षेत्राधिकार
 (स) न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति (द) परामर्शीय क्षेत्राधिकार
4. अमेरिका में 'संविधान का सन्तुलन चक्र' किसे कहते हैं?
 (अ) सर्वोच्च न्यायालय (ब) राष्ट्रपति
 (स) सीनेट (द) प्रतिनिधि सभा

5. अमेरिका में 'कांग्रेस का तृतीय सदन' किसे कहते हैं?
 (अ) राष्ट्रपति को (ब) मन्त्रिमण्डल को
 (स) सर्वोच्च न्यायालय को (द) सीनेट को
6. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कौन करता है?
 (अ) स्पीकर (ब) सीनेट
 (स) उप राष्ट्रपति (द) राष्ट्रपति
7. 'मारबरी बनाम मेडीसन' विवाद में दिए गए निर्णय (1803) का सम्बन्ध किससे है :
 (अ) विधि का शासन (ब) गैरीमेण्डरिंग
 (स) न्यायिक पुनर्विलोकन (द) सीनेटीय शिष्टाचार
8. 'न्यायिक पुनर्विलोकन' के साथ निम्न में से किस न्यायाधीश का नाम सबसे अधिक प्रमुख रूप से जुड़ा है :
 (अ) जस्टिस ब्रूज (ब) जस्टिस टॉनी
 (स) जस्टिस फ्रैंक फर्टर (द) जस्टिस मार्शल

[उत्तर—1. (ब), 2. (स) एक मुख्य तथा 6 अन्य न्यायाधीश, 3. (स), 4. (अ), 5. (स), 6. (द), 7. (स), 8. (द)]

प्रश्न 9. अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल क्या है?

[उत्तर—आजीवन, एक बार नियुक्ति के बाद सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश आजीवन अपने पद पर बने रह सकते हैं।]

प्रश्न 10. न्यायिक पुनर्विलोकन से क्या तात्पर्य है?

[उत्तर—न्यायिक पुनर्विलोकन का आशय है—सर्वोच्च न्यायालय संघीय या राज्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित ऐसे सभी कानूनों को अवैध घोषित कर सकता है, जो उसकी दृष्टि में संविधान के प्रतिकूल हैं।]

7

दलीय व्यवस्था

(PARTY SYSTEM)

“संविधान-निर्माताओं ने जिस शिला को अस्वीकृत कर दिया था, वह आज अमरीकी शासन पद्धति का मूल आधार बन गयी है।”¹ —मुनरो

अमरीका में राजनीतिक दलों का उदय और विकास

वर्तमान समय में प्रायः सभी व्यक्ति इस बात को स्वीकार करते हैं कि राजनीतिक दलों के बिना प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का संचालन सम्भव नहीं है, किन्तु राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में अमरीकी संविधान-निर्माताओं का दृष्टिकोण यह नहीं था। उन्हें भय था कि राजनीतिक दल जनता के विभिन्न वर्गों में द्वेष और बैर की भावना उत्पन्न करेंगे और इसके परिणामस्वरूप नवजात अमरीकी राष्ट्र तथा उसके प्रजातन्त्र का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। संविधान सभा में मेडिसन ने राजनीतिक दलों की तीव्र भर्त्सना की थी और प्रथम राष्ट्रपति जॉर्ज वाशिंगटन ने अपने विदाई भाषण में अमरीकी जनता को राजनीतिक दलों के विरुद्ध चेतावनी देते हुए कहा था कि “दलगत विद्वेष में सभी के लिए बुराई और हानि छिपी हुई है। अतः प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति का यह सहज कर्तव्य है कि वह ऐसी भावनाओं का दमन करे और उनसे बचे।”

लेकिन वाशिंगटन की यह चेतावनी अमरीकी राजनीति के स्वाभाविक विकास को नहीं रोक सकी। वास्तव में अमरीकी संविधान का निर्माण करने वाले फिलीडेल्फिया सम्मेलन में ही राजनीतिक दल बीज रूप में विद्यमान थे। एक गुट, जिसका नेता एलेक्जेंडर हेमिल्टन था, शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के पक्ष में था। दूसरा गुट, जिसका नेता जैफरसन था, राज्यों की स्वायत्तता और नागरिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। इन दोनों गुटों को क्रमशः फेडरलिस्ट (Federalist) और एण्टी फेडरलिस्ट (Anti-Federalist) के नाम प्राप्त हुए। जैफरसन और हेमिल्टन दोनों ही सशक्त अमरीकी राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे, लेकिन दोनों के मार्ग अलग-अलग थे। इस गुटबन्दी के बावजूद जार्ज वाशिंगटन को सभी पक्षों का सम्मान प्राप्त था और वे सर्वसम्मति से अमरीका के प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। वाशिंगटन शासन को दलीय भावना से ऊपर रखना चाहते थे, इसलिए उनके द्वारा एलेक्जेंडर हेमिल्टन और टॉमस जैफरसन, दोनों को ही मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किया गया, परन्तु उनके मतभेद समाप्त नहीं हो सके और 1776 में जैफरसन ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र देकर अपनी सारी शक्ति ‘एण्टी-फेडरलिस्ट’ जिन्हें ‘डेमोक्रेटिक रिपब्लिकन’ भी कहा जाता है, को संगठित कराने में लगा दी। 1796 के राष्ट्रपति चुनाव के समय दलबन्दी स्पष्टतया उभर उठी और यह स्पष्ट हो गया कि

1 “The stone which the builders rejected, became the chief stone of the corner.”

—W. B. Munro

न केवल नेता, वरन् नागरिक भी दलों में विभक्त हैं। 1796 के राष्ट्रपति चुनाव में फेडरलिस्ट विजयी हुए, परन्तु 1800 के निर्वाचन में फेडरलिस्टों को कड़ा आघात पहुंचा और सत्ता डेमोक्रेटिक रिपब्लिकन दल के हाथों में आ गयी। अनेक कारणोंवश इसी समय से फेडरलिस्ट दल का प्रभाव कम होता गया और 1815 के पश्चात् यह दल राजनीतिक रंगमंच से लुप्त हो गया।

डेमोक्रेट्स और हिग्स (Democrats and Whigs)—फेडरलिस्ट दल के पतन के बाद राजनीतिक रंगमंच पर एकमात्र डेमोक्रेटिक रिपब्लिकन दल रह गया, परन्तु इस दल के नेताओं में भी आपसी मतभेद और सत्ता के लिए संघर्ष था। ऐसी स्थिति में हेनरी क्ले और डेनियल वेबस्टर के नेतृत्व में एक नया दल संगठित हुआ, जिसे अनुदार दल (Whig Party) या राष्ट्रीय गणतन्त्रवादी दल का नाम दिया गया। इस समय डेमोक्रेटिक नेता जैक्सन था और नेशनल रिपब्लिकन दल का नेता जॉन क्विन्सी एडम्स। 1828 में डेमोक्रेटिक नेता जैक्सन राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और उस समय से लेकर 1841 तक यह दल सत्तारूढ़ रहा। 1850 के बाद हिग्स दल की प्रतिष्ठा में तेजी से गिरावट आयी और 1856 तक इसका पूर्ण विघटन हो गया।

रिपब्लिकन और डेमोक्रेट्स (Republicans and Democrats)—19वीं शताब्दी के मध्य में दास-प्रथा की समाप्ति के प्रश्न को लेकर दो विचारधाराओं का उदय हुआ, जिनका प्रतिनिधित्व क्रमशः रिपब्लिकन और डेमोक्रेट्स नामक दलों द्वारा हुआ। ये ही दल अपने मूल नामों के साथ तभी से चले आ रहे हैं। इन दो के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दल बहुत छोटे-छोटे हैं और उनकी शक्ति नगण्य है। इन दलों की नीति और कार्यक्रम में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। अमरीका में दोनों दल लगभग समान रूप से शक्तिशाली हैं और लोकमत कभी एक दल के पक्ष में और कभी दूसरे दल के पक्ष में होता रहता है। 1952 से लेकर 1992 तक की स्थिति का अध्ययन किया जाये, तो यह कहा जा सकता है कि 1960 ई. से 1968 और 1977-80 के काल में राष्ट्रपति पद पर डेमोक्रेटिक पार्टी का अधिकार रहा। शेष समस्त काल में इस पद पर रिपब्लिकन पार्टी का अधिकार रहा, 1992-2000 ई. के वर्षों में राष्ट्रपति पद पर डेमोक्रेटिक पार्टी का अधिकार रहा, लेकिन वर्ष 2000 ई. में राष्ट्रपति पद पर रिपब्लिकन पार्टी के जार्ज बुश निर्वाचित हुए। नवम्बर 2004 ई. में अमरीकी राष्ट्रपति पद, सीनेट, प्रतिनिधि सभा और गवर्नर पद के जो चुनाव सम्पन्न हुए, उन चुनावों के अनुसार स्थिति इस प्रकार है :

राष्ट्रपति पद पर रिपब्लिकन पार्टी के जार्ज बुश पुनर्निर्वाचित हुए हैं।

प्रतिनिधि सभा और सीनेट कांग्रेस के दोनों सदनों में रिपब्लिकन पार्टी को बहुमत प्राप्त हो गया है।

11 राज्यों में गवर्नर पद के जो चुनाव सम्पन्न हुए उनके आधार पर 50 सदस्यों में से 28 राज्यों के गवर्नर पद पर रिपब्लिकन पार्टी का अधिकार है और 22 राज्यों के गवर्नर पद पर डेमोक्रेटिक पार्टी का अधिकार है।

कांग्रेस चुनाव (नवम्बर 2006) और दलीय स्थिति—नवम्बर 2006 ई. में प्रतिनिधि सभा के चुनाव और एक-तिहाई सीनेट सदस्यों के जो चुनाव हुए उसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के दोनों सदनों में दलीय स्थिति निम्न प्रकार है :

प्रतिनिधि सभा (कुल सदस्य 435)—डेमोक्रेट्स—232, रिपब्लिकन—203,

सीनेट (कुल सदस्य 100)—डेमोक्रेट्स—50, रिपब्लिकन्स—49, निर्दलीय—1.

चुनाव की विशेष बात यह थी कि बुश की इराक नीति का समर्थन करने वाले सभी उम्मीदवार चुनाव हार गए और मतदाताओं ने मौजूदा कांग्रेस के सभी डेमोक्रेट सदस्यों को एक बार फिर सदन में भेज दिया।

इस प्रकार वर्तमान समय में स्थिति यह है कि राष्ट्रपति पद पर रिपब्लिकन पार्टी का अधिकार है लेकिन कांग्रेस के दोनों सदनों में डेमोक्रेटिक पार्टी को बहुमत प्राप्त है।

अमरीकन दल प्रणाली की विशेषताएं

अमरीकन दल प्रणाली की विशेषताओं का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) **दलों का संविधानेतर विकास**—अमरीका में 2 राजनीतिक दलों के उद्भव और विकास से यह नितान्त स्पष्ट है कि ब्रिटेन की ही भांति अमरीका की दलीय प्रणाली भी किसी वैधानिक मान्यता से विकसित नहीं हुई है। वस्तुतः अमरीकी संविधान-निर्माता राजनीतिक दलों को शंका की दृष्टि से देखते थे और वे इनके विरोधी थे। अमरीकी संविधान राजनीतिक दलों के विषय में सर्वथा मौन है, किन्तु जनतन्त्रात्मक व्यवस्था का संचालन राजनीतिक दलों के बिना नहीं हो सकता। इसलिए अमरीका में वाशिंगटन के शासन काल में अन्त में ही राजनीतिक दल राष्ट्रीय मंच पर प्रकट हो गये और तभी से वे बराबर अमरीकी राजनीति का संचालन करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल संविधानेतर विकास का परिणाम है।

(2) **द्विदलीय पद्धति**—ब्रिटेन की भांति अमरीका में भी दो ही प्रमुख राजनीतिक दल हैं। इन दो राजनीतिक दलों के नाम बदलते रहे हैं, किन्तु द्विदलीय पद्धति का अस्तित्व सतत बना रहा है। अमरीका में द्विदलीय पद्धति शत-प्रतिशत रूप में विद्यमान है। इसका प्रमाण यह है कि प्रतिनिधि सभा, सीनेट या राज्यों के गवर्नर पद इनमें से किसी में भी इन दो के अतिरिक्त अन्य किसी दल को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। समय-समय पर तीसरे दल भी उत्पन्न हुए हैं, परन्तु इनमें से कोई भी राष्ट्रीय निर्वाचनों में सफलता प्राप्त नहीं कर सका और शीघ्र ही उनका लोप हो गया। इस सम्बन्ध में शैरश्नीडर का कथन है, “जब हम कहते हैं कि अमरीका में दो राजनीतिक दलों की प्रणाली है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि यहां केवल दो दल हैं, वरन् यह है कि यद्यपि राष्ट्रपति पद के लिए एक दर्जन दल अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं पर वास्तव में यहां केवल दो बड़े दल हैं और छोटे दल इतने छोटे हैं कि उन्हें तो प्रायः लोग भूल जाते हैं।” भूतकाल में इस प्रकार के अनेक छोटे राजनीतिक दलों का उदय और विघटन हो चुका है और वर्तमान समय में भी इस प्रकार के कुछ छोटे दल हैं। कृषक वर्ग का असन्तोष व्यक्त करने के लिए ‘ग्रीन बैक’ (Green Back) दल और श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए ‘लेबर रिफॉर्म’ (Labour Reform) दल की स्थापना हुई। इसी प्रकार डेमोक्रेटिक पार्टी के वाम पक्ष के रूप में ‘पापुलिस्ट पार्टी’ (Populist Party) और रिपब्लिकन पार्टी के वाम पक्ष के रूप में ‘प्रोग्रेसिव पार्टी’ (Progressive Party) का उदय हुआ। इसी प्रकार अमरीका में ‘सोशलिस्ट दल’ और ‘साम्यवादी दल’ भी हैं, लेकिन इनमें से किसी भी राजनीतिक दल का राष्ट्रीय स्तर पर कोई प्रभाव या महत्व नहीं है।

द्विदलीय प्रणाली के उदय के कारण—द्विदलीय प्रणाली के उदय के कारणों में सर्वप्रथम पूर्व-परम्परा और अनुभव है। अमरीकावासियों ने अपना राजनीतिक जीवन ब्रिटिश परम्पराओं से आरम्भ किया था और ब्रिटेन द्विदलीय पद्धति का आदि स्थान रहा है। इस प्रकार पूर्व-परम्परा और अनुभव ने अमरीका में द्विदलीय पद्धति को पनपने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

अमरीका में राष्ट्रपति और राज्यों के गवर्नर की निर्वाचन पद्धति ने भी द्विदलीय पद्धति को विकसित करने में ही योग दिया है। राष्ट्रपति अथवा राज्यों में गवर्नर पद पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए उत्सुक दल के लिए निर्वाचक मण्डल का निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करना आवश्यक है और ऐसी स्थिति में दो से अधिक राजनीतिक दलों का प्रभावशाली होना कठिन हो जाता है। मैकमोहन के शब्दों में, “राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रणाली तीसरे दल को हतोत्साहित कर देती है जिसके फलस्वरूप द्विदलीय पद्धति सुदृढ़ हो गयी है।”¹

एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—यह द्विदलीय पद्धति के विकास का एक अन्य कारण है। एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र सदैव ही द्विदलीय पद्धति को प्रोत्साहन देते हैं, क्योंकि इस पद्धति के अन्तर्गत छोटे-छोटे राजनीतिक दलों के लिए विजय प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। अमरीका के सभी निर्वाचकों के लिए एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की पद्धति को ही अपनाया गया है।

अमरीका में किसी भी तीसरे दल का प्रभाव न बढ़ने का एक कारण यह है कि छोटे राजनीतिक दल जिन प्रश्नों को अपनाते हैं, उन प्रश्नों को शीघ्र ही बड़े दल अपना लेते हैं। उनके कार्यक्रम को जब बड़े दल अपना लेते हैं तो छोटे दल आधारहीन हो जाते हैं और अन्ततः उनका लोप हो जाता है। फरग्युसन और मैक्हेनरी ने इस स्थिति की विवेचना इस प्रकार से की है, “आज से दो-तीन शताब्दियों पूर्व वामपंथी दल जिन सिद्धान्तों का समर्थन करते थे, उनका अधिकांश अब डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दलों में शामिल कर लिया गया है। तीसरे दल की गतिविधियों में भाग लेने वाले व्यक्ति शासन पदों पर लाभ भले ही प्राप्त न कर सकें, किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित नीतियाँ जन स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर देश की भूमि के कानून बन जाती हैं।”

देश की राजनीति में दो ही राजनीतिक दलों को प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त होने के कारण दोनों दलों में स्वस्थ राजनीतिक प्रतियोगिता चलती रहती है और दोनों दल अधिकाधिक लोककल्याण का कार्य करने की ओर प्रेरित होते हैं।

(3) विचारधारा सम्बन्धी आधारभूत अन्तरों का अभाव—अमरीका में जब राजनीतिक दलों का उदय हुआ, उस समय उनमें कुछ मूलभूत प्रश्नों पर मतभेद थे, परन्तु धीरे-धीरे नीतियों की दृष्टि से दोनों दल एक-दूसरे के समीप आते गये और आज इन दलों में नीतियों के बारे में कोई मौलिक मतभेद नहीं रह गये हैं। विदेश नीति के क्षेत्र में दोनों दल परस्पर सहमत हैं और इस क्षेत्र में ‘दोनों दलों के बीच एकमतता’ (Bi-partisanship in Foreign Policy) की प्रवृत्ति देखी जा सकती है तथा आन्तरिक क्षेत्र में दोनों दल पूंजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने पर सहमत हैं। लॉस्की ने कहा है कि “कोई मापदण्ड नहीं है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि रिपब्लिकन तथा डेमोक्रेटिक दलों के अलग-अलग स्थायी विचार क्या हैं।” हरमन फाइनर ने भी अमरीकी दलों के विषय में ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं और बियर्ड ने तो इस सम्बन्ध में यहां तक कहा है कि “वहां के मतदाताओं की दशा उन निर्जीव प्राणियों जैसी होती है, जो खाली शब्दों के लिए मतदान करते हैं।” वस्तुतः दोनों दलों

1 “The Centripetalism generated by this office more than any other factor discouraged the development of the multiplicity of parties anticipated by the founders of the constitution.”

—Arthur W. MacMohan (Quoted from William H. Riker, *Democracy in the United States*, pp. 118-19)

के द्वारा चरमतावाद से दूर रहकर मध्यममार्गी नीति को अपनाने का कार्य किया गया है और यही उनके हित में है।

(4) **दलों का शिथिल संगठन**—अमरीकी राजनीतिक दल सदस्यता तथा दलीय अनुशासन की दृष्टि से शिथिल संगठन हैं। अमरीकी राजनीतिक दलों में सदस्यों की भर्ती की न तो कोई निश्चित प्रक्रिया है और न ही राजनीतिक दल के सदस्य सदैव दलीय अनुशासन में बंधकर कार्य करते हैं। अनेक बार एक विशेष राजनीतिक दल के टिकट पर चुने गये प्रतिनिधि अपने दलीय नेता के आदेश पर मतदान करने के बजाय विभिन्न हितों या अपने चुनाव क्षेत्र के मतदाताओं को प्रसन्न करने के लिए मतदान करते हैं। इस प्रकार अमरीकी राजनीतिक दल विभिन्न राजनीतिक विचारधारा वाले व्यक्तियों के ढीले-ढाले संगठन हैं, जिनमें विचारधारा सम्बन्धी एकमतता तथा कठोर दलीय अनुशासन का सर्वथा अभाव रहता है। लॉस्की के शब्दों में “केवल निर्वाचन के समय वे राष्ट्रीय दल हैं, अन्यथा प्रभावशाली स्थानीय संस्थाएं हैं।”

(5) **दबाव गुटों का प्रभाव**—अमरीका में प्रमुख राजनीतिक दल दो ही हैं, लेकिन छोटे-छोटे दबाव गुटों का काफी प्रभाव पाया जाता है। ये गुट दो प्रमुख दलों पर दबाव डालकर अपने हितों को सिद्ध करते रहते हैं।

(6) **लाभ प्रदान करने या लूट की प्रणाली**—अमरीका में दलीय पद्धति से सम्बन्धित ही एक परम्परा लूट प्रणाली या लाभ प्रदान करने की प्रणाली है जिसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रपति के चुनाव में विजयी दल को अधिकार प्राप्त है कि वह पहले से कार्य कर रहे नागरिक सेवा के पदाधिकारियों को पदच्युत कर इन पदों पर अपने समर्थकों की नियुक्ति कर दे। छोटे पैमाने पर तो लाभ प्रदान करने की प्रणाली प्रारम्भ से ही प्रचलित थी, लेकिन 1828 में एण्ड्रयू जैक्सन ने इसे बड़े पैमाने पर अपनाया और यह अमरीकी राष्ट्रीय सरकार का एक आधार बन गयी। राष्ट्रपति जैक्सन ने अपने कार्यकाल के प्रथम वर्ष में ही 700 अधिकारियों और कर्मचारियों को पदच्युत कर दिया और उनके स्थान पर अपने समर्थक व्यक्तियों को नियुक्त कर दिया गया। दलीय आधार पर लाभ प्रदान करने की यह प्रणाली बढ़ती ही गयी और राष्ट्रपति ग्राण्ट के समय तक उसने सभी सीमाएं पार कर लीं। कुछ व्यक्तियों द्वारा इस प्रणाली का समर्थन करते हुए यह कहा जाता है कि इसने प्रजातन्त्र को सरलता प्रदान की है और शासन को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया है, किन्तु वास्तव में ऐसा कहना सही नहीं है। व्यवहार में लूट की प्रणाली ने नागरिक सेवाओं को भ्रष्ट करने का कार्य किया है और इससे प्रशासनिक कार्यकुशलता को तीव्र आघात पहुंचा है।

लूट की प्रणाली पर प्रतिक्रिया उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी और अनेक व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इस स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। 1883 में ‘पेण्डलटन अधिनियम’ के आधार पर ‘लूट प्रणाली’ को सीमित कर दिया गया है, लेकिन अब भी यह संयुक्त राज्य अमरीका में विद्यमान है। वर्तमान समय में न्यायिक सेवाओं, पोस्ट ऑफिस, विशेष एजेंसियों और स्वतन्त्र आयोगों में राष्ट्रपति के अनुग्रह के आधार पर नियुक्ति की जाती है।

दलों का संगठन (Organisation of the Parties)—संयुक्त राज्य अमरीका में दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों का संगठन एक जैसा है। दलों के संगठन को दो भागों में बांटा जा सकता है—स्थायी समितियां तथा अस्थायी समितियां। स्थायी समितियों में दलों की स्थानीय इकाइयों की समितियों से लेकर राष्ट्रीय समिति तथा अनेक समितियां मिलती हैं। इसके

अतिरिक्त चुनाव के समय कुछ अस्थायी समितियों का निर्माण भी किया जा जाता है, लेकिन विशेष महत्व स्थायी समितियों का ही है।

स्थायी दलीय संगठन (Permanent Party Organisation)—दोनों प्रमुख दलों का स्थायी संगठन लगभग समान है और यह पांच-स्तरीय है, जिसकी विवेचना निम्न रूपों में की जा सकती है :

(1) **मतदान जिला समितियाँ (Precinct Committees)**—संयुक्त राज्य अमरीका में स्थानीय दलीय संगठन की इकाई मतदान जिले हैं। मतदान जिलों का आकार, जनसंख्या के घनत्व और मतदाताओं की संख्या पर निर्भर करता है, जिससे चुनाव अधिकारी सरलता से उनका प्रबन्ध कर सकें। मतदान जिले की औसत संख्या 100 से 500 के बीच होती है। अमरीका में लगभग 1 लाख 25 हजार मतदान जिला समितियाँ और इकाइयाँ हैं। मतदान जिले के दलीय अध्यक्ष का कर्तव्य क्षेत्र में मतदाताओं से सम्बन्ध स्थापित करना और उनका समर्थन प्राप्त करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना है। वह अपने क्षेत्र में दल के समर्थकों, अपने मित्रों, आदि के लिए सरकारी नौकरियाँ तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयत्न करता है।

(2) **नगर समितियाँ, कस्बा तथा ग्राम समितियाँ**—नगरों में मतदान जिला समितियों के ऊपर एक वार्ड समिति होती है। वार्ड में से नगर पार्षद चुने जाते हैं, जिनका नगरपालिका और नगर की राजनीति से सम्बन्ध रहता है। नगर समिति वार्ड समितियों तथा मतदान जिला समितियों के कार्यों की निगरानी करती है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय समस्याओं को हल करने के लिए ग्रामीण समितियाँ स्थापित की जाती हैं।

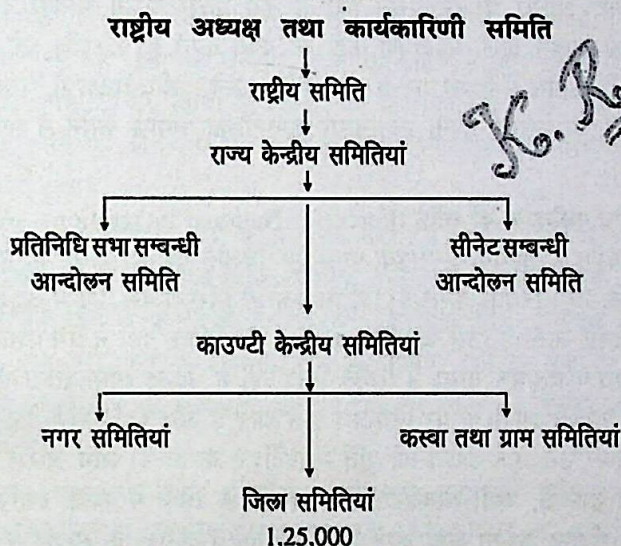
(3) **काउण्टी समितियाँ**—अमरीका में 3,000 से भी अधिक काउण्टियाँ हैं और ये ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों में से प्रत्येक काउण्टी में एक समिति होती है।

(4) **राज्य केन्द्रीय समितियाँ**—अमरीकी संघ में 50 राज्यों में से प्रत्येक में दोनों राजनीतिक दलों की एक केन्द्रीय समिति है। यह अपने समस्त राज्य क्षेत्र में दलीय संगठन की देखभाल करती है। इसके द्वारा राज्यों के पदों और प्रतिनिधि सभा तथा सीनेट के चुनाव आन्दोलन को संगठित किया जाता है। राज्य की केन्द्रीय समिति के कुछ सदस्य निर्वाचित होते हैं और कुछ मनोनीत। समिति के सदस्यों की संख्या राज्य के क्षेत्र और जनसंख्या के अनुसार अलग-अलग होती है। सामान्यतया दल का एक प्रभावशाली सदस्य राज्य की केन्द्रीय समिति का अध्यक्ष होता है।

(5) **राष्ट्रीय समिति (National Committee)**—प्रत्येक दल के शीर्ष पर एक राष्ट्रीय समिति होती है। इसमें प्रत्येक राज्य से दो प्रतिनिधि आते हैं जिसमें एक पुरुष तथा एक स्त्री होती है। इसका निर्वाचन राज्य की केन्द्रीय समिति करती है या राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रतिनिधियों या राज्य सम्मेलन द्वारा होता है। राजनीतिक दल के संगठन में इस राष्ट्रीय समिति का महत्वपूर्ण तथा सर्वोच्च स्थान है। राष्ट्रीय समिति का एक चेयरमैन या अध्यक्ष होता है, जिसे वह व्यक्ति मनोनीत करता है, जोकि दल की ओर से राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार चुना

गया हो। राष्ट्रीय समिति दल के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति की केवल औपचारिक रूप से पुष्टि करती है। राष्ट्रीय समिति अपने अन्य पदाधिकारियों को चुनती है और दल के अध्यक्ष के नेतृत्व में राष्ट्रपति पद के चुनाव अभियान का संचालन करती है।

अमरीका के दोनों ही राजनीतिक दलों के पास पर्याप्त वित्तीय साधन हैं। पूर्व वर्णित दल के संगठन को निम्न चित्र से समझा जा सकता है :



राजनीतिक दलों का कार्यकरण या भूमिका (ROLE OR WORKING OF THE POLITICAL PARTIES)

अमरीकी संविधान के निर्माता राजनीतिक दलों को शंका की दृष्टि से देखते थे और उन्हें भय था कि इससे नवजात अमरीकी राष्ट्र तथा अमरीकी प्रजातन्त्र को आघात पहुंचेगा, किन्तु यह एक तथ्य है कि दल प्रणाली के बिना प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का संचालन नहीं हो सकता और जैसा कि मुनरो ने कहा है कि “संविधान-निर्माताओं ने जिस शिला को अस्वीकृत किया था वह आज अमरीकी प्रजातन्त्र की आधारभूत शिला बन गयी है।” संयुक्त राज्य की शासन पद्धति पर दलों के अत्यधिक प्रभाव का उल्लेख करते हुए ब्राइस ने लिखा है कि “दल संविधान द्वारा स्थापित वैधानिक सरकार के साथ-साथ एक दूसरी ही सरकार बन गयी है, जिसका कानून में कहीं उल्लेख नहीं है। इसे वह डाइनेमो इन्जन कहा जा सकता है, जिससे वैधानिक सरकार अपनी शक्ति प्राप्त करती है। वैधानिक और दल की सरकारें अपने ढांचों में बहुत भिन्न हैं, परन्तु वैधानिक सरकार को अपनी चालक शक्ति इस दलीय सरकार से ही प्राप्त होती है जिसका कोई कानूनी आधार नहीं है।”

अमरीकी शासन-व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) कांग्रेस तथा कार्यपालिका के बीच सहयोग तथा सामंजस्य (Co-operation and Co-ordination between Congress and Executives)—अमरीकी संविधान शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है तथा इसमें व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका

को एक-दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र रखा गया है, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहें, तो शासन व्यवस्था का संचालन सम्भव ही नहीं हो सकता। इन दोनों के बीच अनौपचारिक रूप से सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य राजनीतिक दलों के द्वारा किया जाता है। राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर होता है तथा राष्ट्रपति विभागीय अध्यक्षों की नियुक्ति भी दलीय आधार पर करता है। कांग्रेस के दोनों सदनों के सदस्य भी दलीय आधार पर निर्वाचित होते हैं। इस प्रकार दलीय सम्बन्ध कांग्रेस और कार्यपालिका को जोड़ने वाली महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करते हैं। राष्ट्रपति, जो अपने दल का नेता होता है, कांग्रेस में अपने दल के सदस्यों के सामने, दलीय बैठक में विधायी प्रस्ताव रखता है और साधारणतया अपनी इच्छानुसार कानूनों का निर्माण कराने में सफलता प्राप्त कर लेता है।

(2) राष्ट्रीय एकीकरण की शक्ति (Force for National Integration)—संयुक्त राज्य अमरीका 28 करोड़ से अधिक जनसंख्या वाला एक विशाल देश है, जिसमें विभिन्न जातियों तथा भाषाओं के लोग निवास करते हैं। विविधताओं से परिपूर्ण इस देश में आज जो प्रबल राष्ट्रीय एकता देखी जाती है, उसे विकसित करने में राजनीतिक दलों ने प्रभावशाली भूमिका अदा की है। यद्यपि वर्तमान समय में स्थिति ऐसी नहीं है, किन्तु सामान्यतया एक ही दल को शासन की विभिन्न शाखाओं पर नियन्त्रण प्राप्त होता है और यह सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में बांधकर उसे एक उद्देश्य की पूर्ति में निर्देशित करता है। ऑग और रे का कहना है कि “विभिन्न जातियों, धर्मों, संस्कृतियों एवं व्यवसायों के लोगों में एकता स्थापित करने में राजनीतिक दल सीमेण्ट का-सा कार्य करते हैं।” अमरीकी राजनीति के सन्दर्भ में यह कथन नितान्त सत्य है।

(3) विभिन्न पदाधिकारियों और संस्थाओं के चुनाव को सम्भव बनाना (Makes possible the Election of different Officers and Institutions)—अमरीकी संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रतिनिधि सभा और सीनेट सदस्यों के निर्वाचन की जो व्यवस्था की गयी है, व्यवहार के अन्तर्गत वह राजनीतिक दलों के आधार पर ही कार्य कर रही है। राजनीतिक दलों के अभाव में राष्ट्रपति को निर्वाचक मण्डल के सदस्यों का बहुमत प्राप्त होना बहुत अधिक कठिन होता है और बार-बार प्रतिनिधि सभा द्वारा ही राष्ट्रपति का चुनाव किये जाने पर राष्ट्रपति पद की गरिमा समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार वर्तमान समय में न्यूयार्क और ओहियो जैसे कुछ राज्यों में सीनेट के निर्वाचन क्षेत्र बहुत बड़े हैं और राजनीतिक दलों के बिना उसमें चुनाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

(4) जनता की राजनीतिक शिक्षा (Political Education of the People)—प्रजातन्त्रीय व्यवस्था की सफलता जनता की राजनीतिक शिक्षा पर निर्भर करती है और अन्य देशों के समान ही अमरीका में भी राजनीतिक दल राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के सर्वप्रमुख साधन के रूप में कार्य करते हैं।

(5) राजनीतिक दल भावी राजनीतिज्ञों के चयन का कार्य करते हैं—प्रो. लॉस्की ने अमरीकी राजनीतिक दलों की कड़ी आलोचना की है। उनके द्वारा की गयी आलोचना के दो प्रमुख

आधार हैं। प्रथमतः, अमरीकी राजनीतिक दलों का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है। विचारधारा सम्बन्धी भेद के अभाव में ये दल सत्ता प्राप्ति मात्र के लिए संघर्ष करने वाले गुट बनकर रह गये हैं। द्वितीयतः, अमरीकी राजनीतिक दलों के सदस्य अपने दल के प्रति निष्ठावान नहीं होते और उनके द्वारा दलीय अनुशासन की अवहेलना की जाती है। आलोचना करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि इन राजनीतिक दलों ने ही अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था में लूट की प्रणाली को जन्म दिया है। वर्तमान समय में राजनीतिक दलों के द्वारा राष्ट्रपति और अन्य चुनावों में बहुत अधिक धनराशि व्यय की जाती है और इससे विभिन्न प्रकार की राजनीतिक भ्रष्टाचारों को बढ़ावा मिलता है। यह कहा जा रहा है कि 2000 ई. के राष्ट्रपति चुनावों में, इससे पूर्व के किसी भी चुनाव की तुलना में बहुत बड़ी मात्रा में धन शक्ति का प्रयोग किया गया।

अमरीकी राजनीतिक दलों के प्रति की गयी इन आलोचनाओं में पर्याप्त सत्यता है, लेकिन इसके साथ ही यह तथ्य है कि अमरीकी प्रजातन्त्र राजनीतिक दलों पर ही आधारित है। राजनीतिक दलों के कारण ही संयुक्त राज्य अमरीका अधिनायकवाद और राजनीतिक अस्थिरता तथा अराजकता की स्थितियों से अपने आपकी रक्षा कर सका है। राजनीतिक दलों ने अमरीकी लोकतन्त्र को सजीवता और गतिशीलता प्रदान कर उसके सफल संचालन में योग दिया है।

अमरीका और इंग्लैण्ड की दल प्रणाली की तुलना

(COMPARISON BETWEEN AMERICAN AND BRITISH PARTY SYSTEM)

संयुक्त राज्य अमरीका और इंग्लैण्ड के राजनीतिक दलों में दो प्रमुख समानताएं हैं। प्रथमतः, इन दोनों ही देशों में राजनीतिक दल संविधानेतर विकास के परिणाम हैं। न तो ब्रिटिश संविधान और न ही अमरीकी संविधान में राजनीतिक दलों का कोई उल्लेख किया गया है, किन्तु वर्तमान समय में स्थिति यह है कि राजनीतिक दलों का अध्ययन किये बिना इन दोनों ही देशों की शासन व्यवस्था को भली-भांति नहीं समझा जा सकता। दोनों ही देशों में राजनीतिक दलों को कानूनी स्थिति प्राप्त न होते हुए भी वे शासन-व्यवस्था की आधारशिलाएं हैं।

दोनों देशों के राजनीतिक दलों में अन्य प्रमुख समानता द्विदलीय पद्धति है। दोनों देशों में दो ही राजनीतिक दलों को देश की राजनीति में प्रभावशाली स्थिति प्राप्त है और देश की राजनीति में अन्य राजनीतिक दलों का कोई महत्व नहीं है।

असमानताएं—लेकिन इन दोनों देशों के राजनीतिक दलों में समानताओं की अपेक्षा असमानताएं निश्चित रूप से अधिक महत्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में कौबेल ने कहा है कि “संयुक्त राज्य अमरीका के राजनीतिक दल उद्देश्य व रूप की दृष्टि से इंग्लैण्ड तथा अन्य अधिकांश देशों से भिन्न हैं।”¹ इन दोनों देशों की दल प्रणाली में अग्रांकित प्रमुख अन्तर पाये जाते हैं :

1 “The political parties in the United States of America essentially differ in their aims and character from those in England and most other countries.” —Cowell

(1) विचारधारा के प्रसंग में अन्तर—वर्तमान समय में ब्रिटिश राजनीति में दो प्रमुख दल हैं : अनुदार दल और श्रमिक दल। इन दोनों राजनीतिक दलों में सिद्धान्त और विचारधारा का स्पष्ट अन्तर है। अनुदार दल पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और विद्यमान स्थिति को कम-से-कम परिवर्तनों के साथ बनाये रखने के पक्ष में है, लेकिन श्रमिक दल का उद्देश्य है शान्तिपूर्ण और संवैधानिक पद्धति से प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना, किन्तु अमरीकी राजनीति के प्रमुख दो दलों—रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल—में विचारधारा सम्बन्धी भेद का अभाव है। विदेशनीति या राजनीतिक और आर्थिक जीवन के आदर्शों के सम्बन्ध में इन दोनों राजनीतिक दलों का एकसमान दृष्टिकोण है। फाइजर के विचारानुसार, “ब्रिटेन के अनुदार तथा श्रमिक दलों की स्पष्ट भिन्नता के समान विभिन्न आदर्शों की साधना के आधार पर रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक दो दलों की बीच अन्तर की कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। वास्तव में, इन्हें एक ही दल के दो अंग कहना अधिक उचित होगा जिनको रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक दो विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।” लॉर्ड ब्राइस ने अमरीकी राजनीति के दो दलों की तुलना दो ऐसी खाली बोतलों से की है, जिनमें अलग-अलग पेय के लेबिल लगे हुए हैं। एमरसन की यह पंक्ति भी ब्रिटिश दलों से अमरीकी दलों का भेद ही बताती है कि “साधारणतया हमारे दल (अमरीकी दल) परिस्थितियों के दल हैं, सिद्धान्तों के नहीं।”¹

(2) संगठन और दृष्टिकोण का अन्तर—संगठन और दृष्टिकोण की दृष्टि से ब्रिटिश राजनीतिक दल राष्ट्रीय होते हैं और उनमें बहुत अधिक सुदृढ़ संगठन देखा जा सकता है, लेकिन अमरीकी राजनीतिक दलों में स्थानीयता की प्रवृत्ति प्रबल है। अमरीकी राजनीतिक दल केवल राष्ट्रपति के चुनाव के समय ही राष्ट्रीय रूप धारण करते हैं, अन्यथा वस्तुतः वे स्थानीय और राज्य संगठन ही होते हैं।

(3) अनुशासन की दृष्टि से अन्तर—ब्रिटिश राजनीतिक दल अपने कठिन अनुशासन के लिए सुविख्यात हैं और ब्रिटिश राजनीति में दल के सदस्यों द्वारा दलीय अनुशासन की अवहेलना की घटनाएं बहुत ही कम घटित होती हैं, लेकिन यह कठोर दलीय अनुशासन अमरीकी राजनीतिक दलों के लिए ऐसी ईर्ष्या की वस्तु है, जिसे उनके द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सका है। अमरीकी कांग्रेस के सदस्यों द्वारा अनेक बार अपने दल के नेता के आदेशों-निर्देशों की अवहेलना की जाती रही है।

(4) सक्रियता की दृष्टि से अन्तर—सम्भवतया ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था का यह परिणाम है कि ब्रिटिश दल सदैव सक्रिय रहते हैं, लेकिन अमरीकी राजनीतिक दल राष्ट्रपति के चुनाव के समय ही सक्रिय रहते हैं। एक बार राष्ट्रपति का चुनाव हो जाने के बाद तीन वर्ष से भी अधिक समय तक वे निष्क्रिय बने रहते हैं।

(5) दबाव समूह की दृष्टि से अन्तर—अमरीकी राजनीतिक दलों में दबाव गुट (Pressure groups) बहुत अधिक सक्रिय हैं, लेकिन ब्रिटेन में ऐसा नहीं है।

(6) लूट की प्रणाली का अन्तर—अमरीका में राजनीतिक दलों से ही सम्बन्धित एक लक्षण ‘लूट की प्रणाली’ (Spoils System) है, जिसके द्वारा विजेता दल बहुत बड़ी संख्या में नागरिक सेवाओं से सम्बन्धित पद अपने ही राजनीतिक दल के समर्थकों को प्रदान करता है, किन्तु ब्रिटिश राजनीतिक दलों और उनके व्यवहार में ऐसी किसी पद्धति को नहीं अपनाया गया है।

1 “Primarily our parties are parties of circumstances and not of principles.”

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. संयुक्त राज्य अमरीका की दल प्रणाली और उनके कार्यकरण पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
3. अमरीकी तथा ब्रिटेन की दलबन्दी प्रथा की तुलना कीजिए तथा भेद बताइए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. अमेरिका में द्वि-दल पद्धति के उदय के कारण बताइए।
2. द्वि-दल पद्धति के अतिरिक्त अमेरिका की दलीय व्यवस्था की दो विशेषताएं बताइए।
3. 'अमेरिका के राजनीतिक दलों में विचारधारा सम्बन्धी आधारभूत अन्तरों का अभाव है' स्पष्ट कीजिए।
4. अमेरिका में राजनीतिक दलों के कार्यकरण पर टिप्पणी लिखिए।
5. इंग्लैण्ड और अमेरिका की दलीय प्रणाली में समानताएं बताइए।
6. इंग्लैण्ड और अमेरिका की दलीय प्रणाली में असमानताएं बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. अमेरिकी दल प्रणाली की विशेषता नहीं है :
(अ) नये तुले सिद्धान्तों का अभाव (ब) द्वीला संगठन
(स) लूट प्रथा (द) वैचारिक आधारों पर दलों का गठन
2. पूर्व राष्ट्रपति विल क्लिण्टन का सम्बन्ध किस दल से था :
(अ) रिपब्लिकन पार्टी (ब) डेमोक्रेटिक पार्टी
(स) ग्रीन पार्टी (द) लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी
3. "अमेरिका में दो महान् राजनीतिक दल दो बोटलों के समान हैं, जिन पर दो भिन्न शराबों के लेबल चिपके हुए हैं, परन्तु हैं दोनों खाली" यह कथन किसका है :
(अ) बेजहॉट का (ब) लावेल का
(स) लार्ड ब्राइस का (द) लास्की का
4. अमेरिकी दल प्रणाली की विशेषता है :
(अ) द्वि-दलीय प्रणाली (ब) एकदलीय प्रणाली
(स) दल विहीन प्रणाली (द) बहुदलीय प्रणाली
5. अमेरिकी दल व्यवस्था का लक्षण है :
(अ) कठोर दलीय अनुशासन (ब) सुदृढ़ दलीय संगठन
(स) द्वीला ढाला संगठन (द) विचारधारा सम्बन्धी अन्तर
[उत्तर—1. (द), 2. (ब), 3. (स), 4. (अ), 5. (स)]

प्रश्न 6. 2004 ई. के राष्ट्रपति चुनाव में कौन विजयी हुए और उन्होंने किसे पराजित किया ?
[उत्तर—रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार जार्ज. डब्ल्यू. बुश दुबारा राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए और उन्होंने डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार जॉन कैरी को पराजित किया।]



स्विट्जरलैण्ड का संविधान

1

संविधान का विकास और उसकी विशेषताएं

(CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT AND ITS
CHARACTERISTICS)

“स्विट्जरलैण्ड अशान्ति के समुद्र में शान्ति का दीप है।”¹ —जॉन ब्राउन मैसन

स्विस संवैधानिक व्यवस्था के अध्ययन का महत्व

(IMPORTANCE OF THE STUDY OF SWISS CONSTITUTIONAL SYSTEM)

लगभग 50 लाख जनसंख्या और 16 हजार वर्गमील भूमि का देश स्विट्जरलैण्ड विश्व के सबसे छोटे स्वतन्त्र राज्यों में से एक है, लेकिन अपनी विशिष्ट राजनीतिक संस्थाओं के कारण स्विस संविधान और शासन-व्यवस्था के अध्ययन का निश्चित रूप से बहुत अधिक महत्व है। साधारण व्यक्ति के लिए स्विट्जरलैण्ड विश्व का सबसे प्रमुख प्राकृतिक सौन्दर्य का केन्द्र स्थल, रैड क्रॉस और प्रसिद्ध घड़ियों का निर्माण-स्थल ही है, लेकिन राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए यह इससे बहुत अधिक है। यह प्रजातन्त्र का घर और विश्व की सबसे प्रमुख राजनीतिक प्रयोगशाला है। स्विट्जरलैण्ड की राजधानी बर्न है। संघीय सरकार के मुख्य कार्यालय यहीं पर स्थित हैं। स्विट्जरलैण्ड के संवैधानिक महत्व का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) विश्व का सर्वाधिक प्राचीन गणतन्त्र (Oldest Republic of the World)—स्विट्जरलैण्ड विश्व का सर्वाधिक प्राचीन गणतन्त्रीय राज्य है। सन् 1848 के संविधान द्वारा स्विट्जरलैण्ड में गणतन्त्र की स्थापना हुई, उस समय वह आधुनिक विश्व का अकेला गणतन्त्र था। सन् 1848 के पूर्व भी स्विट्जरलैण्ड में इस प्रकार का राजतन्त्र नहीं रहा, जिस प्रकार का राजतन्त्र इंग्लैण्ड, फ्रांस या सोवियत रूस में था। रैपार्ड इसी बात को दृष्टि में रखते हुए लिखते हैं कि “स्विट्जरलैण्ड युगों से गणराज्य रहा है।”² स्विस नागरिक न केवल वंशानुगत राजा वरन् किसी एक निर्वाचित प्रधान को भी पूर्ण शक्ति प्रदान करने के विरुद्ध रहे हैं और

1 “A happy island in a sea of unrest.”

—John Brown Mason, *Foreign Governments*, p. 388.

2 “Switzerland has been throughout the ages a Republic.”

—Rappard

इस गणतन्त्रीय भावना की अत्यधिक प्रबलता के कारण ही उनके द्वारा एकल कार्यपालिका के स्थान पर बहुल कार्यपालिका को अपनाया गया है। हेन्स हूवर ने लिखा है कि “राजतन्त्रीय ढंग से सोचना स्विट्जरलैण्ड के निवासी के लिए एक विदेशी बात है। किसी शासक की शक्तियों व विशेषाधिकारों के लिए उसके हृदय में कोई गुंजाइश नहीं है, उसके लिए राज्य सब नागरिकों का मामला है.... उसका संचालन न तो वंश-परम्परागत आधार पर हो सकता है और न उसे किसी एक निर्वाचित व्यक्ति के ही सुपुर्द किया जा सकता है।”

(2) प्रजातन्त्र का आदर्श प्रतीक (Best Model of Democracy)—स्विस राजनीतिक व्यवस्था को महत्व प्रदान करने वाला दूसरा तत्व उसका प्रजातन्त्रात्मक लक्षण है। आधुनिक युग में स्विट्जरलैण्ड उसी प्रकार से प्रजातन्त्र का प्रतीक है, जिस प्रकार प्राचीन विश्व में एथेन्स था। स्विस प्रजातन्त्र के नागरिकों को राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने की जितनी सीमा तक शक्ति प्रदान की गयी है, उतनी सीमा तक अन्य किसी लोकतन्त्र में प्रदान नहीं की गयी है। 5 स्विस कैण्टनों में वर्तमान समय में भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है और नागरिकों के द्वारा ‘जन सभाओं’ में कानूनों का निर्माण किया जाता है। लोक-निर्णय और आरम्भक का स्विट्जरलैण्ड में ही उदय हुआ और वर्तमान समय में भी इनका बहुत अधिक सीमा तक पालन किया जाता है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि यदि ब्रिटेन संसदात्मक व्यवस्था का और अमरीका संघात्मक व्यवस्था का जनक है, तो स्विट्जरलैण्ड आधुनिक विश्व में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का घर होने का दावा कर सकता है।

(3) विविधता में एकता (Unity in Diversity)—स्विट्जरलैण्ड ने विविधता के बीच एकता का भी आदर्श उदाहरण उपस्थित किया है। स्विट्जरलैण्ड में भाषा, धर्म और संस्कृति के भेद पाये जाते हैं, लेकिन इन भेदों के बावजूद राष्ट्रीय एकता की भावना बहुत अधिक प्रबल है। स्विट्जरलैण्ड में लगभग 74 प्रतिशत लोग जर्मन, 20 प्रतिशत फ्रेंच, 5 प्रतिशत इटालियन और 1 प्रतिशत रोमन भाषा-भाषी हैं, लेकिन इस भाषा सम्बन्धी विविधता का हल इन सभी भाषाओं को राज-भाषा का स्तर प्रदान कर निकाल लिया गया है। इसी प्रकार वहां लगभग 58 प्रतिशत लोग प्रोटेस्टेण्ट, 40 प्रतिशत रोमन कैथोलिक, 1 प्रतिशत यहूदी और 1 प्रतिशत अन्य हैं, लेकिन इन सभी ने धार्मिक सहिष्णुता और एक-दूसरे के प्रति सम्मान को इतने गहरे रूप में अपना लिया है कि इन धार्मिक भेदों ने राष्ट्रीय एकता को निर्बल करने के बजाय सुदृढ़ ही किया है। भाषायी और धार्मिक भेदों के कारण फूट उत्पन्न न होने का एक कारण यह भी है कि वहां एक ही धर्म के अनुयायियों की भाषाएं अनेक हैं और एक भाषा बोलने वाले लोग अनेक धर्मों के अनुयायी हैं। इसके अतिरिक्त कैण्टनों की सीमाएं भी धर्म तथा भाषा के क्षेत्रों की सीमाओं से भिन्न हैं। इन सबके कारण धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के भेद प्रबल नहीं हो सके हैं और ब्रक्स के शब्दों में, “स्विट्जरलैण्ड ने यह दिखा दिया है कि उन लोगों में भी घनिष्ठ सहयोग की सम्भावना हो सकती है, जो कभी राजनीतिक दृष्टि से परस्पर स्वतन्त्र थे तथा जो आज भाषा व धर्म के द्वारा व्यापक रूप से विभाजित हैं।”

स्विट्जरलैण्ड की विविधता में यह एकता भारत जैसे राज्यों के लिए तो एक उदाहरण है ही, सुदूर भविष्य में एक विश्व राज्य की स्थापना के लिए भी यह एक आदर्श बन सकता है। जॉन ब्राउन मैसन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि “भाषा तथा धर्म सम्बन्धी स्पष्ट विविधता के होते हुए जिस कोटि की राष्ट्रीय एकता स्विट्जरलैण्ड में पायी जाती है, उसने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के अनेक अध्ययनकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है, उन्हें उससे यह प्रमाणित होने

की आशा दिखायी देती है कि उन राष्ट्रों में भी उच्चकोटि का सहयोग सम्भव है, जिनमें संस्कृति सम्बन्धी व्यापक भिन्नता पायी जाती हो तथा जिनमें स्वतन्त्रता की शक्तिशाली परम्परा चली आयी हो।¹

(4) स्थायी तटस्थता (Permanent Neutrality)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से भी स्विट्जरलैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन महत्वपूर्ण है। वर्तमान समय में, जबकि विश्व के विभिन्न राज्य एक-दूसरे का विरोध करने में संलग्न हैं, स्विट्जरलैण्ड ने स्थायी तटस्थता को अपनाकर 'अशान्ति के समुद्र में बसने वाले सुखी द्वीप' की स्थिति प्राप्त करली है। सर्वप्रथम 1815 की वियना कांग्रेस द्वारा स्विट्जरलैण्ड की स्थायी तटस्थता को मान्यता प्रदान की गयी। 1919 की वर्सॉय सन्धि और उसके बाद के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में स्विट्जरलैण्ड ने सदा इस बात पर बल दिया कि स्विट्जरलैण्ड को स्थायी रूप से एक तटस्थ राज्य घोषित किया जाय और सभी राज्यों ने स्विट्जरलैण्ड की इस स्थिति को स्वीकार किया। प्रथम महायुद्ध और द्वितीय महायुद्ध में स्विट्जरलैण्ड ने युद्धरत दोनों पक्षों के साथ समान सम्बन्ध बनाये रखे और हिटलर तथा मुसोलिनी ने भी उसकी तटस्थता को बना रहने दिया। अपनी इस तटस्थता की नीति के कारण ही स्विट्जरलैण्ड ने 2001 ई. तक संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता भी प्राप्त नहीं की, क्योंकि संघ की सदस्यता सदस्य राज्यों को आक्रमणकारी राज्य का विरोध करने का दायित्व सौंपती है। सितम्बर 2002 ई. में ही स्विट्जरलैण्ड ने संघ की सदस्यता प्राप्त की है।

इस सम्बन्ध में हमारे द्वारा भारत की तटस्थता और स्विट्जरलैण्ड की तटस्थता में अन्तर कर लिया जाना चाहिए। भारतीय तटस्थता का तात्पर्य शीतयुद्ध के दो पक्षों में तटस्थता से है और इसे सही अर्थों में 'असंलग्नता की नीति' (Policy of Non-alignment) कहा जाना चाहिए। आधुनिक विश्व के अन्य तथाकथित तटस्थ राष्ट्रों की स्थिति भी यही है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थों में तटस्थ है और उसे विश्व के विभिन्न राज्यों के विवादों से कुछ भी लेना-देना नहीं है। अपनी इस तटस्थता के कारण स्विट्जरलैण्ड को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत अधिक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है और इसी आधार पर इसने परस्पर विरोधी राज्यों के बीच सम्पर्क-सूत्र का कार्य किया है।

अपनी स्थायी तटस्थता के बावजूद स्विट्जरलैण्ड किसी भी आक्रमण से रक्षा के लिए तत्पर और सक्षम है।

(5) बहुल कार्यपालिका (Plural Executive)—सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि कार्यपालिका का संगठन एकल होना चाहिए, जिससे उसके द्वारा शासन-व्यवस्था का संचालन कुशलता के साथ किया जा सके। भारत, ब्रिटेन और अमरीका में एकल कार्यपालिका ही है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में 7 सदस्यों की बहुल कार्यपालिका को अपनाया गया है। यह कार्यपालिका न तो पूर्ण अंशों में संसदात्मक है और न ही अध्यक्षतात्मक, वरन् इसमें दोनों के ही गुणों को ग्रहण करते हुए विश्व के सम्मुख एक नवीन उदाहरण उपस्थित किया गया है।

स्विट्जरलैण्ड का संवैधानिक विकास

(CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT OF SWITZERLAND)

1291 का राज्यमण्डल या स्थायी मैत्री संघ—वर्तमान स्विट्जरलैण्ड के निर्माण की प्रक्रिया और स्विट्जरलैण्ड के संवैधानिक विकास का प्रारम्भ 1291 से समझा जा सकता है जबकि

1 John Brown Mason, *Foreign Governments*, p. 320.

ऊरी, स्वेज और अण्डरवाल्डेन द्वारा आत्मरक्षा हेतु एक राज्यमण्डल (League) की स्थापना की गयी। इसके पूर्व वर्तमान स्विट्जरलैण्ड के क्षेत्र में अलग-अलग कैण्टन थे और उनके बीच कोई समन्वयकारी या एकीकृत सत्ता नहीं थी। इसके पूर्व ये कैण्टन आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग शासकों के अधीन थे, लेकिन 1291 में तीन कैण्टनों ने हैप्सबर्ग शासन से स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए एक राज्यमण्डल की स्थापना की। हैप्सबर्ग शासन द्वारा इन तीनों कैण्टनों को पुनः अपने अधीन कर लेने का प्रयत्न किया गया, लेकिन यह कैण्टन अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने में सफल रहे। इससे प्रोत्साहित होकर अन्य कैण्टन भी राज्यमण्डल की ओर प्रवृत्त हुए और 1353 तक इस राज्यमण्डल में 8 कैण्टन शामिल हो गये। 1648 तक इस राज्यमण्डल में 13 कैण्टन शामिल हो गये, जो सभी जर्मन भाषाभाषी थे। राज्यमण्डल की प्रतिष्ठा में भी निरन्तर वृद्धि हुई और 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि में इसे एक सम्प्रभु राज्य के रूप में मान्यता प्रदान की गयी।

राज्यमण्डल की दुर्बलता (Weakness of Confederation)—यद्यपि यह राज्यमण्डल बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल रहा था, लेकिन राज्यमण्डल निश्चित रूप से बहुत अधिक दुर्बल था। राज्यमण्डल में अपनी कोई स्थायी केन्द्रीय सरकार नहीं थी। इसकी एकमात्र संस्था 'डाइट' (Diet) थी, जिसके समय-समय पर सम्मेलन अवश्य होते थे और उसमें राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर विचार होता था, परन्तु जो कैण्टन बहुमत निर्णय से असहमत हों, उन पर वे निर्णय लागू नहीं होते थे। प्रतिनिधि अपने कैण्टनों द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार ही कार्य करते थे। न कोई संघीय कार्यपालिका थी और न कोई संघीय सेना; न कोई राष्ट्रीय नागरिकता थी और न कोई संघीय जनपदाधिकारी वर्ग। इसके अतिरिक्त विभिन्न कैण्टनों की शासन-प्रणालियों में प्रचुर विभिन्नता थी। 6 कैण्टनों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र था, 3 कैण्टनों में सीमित मताधिकार के साथ प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र और शेष 4 कैण्टन कुलीनतन्त्रात्मक थे। धार्मिक मतभेदों के कारण 1712 में दूसरा गृहयुद्ध छिड़ गया, जिसने स्विस् राज्यमण्डल को बड़ा दुर्बल कर दिया। इसलिए अनेक इतिहासकारों का तो यहां तक मत है कि इस समय स्विस् राज्यमण्डल नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं। ब्रुक्स का कहना है कि "इस समय स्विट्जरलैण्ड का केन्द्रीय शासन 'राज्यमण्डल के विधान' (Articles of Confederation) के अन्तर्गत संचालित संयुक्त राज्य अमरीका के केन्द्रीय शासन से भी अधिक शक्तिहीन था।"

हेल्वेटिक गणराज्य की स्थापना (Establishment of Helvetic Republic, 1798-1815)—इस स्थिति में क्रान्तिकारी फ्रांसीसी सेनाओं ने स्विट्जरलैण्ड पर आक्रमण कर राज्यमण्डल की निर्बलता को नितान्त स्पष्ट कर दिया। विजय के पश्चात् फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों ने पुराने राज्यमण्डल के स्थान पर नवीन गणतन्त्र की स्थापना की और इसे 'हेल्वेटिक गणराज्य' का नाम दिया। यह नवीन गणतन्त्र वास्तव में फ्रांस का एक संरक्षित राज्य था और पेरिस में एक नवीन संविधान बनाकर इस पर लाद दिया गया था। इस नवीन संविधान और उसके अन्तर्गत स्थापित की गयी व्यवस्था के सबसे प्रमुख लक्षण एकात्मकता, केन्द्रीय सत्ता और सुदृढ़ नौकरशाही थे। यह नवीन व्यवस्था स्विट्जरलैण्ड की मूल स्थानीयता की प्रवृत्ति के इतनी अधिक विरुद्ध थी कि इसका विरोध होना नितान्त स्वाभाविक था। शीघ्र ही लगभग समस्त स्विट्जरलैण्ड में इस व्यवस्था के विरुद्ध अशान्ति और विद्रोह फैल गया।

स्विट्जरलैण्ड में पुनः शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से नेपोलियन ने हस्तक्षेप किया और स्विट्जरलैण्ड के 60 प्रतिनिधियों को पेरिस बुलाकर इन्हें फ्रांसीसी परामर्शदाताओं की सहायता से स्विट्जरलैण्ड के लिए एक नवीन संविधान रचने का कार्य सौंपा गया। सन् 1803 में नेपोलियन ने प्रसिद्ध 'एक्ट ऑफ मेडिएशन' (Act of Mediation) की घोषणा की, जिसने हेल्वेटिक गणतन्त्र का अन्त कर नवीन संविधान को क्रियान्वित कर दिया। इस नवीन संविधान के आधार पर बहुत कुछ अंशों में राज्यमण्डल की व्यवस्था को पुनर्जीवित कर दिया गया और कैण्टनों को पर्याप्त सीमा तक स्वायत्तता प्रदान कर दी गयी।

वियना कांग्रेस और नवीन संविधान (Vienna Congress and New Constitution, 1815-1848)—1813 में नेपोलियन की पराजय के पश्चात् यूरोप के संयुक्त राज्यों ने 1814 में स्विस् डायट को एक नया संविधान बनाने के लिए विवश किया। इस नवीन व्यवस्था को 'पैक्ट ऑफ पेरिस' (Pact of Paris) कहा जाता है और 1815 की वियना कांग्रेस ने इस नवनिर्मित संविधान को स्वीकार कर लिया। वियना कांग्रेस ने जहां एक ओर स्विट्जरलैण्ड की आन्तरिक व्यवस्था निर्धारित की, वहां राष्ट्रीय राजनीति में स्विट्जरलैण्ड की स्थायी तटस्थता की घोषणा कर इसकी वैदेशिक स्थिति भी निर्धारित कर दी। वियना कांग्रेस का यह निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था जिसे वर्तमान समय तक मान्यता प्राप्त है। इसी समय स्विस् राज्यसंघ की सदस्य संख्या 22 हो गयी और यह जर्मन, फ्रेंच तथा इटालियन तीन भाषाओं से सम्बन्धित लोगों का बहु-भाषाभाषी राज्य हो गया। पेरिस पैक्ट को इस दृष्टि से प्रतिक्रियावादी कहा जाता है कि इसने स्थानीय स्वायत्तता को अत्यधिक महत्व दिया और संघीय शक्ति को दुर्बल कर दिया।

संघर्ष और केन्द्रवादी शक्तियों की विजय (Struggle and Conquest of Centralizing Forces)—1815 में नवीन व्यवस्था लागू किये जाने के बाद से ही कैण्टनों के मध्य संवैधानिक और धार्मिक मतभेद और उनके परिणामस्वरूप संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष के दो पक्ष थे—एक पक्ष, सुधारवादी प्रोटेस्टेण्ट और दूसरा पक्ष, प्रतिक्रियावादी कैथोलिक कैण्टनों का सुधारवादी पक्ष, जिसे 'रेडिकल्स' (Radicals) का नाम दिया गया, यह अधिक एकात्मकता और केन्द्रीकरण का समर्थक था, लेकिन प्रतिक्रियावादी पक्ष, जिसे 'फेडरलिस्ट्स' (Federalists) का नाम दिया गया, कैण्टनों के लिए अधिकाधिक स्वायत्तता चाहता था। 1847 में यह संघर्ष अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया, जबकि 7 कैथोलिक कैण्टनों ने राज्यमण्डल से पृथक् होकर अपने लिए पृथक् संघ 'सुन्दरबण्ड' (Sunderbund) की स्थापना का प्रयत्न किया। 19 दिन (10-29 नवम्बर 1847) के इस गृहयुद्ध में राज्य संघ की सेनाओं ने कैथोलिक 'कैण्टनों' की सेनाओं को पराजित कर दिया और केन्द्रवादी पक्ष की विजय हुई।

सन् 1848 का संविधान (Constitution of 1848)—युद्ध की समाप्ति पर संघीय डायट ने यह अनुभव किया कि केन्द्रीय सरकार पर्याप्त शक्तिशाली होनी चाहिए, जिससे वह बाहरी आक्रमणों का सामना तथा आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने का कार्य सफलतापूर्वक कर सके। अतः तदनुसार शासन प्रणाली में परिवर्तन करने के लिए फरवरी 1848 में 14 सदस्यों के एक आयोग की नियुक्ति की गयी। लगभग 50 दिन (11 फरवरी—8 अप्रैल 1848) के परिश्रम से इस आयोग ने संविधान का एक प्रारूप तैयार किया, जिस पर 5 अगस्त से 2 सितम्बर तक विभिन्न कैण्टनों में लोकनिर्णय लिया गया।

लोकनिर्णय में जनता द्वारा भारी बहुमत से स्वीकार किये जाने और 22 में से 15½ कैण्टनों द्वारा इसे स्वीकार कर लिये जाने पर नया संविधान 12 सितम्बर, 1848 से लागू कर दिया गया। रैपार्ड के शब्दों में, “इस संविधान ने लगभग साढ़े पांच सदी से चले आ रहे कैण्टनों के संघ को एक राज्य के रूप में परिणत के दिया।”¹

सन् 1874 का पूर्ण संवैधानिक संशोधन (Complete Constitutional Revision of 1874)—सन् 1848 में निर्मित संविधान के अन्तर्गत संविधान के पूर्ण संशोधन और आंशिक संशोधन की व्यवस्था की गयी है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत अब तक संविधान में 57 संशोधन किये जा चुके हैं, लेकिन इसमें पूर्ण संशोधन 1874 में ही किया गया और इसी का सर्वाधिक महत्व है। वर्तमान स्विस शासन-प्रणाली का मूल आधार 1848 में निर्मित और 1874 में संशोधित किया गया संविधान ही है।

सन् 1874 के इस पूर्ण संशोधन (revision) के आधार पर चार दिशाओं में परिवर्तन किये गये : (1) शासन-शक्ति के अधिकांश का केन्द्रीकरण, (2) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रवाद की दिशा में प्रगति, (3) आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में अधिकाधिक राजकीय हस्तक्षेप, तथा (4) धार्मिक महन्तों की शक्ति पर प्रहार तथा समाप्ति। संविधान के इस पूर्ण संशोधन में 1848 के संविधान की 14 धाराएं बिलकुल रद्द कर दी गयीं, 40 संशोधित हुईं तो 21 नई धाराएं अपनायी गयीं। यह संशोधित संविधान 19 अप्रैल, 1874 को जनता तथा राज्यों के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिया गया। यह संशोधित संविधान 11 मई, 1874 से प्रभावी हुआ। पूर्ण संशोधन का एक महत्वपूर्ण कार्य संघीय सरकार की समस्त सेना पर नागरिक सत्ता का पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना था।

1874 के उपरान्त संवैधानिक विकास (Constitutional Development after 1874)—1874 से लेकर अब तक संविधान में अनेक संशोधन हो चुके हैं। संशोधन के परिणामस्वरूप संघीय सरकार की शक्तियों का और केन्द्रीकरण हुआ है और इन संशोधनों ने जीवन के आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में शासन को और अधिक उत्तरदायित्व सौंपे हैं। इसके साथ ही कानून-निर्माण में लोकनिर्णय को अपनाकर लोगों को कानून-निर्माण में पहले से अधिक भूमिका और शक्ति प्रदान की गई है। 1935 में एक आन्दोलन के माध्यम से मांग की गयी कि स्विट्जरलैंड के संविधान में पुनः पूर्ण संशोधन होना चाहिए। इस आन्दोलन के समर्थक चाहते थे कि कैण्टनों की शक्तियों में वृद्धि की जाये, विधानमण्डलों के चुनाव ‘व्यावसायिक प्रतिनिधित्व’ (Vocational Representation) के सिद्धान्त के अनुसार हों और अन्ततोगत्वा स्विट्जरलैंड में एक ‘निगमनात्मक राज्य’ (Corporate State) की स्थापना की जाय, किन्तु यह मांग अस्वीकृत कर दी गयी और वर्तमान समय में स्विस संविधान में पूर्ण संशोधन की कोई सम्भावना नहीं है।

1998 में निर्मित और 1999 में लागू किया गया संविधान

स्विट्जरलैंड की समस्त शासन व्यवस्था का संचालन 1848 में निर्मित और 1874 में ‘पूर्ण संवैधानिक संशोधन’ के आधार पर संशोधित संविधान के आधार पर किया जा रहा था; लेकिन इन 150 या लगभग 125 वर्षों में परिस्थितियां बहुत अधिक परिवर्तित हो गई थीं।

1 “The constitution transformed the league of Cantons, which Switzerland had been for five centuries and a half, into a federal State.”

—W. B. Rappard, *The Government of Switzerland*, p. 2

अतः लगभग 50 वर्षों से संविधान के अनेक प्रावधानों पर पुनर्विचार की आवश्यकता समझी जा रही थी। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक के प्रारम्भ में इस बात को भी समझ लिया गया कि 1848 में निर्मित संविधान के पुनः पूर्ण या आंशिक संशोधन से कार्यसिद्धि नहीं होगी तथा अब तो एक नया संविधान ही निर्मित करना होगा। अन्ततोगत्वा 1997 के अन्तिम दिनों में एक 'संवैधानिक सम्मेलन' आयोजित किया गया। संवैधानिक सम्मेलन ने कुछ महीनों तक व्यापक विचार-विमर्श के आधार पर देश के लिए एक नया संविधान तैयार किया। संघीय शासन ने 18 दिसम्बर, 1998 को इस नवीन संविधान को स्वीकार करने का 'अधिदेश' (decree) जारी किया और 18 अप्रैल, 1999 से स्विट्जरलैण्ड में यह नया संविधान लागू हुआ। आज स्विट्जरलैण्ड की समस्त शासन व्यवस्था 1998 में निर्मित और अप्रैल 1999 में लागू किए गए इस संविधान के आधार पर संचालित हो रही है।

स्विस संविधान की विशेषताएं

(SALIENT FEATURES OF THE SWISS CONSTITUTION)

स्विट्जरलैण्ड विश्व की सबसे प्रमुख राजनीतिक प्रयोगशाला है और उसका संविधान निश्चित रूप से बहुत अधिक मौलिक तथा विलक्षण है। संविधान की इन विशेषताओं ने ही इस छोटे-से देश की संवैधानिक व्यवस्था के अध्ययन को बहुत अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है और समस्त विश्व में राजनीतिक अध्ययन के प्रति रुचि रखने वाले व्यक्ति इसका अध्ययन बहुत अधिक गम्भीरता के साथ करते हैं। स्विस संविधान की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) निर्मित, लिखित और अपेक्षाकृत व्यापक संविधान (Enacted, Written and Comparatively Comprehensive Constitution)—स्विट्जरलैण्ड का संविधान भारत, फ्रांस, अमरीका, आदि देशों के संविधानों की भांति एक निर्मित और लिखित संविधान है।

1848 में निर्मित संविधान जो स्विट्जरलैण्ड में 1998 तक लागू था; एक निर्मित, लिखित और व्यापक संविधान था और अब 1998 में निर्मित तथा 1999 में लागू किया गया संविधान (वर्तमान संविधान) भी एक निर्मित, लिखित तथा व्यापक संविधान है। 1998 में निर्मित संविधान तो पूर्व के संविधान की तुलना में भी अधिक व्यापक है। 1848 में निर्मित और 1874 ई. में पूर्ण संशोधित संविधान में 123 धाराएं और तीन अध्याय थे, वर्तमान संविधान में 195 धाराएं और 4 अध्याय हैं।

स्विस संविधान के इस अपेक्षाकृत बड़े आकार के दो कारण हैं : (1) इसमें अनेक ऐसे विषयों का उल्लेख किया गया है जिनका वास्तव में कोई संवैधानिक महत्व नहीं है। उदाहरण के लिए, मछली मारने, शिकार खेलने, जुआ खेलने, आदि विषयों का भी संविधान में उल्लेख किया गया है; और (2) इसमें संघीय सरकार के अधिकारों तथा संघीय व कैण्टनों की सरकारों के बीच विधायी तथा प्रशासकीय अधिकार क्षेत्र के विभाजन का वर्णन अत्यधिक विस्तार से किया गया है। इस स्थिति को यह सोचकर अपनाया गया है कि स्विट्जरलैण्ड उन संवैधानिक विवादों से लगभग मुक्त रहे, जिनके कारण संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायपालिका इतनी शक्तिशाली हो गई है।

(2) कठोर संविधान (Rigid Constitution)—स्विस संविधान एक कठोर संविधान है अर्थात् उसमें संशोधन करने के लिए सामान्य कानून के निर्माण की प्रक्रिया से भिन्न एक

प्रक्रिया को अपनाना होता है। संघात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाये जाने के कारण संविधान का कठोर होना आवश्यक भी था। व्यवहार के अन्तर्गत यद्यपि संशोधन की प्रक्रिया भारत की व्यवस्था से अधिक जटिल है, परन्तु अमरीका की तुलना में निश्चित रूप से कम कठोर है। इस स्थिति का एक कारण यह भी है कि स्विस व्यक्ति अपने व्यवहार में पर्याप्त लचीले हैं तथा वे आवश्यकतानुसार संविधान में संशोधन करने में संकोच नहीं करते।

(3) प्राचीनतम गणराज्य (Oldest Republic)—स्विट्जरलैण्ड का गणराज्य विश्व का सबसे पुराना है। 1870 तक सान मेरिनो तथा हंसा टाऊन जैसे दो कम महत्वपूर्ण राज्यों के अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड ही यूरोप का एकमात्र गणराज्य था। यूरोप और एशिया के प्रायः सभी देशों में जब स्वेच्छाचारी और निरंकुश राजाओं का शासन था, उस समय भी स्विट्जरलैण्ड के समस्त कैण्टनों में लोकतन्त्रात्मक गणराज्य स्थापित था और वहाँ की जनता को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे, जिनके आधार पर वह शासन तथा शासनाधिकारियों पर पर्याप्त नियन्त्रण रखती थी। वहाँ किसी भी समय राजतन्त्र नहीं रहा। रेपाई का कहना है कि “स्विट्जरलैण्ड युगों से गणतन्त्र रहा है।”

(4) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके साधन (Direct Democracy and its Instruments)—स्विस संविधान के द्वारा लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप में अपनाया गया है। वर्तमान समय में विश्व के अन्य राज्यों में जब प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को अव्यावहारिक मानकर छोड़ दिया गया है, तब भी स्विट्जरलैण्ड के एक पूर्ण कैण्टन (ग्लेरस) और चार अर्द्ध कैण्टनों (ओबवाल्डेन, निड वाल्डेन, इनर अपेनजेल् और आउटर अपेनजेल्) में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था विद्यमान है और इन कैण्टनों में मतदाताओं की सभाओं ‘लैण्ड्सजीमाइण्ड’ (Landsgemeinde) द्वारा कानून-निर्माण का कार्य किया जाता है। इसके अतिरिक्त, स्विट्जरलैण्ड में संघीय स्तर और कैण्टनों के स्तर पर लोकनिर्णय और आरम्भक की प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक पद्धतियों को सफलता के साथ अपनाया गया है। इस प्रकार स्विट्जरलैण्ड को लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। ब्राइस का कथन है कि “वर्तमान लोकतन्त्रीय राज्यों में, जो वास्तविक लोकतन्त्र है, अध्ययन की दृष्टि से स्विट्जरलैण्ड का दावा सबसे बड़ा है। यह सबसे पुराना लोकतन्त्र है क्योंकि इसमें वे समुदाय हैं जिनमें लोकप्रिय शासन उस समय से चला आ रहा है जब संसार के किसी भी अन्य भाग में लोकतन्त्र का नाम नहीं था। इसने लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का विकास किया है और यूरोप के किसी अन्य राज्य की अपेक्षा उन्हें अधिक दृढ़ता से लागू किया है।”¹ जूर्र के शब्दों में, “पिछले वर्षों में स्विट्जरलैण्ड तथा लोकतन्त्र प्रायः समान अर्थों वाले बन गये हैं।”² 1970 तक स्विस लोकतन्त्र की एक विलक्षण बात यह थी कि महिलाओं को मताधिकार से वंचित रखा गया था, लेकिन 8 फरवरी, 1971 से महिलाओं को मताधिकार दे दिया गया और अब 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक स्त्री-पुरुष को यह अधिकार प्राप्त है।

1 “Among the modern democracies, which are true democracies, Switzerland has the highest claim to be studied. It is the oldest, for it contains communities in which popular government, dates back further than it does anywhere else in the world and it has pushed democratic doctrine further and would apply them out more consistently than any other European State.”

—Bryce, *Modern Democracies*, p. 367.

2 “Switzerland and democracy have, in recent years, become almost synonymous.”
—Arnold J. Zurcher, *The Political System of Switzerland*, p. 984.

(5) संघात्मक शासन-व्यवस्था (Federal System of Government)—यद्यपि संविधान में स्विट्जरलैण्ड को एक 'राज्यमण्डल' (Confederation) कहा गया है, किन्तु वास्तव में स्विट्जरलैण्ड एक राज्यमण्डल न होकर 'संघ राज्य' (Federation) ही है। स्विस संविधान में संघात्मक शासन के सभी प्रमुख लक्षणों—लिखित और कठोर संविधान, संविधान द्वारा केन्द्र और इकाइयों में शक्तियों का विभाजन, संघीय न्यायपालिका, राज्यों की नागरिकता और संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व—की व्यवस्था की गयी है।

स्विस संघ में 20 पूर्ण कैण्टन तथा 6 अर्द्ध कैण्टन, इस प्रकार 23 कैण्टन या राज्य हैं। पूर्ण कैण्टन और अर्द्ध कैण्टन में दो बातों की दृष्टि से भेद किया गया है। प्रथम, जहां प्रत्येक पूर्ण कैण्टन को संघीय संसद के द्वितीय सदन सीनेट में 2 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है वहां अर्द्ध कैण्टन को 1 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। दूसरा भेद यह है कि संवैधानिक संशोधन के समय जहां पूर्ण कैण्टन का मत एक गिना जाता है वहां अर्द्ध कैण्टन का मत आधा गिना जाता है। संविधान के द्वारा केन्द्र और कैण्टनों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन अमरीकी पद्धति के आधार पर किया गया है। संविधान में परिसंघ की शक्तियों का वर्णन कर दिया गया है और शेष शक्तियां कैण्टनों की सरकारों को दी गयी हैं। कैण्टनों को अपना अलग संविधान बनाने का अधिकार है, परन्तु उनका संविधान स्विस संविधान के अनुरूप ही होना चाहिए और प्रत्येक कैण्टन के लिए गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली को अपनाना आवश्यक है। यद्यपि संघीय न्यायपालिका को संघीय क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त नहीं है, लेकिन अन्य सभी लक्षणों के विद्यमान होने के कारण इसे एक संघ राज्य कहा जा सकता है।

(6) उदारवादी दर्शन पर आधारित संविधान (Constitution based on Liberal Philosophy)—वर्तमान समय में इंग्लैण्ड, अमरीका, आदि देशों के संविधान उदारवादी या व्यक्तिवादी दर्शन पर आधारित हैं, तो पूर्व सोवियत संघ या चीन, आदि देशों के संविधान समाजवादी दर्शन पर। स्विट्जरलैण्ड के संविधान पर उदारवादी दर्शन का ही प्रभाव है। संविधान का मूल दर्शन यही है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में नागरिक को अधिकतम सम्भव सीमा तक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और राज्य के द्वारा कम-से-कम हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। यद्यपि वर्तमान समय में स्विट्जरलैण्ड में भी राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों का विकास हो रहा है, लेकिन मूल विचार यही है कि नागरिकों को आर्थिक क्षेत्र में अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(7) संसदात्मक और अध्यक्षतात्मक शासन व्यवस्थाओं का समन्वय (Amalgamation of Parliamentary and Presidential System of Government)—सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि प्रजातन्त्र में या तो ब्रिटेन जैसी संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया जा सकता है या अमरीका जैसी अध्यक्षतात्मक व्यवस्था को, लेकिन स्विट्जरलैण्ड की शासन-व्यवस्था एक अपवाद है क्योंकि यह न तो पूर्णतया संसदात्मक सिद्धान्त के अनुकूल है और न ही अध्यक्षतात्मक सिद्धान्तों के। स्विट्जरलैण्ड में व्यवस्थापिका (संघीय संसद) और कार्यपालिका (संघीय सरकार) परस्पर सम्बन्धित हैं, लेकिन इंग्लैण्ड के समान कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं है और व्यवस्थापिका कार्यपालिका को पदच्युत नहीं कर सकती। इसे अध्यक्षतात्मक शासन-व्यवस्था भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें अमरीकी संविधान के समान शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया है। स्विस संविधान द्वारा संसदात्मक और अध्यक्षतात्मक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के मूल गुणों को ग्रहण कर एक नवीन शासन-व्यवस्था को जन्म दिया गया है।

(8) बहुल कार्यपालिका (Plural Executive)—सामान्य विचार यही है कि कार्यपालिका संगठन की दृष्टि से एकल होनी चाहिए, जिससे उसके द्वारा शासन-व्यवस्था के संचालन का कार्य कुशलतापूर्वक किया जा सके, किन्तु स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका शक्ति 7 सदस्यों की एक संघीय सरकार (Federal Govt.) को प्रदान की गयी है और संघीय सरकार (Federal Govt.) के इन सातों सदस्यों की शक्तियां बिल्कुल समान हैं। इसी आधार पर इसे 'बहुल कार्यपालिका' (Plural Executive) कहा जाता है और स्विट्जरलैण्ड में यह बहुल कार्यपालिका सफलता के साथ कार्य कर रही है। इस प्रकार की बहुल कार्यपालिका का एकमात्र अन्य उदाहरण पूर्व सोवियत संघ की 'प्रेजीडियम' थी, लेकिन पूर्व सोवियत संघ और स्विट्जरलैण्ड की शासन-व्यवस्था में आधारभूत अन्तर है। बहुल कार्यपालिका इस बात की प्रतीक है कि स्विट्जरलैण्ड में प्रजातन्त्रीय भावना बहुत गहरी उतरी हुई है।

(9) औपचारिक अधिकार-पत्र तथा अत्यधिक व्यापक रूप में मूल अधिकारों की व्यवस्था (Formal Bill of Rights and Fundamental Rights in a very Comprehensive form)—स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को पूर्व के संविधान (1848 के संविधान) से भी मूल अधिकार प्राप्त थे, किन्तु 1848 के संविधान में औपचारिक अधिकार-पत्र का अभाव था; लेकिन अप्रैल 1999 से लागू वर्तमान संविधान में न केवल एक 'अधिकार-पत्र' (Title 2, Chapter 1) है, वरन् इस अधिकार-पत्र में पहले की तुलना में और विश्व के अन्य किसी भी संविधान की तुलना में बहुत अधिक व्यापक रूप में मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 7 से लेकर 36 तक मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है। मूल अधिकारों से सम्बन्धित प्रथम अनुच्छेद, अनुच्छेद 7 में कहा गया है : 'मानवीय गरिमा का सम्मान किया जाएगा तथा रक्षा की जाएगी।' यह मूल अधिकारों का उद्देश्य है तथा व्यवहार में नागरिक को वे सभी अधिकार (नागरिक, सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक और राजनीतिक) दिए गए हैं जो व्यक्ति के लिए 'गौरव-गरिमापूर्ण जीवन' व्यतीत करने के लिए आवश्यक समझे जा सकते हैं। अनुच्छेद 35 में मूल अधिकारों की वास्तविक रूप में प्राप्ति के लिए कुछ व्यवस्थाएं की गई हैं तथा अनुच्छेद 36 में मूल अधिकारों की सीमाएं निर्धारित की गई हैं। संविधान में ही मूल अधिकारों की सीमाएं इस उद्देश्य से निर्धारित की गई हैं कि मूल अधिकार शासन के मनमाने हस्तक्षेप से मुक्त रहें तथा मुकदमेबाजी की स्थितियां कम से कम पैदा हों।

(10) धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State)—स्विस संविधान के द्वारा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों, सर्वाधिक प्रमुख रूप से अनुच्छेद 15 से धर्मनिरपेक्षता का यह स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। अनुच्छेद 15 सभी नागरिकों को 'धर्म और दर्शन की स्वतन्त्रता' प्रदान करता है तथा इस अनुच्छेद में 4 धाराएं हैं। अनुच्छेद 15(1) के अनुसार, "सभी नागरिकों को धर्म और दर्शन की स्वतन्त्रता की गारण्टी दी जाती है।" अनुच्छेद 15(2) के अनुसार, "सभी व्यक्तियों को अपने धर्म और दार्शनिक विश्वासों के चयन तथा अकेले या अन्य व्यक्तियों के साथ उनके पालन की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।" अनुच्छेद 15(3) धार्मिक समुदाय की सदस्यता प्राप्त करने और धार्मिक उपदेशों (आचार-व्यवहार) के पालन की स्वतन्त्रता प्रदान करता है और अनुच्छेद 15(4) के अनुसार, "किसी भी व्यक्ति पर धर्म विशेष को स्वीकार करने, किसी धार्मिक समुदाय की सदस्यता

1 'Human dignity shall be respected and protected.'

प्राप्त करने, किसी धार्मिक कार्य में सम्मिलित होने या धार्मिक उपदेशों का पालन करने के लिए दबाव नहीं डाला जा सकता।” संविधान धर्म के आधार पर एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच किसी भी प्रकार के भेदभाव का निषेध करता है। पूर्व संविधान के अनुच्छेद 51 में जीसट्स धर्म (ईसाई धर्म की एक शाखा या रोमन कैथोलिक चर्च) और उससे सम्बन्धित संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। यह स्थिति निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्षता के प्रतिकूल थी। वर्तमान संविधान में ऐसी किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया गया है।

(11) संघीय क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन का अभाव (Absence of Judicial Review in Federal Sphere)—संघात्मक शासन व्यवस्था में सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि संघीय न्यायपालिका को भी संविधान की व्याख्या करने और रक्षा करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि संघीय न्यायपालिका संघीय और इकाइयों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा निर्मित कानूनों की संवैधानिकता की जांच करे और यदि वह उन्हें संविधान के प्रतिकूल समझती है तो अवैध घोषित कर दे। इसी को ‘न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार’ कहा जाता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड की संघीय न्यायपालिका को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार आंशिक रूप में ही प्राप्त है। यहां का सर्वोच्च न्यायालय जिसे 1998 में निर्मित संविधान के अन्तर्गत ‘संघीय सर्वोच्च न्यायालय’ (Federal Supreme Court) का नाम दिया गया है, कैण्टनों के कानूनों तथा प्रशासनिक कार्यों को तो अवैध घोषित कर सकता है, परन्तु संघीय कानूनों और प्रशासनिक आदेशों के सम्बन्ध में उसे ऐसा अधिकार नहीं है। नवीन संविधान के अनुच्छेद 189 की धारा 4 में कहा गया है, “संघीय संसद द्वारा निर्मित कानूनों और संघीय शासन के आदेशों को स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। कानूनों के आधार पर अपवादों की व्यवस्था अवश्य ही की जा सकती है।” स्विट्जरलैण्ड में संविधान की रक्षा करने का कार्य न्यायपालिका को नहीं सौंपा गया है। वहां यह कार्य स्वयं जनता द्वारा किया जाता है और जनता लोकनिर्णय के अन्तर्गत संघीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित किसी भी कानून को अवैध घोषित कर सकती है।

(12) बहु-भाषी राज्य (Multi-lingual State)—सामान्यतया विविध भाषाओं वाले देश में भी किसी एक भाषा को राजभाषा का स्तर प्रदान किया जाता है और इसके पीछे यह भावना होती है कि किसी एक ही भाषा को राजकाज की भी भाषा के रूप में अपनाकर राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को अधिक अच्छे रूप में प्राप्त किया जा सकेगा, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में भाषायी विविधता की समस्या को एक दूसरे रूप में हल किया गया है। स्विट्जरलैण्ड में लगभग 74 प्रतिशत लोग जर्मन, 20 प्रतिशत फ्रेंच और 5 प्रतिशत इटालियन भाषाभाषी हैं। इनके अतिरिक्त 1 प्रतिशत व्यक्ति रोमांच नामक आदि भाषा का प्रयोग करते हैं। स्विट्जरलैण्ड में प्रारम्भ से ही समस्त राज्य-कार्य जर्मन, फ्रेंच और इटालियन तीनों भाषाओं में होता था; 1928 के संवैधानिक संशोधन से रोमांच (Romanch) नामक आदि भाषा को भी राजभाषा मान लिया गया है। 1998 में निर्मित संविधान में स्विट्जरलैण्ड की पहले से चली आ रही बहु-भाषाभाषी राज्य की स्थिति को बनाए रखा गया है। इस प्रकार स्विट्जरलैण्ड बहु-भाषाभाषी राज्य है। भारत की तुलना में 1 प्रतिशत जनसंख्या वाले इस राज्य द्वारा 4 भाषाओं को राज्य-कार्य की भाषा के रूप में अपनाना संविधान और शासन की विशेषता तो है ही, यह उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण का भी प्रतीक है।

(13) प्रशासनिक कानून पर आधारित न्यायपालिका (Judiciary based on Administrative Law)—स्विट्जरलैण्ड में इंग्लैण्ड की विधि के शासन की व्यवस्था को नहीं, वरन् यूरोपीय महाद्वीप के अन्य देशों की प्रशासकीय कानून की व्यवस्था को अपनाया गया है, जिसके अन्तर्गत जनसाधारण तथा प्रशासनिक कर्मचारियों के लिए पृथक-पृथक न्यायालय होते हैं। डायसी और अन्य ब्रिटिश लेखक प्रशासकीय कानून और न्याय-व्यवस्था को नागरिक अधिकारों पर एक आघात समझते हैं, परन्तु यदि न्यायाधीश निष्पक्ष हों तो इस प्रकार की न्याय-व्यवस्था को दोषों से मुक्त रखा जा सकता है। अनेक बार तो प्रशासनिक कानून और न्यायालयों की व्यवस्था नागरिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं की और अधिक अच्छे प्रकार से रक्षा कर सकी है।

वस्तुतः स्विट्जरलैण्ड उदारवादी आदर्शों और लोकतान्त्रिक व्यवस्था का श्रेष्ठतम प्रतीक है।

संविधान में संशोधन की प्रक्रिया
(AMENDMENT PROCEDURE OF THE CONSTITUTION)

स्विस संविधान कठोर है, इसमें न केवल साधारण कानून-निर्माण की प्रक्रिया से परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, वरन् ऐसी व्यवस्था की गयी है कि इसमें कैण्टनों और स्विस संघ की जनता की सहमति के बिना भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। स्विस संविधान में दो प्रकार के संशोधन किये जा सकते हैं—पूर्ण संशोधन और आंशिक संशोधन और इन दोनों प्रकार के संशोधनों की प्रक्रिया में कुछ अन्तर है। संशोधन प्रक्रिया के दो चरण हैं—प्रथम, संशोधन प्रस्ताव की प्रस्तावना या उसका आरम्भ और द्वितीय, संशोधन का पुष्टिकरण। ये दोनों चरण इस प्रकार हैं :

संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 192 से 195 में किया गया है। इसके साथ ही संविधान संशोधन के प्रसंग में लोकनिर्णय का प्रावधान है तथा संशोधन प्रस्ताव का प्रारम्भ जनता की पहल पर आरम्भक के आधार पर भी किया जा सकता है। लोक निर्णय या जनमत संग्रह (Referendum) और आरम्भक (Initiative) को संविधान संशोधन के प्रसंग में किस प्रकार अपनाया जाएगा, इसका उल्लेख अनुच्छेद 138 से 142 में किया गया है। इस प्रकार अनुच्छेद 138 से 142 भी संविधान संशोधन की प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं।

संविधान के पूर्ण संशोधन का प्रारम्भ (Initiation of the Total Revision of the Constitution)—पूर्ण संशोधन का तात्पर्य संविधान की पूरी व्यवस्था पर पुनर्विचार से है इससे सम्बन्धित व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 193 में की गई है। संविधान में पूर्ण संशोधन का प्रस्ताव एक लाख स्विस मतदाताओं द्वारा अथवा संघीय संसद के किसी एक सदन द्वारा या संघीय शासन के आदेश से किया जा सकता है। यह प्रस्ताव दो परिस्थितियों में लोक-निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाता है। प्रथम, यदि प्रस्ताव संघीय संसद के किसी एक सदन या संघीय शासन द्वारा प्रस्तावित किया गया है और उसके सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद है। द्वितीय, यदि संशोधन का प्रस्ताव एक लाख मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित किया गया है तो इसे जनता के सम्मुख स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा। यदि संशोधन प्रस्ताव संघीय संसद के किसी एक सदन द्वारा अथवा संघीय शासन के आदेश से प्रस्तावित किया गया है और उस प्रस्ताव की स्वीकृति या अस्वीकृति के सम्बन्ध में दोनों सदनों का एक ही विचार है, तो प्रस्ताव लोक-निर्णय के लिए नहीं भेजा जाता है।

जिन दो परिस्थितियों में प्रस्ताव लोक-निर्णय के लिए भेजा जाता है उनमें जनता बहुमत के आधार पर निर्णय करती है कि संविधान से पूर्ण संशोधन किया जाए या नहीं। यदि मतदाताओं के बहुमत द्वारा निर्णय किया जाए कि संविधान में पूर्ण संशोधन किया जाना चाहिए, तो फिर संघीय व्यवस्थापिका के दोनों सदनों का नवीन निर्वाचन कराया जाता है और नए सिरे से निर्वाचित व्यवस्थापिका संविधान में पूर्ण संशोधन का कार्य करती है।

संविधान के आंशिक संशोधन का प्रारम्भ (Initiation of the Partial Revision of the Constitution)—आंशिक संशोधन का तात्पर्य संविधान की किसी एक या कुछ विशेष धाराओं में ही संशोधन से है। आंशिक संशोधन का प्रारम्भ संघीय संसद के किसी एक सदन द्वारा, संघीय शासन द्वारा या एक लाख मतदाताओं द्वारा किया जा सकता है। यदि यह प्रस्ताव संघीय संसद के एक सदन द्वारा या संघीय शासन द्वारा प्रस्तावित किया गया है तथा इस पर संघीय संसद के दोनों सदनों में मतभेद है तो इस प्रस्ताव को लोक-निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

एक लाख मतदाताओं द्वारा आंशिक संशोधन की प्रस्तावना **सविन्यासित आरम्भक** (Formulated Initiative) या **अविन्यासित आरम्भक** (Unformulated Initiative) के रूप में की जा सकती है। सविन्यासित आरम्भक का तात्पर्य है कि जनता संविधान से सम्बन्धित संशोधन का प्रस्ताव स्वयं तैयार कर संघीय संसद के सम्मुख प्रस्तुत करे। अविन्यासित आरम्भक का तात्पर्य यह है कि जनता एक विशेष प्रकार के संवैधानिक संशोधन के विषय में अपनी इच्छा व्यक्त कर दे और सम्बन्धित विधेयक तैयार करने का कार्य संघीय संसद पर छोड़ दे। अनुच्छेद 139 में प्रावधान किया गया है कि यदि कोई आरम्भक देश की एकता का या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनिवार्य नियमों का सम्मान नहीं करता तो संघीय संसद इस आरम्भक को सम्पूर्ण अंशों में या कुछ अंशों में अवैध घोषित कर देगी।

यदि जनता द्वारा सविन्यासित आरम्भक के रूप में प्रस्ताव संघीय संसद के पास भेजा जाता है तो संघीय संसद इसे लोक-निर्णय के लिए जनता के सम्मुख और कैबिनेटों के सम्मुख प्रस्तुत करेगी। संघीय संसद अपनी ओर से इसकी स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए सिफारिश कर सकती है। यदि संघीय संसद इसकी अस्वीकृति के लिए सिफारिश करती है तो वह अपनी ओर से **वैकल्पिक प्रस्ताव** (Counter Draft) तैयार कर सकती है। जनता और कैबिनेट एक साथ दोनों प्रस्तावों, मूल आरम्भक और वैकल्पिक प्रस्ताव पर मतदान करेंगी। यदि मतदाताओं का बहुमत और कैबिनेटों का बहुमत, इन दोनों में से किसी एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो उस प्रस्ताव को स्वीकृत समझा जाएगा, लेकिन यदि एक प्रस्ताव को जनता के बहुमत की स्वीकृति प्राप्त होती है और दूसरे को कैबिनेटों का बहुमत प्राप्त होता है, तब दोनों ही प्रारूपों को अस्वीकृत समझा जाएगा।

जनता (एक लाख मतदाता) सामान्य सुझाव के रूप में भी संविधान में संशोधन का प्रस्ताव संघीय संसद को भेज सकती है। यदि संघीय संसद सामान्य सुझाव के रूप में प्रस्तुत प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है तो वह आंशिक संशोधन का प्रारूप तैयार कर जनता और कैबिनेटों के सम्मुख लोक-निर्णय के लिए प्रस्तुत करती है, लेकिन यदि यह आरम्भक प्रस्ताव से असहमत है तो भी वह इसे जनता के सम्मुख निर्णय के लिए रखेगी और जनता इस बात का निर्णय करेगी कि प्रस्ताव पर आगे कार्यवाही हो अथवा नहीं। यदि जनता आरम्भक को अपनी स्वीकृति प्रदान करती है तो संघीय संसद आरम्भक प्रस्ताव के सामान्य सुझावों को आधार बनाकर तत्सम्बन्धी विधेयक का प्रारूप तैयार करेगी।

इस प्रकार संशोधन प्रक्रिया का प्रथम चरण 'संशोधन की प्रस्तावना' सम्पन्न होता है।

संशोधन का पुष्टिकरण (Ratification of the Amendment)—संशोधन प्रक्रिया का दूसरा चरण संशोधन की पुष्टि का है और चाहे पूर्ण संशोधन का प्रस्ताव हो या आंशिक संशोधन का, संशोधन के पुष्टिकरण हेतु एक ही प्रक्रिया अपनायी जाती है। संशोधन की पुष्टि हेतु प्रस्ताव को लोकनिर्णय के लिए रखा जाता है। संशोधन तभी पारित समझा जाता है जबकि कैण्टनों के बहुमत तथा स्विस् संघ की जनता के बहुमत द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाय। कैण्टनों के बहुमत का निर्णय करने में पूरे कैण्टन का मत एक तथा अर्द्ध कैण्टन का मत आधा गिना जाता है। इस प्रकार संशोधन पारित समझे जाने के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम 12½ कैण्टनों द्वारा और स्विस् संघ की जनता के बहुमत द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाय। जनता के बहुमत और कैण्टनों के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर संविधान में सम्बन्धित संशोधन हो जाता है।

संशोधन प्रक्रिया का मूल्यांकन

(EVALUATION OF THE AMENDING PROCEDURES)

स्विस् संविधान की संशोधन प्रक्रिया अन्य राज्यों की तुलना में अधिक जनतान्त्रिक है क्योंकि इस संशोधन प्रक्रिया के दोनों ही चरणों (संशोधन की प्रस्तावना और संशोधन की पुष्टि) में जनता को महत्वपूर्ण शक्ति प्रदान की गयी है। इसके अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड में अमरीका के समान न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था नहीं है और इसलिए स्विस् संविधान को गतिशीलता प्रदान करने का कार्य संवैधानिक संशोधनों ने ही किया है, लेकिन इस संशोधन प्रक्रिया की कुछ कमियां हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

(1) यह संशोधन प्रक्रिया बहुत अधिक जटिल है, इसे समझने और व्यवहार में अपनाने, दोनों ही दृष्टियों से यह बात कही जा सकती है।

(2) संशोधन प्रक्रिया के दोनों ही चरणों में जनता के भाग लेने की व्यवस्था होने और संघीय संसद के दोनों सदनों में संवैधानिक संशोधन पर मतभेद होने की स्थिति में संघीय संसद को भंग करने की व्यवस्था होने के कारण यह अपव्ययी और कष्टसाध्य भी हो गयी है।

(3) जनता को संवैधानिक संशोधनों की शक्ति सौंप देना भी उचित नहीं कहा जा सकता। संवैधानिक संशोधनों का कार्य साधारण कानूनों के निर्माण से कठिन होता है और सामान्य जनता विधायकों की तुलना में यह कार्य अधिक अच्छे प्रकार से कर सकती है, ऐसा सोचने का कोई आधार नहीं है।

(4) संशोधन प्रक्रिया में संघीय संसद को महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त न होने के कारण यह संघीय संसद (राष्ट्रीय व्यवस्थापिका) में अविश्वास तथा अनुत्तरदायित्व की भावना का विकास करती है।

(5) संशोधन प्रक्रिया के अन्तर्गत आरम्भक को अपनाते हुए एक लाख मतदाताओं द्वारा आंशिक संशोधन का प्रस्ताव प्रस्तुत करने और इस प्रस्ताव से असहमत होने पर व्यवस्थापिका द्वारा वैकल्पिक प्रस्ताव प्रस्तुत करने की जो व्यवस्था की गयी है, उससे सामान्य जनता तथा संघीय सभा में अनुचित प्रतिस्पर्धा तथा द्वेष की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है।

सैद्धान्तिक रूप में उपर्युक्त कमियां होने पर भी 1848 के संविधान की संशोधन प्रक्रिया को मोटे तौर पर 1998 में निर्मित संविधान के अन्तर्गत भी अपना लिया गया है। इसका आशय यह है कि स्विस् संविधान निर्माता और जनता, अपने संविधान की इस संशोधन प्रक्रिया को ही उपयुक्त मानते हैं।

अमरीकी संविधान की संशोधन प्रक्रिया से तुलना (COMPARISON WITH THE AMENDING PROCEDURE OF THE AMERICAN CONSTITUTION)

अमरीका और स्विट्जरलैण्ड इन दोनों ही देशों के संविधान कठोर हैं। इसके साथ ही इन दोनों देशों में संशोधन प्रक्रिया के दो चरण हैं—संशोधन की प्रस्तावना और संशोधन की पुष्टि। लेकिन अन्य विस्तार की बातों में इन दोनों देशों के संविधानों की संशोधन प्रक्रिया में अन्तर है, जो इस प्रकार हैं :

(1) स्विस् पद्धति में पूर्ण संवैधानिक संशोधन और आंशिक संवैधानिक संशोधन में भेद किया गया है, लेकिन अमरीकी संविधान की संशोधन प्रक्रिया में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है।

(2) स्विट्जरलैण्ड में जनता के द्वारा संविधान में संशोधन का प्रस्ताव प्रस्तावित किया जा सकता है और संशोधन प्रस्ताव तभी पारित होता है, जबकि जनता के बहुमत के द्वारा उसे स्वीकृति प्रदान कर दी जाय, लेकिन अमरीका, भारत, रूस या अन्य देशों में जनता को संवैधानिक संशोधन की प्रस्तावना का अधिकार नहीं दिया गया है। इन देशों में संवैधानिक संशोधन की पुष्टि के लिए लोकनिर्णय की भी व्यवस्था नहीं है। इस प्रकार स्विस् संविधान में संशोधन की प्रक्रिया अमरीका या अन्य किसी भी संविधान की तुलना में अधिक लोकतन्त्रीय है।

(3) स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका द्वारा संशोधन प्रस्तावित किये जाने की व्यवस्था है लेकिन अमरीका या अन्य देशों में ऐसा नहीं है।

(4) स्विट्जरलैण्ड और अमरीका, इन दोनों देशों के संविधान कठोर हैं, लेकिन अमरीकी संविधान में संशोधन की प्रक्रिया स्विस् संविधान में संशोधन की प्रक्रिया से निश्चित रूप से अधिक जटिल है। अमरीका में कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पारित किये जाने पर ही संवैधानिक संशोधन प्रस्तावित होता है और तीन-चौथाई इकाइयों के विधान मण्डलों या तीन-चौथाई इकाइयों के संविधान संशोधन सम्मेलनों द्वारा पारित किये जाने पर संशोधन प्रस्ताव की पुष्टि होती है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में इस सम्बन्ध में संघीय संसद के दोनों सदनों के बहुमत, कैंटनों के बहुमत और जनता के बहुमत की ही आवश्यकता है, इनमें से किसी के द्वारा भी दो-तिहाई, तीन-चौथाई या इस प्रकार के किसी विशेष बहुमत से प्रस्ताव पारित किये जाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार स्विस् पद्धति अपेक्षाकृत सरल है। अमरीका में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था होने के कारण संवैधानिक विकास का छोटा अंश औपचारिक संशोधनों से, लेकिन एक बड़ा अंश न्यायिक व्याख्याओं से सम्पन्न हुआ है। स्विट्जरलैण्ड में न्यायिक पुनर्विलोकन की कोई व्यवस्था नहीं है और वैधानिक विकास का समस्त कार्य औपचारिक संशोधनों से ही सम्पन्न हुआ है तथा आगे भी ऐसा ही होगा।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्विस् संवैधानिक व्यवस्था के अध्ययन के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
2. स्विट्जरलैण्ड के संवैधानिक विकास पर एक निबन्ध लिखिए।
3. स्विट्जरलैण्ड के वर्तमान संविधान की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. स्विट्जरलैण्ड के संविधान की संशोधन प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
5. स्विट्जरलैण्ड के संविधान की संशोधन प्रक्रिया को समझाइए तथा अमरीकी संविधान की संशोधन प्रक्रिया से इसकी तुलना कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्विस् संवैधानिक व्यवस्था के अध्ययन का महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. स्विट्जरलैण्ड के संवैधानिक विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. स्विट्जरलैण्ड के नवीन संविधान की चार प्रमुख विशेषताएं बताइए।
4. 'स्विस् संविधान एक कठोर संविधान है।' स्पष्ट कीजिए।
5. 'स्विट्जरलैण्ड प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का घर है।' स्पष्ट कीजिए।
6. स्विट्जरलैण्ड की 'बहुल कार्यपालिका' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
7. स्विट्जरलैण्ड के वर्तमान संविधान में 'मौलिक अधिकारों' की व्यवस्था पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
8. 'स्विट्जरलैण्ड एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है।' स्पष्ट कीजिए।
9. स्विस् संविधान में संशोधन की प्रक्रिया को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
10. 'स्विट्जरलैण्ड में संघीय क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन का अभाव है।' स्पष्ट कीजिए।
11. स्विस् संविधान की संशोधन प्रक्रिया अमरीकी संविधान की संशोधन प्रक्रिया से किस प्रकार भिन्न है?
12. स्विट्जरलैण्ड की संविधान संशोधन की प्रक्रिया की कोई दो कमियां बताइए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्विट्जरलैण्ड में गणतन्त्र की स्थापना कब हुई थी?
[उत्तर—स्विट्जरलैण्ड में 1848 के संविधान द्वारा गणतन्त्र की स्थापना हुई।]
2. सर्वप्रथम स्विट्जरलैण्ड को स्थायी तटस्थता की मान्यता कब प्रदान की गई थी?
[उत्तर—सर्वप्रथम 1815 की वियना कांग्रेस द्वारा स्विट्जरलैण्ड की स्थायी तटस्थता को मान्यता प्रदान की गई।]
3. स्विट्जरलैण्ड के संवैधानिक महत्व के कोई दो कारण बताइए।
[उत्तर—(1) विश्व का सर्वाधिक प्राचीन गणतन्त्र तथा (2) प्रजातन्त्र का आदर्श प्रतीक।]
4. स्विट्जरलैण्ड के वर्तमान संविधान से पूर्व शासन व्यवस्था का संचालन किस आधार पर किया जा रहा था?
[उत्तर—वर्तमान संविधान से पूर्व शासन व्यवस्था का संचालन 1848 में निर्मित और 1874 में संशोधित संविधान के आधार पर किया जा रहा था।]
5. संघीय शासन ने नवीन संशोधन को स्वीकार करने का अधिदेश (decree) कब जारी किया था?
[उत्तर—संघीय शासन ने 18 दिसम्बर, 1998 को नवीन संविधान को स्वीकार करने का अधिकार जारी किया था।]
6. स्विस् संविधान में संचालक व्यवस्था के कोई दो लक्षण बताइए।
[उत्तर—(1) लिखित एवं कठोर संविधान तथा (2) संविधान द्वारा केन्द्र और इकाइयों में शक्ति विभाजन।]
7. स्विस् संविधान में कितने प्रकार के संशोधन किए जा सकते हैं?
[उत्तर—स्विस् संविधान में दो प्रकार के संशोधन किए जा सकते हैं—पूर्ण संशोधन तथा आंशिक संशोधन।]
8. स्विट्जरलैण्ड के संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख किस अनुच्छेद में किया गया है?
[उत्तर—संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 192 से 195 में किया गया है।]

9. स्विट्जरलैण्ड के संविधान में पूर्ण संशोधन का प्रस्ताव किसके द्वारा किया जाता है ?
[उत्तर—स्विस संविधान में पूर्ण संशोधन का प्रस्ताव एक लाख स्विस मतदाताओं अथवा संघीय संसद के किसी एक सदन द्वारा अथवा संघीय शासन के आदेश से किया जा सकता है।]
10. संविधान में पूर्ण संशोधन से क्या अभिप्राय है ?
[उत्तर—पूर्ण संशोधन का तात्पर्य संविधान की सम्पूर्ण व्यवस्था पर पुनर्विचार से है।]
11. संविधान में आंशिक संशोधन से क्या अभिप्राय है ?
[उत्तर—आंशिक संशोधन का तात्पर्य संविधान की किसी एक या कुछ विशेष धाराओं में संशोधन से है।]
12. 'सविन्यासित आरम्भक' से क्या तात्पर्य है ?
[उत्तर—सविन्यासित आरम्भक का तात्पर्य है कि जनता संविधान से सम्बन्धित संशोधन का प्रस्ताव स्वयं तैयार कर संघीय संसद के सम्मुख प्रस्तुत करे।]
13. 'अविन्यासित आरम्भक' से क्या तात्पर्य है ?
[उत्तर—अविन्यासित आरम्भक का तात्पर्य है कि जनता एक विशेष प्रकार के संवैधानिक संशोधन के विषय में अपनी इच्छा व्यक्त कर दे और सम्बन्धित विधेयक तैयार करने का कार्य संघीय संसद पर छोड़ दे।]
14. संविधान संशोधन के प्रसंग में पूर्ण कैण्टन और अर्द्ध कैण्टन की स्थिति में क्या अन्तर है ?
[उत्तर—संवैधानिक संशोधन पर लिए गए लोक निर्णय में अर्द्ध कैण्टन का मत केवल आधा माना जाता है, जबकि पूर्ण कैण्टन का मत एक समझा जाता है।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "स्विट्जरलैण्ड अशान्ति के समुद्र में शान्ति का द्वीप है।" यह कथन किस विद्वान का है :
(अ) जॉन ब्राउन मेसन (ब) रैपार्ड
(स) हेन्स हूबर (द) ब्राइस
2. वर्तमान विश्व में कौन-सा देश 'प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का घर' होने का दावा कर सकता है :
(अ) ब्रिटेन (ब) अमेरिका (स) स्विट्जरलैण्ड (द) भारत
3. स्विट्जरलैण्ड में कितनी भाषाओं को राजभाषा की स्थिति प्राप्त है :
(अ) एक भाषा को (ब) दो भाषाओं को
(स) तीन भाषाओं को (द) चार भाषाओं को
4. स्विट्जरलैण्ड के सर्वाधिक लोग कौन-सी भाषा बोलते हैं :
(अ) जर्मन (ब) फ्रेंच (स) इटालियन (द) रोमन
5. स्विट्जरलैण्ड ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता कब प्राप्त की है :
(अ) 1945 ई. में (ब) 1989 ई. में
(स) 2002 ई. में (द) 2003 ई. में
6. स्विट्जरलैण्ड के संवैधानिक महत्व का कारण है :
(अ) विश्व का सर्वाधिक प्राचीन गणतन्त्र (ब) बहुल कार्यपालिका
(स) प्रजातन्त्र का आदर्श प्रतीक (द) उपर्युक्त सभी कारण
7. बहुल कार्यपालिका किस देश की विशेषता है :
(अ) अमेरिका (ब) भारत (स) स्विट्जरलैण्ड (द) ब्रिटेन
8. स्विट्जरलैण्ड के 1848 में निर्मित संविधान के अन्तर्गत सर्वप्रथम पूर्ण संशोधन कब किया गया था :
(अ) 1870 में (ब) 1872 में (स) 1874 में (द) 1880 में

9. स्विट्जरलैंड का वर्तमान संविधान कब लागू हुआ :
 (अ) 18 अप्रैल, 1999 से (ब) 20 अप्रैल, 2000 से
 (स) 18 अप्रैल, 2001 से (द) 20 अप्रैल, 2002 से
10. स्विट्जरलैंड के वर्तमान संविधान में कितनी धाराएं और अध्याय हैं :
 (अ) 123 धाराएं और 3 अध्याय (ब) 195 धाराएं और 4 अध्याय
 (स) 198 धाराएं और 5 अध्याय (द) 275 धाराएं और 9 अध्याय
11. स्विट्जरलैंड के नवीन संविधान की विशेषता है :
 (अ) निर्मित, लिखित और अपेक्षाकृत व्यापक संविधान
 (ब) कठोर संविधान
 (स) प्राचीनतम गणराज्य
 (द) उपर्युक्त सभी विशेषताएं
12. स्विट्जरलैंड में महिलाओं को मताधिकार कब से प्रदान किया गया था :
 (अ) 5 जनवरी, 1970 (ब) 8 फरवरी, 1971
 (स) 11 मार्च, 1972 (द) 23 अप्रैल, 1974
13. स्विट्जरलैंड के वर्तमान संविधान के द्वारा कितने वर्ष की आयु प्राप्त नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया गया है :
 (अ) 18 वर्ष (ब) 20 वर्ष (स) 21 वर्ष (द) 25 वर्ष
14. स्विस् संघ में कुल कितने कैण्टन या राज्य हैं :
 (अ) 21 (ब) 22 (स) 23 (द) 24
15. स्विट्जरलैंड में किस प्रकार की व्यवस्था है :
 (अ) संसदात्मक व्यवस्था
 (ब) अध्यक्षतात्मक व्यवस्था
 (स) संसदात्मक एवं अध्यक्षतात्मक शासन व्यवस्थाओं का समन्वय
 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
16. निम्नलिखित में से किस देश का संविधान उदारवादी दर्शन पर आधारित संविधान नहीं है :
 (अ) ब्रिटेन (ब) अमेरिका (स) स्विट्जरलैंड (द) चीन
17. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
 (अ) स्विस् संविधान द्वारा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है
 (ब) स्विस् संविधान में बहुत व्यापक रूप में मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है
 (स) स्विट्जरलैंड में कार्यपालिका शक्ति 7 सदस्यों की संघीय सरकार को प्रदान की गई है
 (द) स्विट्जरलैंड में एकतात्मक शासन व्यवस्था विद्यमान है
18. स्विट्जरलैंड के वर्तमान संविधान की प्रमुख विशेषता है :
 (अ) धर्म-निरपेक्ष राज्य
 (ब) संघीय क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन का अभाव
 (स) प्रशासनिक कानून पर आधारित न्यायपालिका
 (द) उपर्युक्त सभी
- [उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (द), 4. (अ), 5. (स), 6. (द), 7. (स), 8. (स), 9. (अ), 10. (ब), 11. (द), 12. (ब), 13. (अ), 14. (स), 15. (स), 16. (द), 17. (द), 18. (द)]

2

मौलिक अधिकार

(FUNDAMENTAL RIGHTS)

“संवैधानिक अधिकारों में कानून के समक्ष समानता का अधिकार निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।”

—हेन्स हूबर

व्यक्ति और राज्य के आपसी सम्बन्धों की समस्या सदैव से ही बहुत अधिक जटिल रही है और वर्तमान समय की प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में इस समस्या ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है। यदि एक ओर शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए नागरिकों के जीवन पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है तो दूसरी ओर राज्य की शक्ति पर भी कुछ ऐसी सीमाएं लगा देना आवश्यक है जिससे राज्य मनमाने तरीके से आचरण करते हुए, व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और अधिकारों के विरुद्ध कार्य न कर सके। मूल अधिकार व्यक्ति स्वातन्त्र्य और अधिकारों के हित में राज्य की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के श्रेष्ठ उपाय हैं।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने विश्व को स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का सन्देश दिया था। क्रान्ति के उपरान्त फ्रांस की राष्ट्रीय सभा में 1789 के नवीन संविधान में ‘मानवीय अधिकारों की घोषणा’ को शामिल करके नागरिकों के कुछ अधिकारों को संवैधानिक रूप देने की प्रथा प्रारम्भ की। इसके बाद संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में 1791 में प्रथम दस संशोधनों द्वारा व्यक्तियों के अधिकारों को संविधान का अंग बनाया गया। ये संशोधन ही सामूहिक रूप में ‘अधिकार-पत्र’ कहलाए। इसका प्रभाव अन्य यूरोपियन राज्यों के संविधानों पर भी पड़ा।

स्विट्जरलैण्ड के सन् 1848 के संविधान के अन्तर्गत भी नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किए गए थे, किन्तु 1848 के संविधान के अन्तर्गत औपचारिक अधिकार-पत्र का अभाव था। संविधान की लगभग 25 धाराओं में, जो विभिन्न स्थानों पर आई हुई थीं, नागरिक अधिकारों का उल्लेख किया गया था।

नवीन स्विस संविधान के अधिकार-पत्र की विशेषताएं

18 अप्रैल, 1999 से लागू किए गए स्विट्जरलैण्ड के नवीन संविधान में पूर्व की संवैधानिक व्यवस्था की तुलना में बहुत अधिक व्यापक रूप में मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है। नवीन संविधान में मौलिक अधिकारों के लिए पूरा अध्याय रखा गया है तथा संविधान के प्रारम्भ में ही शीर्षक 2, अध्याय 1 के अन्तर्गत व्यापक रूप में मौलिक अधिकारों का वर्णन किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 7 से लेकर अनुच्छेद 36 तक में कुल 30 अनुच्छेदों

में नागरिकों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं अन्य विविध प्रकार के अधिकारों का वर्णन किया गया है। स्विस संविधान के इस अधिकार-पत्र की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं :

1. **सर्वाधिक विस्तृत अधिकार-पत्र**—स्विट्जरलैण्ड के संविधान का प्रथम अध्याय, जिसमें मूल अधिकारों का व्यापक रूप से वर्णन किया गया है, विश्व के अन्य किसी भी संविधान में दिए गए अधिकार-पत्र से विस्तृत है। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में संविधान में कुल 30 अनुच्छेद (अनुच्छेद 7 से अनुच्छेद 36 तक) हैं। मौलिक अधिकारों के अध्याय एक के प्रारम्भ में ही अनुच्छेद 7 में इनके उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'मानवीय गरिमा का सम्मान किया जाएगा तथा रक्षा की जाएगी' मौलिक अधिकारों के इस अध्याय में नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं अन्य विविध प्रकार के अधिकारों का व्यापक रूप में उल्लेख किया गया है जो व्यक्ति के लिए गरिमापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में पूर्ण और स्पष्ट व्यवस्था के इस प्रयास में ही अधिकार-पत्र इतना विस्तृत हो गया।¹

2. **व्यावहारिकता पर आधारित मूल अधिकार**—नवीन स्विस संविधान द्वारा प्रदान किए गए मौलिक अधिकार कोरे सिद्धान्तों की अपेक्षा वास्तविकता पर आधारित और सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी हैं। सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समानता का अधिकार प्रदान करते हुए स्त्रियों और पुरुषों को समान अधिकार प्रदान किए गए हैं। संविधान द्वारा बच्चों एवं युवकों को विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है। सभी नागरिकों को संकट एवं असमर्थता की स्थिति में सहयोग एवं सहायता प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है। भाषा, विज्ञान, कला की स्वतन्त्रता तथा प्राथमिक शिक्षा के अधिकार द्वारा लोगों के शिक्षा एवं भाषा सम्बन्धी हितों की रक्षा का प्रबन्ध किया गया है। संविधान में धर्म एवं दर्शन की स्वतन्त्रता के अधिकार की भी व्यवस्था की गई है ताकि समाज में धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन मिले। इस प्रकार इन अधिकारों द्वारा समाज के सभी वर्गों के व्यक्तियों के हितों को संरक्षण प्रदान करने का प्रयास किया गया है।

3. **मूल अधिकार सीमित हैं, निरंकुश नहीं**—स्विस नागरिकों को संविधान द्वारा प्रदान किए गए मौलिक अधिकार असीमित नहीं हैं, वरन् संविधान में ही उनकी सीमाओं का उल्लेख कर दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 36 में स्पष्ट कर दिया गया है कि मौलिक अधिकारों पर किसी भी प्रकार की सीमा के लिए कानूनी आधार जरूरी है तथा जनहित या अन्य व्यक्तियों के मूल अधिकारों के संरक्षण हेतु ही मौलिक अधिकारों पर किसी भी प्रकार की सीमा या प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। इस प्रकार जनहित एवं अन्य व्यक्तियों के मूल अधिकारों की सुरक्षा के लिए मूल अधिकारों को कानून द्वारा सीमित किया जा सकता है। सारतः मूल अधिकार अलंघनीय हैं।

4. **मूल अधिकारों के कार्यान्वयन की व्यवस्था**—मौलिक अधिकारों का लाभ समाज के सभी व्यक्तियों को मिले और इन अधिकारों के उपयोग द्वारा वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें इसके लिए यह आवश्यक होता है कि अधिकारों की क्रियान्विति हेतु आवश्यक व्यवस्था की जाए। स्विट्जरलैण्ड के संविधान के अनुच्छेद 35 में कहा गया है कि "मौलिक अधिकारों का कार्यान्वयन सम्पूर्ण कानूनी व्यवस्था द्वारा किया जाएगा तथा राज्य के दायित्वों का निर्वहन करने वाले मूल अधिकारों का सम्मान करेंगे और उनको कार्यान्वित करने में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।"

1 "Human dignity shall be respected and protected."

—Article 7.

वर्तमान संविधान में मौलिक अधिकार

(THE FUNDAMENTAL RIGHTS IN THE PRESENT CONSTITUTION)

स्विट्जरलैण्ड के वर्तमान संविधान के प्रथम अध्याय में अनुच्छेद 7 से 36 तक में मौलिक अधिकारों का व्यापक रूप से उल्लेख किया गया है। वर्तमान संविधान में दिए गए अधिकार इस प्रकार हैं :

1. मानवीय गरिमा (Human Dignity)—स्विट्जरलैण्ड के वर्तमान संविधान में मानवीय गरिमा के सम्मान एवं सुरक्षा पर बल दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 7 में कहा गया है कि मानवीय गरिमा का सम्मान व सुरक्षा की जाएगी। सम्भवतया इसकी प्रेरणा 10 दिसम्बर, 1948 ई. के 'मानवीय अधिकारों के सार्वलौकिक घोषणा-पत्र' (Universal Declaration of Human Rights) के प्रथम अनुच्छेद से प्राप्त की गई है। जिसमें कहा गया है कि "सभी मानव स्वतन्त्र उत्पन्न हुए हैं और गरिमा तथा अधिकारों में समान हैं। उन्हें प्रकृति से विवेक तथा विश्वास प्राप्त हुआ है तथा उनके द्वारा एक-दूसरे के प्रति भाईचारे की भावना के आधार पर आचरण किया जाना चाहिए।"

2. कानून के समक्ष समानता (Equality before the Law)—अनुच्छेद 8(i) के अनुसार, "सभी स्विस नागरिक कानून के समक्ष समान हैं।" किसी भी व्यक्ति के साथ विशेष रूप से जन्म, जाति, लिंग, आयु, भाषा, सामाजिक स्थिति, जीवन शैली, धर्म, दार्शनिक या राजनीतिक धारणाओं अथवा शारीरिक या मानसिक अयोग्यताओं के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

स्त्रियों एवं पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त है। विधि निर्माण द्वारा विशेष रूप से परिवार, शिक्षा एवं कार्य के क्षेत्र में कानून एवं व्यवहार में समानता सुनिश्चित की जाएगी। स्त्रियों एवं पुरुषों को समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान किया जाएगा। इस प्रकार का कानून बनाया जाएगा जो विकलांगता के कारण उत्पन्न होने वाली अयोग्यताओं को समाप्त कर दे।

3. स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध संरक्षण और सद्भाव के सिद्धान्त (Protection against Arbitrariness and Principle of Good Faith)—संविधान का अनुच्छेद 9 प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्रदान करता है कि राज्यांग (राज्य द्वारा) उसके साथ बिना किसी मनमानी या स्वेच्छाचारिता के सद्भावना पूर्वक व्यवहार किया जाए।

4. जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Live and personal Freedom)—अनुच्छेद 10 में जीवन के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई है। इसमें कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है तथा मृत्युदण्ड निषिद्ध अथवा वर्जित है। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। विशेष रूप से शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता एवं भ्रमण की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है। किसी के प्रति क्रूर, हिंसक और अमानवीय या निम्नस्तर का व्यवहार या दण्ड निषिद्ध अथवा वर्जित है।

5. बच्चों एवं युवकों को संरक्षण (Protection of Children and Young People)—अनुच्छेद 11 में बच्चों एवं युवाओं को विशेष संरक्षण की व्यवस्था की गई है। इसमें कहा गया है कि बच्चों एवं युवकों को उनकी सुस्वस्थता एवं उनके विकास को बढ़ावा देने का अधिकार प्राप्त है। वे अपनी योग्यता या क्षमता के अनुरूप इस अधिकार का उपयोग कर सकेंगे।

6. संकट में सहायता प्राप्त करने का अधिकार (Right to Aid in Distress)—संविधान का अनुच्छेद 12 व्यक्तियों को संकट एवं असमर्थता की स्थिति में जब वे अपनी देखभाल स्वयं नहीं कर पाते हैं, सहयोग एवं सहायता का अधिकार प्रदान करता है और उन्हें उतने साधन प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है कि वे सम्मानपूर्वक अपना जीवनयापन कर सकें।

7. एकान्तता अथवा गोपनीयता का अधिकार (Right to Privacy)—स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को संविधान के द्वारा पारिवारिक स्वतन्त्रता तथा घरों की सुरक्षा का अधिकार भी प्रदान किया गया है जिससे व्यक्ति अपना पारिवारिक और सामाजिक जीवन सम्मानपूर्वक व्यतीत कर सके। अनुच्छेद 13 के अनुसार सभी व्यक्तियों को अपने निजी एवं पारिवारिक जीवन को सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार है। उन्हें घर, डाक एवं दूरसंचार की गोपनीयता का भी अधिकार प्रदान किया गया है। सभी व्यक्तियों को उनके अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित ब्यौरे का दुरुपयोग करने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की गई है।

अनुच्छेद 14 के द्वारा नागरिकों को 'विवाह एवं परिवार के अधिकार की गारन्टी' प्रदान की गई है।

8. धर्म एवं दर्शन की स्वतन्त्रता (Freedom of Religion and Philosophy)—नवीन संविधान के अन्तर्गत धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को अपनाते हुए सभी नागरिकों को समान रूप से धर्म एवं दर्शन की स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 15 के द्वारा सभी लोगों को धर्म एवं दर्शन की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है। सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्र रूप से अपने धर्म एवं दर्शन की धारणाओं के चयन की स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान किया गया है तथा उन्हें इसे व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अन्य लोगों के साथ प्रकट करने का अधिकार है।

सभी लोगों को धार्मिक समुदायों की सदस्यता प्राप्त करने एवं धार्मिक शिक्षाओं अथवा उपदेशों के अनुसरण का अधिकार भी प्रदान किया गया है।

किसी भी व्यक्ति को किसी धार्मिक समुदाय की सदस्यता या किसी धार्मिक कार्य में सम्मिलित होने अथवा धार्मिक शिक्षाओं का अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा।

संविधान धर्म के आधार पर नागरिकों के मध्य किसी भी प्रकार के भेदभाव का निषेध करता है।

9. विचार (मत) एवं सूचना की स्वतन्त्रता (Freedom of opinion and Information)—नवीन संविधान के अनुच्छेद 16 के द्वारा नागरिकों को विचार (मत) एवं सूचना की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है। सभी नागरिकों को स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों का निर्माण करने, उन्हें अभिव्यक्त करने तथा उनका प्रचार करने की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है।

सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्र रूप से सूचना प्राप्त करने, सामान्यतया उन्हें आसान तरीकों से इकट्ठा करने तथा उनका प्रचार करने का अधिकार है।

10. मीडिया (प्रेस, रेडियो, टेलीविजन आदि) की स्वतन्त्रता (Freedom of the media)—संविधान के अनुच्छेद 17 के द्वारा प्रेस, रेडियो, टेलीविजन एवं कार्यक्रमों को बनाने एवं सूचनाओं के सार्वजनिक प्रसारण के अन्य साधनों की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है। सेन्सर व्यवस्था को प्रतिबन्धित किया गया है तथा सम्पादकीय गोपनीयता की गारन्टी प्रदान की गई है।

11. भाषा की स्वतन्त्रता (Freedom of Language)—नवीन संविधान के अनुच्छेद 18 के द्वारा भाषा की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है।

12. प्राथमिक शिक्षा का अधिकार (Right to Primary Education)—अनुच्छेद 19 के द्वारा नागरिकों को पर्याप्त एवं मुफ्त प्राथमिक शिक्षा के अधिकार की गारन्टी प्रदान की गई है।

13. विज्ञान की स्वतन्त्रता (Freedom of Science)—अनुच्छेद 20 के द्वारा वैज्ञानिक शोध एवं शिक्षण की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है।

14. कला की स्वतन्त्रता (Freedom of Art)—अनुच्छेद 21 के द्वारा कला की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है।

15. सभा या सम्मेलन की स्वतन्त्रता (Freedom of Assembly)—संविधान के अनुच्छेद 22 के द्वारा नागरिकों को सभा या सम्मेलन की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है। प्रत्येक व्यक्ति को सभा या सम्मेलन को आयोजित करने, उसमें भाग लेने अथवा उससे अलग रहने का अधिकार प्राप्त है।

16. संघ की स्वतन्त्रता (Freedom of Association)—संविधान के अनुच्छेद 23 के द्वारा संघ या संगठन बनाने की स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान की गई है। प्रत्येक व्यक्ति को संघ या संस्था का निर्माण करने, उसमें सम्मिलित होने या भाग लेने और उसकी गतिविधियों में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त है। किसी भी व्यक्ति को किसी संगठन में सम्मिलित होने या उससे सम्बन्ध रखने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा।

17. अधिवास (निवास) की स्वतन्त्रता (Freedom of Domicile)—संविधान के अनुच्छेद 24 के अनुसार स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को अपने देश में कहीं पर भी निवास करने का अधिकार है। उन्हें स्विट्जरलैण्ड से बाहर जाने अथवा वापस लौटने का भी अधिकार प्रदान किया गया है।

18. जबरदस्ती या बलपूर्वक निष्कासन, प्रत्यर्पण एवं स्थानान्तरण से संरक्षण (Protection against Expulsion, Extradition and Removal by Force)—संविधान के अनुच्छेद 25 के अनुसार स्विट्स नागरिकों को जबरदस्ती देश से निष्कासित नहीं किया जा सकता है। उन्हें केवल उनकी इच्छा से ही विदेशों में प्रत्यर्पित किया जा सकता है।

शरणार्थियों को भी जबरदस्ती देश के बाहर स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता है अथवा उन्हें उन देशों में प्रत्यर्पित नहीं किया जा सकता है, जहां उनका उत्पीड़न किया जाता हो।

किसी भी व्यक्ति को उस देश में स्थानान्तरित नहीं किया जाएगा। जहां उसको क्रूरता के साथ प्रताड़ित करने अथवा उसके साथ क्रूर एवं अमानवीय व्यवहार किए जाने अथवा दण्ड दिए जाने की सम्भावना हो। इतने अधिक व्यापक रूप में शरणगत का अधिकार सम्पूर्ण विश्व में 'केवल स्विट्स संविधान' द्वारा ही प्रदान किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थ देश ही ऐसा कर सकता है।

19. सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)—व्यक्ति के द्वारा श्रेष्ठता के साथ सामाजिक जीवन व्यतीत किया जा सके, इसके लिए उसे उचित मात्रा में सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त होना आवश्यक होता है। स्विट्जरलैण्ड के संविधान द्वारा भी इस अधिकार की उचित व्यवस्था की गई है। सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करते हुए संविधान के अनुच्छेद 26 के द्वारा सम्पत्ति के अधिकार की गारन्टी प्रदान की गई है। किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति अथवा उसके स्वामित्व का अधिग्रहण करने पर उसे उस सम्पत्ति का पूर्ण मुआवजा प्रदान किया जाएगा।

20. आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)—संविधान का अनुच्छेद 27 नागरिकों को आर्थिक स्वतन्त्रता की गारन्टी प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से व्यक्ति को अपना व्यवसाय चुनने, उसकी स्वतन्त्र रूप से अभिवृद्धि करने एवं अपने आर्थिक क्रिया-कलापों को स्वतन्त्र रूप से निष्पादित करने की स्वतन्त्रता शामिल है।

21. संघ से जुड़ने (संगठित होने) की स्वतन्त्रता (Freedom to Unionize)—संविधान के अनुच्छेद 28 के द्वारा श्रमिक नियोजकों एवं उनके संगठनों को अपने हितों की रक्षा के लिए संघ से जुड़ने (संगठित होने) का अधिकार प्रदान किया गया है। इसके लिए उन्हें संघ बनाने एवं उसमें सम्मिलित होने अथवा उनसे बाहर रहने का अधिकार प्राप्त है। विवादों का निराकरण यथासम्भव वार्ता एवं मध्यस्थता द्वारा किया जाएगा।

हड़ताल एवं तालाबन्दी की अनुमति तभी प्रदान की जाएगी, जबकि वे मजदूर हितों से सम्बन्धित हों तथा मजदूरों के मध्य शान्ति और सुलह के दायित्वों के प्रतिकूल न हों।

विधि निर्माण के द्वारा कुछ विशिष्ट वर्गों के लोगों के लिए हड़ताल करने पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है।

22. सामान्य प्रक्रिया की गारन्टी (General Procedural Gurantees)—अनुच्छेद 29 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के साथ कानूनी अथवा प्रशासकीय कार्यवाहियों में समान एवं निष्पक्ष रूप से व्यवहार किया जाएगा और व्यक्तिगत समय में उसका निर्णय प्रदान किया जाएगा। सभी पक्षों को सुना जाएगा तथा यदि किसी व्यक्ति के पास आवश्यक साधन उपलब्ध नहीं हैं और उसके मुकदमा जीतने की सम्भावना है तो उसे मुफ्त कानूनी सहायता उपलब्ध करवाई जाएगी। लोगों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए भी आवश्यक मुफ्त कानूनी सहायता प्राप्त करने का अधिकार है।

23. कानूनी कार्यवाही की गारन्टी (Gurantee of Legal Proceedings)—अनुच्छेद 29^d के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपने कानूनी विवादों का निर्णय न्यायिक सत्ता द्वारा करवाने का अधिकार प्रदान किया गया है। संघ एवं कैप्टन कुछ अपवादस्वरूप मामलों को न्यायिक कार्यवाही से मुक्त रख सकते हैं।

24. न्यायिक कार्यवाहियाँ (Judicial Proceedings)—अनुच्छेद 30 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जिसके मुकदमे का निर्णय न्यायिक कार्यवाही के द्वारा होना है, उसे यह अधिकार है कि उसका निर्णय ऐसे न्यायालय के द्वारा हो जो कानून द्वारा निर्मित हो, जिसका अपना क्षेत्राधिकार हो तथा जो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष हो। आपवादिक ट्रिब्यूनल प्रतिबन्धित होंगे।

किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध यदि कोई दीवानी मुकदमा लाया जाता है तो उसे यह अधिकार है कि न्यायालय के द्वारा उसके निवास से निकटतम स्थान पर मुकदमे की सुनवाई की जाए। विधि निर्माण द्वारा उसे दूसरा क्षेत्राधिकार दिया जा सकता है।

न्यायालय द्वारा मुकदमों की सुनवाई सार्वजनिक रूप से की जाएगी तथा निर्णय भी सार्वजनिक रूप से घोषित किए जाएंगे। विधि निर्माण द्वारा इसके कुछ अपवाद हो सकते हैं।

25. बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)—अनुच्छेद 31 के अनुसार सविधि द्वारा प्रदत्त मामलों एवं प्रकारों के अलावा किसी भी व्यक्ति को उसकी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जाएगा।

ऐसे सभी लोगों को जिन्हें उनकी स्वतन्त्रता से वंचित किया जाता है, उन्हें यह अधिकार है कि उन्हें उनकी समझ में आने वाली भाषा में उनको बन्दी बनाए जाने के कारणों एवं उनके अधिकारों के बारे में तुरन्त सूचित किया जाए। उन्हें यह अवसर प्रदान किया जाना चाहिए कि वे अपने अधिकारों की मांग कर सकें। विशेषतः उन्हें यह अधिकार प्राप्त है कि उनके निकटतम सम्बन्धियों को सूचित किया जाए।

प्रत्येक व्यक्ति जिन्हें निवारक निरोध में रखा जाता है, उसे यह अधिकार है कि उसे बिना किसी देरी के जज के समक्ष ले जाया जाए। जज यह निर्णय करेगा कि उसे बन्दी रखा जाए या छोड़ दिया जाए। प्रत्येक व्यक्ति जिसे निवारक निरोध में रखा जाता है, उसे यह अधिकार होगा कि उसे एक व्यक्तिव्यक्त समय में निर्णय प्रदान किया जाए।

ऐसे सभी व्यक्ति जिन्हें बिना किसी जांच या विचारण के उनकी स्वतन्त्रता से वंचित कर दिया जाता है, उन्हें न्यायालय में जाने का अधिकार है और न्यायालय ज्योंही सम्भव होगा यह निर्णय करेगा कि क्या उनकी नजरबन्दी वैधानिक है?

26. उचित आपराधिक प्रक्रिया (Just Criminal Procedure)—संविधान के अनुच्छेद 32 के अनुसार जब तक व्यक्ति को कानून के द्वारा दण्डित नहीं किया जाता है, तब तक प्रत्येक व्यक्ति निर्दोष माना जाएगा। प्रत्येक आरोपित व्यक्ति को यह अधिकार है कि उसे उसके आरोपों के बारे में ज्योंही सम्भव हो विस्तार से जानकारी दी जाए। व्यक्ति को अपने बचाव का पूरा अवसर दिया जाएगा।

प्रत्येक दोषी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह उससे उच्च न्यायालय में निर्णय पर पुनर्विचार हेतु आवेदन कर सके, लेकिन जिन मामलों में संघीय सर्वोच्च न्यायालय एकमात्र न्यायालय के रूप में बैठता है वहां वाद आरक्षित रहेंगे।

27. याचिका का अधिकार (Right of Petition)—अनुच्छेद 33 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर प्राधिकारी के यहां याचिका दायर करने का अधिकार है तथा प्राधिकारी आवश्यक रूप से उन याचिकाओं पर संज्ञान लेगा।

28. राजनीतिक अधिकार (Political Rights)—संविधान के अनुच्छेद 34 के द्वारा नागरिकों को राजनीतिक अधिकारों की गारण्टी प्रदान की गई है। राजनीतिक अधिकारों की गारण्टी के अन्तर्गत नागरिकों को स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों का निर्माण करने और उन्हें अपने मूल स्वरूप में व्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

मौलिक अधिकारों की सीमाएं

(LIMITATIONS OF FUNDAMENTAL RIGHTS)

स्विट्जरलैण्ड के संविधान द्वारा प्रदान किए गए मौलिक अधिकार असीमित नहीं हैं, वरन् संविधान में ही उनकी सीमाओं का उल्लेख कर दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 36 में कहा गया है कि मौलिक अधिकारों पर किसी भी प्रकार की सीमा या प्रतिबन्ध के लिए कानूनी आधार आवश्यक है। गम्भीर एवं महत्वपूर्ण प्रकृति की सीमाएं पूर्वानुमान एवं संविधि द्वारा ही लगाई जाएंगी। स्पष्ट एवं तात्कालिक खतरों से सम्बन्धित विवाद आरक्षित रहेंगे। मौलिक अधिकारों पर किसी भी प्रकार की सीमा या प्रतिबन्ध जनहित या अन्य व्यक्तियों के मूल अधिकारों के संरक्षण हेतु ही लगाया जा सकता है।

मौलिक अधिकारों पर सीमाएं या प्रतिबन्ध निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के अनुपात में होनी चाहिए। मूल अधिकारों का सार अनुल्लंघनीय है।

स्विस संविधान में अधिकारों की सीमाओं का उल्लेख इस उद्देश्य से किया गया है कि शासन नागरिकों के मूल अधिकारों में मनमाना हस्तक्षेप न कर सके।

मौलिक अधिकारों का कार्यान्वयन

(REALISATION OF FUNDAMENTAL RIGHTS)

संविधान के द्वारा अधिकार प्रदान किए जाने के साथ ही यह आवश्यक होता है कि अधिकारों की क्रियान्विति हेतु आवश्यक व्यवस्था की जाए। स्विट्जरलैण्ड के संविधान में भी अनुच्छेद 35 में कहा गया है कि मौलिक अधिकार सम्पूर्ण कानूनी व्यवस्था द्वारा कार्यान्वित किए जाएंगे।

जो कोई भी राज्य के कर्तव्यों का निर्वहन करेगा वह मूल अधिकारों का सम्मान करेगा और उनके क्रियान्वयन में अपना सहयोग प्रदान करेगा। प्राधिकारी यह भी सुनिश्चित करेंगे कि निजी पक्षकार भी अपने पारस्परिक सम्बन्धों में मौलिक अधिकारों का सम्मान करें।

स्विस संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों की क्रियान्विति के लिए पर्याप्त व्यवस्थाएं की गई हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्विट्जरलैण्ड उदारवादी व्यवस्था का प्रतीक देश है, आदर्श उदाहरण है। नागरिकों को अधिकाधिक सम्भव सीमा तक अधिकार और स्वतन्त्रताएं प्राप्त हों यह स्विस राजव्यवस्था का मूल मन्त्र है। अतः स्विस नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रताएं अन्य किसी भी देश के नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रताओं की तुलना में अधिक सुरक्षित हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्विस नागरिकों को प्राप्त अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. स्विस अधिकार-पत्र की विशेषताएं बतलाइए तथा स्विस नागरिकों को प्राप्त सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों का वर्णन कीजिए।
3. 'स्विस संविधान का अधिकार-पत्र' अन्य किसी भी देश के संविधान के अधिकार-पत्र की तुलना में अधिक व्यापक रूप में अधिकारों की व्यवस्था करता है।' स्पष्ट व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्विस अधिकार-पत्र की कोई दो विशेषताएं बताइए।
2. 'कानून के समक्ष समानता' से आप क्या समझते हैं?
3. जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा एकान्तता और गोपनीयता का अधिकार स्पष्ट कीजिए।
4. स्विस नागरिकों को प्राप्त धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार स्पष्ट कीजिए।
5. स्विस नागरिकों को प्राप्त आर्थिक अधिकार स्पष्ट कीजिए।
6. अधिकारों की क्रियान्विति के लिए की गई व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. वर्तमान स्विस संविधान के किस अनुच्छेद में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है ?
[उत्तर—वर्तमान संविधान के अनुच्छेद 7 से 36 तक में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है।]
2. स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को 'विवाह एवं परिवार के अधिकार की गारण्टी' किस अनुच्छेद के द्वारा प्रदान की गई ?
[उत्तर—अनुच्छेद 14 के द्वारा।]
3. स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को धर्म एवं दर्शन की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत प्राप्त किन्हीं दो अधिकारों का उल्लेख कीजिए।
[उत्तर—(i) सभी लोगों को धार्मिक समुदायों की सदस्यता प्राप्त करने एवं धार्मिक शिक्षाओं के अनुसरण का अधिकार है, तथा (ii) किसी भी व्यक्ति को किसी धार्मिक समुदाय की सदस्यता या किसी धार्मिक कार्य में सम्मिलित होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।]

4. स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को प्रदत्त मौलिक अधिकारों की दो विशेषताएं बताइए।
[उत्तर—(1) मौलिक अधिकार व्यावहारिकता पर आधारित हैं तथा (2) संविधान में ही मौलिक अधिकारों के कार्यान्वयन की व्यवस्था की गई है।]
5. स्विस् नागरिकों को सम्पत्ति के अधिकार में कौन-सी सुविधा प्रदान की गई है?
[उत्तर—स्विस् नागरिकों को सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी के अन्तर्गत, किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति अथवा उसके स्वामित्व का अधिग्रहण करने पर उसे उस सम्पत्ति का पूर्ण मुआवजा प्रदान किया जाएगा।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

- स्विट्जरलैण्ड के वर्तमान संविधान के किस अध्याय में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है :
(अ) प्रथम अध्याय में (ब) दूसरे अध्याय में
(स) तीसरे अध्याय में (द) चौथे अध्याय में
- स्विट्जरलैण्ड में किसी भी व्यक्ति के साथ किस आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता :
(अ) जाति के आधार पर (ब) लिंग के आधार पर
(स) धर्म के आधार पर (द) उपर्युक्त सभी
- स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को कौन-सा मौलिक अधिकार प्राप्त है :
(अ) मानवीय गरिमा (ब) कानून के समक्ष समानता
(स) जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार
(द) उपर्युक्त सभी
- निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है :
(अ) स्विट्जरलैण्ड में नागरिकों को संकट में सहायता प्राप्त करने का अधिकार है
(ब) स्विस् संविधान में बच्चों एवं युवकों के लिए विशेष संरक्षण की व्यवस्था की गई है
(स) स्विट्जरलैण्ड में अपराधिक कृत्यों के लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था की गई है
(द) स्विट्जरलैण्ड में नागरिकों को जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है
- स्विस् संविधान के किस अनुच्छेद के द्वारा नागरिकों को 'प्राथमिक शिक्षा का अधिकार' प्रदान किया गया है :
(अ) अनुच्छेद 18 (ब) अनुच्छेद 19 (स) अनुच्छेद 20 (द) अनुच्छेद 21
- स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को निम्नलिखित में से कौन-सी स्वतन्त्रता प्राप्त है :
(अ) भाषा की स्वतन्त्रता (ब) विज्ञान की स्वतन्त्रता
(स) कला की स्वतन्त्रता (द) उपर्युक्त सभी
- स्विस् नागरिकों को मीडिया की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत कौन-सी स्वतन्त्रता प्रदान की गई है :
(अ) प्रेस की स्वतन्त्रता (ब) सेंसर व्यवस्था प्रतिबन्धित है
(स) सम्पादकीय गोपनीयता की गारण्टी प्रदान की गई है
(द) उपर्युक्त सभी
- निम्नलिखित में से कौन-सा कथन असत्य है?
(अ) स्विस् नागरिकों को सभा या सम्मेलन की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है
(ब) स्विस् नागरिकों को संघ या संगठन बनाने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है
(स) स्विट्जरलैण्ड के नागरिकों को अपने देश से बाहर जाने का अधिकार प्राप्त नहीं है
(द) स्विस् नागरिकों को जबरदस्ती देश से निष्कासित नहीं किया जा सकता है
[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (द), 4. (स), 5. (ब), 6. (द), 7. (द), 8. (स)]

3



स्विट्जरलैण्ड की संघीय व्यवस्था

(FEDERAL SYSTEM OF SWITZERLAND)

“स्विट्जरलैण्ड की एक संघीय शासन-व्यवस्था है और मूल रूप से वह जर्मन साम्राज्य व अमरीका के संघ जैसी है।”¹ —ब्रुक्स

यद्यपि स्विट्जरलैण्ड क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से एक छोटा राज्य है, लेकिन यह छोटा राज्य विविधताओं से उतना ही परिपूर्ण है, जितना कि संयुक्त राज्य अमरीका, भारत या रूस हैं। इसी कारण स्विट्जरलैण्ड में भी अमरीका, भारत, आदि देशों की भांति संधात्मक व्यवस्था को ही अपनाया गया है। जुर्रर के शब्दों में, “संघवाद वह मूल वैधानिक सिद्धान्त है जिस पर स्विट्जरलैण्ड का शासन आधारित है।”²

स्विट्जरलैण्ड एक परिसंघ या राज्यमण्डल नहीं, वरन् एक संघराज्य
(SWITZERLAND A FEDERATION, NOT A CONFEDERATION)

स्विस संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि “स्विस राज्यमण्डल 23 सम्प्रभुत्वसम्पन्न कैण्टनों की जनता से मिलकर बना है।”³ संविधान की इस भाषा के आधार पर कुछ लोगों का मत है कि स्विट्जरलैण्ड एक राज्यमण्डल है, संघराज्य नहीं। उनका कथन है कि संविधान में कैण्टनों को सम्प्रभुतासम्पन्न कहा गया है और सम्प्रभु इकाइयां एक राज्यमण्डल को ही जन्म दे सकती हैं, संघराज्य को नहीं। उनका द्वितीय तर्क यह है कि 1848 की जिस व्यवस्था के आधार पर इसका गठन हुआ है वह एक सन्धि-मात्र है, संविधान नहीं और सन्धि एक राज्यमण्डल को ही जन्म दे सकती है, संघराज्य को नहीं।

किन्तु वास्तविकता यह है कि स्विट्जरलैण्ड एक संघराज्य है, राज्यमण्डल नहीं। राज्यमण्डल का अर्थ राज्यों के उस ढीले-ढाले संघ से होता है, जिसमें सशक्त केन्द्रीय सत्ता का

1 “Switzerland is a federal government and thus is fundamentally similar to the German Empire and the American Federation.”

2 “Federalism is the basic constitutional doctrine upon which the government of Switzerland is now posited.” —Brooks

3 “The people of the twenty two sovereign Cantons united by the present alliance that is to say Zurich, Berne, Lucern, Uri, Sshwyx. Unterwalden (Obwald and Nidwald), Glarns Zug, Fribourg, Solothern Basle (Town and Country) Schaffhausen, Appengell (The two Rhodes), St. Gall, Grisons, Aragan, Thurgan, Ticino, Vand, Talais, Neuchatel, Geneva and Jura comprise the Swiss Confederation.” —Zurcher

जूरा (Jura) स्विस राज्यमण्डल में प्रवेश करने वाला नया कैण्टन है तथा अब स्विस कैण्टनों की संख्या 23 हो गई है।

अभाव हो और जिसमें इकाइयों को केन्द्र से सम्बन्ध-विच्छेद करने की स्वतन्त्रता हो, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में केन्द्रीय सत्ता पर्याप्त शक्तिशाली है और कैण्टनों को संघ से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। यह कहना भी उचित नहीं है कि 1848 में लिखित प्रलेख के रूप में की गयी व्यवस्था एक सन्धि या गठबन्धन मात्र था। वास्तव में, यह कोई सन्धि या मात्र गठबंधन नहीं; वरन् संविधान के सभी अर्थों में एक संविधान है। वस्तुतः जैसा कि वाल्टर ने कहा है, “सन् 1848 के लोगों की भी राय थी कि वे संविधान बना रहे थे और अब भी साधारण लोगों का ऐसा विश्वास है।”¹ स्विट्जरलैण्ड में 1998 में एक नया संविधान बना है तथा 1999 से इसे लागू किया गया है। इस नवीन संविधान से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि स्विट्जरलैण्ड एक परिसंघ या राज्यमण्डल नहीं, वरन् एक संघ राज्य है।

वास्तव में, स्विट्जरलैण्ड के लिए राज्यमण्डल शब्द भ्रमात्मक है और यह एक संघराज्य है। स्विस् संविधान के संघवादी तत्वों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) लिखित और कठोर संविधान (Written and Rigid Constitution)—संघीय शासन का प्रथम तत्व लिखित और कठोर संविधान होता है, जिससे केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारें अपनी-अपनी सीमाओं में बनी रहें और दोनों में से किसी सत्ता के द्वारा अकेले ही संविधान में मनमाना परिवर्तन न किया जा सके। स्विट्जरलैण्ड में ऐसे ही लिखित और कठोर संविधान की व्यवस्था की गयी है।

(2) शक्तियों का विभाजन (Division of Powers)—संघीय शासन के अन्तर्गत संविधान के द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है। विशेष बात यह है कि ये दोनों पक्ष अपनी शक्ति संविधान से ही प्राप्त करते हैं। स्विट्जरलैण्ड के अन्तर्गत संविधान के द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और कैण्टनों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन किया गया है। शक्ति विभाजन के सम्बन्ध में अमरीका के ही समान ‘गणना तथा अवशेष सिद्धान्त’ को अपनाया गया है तथा संघीय सरकार की शक्तियों व उसके अधिकारों के अतिरिक्त शेष को कैण्टनों की सरकारों की शक्ति माना गया है। जो विषय राष्ट्रीय महत्व के हैं, उन्हें केन्द्रीय सरकार के कार्यक्षेत्र में और शेष विषयों को कैण्टनों की सरकारों के कार्यक्षेत्र में रखा गया है।

(3) न्यायपालिका की सर्वोच्चता (Supremacy of the Judiciary)—संघीय शासन का तीसरा तत्व न्यायपालिका की सर्वोच्चता है। न्यायपालिका की सर्वोच्चता का तात्पर्य यह है कि न्यायपालिका संविधान की रक्षा तथा उसकी व्यवस्था करने का कार्य करेगी और यदि संघ अथवा इकाइयों की ओर से अपने कार्यों अथवा कानून द्वारा संविधान की अवहेलना की जाती है, तो वह संघ अथवा इकाइयों के ऐसे कानूनों को, जो कि संविधान के विरुद्ध हैं, अवैध घोषित कर सकती है। संघ व इकाइयों के बीच शासन-शक्ति से सम्बन्धित विवादों का निर्णय उसी का काम होता है। नवीन संविधान के अनुच्छेद 189 की उपधारा 2 में कहा गया है कि राज्यमण्डल और कैण्टनों के बीच या कैण्टनों में परस्पर उत्पन्न होने वाले सभी विवादों का निर्णय संघीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही किया जाएगा।²

1 “It was the opinion of men, the men of 1848 that they were creating a constitution and today such is also general conviction.” —Burckhardt Walter

2 “It shall judge public law disputes between the confederation and the cantons or amongst cantons.” —Article 189, Clause 2.

न्यायपालिका की सर्वोच्चता के विषय में स्विट्जरलैण्ड संघात्मकता की कसौटी पर सम्पूर्ण अंशों में पूरा नहीं उतरता। स्विट्जरलैण्ड में न्यायपालिका को वह सर्वोच्चता और उस रूप में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त नहीं है, जिस रूप में वह अमरीका की न्यायपालिका को प्राप्त है। स्विट्जरलैण्ड का संघीय न्यायालय कैण्टनों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा निर्मित कानून का तो संवैधानिकता के आधार पर परीक्षण कर सकता है और उन्हें यदि संविधान के विरुद्ध समझे, तो अवैध घोषित कर सकता है, लेकिन संघीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के सम्बन्ध में उसके द्वारा इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार स्विट्जरलैण्ड का संघीय न्यायालय केन्द्रीय शासन को संविधान का अतिक्रमण करने से नहीं रोक सकता है। इस दृष्टि से स्विट्जरलैण्ड का संघ संघात्मकता की कसौटी पर सम्पूर्ण अंशों में खरा नहीं उतरता, क्योंकि इस सम्बन्ध में संघ की इकाइयों की तुलना में संघ को अधिक महत्व दे दिया गया है।

(4) उच्च सदन में इकाइयों का समान प्रतिनिधित्व (Equal Representation of Units in Upper Chamber)—संघात्मकता का एक सहायक तत्व यह है कि संघीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन में, संघ की छोटी-छोटी सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है। स्विट्जरलैण्ड में संघात्मकता के इस तत्व को अपनाते हुए 'संघीय संसद' (संघीय व्यवस्थापिका) के द्वितीय सदन 'सीनेट' में सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है, इस सम्बन्ध में केवल पूर्ण कैण्टन और अर्द्ध कैण्टन में अन्तर किया गया है। पूर्ण कैण्टन के द्वारा अपने दो प्रतिनिधि और अर्द्ध कैण्टन के द्वारा अपना एक प्रतिनिधि सीनेट (संघीय संसद के द्वितीय सदन) के लिए भेजा जाता है।

(5) संशोधन कार्य में इकाइयों की शक्ति (Power of the Units in Constitutional Amendment)—संघीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया में इकाइयों को भी उचित अधिकार दिया जाता है तथा ऐसी व्यवस्था की जाती है कि इकाइयों की अवहेलना करके संविधान में संशोधन न किया जा सके। स्विट्जरलैण्ड में संघीय व्यवस्था के इस तथ्य को अपनाया गया है। संशोधन प्रस्तावित करने व उसकी पुष्टि में संघ की इकाइयों की जनता का पूरा-पूरा हाथ रहता है। संविधान का कोई भी संशोधन तब तक पारित नहीं समझा जा सकता, जब तक कि आधे से अधिक कैण्टनों द्वारा उसे स्वीकार न किया जाय।

(6) तिहरी नागरिकता (Triple Citizenship)—ऐसा समझा जाता है कि संघीय शासन में प्रत्येक व्यक्ति को दोहरी नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए—प्रथम, संघ की नागरिकता और द्वितीय, राज्य की नागरिकता। स्विस संघ इस दृष्टि से एक कदम आगे है, वहां प्रत्येक नागरिक के लिए तीन नागरिकताओं की व्यवस्था की गयी है—म्युनिसिपैलिटी की नागरिकता, कैण्टन की नागरिकता और स्विस संघ की नागरिकता। नवीन संविधान के अनुच्छेद 37 में कहा गया है—“स्विट्जरलैण्ड के ऐसे प्रत्येक निवासी को जिसे म्युनिसिपैलिटी और कैण्टन की नागरिकता प्राप्त है; स्विट्जरलैण्ड की नागरिकता प्राप्त होगी।” नागरिकता प्राप्ति का क्रम है—म्युनिसिपैलिटी की नागरिकता-कैण्टन की नागरिकता तथा उसके उपरान्त स्विस संघ की नागरिकता।

उपर्युक्त विवेचन से नितान्त स्पष्ट है कि संघीय व्यवस्था के अधिकांश, लगभग सभी प्रमुख तत्व स्विट्जरलैण्ड की शासन-व्यवस्था में विद्यमान हैं। संविधान में 'संघ' के स्थान पर 'राज्यमण्डल' (Confederation) शब्द का प्रयोग किये जाने से स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। भारतीय संविधान में कहीं पर भी 'फेडरेशन' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, वरन् 'यूनियन' (Union) शब्द का प्रयोग किया गया है। स्विट्जरलैण्ड में यद्यपि न्यायपालिका

की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को पूरी-पूरी सीमा तक नहीं अपनाया गया है और संघीय न्यायालय को संघीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की जांच करने तथा उन्हें अवैधानिक घोषित करने का अधिकार प्राप्त नहीं है, लेकिन ऐसा एक विशेष कारण से है। स्विस नागरिक जनता की प्रत्यक्ष सत्ता में अत्यधिक विश्वास करते हैं और वे इस बात के पक्ष में नहीं हैं कि उनके प्रतिनिधियों की संस्था की शक्ति पर 'न्यायिक पुनर्विलोकन' (Judicial review) का प्रतिबन्ध लगाया जाय। संघीय न्यायालय के ही एक न्यायाधीश हेन्स हूबर के शब्दों में, "जनता की दृष्टि में संवैधानिक कानून का न्यायिक परीक्षण लोकतन्त्र के सिद्धान्त का उल्लंघन है।" इस प्रकार न्यायपालिका के सम्बन्ध में किया गया प्रबन्ध संघात्मकता के प्रति उनकी कम आस्था नहीं, वरन् लोकप्रिय सम्प्रभुता के प्रति अत्यधिक आस्था का प्रतीक है। स्विट्जरलैण्ड की संघीय संसद पर जनता की लोकनिर्णय की शक्ति का प्रतिबन्ध है।

वस्तुतः संघीय व्यवस्था के आदर्श को विभिन्न राज्यों द्वारा अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अपनाया जाता है। भारतीय संविधान के द्वारा भी संघात्मक व्यवस्था को अपनाते हुए एकात्मक शासन के कुछ गुणों को ग्रहण कर लिया गया है। स्विस संविधान में संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को पूरी सीमा तक न अपनाये जाने के कारण इसे संघीय शासन मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता। संघीय शासन का मूल तत्व प्रो. ह्यूबर के कथनानुसार, "शक्तियों के इस प्रकार विभाजन से तात्पर्य है कि केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारें हर एक स्वतन्त्र भी रहें और अन्योन्याश्रित अथवा संयुक्त भी।" संघीय व्यवस्था के अधिकारी विद्वान प्रो. ह्यूबर स्वयं स्वीकार करते हैं कि स्विट्जरलैण्ड में ऐसी ही स्थिति है। इस प्रकार "स्विट्जरलैण्ड मोटे तौर पर एक संघ है और इसे राज्यमण्डल की संज्ञा देना भ्रमात्मक है।"

स्विस संघ में कैण्टन और संघीय शासन का सम्बन्ध

(RELATION BETWEEN CANTONAL AND FEDERAL
ADMINISTRATION IN SWISS FEDERATION)

स्विस संघ का निर्माण अमरीकी संघ की सम्मिलन प्रक्रिया (integration procedure) द्वारा हुआ है। 13वीं सदी में 3 कैण्टनों ने मिलकर राज्यमण्डल का निर्माण किया, जिनकी संख्या वेस्टफेलिया की सन्धि के समय 13 हो गयी और 1815 में वियना कांग्रेस के समय 22 हो गयी। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में एक और कैण्टन 'जूरा' (Jura) स्विस परिसंघ में सम्मिलित हुआ तथा इस प्रकार कैण्टनों की संख्या 23 हो गई है। 23 कैण्टनों के नाम स्वयं संविधान के प्रथम अनुच्छेद में दिये गये हैं, जिनका अर्थ यह लगाया जाता है कि यदि स्विस संघ में अन्य कोई पड़ोसी प्रदेश प्रविष्ट करना चाहे, तो उसके लिए संवैधानिक संशोधन आवश्यक होगा। संविधान के अनुसार छोटे-बड़े सभी कैण्टन वैधानिक दृष्टि से समान हैं। इन 23 कैण्टनों में 20 पूर्ण व 6 अर्द्ध कैण्टन हैं। पूर्ण कैण्टन और अर्द्ध कैण्टन में केवल दो बातों की दृष्टि से अन्तर है। प्रथम, 'संघीय सीनेट' में प्रत्येक पूर्ण कैण्टन को अपने दो प्रतिनिधि, लेकिन अर्द्ध कैण्टन को अपना एक ही प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। द्वितीय, संवैधानिक संशोधन पर लिये गये लोकनिर्णय में अर्द्ध कैण्टन का केवल आधा मत माना जाता है, जबकि पूर्ण कैण्टन का मत एक समझा जाता है। इन अपवादों के अतिरिक्त प्रत्येक कैण्टन और अर्द्ध कैण्टन संवैधानिक दृष्टि से समान हैं।

1 "The people saw in the Judicial examination of the constitutional law an infringement of the democratic principle."
—Hans Huber

शक्ति-विभाजन (Division of Power)—स्विस संविधान में कुछ विषय संघीय अधिकार-क्षेत्र में रख दिये गये हैं, कुछ विषय ऐसे हैं जिन पर कैण्टन तथा संघीय सरकार दोनों को अधिकार क्षेत्र प्राप्त है, अर्थात् उन्हें समवर्ती अधिकार-क्षेत्र में रखा गया है तथा कुछ विषय ऐसे हैं जिन पर अधिकार-क्षेत्र संघ तथा कैण्टनों की सरकारों में विभक्त कर दिया गया है अर्थात् उन पर विभक्त अधिकार-क्षेत्र की व्यवस्था की गयी है। अवशिष्ट अधिकार कैण्टनों को सौंपे गये हैं। इस सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 3 में कहा गया है कि “संघीय संविधान की सीमा के अन्तर्गत कैण्टन सम्प्रभुतासम्पन्न हैं। वे उन सभी अधिकारों का प्रयोग करते हैं, जो संघ को हस्तान्तरित न किये गये हों।”

नवीन संविधान के अन्तर्गत परिसंघ और कैण्टनों के बीच शक्ति विभाजन तथा परिसंघ के अधिकार क्षेत्र और कैण्टनों के अधिकार क्षेत्र का बहुत अधिक विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 42 से लेकर 135 इस शक्ति विभाजन और परिसंघ तथा कैण्टनों के अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित हैं।

संघीय अधिकार (Federal Powers)—संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में संघ सरकार को अनेक विषयों पर अनन्य (exclusive) अधिकार प्रदान किया गया है। संघीय अधिकार-क्षेत्र के प्रमुख विषय ये हैं : वैदेशिक सम्बन्ध अर्थात् दूसरे देशों से सन्धियां करना, उनसे युद्ध की घोषणा करना, उनके यहां राज्य प्रतिनिधि (दूत-प्रदूत) आदि भेजना, देश की सुरक्षा अथवा सेना की व्यवस्था करना, डाक-तार, टेलीफोन, रेलमार्ग आदि यातायात व सन्देशवाहन के साधन, विश्वविद्यालयी शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा, मुद्रा, टंकण व नोट, बारूद तथा अस्त्र-शस्त्र, नापतौल के मापदण्ड, कॉपीराइट, पेटेण्ट, दीवानी, फौजदारी व वाणिज्य सम्बन्धी विधियां, वन, लोक स्वास्थ्य, वायुपथ, नौवहन, जलशक्ति, आदि। संघीय अधिकार-क्षेत्र के इन विषयों पर संघीय व्यवस्थापिका ही कानून बना सकती है या इन विषयों के सम्बन्ध में संघीय शासन ही व्यवस्था कर सकता है।

समवर्ती अधिकार (Concurrent Powers)—वे विषय, जिन्हें समवर्ती सूची में सम्मिलित किया गया है, इस प्रकार हैं—प्रेस पर नियन्त्रण, उद्योगों पर नियन्त्रण तथा उनका नियमन, बैंक व्यवसाय, आप्रवासन (immigration) और राजपथों (highways) की व्यवस्था, आदि। इन विषयों पर संघ सरकार तथा कैण्टनों की सरकारें, दोनों को ही नियम बनाने का अधिकार प्राप्त है, परन्तु यदि किसी विषय पर दोनों के बनाये गये नियमों में परस्पर विरोध हो जाये तो संघीय नियम ही मान्य होता है, कैण्टन का नहीं।

विभक्त अधिकार (Divided Powers)—स्विस शासन-प्रणाली की यह अनुपम विशेषता है कि यहां पर कुछ विषयों के सम्बन्ध में व्यवस्था करने का अधिकार संघ तथा राज्यों में बंटा हुआ है। उदाहरणार्थ, विदेशों से सन्धियां करना संघीय अधिकार-क्षेत्र में हैं, परन्तु कैण्टन अपने निकटवर्ती राज्यों से संविधान द्वारा निश्चित की गयी सीमाओं के अन्तर्गत कुछ विशेष विषयों पर सन्धियां कर सकते हैं। सेना व्यवस्था तथा संचालन का कार्य भी संघ तथा कैण्टनों में बंटा हुआ है। अनिवार्य तथा निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करना कैण्टनों का कर्तव्य है, परन्तु संघ को यह निरीक्षण करने का अधिकार प्राप्त है कि कैण्टन अपने इस कर्तव्य का पालन कर रहे हैं अथवा नहीं। संघ का यह भी कर्तव्य है कि वह कर्तव्य-पूर्ति हेतु आवश्यकतानुसार कैण्टनों को आर्थिक सहायता दे। संघीय रेलों के प्रशासन और नाप-तौल के मापदण्ड में कुछ ऐसी ही व्यवस्था की गयी है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि संघीय सरकार का अधिकार-क्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत है। जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र को नियमित करने का अधिकार उसे प्राप्त है। शक्ति-विभाजन का एक अन्य पक्ष यह है कि संविधान के द्वारा कैण्टनों को भी कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जो सामान्यतया संघ की इकाइयों को प्राप्त नहीं होते हैं। संविधान की धारा 9 कैण्टनों को विदेशी राज्यों के साथ सन्धियां करने का अधिकार प्रदान करती है और धारा 13 कैण्टनों को सीमित रूप में सेना रखने का अधिकार देती है।

संविधान के अनुसार प्रत्येक कैण्टन तथा अर्द्ध कैण्टन को अलग-अलग संविधान बनाने तथा पृथक सरकार रखने का अधिकार है। कैण्टनों को अपना अलग संविधान बनाते समय तीन बातों को ध्यान में रखना होता है : प्रथम, कैण्टनों का संविधान संघीय संविधान के अनुकूल होना चाहिए। द्वितीय, उनके द्वारा अपने संविधान में गणतन्त्रात्मक प्रणाली को ही अपनाया जाना चाहिए, अन्य किसी शासन-व्यवस्था को नहीं। तृतीय, उन्हें अपना संविधान अपनी जनता के द्वारा स्वीकार कराना चाहिए और नागरिकों के बहुमत द्वारा मांग किये जाने पर उसका संशोधन होना चाहिए।

संविधान द्वारा किया गया यह शक्ति विभाजन विधायी क्षेत्र के सम्बन्ध में ही है। प्रशासनिक क्षेत्र में संघीय अधिकार के अनेक विषयों का प्रशासन कैण्टनों की सरकारों द्वारा किया जाता है। स्विट्जरलैण्ड में केन्द्रीय शासन और कैण्टनों के शासन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है ?

नवीन संविधान द्वारा परस्पर घनिष्ठता के इस सम्बन्ध को और मजबूती प्रदान की गई है। अनुच्छेद 44 में कहा गया है—“परिसंघ और कैण्टन एक-दूसरे के साथ सहयोग करेंगे तथा संविधान द्वारा निर्धारित कार्यों को पूरा करने में एक-दूसरे को समर्थन देंगे। उनके सम्बन्ध आपसी सहयोग और समझ पर आधारित हैं। वे एक-दूसरे को प्रशासनिक और न्यायिक सहयोग देंगे।” केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति (Tendency towards Centralization)

स्विट्जरलैण्ड, यद्यपि एक संघ राज्य है, किन्तु उसकी शासन-व्यवस्था में कुछ ऐसे तत्व विद्यमान हैं, जिनसे प्रकट होता है कि स्विट्स संघ में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। मूल संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति निम्न बातों में देखी जा सकती है :

(1) संविधान द्वारा महत्वपूर्ण शक्तियां संघीय सरकार को सौंपना—संविधान के द्वारा लगभग सभी महत्वपूर्ण विषय संघीय सरकार को सौंप दिये गये हैं और इस बात ने केन्द्र को ऐसी उच्च स्थिति प्रदान कर दी है कि वह कैण्टनों पर छाया रह सकता है। उदाहरण के लिए, संविधान केन्द्र को मुद्रा एवं बैंकिंग-व्यवस्था के सम्बन्ध में अधिकार प्रदान करता है और यह एक ही अधिकार ऐसा है, जिसके आधार पर कैण्टनों के समस्त आर्थिक व व्यापारिक जीवन पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

(2) समवर्ती सूची के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्रीय सरकार को—समवर्ती सूची में जो विषय रखे गये हैं, उनके सम्बन्ध में अन्तिम अधिकार केन्द्रीय सरकार को है और कैण्टनों की सरकारों द्वारा केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध किसी भी कानून का निर्माण नहीं किया जा सकता है। यह व्यवस्था केन्द्र को बहुत अधिक महत्व प्रदान कर देती है।

(3) केन्द्र द्वारा कैण्टनों के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप की व्यवस्था—संविधान के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियों में केन्द्र द्वारा कैण्टनों के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जा सकता है। संविधान की धारा 52 के अनुसार किसी कैण्टन में अशान्ति और अव्यवस्था की स्थिति

उत्पन्न होने पर केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है और नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए केन्द्र कैण्टनों के शासन में हस्तक्षेप कर सकता है। इस सम्बन्ध में केन्द्र को इतना तक अधिकार है कि वह सरकारी सूत्र से सूचना मिलने की प्रतीक्षा किये बिना केवल गैर-सरकारी सूत्र की सूचना के आधार पर ही किसी कैण्टन का शासन अपने अधिकार में ले ले। यह व्यवस्था न केवल संविधान में है, वरन् व्यवहार के अन्तर्गत भी केन्द्र के द्वारा अपनी इस शक्ति का प्रयोग किया गया है। 1848 में लागू किए गए संविधान की धारा 16 के अन्तर्गत 1848 और 1920 के बीच केन्द्र के द्वारा 11 बार कैण्टनों के शासन में हस्तक्षेप किया गया था और यह सोचने का आधार बनता है कि केन्द्र के द्वारा आगे भी आवश्यकतानुसार कैण्टनों के शासन में हस्तक्षेप किया जाएगा। एण्ड्रे (Andre) ने केन्द्र की इस शक्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि “संघ सरकार के निरन्तर हस्तक्षेप के कारण कैण्टन धीरे-धीरे प्रभुत्वसम्पन्न राज्य नहीं रहेंगे, अपितु संघ सरकार की आज्ञाओं को पूरा करने वाले प्रशासकीय जिलों के सदृश्य हो जायेंगे।”

(4) कैण्टनों के कानूनों पर संघीय कानून को प्राथमिकता—अनुच्छेद 49 में कहा गया है कि ‘कैण्टन का कानून संघीय कानून के प्रतिकूल होने पर कैण्टन के कानून पर संघीय कानून को प्राथमिकता प्राप्त होगी’ तथा ‘परिसंघ यह सुनिश्चित करेगा कि कैण्टन संघीय कानून का सम्मान करते हैं।’

(5) कैण्टनों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता—कैण्टन वित्तीय दृष्टि से भी केन्द्रीय सरकार पर ही आश्रित हैं।

(6) कैण्टनों पर संघीय सरकार का नियन्त्रण—कैण्टन संघ सरकार के अनुमोदन के बिना अपने संविधान में संशोधन नहीं कर सकते हैं।

(7) कैण्टनों के अधिकार-क्षेत्र को सर्वोच्च न्यायालय का संरक्षण नहीं—विशेष बात यह है कि कैण्टनों के अधिकार-क्षेत्र को सर्वोच्च न्यायालय का संरक्षण प्राप्त नहीं है और केन्द्र के द्वारा कैण्टनों के अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण किया जा सकता है।

संविधान में निहित केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति के कारण संविधान की धारा 47 में वर्णित कैण्टनों की स्वायत्तता हास्यास्पद हो जाती है। केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति के कारण डूप्रेज (Dupreiz) ने कहा है कि “स्विस संविधान संघ को कैण्टनों का शिक्षक तथा निरीक्षक बना देता है।”¹

व्यावहारिक राजनीति में केन्द्रीकरण के तत्व

मूल संविधान के अन्तर्गत तो केन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति विद्यमान थी ही, संविधान लागू किये जाने के बाद भी केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति का निरन्तर विकास हुआ है। रैपार्ड के कथनानुसार, “अमरीका की भांति स्विट्जरलैण्ड में भी ऐतिहासिक विकास राष्ट्र के राजनीतिक जीवन के आकर्षण केन्द्र को खण्डों से हटाकर अधिकाधिक सम्पूर्ण की ओर ले जा रहा है।”²

चार बातों ने स्विस संविधान के विकास में केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति को बल प्रदान किया है। ये हैं—सामाजिक सेवाओं के लिए निरन्तर बढ़ती हुई मांग, यातायात के साधनों

1 “The Swiss Constitution really creates the confederation in some measure into a tutor and inspector of Cantons.”

—Dupreiz

2 “In Switzerland, as in the United States historical evolution tends more and more to shift the centre of gravity of political life of the nation from the parts to the whole.”

—W. B. Rappard, *The Government of Switzerland*, p. 82.

तथा उद्योगों में यन्त्रीकरण तथा औद्योगिक क्रान्ति, युद्ध और आर्थिक अवसाद। 1848 में निर्मित संविधान के अनुच्छेद 31 और 34 द्वारा केन्द्रीय सरकार को सार्वजनिक कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा और श्रमिकों के कल्याण के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया था, तथा ऐसे ही अधिकार नवीन संविधान के अनुच्छेद 110 और 111 द्वारा केन्द्रीय सरकार को दिए गए हैं। इसी श्रेणी के अन्य भी अनेक विषय हैं। ये सभी विषय अपनी प्रकृति में बहुत अधिक व्यापक हैं। इन स्थितियों के कारण केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे देश के आर्थिक जीवन की संरक्षिका बन गयी है। इन सब बातों के कारण केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला है।

संघीय व्यवस्था में कैण्टनों की महत्वपूर्ण स्थिति

केन्द्रीकरण की उपर्युक्त प्रवृत्ति के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि स्विस संघ में कैण्टनों का कोई महत्व नहीं है। संविधान के द्वारा कैण्टनों को न केवल अवशिष्ट शक्तियां प्रदान की गयी हैं, वरन् निकटवर्ती राज्यों के साथ सन्धियां करने व सेना रखने की ऐसी शक्तियां भी प्रदान की गयी हैं, जो साधारणतया संघ राज्यों में इकाइयों को प्रदान नहीं की जाती हैं। संवैधानिक संशोधन कैण्टनों की स्वीकृति से ही किये जा सकते हैं और नागरिकता तथा राजनीतिक गतिविधियों का मूल केन्द्र कैण्टन ही है। नवीन संविधान के भी अनुच्छेद 46 और 47 में भी समस्त राजव्यवस्था में कैण्टनों की महत्ता को स्वीकार किया गया तथा उस पर बल दिया गया है। अनुच्छेद 46 के अनुसार, “परिसंघ कैण्टनों को अधिकाधिक सम्भव सीमा तक कार्यक्षेत्र प्रदान करेगा तथा उनकी विशिष्टताओं का सम्मान करेगा।”¹ अनुच्छेद 47 के अनुसार, “परिसंघ कैण्टनों की स्वायत्तता का सम्मान करेगा।”² इन सबके अतिरिक्त स्थानीयता स्विस नागरिकों के स्वभाव का एक प्रमुख लक्षण है। बुक्स के शब्दों में, “प्रत्येक कैण्टन सक्रिय राजनीतिक जीवन का केन्द्र है।” बोरिजौर ने ठीक ही कहा है कि “कैण्टन वे छोटे राष्ट्र हैं, जिनकी एकमात्र सतत आकांक्षा यह रहती है कि वे अपने राजनीतिक संगठन को पूर्ण करें और अपनी प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं का विकास करें।”³

वास्तव में स्विस संघ के अन्तर्गत केन्द्र सरकार और कैण्टनों की सरकारें दोनों को ही अपने-अपने क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है। इन दोनों में अत्यन्त सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध और पारस्परिक सहयोग है, जिनका प्रमाण यह है कि अधिकांश संघीय कानूनों की क्रियान्विति कैण्टनों की सरकारों द्वारा ही की जाती है। नवीन संविधान के अन्तर्गत केन्द्र सरकार और कैण्टनों की सरकारों के बीच आपसी सहयोग की भावना और स्थितियों को पूर्व के संविधान और राजव्यवस्था की तुलना में अधिक प्रबल बनाने की चेष्टा की गई है।

स्विट्जरलैण्ड के संघ की अमरीकी संघ से तुलना

(COMPARISON OF SWISS FEDERATION WITH AMERICAN FEDERATION)

संघात्मक व्यवस्था, राजनीतिक विचार और व्यवहार में अमरीका की देन है। इस कारण विश्व के जिन देशों द्वारा संघात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है, उनकी तुलना अमरीकी संघ से करना अनुचित न होगा।

1 “The Confederation shall leave the Cantons as large a space of action as possible and shall take their particularities into account.”

2 “The Confederation shall respect the autonomy of the Cantons.”

—Article 47 of the Present Constitution.

3 “Cantons are small nations animated by a ceaseless desire to perfect their political organization and to develop their democratic institution.” —Bouriyour

समानताएं—स्विट्जरलैण्ड की संघात्मक व्यवस्था और अमरीका की संघात्मक व्यवस्था में प्रमुखतया निम्नलिखित समानताएं देखी जा सकती हैं :

(1) स्विस् और अमरीकी दोनों ही संघों का निर्माण सुरक्षा की भावना के आधार पर हुआ है। स्विस् कैण्टनों को यूरोप के पड़ोसी राज्यों से भय था और उनसे अपनी रक्षा हेतु उनके द्वारा संघ का निर्माण किया गया। इसी प्रकार अमरीकी उपनिवेशों को ब्रिटिश तथा स्पेनिश साम्राज्यवाद से भय था और उनसे अपनी सुरक्षा हेतु उनके द्वारा संघ का निर्माण किया गया।

(2) अमरीकी और स्विस् दोनों संघ राज्यों का निर्माण एक ही प्रक्रिया और प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। संघ के निर्माण की दो प्रक्रियाएं होती हैं—प्रथम, केन्द्रोन्मुखी (centripetal) प्रवृत्ति या सम्मिलन की प्रक्रिया द्वारा और द्वितीय, केन्द्रविमुखी (centrifugal) प्रवृत्ति या पृथक्करण की प्रक्रिया (disintegration) द्वारा। अमरीकी और स्विस् दोनों ही संघों की इकाइयां संघ के निर्माण के पूर्व स्वतन्त्र राज्य थीं और सम्बन्धित राज्यों द्वारा दोनों ही संघों का निर्माण केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्ति या सम्मिलन की प्रक्रिया के आधार पर हुआ। इसके विपरीत, भारतीय संघ या पूर्व सोवियत संघ का निर्माण केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्ति या पृथक्करण की प्रक्रिया के आधार पर हुआ।

(3) स्विस् और अमरीकी दोनों संघ राज्यों में शक्ति विभाजन के लिए एक ही पद्धति को अपनाया गया है और वह पद्धति है गणना तथा अवशेष की पद्धति। दोनों ही संघ राज्यों के संविधान में केन्द्रीय सरकार की शक्तियां निश्चित कर दी गयी हैं और सभी अवशिष्ट शक्तियां इकाइयों को प्रदान की गयी हैं। स्विस् संविधान की धारा 3 और अमरीकी संविधान के दसवें संशोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जो अधिकार संघ को नहीं दिये गये हैं, वे सभी संघ की इकाइयों को प्राप्त होंगे।

(4) दोनों संघ राज्यों में संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है। अमरीकी संघ में प्रत्येक इकाई के द्वारा सीनेट में अपने दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं और स्विस् संघ में प्रत्येक इकाई संघीय संसद के द्वितीय सीनेट में अपने दो प्रतिनिधि भेजती है। स्विस् संघ के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में केवल पूर्ण कैण्टन और अर्द्ध कैण्टन में अन्तर किया गया है।

(5) अमरीकी और स्विस् संघ दोनों ही संघ राज्यों के अन्तर्गत इकाइयों के अपने पृथक संविधान हैं और दोनों संघ राज्यों में यह शर्त है कि इकाइयों के संविधान संघीय संविधान के अनुरूप ही होने चाहिए और उनके द्वारा अनिवार्य रूप से प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को ही अपनाया जाना चाहिए।

(6) अमरीकी और स्विस् दोनों संघ राज्यों के अन्तर्गत इकाइयों को संघ से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

(7) अमरीकी और स्विस् इन दोनों संघों के निर्माण के समय स्थानीयता की प्रवृत्ति प्रबल थी और इन दोनों में इकाइयां ही संघ के आधार हैं, लेकिन इन दोनों संघ राज्यों के विकास में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति देखी गयी है। दोनों संघ राज्यों के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। रेपार्ड के कथनानुसार, “अमरीका की भांति स्विट्जरलैण्ड में ऐतिहासिक विकास राष्ट्र के राजनीतिक जीवन के आकर्षण केन्द्रों को खण्डों से हटाकर अधिकाधिक सम्पूर्ण की ओर ले जा रहा है।”

असमानताएं—स्विस और अमरीकी संघ में यदि एक ओर अनेक समानताएं हैं, तो दूसरी ओर इनमें कुछ असमानताएं भी हैं जिन्होंने इन्हें एक-दूसरे से भिन्न कर दिया है। ये असमानताएं इस प्रकार हैं:

(1) अमरीकी संविधान द्वारा किये गये शक्ति विभाजन में समवर्ती अधिकार-क्षेत्र की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है, लेकिन स्विस संविधान में समवर्ती अधिकार-क्षेत्र की व्यवस्था की गयी है और भारत के ही समान समवर्ती अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्र को प्रदान की गयी है।

(2) यद्यपि दोनों संघों की इकाइयों के पृथक्-पृथक् संविधान हैं, परन्तु जहां अमरीका में राज्यों के संविधान के सम्बन्ध में केवल इतना कहा गया है कि राज्यों का संविधान संघीय संविधान के अनुकूल ही होना चाहिए, वहां स्विस संघ की इकाइयों के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन निश्चित शर्तें रखी गयी हैं:

प्रथम, संघीय संविधान के प्रतिकूल कोई उपबन्ध नहीं हो।

द्वितीय, शासन की गणतन्त्रीय प्रणाली को अपनाते हुए जनता को राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग का अवसर दिया जाय।

तृतीय, संविधान जनता द्वारा स्वीकृत और उसकी इच्छानुसार संशोधन योग्य होना चाहिए।

इस प्रकार अमरीकी संघ के राज्यों की तुलना में स्विस कैण्टनों पर अधिक नियन्त्रण है।

(3) संयुक्त राज्य अमरीका में संघीय विषयों का प्रबन्ध स्वयं संघीय शासन के द्वारा ही किया जाता है, लेकिन स्विस संघ में अनेक संघीय विषयों का प्रबन्ध कैण्टनों की सरकारों द्वारा ही किया जाता है।

(4) अमरीकी संघ के संविधान और स्विस संघ के संविधान इन दोनों संविधानों के संशोधन की प्रक्रिया में भी महत्वपूर्ण अन्तर है। अमरीकी संविधान के अन्तर्गत संघ की इकाइयों को न केवल संशोधन की पुष्टि वरन् संशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार भी दिया गया है, लेकिन स्विस संविधान के अन्तर्गत इकाइयों को संशोधन की पुष्टि के सम्बन्ध में ही अधिकार प्रदान किया गया है, संशोधन प्रस्तावित करने का अधिकार नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त, स्विस संविधान में जनता को संवैधानिक संशोधन के विषय में अधिकार दिया गया है, लेकिन अमरीकी संविधान के अन्तर्गत जनता को संवैधानिक संशोधन के विषय में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

(5) स्विस संघ के अन्तर्गत संघ की इकाइयों को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जो अधिकार न तो अमरीकी संघ की इकाइयों को प्राप्त हैं और न ही सामान्यतया संघ की इकाइयों को प्राप्त होते हैं। कैण्टनों को अपने निकटवर्ती राज्यों से सन्धियां करने का अधिकार व सीमित रूप में सेना रखने का अधिकार ऐसे ही अधिकार हैं।

(6) संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायपालिका को सर्वोच्चता की स्थिति प्राप्त होती है और उसके द्वारा संघ और इकाइयों की सरकारों दोनों के ही सम्बन्ध में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रयोग किया जाता है। अमरीकी संघ के अन्तर्गत ऐसा ही है, लेकिन स्विस संघ में संघीय न्यायपालिका को केवल कैण्टनों की सरकारों के सम्बन्ध में ही यह शक्ति प्राप्त है, संघीय सरकार के सम्बन्ध में यह शक्ति प्राप्त नहीं है।

(7) स्विस् संघ के अन्तर्गत संघीय न्यायपालिका के ढांचे में एक ही न्यायालय (संघीय न्यायालय) है; कोई अधीनस्थ संघीय न्यायालय नहीं है, लेकिन अमरीकी संघ में, संघीय न्यायपालिका का त्रिस्तरीय ढांचा है—सबसे उच्च स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय है, उसके नीचे अपीलीय न्यायालय हैं, और सबसे नीचे जिला न्यायालय हैं।

उपर्युक्त अन्तर संघात्मक व्यवस्था से सम्बन्धित है, इन दोनों संविधानों में अन्य बातों के सम्बन्ध में अनेक प्रमुख भेद हैं। जैसे अमरीकी शासन-व्यवस्था शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है, लेकिन स्विस् संविधान में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया है। अमरीका में एकल कार्यपालिका है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में बहुल कार्यपालिका है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्विस् संघीय व्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन कीजिए और बताइए कि संघ सरकार तथा कैण्टनों में क्या सम्बन्ध है?
2. स्विस् संघीय शासन की अमरीकी संघीय शासन ने तुलना कीजिए।
3. 'स्विट्जरलैण्ड एक वास्तविक संघ राज्य है।' विवेचना कीजिए।
4. स्विस् संघ में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति की विवेचना कीजिए।
5. स्विट्जरलैण्ड में संघ सरकार तथा कैण्टनों के बीच सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'स्विट्जरलैण्ड एक राज्यमण्डल नहीं, वरन एक संघ राज्य है।' स्पष्ट कीजिए।
2. स्विस् संविधान के संघीय लक्षण बताइए।
3. स्विस् संघ में कैण्टन और संघीय शासन के बीच शक्ति विभाजन किस प्रकार किया गया है?
4. स्विस् संघ में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के चार लक्षण बताइए।
5. स्विस् संघ और अमरीकी संघ के बीच क्या समानताएं हैं?
6. स्विस् संघ और अमरीकी संघ के बीच क्या असमानताएं हैं?
7. स्विस् संघीय व्यवस्था की तुलना अमरीकी संघीय व्यवस्था से कीजिए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्विस् संविधान के दो प्रमुख संघवादी तत्वों का उल्लेख कीजिए।
[उत्तर—(1) लिखित एवं कठोर संविधान तथा (2) शक्तियों का विभाजन]]
2. स्विस् संघ में अवशिष्ट शक्तियां किसको प्रदान की गई हैं?
[उत्तर—अवशिष्ट शक्तियां कैण्टनों को प्रदान की गई हैं]]
3. संविधान द्वारा सीनेट में प्रतिनिधित्व को लेकर पूर्ण कैण्टन और अर्द्ध कैण्टन में क्या अन्तर किया गया है?
[उत्तर—सीनेट में पूर्ण कैण्टन को दो प्रतिनिधि और अर्द्ध कैण्टन को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है]]
4. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्येक व्यक्ति को कितनी नागरिकताएं प्रदान की गई हैं?
[उत्तर—स्विट्जरलैण्ड में प्रत्येक नागरिक के लिए तीन नागरिकताओं की व्यवस्था की गई है।
न्युनिसिपैलिटी की नागरिकता, कैण्टन की नागरिकता तथा स्विस् संघ की नागरिकता]]
5. स्विस् संविधान में संघ के स्थान पर किस शब्द का प्रयोग किया गया है?
[उत्तर—संघ के स्थान पर 'राज्यमण्डल' शब्द का प्रयोग किया गया है]]

6. संवैधानिक संशोधन पर लिए गए लोक निर्णय में पूर्ण कैण्टन के कितने मत माने जाते हैं ?
[उत्तर—पूर्ण कैण्टन का एक मत समझा जाता है।]
7. स्विट्जरलैण्ड में संघीय अधिकार क्षेत्र वाले किन्हीं दो विषयों के नाम लिखिए।
[उत्तर—(1) डाक-तार एवं (2) टेलीफोन।]
8. स्विट्जरलैण्ड में समवर्ती अधिकार क्षेत्र वाले किन्हीं दो विषयों के नाम लिखिए।
[उत्तर—(1) प्रेस पर नियन्त्रण तथा (2) बैंक व्यवसाय।]
9. कैण्टनों को अपना अलग संविधान बनाते समय किन बातों को ध्यान में रखना होता है ? किन्हीं दो का उल्लेख कीजिए।
[उत्तर—(1) कैण्टन का संविधान संघीय संविधान के अनुकूल होना चाहिए तथा (2) उनके द्वारा अपने संविधान में गणतन्त्रात्मक प्रणाली को ही अपनाया जाना चाहिए।]
10. स्विस् संघ में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के कोई दो कारण बताइए।
[उत्तर—(1) संविधान द्वारा महत्वपूर्ण शक्तियाँ संघीय सरकार को सौंपना तथा (2) केन्द्र द्वारा कैण्टनों के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप की व्यवस्था।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किस देश में संघात्मक व्यवस्था को नहीं अपनाया गया है :
(अ) स्विट्जरलैण्ड (ब) अमेरिका
(स) भारत (द) ब्रिटेन
2. स्विस् संघ की घटक इकाइयों की संख्या है :
(अ) 50 (ब) 26 (स) 23 (द) 24
3. स्विस् राज्यमण्डल में प्रवेश करने वाला नया कैण्टन है :
(अ) शाहे फासन (ब) जूरा (Jura)
(स) सेण्ट गॉल (द) आरगाऊ
4. स्विस् संविधान में संघीय शासन का प्रमुख तत्व है :
(अ) लिखित और कठोर संविधान
(ब) शक्तियों का विभाजन
(स) उच्च सदन में इकाइयों का समान प्रतिनिधित्व
(द) उपर्युक्त सभी
5. संघीय संसद के द्वितीय सदन सीनेट में पूर्ण कैण्टन के द्वारा कितने प्रतिनिधि भेजे जाते हैं :
(अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार
6. संघीय संसद के द्वितीय सदन सीनेट में अर्द्ध कैण्टन के द्वारा कितने प्रतिनिधि भेजे जाते हैं :
(अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार
7. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्येक व्यक्ति को कितनी नागरिकताएं प्रदान की गई हैं :
(अ) एकल नागरिकता (ब) दोहरी नागरिकता
(स) तिहरी नागरिकता (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
8. स्विट्जरलैण्ड में नागरिकता प्राप्ति का क्रम है :
(अ) कैण्टन की नागरिकता, म्युनिसिपैलिटी की नागरिकता तथा स्विस् संघ की नागरिकता
(ब) म्युनिसिपैलिटी की नागरिकता, कैण्टन की नागरिकता तथा संघ की नागरिकता
(स) संघ की नागरिकता, म्युनिसिपैलिटी की नागरिकता तथा कैण्टन की नागरिकता
(द) म्युनिसिपैलिटी की नागरिकता

9. 13वीं सदी में कितने कैण्टनों ने मिलकर राज्यमण्डल का निर्माण किया था :
- (अ) तीन (ब) ग्यारह
(स) बाईस (द) पच्चीस
10. संवैधानिक संशोधन पर लिए गए लोक निर्णय में अर्द्ध कैण्टन के कितने मत माने जाते हैं :
- (अ) आधा मत (ब) एक मत
(स) दो मत (द) तीन मत
11. स्विस् संविधान में निम्नलिखित में से कौन-सा विषय संघीय अधिकार क्षेत्र में है :
- (अ) वैदेशिक सम्बन्ध (ब) डाक-तार
(स) टेलीफोन (द) उपर्युक्त सभी
12. स्विस् संविधान में निम्नलिखित में से कौन-सा विषय समवर्ती अधिकार क्षेत्र में है :
- (अ) प्रेस पर नियन्त्रण
(ब) बैंक व्यवसाय
(स) उद्योगों पर नियन्त्रण तथा उनका नियमन
(द) उपर्युक्त सभी
13. स्विस् संघ में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का कारण है :
- (अ) संविधान द्वारा महत्वपूर्ण शक्तियां संघीय सरकार को सौंपना
(ब) समवर्ती सूची के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति केन्द्रीय सरकार को
(स) केन्द्र द्वारा कैण्टनों के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप की व्यवस्था
(द) उपर्युक्त सभी
14. "स्विस् संविधान संघ को कैण्टनों का शिक्षक तथा निरीक्षक बना देता है।" यह कथन किस विद्वान का है :
- (अ) इप्रिज (ब) रैपार्ड
(स) ब्रुक्स (द) जुर्चर
15. स्विस् कैण्टनों का लक्षण नहीं है :
- (अ) उनका पृथक् संविधान है
(ब) उन्हें संघ से पृथक् होने का अधिकार है
(स) उन्हें अवशिष्ट शक्तियां प्राप्त हैं
(द) संविधान संशोधन में उनकी प्रमुख भूमिका होती है
16. अमरीकी और स्विस् संघ किस दृष्टि से भिन्नता रखते हैं :
- (अ) घटक इकाइयों के पृथक् संविधान (ब) कठोर संविधान
(स) न्यायिक पुनर्विलोकन (द) दोहरी नागरिकता
- [उत्तर—1. (द), 2. (स), 3. (ब), 4. (द), 5. (ब), 6. (अ), 7. (स), 8. (ब), 9. (अ), 10. (अ), 11. (द), 12. (द), 13. (द), 14. (अ), 15. (ब), 16. (स)]

4

संघीय व्यवस्थापिका : संघीय संसद

(FEDERAL LEGISLATURE : FEDERAL PARLIAMENT)

“स्विट्जरलैण्ड की कार्यपालिका की तरह ही वहां की व्यवस्थापिका भी विशिष्ट है, विश्व में वही एक ऐसी व्यवस्थापिका है, जिसके उच्च सदन की शक्ति निम्न सदन की शक्ति से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है।”¹ —प्रो. स्ट्रोंग

संघीय व्यवस्थापिका : संघीय संसद

(FEDERAL LEGISLATURE : FEDERAL PARLIAMENT)

स्विस संविधान के द्वारा शासन के तीन अंगों में व्यवस्थापिका अर्थात् संघीय संसद को निश्चित रूप में सर्वाधिक शक्तिशाली स्थिति प्रदान की गयी है। स्विस संविधान के अनुच्छेद 148 में कहा गया है, “जहां तक जनता के तथा कैण्टनों के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं होता है, राज्यमण्डल की सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग संघीय संसद करेगी, दो सदन प्रतिनिधि सभा और सीनेट होंगे तथा इन दोनों सदनों को समान शक्तियां प्राप्त होंगी।”²

स्विस संघीय संसद एक शक्तिशाली विधानमण्डल है और कार्यपालिका तथा संघीय न्यायाधिकरण को इसके अधीन किया गया है, परन्तु संघीय संसद ब्रिटिश संसद की भांति सम्प्रभुत्व सम्पन्न संस्था नहीं है। सर्वप्रथम, संघात्मक व्यवस्था और कठोर संविधान के कारण इसकी शक्ति सीमित हो गयी है। द्वितीय, स्विस संविधान में लोकनिर्णय और आरम्भक की जो व्यवस्था की गयी है उसके कारण कानून-निर्माण और संवैधानिक संशोधन के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति जनता को प्राप्त हो गयी है, विधानमण्डल को नहीं।

संघीय संसद की एक अन्य विशेष बात दोनों सदनों की बिल्कुल समान शक्तियां हैं। प्रतिनिधि सभा और सीनेट की शक्तियों में कोई अन्तर नहीं है और प्रो. स्ट्रोंग के शब्दों में, “यह इस दृष्टि से अनोखी है।”

- 1 “Swiss Legislature, like the Swiss Executive is unique. It is the only legislature in the world the functions of whose Upper House are in no way differentiated from those of the lower.” —C. F. Strong, *Modern Political Constitutions*, p. 206.
- 2 “Subject to the rights of the people and the Cantons the federal parliament is the highest authority of the confederation.....It has two Chambers, the House of Representatives and the Senate, which have equal powers.”

Article 148 of the New Swiss Constitution.

संघीय संसद : द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका

(FEDERAL PARLIAMENT : BI-CAMERAL LEGISLATURE)

1848 में निर्मित संविधान (पूर्व संविधान) में संघीय व्यवस्थापिका को संघीय सभा का नाम दिया गया था तथा इसके दो सदन थे—राष्ट्रीय परिषद और राज्य परिषद। अब नवीन संविधान के अन्तर्गत संघीय व्यवस्थापिका को संघीय संसद का नाम दिया गया है तथा इस संघीय संसद के दो सदन हैं—प्रतिनिधि सभा और सीनेट। प्रतिनिधि सभा निम्न सदन है और सीनेट उच्च सदन।

प्रतिनिधि सभा (House of Representatives)

रचना (Composition)—संविधान के अनुसार प्रतिनिधि सभा के सदस्यों की संख्या 200 होगी। प्रत्येक कैण्टन एक निर्वाचकीय जिला होगा तथा प्रत्येक कैण्टन के द्वारा अपनी जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधि, प्रतिनिधि सभा में भेजे जाएंगे; इसके साथ ही प्रत्येक कैण्टन का कम से कम एक प्रतिनिधि, प्रतिनिधि सभा में अवश्य ही होगा। जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होने के कारण बर्न और ज्यूरिच जैसे बड़े कैण्टनों के द्वारा प्रतिनिधि सभा में क्रमशः 32 और 31 प्रतिनिधि भेजे जाते हैं, लेकिन ऊरी जैसे कैण्टन का प्रतिनिधि सभा में एक ही प्रतिनिधि है। प्रति चार वर्ष के पश्चात् प्रतिनिधि सभा के नवीन चुनाव होंगे।

चुनाव प्रणाली (Election System)—स्विट्जरलैण्ड में अब 18 वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक स्विस् नागरिक को मताधिकार प्राप्त है तथा विशेष बात यह है कि 'प्रत्येक स्विस् नागरिक, जिसे मताधिकार प्राप्त है, प्रतिनिधि सभा, संघीय सरकार या संघीय सर्वोच्च न्यायालय की सदस्यता प्राप्त कर सकता है।' इस सम्बन्ध में प्रतिबन्ध यह है कि वह एक समय पर प्रतिनिधि सभा, सीनेट, संघीय सरकार या संघीय सर्वोच्च न्यायालय इनमें से किसी एक संस्था की सदस्यता ही प्राप्त कर सकता है। इसके साथ ही पादरी और संघीय सरकार के कर्मचारी भी प्रतिनिधि सभा का चुनाव नहीं लड़ सकते हैं। प्रतिनिधि सभा के चुनाव प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर होंगे।

सीनेट (Senate)

रचना और चुनाव—सीनेट की सदस्य संख्या 46 होगी। स्विस् परिसंघ के 'अर्द्ध कैण्टनों (ओववाल्ड, निडवाल्ड, बसेल सिटी, बसेल लैण्ड, एपेनजेल आउटर रोड्स और अपेनजेल इनर रोड्स) में से प्रत्येक सीनेट के लिए अपना एक प्रतिनिधि भेजेगा तथा शेष 20 पूर्ण कैण्टनों में से प्रत्येक के द्वारा अपने 2 प्रतिनिधि सीनेट के लिए भेजे जाएंगे। सीनेट सदस्यों के चुनाव का समस्त नियमन कैण्टनों द्वारा किया जाएगा।

1848 में निर्मित संविधान (जो 1998 तक लागू था) में इस बात का प्रावधान था कि 'राज्य परिषद (संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन) के सदस्यों के चुनाव का समस्त नियमन कैण्टनों द्वारा किया जाएगा।' परिणामतया व्यवहार में व्यवस्था यह थी कि अधिकांश कैण्टनों में राज्य परिषद के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से, लेकिन 4 कैण्टनों में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते थे। इसी प्रकार विभिन्न कैण्टनों द्वारा राज्य परिषद के लिए निर्वाचित सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष से लेकर चार वर्ष था। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत भी व्यवहार में स्थिति

1 "Every Swiss citizen entitled to vote is eligible for membership in the House of Representatives, the Federal Govt. and the Federal Supreme Court."

यही है। इस व्यवस्था के पीछे मान्यता यह है कि द्वितीय सदन के सदस्य संघीय व्यवस्थापिका में स्विस जनता का नहीं वरन् कैण्टनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः अपने प्रतिनिधियों के चुनाव के सम्बन्ध में समस्त शक्ति कैण्टनों को ही प्राप्त होनी चाहिए।

प्रतिनिधि सभा और सीनेट (संघीय संसद के दोनों सदनों) से सम्बन्धित अन्य बातें

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष पद—प्रत्येक सदन अपने सदस्यों में से एक वर्ष की अवधि के लिए अध्यक्ष, प्रथम उपाध्यक्ष और द्वितीय उपाध्यक्ष का चुनाव करेगा तथा एक वर्ष की अवधि के उपरान्त उन्हें तत्काल ही दूसरे वर्ष के लिए नहीं चुना जा सकेगा। इस सम्बन्ध में स्विट्जरलैण्ड में यह परम्परा चली आ रही है कि एक वर्ष जिस कैण्टन का सदस्य अध्यक्ष रह चुका है, दूसरे वर्ष उसी कैण्टन का सदस्य अध्यक्ष नहीं चुना जा सकता है अर्थात् प्रत्येक वर्ष अध्यक्ष भिन्न-भिन्न कैण्टनों से चुने जाएंगे और एक ही कैण्टन के सदस्य अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष नहीं चुने जा सकते हैं। यह परम्परा भी स्थापित हो गई है कि गत वर्ष के उपाध्यक्ष को अगले वर्ष अध्यक्ष बना दिया जाता है। अध्यक्ष सदन की अध्यक्षता करता है तथा उसे 'निर्णायक मत' देने का अधिकार होता है।

अधिवेशन और विशेष अधिवेशन—सदन के अधिवेशन नियमित रूप से होंगे तथा कानून अधिवेशन बुलाने से सम्बन्धित समस्त व्यवस्था निर्धारित करेंगे। सम्बन्धित सदन के ये सदस्य या संघीय सरकार आग्रह कर सकती है कि सदन के विशेष अधिवेशन बुलाए जाएं।

सदनों की पृथक्-पृथक् बैठक और संयुक्त बैठक—सामान्यतया प्रतिनिधि सभा और सीनेट की पृथक्-पृथक् बैठकें होंगी। कोई भी विषय दोनों सदनों से पारित होने पर ही उसे संघीय संसद का निर्णय कहा जाएगा।

संयुक्त बैठक—संविधान के अनुच्छेद 157 में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की व्यवस्था की गई है। दोनों सदनों की संयुक्त बैठक निम्न कार्यों के लिए बुलाई जाएगी तथा इसकी अध्यक्षता प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष करेंगे :

- (i) संघीय सरकार के सदस्यों तथा अन्य पदाधिकारियों के चुनाव हेतु;
- (ii) उच्च संघीय सत्ताओं के बीच क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवादों के निबटारे हेतु;
- (iii) क्षमादान के प्रार्थना-पत्रों पर निर्णय हेतु।

विशेष अवसरों पर और संघीय शासन की घोषणाएं सुनने हेतु भी संघीय संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक होगी।

दोनों सदनों की पृथक्-पृथक् संयुक्त बैठकें सार्वजनिक रूप से होंगी, कानून के आधार पर किसी विषय पर विचार हेतु गुप्त बैठक की व्यवस्था की जा सकती है।

गणपूर्ति और निर्णय प्रक्रिया—गणपूर्ति के लिए सदन के बहुमत सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक होगी।

दोनों सदनों की पृथक्-पृथक् बैठकों में और दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में भी निर्णय मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के बहुमत से होंगे, लेकिन संयुक्त बैठक में निम्न विषयों पर निर्णय के लिए दोनों सदनों का अलग-अलग बहुमत आवश्यक होगा :

- (i) किन्हीं संघीय कानूनों को 'अत्यावश्यक' (Urgent) घोषित करने हेतु;
- (ii) एकमुश्त 20 मिलियन फ्रैंक के खर्च की स्वीकृति देने हेतु या दो मिलियन स्विस फ्रैंक से अधिक आवर्तक (Recurrent) व्यय की स्वीकृति हेतु।

(iii) अनुच्छेद 126(3) के अधीन विशेष भुगतान आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए समस्त व्यय में वृद्धि हेतु।

संसदीय आयोग, संसदीय वर्ग (Group) और संसदीय सेवाओं की व्यवस्था—संसद अपना कार्य सुचारु रूप से कर सके, इसके लिए अनुच्छेद 153 में संसदीय आयोग, अनुच्छेद 154 में संसदीय वर्ग और अनुच्छेद 155 में संसदीय सेवाओं की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 153 के अनुसार प्रत्येक सदन अपने सदस्यों में से एक संसदीय आयोग नियुक्त कर सकेगा तथा उसे विधायी प्रकृति के कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य सौंपे जा सकेंगे। इसी प्रकार 'संघीय संसद के सदस्य किन्हीं कार्यों के सम्पादन हेतु अपने सदस्यों में से 'संसदीय वर्ग' बना सकेंगे तथा संसद को कार्य सम्पादन में सहायता देने हेतु संसदीय सेवाएं होंगी।

संघीय संसद की कार्यप्रणाली की विशेष बात यह है कि संघीय संसद की कार्यवाही का प्रत्येक प्रलेख जर्मन, फ्रेंच, इटालियन और रोमांच चारों ही भाषाओं में प्रकाशित किया जाता है।

संघीय संसद की शक्तियां और कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE FEDERAL PARLIAMENT)

स्विट्जरलैण्ड में संघीय संसद के दोनों सदनों—प्रतिनिधि सभा और सीनेट को विधायी, प्रशासनिक तथा वित्तीय सभी क्षेत्रों में समान शक्तियां प्रदान की गयी हैं। वर्तमान संविधान के अनुच्छेद 173 की उपधारा 2 में कहा गया है कि, "प्रतिनिधि सदन एवं सीनेट दोनों उन सभी कार्यों को सम्पन्न करेंगी जो कि वर्तमान संविधान द्वारा संघीय अधिकार क्षेत्र में रखे गये हैं और जो अन्य किसी अधिकारी को नहीं सौंपे गये हैं।" संविधान के अनुच्छेद 160 से 173 में संघीय संसद के अधिकारों का विस्तृत उल्लेख किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि संघीय संसद को विधायी, प्रशासकीय, न्यायिक और वित्तीय सभी क्षेत्रों में अधिकार प्राप्त हैं।

संघीय संसद की शक्तियों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

1. **विधायी शक्तियां (Legislative Powers)**—संघीय संसद मूलतः एक विधायी सभा है और इसका प्रमुख कार्य कानून निर्माण है। संविधान द्वारा संघीय अधिकार क्षेत्र में रखे गये सभी विषयों पर इसे कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है। कानून बनाने के अतिरिक्त इसे 'संघीय आधिकारिक आदेश' (Federal decrees) जारी करने का अधिकार प्राप्त है। संघीय संसद जिसे 'सामान्य संघीय आदेश' (Simple Federal decree) घोषित करती है, उस पर लोक निर्णय की व्यवस्था नहीं है।

संघीय संसद की विधायी शक्तियों का उल्लेख अनुच्छेद 164 में किया गया है। इसे निम्न विषयों में नियम निर्धारण का अधिकार प्राप्त है :

- (i) राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में,
- (ii) संवैधानिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में,
- (iii) व्यक्तियों के अधिकार और दायित्वों के सम्बन्ध में,
- (iv) करदाताओं के वर्ग के सम्बन्ध में तथा करों के उद्देश्य और निर्धारण के सम्बन्ध में,

1 "The Federal Parliament shall moreover deal with all subjects that are within the powers of the confederation and are not attributed to another federal authority."

—Article 173(2)

- (v) परिसंघ के कार्य और सेवाओं के सम्बन्ध में,
- (vi) संघीय कानूनों को लागू करने और क्रियान्वित करने के प्रसंग में कैण्टनों के दायित्व के निर्धारण हेतु,
- (vii) संघीय सत्ताओं के गठन और प्रक्रिया के सम्बन्ध में।

अत्यावश्यक व्यवस्थापन (Urgent Legislation)—अनुच्छेद 165 सामान्य कानूनों पर लोक निर्णय की व्यवस्था करता है और लोक निर्णय की व्यवस्था अन्तिम रूप से कानून बनाकर उसे लागू करने में विलम्ब और कभी भारी विलम्ब को जन्म देती है। अतः विशेष परिस्थितियों के लिए 'अत्यावश्यक व्यवस्थापन' का प्रावधान किया गया है। एक संघीय कानून, जिसे तत्काल ही प्रभाव में लाने की आवश्यकता हो, उसे संघीय संसद के प्रत्येक सदन द्वारा 'अत्यावश्यक' घोषित कर तुरन्त प्रभाव से लागू किया जा सकता है, लेकिन यह व्यवस्था सीमित समय के लिए ही है।

यदि किसी 'अत्यावश्यक संघीय कानून' पर 50 हजार नागरिकों द्वारा लोक निर्णय की मांग की जाती है तथा यदि इसे एक वर्ष की अवधि में जनता द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता है तो संघीय संसद द्वारा लागू किए जाने के एक वर्ष के बाद यह समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार 'अत्यावश्यक व्यवस्थापन' के उपर्युक्त प्रावधान के आधार पर संघीय संसद को एक वर्ष के लिए तत्काल ही कानून बनाने और लागू करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

2. **संविधान में संशोधन की शक्ति**—संघीय संसद संविधान के संशोधन कार्य में भी महत्वपूर्ण स्थिति रखती है। प्रत्येक संशोधन प्रस्ताव इसके दोनों सदनों द्वारा पारित किये जाने पर ही लोकनिर्णय के लिए भेजा जाता है। जब संघीय संविधान के पूर्ण संशोधन का प्रस्ताव विचारार्थ हो तो संघीय संसद को भंग कर नवीन संघीय संसद का निर्वाचन आवश्यक होता है।

संघीय संसद की संविधान संशोधन की शक्ति पर लोकनिर्णय के साथ-साथ आरम्भक का नियन्त्रण भी है। यदि एक लाख स्विस मतदाता संविधान में संशोधन का प्रस्ताव करते हैं, तो संघीय संसद को उस पर विचार करना होगा।

3. **निर्वाचन (नियुक्ति) सम्बन्धी शक्ति**—संघीय संसद को स्विस संघ की महत्वपूर्ण संस्थाओं के सदस्यों की नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त है। संघीय संसद ये नियुक्तियां निर्वाचन के आधार पर करती है। संविधान के अनुसार उसे संघीय परिषद व संघीय न्यायालय के सदस्यों, संघ के चांसलर व संकटकाल में मुख्य सेनाध्यक्ष को चुनने का अधिकार है। वही संघीय बीमा न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन करती है। संविधान के अनुसार संघीय संसद को संघीय परिषद के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के चयन, संघीय न्यायालय के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के निर्वाचन तथा कुछ अन्य चुनाव सम्बन्धी और पुष्टिकरण सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। इनमें से अधिकांश नियुक्तियां संघीय संसद के दोनों सदन अपने संयुक्त अधिवेशन में करते हैं।

4. **कार्यपालिका शक्ति (Executive Powers)**—संघीय संसद मूलतः एक विधायी निकाय है, लेकिन इसे कार्यपालिका के क्षेत्र में भी व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं। कार्यपालिका क्षेत्र में संघीय संसद की शक्तियों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(i) **वैदेशिक सम्बन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के सम्बन्ध में शक्ति**—अनुच्छेद 166 के अनुसार संघीय संसद विदेश नीति के निर्धारण में भाग लेगी और वैदेशिक सम्बन्धों का निरीक्षण करेगी। यह अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को स्वीकृति देगी। इस सम्बन्ध में अपवाद यह है

कि जिन सन्धियों के सम्बन्ध में संघीय शासन को समस्त शक्ति प्राप्त है, उन पर संघीय संसद की स्वीकृति आवश्यक नहीं होगी।

(ii) संघीय सत्ताओं का निरीक्षण और नियन्त्रण—अनुच्छेद 169 के अनुसार, “संघीय संसद को संघीय शासन, संघीय प्रशासन, संघीय न्यायालयों तथा अन्य अंगों, जिन्हें परिसंघ के कार्यों का सम्पादन सौंपा गया है, के कार्यों के निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है।” संघीय संसद का यह अधिकार उसे संघीय सरकार और अन्य संघीय सत्ताओं पर नियन्त्रण दे देता है। संघीय संसद इस बात की व्यवस्था करेगी कि परिसंघ द्वारा अपने हाथ में लिए गए विभिन्न कार्यों की प्रभावदायकता का मूल्यांकन हो।

(iii) अनुच्छेद 171 के अनुसार “संघीय संसद संघीय सरकार को आदेश दे सकती है। इस सम्बन्ध में विस्तार की बातों का निर्धारण कानूनों के आधार पर होगा।”¹

5. वित्तीय शक्ति (Financial Powers)—संघीय संसद की सबसे प्रमुख शक्ति बजट की स्वीकृति से सम्बन्धित है। संघीय सरकार जो बजट बनाती है, उसे स्वीकार करना संघीय संसद का कार्य है। बजट के सम्बन्ध में इसकी स्वीकृति अन्तिम होती है, क्योंकि इस पर ऐच्छिक लोकनिर्णय का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। संघ की ओर से दिये जाने वाले ऋणों के विषय में भी निर्णय संघीय संसद ही करती है। संघीय प्राधिकारियों के वेतन तथा भत्ते निर्धारित करना तथा संघीय शासन के स्थायी पदों का निर्माण तथा उनके वेतन, आदि निर्धारित करना भी संघीय संसद का कार्य है। संघीय संसद संघीय सरकार के ‘आय-व्यय के लेखे’ (Accounts) की भी जांच कर उसे स्वीकृति प्रदान करती है।

6. कैण्टनों से सम्बन्धित शक्ति (Power Relating to Cantons)—संघीय संसद को यह भी अधिकार प्राप्त होता है कि वह कैण्टनों के संविधान और उनके संशोधनों की उचित जांच कर उन्हें स्वीकार करे। कैण्टन विदेशों से जो सन्धियां करते हैं उन पर संघीय संसद का अनुमोदन आवश्यक है। इसी प्रकार कैण्टन परस्पर जो सन्धियां करते हैं, उनके बारे में भी संघीय संसद का अनुमोदन आवश्यक है, यदि संघीय सरकार या अन्य कैण्टन सन्धि पर कोई आपत्ति उठावें। आन्तरिक शान्ति बनाये रखना और उसके लिए यदि आवश्यक हो तो संघीय सेना का प्रयोग करना भी संविधान के अनुसार संघीय संसद का कार्य है, परन्तु व्यवहार में यह कार्य संघीय सरकार द्वारा किया जाता है।

7. न्यायिक शक्ति (Judicial Power)—वर्तमान संविधान के द्वारा एक संघीय सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है, स्वाभाविक रूप से संघीय संसद की न्यायिक शक्तियां सीमित हो गई हैं, लेकिन अब भी न्याय के क्षेत्र में उसे कुछ अधिकार प्राप्त हैं, जिनका उल्लेख अनुच्छेद 173 में किया गया है। संघीय संसद संघ की विविध सत्ताओं के बीच कार्यक्षेत्र सम्बन्धी विवादों का निर्णय करती है। संघीय संसद अपने द्वारा नियुक्त अधिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही भी कर सकती है। संघीय संसद न्यायालयों से दण्डित व्यक्तियों की ‘क्षमा याचिकाओं’ (Petitions for Pardon) पर विचार कर निर्णय करती है तथा ‘सामूहिक क्षमादान’ की घोषणा करती है।

1 “The federal parliament may confer mandates to the federal government. The statute shall regulate the modalities.”

अन्य कार्य या शक्तियाँ—उपर्युक्त सभी शक्तियों के अतिरिक्त अनुच्छेद 173 के द्वारा संघीय संसद को अन्य कुछ कार्य भी कार्य सौंपे गए हैं। ये इस प्रकार हैं :

(i) यह स्विट्जरलैण्ड की बाहरी सुरक्षा, स्वतन्त्रता और तटस्थता की रक्षा करने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी।

(ii) यह आन्तरिक सुरक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाएगी।

(iii) असाधारण परिस्थितियों में अनुच्छेद 173 के उपर्युक्त प्रथम और द्वितीय कार्य की पूर्ति हेतु 'अध्यादेश' या 'साधारण संघीय आदेश' जारी कर सकती है।

(iv) यह सक्रिय सैनिक सेवा का आदेश दे सकती है तथा इस उद्देश्य से समस्त सेना या उसके एक भाग की लामबन्दी कर सकती है।

(v) यह राज्य की सभी गतिविधियों के आयोजन में सहायता देगी।

इस प्रकार संविधान के द्वारा संघीय संसद को बहुत अधिक व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

संघीय संसद की वास्तविक स्थिति (Actual Position of the Federal Parliament)—संघीय संसद की शक्तियों की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि "संघीय संसद की स्थापना करते हुए स्विस् संविधान के निर्माताओं ने शक्ति-विभाजन के मर्यादापूर्ण सिद्धान्त पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है क्योंकि उन्होंने इसे विधायी, प्रशासनिक और न्यायिक सभी प्रकार की शक्तियाँ प्रदान की हैं।"¹

लेकिन व्यवहार में संघीय संसद उतनी शक्तिशाली नहीं है, जितनी शक्तिशाली संविधान-निर्माता उसे बनाना चाहते थे। विधायी क्षेत्र में संघीय संसद की शक्ति ऐच्छिक लोकनिर्णय (Optional Legislative Referendum) के कारण सीमित हो गयी है। न केवल संवैधानिक दृष्टि से यह व्यवस्था है, वरन् व्यवहार में भी ऐच्छिक लोकनिर्णय की शक्ति का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। परिणामस्वरूप संघीय संसद को सदैव यह ध्यान में रखना होता है कि कानूनों पर लोकनिर्णय हो सकता है और इसके कारण वे समाप्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में कानून-निर्माण का कार्य पर्याप्त जटिल हो गया है और इस कारण विधायी क्षेत्र में भी संघीय संसद के स्थान पर संघीय सरकार ही पहल करती है।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक देश में कल्याणकारी राज्य के उदय और संकटकालीन स्थिति के कारण कार्यपालिका की शक्तियाँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं और व्यवस्थापिका की शक्तियों का हास हो रहा है। स्विट्जरलैण्ड में भी संघीय सरकार द्वारा शासन-सूत्र के संचालन में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति बना लिये जाने के कारण संघीय संसद का महत्व कम हो गया है। जुर्चर ने ठीक ही कहा है कि "यह पर्याप्त स्पष्ट है कि संघीय सरकार का विधायी महत्व स्थायी रूप से बढ़ गया है और अन्य पश्चिमी प्रजातन्त्रों के समान ही स्विट्जरलैण्ड में भी कम-से-कम वास्तविकता की दृष्टि से, संघीय सरकार शासन का सर्वप्रमुख अंग बन गयी है।"

संघीय संसद के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि संसद अपने समस्त कार्य शान्ति, समझ और ईमानदारी से सम्पन्न करती है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, "स्विट्जरलैण्ड की

1 "The makers of the Swiss Constitution did not pay much attention to the orthodox theory of separation of powers in establishing the Federal Assembly, since they conferred upon it all kinds of authority—legislative executive and even Judicial."
—Zurcher, *Governments of Continental Europe*, p. 437.

संघीय सभा बड़ी ईमानदारी से कार्य करने वाली संस्था है जो शान्ति तथा देशप्रेम से प्रभावित होकर अपने कार्य सम्पन्न करती है। वहां के सदस्य व्यर्थ में ओजस्वी भाषण नहीं देते, न उन भाषणों की प्रशंसा की जाती है। वे तो व्यवहार में अपना कार्य कुशलतापूर्वक ढंग से सम्पन्न करने से ही सम्बन्ध रखते हैं।” लार्ड ब्राइस ने 1848 के संविधान द्वारा स्थापित संघीय सभा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह वर्तमान संविधान द्वारा स्थापित संस्था संघीय संसद के सम्बन्ध में भी सत्य है।

संघीय संसद के दोनों सदनों का पारस्परिक सम्बन्ध (INTER-RELATION BETWEEN THE TWO CHAMBERS OF FEDERAL PARLIAMENT)

स्विस संविधान के अनुसार संघीय संसद के दोनों सदनों की शक्तियां बिल्कुल समान हैं। इस सम्बन्ध में प्रो. स्ट्रोंग ने लिखा है कि “स्विस संघीय संसद संघीय सरकार की भांति ही विचित्र है, क्योंकि इसमें दोनों सदनों के अधिकार एक से हैं और उच्च सदन की शक्तियां किसी भी दृष्टि से निम्न सदन से कम या अलग नहीं हैं।”

साधारण विधेयक हो या वित्त विधेयक, संघीय संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और कानून का रूप धारण करने के लिए इसे दोनों सदनों से पारित होना आवश्यक है। यदि किसी विधेयक पर दोनों सदनों में विरोध उत्पन्न हो जाय, तो दोनों सदनों की एक ‘संयुक्त सम्मेलन समिति’ (Joint Conference Committee) स्थापित की जाती है, जो विधेयक के बारे में गतिरोध दूर करने के लिए विचार करती और दोनों सदनों के सम्मुख अपने सुझाव रखती है। यदि दोनों सदनों में गतिरोध दूर हो जाय, तो ठीक है। यदि अब भी गतिरोध दूर न हो, तो संयुक्त सम्मेलन समिति पुनः इसी प्रकार से कार्य करती है। यदि फिर भी विधेयक पर गतिरोध बना रहे तो, उस विधेयक को ही समाप्त कर दिया जाता है। व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि स्विट्जरलैंड के दोनों सदनों में गतिरोध बहुत कम ही होते हैं। इसका कारण यह है कि दोनों सदनों में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है और दोनों ही सदन व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर अपना कार्य करते हैं।

संविधान द्वारा संघीय संसद के दोनों सदनों को समान शक्तियां प्रदान किये जाने पर भी व्यवहार में, द्वितीय सदन (सीनेट) की शक्तियां घटने लगी हैं। प्रतिनिधि सभा की तुलना में सीनेट का प्रभाव कम होने का एक कारण यह है कि सीनेट एक लोकप्रिय सदन नहीं है। सीनेट ने अपनी इच्छा से प्रतिनिधि सभा की तुलना में गौण स्थान प्राप्त कर लिया है, क्योंकि प्रतिनिधि सभा में जनता के प्रतिनिधि बैठते हैं और सीनेट में केवल कैबिनेटों के प्रतिनिधि। लबेल का मत है कि “दो शक्तिशाली संस्थाओं में से जिस संस्था में राजनीतिक नेता रहते हैं, वह कालान्तर में सामान्यतः निश्चित रूप से अधिक शक्तिमान हो जाती है तथा इसी कारण यह आश्चर्यजनक नहीं है कि सीनेट प्रतिनिधि सभा की तुलना में कम अधिकार तथा प्रभाव रखती है।”

लेकिन व्यवहार में सीनेट को कुछ गौण स्थिति प्राप्त होने के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि सीनेट व्यर्थ है। व्यवहार के अन्तर्गत कुछ परिस्थितियों में सीनेट ने प्रतिनिधि सभा की अपेक्षा जन-दृष्टिकोण को अधिक अच्छे रूप में समझा है।

स्विट्जरलैण्ड की व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में सामान्यतया पारस्परिक विरोध की स्थिति नहीं देखी जाती। प्रो. घोष के शब्दों में “स्विट्जरलैण्ड में सदैव दोनों ही सदनों में बहुत सुखद और मधुर सम्बन्ध देखे जाते हैं। ऐसे अवसर भी कम नहीं हुए हैं जबकि सीनेट ने प्रसन्नता के साथ न केवल प्रतिनिधि सभा की मांग के लिए मार्ग-प्रशस्त किया, वरन् स्वयं प्रतिनिधि सभा से बढ़कर राष्ट्रीयता का परिचय दिया।”¹

इसके अतिरिक्त विश्व के अन्य देशों की व्यवस्थापिकाओं के द्वितीय सदन अपनी प्रतिक्रियावादिता के लिए कुख्यात रहे हैं, लेकिन स्विस् सीनेट के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। मुनरो के शब्दों में, “विश्व के अधिकांशतः द्वितीय सदनों के समान सीनेट ने प्रतिक्रियावादी होने की प्रसिद्धि प्राप्त नहीं की है। स्विस् सीनेट को कोई भी व्यक्ति प्रतिक्रियावादिता का गढ़ अथवा प्रगति को रोकने वाली संस्था नहीं कहता है।”²

सीनेट की अन्य राज्यों के द्वितीय सदन से तुलना

(COMPARISON OF SENATE WITH SECOND CHAMBER OF OTHER COUNTRIES)

स्विट्जरलैण्ड की सीनेट की तुलना अनेक बार इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा, भारत की राज्य सभा और अमरीका की सीनेट से की जाती है। जहां तक इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा और भारत की राज्य सभा का सम्बन्ध है, स्विस् सीनेट को इन दोनों ही सदनों से अधिक शक्तिशाली कहा जा सकता है। ग्रेट ब्रिटेन की लॉर्ड सभा साधारण विधेयकों में एक वर्ष की देर कर सकती है और वित्त विधेयकों को एक माह तक रोके रख सकती है। इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा, लोक सदन (House of Commons) की तुलना में निश्चित रूप से बहुत अधिक निर्बल है, जबकि स्विस् सीनेट की शक्तियां प्रतिनिधि सभा के बराबर हैं। भारत में राज्य सभा की शक्तियां साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में कम-से-कम वैधानिक दृष्टि से लोक सभा के बराबर हैं, परन्तु वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में उसकी स्थिति बहुत ही निर्बल है, क्योंकि उसके द्वारा केवल 14 दिन तक ही वित्त विधेयक को रोके रखने का कार्य किया जा सकता है, लेकिन स्विस् सीनेट को सभी विषयों में प्रतिनिधि सभा के बराबर ही शक्तियां प्राप्त हैं। इस प्रकार स्विस् सीनेट इंग्लैण्ड की लॉर्ड सभा और भारत की राज्य सभा की तुलना में निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है।

स्विस् सीनेट की कभी-कभी अमरीकी सीनेट से भी तुलना की जाती है। अमरीकी सीनेट को न केवल प्रतिनिधि सभा के बराबर शक्तियां प्राप्त हैं, वरन् उसे कार्यपालिका के क्षेत्र में कुछ अतिरिक्त शक्तियां भी प्राप्त हैं जैसे राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों की पुष्टि करने तथा सन्धियों के अनुसमर्थन की शक्ति। इन शक्तियों ने अमरीकी सीनेट को विशेष और बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान कर दी है, जैसी स्थिति न तो अमरीकी प्रतिनिधि सभा को प्राप्त है और न ही विश्व के अन्य किसी द्वितीय सदन को प्राप्त है। इस प्रकार अमरीकी सीनेट स्विस् सीनेट से अधिक शक्तिशाली है।

1 “In Switzerland there has always been a very happy adjustment and cordial understanding between the two houses. Occasions are not rare when the Council of States has not only gladly given way to the demands of the National Council but has proved more national than the other.”

—R. G. Ghose, *The Governments of the Swiss Republic*, p. 73.

2 “Unlike most upper chambers, moreover it (Council of States) has not acquired a reputation for being more conservative than the other chamber. No one ever speaks of the Swiss Council of States as a citadel of reaction or a break upon the wheels of progress.”

—Munro & Ayearst, *The Governments of Europe*, pp. 740-47.

संघीय संसद में समिति व्यवस्था

(COMMITTEE SYSTEM IN FEDERAL PARLIAMENT)

अन्य देशों की भांति स्विट्जरलैण्ड में भी व्यवस्थापिका के विधायी कार्य को हल्का करने के लिए समिति व्यवस्था को अपनाया गया है। संघीय संसद के प्रथम सदन (प्रतिनिधि सभा) में 12 और द्वितीय सदन (सीनेट) में 10 स्थायी समितियां हैं। इनमें से प्रमुख स्थायी समितियां ये हैं : (1) क्षमादान समिति, (2) संघीय रेलवे समिति (Federal Railway Committee), (3) रेलवे रियायत समिति (Railway Concession Committee), (4) वित्त समिति, (5) याचिका समिति, (6) विदेश समिति, (7) सीमाशुल्क समिति (Customs Duty Committee)।

इन समितियों में विभिन्न राजनीतिक दलों को उस अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, जिस अनुपात में व्यवस्थापिका में इन राजनीतिक दलों के सदस्य होते हैं। ये समितियां विधेयकों के सम्बन्ध में आवश्यक तथ्य एकत्रित करती हैं और उन पर सूक्ष्म रूप में विचार कर सदन को अपनी सम्मति देती हैं। स्विट्जरलैण्ड में इन समितियों की भूमिका परामर्श देने भर की है और उन्हें विधेयकों के सम्बन्ध में वह स्थिति प्राप्त नहीं है, जो स्थिति अमरीकी समितियों को प्राप्त है। इन समितियों से समय की बचत होती है और विधायी कार्य अधिक श्रेष्ठ रूप में सम्पन्न हो सकता है।

विधायी प्रक्रिया

(LEGISLATIVE PROCESS)

स्विस संघीय संसद के दोनों सदनों के अधिवेशन संघीय सरकार के सदस्यों, संघीय न्यायालय के न्यायाधीश और कुछ दूसरे संघीय अधिकारियों के निर्वाचन तथा कुछ अन्य प्रयोजनों के लिए संयुक्त रूप में होते हैं। ये संयुक्त अधिवेशन प्रतिनिधि सभा के भवन में होते हैं और प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष ही संयुक्त अधिवेशन का सभापतित्व करता है। शेष कार्यों के लिए दोनों सदनों के पृथक-पृथक अधिवेशन होते हैं।

विधायी क्षेत्र के दोनों सदनों की शक्तियां बिल्कुल समान हैं और साधारण विधेयक हो या वित्तीय विधेयक, संविधान के अनुसार किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है। लेकिन व्यवहार में यह परम्परा स्थापित हो गयी है कि बजट पहले निम्न सदन में रखा जाता है और रेल बजट दोनों सदनों में एक साथ प्रस्तुत किया जाता है।

संक्षेप में, विधायी प्रक्रिया इस प्रकार है :

विधेयक प्रस्तुत करना (Proposition of the Bill)—स्विट्जरलैण्ड में विधायी सदनों में विधेयक चार प्रकार से प्रस्तुत होते हैं—(i) संघीय सरकार द्वारा, (ii) संघीय संसद द्वारा, (iii) कैण्टनों द्वारा, और (iv) संघीय संसद के किसी सदन के किसी भी सदस्य द्वारा। लेकिन व्यवहार में संघीय सरकार ही अधिकांश विधेयक तैयार करती है और उन्हें प्रस्तावित करती है। वित्त विधेयक संघीय सरकार द्वारा ही प्रस्तावित हो सकता है, किसी सदस्य द्वारा नहीं। विधेयक प्रस्तावित होने पर उसके सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। यदि उससे सदन सहमत है तो विधेयक समिति को विचारार्थ सौंप दिया जाता है।

समिति अवस्था (Committee Stage)—समिति में सदन के समस्त दलों को अपनी सदस्य संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। स्विट्जरलैण्ड में विधायी समितियां प्रायः अपनी बैठकें उस समय करती हैं, जब सदन का अधिवेशन न हो रहा हो। समितियां

प्रायः विधेयक के मूल प्रारूप को नहीं बदलतीं, वरन् विधेयकों में केवल आवश्यक संशोधन का ही सुझाव देती हैं। मुख्यतः समिति प्रत्येक विचाराधीन प्रश्न को सर्वसम्मति से सुलझाती है और फिर अपने निर्णय को एक निर्धारित प्रतिवेदक के द्वारा सम्बद्ध सदन में भेज देती है।

सदन में विधेयकों को पारित करना (Passing of the Bill by the Chambers)—समिति की रिपोर्ट सदन में आ जाने पर सदन में विधेयक पर विचार आरम्भ किया जाता है। सदन में विधेयकों पर धारावार विचार किया जाता है और समिति द्वारा सुझाये संशोधनों पर भी सदन विचार करता है। अन्त में सम्पूर्ण विधेयक पर मत-संग्रह किया जाता है और एक सदन द्वारा विधेयकों की स्वीकृति के बाद उसे दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। दूसरे सदन में भी विधेयक पर विचार के लिए यही प्रक्रिया अपनायी जाती है।

मतभेदों को दूर रखना (Removing of Differences)—यदि किसी विधेयक पर दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाय, तो मतभेद दूर करने के लिए 'संयुक्त सम्मेलन समिति' स्थापित की जाती है जिसमें दोनों सदनों के बराबर-बराबर सदस्य होते हैं और इस समिति का अध्यक्ष उस सदन में से कोई व्यक्ति होता है, जिसमें विधेयक प्रारम्भ हुआ था। यदि संयुक्त समिति के सुझावों को भी कोई सदन अस्वीकार कर दे, तो विधेयक रद्द समझा जाता है।

विधेयक का प्रकाशन (Publication of the Bill)—यदि विधेयक दोनों सदनों से पारित हो जाय, तो उस पर दोनों सदनों के अध्यक्ष तथा सचिवों के हस्ताक्षर हो जाते हैं और इसके बाद विधेयक संघीय सरकार के पास प्रकाशन तथा लागू करने के लिए भेजा जाता है। यदि विधेयक में दर्ज की गयी अवधि तक जनता इस पर लोकनिर्णय की मांग न करे, तो वह कानून की भांति लागू किया जाता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्विट्जरलैण्ड की संघीय संसद के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए तथा संघीय कार्यपालिका से इसके सम्बन्धों का परीक्षण कीजिए।
2. स्विट्स संघीय संसद के दोनों सदनों के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. स्विट्जरलैण्ड की संघीय संसद तथा संघीय सरकार के बीच सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
4. प्रतिनिधि सभा के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
5. सीनेट के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. संघीय संसद की रचना किस प्रकार होती है?
2. प्रतिनिधि सदन का गठन किस प्रकार होता है?
3. सीनेट का गठन किस प्रकार होता है?
4. संघीय संसद की विधायी शक्तियों को स्पष्ट कीजिए।
5. संघीय संसद की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों को स्पष्ट कीजिए।
6. संघीय संसद की वित्तीय शक्तियों का वर्णन कीजिए।
7. संघीय संसद की न्यायिक शक्तियों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
8. संघीय संसद की कैबिनेटों से सम्बन्धित शक्तियां कौन-कौन सी हैं?

9. संघीय संसद की वास्तविक स्थिति स्पष्ट कीजिए।
10. संघीय संसद के दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिए।
11. संघीय संसद में 'समिति व्यवस्था' पर टिप्पणी लिखिए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्विट्जरलैण्ड की संघीय संसद के कितने सदन हैं? उनके नाम बताइए।
[उत्तर—स्विस संघीय संसद के दो सदन हैं—प्रतिनिधि सभा और सीनेट।]
2. स्विस संघीय संसद के निम्न सदन का क्या नाम है?
[उत्तर—संघीय संसद के निम्न सदन का नाम प्रतिनिधि सभा है।]
3. स्विस संघीय संसद के उच्च सदन का क्या नाम है?
[उत्तर—संघीय संसद के उच्च सदन का नाम सीनेट है।]
4. कैण्टनों के द्वारा प्रतिनिधि सभा में अपने प्रतिनिधि किस आधार पर भेजे जाते हैं?
[उत्तर—प्रत्येक कैण्टन के द्वारा अपनी जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधि, प्रतिनिधि सभा में भेजे जाते हैं।]
5. स्विस संघीय संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक किन कार्यों के लिए बुलाई जाती है? किन्हीं दो का उल्लेख कीजिए।
[उत्तर—(1) संघीय सरकार के सदस्यों तथा अन्य पदाधिकारियों के चुनाव हेतु तथा (2) क्षमादान के प्रार्थना पत्रों पर निर्णय हेतु।]
6. प्रतिनिधि सदन एवं सीनेट में गणपूर्ति के लिए सदन के कितने सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है?
[उत्तर—प्रतिनिधि सदन एवं सीनेट में गणपूर्ति के लिए सदन के बहुमत सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है।]
7. स्विस संघीय संसद की कार्यवाही का प्रत्येक प्रलेख किन-किन भाषाओं में प्रकाशित किया जाता है?
[उत्तर—संसद की कार्यवाही का प्रत्येक प्रलेख जर्मन, फ्रेंच, इटालियन और रोमान्च—चारों ही भाषाओं में प्रकाशित किया जाता है।]
8. संघीय संसद की दो प्रमुख विधायी शक्तियां बताइए।
[उत्तर—(1) संघीय अधिकार क्षेत्र में रखे गए सभी विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति एवं (2) संविधान में संशोधन की शक्ति।]
9. संघीय संसद की दो प्रमुख कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां बताइए।
[उत्तर—(1) वैदेशिक सम्बन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के सम्बन्ध में शक्ति तथा (2) संघीय सत्ताओं का निरीक्षण एवं नियन्त्रण की शक्ति।]
10. संघीय संसद की दो प्रमुख वित्तीय शक्तियां बताइए।
[उत्तर—(1) संघीय सरकार द्वारा बनाए गए वजट को स्वीकार करना तथा (2) संघ की ओर से दिए जाने वाले ऋणों के सम्बन्ध में निर्णय करना।]
11. संघीय संसद की कैण्टनों से सम्बन्धित दो प्रमुख शक्तियां बताइए।
[उत्तर—(1) कैण्टनों के संविधान और उनके संशोधनों की उचित जांच कर उन्हें स्वीकार करना तथा (2) कैण्टन विदेशों से जो सन्धियां करते हैं उन पर संघीय संसद का अनुमोदन आवश्यक है।]
12. स्विट्जरलैण्ड में संघीय संसद के दोनों सदनों के मतभेदों को दूर करने के लिए क्या व्यवस्था की गई है?
[उत्तर—दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाएं, तो गतिरोध दूर करने के लिए 'संयुक्त सम्मेलन समिति' स्थापित की जाती है।]

13. संसद की स्थायी समितियों में विभिन्न राजनीतिक दलों को किस आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है ?
[उत्तर—इनमें विभिन्न राजनीतिक दलों को उस अनुपात में प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, जिस अनुपात में संसद में इन राजनीतिक दलों के सदस्य होते हैं।]
14. स्विस् कैण्टनों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन कौन-सा है ?
[उत्तर—सीनेट।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

- स्विस् संघीय संसद की प्रतिनिधि सभा की सदस्य संख्या है :
(अ) 150 (ब) 200 (स) 250 (द) 300
- स्विस् प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल कितने वर्ष है :
(अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष
- प्रतिनिधि सभा में प्रत्येक कैण्टन द्वारा न्यूनतम कितने प्रतिनिधि भेजे जाने आवश्यक हैं :
(अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार
- स्विट्जरलैण्ड में मताधिकार के लिए कितने वर्ष की आयु निश्चित की गई है :
(अ) 18 वर्ष (ब) 20 वर्ष (स) 21 वर्ष (द) 25 वर्ष
- प्रतिनिधि सभा का चुनाव नहीं लड़ सकते हैं :
(अ) पादरी (ब) संघीय सरकार के कर्मचारी
(स) उपर्युक्त दोनों
- सीनेट की सदस्य संख्या है :
(अ) 44 (ब) 46 (स) 47 (द) 48
- प्रतिनिधि सभा एवं सीनेट के सदस्य अपने अध्यक्ष का चुनाव कितने वर्ष के लिए करते हैं :
(अ) एक वर्ष (ब) दो वर्ष (स) तीन वर्ष (द) चार वर्ष
- स्विस् संघीय संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता कौन करता है :
(अ) प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष
(ब) सीनेट का अध्यक्ष
- संघीय सरकार को किस विषय पर नियम निर्धारण का अधिकार प्राप्त है :
(अ) राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में
(ब) संवैधानिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में
(स) व्यक्तियों के अधिकार और दायित्वों के सम्बन्ध में
(द) उपर्युक्त सभी विषयों पर
- स्विट्जरलैण्ड में संघीय संसद की प्रतिनिधि सभा में कितनी स्थायी समितियाँ हैं :
(अ) 8 (ब) 10 (स) 12 (द) 15
- संघीय संसद की सीनेट में कितनी स्थायी समितियाँ हैं :
(अ) 8 (ब) 10 (स) 12 (द) 15
[उत्तर—1. (ब), 2. (ब), 3. (अ), 4. (अ), 5. (स), 6. (ब), 7. (अ), 8. (अ), 9. (द), 10. (स), 11. (ब)।]

5

संघीय सरकार

(FEDERAL GOVERNMENT)

“स्विस शासन-व्यवस्था अपने आप में एक वर्ग है। यह संसदात्मक और अध्यक्षतात्मक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं से मूलभूत रूप में भिन्न है, परन्तु इसमें दोनों ही शासन-व्यवस्थाओं के लक्षणों का मिश्रण है।”¹ —डॉ. गार्नर

1998 में स्विट्जरलैण्ड के लिए नवीन संविधान का निर्माण हुआ तथा इस संविधान को 18 अप्रैल, 1999 से लागू किया गया है। 1848 में निर्मित स्विस संविधान द्वारा स्थापित कार्यपालिका की दो सबसे प्रमुख विशेषताएं थीं : प्रथम, बहुल कार्यपालिका तथा द्वितीय, संसदात्मक व अध्यक्षतात्मक व्यवस्थाओं (कार्यपालिकाओं) का समन्वय। 1999 से लागू किए गए संविधान द्वारा स्थापित कार्यपालिका पूर्व के संविधान द्वारा स्थापित कार्यपालिका से कुछ भिन्न है, लेकिन पूर्व कार्यपालिका की उपर्युक्त दो सबसे प्रमुख विशेषताओं को नवीन संविधान में भी बनाए रखा गया है। 1848 में लागू किए गए संविधान में कार्यपालिका को ‘संघीय परिषद’ (Federal Council) का नाम दिया गया था तथा वर्तमान संविधान में कार्यपालिका को ‘संघीय सरकार’ (Federal Government) का नाम दिया गया है। संघीय सरकार का मूल स्वरूप वही है जो संघीय परिषद का था।

स्विस संविधान के द्वारा जिस प्रकार की कार्यपालिका की व्यवस्था की गयी है, वह अपने आप में एक वर्ग है। इसके संगठन और शक्तियों का ही नहीं, वरन् विधानमण्डल के साथ इसका जो सम्बन्ध है, उसका भी कोई सादृश्य नहीं मिलता है। सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि एक निश्चित नेतृत्व के अन्तर्गत ही कार्यपालिका शासन संचालन का कार्य कुशलतापूर्वक कर सकती है, इसलिए कार्यपालिका संगठन की दृष्टि से एकल होनी चाहिए, लेकिन स्विस कार्यपालिका बहुल है और सामान्य धारणा के विपरीत इसके द्वारा सफलतापूर्वक कार्य किया जा रहा है।

इसी प्रकार सामान्य धारणा के अनुसार कार्यपालिका या तो संसदात्मक हो सकती है या अध्यक्षतात्मक, लेकिन स्विस कार्यपालिका को इन दोनों में से किसी एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, वरन् इसमें दोनों के ही तत्वों का मिश्रण है। स्विस कार्यपालिका के अन्तर्गत, इन दोनों ही शासन-व्यवस्थाओं के गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न किया गया है। स्विस

1 “A system of government which falls in a class by itself, which differs fundamentally from the presidential and cabinet types, but which combines certain features of both, is that of Switzerland.”

—Garner, *Political Science and Government*, p. 344.

कार्यपालिका के इन लक्षणों के आधार पर ही प्रो. स्ट्रॉंग ने लिखा है कि “यह विश्व की वैधानिक पद्धतियों में सर्वाधिक अनुपम है।”¹ ब्राडस के मतानुसार, “यह एक ऐसी संस्था है, जिसका अध्ययन करना अन्य सभी संस्थाओं से महत्वपूर्ण है।”

संघीय सरकार : रचना

(FEDERAL GOVERNMENT : COMPOSITION)

नवीन संविधान के अनुच्छेद 174 से 187 तक संघीय सरकार की रचना, कार्यों तथा शक्तियों और व्यवस्थापिका के साथ इसके सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 174 में कहा गया है : ‘संघीय सरकार स्विस् परिसंघ की उच्चतम शासकीय और कार्यपालिका सत्ता है।’² और अनुच्छेद 175 के अनुसार, ‘संघीय सरकार में 7 सदस्य होंगे।’³ संघीय सरकार के इन 7 सदस्यों का निर्वाचन संघीय संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में किया जाता है। स्विट्जरलैण्ड जैसे प्रबल प्रजातन्त्रीय भावना वाले देश में कार्यपालिका के निर्माण हेतु अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति को अपनाना अनुचित प्रतीत हो सकता है, लेकिन ऐसा कुछ विशेष कारणों से किया गया है। सर्वप्रथम, स्विस् संघीय संसद के सदस्य जनता के इतने अधिक सम्पर्क में रहते हैं कि स्विस् जनता संघीय संसद के सदस्यों द्वारा किये गये निर्वाचन को जनता द्वारा किया गया निर्वाचन मानती है। इसके अतिरिक्त, संविधान-निर्माता संघीय सरकार के चुनाव को राजनीतिक दलबन्दी से अलग रखना चाहते थे और उनकी इच्छा थी कि पर्याप्त राजनीतिक ज्ञान और अनुभव रखने वाले व्यक्ति ही संघीय सरकार के लिए चुने जायें। इसीलिए भी उनके द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के स्थान पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन अपनाया गया।

जहां तक योग्यताओं का प्रश्न है संविधान ने यह निश्चित किया है कि कोई भी स्विस् नागरिक, जो प्रतिनिधि सभा का सदस्य चुने जाने के योग्य है, संघीय सरकार का सदस्य चुना जा सकता है। इस सम्बन्ध में संविधान (अनुच्छेद 175) में केवल यह कहा गया है कि ‘विभिन्न भौगोलिक और भाषायी क्षेत्रों को संघीय सरकार में पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाएगा।’ इस बात के अतिरिक्त संघीय सरकार के निर्माण में दो महत्वपूर्ण परम्पराएं भी स्थापित हो गयी हैं। प्रथम परम्परा के अनुसार स्विट्जरलैण्ड के दो सबसे बड़े और प्रमुख कैण्टनों (बर्न और ज्युरिच) का संघीय सरकार में सदैव ही प्रतिनिधित्व रहता है। यह विशेष स्थिति फ्रेंच भाषा-भाषी कैण्टन वाउड (Vaud) को भी प्राप्त है। दूसरी परम्परा यह है कि संघीय सरकार में चार जर्मन भाषा-भाषी, दो फ्रेंच भाषा-भाषी तथा एक इटालियन भाषा-भाषी होता है। इस व्यवस्था के सम्बन्ध में जॉन ब्राउन मेसन ने कहा है कि “इस तरह सन्तोषजनक क्षेत्रीय तथा भाषायी वितरण का आश्वासन दिया गया है।”⁴ इसके अतिरिक्त, सामान्यतया संघीय सरकार में सभी दलों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है।

साधारणतया संघीय सरकार के सदस्य संघीय संसद के सदस्यों में से ही निर्वाचित किये जाते हैं। निर्वाचित होते ही वे संघीय संसद की सदस्यता से त्याग-पत्र दे देते हैं। संघीय

1 “It is quite unique among the constitutional systems of the world.”

—C. F. Strong, *Modern Political Constitutions*, p. 241.

2 ‘The Federal Govt. is the highest governing and executive authority of the Confederation.’ —Article 174.

3 The Federal Govt. shall consist of seven members.’ —Article 175.

4 “A satisfactory regional and linguistic distribution is assured.” —John Brown Mason, *Switzerland in Foreign Governments*, p. 373.

सरकार के सदस्य न तो कैबिनेट के अधीन कोई पद धारण कर सकते हैं और न ही उन्हें किसी प्रकार का व्यवसाय करने की आज्ञा है।

कार्यकाल (Term)—संघीय सरकार का कार्यकाल 4 वर्ष निश्चित किया गया है, किन्तु इसके साथ ही यह प्रतिनिधि सभा के कार्यकाल पर निर्भर करता। यदि इस अवधि के पूर्व स्विट्जरलैण्ड की संघीय संसद भंग हो जाय तो नवीन निर्वाचन के बाद संघीय संसद के दोनों सदन अपने संयुक्त अधिवेशन में नयी संघीय सरकार चुनते हैं। मृत्यु, त्यागपत्र या अन्य किसी कारण से यदि 4 वर्ष की अवधि के पूर्व संघीय सरकार का कोई स्थान रिक्त हो जाय, तो संघीय संसद अपने अधिवेशन में शेष अवधि के लिए किसी नये व्यक्ति का चुनाव करती है।

संघीय सरकार के सदस्यों के पुनर्निर्वाचन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वास्तविकता यह है कि संघीय सरकार के सदस्य बार-बार चुन लिये जाते हैं, जिससे वे अपने अनुभव और योग्यता से देश को लाभ पहुंचा सकें। उदाहरणार्थ, मोटा 30 वर्ष तक, कौफ 27 वर्ष तक और बेल्ती 25 वर्ष तक संघीय सरकार के सदस्य रहे। व्यवहार में 1854 और 1862 इन दो अवसरों को छोड़कर संघीय संसद ने सदैव ही संघीय सरकार के सदस्यों को उस समय तक पुनर्निर्वाचित किया है, जब तक कि वे अपने पद पर बने रहना चाहें।

वेतन, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ (Salary, Privileges and Immunities)—संघीय सरकार के सदस्यों का वेतन संघीय संसद के द्वारा निर्धारित किया जाता है। 55 वर्ष या इससे अधिक आयु प्राप्त व्यक्तियों को यदि वे 10 वर्ष तक परिषद के सदस्य रह चुके हैं, तो उन्हें निवृत्ति वेतन (Pension) दिया जाता है, जो वेतन का 40 प्रतिशत से 60 प्रतिशत के बीच होता है। संघीय सरकार के सदस्यों का यह वेतन अन्य देशों के मन्त्रियों से बहुत कम है और पार्षद बहुत सादगी से रहते हैं। संघीय सरकार के सदस्यों को लगभग वे ही विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं जो संघीय संसद के सदस्यों को प्राप्त होती हैं। अपने कार्यकाल में संघीय सरकार के सभी सदस्य सैनिक सेवा से मुक्त हैं और उनके विरुद्ध कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। यदि संघीय सरकार के सदस्य अपनी ही इच्छा से अपना यह विशेषाधिकार समाप्त कर दें, तो उनके विरुद्ध फौजदारी अभियोग चलाया जा सकता है।

अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष (President and Vice-President)—संघीय संसद के दोनों सदन अपनी एक संयुक्त बैठक में संघीय सरकार के सदस्यों में से ही एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष का एक वर्ष के लिए चुनाव करते हैं। संघीय सरकार का अध्यक्ष ही स्विस् राज्यमण्डल का राष्ट्रपति कहलाता है। वह लगातार दो वर्ष के लिए अध्यक्ष नहीं चुना जा सकता है, यद्यपि वह एक से अधिक बार अध्यक्ष चुना जा सकता है। उदाहरणार्थ, हर मुलर 3 बार (1899, 1907 और 1916) अध्यक्ष रहे। इसी प्रकार डॉ. फिलिप एटर 4 बार और मि. मोटा 5 बार स्विस् राज्यमण्डल के अध्यक्ष रहे। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के चुनाव में 'ज्येष्ठता के नियम' (Seniority rule) का ध्यान रखा जाता है और चेष्टा यह की जाती है कि क्रम-क्रम से सभी सदस्यों को अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का पद प्राप्त हो जाय। यह भी परम्परा स्थापित हो गयी है कि उपाध्यक्ष को अगले वर्ष अध्यक्ष चुन लिया जाता है। उपाध्यक्ष अन्य सदस्यों की भांति ही एक विभाग का प्रमुख होता है और अध्यक्ष की अनुपस्थिति में अध्यक्ष या राष्ट्रपति पद पर कार्य करता है। अध्यक्ष को अगले वर्ष उपाध्यक्ष पद पर निर्वाचित नहीं किया जा सकता है।

संघीय सरकार के अध्यक्ष या स्विस् राज्यमण्डल के राष्ट्रपति के अधिकार और कार्य

(RIGHTS AND FUNCTIONS OF THE PRESIDENT OF FEDERAL GOVERNMENT OR PRESIDENT OF SWISS CONFEDERATION)

स्विस् राज्यमण्डल के राष्ट्रपति का पद भी संघीय सरकार की भांति ही अनुपम है और यह स्विस् नागरिकों की गहरी प्रजातन्त्रीय और गणतन्त्रीय भावना का प्रतीक है। अपनी गहरी प्रजातन्त्रीय भावना के कारण ही उसके द्वारा कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति को प्रदान न कर एक समिति को प्रदान की गयी है और समिति के अध्यक्ष अर्थात् राज्यमण्डल के राष्ट्रपति को किसी भी रूप में उच्च स्थिति प्राप्त नहीं है। लाबेल के अनुसार, “वह साधारण रूप से राष्ट्र की कार्यपालिका समिति का अध्यक्ष होता है और इस कारण वह यह जानने का प्रयत्न करता है कि उसके साथी क्या कर रहे हैं और वह राज्य के नाममात्र के अध्यक्ष के औपचारिक कर्तव्यों को पूरा करता है।” राष्ट्रपति के कार्य भी दो प्रकार के हैं :

- (i) राज्यमण्डल के राष्ट्रपति के रूप में (As President of the Confederation)।
- (ii) संघीय सरकार के सभापति के रूप में (As Chairman of the Federal Government)।

(i) राज्यमण्डल के राष्ट्रपति के रूप में—1914 के ‘संघीय प्रशासन संगठन अधिनियम’ में राष्ट्रपति ब्रिटिश सम्राट की भांति स्विस् राष्ट्र का प्रतीक है और महत्वपूर्ण राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अवसरों पर राज्य का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेशी राजदूतों का स्वागत करता है और उनके परिचय-पत्र (Credentials) स्वीकार करता है। यह विदेशों में स्विस् राज्यमण्डल का प्रतिनिधि तथा अधिवक्ता माना जाता है। संघीय संसद द्वारा पारित विधेयकों पर वह अपने हस्ताक्षर करता है, किन्तु यह एक औपचारिकता मात्र है और उसे कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। जब अन्य राज्यों के प्रधान स्विट्जरलैण्ड की राजकीय यात्रा पर आते हैं, तो संघीय सरकार के सातों सदस्य उनका स्वागत करते हैं। वह संघीय चांसलरी (Federal Chancellory) का निर्देशन तथा नियमन करता है।

(ii) संघीय सरकार के सभापति के रूप में—संघीय सरकार के सभापति के रूप में यह इस संस्था का सभापतित्व करता है और किसी विषय पर ‘टाई’ (tie) पड़ने की स्थिति में निर्णायक मत का प्रयोग करता है। वह संघीय सरकार के सदस्य के रूप में एक विभाग का अध्यक्ष होता है और अन्य पार्षदों की भांति ही वह कुछ प्रशासनिक प्राधिकारों का प्रयोग करता है। उसे संघीय सरकार के अन्य सदस्यों के विभागीय कार्यों के निरीक्षण का भी अधिकार है, परन्तु यह केवल सुझाव ही दे सकता है, आदेश नहीं। वह सरकार के अन्य सदस्यों को न तो नियुक्त कर सकता है और न पदच्युत ही, उसके द्वारा संघीय सरकार के सदस्यों के विभागों में भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार वह किसी भी अर्थ में संघीय सरकार का स्वामी या नेता नहीं है। अत्यन्त संकटकालीन स्थिति में सरकार की ओर से अध्यक्ष को कभी-कभी कुछ कार्य करने के अधिकार दे दिये जाते हैं, फिर भी साधारणतया सरकार में अन्य सदस्यों से बढ़कर अध्यक्ष के कोई अधिकार नहीं हैं। यहां तक कि यदि सरकार का कोई अध्यक्ष विदेश यात्राएं करे, तो भी उसकी आलोचना की जाती है।

राष्ट्रपति पद की स्थिति (Position of the President)—इस प्रकार राज्यमण्डल का राष्ट्रपति प्रायः शक्ति शून्य है और अमरीका के राष्ट्रपति, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री या अन्य किसी

कार्यपालिका प्रधान से उसकी तुलना करना नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि संघीय सरकार के सभी सदस्यों को समान स्थिति प्राप्त है, इसलिए स्विस कार्यपालिका को बहुल कार्यपालिका कहा जाता है और क्योंकि अध्यक्ष पद के कोई विशेष अधिकार नहीं हैं, इसलिए हेन्स हूबर के शब्दों में कहा जाता है कि “राज्यमण्डल का कोई अध्यक्ष नहीं है।”¹ उसे अपने सहयोगियों की अपेक्षा कुछ वरीयता दी जाती है, लेकिन वरीयता मात्र औपचारिक है। यह वास्तव में न तो राष्ट्र का प्रधान है और न शासन का ही। यह देश के प्रशासन के लिए अन्य पार्षदों की अपेक्षा किसी भी प्रकार उत्तरदायी नहीं है। रैपार्ड के शब्दों में, “उसके पद का कोई राष्ट्रीय महत्व नहीं है। उसका न तो कोई विशेष अधिकार है और न ही कोई विशेष प्रभाव है।”

किन्तु यह समझना गलत होगा कि स्विस राष्ट्रपति का पद सर्वथा प्रभावहीन और अनावश्यक है। राष्ट्रपति पद स्विस शासन का सर्वोच्च पद है और उसके द्वारा कुछ ऐसे औपचारिक कार्य किये जाते हैं, जिन्हें समस्त सदस्य एक साथ नहीं कर सकते। स्विस राष्ट्रपति पद के गौरव पर सन्देह नहीं किया जा सकता। ब्रुक्स ने ठीक ही कहा है कि “जनसेवा के एक लम्बे जीवन के पश्चात् सर्वोच्च पारितोषिक के रूप में इस पद की कामना की जाती है और इसी कारण यह समस्त स्विस जनता के लिए बहुत अधिक सम्मान का पात्र है।”²

प्रशासन के विभाग

(ADMINISTRATIVE DEPARTMENTS)

भारत, ब्रिटेन, आदि देशों में प्रशासनिक विभागों की संख्या निश्चित नहीं है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में यह संख्या निश्चित है और समस्त प्रशासनिक कार्यों को सात विभागों में बांट दिया गया है, जो इस प्रकार हैं :

- (1) राजनीतिक विभाग (Political Department)
- (2) न्याय और पुलिस विभाग (Department of Police and Justice)
- (3) गृह विभाग (Department of Interior)
- (4) सेना विभाग (Military Department)
- (5) वित्त तथा प्रशुल्क विभाग (Department of Finance and Custom)
- (6) सार्वजनिक अर्थ विभाग (Department of Public Economy)
- (7) डाक और रेल विभाग (Posts and Railways Department)

प्रत्येक विभाग संघीय सरकार के एक सदस्य के अधीन होता है, जो उसके कार्य-संचालन के लिए उत्तरदायी होता है। स्विट्जरलैण्ड में संघीय सरकार के सदस्य अपनी बैठक में बातचीत के आधार पर विभागों का बंटवारा कर लेते हैं और प्रायः एक सदस्य को वही विभाग दिया जाता है, जो उसके पास पहले से था, जिससे वह अपने अनुभव से लाभ पहुंचा सके। प्रत्येक विभाग का प्रमुख अन्य किसी विभाग का उप-प्रमुख होता है जिससे किसी विशेष सदस्य की अस्वस्थता या अनुपस्थिति में भी विभागीय कार्य का सुचारु रूप से संचालन हो सके।

¹ “The Confederation has no president.”

² “As such it is sought after as the crowning reward of a long career of Public service, as much also it commands in measure, the respect of the Swiss people, as a whole.”

—Hans Huber
—Brooks, *Government and Politics of Switzerland*, p. 110.

कार्य-प्रणाली (Working)—संघीय सरकार की साधारणतया सप्ताह में दो बैठकें होती हैं। संघीय सरकार की कार्यवाही गुप्त होती है और संघीय सरकार के द्वारा कोई भी कार्य किया जा सके, इसके लिए कम-से-कम चार सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है। निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों का बहुमत आवश्यक है। मत हाथ उठाकर दिये जाते हैं और अध्यक्ष को निर्णायक मत देने का अधिकार प्राप्त है। 1848 के संविधान द्वारा स्थापित संघीय परिषद की कार्यप्रणाली में सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया, लेकिन नवीन संविधान में सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की ओर संकेत किया गया है। अनुच्छेद 177 में कहा गया है कि, 'संघीय सरकार अपने निर्णय एक सामूहिक संस्था के रूप में लेगी।'

संघीय सरकार : कार्य और शक्तियाँ

(FEDERAL GOVERNMENT : FUNCTIONS AND POWERS)

संघीय सरकार मुख्यतया एक प्रशासनिक संस्था है और संविधान के अनुच्छेद 174 के अनुसार इसमें स्विस् राज्यमण्डल की सर्वोच्च निर्देशन और कार्यपालिका शक्ति निहित है। प्रशासनिक शक्तियों के अतिरिक्त संघीय सरकार को कुछ महत्वपूर्ण विधायी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। नवीन स्विस् संविधान के अनुच्छेद 180 से लेकर 187 में संघीय सरकार के कार्यों और शक्तियों की एक लम्बी सूची दी गई है, जिसका अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है :

(1) **कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive Powers)**—संघीय सरकार स्विस् राज्यमण्डल की सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता है और इस क्षेत्र में उसकी शक्तियाँ निश्चित रूप से बहुत अधिक व्यापक हैं। कार्यपालिका के क्षेत्र में स्विस् सरकार को निम्न शक्तियाँ प्राप्त हैं :

(i) **सरकारी नीति का निर्धारण और जनता का सरकार से सम्बन्ध**—संघीय सरकार सरकारी नीति के लक्ष्य तथा इन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन निर्धारित करेगी। यह सरकार के कार्यों का नियोजन करेगी तथा उनमें समन्वय स्थापित करेगी। यह जनता को समय-समय पर तथा पूर्ण रूप से अपनी गतिविधियों की जानकारी देगी यह जानकारी केवल उस समय नहीं दी जाएगी, जबकि निजी या सार्वजनिक हित में ऐसा करना उचित न हो।

(ii) **शासन व्यवस्था का संचालन**—संघीय सरकार संघीय विधियों तथा आदेशों के अनुसार समस्त राज्यमण्डल में प्रशासन को नियन्त्रित करती है। स्विस् संविधान के उपबन्धों, संघीय संसद द्वारा निर्मित विधियों, अध्यादेशों और संघीय सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को कार्य रूप प्रदान करने का दायित्व संघीय सरकार पर ही है।

संघीय सरकार को उन सभी पदों पर नियुक्ति करने का अधिकार प्राप्त है जिन पर नियुक्ति की शक्ति संघीय संसद, संघीय सर्वोच्च न्यायालय या अन्य किसी संघीय प्राधिकारी को प्रदान नहीं की गई है।

(iii) **वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन**—संघीय सरकार स्विट्जरलैण्ड के हितों को दृष्टि में रखते हुए वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करेगी। यह विदेशों में स्विट्जरलैण्ड का प्रतिनिधित्व करेगी। यह विदेशों से सन्धियाँ करेगी तथा उन्हें स्वीकृति के लिए संघीय संसद के सम्मुख प्रस्तुत करेगी। विदेशों के साथ की गई संधियों की क्रियान्विति का दायित्व भी संघीय सरकार पर ही है।

1 "The Federal Government shall take its decisions as a collective body" Article 177.

(iv) आन्तरिक और बाहरी सुरक्षा—बाहरी आक्रमण से स्विट्जरलैण्ड की स्वतन्त्रता और तटस्थता की रक्षा करना तथा आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना भी संघीय सरकार का दायित्व है तथा संघीय सरकार इसके लिए सभी आवश्यक कदम उठा सकती है। इस हेतु संघीय सरकार सीमित समय के लिए अध्यादेश भी जारी कर सकती है।

(v) संघीय सेना पर नियन्त्रण—संघीय सरकार को संघीय सेना पर नियन्त्रण की शक्ति भी प्राप्त है। यदि संघीय संसद की बैठक न हो रही हो और सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक हो, तो संघीय सरकार स्वयं ही अपनी इच्छा से सेना का प्रयोग कर सकती है, लेकिन यदि तीन सप्ताह से अधिक की अवधि के लिए या 4,000 से अधिक सैनिकों का प्रयोग करना हो, तो इस पर संघीय संसद की स्वीकृति आवश्यक होती है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त संघीय सरकार के द्वारा कुछ औपचारिक कार्य भी किए जाते हैं। ये कार्य संघीय सरकार सामूहिक रूप से या इसके दो-तीन सदस्य मिलकर करते हैं। विदेशी अतिथियों का स्वागत, राजदूतों से परिचय-पत्र प्राप्त करना, राष्ट्रीय समारोहों और मनोरंजन आयोजनों में भाग लेना ऐसे ही कुछ कार्य हैं।

(2) विधायी शक्तियाँ (Legislative Powers)—संघीय सरकार को विधायी क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है। यद्यपि संघीय सरकार के सदस्य संघीय संसद के सदस्य नहीं होते, परन्तु ये उनकी बैठकों में उपस्थित होते हैं और मत देने के अतिरिक्त अन्य सभी कार्यों में भाग लेते हैं। संघीय सरकार स्वेच्छा से विधानमण्डल के सम्मुख विधेयक प्रस्तुत कर सकती है और संघीय संसद भी संघीय सरकार से किसी विशेष विषय पर विधेयक प्रस्तुत करने के लिए कह सकती है। व्यवहार के अन्तर्गत लगभग 95 प्रतिशत विधेयक संघीय सरकार के द्वारा ही प्रस्तावित किये जाते हैं। संघीय सरकार को संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयक प्रस्तावित करने का भी अधिकार प्राप्त है। संघीय संसद के दोनों सदनों में साधारण सदस्यों द्वारा जितने भी विधेयक प्रस्तावित किये जाते हैं, उन सबको सर्वप्रथम संघीय सरकार से सम्बन्धित सदस्यों के पास उनके विचार के लिए भेजा जाता है और उसके बाद ही संघीय संसद उन पर विचार करती है। संघीय सरकार के सदस्य किसी विषय पर यह प्रस्ताव भी कर सकते हैं कि उस पर लोकनिर्णय कराया जाय। संघीय सरकार के सदस्य संघीय संसद की समितियों के विचार-विमर्श में भी भाग लेकर कानून-निर्माण के कार्य को प्रभावित करते हैं।

इन सबके अतिरिक्त संघीय सरकार को अध्यादेश जारी करने तथा 'प्रदत्त व्यवस्थापन' (Delegated legislation) की प्रणाली के अन्तर्गत कानूनों को लागू करते हुए नियम बनाने का अधिकार भी प्राप्त है। संघीय सरकार के इन अध्यादेशों व नियमों की शक्ति और उनका प्रभाव कानूनों जैसा ही होता है और न्यायालयों द्वारा भी उनको मान्यता दी जाती है। संघीय सरकार द्वारा जारी किए गए अध्यादेश सीमित समय के लिए ही होंगे।

संघीय सरकार के इन विधायी कृत्यों को दृष्टि में रखते हुए रैपार्ड ने लिखा है कि "वस्तुतः और संवैधानिक धारणा के नितान्त विपरीत परिषद कार्यपालिका और प्रशासनिक कार्यों के साथ-साथ महत्वपूर्ण विधायी कार्य भी करती है।"¹

1 "In actual truth and in contrast to the constitutional fiction, the Federal Council thus exercises legislative as well as executive and administrative functions."
—William Rappard, *The Government of Switzerland*, p. 84.

(3) वित्तीय शक्तियां (Financial Powers)—वित्तीय क्षेत्र में संघीय सरकार को महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं। स्विस् संघ के वित्तीय प्रशासन का संचालन इसी के द्वारा किया जाता है और अपनी इस शक्ति के अन्तर्गत यह संघीय बजट तैयार करती है तथा उनको संघीय संसद के सामने स्वीकृति के लिए रखती है। यह संघीय सरकार के आय और व्यय का हिसाब संघीय संसद को देती है। यह राजस्व तथा अन्य कर एकत्रित करती है और संसद द्वारा स्वीकृत व्यय की निगरानी रखती है।

(4) राज्यमण्डल और कैण्टनों के बीच सम्बन्धों का संचालन—संविधान के अनुच्छेद 186 में कहा गया है कि, 'संघीय सरकार राज्यमण्डल और कैण्टनों के बीच सम्बन्धों का संचालन करेगी तथा कैण्टनों के साथ सहयोग करेगी। संघीय सरकार को कैण्टनों के प्रशासन पर भी कुछ अधिकार प्राप्त है। वह कैण्टनों के संविधानों की क्रियान्विति की जांच करती है एवं उनके संशोधन पर स्वीकृति देती है। वह कैण्टनों के वित्तीय, सैनिक तथा प्रशासनिक कार्यों का निरीक्षण करती है। कैण्टनों की विधानसभाओं द्वारा पारित कुछ विधियों पर संघीय सरकार की स्वीकृति अनिवार्य है।

(5) संकटकालीन शक्तियां (Emergency Powers)—1848 में निर्मित संविधान द्वारा पूर्व संविधान की कार्यपालिका संस्था 'संघीय परिषद' को कोई संकटकालीन शक्तियां प्रदान नहीं की गई थीं, लेकिन व्यवहार में जब कभी देश में आन्तरिक तथा बाहरी परिस्थितियों के कारण संकटकाल उत्पन्न हुआ तो संघीय सभा ने परिषद को पूर्ण अधिकार दे दिए तथा संघीय परिषद ने बहुत कुछ सीमा तक अपने ही विवेक के अनुसार कार्य किया। वर्तमान संविधान भी कार्यपालिका संस्था 'संघीय सरकार' को कोई संकटकालीन शक्तियां प्रदान नहीं करता है, लेकिन विगत इतिहास और व्यावहारिक स्थितियों को दृष्टि में रखते हुए सम्भावना यह है कि संकटकालीन परिस्थितियों में संघीय सरकार विशेष शक्तियों का प्रयोग करेगी। संकटकालीन परिस्थितियों का सामना व्यवस्थापिका नहीं, वरन् कार्यपालिका ही कर सकती है तथा कार्यपालिका संस्था 'संघीय सरकार' संकटकाल में अतिरिक्त शक्तियों का प्रयोग करे, अधिक शक्तिशाली हो जाए, यह नितान्त स्वाभाविक है।

इस प्रकार संघीय सरकार को बहुत अधिक महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं। पूर्व संविधान की कार्यपालिका संस्था 'संघीय परिषद' के सम्बन्ध में लवेल ने लिखा था, "संघीय परिषद को राष्ट्रीय घड़ी की कुमानी कहा जा सकता है और यह निश्चित रूप में राष्ट्रीय शासन का सन्तुलन चक्र है।" संघीय परिषद के सम्बन्ध में कही गई यह बात वर्तमान संविधान की कार्यपालिका संस्था 'संघीय सरकार' पर पूर्ण रूप से लागू होती है।

संघीय सरकार का संघीय संसद से सम्बन्ध (RELATION OF THE FEDERAL GOVERNMENT WITH FEDERAL PARLIAMENT)

संघीय सरकार को स्विस् शासन-व्यवस्था की एक विलक्षण संस्था कहा जाता है और उसकी यह विलक्षणता सर्वाधिक रूप में व्यवस्थापिका अर्थात् संघीय संसद के साथ उनके सम्बन्ध में देखी जा सकती है। संघीय सरकार और संघीय संसद का यह पारस्परिक सम्बन्ध

1 "The Federal Council may almost be regarded as main spring and is certainly the balance wheel of the national government."

—Lowell : *Government and Politics in Continental Europe* Vol. II, p. 205.

न तो पूर्णतया ब्रिटेन की संसदात्मक व्यवस्था के अनुरूप है और न ही अमरीका की अध्यात्मक व्यवस्था के। अमरीका में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को कठोर रूप में अपनाते हुए कार्यपालिका अर्थात् राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल को अमरीकी संघ की व्यवस्थापिका अर्थात् कांग्रेस से बिल्कुल पृथक् रखा गया है और कार्यपालिका के सदस्य कानून-निर्माण कार्य में भाग नहीं लेते, परन्तु स्विट्जरलैण्ड में संघीय सरकार के सदस्य संघीय संसद की बैठकों में भाग लेते, प्रश्नों का उत्तर देते, वाद-विवाद में भाग लेते तथा मतदान के अतिरिक्त अन्य सभी अधिकारों का प्रयोग करते हैं। विधियों के तो सभी प्राख्य संघीय सरकार द्वारा ही निर्मित किये जाते हैं और निजी सदस्यों द्वारा सदन में प्रस्तुत किये जाने वाले विधेयक भी सर्वप्रथम संघीय सरकार के पास परीक्षण के लिए भेजे जाते हैं। इस प्रकार विधायी क्षेत्र में पहल संघीय सरकार द्वारा ही की जाती है और संघीय सरकार कानून-निर्माण के क्षेत्र में सक्रिय सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई है।

कार्यपालिका द्वारा कानून-निर्माण के कार्य में भाग लेने की यह प्रवृत्ति ब्रिटेन की संसदात्मक व्यवस्था के अनुरूप है, लेकिन इसके साथ ही यह ब्रिटिश व्यवस्था से इस रूप में भिन्न है कि ब्रिटेन में कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के भी सदस्य होते हैं और व्यवस्थापिका में पराजित होने पर उन्हें पदत्याग करना होता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये जाने पर कार्यपालिका द्वारा पदत्याग किये जाने की कोई आवश्यकता नहीं होती। लवेल ने इन दोनों स्विस् संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की इस विशेष प्रवृत्ति को लक्ष्य करते हुए लिखा है कि “स्विस् संघीय सरकार का सदस्य एक वकील अथवा वास्तुकार की तरह है। उसका परामर्श लिया जाता है और प्रायः उस पर ध्यान भी दिया जाता है, लेकिन यदि उसका नियोजक उसके परामर्श के विरुद्ध ही कार्य करने की हठ करे, तो वकील अथवा वास्तुकार से अपनी वृत्ति छोड़ देने की बात नहीं सोची जाती। वस्तुतः ऐसा करना असंवैधानिक समझा जाता है।”

जहां तक व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक नियन्त्रण का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में संवैधानिक स्थिति एक प्रकार की है और व्यावहारिक स्थिति दूसरे ही प्रकार की है।

संवैधानिक स्थिति (Constitutional Position)—संविधान के अनुच्छेद 148 के अनुसार संघीय संसद में ही राज्यमण्डल की सर्वोच्च सत्ता निहित है। संविधान के अनुसार संघीय सरकार विदेशी मामलों, सशस्त्र बलों, सेनाओं अथवा सार्वजनिक प्रशासन के सम्बन्ध में अपनी शक्तियों का प्रयोग या तो संघीय संसद के पूर्व आदेशानुसार करती है अथवा कार्य कर चुकने के बाद इन पर संघीय संसद का अनुसमर्थन प्राप्त कर लेती है। संघीय संसद संघीय सरकार को संकटकालीन शक्तियों के प्रयोग का अधिकार दे देती है और जब चाहे तब उसे वापस ले सकती है। वह प्रस्तावों तथा आदेशों द्वारा संघीय सरकार के कार्यों पर नियन्त्रण रखती है। संघीय सरकार के सदस्यों तथा अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का निर्वाचन संघीय संसद करती है। संघीय संसद के विघटन की स्थिति में संघीय सरकार का भी विघटन हो जाता है और संघीय सरकार अपने कार्यों का वार्षिक विवरण संघीय संसद के सम्मुख प्रस्तुत करती है।

संविधान के इन उपबन्धों से ऐसा प्रतीत होता है कि संघीय सरकार जिन शक्तियों का प्रयोग करती है, वे मौलिक रूप से संघीय संसद की हैं और संघीय सरकार उनका प्रयोग संघीय संसद के एक अभिकर्ता (agent) के रूप में ही करती है। जूर्र के मतानुसार “स्विस् संविधान का सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि कार्यपालिका शासन की एक स्वतन्त्र अथवा सहयुक्त

(Co-ordinate) शाखा न होकर संघीय संसद की सेविका है।¹ इसी प्रकार प्रो. डायसी ने लिखा है कि “संघीय सरकार से आशा की जाती है कि वह संघीय संसद द्वारा निर्धारित नीति को, जो अन्ततोगत्वा राष्ट्र की ही नीति है, क्रियान्वित करेगी। संघीय सरकार उसी प्रकार से संघीय संसद के आदेशों पर चलती है, जिस प्रकार किसी दुकान के गुमाश्ते से यह आशा की जाती है कि वह अपने मालिक की आज्ञाओं का अवश्य ही पालन करेगा।”¹

वास्तविक स्थिति (Actual Position)—स्विट्जरलैण्ड में भी इस सम्बन्ध में सिद्धान्त और व्यवहार में पर्याप्त अन्तर है। वर्तमान समय में विश्व में लगभग सभी राज्यों में व्यवस्थापिका से कार्यपालिका अधिक शक्तिशाली हो गयी है और स्विट्जरलैण्ड भी इसका कोई अपवाद नहीं है। सिद्धान्ततः संघीय सरकार संघीय संसद की अधिकर्ता मात्र है, लेकिन व्यवहार में संघीय सरकार की शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हुई है और संघीय संसद से नियन्त्रित होने के बजाय यह संघीय संसद पर नियन्त्रण रखने लगी है। अन्य राज्यों के समान स्विट्जरलैण्ड में भी लोककल्याणकारी प्रवृत्ति को अपना लिया गया है और इसके कारण संघीय सरकार के कार्य इतने बढ़ गये हैं कि संघीय संसद अपने अल्प समय और सामान्य योग्यता के आधार पर इन सभी कार्यों पर नियन्त्रण नहीं रख सकती है। विधायी क्षेत्र में भी स्थिति यही है। संघीय सरकार के सदस्य मत देने के अतिरिक्त कानून-निर्माण की समस्त प्रक्रिया में भाग लेते हैं और संघीय संसद की तुलना में परिषद के सदस्यों के अधिक योग्य और अनुभवी होने के कारण कानून निर्माण का कार्य बहुत कुछ सीमा तक सरकार के विवेक के अनुसार ही सम्पन्न होता है। संघीय सरकार के सदस्य उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ होते हैं और अनेक बार उनका पुनर्निर्वाचन होता है। इस लम्बी पदावधि के कारण उनकी प्रतिष्ठा और शासन-कुशलता बहुत बढ़ गयी है और व्यावहारिक राजनीति में उनका नेतृत्व स्थापित हो गया है। इस तथ्य ने ही प्रशासन और कानून-निर्माण दोनों ही क्षेत्रों में संघीय संसद की तुलना में संघीय सरकार को अधिक शक्तिशाली बना दिया है। वस्तुस्थिति यह है कि संघीय संसद ने स्वयं ही अपनी सीमाओं को समझ लिया है और रैपार्ड के शब्दों में, “संघीय संसद के वैधानिक अधिकारों के होते हुए भी आज नेतृत्व स्पष्ट रूप से संघीय सरकार के हाथों में चला गया है।”² इसी प्रकार ब्राइस ने लिखा है कि “वैधानिक दृष्टि से व्यवस्थापिका की सेविका होते हुए भी व्यवहार में संघीय सरकार ब्रिटेन की मन्त्रिपरिषद के समान और फ्रांस की कुछ मन्त्रिपरिषदों से अधिक अधिकारों का प्रयोग करती है.....यह पथ-प्रदर्शक भी है और साधन भी।”³

संघीय सरकार की विशेषताएं

(SALIENT FEATURES OF THE FEDERAL GOVERNMENT)

स्विस संघीय सरकार अपने ढंग की एक ही है और प्रो. स्ट्रोंग के शब्दों में, “स्विट्जरलैण्ड की संघीय सरकार विश्व की अन्य सभी कार्यपालिकाओं से अधिक ध्यान देने योग्य है।” संघीय

- 1 “The theory of Swiss Constitution appears to be that the executive is not an independent or co-ordinate branch of the government but the servant of the Federal Assembly.” —Zurcher, *Governments of Continental Europe*, p. 94.
- 2 “Today inspite of all the Constitutional prerogatives of the Federal Assembly the lead has clearly passed into the hands of the Federal Council.” —Rappard, *Government of Switzerland*, p. 84.
- 3 “Legally the servant of the legislature, it exerts in practice as much authority as does the English and more than do some French cabinets....It is a guide as well as an instrument.” —Bryce, *Modern Democracies*, p. 397.

सरकार की जिन विशेषताओं ने उसे यह स्थिति प्रदान की है, उनका अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) बहुल कार्यपालिका (Plural Executive)—सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि व्यवस्थापिका का संगठन बहुलता के आधार पर, लेकिन कार्यपालिका संगठन की दृष्टि से एकल होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि कार्यपालिका का नेतृत्व एक व्यक्ति के द्वारा ही किया जाना चाहिए। वर्तमान समय के अधिकांश राज्यों में ऐसी ही व्यवस्था है। अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रपति के नेतृत्व में और संसदात्मक शासन व्यवस्था के अन्तर्गत प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कार्यपालिका के द्वारा प्रशासन सम्बन्धी कार्य किया जाता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में एकल कार्यपालिका के स्थान पर बहुल कार्यपालिका को अपनाया गया है। संविधान के अनुच्छेद 175 के अनुसार, 'संघीय सरकार में 7 सदस्य होंगे।' यह कार्यपालिका बहुल इस दृष्टि से है कि संघीय सरकार के सातों ही सदस्यों की स्थिति समान है और इसी कारण हेन्स हूबर लिखते हैं कि "राज्यमण्डल का कोई अध्यक्ष नहीं है।" स्विस् नागरिकों में प्रजातन्त्रीय और गणतन्त्रीय भावनाओं की अतिशयता के कारण ही उनके द्वारा बहुल कार्यपालिका को अपनाया गया है। रैपार्ड के ही शब्दों में, "हमारी प्रजातन्त्रीय भावना किसी एक व्यक्ति की अतिशय प्रभुसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करती है।" इस बहुल कार्यपालिका का अन्य कोई उदाहरण नहीं है और पूर्व सोवियत संघ की प्रेजीडियम को ही इसके समीप कहा जा सकता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड और पूर्व सोवियत संघ की शासन व्यवस्था में आधारभूत भेद हैं और इस कारण यह समानता मात्र औपचारिक है, वास्तविक नहीं। स्विट्जरलैण्ड में यह बहुल कार्यपालिका सफलतापूर्वक कार्य कर रही है, लेकिन ऐसा स्विट्जरलैण्ड की विशेष परिस्थितियों के कारण ही है और विश्व के अन्य देशों में, विशेषतया भारत जैसे देश में, इसे सफलतापूर्वक अपनाना कतई सम्भव नहीं है।

(2) संसदात्मक व अध्यक्षतात्मक प्रणालियों का समन्वय (Amalgamation of Parliamentary and Presidential System)—राज्य और शासन सम्बन्धी ज्ञान के अन्तर्गत कार्यपालिका के दो प्रकारों का अध्ययन किया जाता है। प्रथम, संसदात्मक कार्यपालिका जिसका आदर्श उदाहरण ब्रिटेन है और द्वितीय, अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका जिसका आदर्श उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका है। लेकिन "स्विस् शासन व्यवस्था अपने आप में एक वर्ग है। यह संसदात्मक और अध्यक्षतात्मक दोनों ही प्रकार की कार्यपालिकाओं से मूलभूत रूप में भिन्न है, परन्तु इसमें दोनों ही शासन व्यवस्थाओं के लक्षणों का मिश्रण है।" संसदात्मक और अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका से स्विस् संघीय सरकार के साथ और अन्तर का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

संसदात्मक कार्यपालिका (ब्रिटिश कार्यपालिका) से तुलना (COMPARISON WITH PARLIAMENTARY EXECUTIVE OR BRITISH EXECUTIVE)

स्विस् कार्यपालिका का स्वरूप संसदात्मक कार्यपालिका अर्थात् इंग्लैण्ड की मन्त्रिपरिषद् से कुछ अंशों में समान है। बाहरी रूप में इन दोनों में निम्न समानताएं दिखायी देती हैं :

(i) ब्रिटिश सम्राट के समान स्विस् संघीय सरकार के अध्यक्ष को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह भी कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान ही है।

1 "Our democratic feelings revolt against any exclusive personal pre-eminence."
—Rappard, *Government of Switzerland*, p. 76.

(ii) संघीय सरकार के सदस्य संघीय सभा के दोनों सदनों में बैठते हैं, प्रश्नों का उत्तर देते हैं और बहुत कुछ अंशों तक ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के समान ही विधि और बजट निर्माण के कार्य में सहयोग देते हैं।

(iii) संघीय सरकार भी संसदात्मक व्यवस्था के मन्त्रिमण्डल की भांति ही पार्लियामेण्ट की एक समिति-मात्र है।

(iv) इंग्लैण्ड की मन्त्रिपरिषद् की भांति ही संघीय सरकार, संघीय संसद का पथ-प्रदर्शन करती है।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी संघीय सरकार इंग्लैण्ड की मन्त्रिपरिषद् या अन्य किसी संसदात्मक कार्यपालिका से मूलतः भिन्न है। रचना, कार्य और शक्ति तथा कार्यप्रणाली सभी रूपों में संसदीय कार्यपालिका से इसका भेद निम्न रूपों में देखा जा सकता है :

(i) संसदीय व्यवस्था में मन्त्री व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं; यदि वे मन्त्रिपद पर नियुक्त किये जाने के समय व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते, तो 6 माह के भीतर ही उन्हें व्यवस्थापिका का सदस्य बनना होता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में एक ही व्यक्ति संघीय संसद और संघीय सरकार दोनों का सदस्य नहीं हो सकता। संघीय संसद के जो सदस्य संघीय सरकार के लिए चुन लिए जाते हैं, उन्हें संघीय संसद से त्यागपत्र देना होता है।

(ii) संसदीय कार्यपालिका का एक प्रमुख तत्व सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के कारण इंग्लैण्ड की मन्त्रिपरिषद् एक इकाई की भांति कार्य करती है और मन्त्रिमण्डल के सदस्य एक साथ बैठते या एक साथ तैरते हैं। नवीन स्विस संविधान के अनुच्छेद 177 में यद्यपि यह कहा गया है कि, 'संघीय सरकार अपने निर्णय एक सामूहिक संस्था के रूप में लेगी।' लेकिन न तो इस पंक्ति को स्पष्ट किया गया है तथा न ही सामूहिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है। विशेष बात यह है कि सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के पालन हेतु कोई भी व्यवस्था नहीं की गई है। सामान्यतया यह देखा गया है कि संघीय सरकार का प्रत्येक सदस्य केवल अपने कार्यों के लिए ही उत्तरदायी होता है और यद्यपि संघीय सरकार की बैठकों में सहयोग की प्रवृत्ति होती है, परन्तु संघीय सरकार के सदस्य एक दूसरे के अज्ञात और विचारों से बंधे हुए नहीं होते हैं।

(iii) संसदीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल सामान्यतया एकदलीय होता है। इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय संकट के अवसरों को छोड़कर मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों को पसन्द नहीं किया जाता और मन्त्रिमण्डल में बहुमत दल के सदस्य ही होते हैं, किन्तु स्विस संघीय सरकार में किसी एक राजनीतिक दल के सदस्य नहीं, वरन् स्विस राजनीति में महत्व रखने वाले सभी राजनीतिक दलों के सदस्य होते हैं।

(iv) ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत संसद और मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल एक-दूसरे के विश्वास पर निर्भर करता है, किन्तु संघीय सरकार और संघीय संसद के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति नहीं है। ब्रिटिश संसद के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है। यदि संसद मन्त्रिमण्डल के किसी महत्वपूर्ण प्रस्ताव को अस्वीकार कर दे या बजट में कटौती कर दे, तो भी मन्त्रिमण्डल इसे अपने प्रति अविश्वास मानकर पदत्याग कर-देता है, लेकिन स्विस संघीय संसद अविश्वास के प्रस्ताव के आधार पर सरकार को पदच्युत नहीं कर सकती और यदि संघीय संसद संघीय सरकार के किसी

1 "The Federal Government shall take its decisions as a collective body."

महत्वपूर्ण समझे गये प्रस्ताव को अस्वीकार कर दे तो भी संघीय सरकार त्यागपत्र देने की आवश्यकता अनुभव नहीं करती। परिषद के सदस्य असम्मान को अपनी जेब में रख लेते हैं और संसद की इच्छा शक्ति के सम्मुख झुक जाते हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के द्वारा सम्राट को परामर्श देकर लोकसदन को भंग करवाया जा सकता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में संघीय सरकार संघीय संसद को भंग नहीं कर सकती। स्विट्जरलैण्ड में संघीय संसद और संघीय सरकार एक-दूसरे को समाप्त नहीं कर सकते, उनका कार्यकाल केवल इस रूप में परस्पर बंधा हुआ है कि यदि संविधान संशोधन विधेयक पर मतभेद होने के कारण संघीय संसद को विघटित किया जाय, तो नव-निर्वाचित संघीय संसद नवीन संघीय सरकार का निर्वाचन करती है। स्विट्स संघीय सरकार और संसदीय कार्यपालिका के बीच यह अन्तर सर्वाधिक प्रमुख है और यह एक अन्तर स्विट्स संघीय सरकार की ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल अथवा अन्य किसी संसदीय कार्यपालिका से अधिकांश अंशों में भिन्नता स्थापित कर देता है।

(v) स्विट्स संघीय सरकार में वैसे नेतृत्व का भी अभाव है, जिस प्रकार का नेतृत्व संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री के द्वारा मन्त्रिमण्डल को प्रदान किया जाता है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्माण, कार्य-संचालन और अन्त में केन्द्रीय स्थिति रखता है और उसका पद समस्त शासन-व्यवस्था में बड़ा प्रभावशाली होता है, किन्तु स्विट्स संघीय सरकार का अध्यक्ष केवल सम-सहयोगियों में ही प्रथम है और उसे यह पद केवल एक वर्ष के लिए ही प्राप्त होता है।

संघीय सरकार की उपर्युक्त विशेष बातों के कारण इसे संसदीय व्यवस्था या ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका

† (संयुक्त राज्य अमरीका की कार्यपालिका) से तुलना

(COMPARISON WITH PRESIDENTIAL EXECUTIVE OR EXECUTIVE OF THE U.S.A.)

स्विट्स संघीय सरकार अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका से कुछ बातों में समान है और कुछ बातों में असमान। अमरीका की अध्यक्षतात्मक कार्यपालिका के समान स्विट्स संघीय सरकार में स्थायित्व होता है। इसका निर्वाचन चार वर्ष की अवधि के लिए होता है और संघीय संसद इसे इस अवधि के पूर्व पदच्युत नहीं कर सकती। अमरीका के समान ही स्विट्जरलैण्ड में भी कार्यपालिका अर्थात् संघीय सरकार के द्वारा संघीय संसद को भंग नहीं किया जा सकता है। एक अन्य समानता यह है कि जिस प्रकार अमरीकी राष्ट्रपति और उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य कांग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार स्विट्जरलैण्ड में भी संघीय सरकार के सदस्य संघीय संसद के सदस्य नहीं हो सकते हैं।

किन्तु इन समानताओं की तुलना में असमानताएं अधिक हैं और वे निश्चित रूप से अधिक महत्वपूर्ण भी हैं :

(i) अमरीकी संवैधानिक व्यवस्था शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है और अमरीकी कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रूप में शासन कार्य का संचालन करती है। राष्ट्रपति पर कांग्रेस यदि कुछ नियन्त्रण करती है तो वह परोक्ष और निषेधात्मक ही है, लेकिन स्विट्स संघीय सरकार व्यवस्थापिका से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए शासन-कार्य का संचालन करती है। संघीय संसद संघीय सरकार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखती है और इस सम्बन्ध में इसे संघीय संसद की अभिकर्ता या एक समिति मात्र कहा जाता है।

(ii) अमरीका की अध्यक्षतात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति और उनके मन्त्री कांग्रेस से बिल्कुल पृथक् रहते हैं और वे कानून-निर्माण की प्रक्रिया में कोई भाग नहीं लेते। स्विट्जरलैण्ड में यद्यपि संघीय सरकार के सदस्य संघीय संसद के सदस्य नहीं होते और वे संघीय संसद में मतदान भी नहीं करते, लेकिन वे संघीय संसद में विधेयक प्रस्तावित करते, वाद-विवाद में भाग लेते और इस क्षेत्र में संघीय संसद को नेतृत्व प्रदान करते हैं।

(iii) स्विट्जरलैण्ड में संघीय सरकार के सदस्यों का चुनाव संघीय संसद के द्वारा किया जाता है, किन्तु अमरीका में राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित निर्वाचक मण्डल द्वारा चुना जाता है और मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सीनेट की सहमति से की जाती है।

(iv) इन सबके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि स्विट्स संघीय सरकार का अध्यक्ष अमरीकी कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति जैसी महत्वपूर्ण स्थिति नहीं रखता और इन दोनों पदों में नाम के अतिरिक्त अन्य कोई समानता नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्विट्जरलैण्ड की संघीय सरकार में संसदीय और अध्यक्षतात्मक दोनों ही प्रकार की कार्यपालिका के लक्षण विद्यमान हैं, लेकिन इसे संसदीय या अध्यक्षतात्मक किसी एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। डायसी ने स्विट्जरलैण्ड की संघीय सरकार की तुलना “निर्देशकों की एक ऐसी परिषद से की है, जिसकी नियुक्ति संघ की संसद की इच्छानुसार संघ के व्यवसाय का प्रबन्ध करने के लिए की गयी हो।”¹ इस सम्बन्ध में लॉर्ड ब्राइस का कहना है कि “संघीय सरकार न तो इंग्लैण्ड की मन्त्रिपरिषद के समान ही है और न ही यह संयुक्त राज्य की कार्यपालिका या उन गणराज्यों की कार्यपालिका के समान है जिन्होंने अध्यक्षतात्मक प्रणाली को अपनाया है और जहां कार्यपालिका व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र है। यद्यपि इनमें इन दोनों व्यवस्थाओं के लक्षण मिलते हैं, लेकिन फिर भी यह इन दोनों से भिन्न है।” मुनरो के शब्दों में कहा जा सकता है कि “स्विट्जरलैण्ड की संघीय सरकार संसदीय तथा असंसदीय, दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओं के गुण से युक्त तथा दोषों से मुक्त है। बहुल कार्यपालिका होते हुए भी इसमें एकल कार्यपालिका के गुण पाये जाते हैं।”²

पूर्व संविधान की संघीय परिषद और वर्तमान संविधान की संघीय सरकार की मूल प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए डायसी, ब्राइस और मुनरो के द्वारा पूर्व संविधान की संघीय परिषद के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह वर्तमान संविधान की कार्यपालिका संस्था ‘संघीय सरकार’ पर सम्पूर्ण अंशों में लागू होता है।

(3) उत्तरदायित्व व स्थायित्व का योग (Combination of Responsibility and Stability)—संसदीय शासन का सबसे प्रमुख गुण उत्तरदायित्व है अर्थात् वास्तविक शासन-व्यवस्था का संचालन करने वाले व्यक्ति जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उत्तरदायित्व की इस व्यवस्था के कारण शासन कार्य जन-प्रतिनिधियों की इच्छानुसार सम्पन्न होता है और सरकार निरंकुश नहीं हो पाती। अध्यक्षतात्मक शासन का सर्वप्रमुख गुण स्थायित्व है अर्थात् कार्यपालिका का एक निश्चित कार्यकाल होता है जिससे उसके द्वारा निश्चिन्तता

1 “Swiss Federal Council is like a Board of Directors, appointed to manage the concern of the Confederation in accordance with the wishes of the Federal Assembly.”
—Dicey, *Law of the Constitution*, p. 611.

2 “The Swiss Federal Council combines the merits and excludes the defects of both the parliamentary and non-parliamentary executive. It provides a plural executive with merits of a united executive.”
—Munro.

और कुशलता के साथ शासन कार्य किया जा सकता है। स्विस् संघीय सरकार में उत्तरदायित्व और स्थायित्व का बड़ा उपयोगी योग है और इसे संघीय संसद तथा संघीय सरकार के बीच विशेष प्रकार के सम्बन्धों की व्यवस्था करके प्राप्त किया गया है। संघीय सरकार संघीय संसद के निर्देशन और नियन्त्रण में कार्य करती है और इससे शासन कार्य में जन-दृष्टिकोण का समावेश हो गया है, लेकिन संघीय संसद संघीय सरकार को पदच्युत नहीं कर सकती और न ही संघीय संसद में अपना प्रस्ताव अस्वीकृत होने पर संघीय सरकार त्यागपत्र देती है। इस स्थिति के सम्बन्ध में मुनरो ने कहा है कि “संघीय सरकार कानून निर्माण के कार्यों में पूर्ण सक्रिय रूप से भाग ले, पर यदि उसका सुझाव न माना जाय, तो वह अपना अपमान भी न समझे, ऐसी आशा संघीय सरकार से की जाती है।” इस प्रकार संघीय संसद और संघीय सरकार के पारस्परिक सम्बन्धों में बहुत अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाकर उत्तरदायित्व और स्थायित्व दोनों ही गुणों को प्राप्त कर लिया गया है।

(4) निर्दलीयता (Non-Partisanship)—स्विस् संघीय सरकार की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका निर्दलीय स्वरूप है। संघीय सरकार में किसी एक राजनीतिक दल के सदस्य नहीं होते, वरन् उसमें उन सभी राजनीतिक दलों के सदस्य होते हैं, जिन्हें संघीय संसद में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। संघीय सरकार इस दृष्टि से भी निर्दलीय है कि सरकार के सदस्य अपने राजनीतिक दलों की सीमाओं में बंधकर कार्य नहीं करते, वरन् स्वयं अपने विवेक के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक विचार व्यक्त करते और कार्य करते हैं। वे दलबन्दी की सीमाओं के ऊपर उठकर राष्ट्रीय हित की साधना करते हैं। स्ट्रोंग ने कहा है, “मन्त्रिमण्डल (संघीय सरकार) का रूप दलबन्दी पर आधारित नहीं है। वह दल की सीमा के परे है। सदन में वह न तो दल का कार्य करता है और न ही सदन के विभिन्न दलों के कार्य को निर्धारित करता है।”¹

सरकार की यह निर्दलीयता उसकी शक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। सरकार अपने इस निर्दलीय स्वरूप के कारण विभिन्न राजनीतिक दलों में मध्यस्थता कर सकती और उनमें राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सामंजस्य स्थापित कर सकती है।

लेकिन निर्दलीयता का तात्पर्य यह नहीं लिया जाना चाहिए कि परिषद के सदस्य राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में सम्बन्ध नहीं रखते। एक राजनीतिक दल विशेष में नेतृत्व की स्थिति प्राप्त होने के कारण ही व्यक्ति को सरकार की सदस्यता प्राप्त होती है और सरकार के सदस्यों का कर्तव्य है कि वे सरकार के निर्णयों को अपने-अपने राजनीतिक दलों से स्वीकार करायें और उन्हें राष्ट्रीय हित में कार्य करने के लिए प्रेरित करें। यदि कोई सदस्य अपनी इस भूमिका को नहीं निभा पाता तो सरकार और राष्ट्रीय शासन के लिए उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। हूज ने इस स्थिति के सम्बन्ध में कहा है, “दल का समर्थन उसकी वैयक्तिक स्थिति के लिए आवश्यक है तथा यह एक दहेज के समान होता है जो वह मन्त्रिमण्डल की पारिवारिक परिधि में लाता है। संसद में अपने दल को साथ लिये बिना वह अपने सहयोगियों के लिए व्यर्थ सिद्ध होगा।”²

1 “The ministry has no partisan character. It stands outside party. It does not do party work and it does not determine the work of the various parties of the House.”

—C. F. Strong

2 “The support of the party is essential to his own personal position and it is, as it were, the dowry he brings into family circle of the Cabinet—he would be of no use to his colleagues, if he could not carry his parliamentary party with him.”

—Christopher Hughes, *The Parliament of Switzerland*, p. 93.

इस प्रकार स्विस संघीय सरकार के सदस्य यद्यपि भारत, ब्रिटेन या अमरीकी कार्यपालिका की तुलना में अपेक्षाकृत निर्दलीय हैं, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि परिषद की सहायता और उसके कार्यों का राजनीतिक दलों से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। ब्राइस ने इस स्थिति का सही विश्लेषण करते हुए लिखा है कि “यह (संघीय सरकार) दल के बाहर है, दल का कार्य करने के लिए नहीं चुनी जाती, दल की नीति निश्चित नहीं करती, परन्तु फिर भी यह दलीय प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं है।”¹

(5) विशेषज्ञों की परिषद (Council of Experts)—ब्रिटेन और भारत की संसदीय व्यवस्था और कुछ सीमा तक अमरीका की अध्यक्षतात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत भी मन्त्रिगण अपने विभागों के विशेषज्ञ नहीं होते। उन्हें अपना यह पद लोकप्रियता, सामान्य प्रशासनिक योग्यता, राजनीतिक दल में अपने स्थान और कार्यपालिका प्रधान की व्यक्तिगत कृपा के रूप में प्राप्त होता है, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में परिषद सदस्यों के पुनर्निर्वाचन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और मोटा, काफ तथा बेल्टी जैसे सदस्यों के द्वारा क्रमशः 30, 27 और 25 वर्ष तक इसके सदस्य के रूप में कार्य किया जा चुका है। यह भी परम्परा है कि पुनर्निर्वाचन पर साधारणतया एक व्यक्ति को वही विभाग दिया जाता है, जिस विभाग के प्रधान के रूप में उसके द्वारा कार्य किया जा चुका है। यह स्थिति सम्बन्धित सदस्यों को उनके विभागों के पूर्ण विशेषज्ञ बना देती है। सदस्यों की विशेषज्ञता को लक्ष्य करते हुए लाबेल ने कहा है कि “स्विट्जरलैण्ड में परिषद के सदस्य अपने-अपने विभागों के राजनीतिक अध्यक्ष तथा प्रमुख सचिव दोनों होते हैं।”

संघीय चांसलरी और स्विस चांसलर

(FEDERAL CHANCELLORY AND SWISS CHANCELLOR)

संविधान के अनुच्छेद 179 में कहा गया है : “संघीय चांसलरी संघीय सरकार का सामान्य कर्मचारी वर्ग है। इसका निर्देशन संघीय चांसलर द्वारा किया जाएगा।”²

संघीय चांसलरी संघीय सरकार और संघीय संसद का सचिवालय है जिसकी प्रस्थापना 1931 में की गयी थी। इसके विशेष कर्तव्यों में संघीय संसद और सरकार द्वारा कानूनों का प्रशासन, प्रशासकीय प्रलेखों का अनुवाद और उन्हें अपने अधिकार में रखना, संघीय चुनावों व लोक-निर्णय और आरम्भक की व्यवस्था करना है। कुछ विशेष कानूनों और अध्यादेशों पर राज्यमण्डल के अध्यक्ष के साथ-साथ संघीय चांसलरी के प्रधान के हस्ताक्षर भी आवश्यक होते हैं।

संघीय चांसलरी का प्रधान संघीय चांसलर होता है जिसे सभा द्वारा संघीय परिषद के सदस्यों के साथ ही चार वर्ष की अवधि के लिए चुना जाता है। व्यवहार में उसका पुनर्निर्वाचन होता रहता है और वह पद निवृत्ति की आयु तक अपने पद पर बना रहता है। उसके अधीन एक या अधिक वाइस-चांसलर होते हैं और उसके कार्यों में सहायता देने के लिए अन्य अनेक पदाधिकारी होते हैं।

1 “It stands outside party, is not choosen to do party work, does not determine party policy, yet is not wholly without some party colour.”

—James Bryce, *Modern Democracies*, Vol. I, p. 394.

2 “The Federal Chancery is the general staff of the federal government. It shall directed by a federal Chancellor.”

संघीय चांसलर संघीय संसद तथा संघीय सरकार, दोनों के सचिव के रूप में कार्य करता है। वह संघीय संसद के कार्य का पूरा रिकार्ड रखता है। वह संघीय सरकार की बैठकों में भाग लेता है और सरकार के कार्यों की रिपोर्ट करता है। वस्तुतः वह समस्त नागरिक सेवाओं का प्रधान होता है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. "स्विट्जरलैण्ड की संघीय कार्यपालिका संसदीय एवं अध्यक्षात्मक पद्धतियों का अनुपम समन्वय है।" विवेचना कीजिए।
2. संघीय सरकार की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. संघीय सरकार की विशेषताओं का वर्णन करते हुए संघीय संसद के साथ उसके सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिए।
4. संघीय सरकार एवं संघीय संसद के सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
5. 'स्विट्जरलैण्ड की संघीय सरकार विश्व में अपने ढंग की अनोखी कार्यपालिका है।' समझाइए।
6. बहुल कार्यपालिका से आपका क्या अभिप्राय है? स्विट्जरलैण्ड में इसका कार्यरूप समझाइए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. संघीय सरकार की रचना किस प्रकार होती है?
2. संघीय सरकार के अध्यक्ष या स्विस् राज्यमण्डल के राष्ट्रपति के अधिकार और कार्य संक्षेप में समझाइए।
3. संघीय सरकार की कार्यपालिका शक्तियां बताइए।
4. संघीय सरकार की विधायी एवं वित्तीय शक्तियां बताइए।
5. संवैधानिक दृष्टि से संघीय सरकार का संघीय संसद से सम्बन्ध बताइए।
6. संघीय सरकार और संघीय संसद के बीच सम्बन्धों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट कीजिए।
7. 'संघीय सरकार बहुल कार्यपालिका है।' स्पष्ट कीजिए।
8. 'संघीय सरकार संसदात्मक और अध्यक्षात्मक प्रणालियों का समन्वय है।' स्पष्ट कीजिए।
9. संघीय सरकार की चार प्रमुख विशेषताएं बताइए।
10. 'संघीय चांसलरी' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
11. संघीय सरकार की संकटकालीन शक्तियां बताइए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. बहुल कार्यपालिका से आप क्या समझते हैं?
[उत्तर—बहुल कार्यपालिका का आशय है : कार्यपालिका का नेतृत्व किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बरन् कुछ सदस्यों की समिति द्वारा किया जाता है।]
2. स्विस् संघीय सरकार के सदस्यों की संख्या कितनी है?
[उत्तर—स्विस् संघीय सरकार के सदस्यों की संख्या सात है।]
3. स्विट्जरलैण्ड के नवीन संविधान में कार्यपालिका को क्या नाम दिया गया है?
[उत्तर—वर्तमान संविधान में कार्यपालिका को 'संघीय सरकार' का नाम दिया गया है।]
4. स्विस् संघीय सरकार के सदस्यों का निर्वाचन किसके द्वारा किया जाता है?
[उत्तर—संघीय सरकार के 7 सदस्यों का निर्वाचन संघीय संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में किया जाता है।]

5. स्विस् राज्यमण्डल के राष्ट्रपति का निर्वाचन कौन करता है ?
[उत्तर—संघीय संसद के दोनों सदन अपनी संयुक्त बैठक में संघीय सरकार के सदस्यों में से ही एक अध्यक्ष का चुनाव एक वर्ष के लिए करते हैं। संघीय सरकार का अध्यक्ष ही स्विस् राज्यमण्डल का राष्ट्रपति कहलाता है।]
6. स्विस् राज्यमण्डल के राष्ट्रपति के कोई दो कार्य बताइए।
[उत्तर—(1) वह विदेशी राजदूतों का स्वागत करता है और उनके परिचय पत्र स्वीकार करता है तथा (2) संघीय संसद द्वारा पारित विधेयकों पर अपने हस्ताक्षर करता है।]
7. स्विस् संघीय सरकार को कार्यपालिका क्षेत्र में प्राप्त किन्हीं दो शक्तियों का उल्लेख कीजिए।
[उत्तर—(1) सरकारी नीति का निर्धारण करना तथा (2) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करना।]
8. संघीय सरकार की कोई दो विधायी शक्तियां बताइए।
[उत्तर—(1) संघीय सरकार स्वेच्छा से विधानमण्डल के समक्ष विधेयक प्रस्तुत कर सकती है तथा (2) सरकार को संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयक भी प्रस्तावित करने का अधिकार प्राप्त है।]
9. संघीय सरकार की दो वित्तीय शक्तियां बताइए।
[उत्तर—(1) संघीय सरकार संघीय बजट तैयार करती है और संसद के सामने स्वीकृति के लिए रखती है तथा (2) यह संघीय सरकार के आय और व्यय का हिसाब संघीय संसद को देती है।]
10. स्विस् संघीय सरकार की दो प्रमुख विशेषताएं बताइए।
[उत्तर—(1) बहुल कार्यपालिका तथा (2) संसदालोक एवं अध्यक्षालोक प्रणालियों का समन्वय।]
11. संघीय चांसलरी क्या है ?
[उत्तर—संघीय चांसलरी संघीय सरकार का सामान्य कर्मचारी वर्ग है।]
12. संघीय चांसलरी का प्रधान कौन होता है ?
[उत्तर—संघीय चांसलर, संघीय चांसलरी का प्रधान होता है।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. “यह विश्व की वैधानिक पद्धतियों में सर्वाधिक अनुपम है।” स्विस् संघीय सरकार के सम्बन्ध में यह कथन किसका है :
(अ) प्रो. स्ट्रोंग (ब) ब्राइस (स) मुनरो (द) फाइनर
2. स्विट्जरलैण्ड की संघीय सरकार में कितने सदस्य हैं :
(अ) 4 (ब) 5 (स) 7 (द) 9
3. संघीय सरकार का कार्यकाल कितने वर्ष निश्चित किया गया है :
(अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष
4. संघीय सरकार के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष कितने वर्ष के लिए चुने जाते हैं :
(अ) एक वर्ष (ब) दो वर्ष (स) तीन वर्ष (द) चार वर्ष
5. स्विस् संघीय सरकार के अध्यक्ष को क्या कहते हैं :
(अ) राष्ट्रपति (ब) उप-राष्ट्रपति (स) प्रधानमंत्री (द) चांसलर
6. स्विट्जरलैण्ड में समस्त प्रशासनिक कार्यों को कितने विभागों में बांटा गया है :
(अ) 4 (ब) 5 (स) 7 (द) 9
7. स्विस् संघीय सरकार को कार्यपालिका के क्षेत्र में कौन-सी शक्ति प्राप्त है :
(अ) सरकारी नीति का निर्धारण (ब) शासन व्यवस्था का संचालन
(स) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन (द) उपर्युक्त सभी शक्तियां

8. निम्नलिखित में से कौन-सा कथन गलत है :
- (अ) संघीय सरकार के अध्यक्ष को ब्रिटिश सम्राट के समान कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है
- (ब) संघीय सरकार भी संसदात्मक व्यवस्था के मन्त्रिमण्डल की भांति ही संसद की एक समिति मात्र है
- (स) इंग्लैण्ड की मन्त्रिपरिषद की भांति ही संघीय सरकार, संघीय संसद का पथ-प्रदर्शन करती है
- ✓(द) संघीय सरकार के सदस्य संसद के दोनों सदनों की बैठकों में उपस्थित नहीं रहते हैं
9. स्विस् संघीय सरकार की प्रमुख विशेषता है :
- (अ) बहुल कार्यपालिका
- (ब) संसदात्मक एवं अध्यक्षतात्मक प्रणालियों का समन्वय
- (स) उत्तरदायित्व एवं स्थायित्व का योग
- ✓(द) उपर्युक्त सभी
10. संघीय चांसलर का चुनाव कितने वर्ष के लिए किया जाता है :
- (अ) 2 वर्ष
- (ब) 4 वर्ष
- (स) 5 वर्ष
- (द) 6 वर्ष
11. 'बिना शक्ति का राष्ट्रपति' शब्द किसके लिए प्रचलित है :
- ✓(अ) स्विस् राष्ट्रपति
- (ब) चीन का राष्ट्रपति
- (स) अमरीकन राष्ट्रपति
- (द) पाकिस्तान का राष्ट्रपति
12. किस देश की कार्यपालिका में उत्तरदायित्व तथा स्थायित्व का मिश्रण पाया जाता है :
- (अ) ब्रिटेन
- (ब) अमेरिका
- ✓(स) स्विट्जरलैण्ड
- (द) चीन
13. स्विस् संघीय सरकार की गणपूर्ति के लिए कितने सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है :
- (अ) तीन
- ✓(ब) चार
- (स) पांच
- (द) सात
- [उत्तर—(1) अ, (2) स, (3) ब, (4) अ, (5) अ, (6) स, (7) द, (8) द, (9) द, (10) ब, (11) अ, (12) स, (13) ब]

6

स्विस न्यायपालिका : संघीय सर्वोच्च न्यायालय और अन्य न्यायिक सत्ताएं

(SWISS JUDICIARY : FEDERAL SUPREME COURT AND
OTHER JUDICIAL AUTHORITIES)

“स्विस लोगों की दृष्टि में संवैधानिक कानूनों का न्यायिक पुनर्विलोकन लोकतन्त्र के सिद्धान्त का उल्लंघन है।”¹ —हेन्स हुबर

संघीय सर्वोच्च न्यायालय

नवीन संविधान द्वारा संघीय सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना—1848 में निर्मित संविधान जो 1998 तक लागू था, उसके द्वारा न्यायिक क्षेत्र में ‘संघीय न्यायाधिकरण’ (Federal Tribunal) की स्थापना की गई थी, लेकिन वर्तमान संविधान के द्वारा ‘संघीय न्यायाधिकरण’ के स्थान पर ‘संघीय सर्वोच्च न्यायालय’ तथा अन्य न्यायिक सत्ताओं की स्थापना की गई है। संविधान के अनुच्छेद 188 से 191C तक में इन न्यायिक सत्ताओं की रचना तथा क्षेत्राधिकार का उल्लेख किया गया है।

‘संघीय सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति—अनुच्छेद 188 में इस सम्बन्ध में निम्न तीन बातें कही गई हैं :

1. संघीय सर्वोच्च न्यायालय संघ की सर्वोच्च न्यायिक सत्ता है।
2. इसका गठन और इसकी प्रक्रिया ‘कानून’ (संघीय संसद द्वारा निर्मित किए जाने वाले कानून) से निर्धारित होगी।
3. संघीय सर्वोच्च न्यायालय अपने प्रशासन की स्वयं ही व्यवस्था करेगा।

रचना (Composition)—संविधान के अनुच्छेद 188 में कहा गया है कि संघीय सर्वोच्च न्यायालय की रचना संघीय संसद द्वारा कानून के आधार पर निर्धारित की जाएगी। अतः संघीय सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या, आदि बातें संघीय संसद द्वारा निश्चित की जाएंगी। संविधान में केवल यह कहा गया है कि संघीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों

¹ “The people saw in the judicial examination of the constitutional law an infringement of the democratic principles.” —Hans Huber

को संघीय संसद द्वारा निर्वाचित किया जाएगा। स्विस् न्यायालयों में नियमित न्यायाधीशों के साथ 'वैकल्पिक न्यायाधीशों' (Alternate Judges) भी होते हैं। नियमित न्यायाधीश द्वारा अपना कार्य करने में असमर्थ होने की स्थिति में उनके स्थान पर वैकल्पिक न्यायाधीश द्वारा कार्य किया जाता है। इन सभी न्यायाधीशों को संघीय संसद 6 वर्ष के लिए निर्वाचित करती है। न्यायाधीशों के पुनः निर्वाचन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और परम्परा के अनुसार न्यायाधीश जब तक इस पद पर कार्य करना चाहें, पुनर्निर्वाचित होते रहते हैं। इस सम्बन्ध में कोई आयु सम्बन्धी प्रतिबन्ध तो नहीं है, लेकिन व्यवहार में न्यायाधीश उस वर्ष त्यागपत्र दे देते हैं जिस वर्ष उनकी आयु 70 वर्ष हो जाती है। इस पुनर्निर्वाचन के आधार पर न्यायाधीशों के निरन्तर अनुभव से लाभ उठाया जा सकता है। सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु निर्वाचन की पद्धति को अपनाने से न्यायिक स्वतन्त्रता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और वे राजनीतिक प्रभाव में कार्य करते हैं, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में पुनर्निर्वाचन की परम्परा अपनाये जाने के कारण यह आशंका लगभग समाप्त हो गयी है। संघीय सर्वोच्च न्यायालय का एक प्रधान तथा एक उप-प्रधान होता है जिनका निर्वाचन संघीय संसद द्वारा दो वर्ष की अवधि के लिए किया जाता है। प्रधान या उप-प्रधान पद पर तुरन्त ही दूसरी अवधि के लिए इनमें से किसी को निर्वाचित नहीं किया जा सकता।

योग्यताएं (Qualifications)—संविधान में न्यायाधीशों की योग्यता के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। संविधान में केवल यह कहा गया है कि कोई भी स्विस् नागरिक जो प्रतिनिधि सभा (संघीय संसद का प्रथम सदन) का सदस्य बनने की योग्यता रखता हो, संघीय न्यायालय का न्यायाधीश निर्वाचित हो सकता है, केवल यह प्रतिबन्ध है कि संघीय संसद या संघीय सरकार के सदस्य या उनके द्वारा नियुक्त पदाधिकारी इन पदों पर निर्वाचित नहीं हो सकते। यद्यपि न्यायाधीश के पद के लिए कानूनी योग्यता निर्धारित नहीं की गयी है, किन्तु व्यवहार में न्याय सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव रखने वाले व्यक्ति ही इस पद पर निर्वाचित होते रहते हैं। एक विधि के अनुसार दो निकट सम्बन्धी न्यायालय के एक साथ सदस्य नहीं हो सकते हैं। एक परम्परा यह भी स्थापित हो गयी है कि मुख्य राजनीतिक दलों एवं प्रोटेस्टेण्ट तथा कैथोलिक धर्मों तथा तीनों मुख्य भाषाओं के प्रतिनिधियों को न्यायालय में स्थान दिया जाता है।

वेतन, आदि (Salary etc.)—संघीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश का वेतन और भत्ते, आदि संघीय संसद द्वारा निर्धारित किए जाएंगे। वैकल्पिक न्यायाधीशों को कोई नियमित वेतन नहीं मिलता, वरन् उन्हें सेवाकाल के दिनों में भत्ता मिलता है। न्यायाधीशों के लिए पेंशन की व्यवस्था भी की गई है, पेंशन की मात्रा और शर्तें संघीय संसद द्वारा तय की जाएंगी।

संघीय सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य स्थान बॉड कैण्टन की राजधानी लासेन नगर है। सभी न्यायाधीशों को वहीं रहना होता है, परन्तु राजनीतिक और नागरिक अधिकार उन्हें उस कैण्टन से प्राप्त होते हैं, जिसके वे निवासी हैं। संघीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने पद पर रहते हुए न तो संघीय सरकार या कैण्टनों की सरकारों के अधीन कोई नौकरी कर सकते हैं और न किसी निजी व्यवसाय या उद्योग का संचालन कर सकते हैं।

क्षेत्राधिकार (Jurisdiction)

अनुच्छेद 189 में संघीय सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का उल्लेख किया गया है। संघीय सर्वोच्च न्यायालय को अग्रांकित के उल्लंघन पर क्षेत्राधिकार प्राप्त होगा :

- (i) संघीय कानून,
- (ii) सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून,
- (iii) कैण्टनों के आपसी सम्बन्धों से सम्बन्धित कानून,
- (iv) कैण्टनों के संवैधानिक अधिकार,
- (v) म्युनिसिपैलिटीज की स्वायत्तता और कैण्टनों द्वारा सार्वजनिक निगमनात्मक संस्थाओं को प्रदत्त गारण्टियां,
- (vi) संघीय और कैण्टनों के प्रावधान और राजनीतिक अधिकार।

राजमण्डल और कैण्टनों के बीच विवाद—राज्यमण्डल और कैण्टनों के बीच तथा कैण्टनों में परस्पर उत्पन्न होने वाले सार्वजनिक कानून से सम्बन्धित विवाद।

अनुच्छेद 189 के उपर्युक्त प्रावधान का आशय यह है कि अनुच्छेद 189 में वर्णित उपर्युक्त 6 स्थितियों के सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न होंगे, उन विवादों की सुनवाई संघीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही की जाएगी।

कानून के आधार पर संघीय सर्वोच्च न्यायालय को अन्य बातों के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार प्रदान किया जा सकता है। लेकिन संघीय सर्वोच्च न्यायालय पर एक स्पष्ट प्रतिबन्ध है। संघीय संसद द्वारा निर्मित कानूनों और संघीय शासन के आदेशों को संघीय सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख चुनौती नहीं दी जा सकती। कानून के आधार पर इस स्थिति के अपवाद निश्चित किए जा सकते हैं।

संघीय सर्वोच्च न्यायालय और अन्य न्यायिक सत्ताएं संघीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर अपने निर्णय देंगी।

आंशिक न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था (Provision for Partial Judicial Review)—संवैधानिक अधिकार क्षेत्र में एक विशेष बात यह है कि अमरीकी संघ के सर्वोच्च न्यायालय के समान स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय को पूर्ण अर्थों में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त नहीं है, वरन् उसे यह शक्ति आंशिक रूप से ही प्राप्त है। संघीय सर्वोच्च न्यायालय कैण्टनों की विधियों और कैण्टनों की सरकारों के कार्यों की इस आधार पर जांच कर सकता है कि वे संविधान के प्रतिकूल तो नहीं हैं और यदि वह उन्हें संविधान के प्रतिकूल समझे तो अवैध घोषित कर सकता है, लेकिन इसे संघीय क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त नहीं है अर्थात् वह संघीय संसद द्वारा निर्मित कानूनों को असंवैधानिक घोषित नहीं कर सकता। यह बात संविधान के अनुच्छेद 189(4) से नितान्त स्पष्ट है, जिसमें कहा गया है कि “संघीय संसद द्वारा निर्मित कानूनों और संघीय शासन के आदेशों को संघीय सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख चुनौती नहीं दी जा सकती। कानून के आधार पर इस स्थिति के अपवाद निश्चित किए जा सकते हैं।”

स्विट्जरलैण्ड में न्यायिक पुनर्विलोकन न होने की कुछ पक्षों द्वारा आलोचना की गयी है। उदाहरणार्थ, डायसी इसे ‘संविधान-निर्माताओं की विफलता और संवैधानिक त्रुटि’ बताते हैं, लेकिन वास्तव में यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। स्विस नागरिक अत्यधिक प्रजातन्त्रवादी हैं और वे जन इच्छाओं पर कोई प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते। इसी कारण उनके द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन को नहीं अपनाया गया है। हेन्स हूबर ने उचित रूप में लिखा है कि “समष्टि

रूप से स्विट्जरलैण्ड के लोग लोकतन्त्र अर्थात् जनता की इच्छा के पालन को संवैधानिक अर्थात् संविधान की इच्छा के पालन से उच्च स्थान प्रदान करते हैं।¹

अन्य संघीय न्यायिक सत्ताएं

(FURTHER FEDERAL JUDICIAL AUTHORITIES)

संघीय फौजदारी न्यायालय—राज्यमण्डल द्वारा एक संघीय फौजदारी न्यायालय की स्थापना की जाएगी, जिसके द्वारा उन फौजदारी मामलों के 'परीक्षण न्यायालय' (Trial Court) के रूप में कार्य किया जाएगा, जो कानून के अनुसार संघीय क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित हैं। कानून के आधार पर इस संघीय फौजदारी न्यायालय के क्षेत्राधिकार में वृद्धि की जा सकती है।

अन्य संघीय न्यायिक सत्ताएं—राज्यमण्डल के द्वारा अन्य संघीय न्यायिक सत्ताओं की स्थापना की जा सकेगी। इन न्यायिक सत्ताओं के द्वारा संघीय प्रशासन के प्रशासनिक क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित सार्वजनिक कानून से जुड़े विवादों पर विचार और निर्णय किया जाएगा।

कानून के आधार पर अन्य संघीय न्यायिक सत्ताओं की स्थापना की जा सकेगी।

कैण्टनों की न्यायिक सत्ताएं—कैण्टनों के द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में न्यायिक सत्ताओं की स्थापना की जाएगी। इन न्यायिक सत्ताओं के द्वारा दीवानी और फौजदारी तथा सार्वजनिक कानून से सम्बन्धित विवादों पर विचार और निर्णय किया जाएगा।

कुछ कैण्टन मिलकर 'सांझी न्यायिक सत्ताओं' (Common Judicial Authorities) की स्थापना भी कर सकेंगे।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 1991(C) में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गई है। सभी न्यायिक सत्ताएं अपने न्यायिक कार्यों के सम्पादन में स्वतन्त्र होंगी तथा उन पर केवल कानून का प्रतिबन्ध होगा।

स्विस् संघीय सर्वोच्च न्यायालय की अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय से तुलना

(COMPARISON OF SWISS FEDERAL SUPREME COURT WITH AMERICAN SUPREME COURT)

स्विट्जरलैण्ड में संयुक्त राज्य अमरीका के ही समान संघात्मक शासन-व्यवस्था है और इस कारण यह सोचा जा सकता है कि स्विट्जरलैण्ड का संघीय सर्वोच्च न्यायालय अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के ही समान होगा, लेकिन वस्तुतः दोनों के संगठन और शक्तियों में महत्वपूर्ण अन्तर है, जिनका अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

संगठन में भिन्नता (Difference in Organization)

(1) स्विस् संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन संघीय सभा करती है, लेकिन अमरीका में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति सीनेट की सहमति से राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

(2) कम-से-कम संवैधानिक दृष्टि से इन दोनों न्यायालयों के कार्यकाल में भी अन्तर है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सदाचार पर्यन्त अपने पद पर आसीन रहते

"The Swiss, as a whole place democratic observance of the people, above constitutionality, the observance of the will of constitution."

—Hans Huber

हैं, परन्तु स्विस संघीय न्यायालय के न्यायाधीश केवल 6 वर्ष के लिए निर्वाचित किये जाते हैं, परन्तु व्यवहार में पुनर्निर्वाचन की परम्परा होने के कारण स्विस न्यायाधीशों का कार्यकाल भी वस्तुतः सदाचार पर्यन्त हो गया है।

(3) अमरीकी संविधान का मूलभूत सिद्धान्त शक्ति-पृथक्करण है। इसी कारण सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस और कार्यपालिका से पूर्णतया पृथक् रहते हुए अपना कार्य करता है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के पास अपने निर्णयों को लागू करने के लिए पदाधिकारी होते हैं, लेकिन स्विस संविधान में शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के लिए कोई स्थान नहीं है। यह न्यायालय संघीय संसद के अधीक्षण में कार्य करता है और इसे अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट संघीय संसद के सम्मुख प्रस्तुत करनी होती है। इसके अतिरिक्त स्विस संघीय न्यायालय के पास अपने निर्णयों को लागू करने के लिए अपने कोई पदाधिकारी नहीं होते हैं।

अधिकार क्षेत्र में भिन्नता (Difference in Jurisdiction)—संगठन की अपेक्षा अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में भिन्नता अधिक महत्वपूर्ण है।

(1) प्रशासनिक क्षेत्र में (In Administrative Sphere)—संयुक्त राज्य अमरीका में संघीय न्यायालय को प्रशासनिक न्याय सम्बन्धी शक्तियां प्राप्त नहीं हैं; वहां प्रशासनिक विवादों के सम्बन्ध में निर्णय साधारण न्यायालयों द्वारा दिया जाता है, परन्तु स्विट्जरलैण्ड में संघीय न्यायालय को प्रशासनिक विवादों के सम्बन्ध में अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है।

(2) संवैधानिक क्षेत्र में (In Constitutional Sphere)—एक राज्य के सर्वोच्च न्यायालय और विशेषतया संघ राज्य के सर्वोच्च न्यायालय के लिए प्रशासनिक अधिकार क्षेत्र की अपेक्षा संवैधानिक अधिकार-क्षेत्र ही अधिक महत्व रखता है और संवैधानिक अधिकार-क्षेत्र की दृष्टि से अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में बहुत अधिक उच्च है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है जिसने इसे संविधान के संरक्षक की स्थिति प्रदान कर दी है। संघीय सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस द्वारा निर्मित कानूनों या राज्य व्यवस्थापिकाओं द्वारा निर्मित कानूनों अथवा संघीय या राज्य सरकारों के प्रशासनिक कार्यों की संवैधानिकता के आधार पर जांच करता है और यदि वह उन्हें संविधान के प्रतिकूल समझे, तो अवैध घोषित कर सकता है। यही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति है और इसके कारण न्यायपालिका ने समस्त प्रशासनिक तन्त्र में सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर ली है। न्यायिक पुनर्विलोकन की इस शक्ति के कारण सर्वोच्च न्यायालय को कांग्रेस का तृतीय सर्वोपरि सदन कहा जाता है और हूज (Hughes) जैसे व्यक्ति स्थिति की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि “हम एक संविधान के अन्तर्गत हैं, किन्तु संविधान वैसा ही है जैसा कि सर्वोच्च न्यायालय कहता है।” स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय को केवल कैण्टनों के सम्बन्ध में ही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है, स्विस नागरिक संवैधानिकता की अपेक्षा प्रजातन्त्रात्मकता के अधिक भक्त हैं और स्विस लोगों की दृष्टि में संवैधानिक कानूनों का न्यायिक परीक्षण लोकतन्त्र के सिद्धान्त का उल्लंघन है।

इस प्रकार अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र बहुत अधिक सीमित है और इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति अत्यधिक हीन है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्विट्जरलैण्ड के संघीय सर्वोच्च न्यायालय के गठन और क्षेत्राधिकार की विवेचना कीजिए।
2. स्विट्जरलैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय की रचना तथा शक्तियों की अमरीका के उच्चतम न्यायालय की रचना तथा शक्तियों से तुलना कीजिए।
3. स्विस न्यायपालिका पर एक निबन्ध लिखिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. संघीय सर्वोच्च न्यायालय की रचना का वर्णन कीजिए।
2. संघीय सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्पष्ट कीजिए।
3. "स्विस संविधान में आंशिक न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था की गई है।" स्पष्ट कीजिए।
4. स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय और अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के बीच संगठन में भिन्नता बताइए।
5. स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय और अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के बीच अधिकार क्षेत्र में भिन्नताएं बताइए।
6. 'संघीय फौजदारी न्यायालय' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
7. स्विट्जरलैण्ड में न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था है ? इस व्यवस्था को किस कारण से अपनाया गया है ?

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. संघीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या किसके द्वारा निश्चित की जाती है ?
[उत्तर—संघीय संसद के द्वारा।]
2. संघीय सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान एवं उप-प्रधान का निर्वाचन कौन करता है ?
[उत्तर—प्रधान एवं उप-प्रधान का निर्वाचन संघीय संसद करती है।]
3. संघीय सर्वोच्च न्यायालय का मुख्यालय कहां पर है ?
[उत्तर—सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य स्थान बॉड कैण्टन की राजधानी लासेन नगर है।]
4. किन्हीं दो विवादों का उल्लेख कीजिए, जिनकी सुनवाई संघीय सर्वोच्च न्यायालय में की जाती है ?
[उत्तर—(1) संघीय कानून से सम्बन्धित विवाद तथा (2) सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित विवाद।]
5. संघीय सर्वोच्च न्यायालय और अन्य न्यायिक सत्ताएं किस आधार पर निर्णय प्रदान करती हैं ?
[उत्तर—ये सभी अपने निर्णय संघीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर देती हैं।]
6. संघीय सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर क्या प्रतिबन्ध है ?
[उत्तर—संघीय संसद द्वारा निर्मित कानूनों और संघीय शासन के आदेशों को संघीय सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख चुनौती नहीं दी जा सकती।]
7. स्विट्जरलैण्ड में न्यायिक पुनर्विलोकन न होने को 'संविधान-निर्माताओं की विफलता और संवैधानिक त्रुटि' किसने बताया है ?
[उत्तर—डायसी ने।]
8. संघीय सर्वोच्च न्यायालय को संघीय क्षेत्र में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति क्यों प्राप्त नहीं है ?
[उत्तर—इसका कारण यह है कि स्विट्जरलैण्ड के लोग जनता की इच्छा के पालन को अर्थात् लोकतन्त्र को संविधान से उच्च स्थान प्रदान करते हैं।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "स्विस लोगों की दृष्टि में संवैधानिक कानूनों का न्यायिक पुनर्विलोकन लोकतन्त्र के सिद्धान्त का उल्लंघन है।" यह कथन किस विद्वान का है :
 (अ) हेन्स हूवर (ब) डायसी
 (स) ब्राइस (द) हूज
2. संघीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन कौन करता है :
 (अ) स्विस जनता (ब) संघीय संसद
 (स) संघीय सरकार (द) राष्ट्रपति
3. संघीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल कितने वर्ष है :
 (अ) 4 वर्ष (ब) 5 वर्ष
 (स) 6 वर्ष (द) आजीवन
4. सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान एवं उप-प्रधान का निर्वाचन कितने वर्ष के लिए किया जाता है :
 (अ) एक वर्ष (ब) दो वर्ष
 (स) तीन वर्ष (द) छः वर्ष
5. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन और भत्ते, आदि कौन निर्धारित करता है :
 (अ) संघीय सरकार (ब) राष्ट्रपति
 (स) संघीय संसद (द) जनता
6. संघीय सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा किस विवाद की सुनवाई की जाती है :
 (अ) संघीय कानून से सम्बन्धित विवाद
 (ब) सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित विवाद
 (स) कैण्टनों के आपसी सम्बन्धों से सम्बन्धित कानून
 (द) उपर्युक्त सभी
7. कौन-सा वक्तव्य सही है :
 (अ) स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं
 (ब) संघीय सर्वोच्च न्यायालय को कैण्टनों के कानूनों पर न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त है
 (स) संघीय सर्वोच्च न्यायालय को संघीय कानूनों के पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त है
 (द) संघीय सर्वोच्च न्यायालय को संघ एवं कैण्टनों, दोनों के कानूनों के पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त है
8. स्विस संघीय सर्वोच्च न्यायालय की शक्तिहीनता का कारण है :
 (अ) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तथा जन सम्प्रभुता की धारणा में गहरा विश्वास
 (ब) न्यायाधीशों का अल्प कार्यकाल
 (स) न्यायाधीशों का निर्वाचन
 (द) उपर्युक्त सभी

[उत्तर—1. (अ) 2. (ब) 3. (स) 4. (ब) 5. (स) 6. (द) 7. (ब) 8. (द)]

7

स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र

(DIRECT DEMOCRACY IN SWITZERLAND)

“लोकतन्त्र के विद्यार्थी के लिए स्विस् शासन-व्यवस्था में इस (प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय साधनों) से अधिक शिक्षाप्रद और कुछ भी नहीं है, क्योंकि वह असंख्य जनों के हृदय की झांकी प्रस्तुत करती है और उनकी भावनाएं तथा विचार प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं, निर्वाचित प्रतिनिधि के माध्यम से परावर्तित होकर नहीं।”¹

—ब्राइस

स्विट्जरलैण्ड : लोकतन्त्र का घर

(SWITZERLAND : HOME OF DEMOCRACY)

लोकतन्त्र की सर्वप्रमुख परिभाषा के अनुसार इसे “जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन” कहा जाता है। मूलतः इसका आशय यह है कि स्वयं जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासन की शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है तथा प्राचीनकाल में यूनानी नगर राज्यों तथा भारत के वज्जि संघ में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन ही प्रचलित था, लेकिन कालान्तर में राज्यों की जनसंख्या बढ़ जाने और बड़े आकार वाले राज्यों की स्थापना होने के कारण प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को अव्यावहारिक पाया गया और इसके स्थान पर विश्व के अधिकांश राज्यों में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र को अपना लिया गया, लेकिन वर्तमान समय में भी स्विट्जरलैण्ड के एक पूर्ण कैण्टन और चार अर्द्ध कैण्टनों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय शासन प्रचलित है। स्विट्जरलैण्ड के अन्य कैण्टनों और संघीय क्षेत्र में अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र है, किन्तु प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की उपादेयता को स्वीकार करते हुए इन कैण्टनों और संघीय क्षेत्र में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उपकरणों—लोकनिर्णय और आरम्भक को अपनाया गया है।

कुछ कैण्टनों में नागरिकों के लिए मताधिकार का प्रयोग करना अनिवार्य है। इनमें से भी कुछ कैण्टनों में केवल कैण्टनों के चुनाव के लिए ही मतदान अनिवार्य है और कुछ में केवल संघीय चुनावों में। कुछ कैण्टनों में मतदान न करने वाले व्यक्तियों को सामान्य जुरमाना

1 “Nothing in Swiss arrangements is more instructive to the student of democracy; for it opens a window into the soul of the multitude. The innermost thoughts and feelings are seen directly, not refracted through the medium of elected bodies.”

—Lord Bryce, *Modern Democracies*, Vol. I, p. 413.

देना होता है जबकि कुछ अन्य कैण्टनों में जुमनि की व्यवस्था नहीं है। जिन कैण्टनों में संघीय विषयों पर अनिवार्य मतदान और मतदान न करने पर जुमनि की व्यवस्था की गयी है, वे हैं, शोह फासन, सेण्ट गॉल, आरगाऊ तथा थरगाऊ। वर्तमान समय में अनिवार्य मतदान की व्यवस्था भी केवल स्विट्जरलैण्ड में ही है और यह स्विस व्यवस्था की लोकतन्त्रात्मकता का एक और प्रतीक है। स्विट्जरलैण्ड की इन व्यवस्थाओं के कारण ही स्विट्जरलैण्ड को लोकतन्त्र का घर माना जाता है और 'ब्राइस' के शब्दों में कहा जा सकता है कि "विश्व के आधुनिक लोकतन्त्रों में जो कि वास्तविक लोकतन्त्र है, अध्ययन की दृष्टि से स्विट्जरलैण्ड का सर्वाधिक महत्व है।"¹

स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके उपकरण (DIRECT DEMOCRACY IN SWITZERLAND AND ITS TOOLS)

प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy)—आज 20वीं सदी में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को सामान्यतया अतीत की शासन-व्यवस्था माना जाता है, किन्तु स्विट्जरलैण्ड के एक पूर्ण कैण्टन (ग्लेरस) और चार अर्द्ध कैण्टनों (ओब वाल्डेन, निड वाल्डेन, इनर अप्पेन्ज़ल और आउटर अप्पेन्ज़ल) में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र प्रचलित है।

प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय कैण्टनों में शासन-व्यवस्था

लैण्ड्सजीमिण्ड या प्रारम्भिक सभाएं

इन कैण्टनों में कोई विधानमण्डल नहीं है और विधानमण्डल का कार्य 'लैण्ड्सजीमिण्ड' (Landsgemeinde) या प्रारम्भिक सभा द्वारा किया जाता है। इन कैण्टनों में नागरिकों की वर्ष में एक बार या आवश्यकतानुसार इससे अधिक बार प्रारम्भिक सभाएं होती हैं, जिसमें 20 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वाद-विवाद में भाग लेने और मत देने का अधिकार होता है। इस प्रारम्भिक सभा को स्विट्जरलैण्ड में 'लैण्ड्सजीमिण्ड' कहा जाता है। इस सभा में अगले वर्ष तक के लिए प्रशासनिक कार्य चलाने हेतु एक कार्यकारिणी परिषद का चुनाव किया जाता है, जिसका प्रधान 'लैण्ड्समैन' (Landsman) कहा जाता है। यह कार्यकारिणी परिषद प्रारम्भिक सभा के सम्मुख गत वर्ष के प्रशासनिक कार्य की रिपोर्ट और आगामी वर्ष के लिए बजट प्रस्तुत करती है। सभा बजट पारित करती है। यह सभा कैण्टन के न्यायाधीशों और अन्य सरकारी अधिकारियों और राज्य परिषद के लिए प्रतिनिधि भी चुनती है। प्रारम्भिक सभा के द्वारा वे सभी अन्य कार्य भी किये जाते हैं जो अन्य कैण्टनों में विधानमण्डल करते हैं।

एक पूर्ण कैण्टन और चार अर्द्ध कैण्टनों में अपनायी गयी इस व्यवस्था को लोकतन्त्र का सर्वोत्तम रूप कहा जा सकता है क्योंकि इसमें नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन-व्यवस्था का संचालन करते हैं। लायड तथा हॉबसन के विचारानुसार, "प्रभुसत्ता जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग की जाती है तथा सभी मतदाताओं द्वारा बनी हुई यह सभा उस लोकतन्त्र का श्रेष्ठ उदाहरण है जिसे रूसो तथा अन्य दार्शनिकों ने वास्तविक लोकतन्त्र कहा है।"²

1 "Among the Modern Democracies which are true democracies Switzerland has the highest claim to be studies." —Bryce

2 "The sovereign power of the people is directly exercised in all the critical acts of the government of the full assembly of the citizen forming the largest and most conspicuous example as what Rousseau and certain other philosophers regard as the only democracy." —Loyd and Hobson

प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उपकरण : लोकनिर्णय और आरम्भक (TOOLS OF DIRECT DEMOCRACY : REFERENDUM AND INITIATIVE)

अन्य स्विस कैंटनों और संघीय क्षेत्र में यद्यपि प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को उसकी अव्यावहारिकता के कारण नहीं अपनाया गया है, लेकिन स्विस नागरिक मूलतः प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के प्रशंसक और भक्त हैं तथा उनके द्वारा अपनी शासन-व्यवस्था में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के उपकरणों (लोकनिर्णय और आरम्भक) को अपनाकर शब्दों में नहीं, लेकिन भावना में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र को अपना लिया गया है। इन पद्धतियों के कारण वास्तविक और अन्तिम रूप में विधि-निर्माण शक्ति की अधिकारिणी समस्त स्विस जनता हो गयी है। सिगफ्रीड इस स्थिति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि “यहां लोकतन्त्र प्रत्यक्ष ही रहता है और अपनी शक्तियां सौंपते समय स्विस जनता उन्हें त्याग नहीं देती। वह लोकनिर्णय के द्वारा अन्तिम शब्द और आरम्भक की प्रक्रिया द्वारा शायद प्रथम शब्द कहने का अधिकार सदैव अपने पास ही रखती है।”¹

लोकनिर्णय और आरम्भक को यद्यपि विश्व के कुछ अन्य क्षेत्रों में भी अपनाया गया है—जैसे संवैधानिक प्रश्नों पर लोकनिर्णय स्विट्जरलैण्ड ने अमरीकी संघ के मैसाचुसेट्स राज्य से ग्रहण किया, जहां वह 1778 से भी पूर्व प्रचलित था, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में लोकनिर्णय और आरम्भक की पद्धतियों को इस सीमा तक अपनाया और विकसित किया गया है कि “वे वस्तुतः स्विस पद्धतियां ही हो गयी हैं।”²

लोकनिर्णय और आरम्भक का तात्पर्य (MEANING OF REFERENDUM AND INITIATIVE)

लोकनिर्णय या जनमत संग्रह (Referendum or Plebiscite)—लोकनिर्णय इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक कानून आवश्यक रूप से जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होनी चाहिए और इसलिए जनता को व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों पर निषेधाधिकार प्राप्त होना चाहिए। लोकनिर्णय का तात्पर्य यह है कि विधानमण्डल द्वारा पारित कोई विधेयक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक कि जनता उसे स्वीकृति प्रदान न करे अर्थात् यदि जनता विधेयक को अस्वीकृत कर दे, तो उसे रद्द समझा जायेगा। लोकनिर्णय के दो रूप होते हैं—अनिवार्य और ऐच्छिक।

अनिवार्य लोकनिर्णय का आशय यह है कि विधानमण्डल द्वारा पारित सब विधेयकों पर लोकनिर्णय आवश्यक है और बिना जनता की स्वीकृति के ये विधेयक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकते। ऐच्छिक लोकनिर्णय का तात्पर्य यह है कि संविधान द्वारा निर्धारित जनता की एक निश्चित संख्या निश्चित समय के भीतर, विधान सभा द्वारा पारित विधेयक पर लोकनिर्णय की मांग करे, तभी वह उसके लिए प्रस्तुत किया जायेगा, अन्यथा नहीं। यदि जनता द्वारा इस प्रकार की मांग न की जाय तो विधेयक बिना लोकनिर्णय के ही स्वीकृत समझ लिया जाता है।

आरम्भक (Initiative)—लोकनिर्णय जनता को कानूनों के सम्बन्ध में निषेधात्मक शक्ति प्रदान करता है और उसे इस सम्बन्ध में सकारात्मक शक्ति आरम्भक के द्वारा प्रदान की जाती

1 “In Switzerland democracy remains direct and in delegating their powers the Swiss people do not abdicate them. They always reserve the right to have the last word by referendum and perhaps the first word too, by means of the popular initiative procedure.”

2 John Brown Mason, *Switzerland in Government of foreign Powers*, p. 398.

है। आरम्भक के द्वारा जनता को अधिकार दिया जाता है कि वह किसी विधेयक का प्रारूप तैयार करे अथवा प्रस्ताव के रूप में विधानमण्डल से यह मांग कर सकती है कि या तो विधानमण्डल उस प्रस्ताव के आधार पर कानून का निर्माण करे अथवा उस पर लोकनिर्णय लिया जाय। आरम्भक दो प्रकार के होते हैं : (1) **सविन्यासित आरम्भक** (formulated initiative), और (2) **अविन्यासित आरम्भक** (unformulated initiative)।

सविन्यासित आरम्भक के अन्तर्गत जनता स्वयं ही विधानमण्डल के सम्मुख विधेयक का पूर्ण प्रारूप प्रस्तुत करती है और विधानमण्डल इस प्रारूप को बिना किसी संशोधन के जनता के सम्मुख अन्तिम निर्णय हेतु प्रस्तुत करता है।

अविन्यासित आरम्भक के अन्तर्गत जनता विधानमण्डल के सम्मुख कुछ निश्चित सिद्धान्त रखती है। यदि विधानमण्डल इन सिद्धान्तों से सहमत होता है तो उसके आधार पर विधेयक निर्मित करता है और यदि विधानमण्डल इन सिद्धान्तों से असहमत हो, तो इन सिद्धान्तों को जनमत जानने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। लोकनिर्णय में जनता द्वारा इन सिद्धान्तों को स्वीकृत कर लिये जाने पर विधानमण्डल उनके आधार पर विधेयक का प्रारूप तैयार करता है और इस प्रारूप पर पुनः लोकनिर्णय लिया जाता है।

स्विट्जरलैण्ड में लोक-निर्णय और आरम्भक का प्रयोग : **संवैधानिक प्रावधान और प्रक्रिया**

(APPLICATION OF REFERENDUM AND INITIATIVE: CONSTITUTIONAL PROVISION AND PROCESS)

लोक-निर्णय (Referendum)—1848 में निर्मित स्विस संविधान में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उपकरणों लोक-निर्णय और आरम्भक को अपनाया गया था और 1998 में निर्मित तथा अप्रैल 1999 से लागू किए गए स्विस संविधान में भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के इन उपकरणों की व्यवस्था की गई है। नवीन संविधान के अनुच्छेद 138 से 142 में लोक-निर्णय और आरम्भक को अपनाने की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। स्विट्जरलैण्ड में लोक-निर्णय को अलग-अलग विषयों पर अनिवार्य और ऐच्छिक दो अलग-अलग रूपों में अपनाया गया है। लोक-निर्णय की व्यवस्था संवैधानिक संशोधन और सामान्य व्यवस्थापन दोनों के ही सम्बन्ध में है।

पूर्ण संवैधानिक संशोधन और अनिवार्य लोक-निर्णय—संवैधानिक संशोधन के प्रसंग में अनिवार्य लोक-निर्णय की व्यवस्था की गई है। संवैधानिक संशोधन के दो चरण हैं : संशोधन की प्रस्तावना और संशोधन की पुष्टि। इन दोनों ही चरणों के प्रसंग में अनिवार्य लोक-निर्णय की व्यवस्था की गई है। संशोधन प्रस्ताव की पुष्टि के सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 195 में स्पष्ट कहा गया है : पूर्ण या आंशिक संशोधन के प्रस्ताव तभी लागू होंगे, जबकि उन्हें मतदान में भाग लेने वाले स्विस नागरिकों के बहुमत तथा कैन्टनों के बहुमत द्वारा स्वीकार किया जाएगा।¹ पूर्ण संवैधानिक संशोधन का प्रस्ताव दो परिस्थितियों में अनिवार्य रूप से लोक-निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाएगा। प्रथम, यदि प्रस्ताव संघीय संसद के किसी एक सदन या संघीय शासन द्वारा प्रस्तावित किया गया है और उसके सम्बन्ध में दोनों सदनों में

1 "The Constitution revised in total or in part shall enter into force; as soon as it is accepted by the people and the Cantons."
—Article 195.

मतभेद है। द्वितीय, यदि संशोधन प्रस्ताव एक लाख स्विस मतदाताओं द्वारा प्रस्तावित किया गया है तो इसे जनता के सम्मुख स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा।

संविधान के आंशिक संशोधन का प्रस्ताव और लोक-निर्णय—यदि संविधान में आंशिक संशोधन का प्रस्ताव सविन्यासित आरम्भक के रूप में संघीय संसद के पास भेजा जाता है, तो संघीय संसद इसे लोक-निर्णय के लिए जनता के सम्मुख और कैण्टनों के सम्मुख प्रस्तुत करेगी। संघीय संसद अपनी ओर से इसकी स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए सिफारिश कर सकती है। यदि संघीय संसद इसकी अस्वीकृति के लिए सिफारिश करती है तो वह अपनी ओर से 'वैकल्पिक प्रस्ताव' (counter draft) तैयार कर सकती है। जनता और कैण्टन, एक साथ दोनों प्रस्तावों, मूल आरम्भक और वैकल्पिक प्रस्ताव पर मतदान करेंगे। यदि मतदाताओं का बहुमत और कैण्टनों का बहुमत, इन दोनों में से किसी एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो उस प्रस्ताव को स्वीकृत समझा जाएगा, लेकिन यदि एक प्रस्ताव को जनता के बहुमत की स्वीकृति प्राप्त होती है तथा दूसरे को कैण्टनों का बहुत प्राप्त होता है, तब दोनों ही प्रस्तावों को अस्वीकृत समझा जाएगा।

जनता (एक लाख मतदाता) सामान्य सुझाव के रूप (अविन्यासित आरम्भक) में भी संविधान के संशोधन का प्रस्ताव संघीय संसद को भेज सकती है। यदि संघीय संसद सामान्य प्रस्ताव के रूप में प्रस्तुत प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है तो वह आंशिक संशोधन का प्रारूप तैयार कर जनता और कैण्टनों के सम्मुख लोक-निर्णय के लिए प्रस्तुत करती है, लेकिन यदि वह आरम्भक प्रस्ताव से असहमत है, तो भी वह इसे जनता के सम्मुख निर्णय के लिए रखेगी और जनता इस बात का निर्णय करेगी कि प्रस्ताव पर आगे कार्यवाही हो अथवा नहीं। यदि जनता आरम्भक प्रस्ताव को स्वीकार करती है, तो संसद आरम्भक प्रस्ताव के सामान्य सुझावों को आधार बनाकर तत्सम्बन्धी विधेयक का प्रारूप तैयार करेगी।

संशोधन प्रस्ताव की पुष्टि हेतु लोक-निर्णय (Referendum for the ratification of the Amendment)—संशोधन प्रक्रिया का दूसरा चरण संशोधन की पुष्टि का है और चाहे पूर्ण संशोधन का प्रस्ताव हो या आंशिक संशोधन का, संशोधन के पुष्टिकरण हेतु एक ही प्रक्रिया अपनायी जाती है। संशोधन की पुष्टि हेतु प्रस्ताव को लोक-निर्णय के लिए रखा जाता है। संशोधन तभी पारित समझा जाता है जबकि कैण्टनों के बहुमत तथा स्विस संघ की जनता के बहुमत द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाए। कैण्टनों के बहुमत का निर्णय करने में पूरे कैण्टन का मत एक तथा अर्द्ध कैण्टन का मत आधा गिना जाता है। इस प्रकार संशोधन पारित समझे जाने के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम 11½ कैण्टनों द्वारा और जनता के बहुमत द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाए। जनता के बहुमत और कैण्टनों के बहुमत द्वारा स्वीकार कर लिए जाने पर संविधान में सम्बन्धित संशोधन हो जाता है।

संवैधानिक संशोधन के अतिरिक्त अनिवार्य लोक-निर्णय की दो स्थितियाँ—संवैधानिक संशोधन के अतिरिक्त दो अन्य स्थितियों में भी अनिवार्य लोक-निर्णय की व्यवस्था है। इन स्थितियों या विषयों का उल्लेख नवीन संविधान के अनुच्छेद 140 के (ब) और (स) भाग में किया गया है। प्रथम, सामूहिक सुरक्षा हेतु स्विट्जरलैण्ड का किसी संगठन या उच्च राष्ट्रीय समुदाय में प्रवेश। स्विट्जरलैण्ड लम्बे समय तक संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं था, कारण यह था कि जब-जब संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का प्रस्ताव जनता के सम्मुख लोक-निर्णय के लिए रखा गया, जनता ने उसे अस्वीकार कर दिया। 2001 ई. में जब जनता ने लोक-निर्णय

में संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का प्रस्ताव स्वीकार किया, तब 2002 ई. में स्विट्जरलैण्ड ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त की। द्वितीय, ऐसे संघीय अधिनियम, जिनका कोई निश्चित संवैधानिक आधार नहीं है तथा जिन्हें 'अत्यावश्यक' (urgent) करार देकर एक वर्ष से अधिक समय के लिए लागू करने की घोषणा की गई है, उन्हें संघीय संसद द्वारा पारित किए जाने के बाद एक वर्ष के भीतर लोक-निर्णय के लिए प्रस्तुत करना होगा।

ऐच्छिक लोक-निर्णय—अनुच्छेद 141 में ऐच्छिक लोक-निर्णय की स्थितियों का उल्लेख किया गया है। 50 हजार नागरिक या 8 कैण्टन निम्न में से किसी पर लोक-निर्णय की मांग कर सकते हैं। यह मांग कानून पारित होने, आदेश जारी होने या संधि सम्पन्न होने के 90 दिन के भीतर की जानी चाहिए। ये स्थितियां या विषय हैं :

- (i) संघीय अधिनियमों पर,
- (ii) ऐसे संघीय अधिनियम, जिन्हें 'अत्यावश्यक' करार देकर एक वर्ष से अधिक समय के लिए लागू करने की घोषणा की गई है,
- (iii) संविधान या संघीय अधिनियमों की सीमा के भीतर जारी किए गए संघीय आदेश,
- (iv) निम्न श्रेणी की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों पर भी ऐच्छिक लोक-निर्णय की व्यवस्था है : प्रथम, ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां, जो असीमित समय के लिए हैं और जिन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता, द्वितीय जिनमें स्विट्जरलैण्ड के किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में प्रवेश की व्यवस्था है। तृतीय जिनमें कानून के बहुपक्षीय एकीकरण की व्यवस्था है।

संघीय संसद इस श्रेणी में अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को भी रख सकती है।

लोक-निर्णय में स्वीकृति की प्रक्रिया (अनुच्छेद 142)

जनता के मत हेतु प्रस्तावित प्रस्ताव स्वीकृत समझे जाएंगे, यदि मतदान में भाग लेने वाले मतदाताओं का बहुमत उसे स्वीकृत करता है। जिन प्रस्तावों को जनता के मत हेतु और कैण्टनों के मत हेतु प्रस्तुत किया जाता है, उन्हें तभी स्वीकृत समझा जाएगा, जबकि मतदान में भाग लेने वाले मतदाताओं का बहुमत और कैण्टनों का बहुमत (23 में से 12 कैण्टन) प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान कर दें। कैण्टन के मत का निर्णय कैण्टन में 'लोकप्रिय मतदान' (Popular Vote) के आधार पर होगा। कैण्टनों के मत की गणना में 6 अर्द्ध कैण्टनों (ओब वाल्डेन, निड वाल्डेन, बसेल सिटी, बसेल लैण्ड, अपनजेल आउटर रोड्स, अपनजेल इनर रोड्स) में से प्रत्येक के मत को आधा और पूर्ण कैण्टन के (20) के मत को एक गिना जाएगा।

कैण्टनों में लोकनिर्णय (Referendum in Cantons)—संघीय संविधान के अनुसार सभी कैण्टनों में संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयकों पर अनिवार्य लोकनिर्णय की व्यवस्था है। 10 पूर्ण कैण्टनों और 1 अर्द्ध कैण्टन में सामान्य कानूनों पर भी अनिवार्य लोकनिर्णय की व्यवस्था है। 9 पूर्ण कैण्टन और 1 अर्द्ध कैण्टन में सामान्य कानूनों पर ऐच्छिक लोकनिर्णय की व्यवस्था है अर्थात् सम्बन्धित संविधानों में निर्धारित प्रक्रिया के आधार पर निश्चित संख्या में मतदाताओं द्वारा लोकनिर्णय की मांग की जा सकती है। शेष कैण्टनों में लोकनिर्णय की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि वहां प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है। कुछ कैण्टनों में वित्त सम्बन्धी विषयों

पर भी लोकनिर्णय की व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, कुछ कैण्टनों में यह व्यवस्था है कि एक लाख फ्रैंक या उससे अधिक रकम के खर्च के लिए तथा दो लाख या उससे अधिक राशि के वार्षिक खर्च के लिए लोकनिर्णय करवाया जाना चाहिए।

आरम्भक (Initiative)—स्विट्जरलैण्ड में आरम्भक की व्यवस्था संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयकों के विषय में ही की गयी है, साधारण विधायी प्रस्तावों पर नहीं। इसलिए इसे 'संवैधानिक आरम्भक' (constitutional initiative) ही कहा जाता है। वर्तमान व्यवस्था के अनुसार संविधान के पूर्ण संशोधन तथा आंशिक संशोधन दोनों के ही विषय में आरम्भक का प्रयोग किया जा सकता है। दोनों ही प्रकार के आरम्भक का प्रयोग एक लाख मतदाताओं द्वारा किया जा सकता है। यदि उक्त संख्या में स्विस नागरिक पूर्ण संशोधन या आंशिक संशोधन के लिए याचिका दें, तो उस प्रार्थनापत्र पर लोकनिर्णय लेना आवश्यक होता है। एक लाख मतदाताओं के हस्ताक्षर छः महीने की अवधि के भीतर किये हुए होने चाहिए।

नवीन संविधान के अनुच्छेद 139(3) में जनता की आरम्भक की शक्ति पर एक प्रतिबन्ध अवश्य ही लगाया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार, "यदि कोई आरम्भक देश की एकता का या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनिवार्य नियमों का सम्मान नहीं करता है, तो संघीय संसद इस आरम्भक को सम्पूर्ण अंशों में या कुछ अंशों में अवैध घोषित कर देगी।"

पूर्ण संशोधन के लिए प्रस्तुत आरम्भक को यदि स्विस मतदाताओं का बहुमत स्वीकार कर ले, तो संघीय सभा का विघटन कर दिया जाता है और चुनाव के बाद निर्मित नयी संघीय सभा संविधान में संशोधन का कार्य करती है।

आंशिक संशोधन के लिए आरम्भक का प्रयोग पूरे विधेयक के रूप में अर्थात् सविन्यासित रूप (formulated) में किया जा सकता है या मोटे सुझावों के रूप में अर्थात् अविन्यासित (unformulated) रूप में किया जा सकता है। जब आंशिक संशोधन के लिए अविन्यासित रूप में आरम्भक का प्रयोग किया जाता है और यदि व्यवस्थापिका उससे सहमत होती है, तो यह सुझावों के अनुसार संशोधन विधेयक तैयार कर उस पर जनता व कैण्टनों का मत लेती है। यदि व्यवस्थापिका उन सुझावों से सहमत नहीं होती तो उन सुझावों पर लोकनिर्णय लिया जाता है। यदि लोकनिर्णय में जनता का बहुमत सुझावों का समर्थन करता है तो व्यवस्थापिका इस बात के लिए बाध्य होती है कि वह उन सुझावों के अनुसार संशोधन विधेयक तैयार कर उस पर लोगों व कैण्टनों का मत ले।

आंशिक संशोधन की याचिका यदि संशोधन विधेयक के साथ प्रस्तुत की जाती है और यदि संघीय संसद उससे सहमत होती है, तो उस पर तुरन्त ही जनता तथा कैण्टनों का मतदान कराया जाता है। यदि जनता और कैण्टनों का बहुमत इसके पक्ष में हो तो संविधान में संशोधन होगा, वरना नहीं। यदि संघीय संसद जनता द्वारा निर्मित विधेयक के विरुद्ध हो तो या तो वह मतदाताओं को इसकी अस्वीकृति के लिए सलाह दे सकती है या वैकल्पिक प्रस्ताव तैयार कर जनता से इसे स्वीकार करने के लिए आग्रह कर सकती है।

कैण्टनों में आरम्भक (Initiative in Cantons)—जेनेवा में केवल संविधान संशोधन विधेयकों पर ही आरम्भक की व्यवस्था है, शेष सभी कैण्टनों में संवैधानिक संशोधन तथा सामान्य कानून दोनों के ही सम्बन्ध में आरम्भक की व्यवस्था है। आरम्भक के प्रयोग की पद्धति सम्बन्धित कैण्टन के संविधान द्वारा ही निर्धारित की जाती है।

प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उपकरणों का मूल्यांकन (EVALUATION OF THE TOOLS OF DIRECT DEMOCRACY)

स्विट्जरलैंड के 1 पूर्ण कैण्टन तथा 4 अर्द्ध कैण्टनों में जिस प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है और संघीय शासन तथा कैण्टनों के शासन के क्षेत्र में जिस प्रकार से प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उपकरणों (लोकनिर्णय और आरम्भक) को अपनाया गया है उसकी प्रशंसा तथा आलोचना दोनों ही हुई हैं।

प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का पक्ष (Case for Direct Democracy)—प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके उपकरणों के पक्ष में प्रमुखतया निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

(1) **कानूनी प्रभु पर प्रतिबन्ध (Restriction on Legal Sovereign)**—लोकनिर्णय तथा आरम्भक व्यवस्थापिका के मनमाने कार्यों पर एक जनप्रिय प्रतिबन्ध होता है। लोकतन्त्र में व्यवस्थापिकाओं से यह आशा की जाती है कि वे कानून-निर्माण का कार्य जनता की इच्छानुसार करेंगी, लेकिन वे 'सदैव ही ऐसा नहीं करतीं। अतः लोकनिर्णय और आरम्भक कानून निर्माण के सम्बन्ध में अपनी इच्छा से लागू करने के लिए जनता के हाथ में एक आवश्यक अस्त्र है।

(2) **लोकनिर्णय : शासन की त्रुटियों का उपचार (Referendum : Remedy for Government's Omissions)**—अनेक बार व्यवस्थापिका जनता के हितों को भुलकर दोषपूर्ण कानून बनाने का प्रयत्न करती है, लेकिन यदि लोकनिर्णय की व्यवस्था हो, तो व्यवस्थापिका को ये विधेयक जनता के सम्मुख मतदान के लिए प्रस्तुत करने होंगे और जनता उन्हें अस्वीकार कर शासन की त्रुटियों को दूर कर देगी।

(3) **आरम्भक : शासन की भूलों का उपचार (Initiative : Remedy for Government's Omissions)**—अनेक बार जन-प्रतिनिधि जनता के हित में आवश्यक कानूनों का निर्माण नहीं करते। ऐसी स्थिति में यदि आरम्भक की व्यवस्था हो तो जनता व्यवस्थापिका पर जनहितकारी कानूनों का निर्माण करने के लिए दबाव डाल सकती है।

(4) **राजनीतिक दलों का महत्व कम होना (Lessens the Importance of Political Parties)**—जब लोकनिर्णय और आरम्भक के आधार पर जनता स्वयं कानून निर्माण का कार्य करती है, तो राजनीतिक दलों का महत्व और उनकी बुराइयां कम हो जाती हैं।

(5) **जनता में राजनीतिक विषयों के प्रति जागरूकता (Creates Consciousness for Political Affairs amongst People)**—लोकनिर्णय और आरम्भक के आधार पर जनता को सार्वजनिक जीवन में अधिक भाग लेने की प्रेरणा और परिणामतः अधिक राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। बैन्जोर (Banjour) के शब्दों में, "यह व्यक्तिगत निर्वाचकों की राजनीतिक शिक्षा में वृद्धि करता है।"

(6) **जनता और प्रतिनिधियों में सम्बन्ध स्थापित करना (Establishes relation between People and their Representatives)**—अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में अनेक बार चुनाव के समय के अतिरिक्त जनता और उसके प्रतिनिधियों में कोई सम्पर्क नहीं रहता, लेकिन लोकनिर्णय और आरम्भक की पद्धतियां इस दोष को दूर कर देती हैं। ब्राइस के शब्दों में, "प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की पद्धतियां निर्वाचन के अतिरिक्त अन्य समयों में जन-प्रतिनिधियों का जनता से सम्पर्क बनाये रखने का श्रेष्ठतम साधन हैं।"

(7) कानूनों को नैतिक शक्ति प्राप्त होना (Gives moral force to the Laws)—ब्राइस ठीक ही कहते हैं कि “लोगों की स्वीकृति के कारण कानून अधिक शक्ति और सम्मान प्राप्त कर लेता है और जनता इसका पालन करना तथा करवाना अपना परम कर्तव्य समझती है।”

(8) विधायक कर्तव्य के प्रति सजग (Legislators become Conscious of their Duties)—इन पद्धतियों का सीधा प्रभाव यह होता है कि विधायक अपने कर्तव्य के प्रति सजग हो जाते हैं और अपने कार्यों को अधिकाधिक श्रेष्ठ रूप में करने का प्रयत्न करते हैं।

(9) देशभक्ति की भावना में वृद्धि (Enhances Patriotism)—लोकनिर्णय और आरम्भक की शक्तियों के आधार पर जब जनता को अधिक राजनीतिक शक्ति प्रदान की जाती है तो उनमें देशभक्ति और राष्ट्रवाद की भावना बढ़ती है और वे क्रान्ति की दिशा में नहीं सोच सकते।

इन पद्धतियों के गुणों का वर्णन करते हुए ब्राइस कहते हैं कि “जिस प्रकार लोकनिर्णय विधानमण्डल की त्रुटियों से जनता की रक्षा करता है, उसी प्रकार आरम्भक उनकी भूलों का उपचार है।”¹

दोष—सैद्धान्तिक रूप में प्रशंसनीय होते हुए भी प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की ये पद्धतियाँ व्यवहार में अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण हैं। उनके प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं:

(1) साधारण जनता कानून-निर्माण का जटिल कार्य करने योग्य नहीं (Common people not capable for complicated legislation)—वर्तमान समय में विधेयकों का प्रारूप तैयार करने और इन विधेयकों पर विचार करने का कार्य इतना जटिल हो गया है कि साधारण जनता इन कार्यों को करने की योग्यता नहीं रखती है। ऐसी स्थिति में जनता के द्वारा इस शक्ति का दुरुपयोग ही किया जाता है। डॉ. फाइनर ने लिखा है कि “बुद्धिहीन व अशिक्षित लोगों ने प्रगतिशील कानूनों को प्रायः नष्ट ही किया है।”

(2) व्यवस्थापिका के सम्मान में कमी (It diminishes respect for legislature)—जब कानून-निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति व्यवस्थापिका के हाथ में नहीं होती, तो व्यवस्थापिका के सम्मान में बहुत कमी हो जाती है और ऐसी स्थिति में अधिक योग्य व्यक्ति व्यवस्थापिकाओं की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक नहीं रहते। ज्यून्स के शब्दों में, “इन पद्धतियों को अपनाने पर व्यवस्थापिका एक परामर्शदात्री संस्था बनकर रह जाती है।”²

(3) व्यवस्थापिका अनुत्तरदायी और लापरवाह हो जाती है (Legislature becomes irresponsible and careless)—लोकनिर्णय और आरम्भक के कारण जब कानून-निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति जनता के हाथ में रहती है, तो इससे विधानमण्डल की उत्तरदायित्व की भावना बहुत निर्बल हो जाती है।

(4) जनता की उदासीनता (People's Apathy)—जनता का बार-बार मतदान कार्य में भाग लेना उनमें एक ‘निर्वाचकीय थकावट’ (electoral fatigue) पैदा कर देता है। इस

1 “As the referendum protects the people against legislature's sins of commission, the initiative is a remedy for the omission.” —Bryce

2 “If you introduce the referendum parliament becomes merely a consultative body.” —M. Dubbs, Quoted by Simon Diploige in *The Referendum in Switzerland*, p. 99.

प्रकार के कार्यों में भाग लेने के लिए अधिकांश जनता को न तो समय ही मिलता है और न उनमें रुचि ही होती है। इसलिए जो निर्णय होते हैं, वे अल्पमत से ही होते हैं।

(5) समय और धन का अपव्यय (Wastage of time and money)—लोकनिर्णय के परिणामस्वरूप अनेक आवश्यक कानूनों के निर्माण में बहुत अधिक देर लग जाती है और अनेक बार वे तब निर्मित हो पाते हैं, जबकि 'कालातीत (out-of-date) हो जाते हैं। बार-बार के इन मतदानों में बहुत अधिक व्यय भी होता है।

(6) राजनीतिक दलों और अवांछित व्यक्तियों का शक्तिशाली होना (Political Parties and undersirable elements become powerful)—लोकनिर्णय और आरम्भक से राजनीतिक दलों के प्रभाव में कमी होने के बजाय वे बहुत अधिक सक्रिय हो जाते हैं। इससे भी अधिक अनुचित यह है कि इसके अन्तर्गत अनुत्तरदायी और दम्भी व्यक्तियों को जनता की अज्ञानता का लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है।

(7) लोकनिर्णय में संशोधन सम्भव नहीं (Amendment is not possible in Referendum)—लोकनिर्णय का एक दोष यह है कि इसके अन्तर्गत कानून को या तो पूर्ण रूप से स्वीकार करना होता है या पूर्ण रूप से अस्वीकार। इसके अन्तर्गत कानून में कोई संशोधन नहीं हो सकता।

(8) रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन (It encourages Conservatism)—सामान्य व्यक्ति रूढ़िवादी होता है और उसके लिए प्रगतिशील कानून को स्वीकार करना बहुत कठिन होता है। ऐसी स्थिति में लोकनिर्णय को अपनाने का परिणाम रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन देना ही होगा।

इस प्रकार लोकनिर्णय और आरम्भक की ये पद्धतियाँ जनता को वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्रदान करती हैं, लेकिन इसका उचित रूप में प्रयोग किये जाने के लिए जनता में उच्च राजनीतिक जागरूकता नितान्त आवश्यक है।

स्विट्जरलैण्ड में लोकनिर्णय और आरम्भक के प्रयोग की स्थिति (Position of the working of Referendum and Initiative in Switzerland)—लोकनिर्णय और आरम्भक में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियों के गुण-दोष बताये जाते हैं, लेकिन सामान्य धारणा यही है कि स्विट्जरलैण्ड में इन पद्धतियों के द्वारा सफलतापूर्वक कार्य किया जा रहा है। अमरीकी संघ के राज्यों में जब लोकनिर्णय और आरम्भक की पद्धतियों को अपनाया गया, तो भ्रष्टाचार और षड्यन्त्र की अनेक घटनाएँ सुनने को मिलीं, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में इन पद्धतियों का प्रयोग सामान्यतया इन दोषों से मुक्त रहा है। न केवल सामान्य जनता में इन पद्धतियों के प्रयोग के प्रति संतोष है वरन् वे इस पर गर्व अनुभव करते हैं और इन्हें बनाये रखने के तीव्र इच्छुक हैं। इसका परिणाम यह है कि अभी हाल में ही जब ऐच्छिक लोकनिर्णय को सीमित करने का प्रयत्न किया गया, तो सभी कैण्टनों में इसे अत्यधिक बहुमत से अस्वीकार कर दिया गया। वस्तुस्थिति यह है कि स्विट्जरलैण्ड में लोकनिर्णय और आरम्भक का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है, और यह इनकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।¹

स्विट्जरलैण्ड में आरम्भक की अपेक्षा लोकनिर्णय अधिक सफल रहा है और ऐच्छिक विधायी लोकनिर्णय की तुलना में अनिवार्य संवैधानिक लोकनिर्णय अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय

1 G. A. Coddings, *Government of Switzerland*, p. 65.

है। 1848 से 1960 तक के 112 वर्षों में संघीय सभा द्वारा पारित 76 संवैधानिक संशोधनों पर लोकनिर्णय हुआ, जिनमें से 51 को मतदाताओं तथा कैण्टनों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार संवैधानिक संशोधनों को स्वीकार करने में सामान्यतया जनता ने तत्परता का ही परिचय दिया है और द्वीयर के शब्दों में कहा जा सकता है कि “यदि स्विस् संविधान कठोर है तो नागरिक पर्याप्त लचीले हैं।”¹

एक विचार यह व्यक्त किया जाता है कि नागरिकों ने इन पद्धतियों के प्रयोग के सम्बन्ध में सामान्यतया अनुदारवादिता का ही परिचय दिया है, जनता द्वारा लोकनिर्णय में प्रगतिशील कानूनों को अस्वीकार किये जाने से स्पष्ट है कि जनता अपने प्रतिनिधियों की तुलना में कम प्रगतिशील है और उन्होंने सदैव ही क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का विरोध किया है, लेकिन इसके साथ ही यह मानना होगा कि स्विस् जनता समय के साथ अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर रही है और अब जनता आवश्यकतानुसार जन-जीवन में राज्य का नियन्त्रण स्वीकार करने लगी है।

इन पद्धतियों के सम्बन्ध में जन-भावनाएं व्यक्त करते हुए रैपार्ड ने लिखा है कि “जब कोई व्यक्ति स्विट्जरलैण्ड के साधारण नागरिक से पूछता है कि क्या उसका देश प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के प्रयोग और उसके परिणाम से सन्तुष्ट है, तो वह निश्चित रूप से ‘हां’ में उत्तर देगा। सम्भव है कि वह इस सम्बन्ध में परीक्षण शब्द को अच्छा न समझे, क्योंकि इसके विचार में इस सम्बन्ध में अब परीक्षण का समय व्यतीत हो चुका है। इसके साथ ही आरम्भक और लोकनिर्णय का विरोध करने वालों के सन्देह समाप्त हो चुके हैं, जिस तरह कि इन विधियों के अनुयायियों का अन्धविश्वास समाप्त हो चुका है।”

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता के कारण

(FACTORS RESPONSIBLE FOR THE SUCCESS OF DIRECT DEMOCRACY)

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र स्विस् शासन-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता है और इसकी सफलता का श्रेय इस देश की विशिष्ट परिस्थितियों को ही है। लॉर्ड ब्राइस का कहना है कि “कुछ ऐसी पद्धतियां होती हैं, जो पौधों की भांति केवल एक विशेष प्रकार की जलवायु में ही पलती हैं।”² स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता के कारणों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **भौगोलिक स्थिति (Geographical Position)**—स्विट्जरलैण्ड की भौगोलिक स्थिति लगभग वैसी ही है, जैसी प्राचीन काल के रोम और यूनान के नगर राज्यों की थी और यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता के लिए नितान्त अनुकूल है। स्विट्जरलैण्ड यूरोप के मध्य में स्थित लगभग 50 लाख जनसंख्या का छोटा-सा देश है। पर्वतों तथा अन्य प्राकृतिक बाधाओं से घिरा हुआ होने के कारण स्विस् जनता सुरक्षा की भावना अनुभव करती है और लघु आकार तथा कम जनसंख्या के कारण स्विट्जरलैण्ड में लोकनिर्णय और आरम्भक जैसी पद्धतियों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

1 “If the Swiss Constitution is rigid, the Swiss people are flexible.”

—K. C. Wheare, *Federal Governments*, p. 223.

2 “There are institutions which like plants, flourish only on their own hillside and their sunshine.”

—Bryce

(2) **स्विस नागरिकों का चरित्र (Character of Swiss Citizens)**—स्विस नागरिकों का चरित्र ही वह तत्व है जिसने प्रजातन्त्र की सफलता में सर्वाधिक योग दिया है। ये लोग बड़े शान्तिप्रिय हैं और एक-दूसरे के विचारों का सम्मान करते हैं। इनमें सूझ-बूझ, विनम्रता तथा सहिष्णुता कूट-कूट कर भरी है। ये लोग राजनीति को एक गम्भीर विषय मानते हैं और बिना किसी आवेश तथा स्वार्थ के इसका संचालन करते हैं। सामान्यतया सभी पक्ष इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्वतन्त्र विचार, गम्भीर व्यावहारिक निर्णय, उदारवादी तथा भावना के प्रवाह में न बहने वाले जितने श्रेष्ठ नागरिक स्विट्जरलैण्ड में हैं, उतने और किसी देश में मिलने दुर्लभ हैं।

(3) **तीव्र आर्थिक असमानता का अभाव (Absence of Serious Economic Inequality)**—हाक्सन ने एक स्थान पर लिखा है कि “धनवानों का धन और निर्धनों की निर्धनता प्रजातन्त्र को भ्रष्ट कर देती है,” किन्तु स्विट्जरलैण्ड में ऐसी स्थिति नहीं है। स्विट्जरलैण्ड में आर्थिक असमानता अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है और स्विट्जरलैण्ड के अधिकतर लोग निम्न मध्यम वर्ग के हैं। बेकारी तथा दरिद्रता की भीषण समस्याएं वहां पर नहीं हैं और न ही जनता में आर्थिक स्थिति के प्रति असन्तोष और रोष है। इस आर्थिक पृष्ठभूमि ने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र को सफल बनाने में बहुत योग दिया है।

(4) **उग्र दलबन्दी का अभाव (Absence of Extreme Partisanship)**—स्विट्जरलैण्ड में राजनीतिक दल तो हैं, लेकिन दलबन्दी की भावना बहुत उग्र न होने के कारण स्विट्जरलैण्ड राजनीतिक दलों की उन अनेक बुराइयों से अछूता है, जो अन्य देशों में विद्यमान हैं। अन्य यूरोपियन देशों, अमरीका और भारत में व्यावसायिक राजनीतिज्ञों की एक बड़ी जमात है, जो राजनीति को भ्रष्ट और राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करती है। बहुदलीय और बहुल कार्यपालिका के कारण बहुत अधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति स्विस राजनीति में प्रवेश नहीं करते और स्विस राजनीति शान्त, स्वस्थ और भ्रष्टाचार-रहित है।

(5) **राष्ट्रीय एकता और देश-प्रेम की प्रबल भावना (National unity and strong feeling of Patriotism)**—स्विट्जरलैण्ड में जातिगत, भाषागत और धर्मगत विभिन्नताएं हैं, किन्तु श्रेष्ठ चरित्र और व्यावहारिकता के आधार पर इन विभिन्नताओं में सामंजस्य स्थापित कर लिया गया है और राष्ट्रीय एकता की भावना बहुत अधिक प्रबल हो गयी है, जिससे वे राष्ट्रीय हित के प्रश्नों पर बहुत अधिक अच्छे रूप में सोचने की स्थिति में हैं। देशभक्ति की भावना की प्रबलता के कारण वे स्वयं के स्वार्थ की तुलना में देशहित को अधिक महत्व देते हैं।

(6) **स्थानीय स्वशासन की श्रेष्ठ व्यवस्था (Good system of Local Self-Government)**—स्थानीय स्वशासन प्रजातन्त्र का आधार है और स्विट्जरलैण्ड में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था जितने अधिक श्रेष्ठ रूप में विद्यमान है, उतनी अन्य किसी देश में नहीं है। स्थानीय स्वशासन की इस व्यवस्था ने स्विस नागरिकों को सार्वजनिक कार्यों का प्रशिक्षण प्रदान किया है और उनमें नागरिक दायित्व की भावना जागृत की है।

(7) **शिक्षा का व्यापक प्रचार (Wide Extension of Education)**—प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता का एक कारण यह है कि स्विट्जरलैण्ड की लगभग समस्त जनता शिक्षित है। स्विट्जरलैण्ड के सभी कैण्टनों में निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था है।

(8) स्वतन्त्र प्रेस (Free Press)—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए स्वतन्त्र प्रेस नितान्त आवश्यक है और स्विट्जरलैण्ड में प्रेस स्वतन्त्र और निष्पक्ष है तथा इसने प्रजातन्त्र को सफल बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया है।

(9) व्यावसायिक राजनीतिज्ञों का अभाव (Lack of Professional Politicians)—स्विट्जरलैण्ड में ऐसे व्यावसायिक राजनीतिज्ञों का अभाव है जो राजनीति को व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं और अपनी वाग्वीरता के आधार पर जन भावनाओं को उत्तेजित करके या षड्यन्त्रों के आधार पर अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा में लिस रहते हैं। स्विट्जरलैण्ड में सामान्यतया व्यक्ति सामाजिक सेवा और प्रतिष्ठा के लिए राजनीति में प्रवेश करते हैं। उनकी छल-प्रपंचों से दूर रहने की प्रवृत्ति के कारण लोकनिर्णय और आरम्भक की व्यवस्था का दुरुपयोग नहीं हुआ है।

(10) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थायी तटस्थता (Permanent Neutrality in International Sphere)—स्विट्जरलैण्ड में प्रजातन्त्र की सफलता का एक कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्विट्जरलैण्ड की स्थायी और सर्व स्वीकृत तटस्थता है। इस कारण स्विट्जरलैण्ड बीसवीं सदी के उन दो संकटों से मुक्त रहा है जिनका सामना यूरोप के अन्य प्रजातन्त्रीय राज्यों को करना पड़ा। स्विट्जरलैण्ड की स्थायी तटस्थता के कारण ही बड़े पड़ोसी देश स्विस् राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए प्रेरित नहीं हुए और तटस्थता के कारण ही स्विट्जरलैण्ड अपने समस्त साधनों का प्रयोग आन्तरिक राजनीति, आर्थिक और सामाजिक स्थिति सुधारने में कर सका है।

(11) जन प्रभुता को बनाये रखने की तीव्र आकांक्षा (People's anxiety to Safeguard people's Sovereignty)—यदि स्विट्जरलैण्ड में आज भी जन-भावनाएं, लोकनिर्णय और आरम्भक की व्यवस्था बनी हुई है तो इसका एक बहुत प्रमुख कारण जनता में इन्हें बनाये रखने की तीव्र आकांक्षा है। स्विस् नागरिक सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग लेते हैं, अपने प्रतिनिधियों पर नियन्त्रण रखते हैं और व्यवस्थापिका की त्रुटियों तथा भूलों को सुधारते हैं। वे लोकतन्त्र के ऐसे सजग प्रहरी हैं जिन्होंने न तो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के साधनों का दुरुपयोग किया है और न ही आवश्यक होने पर इनका प्रयोग करने से चूके हैं। इसी कारण स्विट्जरलैण्ड में कोई व्यक्ति, वर्ग या दल प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के इन साधनों को समाप्त करने की बात नहीं सोच पाता।

इन सबके अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड में वीरपूजा की भावना नहीं है और प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र स्विस् नागरिकों के स्वभाव के नितान्त अनुकूल है। इन्हीं तत्वों का परिणाम है कि विश्व के अन्य देशों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र और उसके उपकरण नितान्त अव्यावहारिक प्रमाणित हो चुके हैं, लेकिन स्विट्जरलैण्ड में इनके द्वारा सफलतापूर्वक कार्य किया जा रहा है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के प्रमुख लक्षणों का परीक्षण कीजिए।
2. "स्विट्जरलैण्ड लोकतन्त्र का घर है" व्याख्या कीजिए।
3. लोक-निर्णय और आरम्भक से आप क्या समझते हैं? स्विट्जरलैण्ड में उसकी सफलता के कारणों का वर्णन कीजिए।
4. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की कार्यप्रणाली का वर्णन कीजिए।

5. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके उपकरणों के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए।
6. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता के कारणों को इंगित कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
(अ) जनमत संग्रह (ब) आरम्भक

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'स्विट्जरलैण्ड लोकतन्त्र का घर है' स्पष्ट कीजिए।
2. 'लैण्ड्सजीमिण्ड' या प्रारम्भिक सभाओं से आप क्या समझते हैं?
3. लोक-निर्णय से आप क्या समझते हैं? स्विट्जरलैण्ड में इसे किस प्रकार अपनाया गया है?
4. आरम्भक से आप क्या समझते हैं? स्विट्जरलैण्ड में इसे किस प्रकार अपनाया गया है?
5. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की कार्य-प्रणाली का वर्णन कीजिए।
6. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उपकरणों के पक्ष में चार तर्क दीजिए।
7. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उपकरणों के विपक्ष में चार तर्क दीजिए।
8. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता के चार कारण बताइए।

अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. स्विट्जरलैण्ड के किन कैण्टनों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था है?
[उत्तर—स्विट्जरलैण्ड के एक पूर्ण कैण्टन (ग्लैरस) और चार अर्द्ध कैण्टनों (ओव वाल्डेन, निड वाल्डेन, इनर अप्पेन्जल और आउटर अप्पेन्जल) में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र प्रचलित है।]
2. लोक-निर्णय से क्या अभिप्राय है?
[उत्तर—इसका अभिप्राय यह है कि विधानमण्डल द्वारा पारित कोई विधेयक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक कि जनता उसे स्वीकृति प्रदान न करे।]
3. आरम्भक का आशय क्या है?
[उत्तर—आरम्भक के द्वारा जनता को यह अधिकार दिया जाता है कि वह किसी विधेयक का प्रारूप तैयार करे अथवा प्रस्ताव के रूप में विधानमण्डल से मांग करे कि या तो विधानमण्डल उस प्रस्ताव के आधार पर कानून का निर्माण करे अथवा उस प्रस्ताव पर लोक-निर्णय लिया जाए।]
4. अनिवार्य लोक-निर्णय से क्या आशय है?
[उत्तर—अनिवार्य लोक-निर्णय का आशय यह है कि विधानमण्डल द्वारा पारित सब विधेयकों पर लोक-निर्णय आवश्यक है और बिना जनता की स्वीकृति के ये विधेयक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकते।]
5. सविन्यासित आरम्भक का क्या अर्थ है?
[उत्तर—सविन्यासित आरम्भक के अन्तर्गत जनता स्वयं ही विधानमण्डल के सम्मुख विधेयक का पूर्ण प्रारूप प्रस्तुत करती है और विधानमण्डल इस प्रारूप को बिना किसी संशोधन के जनता के सम्मुख अन्तिम निर्णय हेतु प्रस्तुत करता है।]
6. ऐच्छिक लोक-निर्णय की मांग कितने नागरिक या कैण्टन कर सकते हैं?
[उत्तर—ऐच्छिक लोक-निर्णय की मांग 50 हजार नागरिक या 8 कैण्टन कर सकते हैं।]
7. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके उपकरणों के पक्ष में कोई दो तर्क दीजिए।
[उत्तर—(1) कानूनी प्रभु पर प्रतिबन्ध तथा (2) जनता में राजनीतिक विषयों के प्रति जागरूकता।]
8. "जिस प्रकार लोक-निर्णय विधानमण्डल की त्रुटियों से जनता की रक्षा करता है, उसी प्रकार आरम्भक उनकी भूलों का उपचार है।" यह कथन किस विद्वान का है?
[उत्तर—यह कथन ब्राडस का है।]

9. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके उपकरणों के विपक्ष में कोई दो तर्क दीजिए।
[उत्तर—(1) साधारण जनता कानून-निर्माण का जटिल कार्य करने के योग्य नहीं है तथा (2) इससे व्यवस्थापिका के सम्मान में बहुत कमी हो जाती है।]
10. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता के कोई चार कारण बताइए।
[उत्तर—(1) स्विट्स नागरिकों का चरित्र, (2) तीव्र आर्थिक असमानता का अभाव, (3) उग्र दलबन्दी का अभाव तथा (4) स्थानीय स्वशासन की श्रेष्ठ व्यवस्था।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

- वर्तमान समय में अनिवार्य मतदान की व्यवस्था किस देश में है :
(अ) अमेरिका (ब) ब्रिटेन
(स) स्विट्जरलैण्ड (द) भारत
- संघीय विषयों पर अनिवार्य मतदान की व्यवस्था किस कैण्टन में है :
(अ) शोट फासन (ब) सेण्ट गॉल
(स) आरगाऊ (द) उपर्युक्त सभी
- स्विट्जरलैण्ड ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता कब प्राप्त की :
(अ) 1945 में (ब) 1970 में
(स) 2001 में (द) 2002 में
- ऐच्छिक लोक-निर्णय की मांग कानून पारित होने, आदेश जारी होने या सन्धि सम्पन्न होने के कितने दिन के भीतर की जानी चाहिए :
(अ) 30 दिन (ब) 60 दिन
(स) 90 दिन (द) छः माह के भीतर
- निम्न में से किस श्रेणी की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों पर ऐच्छिक लोक-निर्णय की व्यवस्था है :
(अ) ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ, जो असीमित समय के लिए हैं और जिन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता
(ब) जिनमें स्विट्जरलैण्ड के किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में प्रवेश की व्यवस्था है
(स) जिनमें कानून के बहुपक्षीय एकीकरण की व्यवस्था है
(द) उपर्युक्त सभी
- स्विट्जरलैण्ड के कितने कैण्टनों में संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयकों पर अनिवार्य लोक निर्णय की व्यवस्था है :
(अ) 10 कैण्टनों में (ब) 15 कैण्टनों में
(स) 18 कैण्टनों में (द) सभी कैण्टनों में
- स्विट्जरलैण्ड के कितने कैण्टनों में सामान्य कानूनों पर भी अनिवार्य लोक-निर्णय की व्यवस्था है :
(अ) 10 पूर्ण कैण्टन एवं 1 अर्द्ध कैण्टन
(ब) 8 पूर्ण कैण्टन एवं 2 अर्द्ध कैण्टन
(स) 11 पूर्ण कैण्टन एवं 1 अर्द्ध कैण्टन
(द) 9 पूर्ण कैण्टन एवं 3 अर्द्ध कैण्टन
- स्विट्जरलैण्ड में आरम्भक का प्रयोग कितने मतदाताओं द्वारा किया जा सकता है :
(अ) 20 हजार मतदाताओं द्वारा
(ब) 50 हजार मतदाताओं द्वारा
(स) एक लाख मतदाताओं द्वारा
(द) एक लाख पचास हजार मतदाताओं द्वारा

9. स्विट्जरलैण्ड में आरम्भक के प्रयोग के लिए एक लाख मतदाताओं के हस्ताक्षर कितनी अवधि के भीतर किए हुए होने चाहिए :
- (अ) दो महीने की अवधि के भीतर
(ब) छः महीने की अवधि के भीतर
(स) एक वर्ष की अवधि के भीतर
(द) दो वर्ष की अवधि के भीतर
10. स्विट्जरलैण्ड के किस कैण्टन में केवल संविधान संशोधन विधेयकों पर ही आरम्भक की व्यवस्था है :
- (अ) जेनेवा (ब) वसेल सिटी
(स) ओब वाल्डेन (द) निड वाल्डेन
11. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके उपकरणों के पक्ष में कौन-सा तर्क दिया जाता है :
- (अ) कानूनी प्रभु पर प्रतिबन्ध
(ब) लोक निर्णय : शासन की त्रुटियों का उपचार
(स) आरम्भक : शासन की भूलों का उपचार
(द) उपर्युक्त सभी
12. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और उसके उपकरणों के विपक्ष में कौन-सा तर्क दिया जाता है :
- (अ) साधारण जनता कानून-निर्माण का जटिल कार्य करने के योग्य नहीं
(ब) व्यवस्थापिका के सम्मान में कमी
(स) जनता की उदासीनता
(द) उपर्युक्त सभी
13. स्विट्जरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की सफलता का कारण है :
- (अ) स्विस नागरिकों का चरित्र
(ब) तीव्र आर्थिक असमानता का अभाव
(स) उग्र दलबन्दी का अभाव
(द) उपर्युक्त सभी
14. "धनवानों का धन और निर्धनों की निर्धनता प्रजातन्त्र को भ्रष्ट करती है।" यह कथन किस विद्वान का है :
- (अ) हाब्सन (ब) ह्यूयार
(स) लार्ड ब्राइस (द) मुनरो
- उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (द), 4. (स), 5. (द), 6. (द), 7. (अ), 8. (स), 9. (ब), 10. (अ);
11. (द), 12. (द), 13. (द), 14. (अ)।



चीन का संविधान

1

संवैधानिक विकास और जनवादी चीन के संविधान (1982) की विशेषताएं

(CONSTITUTIONAL DEVELOPMENT AND SALIENT
FEATURES OF THE CONSTITUTION (1982) OF THE
PEOPLE'S REPUBLIC OF CHINA)

चीन की संवैधानिक पद्धति के अध्ययन का महत्व

नैपोलियन बोनापार्ट ने एक बार चीन के विषय में कहा था कि “वह एक सोया हुआ दानव है, उसे सोने दो, क्योंकि जब वह जागेगा, तो संसार को हिला देगा। नैपोलियन की मृत्यु के बाद एक सदी के भीतर चीन अपनी सुप्तावस्था से जागने लगा और यह नितान्त सत्य है कि उसके जागरण ने विश्व को एकबारगी हिला दिया है।”¹ चीन में साम्यवाद की स्थापना ने एशिया में वैसी ही समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं, जैसी समस्याएं 1917 ई. में सोवियत रूस में साम्यवाद की स्थापना ने यूरोप के लिए की थीं। चीन की परम्परा विस्तारवादी रही है और यह आश्चर्य की बात नहीं है कि गत कुछ वर्षों में चीन ने अपनी इसी विस्तारवादी नीति का परिचय दिया।

आज की परिस्थितियों में प्रमुख रूप से निम्न बातों ने चीन की संवैधानिक व्यवस्था के अध्ययन को बहुत अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है :

1. चीन अन्तराष्ट्रीय राजनीति की एक प्रमुख शक्ति—लगभग 1 अरब 30 करोड़² की विश्व की सर्वाधिक जनसंख्या वाला यह राज्य अन्तराष्ट्रीय राजनीति में महाशक्ति की स्थिति प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर है। जून 1987 में चीन ने एक बहुत शक्तिशाली भूमिगत परीक्षण किया; मई 1992 में चीन ने 10 लाख टी. एन. टी. की क्षमता के परमाणु बम का

¹ “China”, Napoleon Bonaparte is supposed to have remarked, “there lies a sleeping giant. Let him sleep, for when he wakes, he will shake the world. Within a century after Napoleon's death China began to awaken and its awakening for good or ill, has indeed shaken the world.”

—Kahin, G. M. (ed.), *Major Governments of Asia*, p. 3.

² From—CIA'S Website : *The World Factbook*, as per on 2 Nov., 2004.

परीक्षण किया तथा उसके बाद भी वह अपनी परमाणु शक्ति को अधिकाधिक विकसित करने की दिशा में अग्रसर है। चीन ने आर्थिक क्षेत्र में भी तेजी से प्रगति की है। इसके अतिरिक्त चीन एशिया का एकमात्र देश है जिसे संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त है। ऐसी स्थिति में कोई देश और कोई अध्ययनकर्ता, चीन की विचारधारा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की भूमिका से चाहे सहमत हो या असहमत; उसके लिए चीन की राजनीतिक व्यवस्था को समझना आवश्यक हो जाता है।

2. चीन : साम्यवादी व्यवस्था का प्रतीक देश—1990 तक सोवियत संघ, पूर्वी यूरोप के राज्यों, चीन और कुछ अन्य राज्यों, इस प्रकार विश्व के अनेक देशों में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित थी। लेकिन 1991 ई. में सोवियत संघ के विभिन्न गणराज्यों और पूर्वी यूरोप के राज्यों ने साम्यवादी व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया है। यद्यपि वर्तमान समय में चीन के अतिरिक्त भी कुछ अन्य देशों में साम्यवादी व्यवस्था है, लेकिन आज साम्यवादी व्यवस्था वाला सबसे प्रमुख देश या साम्यवाद का प्रतीक देश तो चीन ही है। चीन की संवैधानिक और राजनीतिक व्यवस्था साम्यवादी दर्शन और साम्यवादी दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप को समझने में सहायक है।

3. चीन : साम्यवादी क्रान्ति का विशेष स्वरूप—चीन की संवैधानिक पद्धति को महत्वपूर्ण बनाने वाला एक तत्व यह है कि अक्टूबर 1949 की चीन की साम्यवादी क्रान्ति विशेष प्रकार की रही है। सिद्धान्त और पद्धति दोनों ही दृष्टि से चीन की क्रान्ति 1917 की सोवियत रूस की क्रान्ति से भिन्न है। रूसी क्रान्ति के विपरीत यह एक कृषक क्रान्ति थी, जिसका उदय औद्योगिक क्षेत्रों के स्थान पर ग्रामीण क्षेत्रों में हुआ। इस प्रकार यह चीन की विशेष परिस्थितियों से उत्पन्न चीनी क्रान्ति थी, बाहर से निर्यात की गई क्रान्ति नहीं। चीन की क्रान्ति की सफलता ने माओत्से तुंग को वर्तमान युग में मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन का सबसे बड़ा व्याख्याता बना दिया है।

न केवल चीन की साम्यवादी क्रान्ति, वरन् चीन की संवैधानिक और राजनीतिक व्यवस्था भी सोवियत रूस से भिन्न और मौलिक है। चीन में रूस की सोवियत पद्धति को अपनाने के बजाय 'जनवादी लोकतन्त्र' की धारणा को अपनाया है। यह पद्धति न तो लोकतांत्रिक है और न ही जनवादी, लेकिन यह एक रोचक राजनीतिक प्रयोग और साम्यवादी शासन के सिद्धान्त को एक महत्वपूर्ण योगदान अवश्य है। यह 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व' (Dictatorship of the Proletariat) की मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारणा से भी भिन्न है। चीन की इस 'जनवादी लोकतन्त्र' की धारणा ने उत्तरी वियतनाम और उत्तरी कोरिया जैसे पड़ोसी साम्यवादी देशों की राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया है।

4. चीन : साम्यवाद और आर्थिक उदारवाद के बीच समन्वय की ओर अग्रसर—चीन साम्यवादी व्यवस्था का प्रतीक देश है, लेकिन चीन की साम्यवादी क्रान्ति का स्वरूप सोवियत रूस की क्रान्ति से भिन्न था और साम्यवादी क्रान्ति के बाद भी चीन की राजनीतिक व्यवस्था और सम्पूर्ण व्यवस्था में बड़ी मात्रा में गतिशीलता की स्थिति देखी गई है। माओ के निधन के पश्चात् और विशेषतया पिछले दो दशकों में दैंग जियाओ पेंग, फिर जियांग जेमिन और वर्तमान में हू जिन्ताओ के नेतृत्व में चीन की अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन को राज्य आरोपित नियन्त्रणों से मुक्ति और उदारवाद की दिशा में क्रमशः आगे बढ़ने का कार्य किया

जा रहा है। चीन अर्थ-प्रधान सभ्यता और संस्कृति की दिशा में आगे बढ़ रहा है और राजनीतिक क्षेत्र में राज्य के नियन्त्रण को बनाये रखते हुए भी नागरिक स्वतन्त्रताओं की बात कर रहा है। यद्यपि 'थियानामन चौक के नरसंहार' (1989) तथा उसके बाद भी मानवाधिकार हनन के गम्भीर आरोपों से स्पष्ट है कि नागरिक स्वतन्त्रताओं और लोकतन्त्र की बात, महज एक बात ही है, लेकिन यह तथ्य है कि चीन आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में अन्तरद्वन्द्व की स्थिति से गुजरा तथा इसने चीन के राजनीतिक नेतृत्व में शीघ्र ही परिवर्तन किए। पहले जियांग जेमिन को और बाद में हू जिन्ताओ को नेतृत्व की स्थिति प्राप्त हुई। आज समस्त विश्व का ध्यान इस बात पर लगा हुआ है कि चीन राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवादी धारा और उदारवादी धारा के बीच, आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था और नियन्त्रण प्रधान अर्थव्यवस्था के बीच, सांस्कृतिक क्षेत्र में कार्ल मार्क्स-लेनिन और माओ के दर्शन तथा स्वतन्त्र एवं खुले आधुनिकतावादी परिवेश के बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य किस प्रकार कर पाता है।

उपर्युक्त तथ्यों के कारण साम्यवादी चीन या चीन का जनवादी गणराज्य समस्त विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा है, लेकिन भारत के लिए तो चीन की संवैधानिक व्यवस्था और समस्त व्यवस्था का अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

भारतीयों के लिए विशेष महत्व—भारत और चीन एशिया के दो सबसे बड़े और जनशक्ति की दृष्टि से विश्व के दो सबसे बड़े देश हैं। यदि ये दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में परस्पर सहयोग करें, तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दशा और दिशा ही बदल जायगी। व्यवहार में इन दोनों देशों के आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ मैत्री की घोषणाओं, मैत्री के कमजोर होने, घोर अमैत्री और पुनः मैत्री की ओर बढ़ते चरणों से गुजरते रहे हैं। आशा की जा सकती है कि इन दोनों देशों के बीच मैत्री और घनिष्ठ मैत्री की स्थिति बनी रहेंगी, लेकिन प्रतिद्वन्द्विता की आशंकाएं भी अपनी जगह हैं। चीन भारत का मित्र हों या प्रतिद्वन्द्वी, भारत के लिए चीन की संवैधानिक व्यवस्था की और समस्त व्यवस्था को समझना नितान्त आवश्यक है, मित्र की तुलना में भी प्रतिद्वन्द्वी को समझना अधिक आवश्यक होता है।

हिण्टन के शब्दों में, "उदित होते हुए दैत्यों की प्रकृति और उद्देश्यों के सम्बन्ध में अज्ञान बौद्धिक कवच में दरार के समान ही है।"¹

हिण्टन की बात का उत्तरार्द्ध तो अकाट्य सत्य है।

चीन और भारत की आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएं भी लगभग एक जैसी हैं। बढ़ती जनसंख्या, निर्धनता और अशिक्षा, आदि समस्याओं को हल करने में चीन भारत की तुलना में सफल रहा है। चीन में जनसंख्या-विस्फोट पर रोक लग गई है वहां जनसंख्या वृद्धि दर 0.57% मात्र है और वहां केवल 10 प्रतिशत लोग निर्धनता की सीमा रेखा के नीचे हैं। चीन की अर्थव्यवस्था 9.1 प्रतिशत की दर से छलांग लगा रही है। भारत की राजनीतिक व्यवस्था चीन से मूलतः भिन्न है; लेकिन इसके बावजूद भारत और चीन एक दूसरे से बहुत कुछ सीख सकते हैं। हमारे लिए न केवल चीन के संविधान और राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन; वरन् चीन की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का अध्ययन, एक पंक्ति में चीन की सम्पूर्ण व्यवस्था का अध्ययन बहुत अधिक महत्व रखता है।

¹ "An ignorance of the nature and aims of this rising colossus, regard less of the attitude taken towards it, is a serious chink in anyone's intellectual armour."

—Harold Hinton.

भूमि और लोग

वृहत्तर चीन एशिया महाद्वीप के मध्य में स्थित है। कोरिया की सीमा पर यालू नदी से लेकर वियतनाम की सीमा पर पेलुम नदी तक इसका विस्तार है। इसके दक्षिण में हिमालय पर्वत की श्रेणियां और उत्तर-पूर्व में रूस है। हिमालय पर्वत चीन को भारत, भूटान और नेपाल से अलग-अलग करता है। चीन की राजधानी बीजिंग है।

अब क्षेत्र की दृष्टि से भी चीन विश्व का सबसे बड़ा देश है।¹ इसका क्षेत्रफल 95.9 लाख वर्ग किलोमीटर है। यह समस्त क्षेत्र 22 प्रान्तों, 5 स्वायत्त क्षेत्रों, 4 नगरपालिकाओं तथा 2 विशेष प्रशासनिक क्षेत्रों में बंटा हुआ है। चीन ताइवान को अपना 23वां प्रान्त मानता है। यद्यपि ताइवान एक पृथक् स्वतन्त्र और सम्प्रभु राज्य है। पिछले लगभग दो दशक से चीन जनसंख्या नियन्त्रण के कार्यक्रम को अपना रहा है। पिछले दस वर्षों में जनसंख्या नियन्त्रण के इस कार्यक्रम में गति आयी है और भारतीय अनुभव की दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि चीन जनसंख्या वृद्धि पर लगभग रोक लगाने में सफल रहा है। यह विशाल क्षेत्र और जनसंख्या चीन को युद्ध तथा विस्तारवादी नीति अपनाने और विश्व राजनीति में अग्रणी स्थान प्राप्त करने की दिशा में प्रेरित करती रही है।

रूस की भांति चीन एक बहु-जातीय देश है, जिसमें हान (Han) अथवा चीनियों की प्रमुखता है। पूरे देश की जनसंख्या का लगभग 92 प्रतिशत हान जाति है। अन्य मूल जातियों में ये मुख्य हैं : मंगोल, हुई, तिब्बती, कोरियन, मंचु आदि। चीन के विभिन्न जनसमूहों में अनेक प्रकार की विविधताएं पायी जाती हैं, फिर भी उनमें एक भाषा व संस्कृति तथा अन्य कारणों से एकरसता है। सभी जातियों को एक राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्ण सांस्कृतिक स्वायत्तता प्रदान कर संविधान ने भी इस एकरसता को बनाये रखने में योग दिया है। चीन की मुख्य भाषा चीनी है, यद्यपि 150 अन्य भाषाएं और बोलियां भी चीन में प्रचलित हैं। चीन की 75 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या साक्षर है।

भारत के ही समान चीन के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है, जिसमें लगभग 75 प्रतिशत जनसंख्या लगी हुई है। खनिज पदार्थों का चीन में बाहुल्य है। चीन के प्रमुख उद्योग लोहा, इस्पात से बनी हुए मशीनें, मोटोर्, जलयान, सीमेण्ट, कपड़ा, कागज और रबड़ के जूते इत्यादि हैं।

आज चीन राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवादी व्यवस्था को अपनाए हुए है और आर्थिक क्षेत्र में प्रथम श्रेणी का औद्योगिक राष्ट्र बनने की दिशा में अग्रसर है। वस्तुतः न केवल आर्थिक विकास वरन् चीन सर्वांगीण विकास की दिशा में अग्रसर है।

संवैधानिक विकास

चीन एक अत्यन्त प्राचीन देश है जिसकी संस्कृति और सभ्यता अपना विशिष्ट स्थान रखती है। चीन की वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को समझने के लिए 19वीं सदी से संवैधानिक विकास का अध्ययन किया जा सकता है। 19वीं सदी से प्रारम्भ होकर बीसवीं सदी के मध्य तक का चीन का संवैधानिक और राष्ट्रीय इतिहास साम्राज्यवादी कुचक्रों का ही परिचय देता है।

- 1 1990 तक सोवियत संघ विश्व का सबसे बड़ा राज्य था, लेकिन अब एक ही राज्य के रूप में सोवियत संघ का अस्तित्व नहीं रहा है और चीन क्षेत्रफल की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा राज्य है।

‘अफीम युद्ध’ और चीन में साम्राज्यवादी शक्तियों का हस्तक्षेप

इस समय चीन यूरोप के देशों की तुलना में अधिक उन्नत था। चीन की चाय, रेशमी कपड़े और चीनी मिट्टी के बर्तनों की यूरोप में बड़ी मांग थी। लेकिन इनके बदले में चीनी किसी भी यूरोपियन माल को खरीदने के लिए उत्सुक नहीं थे। प्रारम्भ में यूरोपीय व्यापारी चांदी और सोने के सिक्कों में भुगतान करते थे। लेकिन अधिक समय तक ऐसा नहीं किया जा सकता था, अतः 18वीं सदी में ब्रिटेन ने भुगतान की समस्या का नया हल निकाला। वे हिन्दुस्तान में अधिक-से-अधिक अफीम का उत्पादन कराकर इसे चीन में बेचने लगे और अफीम के इस तस्कर व्यापार से ब्रिटिश पूंजीपतियों को बहुत लाभ होने लगा। कैण्टन के ग्रन्थ अधिकारी भी तस्कर व्यापार में ब्रिटिश कम्पनियों की मदद करने लगे। चीन की सरकार ने प्रारम्भ में विदेशी व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये। लेकिन थोड़े समय बाद ही ब्रिटिश षड्यन्त्र की गम्भीरता को अनुभव किया गया और चीनी सरकार ने अफीम लाने वाले ब्रिटिश जहाजों की तलाशी लेनी शुरू कर दी। ब्रिटिश सरकार इससे रुठ हो गयी और 1839-42 में चीन और ब्रिटेन में प्रथम अफीम युद्ध हुआ। ब्रिटेन ने चीन को युद्ध में पराजित कर चीन पर पहली ‘असमान सन्धि’ (Unequal Treaty) लदी। इसके बाद चीन को संयुक्त राज्य अमरीका और जापान के साथ भी इस प्रकार की ‘असमान सन्धियां’ करनी पड़ीं। इन्हें ‘असमान सन्धि’ इस दृष्टि से कहा जाता है कि इनमें चीन के सम्मान और हितों की नितान्त उपेक्षा की गयी और हैरोल्ड सी. हिण्टन के मतानुसार, “इन सन्धियों के परिणामस्वरूप चीन की सम्प्रभुता पर गम्भीर प्रतिबन्ध लगा दिये गये।” इन सन्धियों की शर्तों के कारण चीन के उद्योग धन्यों को बहुत हानि पहुंची।

असफल ताइपिंग विद्रोह और चीन का भारी शोषण—साम्राज्यवादी देशों के भीषण शोषण की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक थी और यह 1850-64 के ताइपिंग विद्रोह के रूप में हुई जो वस्तुतः चीन की पहली राष्ट्रीय और जनतन्त्रीय क्रान्ति थी, लेकिन यह सफल नहीं हो सकी। 1892 में साम्राज्यवादी शक्तियों ने चीन को औपनिवेशिक प्रभाव क्षेत्रों में बांट लिया। मंचूरिया रूस के प्रभाव क्षेत्र में आ गया। शान्तुंग पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया, जापान ने फूकियन को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाया, दक्षिण-पूर्वी चीन फ्रांस के हिस्से में आया और मुख्य चीन की लगभग आधी भूमि (यांग्ट्सी और ह्वांगहो के मैदान) ब्रिटेन के हिस्से में आ गयी। प्रत्येक साम्राज्यवादी देश को अपने प्रभाव क्षेत्र में पूंजी के निवेश (Investment) और संचार के विकास का लगभग एकाधिकार प्राप्त हो गया। अमरीका भी इस आर्थिक शोषण में शामिल था। इस स्थिति के सम्बन्ध में महान् चीनी सनयात सेन ने कुछ रोष भरे शब्दों में कहा था कि “इस प्रकार चीन किसी एक देश का उपनिवेश या अर्द्ध-उपनिवेश तो नहीं बना, वरन् वह कई देशों का एक संयुक्त उपनिवेश बन गया।”

बॉक्सर विद्रोह 1900 ई.—1900 ई. में चीन में ‘बॉक्सर विद्रोह’ हुआ, जिसका उद्देश्य चीन में विदेशी प्रभाव और मांचू वंश का अन्त कर एक गणराज्य की स्थापना करना था। इस विद्रोह में अनेक विदेशी और ईसाई मारे गये। इस विद्रोह के पीछे राष्ट्रवादी नेता सनयात सेन का हाथ था, जो 1885 ई. में चीन छोड़कर अमरीका चले गये थे और वहीं से राष्ट्रवादियों का नेतृत्व कर रहे थे। सभी विदेशी शक्तियों ने इस विद्रोह का संगठित होकर सामना किया

और उन्होंने विद्रोह को दबाने के लिए अपनी सेनाएं भेज दीं। विद्रोह की असफलता से चीन में विदेशी शक्तियों का प्रभाव और अधिक बढ़ गया।

1911 की क्रान्ति और प्रथम गणराज्य की स्थापना—चीन में यद्यपि बॉक्सर विद्रोह को दबा दिया गया, परन्तु राष्ट्रीय भावनाएं ज्यों-की-त्यों बनी रहीं। 1905 में जापान के हाथों सोवियत संघ की पराजय ने चीन के राष्ट्रवाद को नयी प्रेरणा और शक्ति प्रदान की। इस क्रान्ति के प्रेरक आधुनिक चीन के निर्माता सनयात सेन थे। उनके तीन सिद्धान्तों—जन राष्ट्रवाद, जन प्रजातन्त्र और जन आजीविका—से प्रभावित होकर चीन के लोगों ने डॉ. सेन के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया और 1911 की क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति से मांचू वंश के शासन का अन्त हो गया। क्रान्तिकारियों की एक सभा दिसम्बर 1911 को नानकिंग नगर में हुई और इस सभा ने चीन को एक गणराज्य घोषित कर दिया। डॉ. सनयात सेन को इस सभा ने अस्थायी राष्ट्रपति चुन लिया। लेकिन समस्त चीन में सनयात सेन का प्रभुत्व स्थापित नहीं हो सका और चीनी प्रधानमंत्री युवान शीहकाई ने दक्षिण चीन में एक और गणराज्य स्थापित कर लिया। डॉ. सेन ने चीन की एकता को बनाये रखने के लिए युवान के पक्ष में अपना त्यागपत्र दे दिया।

कोमिन्तांग पार्टी की स्थापना—युवान शीहकाई ने चीन की स्थिति में सुधार करने के लिए इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस तथा जापान से ऋण लेने शुरू कर-दिये। युवान का यह कार्य 1911 की क्रान्ति के घोषित सिद्धान्तों के विरुद्ध था, सनयात सेन के अनुयायियों ने इसका घोर विरोध किया। डॉ. सनयात सेन और उनके अनुयायियों ने अपने आप को कोमिन्तांग पार्टी में संगठित कर दिया, जो एक राष्ट्रीय दल था। युवान शीहकाई को कोमिन्तांग पार्टी और उसके बाद जापान के हाथों अपमानित होना पड़ा और जून 1916 में युवान शीहकाई की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् कोमिन्तांग पार्टी का नेता ली युवान हंग राष्ट्रपति बन गया। इस तरह से समस्त चीन कोमिन्तांग पार्टी के नेतृत्व में संगठित हो गया।

कोमिन्तांग-कोमिण्टर्न समझौता (Knomintang-Comintern Alliance)—1917 में पूर्व सोवियत संघ में समाजवादी क्रान्ति हो गयी। चीनी साम्यवादी दल रूस के मार्गदर्शन में अपना कार्य करने लगा। डॉ. सनयात सेन के नेतृत्व में जो कोमिन्तांग पार्टी गठित हुई थी, वह चीनी साम्यवादी दल का विरोध करने लगी। कोमिन्तांग पार्टी एक ओर पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों तथा दूसरी ओर साम्यवादी दल का विरोध सहन कर रही थी। 1923 ई. में सनयात सेन ने स्थिति को समझ कर पूर्व सोवियत संघ और कामिण्टर्न से समझौता कर लिया। लेनिन इस समझौते के आधार पर चीन में राष्ट्रीय क्रान्ति को सफल बनाकर साम्राज्यवादी शक्तियों को आघात पहुंचाना चाहता था और डॉ. सेन की रुचि रूस से प्राप्त होने वाली वित्तीय सहायता में थी। समझौते के अन्तर्गत चीन में पूर्व सोवियत संघ के सैनिक और राजनीतिक सलाहकार भी आये। 1923 ई. में डॉ. सेन ने चीनी साम्यवादियों से बातचीत करके एक समझौता किया और साम्यवादियों को अपने दल का सदस्य बनने की आज्ञा दे दी। साम्यवादियों ने जन समर्थन प्राप्त करने और दल को अन्दर से क्रान्तिकारी रूप प्रदान करने के उद्देश्य से कोमिन्तांग दल में प्रवेश किया। इस सन्धि के अन्तर्गत ही डॉ. सेन के विश्वासपात्र सहयोगी च्यांग काई शेक ने सोवियत संघ में प्रशिक्षण प्राप्त किया और इसके अन्तर्गत ही 'बम्पाओ

सैनिक अकादमी' (Whimpao Military Academy) स्थापित की गयी जिसके मुख्य अधिकारी च्यांग थे।

समझौते का अन्त और गृहयुद्ध का आरम्भ—मार्च 1925 में डॉ. सेन की मृत्यु के बाद जब चीन का नेतृत्व च्यांग काई शेक के हाथ में आया, तो कोमिन्तांग-कोमिण्टर्न समझौते में तनाव उत्पन्न होने लगा। च्यांग काई शेक साम्यवाद के प्रबल विरोधी थे और इस बात से चिन्तित थे कि साम्यवादियों द्वारा राष्ट्रवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति को एक व्यापक वर्ग संघर्ष का रूप देने की कोशिशों की जा रही हैं।

1927 में च्यांग काई शेक ने चीनी साम्यवादियों का सफाया करना शुरू कर दिया। चीन के साम्यवादी दल का प्रधान इस समय चेन तू शे था, जो च्यांग का सफल विरोध नहीं कर सका। चेन तू शे का स्थान ली ली सान द्वारा लिया गया और बाद में ली ली सान का स्थान 'विद्यार्थी दल' (Returned Students) के द्वारा ले लिया गया। लेकिन च्यांग काई शेक शासन की शक्ति का प्रतिरोध कर साम्यवादी क्रान्ति करने में ये सभी असफल रहे। मूल बात यह थी कि साम्यवादी दल के ये नेता कोरे सिद्धान्तवादी थे और उन्होंने सोवियत संघ को अपना उदाहरण मानकर औद्योगिक श्रमिकों के बल पर क्रान्ति करने का प्रयत्न किया। लेकिन चीन की परिस्थितियाँ भिन्न होने और चीन एक कृषि प्रधान देश होने के कारण इसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी।

साम्यवादी दल में माओत्से तुंग का नेतृत्व—1935 में माओत्से तुंग ने चीनी साम्यवादी दल का पूर्ण नेतृत्व प्राप्त कर लिया। उन्होंने कोमिन्तांग की शक्ति का मुकाबला करने के लिए खुले युद्ध के स्थान पर गोरिल्ला युद्ध (Guerilla War) की पद्धति अपनाने और कृषकों को चीन की प्रमुख क्रान्तिकारी शक्ति बनाने पर बल दिया। माओ प्रारम्भ से ही यथार्थवादी नेता था और उसका विचार था कि चीन में क्रान्ति की सफलता के लिए चीन के सभी वर्गों का समर्थन यहां तक कि छोटे जमींदारों तक का समर्थन प्राप्त किया जाना चाहिए।

जापान के विरुद्ध कोमिन्तांग-साम्यवादी समझौता—च्यांग काई शेक 1927 से ही साम्यवादियों का सफाया करने में लगा था, लेकिन 1931 में जब जापान ने मंचूरिया पर कब्जा कर लिया और इस विषय में राष्ट्र संघ, ब्रिटेन और फ्रांस चीन की कोई मदद नहीं कर सके, तो च्यांग काई शेक के मन को आघात पहुंचा। माओत्से तुंग, चाऊ एन लाई और ल्यू शाओ ची के नेतृत्व में इधर तो साम्यवादी अपने आपको शक्तिशाली बनाने में लगे थे, उधर यूरोप में फासीवादी तत्व बहुत अधिक शक्तिशाली हो गये थे और चीन पर जापान के पुनः आक्रमण का खतरा बढ़ रहा था। ऐसी स्थिति में मास्को की प्रेरणा से चीन की कोमिन्तांग सरकार और साम्यवादियों में समझौता सम्पन्न हो गया और उन्होंने अपनी संयुक्त शक्ति के बल पर जापान के संकट का मुकाबला करने का निश्चय किया। कोमिन्तांग के साथ मिलकर जापान के विरुद्ध युद्ध करते हुए साम्यवादियों ने अपनी स्थिति बहुत सुदृढ़ कर ली। उन्होंने अपनी गोरिल्ला पद्धति को सुदृढ़ किया और ग्रामीण क्षेत्रों में जन-समर्थन प्राप्त किया। माओत्से तुंग ने सशस्त्र संघर्ष और संयुक्त मोर्चे की दुतरफा नीति अपनायी और 1937-45 के वर्षों में सफल साम्यवादी क्रान्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर ली।

साम्यवादियों द्वारा सत्ता का अधिग्रहण—1945 में जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, तब चीन औपचारिक रूप से तो च्यांग काई शेक और उनके कोमिन्तांग दल के नियन्त्रण

में था, लेकिन देश की वास्तविक शक्ति साम्यवादियों के हाथ में आ गयी थी। इस समय तक 10 लाख व्यक्तियों की लाल सेना का गठन हो चुका था और 27 'मुक्त क्षेत्र' (Liberated areas) स्थापित किये जा चुके थे। कोमिन्तांग और साम्यवादी दल के बीच समझौते और एक मिली-जुली सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया गया, किन्तु इसमें सफलता प्राप्त नहीं हुई और 1946 में दोनों पक्षों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। कोमिन्तांग शासन में एकता का अभाव था और बढ़ते हुए भ्रष्टाचार के कारण यह जन समर्थन खोता जा रहा था। न केवल ग्रामीण जनता, वरन् शहरों के बुद्धिजीवी और विद्यार्थी भी इसके विरुद्ध हो गये थे। संयुक्त राज्य अमरीका से बहुत बड़ी मात्रा में वित्तीय और सैनिक सहायता प्राप्त होने के बावजूद कोमिन्तांग शासन साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रसार को नहीं रोक सका। अन्त में, 1949 में कोमिन्तांग शासन का पतन हो गया, जबकि च्यांग काई शेक ने अपनी सेना के प्रमुख अंगों के साथ चीन की मुख्य भूमि को छोड़कर फारमोसा टापू में शरण ग्रहण की। साम्यवादियों ने शासन पर अधिकार कर लिया और 1 अक्टूबर, 1949 को माओत्से तुंग के नेतृत्व में चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना की घोषणा की गयी।

1949 से 1954 तक की व्यवस्था—हैरोल्ड हिण्टन ने लिखा है कि "अपने अस्तित्व के प्रथम पांच वर्षों में चीन के जनवादी गणराज्य की न तो कोई राष्ट्रीय व्यवस्थापिका सभा थी और न ही कोई औपचारिक संविधान। इनके स्थान पर चीन में चीनी जनता का राजनीतिक परामर्शदाता सम्मेलन, सामान्य कार्यक्रम और मूल विधि थे।" देश पर राजनीतिक परामर्शदाता सम्मेलन द्वारा शासन किया जाता था और राज्य तथा प्रशासनिक ढांचे के मूल उद्देश्य सामान्य कार्यक्रम तथा मूल विधि के आधार पर निश्चित किये गये। ये दोनों प्रलेख ही संयुक्त रूप से चीन के अस्थायी संविधान के रूप में थे। विशेष बात यह थी कि राजनीतिक परामर्शदाता सम्मेलन में साम्यवादी दल के अतिरिक्त 7 अन्य राजनीतिक दलों और अल्पसंख्यक जातियों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया था, किन्तु वास्तविक शक्ति साम्यवादी दल और इसके नेता माओत्से तुंग में ही निहित थी। परामर्शदाता सम्मेलन के द्वारा चीन में पहली जनगणना करायी गयी और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर राष्ट्रीय जन कांग्रेस और स्थानीय जन कांग्रेस के निर्वाचन कराये गये।

1954 का संविधान—1949 की साम्यवादी क्रांति के बाद चीन में अब तक चार संविधानों को अपनाया जा चुका है। इनमें प्रथम 1954 का संविधान है जो 4 नवम्बर 1954 से 16 जनवरी 1975 तक लागू रहा। इस संविधान के द्वारा चीन में एक जनवादी गणतन्त्र की स्थापना की गई, जिसका आधार 'जनवादी जनतांत्रिक अधिनायकवाद' था। यह संविधान गणराज्य की स्थापना से समाजवाद की स्थापना तक के काल के लिए अर्थात् एक संक्रमण कालीन संविधान था। लोकतांत्रिक केन्द्रवाद इस संविधान द्वारा स्थापित समस्त व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु था।

1975 का संविधान—1954 का संविधान एक संक्रमणकालीन व्यवस्था मात्र था, अतः चीन की चौथी जन कांग्रेस द्वारा 17 जनवरी 1975 से नवीन संविधान अपनाया गया।

1 "For the first five years of its existence, Chinese People's Republic had neither a national legislature nor a formal constitution. Instead it had the Chinese People's Political Consultative Conference, the Common Programme and an organic law."
—Harold Hinton

मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद इस संविधान का दार्शनिक-वैचारिक आधार घोषित किया गया। यह लिखित और अत्यधिक संक्षिप्त (4 अध्यायों में बंटे हुए 30 अनुच्छेद) संविधान था। इस संविधान में कहा गया था कि, चीन का जनवादी गणराज्य सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का समाजवादी राज्य है।' संविधान के प्रथम अनुच्छेद में ही चीन गणराज्य में साम्यवादी दल की नेतृत्वकारी भूमिका का उल्लेख किया गया था। संविधान के प्रतिवेदन में लियाशाओ ची ने कहा था कि, 'चीन का साम्यवादी दल देश के नेतृत्व का केन्द्र है।'

1978 का संविधान—1975 का संविधान अत्यन्त संक्षिप्त संविधान था और इस संविधान में अनेक प्रमुख बातों का भी उल्लेख नहीं था। ऐसी स्थिति में 1975 के संविधान को अपनाने के एक वर्ष बाद ही नवीन संविधान को अपनाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसके अतिरिक्त 9 सितम्बर 1976 को माओत्से तुंग दिवंगत हो चुके थे और नये शासक माओ की नीतियों से कुछ असहमति रखते थे। इस पृष्ठभूमि में नवीन संविधान की आवश्यकता अनुभव करते हुए उसका निर्माण किया गया।

अतः 5 मार्च 1978 ई. को चीन की पांचवीं कांग्रेस द्वारा नया संविधान स्वीकृत कर, उसे लागू किया गया। 1978 के संविधान में भी केवल 60 अनुच्छेद थे। इस प्रकार यह भी एक संक्षिप्त संविधान ही था। संविधान द्वारा चीन में जनवादी गणतंत्र की स्थापना करते हुए समस्त सत्ता जनता में निहित की गई। संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया था कि, "जनवादी चीन सर्वहारा वर्ग की तानाशाही वाला एक समाजवादी राज्य है जिसका नेतृत्व श्रमिक वर्ग के हाथों में है और श्रमिकों तथा कृषकों के बीच अटूट मैत्री के सम्बन्ध विद्यमान है।" संविधान के अनुच्छेद 2 के अन्तर्गत शासन के समस्त अंगों तथा जीवन समस्त क्षेत्रों पर साम्यवादी दल का एकाधिपत्य स्वीकार किया गया। संविधान में स्पष्ट कहा गया कि, चीन की समस्त जनता के नेतृत्व की धुरी साम्यवादी दल है। कामगार वर्ग राज्य सत्ता पर अपना नेतृत्व अपने अगुआ और प्रहरी चीन के साम्यवादी दल के माध्यम से ही रखता है।

1982 का संविधान (नया संविधान या वर्तमान संविधान)

पृष्ठभूमि—1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में माओ के योगदान पर पुनर्विचार किया जाने लगा और 1978 ई. के बाद सत्तारूढ़ शासक वर्ग के द्वारा विशेष रूप से यह अनुभव किया गया कि माओ का रूढ़िवादी साम्यवाद का मार्ग आज की परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं है और इसके स्थान पर प्रगतिशील साम्यवाद तथा विकसित औद्योगिक तकनीक को अपनाये जाने की आवश्यकता है।

1978 के संविधान पर विचार के लिए एक 'पुनरीक्षण समिति' स्थापित की गयी थी। इस समिति के उपाध्यक्ष पेंग झेन ने 'नेशनल पीपुल्स कॉंग्रेस' (चीन की संसद) के समक्ष नये संविधान पर अपनी रिपोर्ट पेश की और 4 दिसम्बर, 1982 को चीन का नया संविधान स्वीकृत किया गया। संविधान के अनुसार, देश में शोषक वर्ग समूल नष्ट कर दिया गया है तथा वर्ग-संघर्ष अब समाज में नहीं है। यह विचार माओत्से तुंग के उस विचार से बिल्कुल हटकर है जिसमें सतत क्रान्ति की बात कही गयी थी। झेन ने सांस्कृतिक क्रान्ति को एक बड़ी गलती बताकर यह स्पष्ट कर दिया कि नया नेतृत्व माओवाद से पूरी तरह विमुख हो गया है।

इस संविधान द्वारा फिर से राज्याध्यक्ष के पद की स्थापना का प्रस्ताव किया गया है जो सन् 1976 में माओत्से तुंग के निधन के बाद समाप्त कर दिया गया था। यद्यपि इस संविधान के मसौदे की प्रतियां काफी पहले चीन में वितरित कर दी गयी थीं और तभी से यह महसूस किया जा रहा था कि सम्भवतः नया संविधान लागू होने के बाद चीन की मूलभूत नीतियों में कुछ परिवर्तन लक्षित हों लेकिन जो संविधान लागू किया गया है, उसमें और मूल मसविदे में काफी अन्तर है। यह तो अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है कि चीन की शासन व्यवस्था में नये परिवर्तनों से क्या बदलाव आयेगा और उसकी विदेश नीति में कोई परिवर्तन होगा या नहीं, किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजाध्यक्ष पद की पुनर्स्थापना का मूल लक्ष्य यही है कि चीन की आन्तरिक व्यवस्था और अधिक मजबूत हो और विदेशों के साथ उसके सम्बन्धों को जन भावनाओं के अनुकूल दिशा प्राप्त हो सके।

राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के 3,037 सदस्यों ने गुप्त मतदान प्रणाली से संविधान के मसविदे में सुझाये गये संशोधनों को पारित किया। इसमें दिलचस्प बात यह थी कि कुछ सदस्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया। इससे यह स्पष्ट है कि कुछ लोग परिवर्तन के इस दौर के खिलाफ भी हैं और मतदान में भाग न लेकर उन्होंने अपना विरोध प्रकट भी किया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि चीन जैसा कम्युनिस्ट देश भी अब जनसंख्या विस्फोट से आतंकित हो उठा है और संविधान द्वारा चीन के प्रत्येक दम्पति के लिए परिवार नियोजन आवश्यक कर्तव्य घोषित कर दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि चीन भी अब कष्टरता छोड़कर राष्ट्रहित में संशोधनवादी नीति की ओर अग्रसर हो रहा है।

1982 के संविधान में समय-समय पर संशोधन भी किए गए जिनमें 7वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा 1988 में, 8वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा 1993 में, 9वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा 1999 में तथा वर्तमान अर्थात् 10वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा मार्च, 2004 में किए गए संशोधन प्रमुख हैं। मार्च, 2004 में किए गए संशोधन इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि इसमें संविधान के अनुच्छेद 33 (3) में संशोधन करते हुए कहा गया है कि 'राज्य मानवाधिकारों की रक्षा करेगा तथा उन्हें बनाए रखेगा'।

चीन का 1954 का संविधान रूसी ढांचे पर निर्मित था। चीनी और सोवियत संघ के संविधान की तुलना करते हुए एम. ब्रैशर ने लिखा है कि सोवियत संघ और चीन की संसदें केवल मोहर लगाने वाली संस्थाएं थीं¹ कालान्तर में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई और इसका प्रमुख कारण 1966-69 के बीच की सांस्कृतिक क्रान्ति की उपलब्धियों को संवैधानिक जामा पहनाना था। फलस्वरूप 1954 ई. के संविधान में अनेक परिवर्तन किये गये और इनका मुख्य उद्देश्य दल के केन्द्रीकृत नेतृत्व का सरकारी ढांचे पर वर्चस्व स्थापित करना था। 1975 तथा 1978 के संविधान संक्रमणकालीन सिद्ध हुए। इनका उद्देश्य एक स्वतन्त्र और अपेक्षाकृत वृहत् औद्योगिक और आर्थिक व्यवस्था को विकसित करना था। 1980 से ही चीन एक महाशक्ति बनने की दिशा में आगे बढ़ रहा है, किन्तु कृषि, उद्योग, राष्ट्रीय

1 'The State Shall preserve and protect human rights, Amended Article. 33

2 M. Brasher, *The New States of Asia*.

3 C. I. Yuzin Kim and Lawrence Zeiring, *An Introduction to Asian Politics*, p. 73.

सुरक्षा, विज्ञान और तकनीकी के आधुनिकीकरण की समस्याएं बनी हुई हैं। अतः ऐसे संविधान की आवश्यकता अनुभव की गयी जिससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था विश्व में अग्रणी बन सके।

चीन का नया संविधान : वैचारिक आधार

(THE NEW CONSTITUTION OF CHINA : IDEOLOGICAL BASIS)

चीन एक ऐसा देश है जिसकी समस्त व्यवस्था मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा पर आधारित है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद का चीन की तत्कालीन परिस्थितियों में अध्ययन-क्रियान्वयन ही माओवाद है। इस प्रकार चीन के वर्तमान संविधान का वैचारिक आधार मार्क्सवाद, लेनिनवाद और माओवाद है।

मार्क्सवाद—कार्ल मार्क्स के विचार जानने के लिए उसके सर्वप्रमुख ग्रन्थ 'दास कैपिटल' (*Das Capital*) का अध्ययन किया जा सकता है। हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वर्तमान राज्य में पूंजीवाद एवं सर्वहारा वर्ग के बीच जो संघर्ष होगा, उससे पूंजीवाद समाप्त होकर साम्यवाद की स्थापना होगी। मार्क्स के अनुसार, इतिहास के प्रत्येक युग में उत्पादन शक्तियों से आर्थिक सम्बन्धों का उदय होता है और ये आर्थिक सम्बन्ध ही सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। आर्थिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप ही प्रत्येक युग में मनुष्य समाज दो वर्गों में बंटा रहा है जिनके हित आपस में टकराते हैं। इनमें एक शोषक वर्ग व दूसरा शोषित वर्ग है। मार्क्स की मान्यता है कि वर्तमान वर्ग संघर्ष का अन्त वर्गविहीन समाज में होगा। इस वर्ग संघर्ष का नेतृत्व, जो अन्ततोगत्वा साम्यवाद की स्थापना में परिणित होगा, सर्वहारा वर्ग ही करेगा। इस प्रकार उसके अनुसार, साम्यवाद की स्थापना के लिए क्रान्ति का प्रथम चरण सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व ही है। मार्क्स की मान्यता है कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में शोषक वर्ग का अन्त होकर वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी। वर्गविहीन समाज में राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी और राज्य विलीन हो जायगा। इस प्रकार वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी।

लेनिनवाद—रूसी नेता लेनिन ने रूस की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखकर मार्क्स की विचारधारा की जिस रूप में व्याख्या की और उसे जिस रूप में अपनाया, वही लेनिनवाद है। लेनिन ने अपनी पुस्तक '*The State and The Revolution*' में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की विस्तृत व्याख्या की है। लेनिन ने अपने श्रमिक अधिनायकत्व के सिद्धान्त में इस बात पर बल दिया कि उसके अन्तर्गत श्रमिकों एवं अन्य शोषित वर्गों के बीच मित्रता होनी चाहिए, लेकिन नेतृत्व श्रमिकों के ही हाथों में रहना चाहिए। लेनिन के विचार में साम्यवादी पार्टी समस्त श्रमिक आन्दोलनों के बीच में रहती है, वह पथ-प्रदर्शन तथा नेतृत्व प्रदान करती है, जिसकी ऐसे आन्दोलनों में आवश्यकता होती है, लेकिन वह मजदूरों के समूह से सदैव विशिष्ट होती है। लेनिन के विचार में विभिन्न देशों के साम्यवादी दलों के संगठन के लिए यह आवश्यक था कि वे एक ओर तो साम्यवाद के विचारों के प्रति दृढ़ निष्ठा बनाये रखें तथा दूसरी ओर जहां आवश्यक हो, वहां सब तरह से समझौते करना और पैतरे बदलना सीखें। लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की उच्चतम अथवा अन्तिम अवस्था माना है।

माओवाद—माओ की राजनीतिक विचारधारा और कार्य पद्धति के निर्माण में तीन मुख्य तत्व हैं : (1) उसके देशकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, (2) सामयिक बौद्धिक प्रवृत्तियाँ, और (3) उसका अपना व्यक्तित्व। उसे इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उसने चीन की परिस्थितियों के अनुरूप मार्क्सवाद-लेनिनवाद के एक विशेष रूप का प्रवर्तन किया है। लेनिन तथा स्टालिन की विरासत को स्वीकार करते हुए भी माओ के चिन्तन में अपनी कुछ विशिष्टता है। उदाहरण के लिए, लेनिन ने साम्यवादी दल को सर्वहारा वर्ग की इच्छा के साथ अभिन्न मान लिया था। लेकिन चीन में सर्वहारावर्ग का अस्तित्व ही नहीं था, फिर भी माओ और उसके अनुयायियों ने साम्यवादी दल को कृषि क्रान्ति का नेता बना दिया। लेनिन ने दलीय संगठन के कुछ मूल सिद्धान्तों का निरूपण किया था और उसका विचार था कि इन सिद्धान्तों का पालन सभी देशों के साम्यवादियों द्वारा किया जाना चाहिए। माओ ने दलीय संगठन के इन सिद्धान्तों को और भी कड़ा कर दिया।

माओ शक्ति का पुजारी था। उसके अनुसार, “राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से उत्पन्न होती है, बन्दूक से कोई भी वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।” माओ साम्यवाद लाने के लिए युद्ध की अनिवार्यता और शक्ति में विश्वास करता था। माओ ने ‘नवीन लोकतन्त्र’ (*The New Democracy*) नामक पुस्तक में यह विचार व्यक्त किया कि साम्यवाद कभी एकदम नहीं आ सकता है। साम्यवाद से पूर्व एक संक्रमणकालीन अवस्था आयेगी और यही ‘नवीन लोकतन्त्र’ होगा। इसमें पूंजीवादी और साम्यवादी व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण होगा। ‘नवीन लोकतन्त्र’ पूंजीवाद को निरुत्साहित करेगा, साम्यवाद का न्यूनतम कार्यक्रम चलायेगा और इसका लक्ष्य भविष्य में ‘अधिकतम साम्यवादी’ कार्यक्रम चलाने का होगा। नवीन लोकतन्त्र में मिश्रित अर्थव्यवस्था होगी। माओ कट्टर राष्ट्रवादी था और उसके लिए राष्ट्रवाद और आवश्यक बुराई नहीं प्रत्युत प्रामाणिक मूल्य है। माओ का सैन्यवाद तथा साम्राज्यवादी विस्तारवाद लेनिन की शिक्षाओं के सर्वथा विपरीत है।

1982 के चीनी संविधान की विशेषताएं

(SALIENT FEATURES OF THE CHINESE CONSTITUTION OF 1982)

जनवादी चीन के नये संविधान में 138 अनुच्छेद हैं, जो चार अध्यायों में विभाजित हैं। कई लोगों का विश्वास है कि पुराने संविधानों की तुलना में नया संविधान कई दृष्टियों से नूतन है। प्रथम, इसमें जनवादी चीन की स्थापना से लेकर अब तक के ऐतिहासिक अनुभवों का सार समाविष्ट किया गया है। इन अनुभवों को अब कानूनी रूप दे दिया गया है।¹ द्वितीय, इसमें समाजवादी मार्ग पर चलने के चार प्रमुख सिद्धान्तों—सर्वहारावर्ग की तानाशाही, साम्यवादी दल का नेतृत्व, मार्क्सवादी-लेनिनवादी तथा माओत्से तुंग के विचारों का संकलन उपलब्ध कराया गया है। यह इस बात की गारण्टी है कि चीन का समाजवादी विकास सही

1 Many agreed that the new constitution is much improved. First, it has summed up the historical experiences since the founding of People's Republic, particularly since the third plenary session of the Party Central Committee. These experiences are now confirmed in legal form, to the satisfaction of the workers, peasants, intellectuals and peoples of all walk of life nation-wide.

—Beijing Review, December 13, 1982.

और निश्चित मार्ग पर हो रहा है।¹ तृतीय, यह संविधान समाजवादी समाज के निर्माण के साथ-साथ समाजवादी सभ्यता के निर्माण पर जोर देता है।²

नये चीनी संविधान की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

1. संक्षिप्त संविधान—यद्यपि 1975 और 1978 के संविधान की तुलना में यह अपेक्षाकृत व्यापक संविधान है, लेकिन दुनिया के अन्य देशों के संविधानों की तुलना में यह संविधान भी संक्षिप्त ही है। वर्तमान संविधान में 138 अनुच्छेद हैं और चार भागों में विभक्त है। इसमें एक प्रस्तावना भी जुड़ी हुई है। इस प्रस्तावना में जनवादी चीन के ऐतिहासिक विकास अनुभवों का विवरण दिया गया है। इसमें संविधान के दर्शन, दल के प्रत्यक्ष शासन तथा सामाजिक व्यवस्था को परिभाषित किया गया है।

2. लिखित तथा निर्मित—नया संविधान, अन्य आधुनिक राज्यों के संविधानों की तरह लिखित है। इसका निर्माण विशेष रूप से नियुक्त की गयी एक समिति तथा जनवादी कांग्रेस ने किया है, अतः इसे लिखित होने के साथ-साथ निर्मित संविधान (Enacted Constitution) भी कह सकते हैं। संविधान के प्रथम अध्याय में सामान्य सिद्धान्तों (General Principles) का वर्णन मिलता है। दूसरा अध्याय नागरिकों के मौलिक अधिकारों तथा कर्तव्यों (The Fundamental Rights and Duties of Citizens) का वर्णन करता है। तीसरा अध्याय 'राज्य संरचना' (Structure of the State) अर्थात् सरकार के विधायी, कार्यकारी और न्यायिक अंगों पर प्रकाश डालता है। चौथा अध्याय राष्ट्रीय ध्वज (National Flag), राष्ट्रीय गान (National Anthem), राष्ट्रीय चिह्न (National Emblem) तथा राजधानी (The Capital of China) का ब्यौरा प्रस्तुत करता है।

3. पारिभाषिक दृष्टि से कठोर, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से लचीला संविधान—चीन के संविधान को पारिभाषिक दृष्टि से तो कठोर संविधान ही कहना होगा। संविधान में संशोधन यद्यपि उसी राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा किया जा सकता है, जो चीन के लिए सामान्य कानूनों का निर्माण करती है, लेकिन सामान्य कानूनों के निर्माण और संविधान में संशोधन की प्रक्रिया अलग-अलग है। राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस सामान्य कानूनों का निर्माण साधारण बहुमत से करती है, लेकिन संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख अनुच्छेद 64 में किया गया है। संविधान में संशोधन का प्रस्ताव राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति द्वारा या राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के 1/5 सदस्यों द्वारा रखा जाना चाहिए तथा यह प्रस्ताव राष्ट्रीय कांग्रेस के कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृत होना चाहिए।³

1 Second, the four cardinal principles of adhering to the socialist road to the people's democratic dictatorship to the leadership of the Communist Party and to Marxism-Leninism and Maozedong thought have been incorporated into the constitution. These provide a guarantee that our Socialist Constitution will advance along the correct road.
—Beijing Review, Dec. 13, 1982.

2 Third, it stresses building a spiritual civilization in the course of building a Socialist material civilization, thereby completing the contents of Socialist Construction.
—Beijing Review, December 13, 1982, p. 3.

3 "Amendments to the constitution are to be proposed by the Standing Committee of the National People's Congress or by more than one-fifth of the deputies to the National People's Congress and adopted by a majority vote of more than two-thirds of all the deputies to the Congress."
—Article 64.

पारिभाषिक दृष्टि से कठोर होते हुए भी व्यवहार में इसे इस दृष्टि से लचीला संविधान कहा जा सकता है कि अकेली राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस ही संविधान में संशोधन कर सकती है और एक दलीय व्यवस्था होने के कारण दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृति बहुत सरल होती है।

4. जनवादी लोकतान्त्रिक तानाशाही—जहां 1978 के संविधान में कहा गया था कि 'जनवादी चीन सर्वहारा वर्ग की तानाशाही वाला एक समाजवादी राज्य है' (Dictatorship of the Proletariat) वहां 1982 के नये संविधान के प्रथम अनुच्छेद में यह घोषणा की गयी है—“जनवादी चीन जनवादी लोकतान्त्रिक तानाशाही वाला एक समाजवादी राज्य है, जिसका नेतृत्व श्रमिक वर्ग के हाथों में है और जहां श्रमिकों तथा किसानों के बीच अटूट मैत्री का सम्बन्ध विद्यमान है।”¹ जनवादी लोकतान्त्रिक तानाशाही से अभिप्राय है—नागरिकों को राजकीय मामलों में हाथ बंटाने का पूरा अधिकार हासिल है। हर स्तर पर जनसभाओं (People's Congress) यानी विधानमण्डलों का गठन किया गया है और उनमें ज्यादातर किसान, मजदूर और साधारण वर्गों के लोग ही सदस्य हैं, देश की आर्थिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में जनता की रुचि बहुत बढ़ गयी है, तथा लोगों को यह अधिकार हासिल है कि वे सरकार के अंगों और सरकारी कर्मचारियों के कार्यों पर निगरानी रखें। 'लोकतान्त्रिक तानाशाही' में बहुसंख्यक किसानों व मजदूरों का अल्पसंख्यक जमींदारों और प्रतिक्रियावादी पूंजीपतियों पर नियन्त्रण होता है। इस दृष्टि से यह कहा जाता है कि 'मजदूरों की तानाशाही' जमींदारों या पूंजीपतियों की तानाशाही से कहीं ज्यादा अच्छी है।

5. जनवादी गणतन्त्र—नये संविधान के अनुच्छेद 2 के अनुसार चीन के जनवादी गणतन्त्र में सम्पूर्ण सत्ता जनता में निहित है।² जनता इस शक्ति का प्रयोग राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस तथा स्थानीय जन कांग्रेसों के माध्यम से करती है। चीन में सभी स्तरों पर जन कांग्रेस हैं। राज्य-प्रशासन का संचालन जनता स्वयं करती है तथा आर्थिक, सांस्कृतिक व सामाजिक गतिविधियों का संचालन भी कानून के अन्तर्गत जनता स्वयं करती है।

चीन का नया संविधान भी 'लोकतन्त्र' और 'केन्द्रवाद' की दुहाई देता है। चीनी नेताओं के अनुसार लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद का सिद्धान्त चीनी शासन पद्धति का मार्गदर्शक सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य है 'लोकतन्त्र के आधार पर केन्द्रीकरण और केन्द्रित पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत जनतन्त्र'।³ इसके अनुसार, चीन में शासन के विभिन्न स्तर हैं और प्रत्येक स्तर पर जनता द्वारा निर्वाचित कांग्रेस है। मन्त्रिमण्डल तथा उच्चतम जन न्यायालय 'राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस' या उसकी स्थायी समिति की अधीनता में कार्य करते हैं। प्रान्तों, काउण्टियों, जिलों, नगरों तथा कम्प्यूनों में भी जनसभाओं का गठन किया गया है। ये सभाएं एक प्रकार से विधान सभा का ही लघु रूप हैं। नागरिकों को भाषण, अभिव्यक्ति, शिक्षा, रोजगार और विश्राम के अधिकार उपलब्ध हैं, उन्हें सरकारी क्रिया-कलापों की आलोचना करने तथा सुझाव देने का अधिकार है।⁴

1 "The People's Republic of China is a Socialist state under the People's dictatorship led by the working class and based on the alliance of workers and peasants."

—Article 1.

2 "All power in the People's Republic of China belong to the people." —Article 2.

3 "The Political system of China is at once democratic and centralized, that is, centralized on the basis of democracy and democratic under centralized guidance."

4 Article 41. —Mao

इन सभी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं के बावजूद केन्द्रवाद का तकाजा है कि हर स्तर के पदाधिकारी अपने से उच्च अधिकारियों के आदेशों के अनुसार कार्य करें। सभी शासन संरचनाएं केन्द्रीय सरकार के अधीन हैं और उन्हें साम्यवादी पार्टी के कठोर नियन्त्रण में कार्य करना पड़ता है।¹

6. **बहुराष्ट्रीय राज्य**—चीन बहुराष्ट्रीयताओं वाला राज्य है, जिसमें 56 राष्ट्रीयताएं निवास करती हैं। इनमें हान राष्ट्रीयता से जुड़े हुए व्यक्तियों की संख्या सबसे अधिक है। समस्त जनसंख्या के 91.9 प्रतिशत व्यक्ति हान राष्ट्रीयता से जुड़े हुए हैं। यह दुनिया की सबसे बड़ी राष्ट्रीयता भी है। अन्य 55 राष्ट्रीयताओं की जनसंख्या पूरे देश की जनसंख्या की तुलना में बहुत कम है, अतः इन्हें अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताएं कहा जाता है। इन अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की जनसंख्या में भी बहुत अधिक विभिन्नताएं हैं। इनमें सबसे ज्यादा जनसंख्या लगभग एक करोड़ पचास लाख च्याङ जाति की और सबसे कम लगभग 2,000 हेचन जाति की है। चीन में इन राष्ट्रीयताओं को भाषा, लिपि और संस्कृति आदि के प्रसंग में पर्याप्त स्वतन्त्रताएं प्राप्त हैं।

7. **लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद**—पूर्व सोवियत संघ के संविधान की भांति ही चीन के इस संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता 'लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद' है। संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार, 'चीन के सभी शासकीय अंग लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद के सिद्धांत को लागू करेंगे'।² लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद का यह सिद्धान्त साम्यवादी व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों और माओ के दर्शन पर आधारित है। चीनी नेताओं के अनुसार, "चीन की राजनीतिक व्यवस्था एक ही साथ लोकतान्त्रिक भी है और केन्द्रवादी भी। यह लोकतन्त्र के आधार पर केन्द्रवादी है और केन्द्रवादी निर्देशन के अन्तर्गत लोकतान्त्रिक है।"³

लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद का तात्पर्य यह है कि लोकतंत्र और केन्द्रवाद की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच समन्वय स्थापित किया गया है। इसमें लोकतान्त्रिक तत्व यह है कि समस्त सत्ता जनता में निहित है और नागरिकों को शासन कार्य में भाग लेने का समुचित अवसर प्रदान किया जाता है। केन्द्रवादी तत्व यह है कि शासन या दल का प्रत्येक अंग अपने उच्च अंग के अधीन है। निम्न स्तर के अंग को उसी सीमा तक स्वतन्त्रता है जिस सीमा तक उच्च अंग उस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता। प्रत्येक निम्न अंग के लिए अपने उच्च अंग की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य है। अतः अन्ततोगत्वा समस्त राजशक्ति एक केन्द्र बिन्दु में निहित हो जाती है।

साम्यवादी नेता इस लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद के बहुत अधिक प्रशंसक हैं, लेकिन आलोचकों का कहना है, "इस लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद में लोकतंत्र का तो केवल नाम है और व्यवहार में केन्द्रवाद की ही प्राथमिक महत्ता है।"

8. **एकात्मक शासन प्रणाली तथा प्रादेशिक इकाइयां**—चीन में शुरू से ही एकात्मक शासन प्रणाली विद्यमान रही है। नये संविधान द्वारा भी एकात्मक शासन प्रणाली को ही

1 Preamble of the New Constitution, p. 5.

2 "The state organs of the people's Republic of China apply the principle of democratic centralism."
—Article 3.

3 "The political system of China is at once democratic and centralized; that is centralised on the basis of democracy and democratic under centralized guidance"
—Mao.

मजबूत किया गया है।¹ यद्यपि शासन एक ही स्थान से संचालित होता है व शक्तियां एक ही इकाई में निहित हैं जैसा कि एकात्मक संविधानों में होता है लेकिन चीन एक बहुत ही विशाल आकार और जनसंख्या वाला देश है, इसलिए शासन की सुविधा के लिए 4 प्रकार की इकाइयों की व्यवस्था की गयी है :

- (i) प्रान्त, स्वायत्तशासी प्रदेश व केन्द्र के आधीन नगर निगम।
- (ii) प्रान्तों और स्वायत्तशासी प्रदेशों को स्वायत्तशासी जनपदों, जिलों, स्वायत्तशासी जिलों और नगरों में बांटा गया है।
- (iii) जिलों और स्वायत्तशासी जिलों को जनता के कम्यूनों और कस्बों में बांटा गया है।
- (iv) स्वायत्तशासी प्रदेश, स्वायत्तशासी जनपद और स्वायत्तशासी जिले अल्पसंख्यक जातियों के राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार की रक्षा के लिए बनाये गये हैं।²

9. नागरिकों के मौलिक अधिकार तथा कर्तव्य—नये संविधान के अध्याय 2 में अनुच्छेद; 33-56 तक नागरिकों के मौलिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। इन अधिकारों को चार भागों में बांटा जा सकता है :

- (i) आर्थिक-अधिकार—नागरिकों को बहुत-से आर्थिक अधिकार दिये गये हैं; जैसे—काम का अधिकार, विश्राम का अधिकार, बुढ़ापे, बीमारी और अशक्तता की स्थिति में यानि अपाहिज होने पर आर्थिक सहायता पाने का अधिकार।
- (ii) राजनीतिक अधिकार—नागरिकों को अनेक राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं जैसे—18 वर्ष या उससे ऊपर की आयु के सभी स्त्री-पुरुषों को वोट देने का अधिकार प्राप्त है, नागरिकों को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वे सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें दर्ज कर सकें, संविधान इस बात की स्वतन्त्रता देता है कि नागरिक अपने अधिकारों के हनन के मामलों को उचित अधिकारियों तक पहुंचायें।
- (iii) सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार—नागरिकों को अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार दिये गये हैं। जैसे—शिक्षा का अधिकार तथा विज्ञान, साहित्य, कला व संस्कृति के क्षेत्र में अनुसन्धान व सृजन की स्वतन्त्रता।
- (iv) व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएं—कई व्यक्तिगत स्वतन्त्रताएं भी दी गयी हैं; जैसे भाषण, अभिव्यक्ति, सभा व प्रदर्शन आदि की स्वतन्त्रता, हड़ताल का अधिकार, धर्म-पालन की स्वतन्त्रता, आदि।

मार्च, 2004 में 10वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस ने संविधान में संशोधन करते हुए अनुच्छेद 33(3) में मानवाधिकारों को मूल अधिकार में सम्मिलित किया।

संविधान में नागरिकों के अनेक कर्तव्यों का भी वर्णन किया गया है। नागरिकों का यह कर्तव्य है कि संविधान व कानूनों का पालन करें, सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करें,

1 The People's Republic of China is a Unitary multi-national state.

2 The administrative division of the People's Republic of China is as follows:

- (i) The country is divided into provinces, autonomous regions and municipalities directly under the central government;
- (ii) Provinces and autonomous regions are divided into autonomous prefectures, counties, autonomous counties and cities;
- (iii) Counties and autonomous counties are divided into townships, nationality townships and towns.

मातृभूमि की रक्षा करें, सेना में भर्ती होने के लिए सदैव तैयार रहें, करें का नियमानुसार भुगतान करें तथा आक्रमणों का प्रतिरोध करें। संक्षेप में, अन्य पिछले संविधानों की तुलना में नागरिकों के अधिकार व कर्तव्य काफी विशद् हैं।

10. समाजवादी अर्थव्यवस्था—नये संविधान में चीन की अर्थव्यवस्था की भी चर्चा की गयी है। चीन में दो प्रकार से उत्पादन के साधनों का प्रबन्ध किया जाता है। सम्पूर्ण जनता द्वारा समाजवादी स्वामित्व और श्रमजीवी जनता द्वारा समाजवादी सामूहिक स्वामित्व। राज्य कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में मजदूरों और व्यवसायियों को कानून की परिधि के अन्तर्गत उद्यम की आजादी देता है, किन्तु व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण वर्जित है।¹ संविधान के अनुसार अर्थव्यवस्था का समाजवादी राजकीय क्षेत्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा विस्तृत है। खनिज पदार्थ, उद्योग, व्यापार, वन-सम्पदा, यातायात आदि समाजवादी राजकीय स्वामित्व और प्रबन्ध में संचालित होते हैं। राज्य भूमि का आवश्यकतानुसार राष्ट्रीयकरण कर सकता है।² संविधान के अनुच्छेद 8 के अनुसार अर्थव्यवस्था का ग्रामीण क्षेत्र श्रम-जीवी कृषकों के सामूहिक स्वामित्व में है। ग्रामीण कम्यून इसका उदाहरण है।³ अनुच्छेद 12 के अनुसार समाजवादी सम्पत्ति की चोरी, समाजवादी योजनाओं और अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुंचाना आदि कार्यों को दण्डनीय घोषित किया गया है।⁴

चीन के संविधान में समाजवादी अर्थव्यवस्था की बात कही गई है; लेकिन बीसवीं सदी के इस अन्तिम दशक में चीन में 'समाजवादी अर्थव्यवस्था' नहीं, वरन् मिश्रित अर्थव्यवस्था ही है। वर्तमान में चीन की राजनीतिक व्यवस्था का लक्ष्य शक्ति, आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण है तथा इस उद्देश्य से बाजार अर्थव्यवस्था के तत्वों को अपना लिया गया है। अक्टूबर 1992 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की जो 14वीं कांग्रेस आयोजित हुई, उसका समापन 'साम्यवादी शासन को बनाये रखने के लिए पूंजीवादी व्यवहार की नीति' को स्वीकार करने के साथ हुआ था।

किन्तु उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण (L.P.G.) के प्रभाव से अब चीन भी प्रभावित होने से बच नहीं पाया है। अब उसने भी निजी सम्पत्ति के विचार को अपनाया है। फलस्वरूप मार्च, 2004 में संविधान के अनुच्छेद 13 में संशोधन कर यह जोड़ा गया कि राज्य नागरिकों के विधिक रूप से अर्जित आय, बचतों, मकानों तथा अन्य विधिक सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा करेगा तथा राज्य नागरिकों के उत्तराधिकार में प्राप्त निजी सम्पत्ति के अधिकार की विधिपूर्वक रक्षा करेगा।⁵

11. राजनीतिक दलों के गठन की स्वतन्त्रता, लेकिन वस्तुतः एक-दलीय प्रणाली—सैद्धान्तिक दृष्टि से चीन में राजनीतिक दलों के गठन की स्वतन्त्रता है और चीन में साम्यवादी दल के अतिरिक्त 8 अन्य राजनीतिक दलों का अस्तित्व है। लेकिन चीन का संविधान इन सभी राजनीतिक दलों पर साम्यवादी दल को प्रमुखता और नेतृत्व की स्थिति प्रदान करता है। इस

1 अनुच्छेद 6

2 अनुच्छेद 9

3 अनुच्छेद 8

4 अनुच्छेद 12

5 अनुच्छेद 13 (*The Hindustan Times*; 15 March, 2004)

दृष्टि से प्रतियोगी राजनीति का अभाव है और एकदलीय प्रणाली है। नये संविधान की प्रस्तावना में साम्यवादी दल के महत्व और भूमिका की सराहना की गयी है। संविधान से स्पष्ट होता है कि 'चीन की समग्र जनता के नेतृत्व की धुरी साम्यवादी दल है।' संविधान की प्रस्तावना में ही लिखा गया है कि पिछले तीस वर्षों से सभी जातियों के लोगों ने साम्यवादी दल के नेतृत्व में अपनी विजय यात्रा जारी रखी है व बड़ी सफलताएं अर्जित की हैं।¹ अक्टूबर 1992 में आयोजित 14वीं पार्टी कांग्रेस में पुनः स्पष्ट कर दिया गया कि चीन पाश्चात्य ढंग की बहुदलीय व्यवस्था को कभी नहीं अपनायेगा।² इस प्रसंग में 2004 ई. तक कोई अन्तर नहीं आया है।

12. केन्द्रीय सैनिक आयोग—नये संविधान में एक केन्द्रीय सैनिक आयोग (The Central Military Commission) की व्यवस्था की गयी है।³ यह सर्वथा नयी और अनुपम संस्था है। चीन के पूर्ववर्ती संविधानों में इस प्रकार की कोई संस्था नहीं थी। देश की सेना को निर्देश यही आयोग देगा। इस आयोग में सभापति, उपसभापति तथा सदस्य होंगे। आयोग के समस्त दायित्वों की जिम्मेदारी सभापति पर होगी।⁴ सैनिक आयोग के सभापति (Chairman) जनवादी राष्ट्रीय कांग्रेस तथा उसकी स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी रहेंगे।⁵

चीन के संविधान के मसविदे में जो परिवर्तन किये गये, उनसे यह संकेत मिलता था कि चीन के केन्द्रीय सैन्य आयोग का अध्यक्ष, कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव या चीन के राज्याध्यक्ष की तुलना में अधिक शक्तिशाली होगा; लेकिन चीन ने समस्या का हल इन प्रमुख पदों के एकीकरण में ढूंढा है। मार्च, 1993 से लेकर अक्टूबर, 2002 ई. तक इन तीनों ही पदों पर जियांग जेमिन आसीन थे और अब सितम्बर 2004 ई. से इन तीनों ही पदों पर हू जिन्ताओ आसीन हैं।

13. राष्ट्रपति पद की पुनर्स्थापना—नये संविधान में राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति पद की पुनर्स्थापना की गयी है, जबकि 1978 के संविधान में इन पदों को समाप्त कर दिया गया था। इनका निर्वाचन जनवादी राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा किया जायेगा। राष्ट्राध्यक्ष द्वारा किये जाने वाले समस्त औपचारिक कार्य जैसे आदेश जारी करना, प्रधानमंत्री की नियुक्ति, ऑडीटर जनरल की नियुक्ति, विदेशी राजदूतों से प्रमाण-पत्र लेना, राष्ट्रपति को करने होते हैं। इनका कार्यकाल जनवादी कांग्रेस के कार्यकाल की तरह 5 वर्ष होगा।

नवीन संविधान के अन्तर्गत सेना, पार्टी और नागरिक शासन के बीच सत्ता के लिए प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हो सकती थी। इस स्थिति को दूर करने के लिए चीन में एक ही व्यक्ति को तीनों प्रमुख पदों पर आसीन करने का मार्ग अपना लिया गया है। साम्यवादी दल की इस कांग्रेस से चीन की समस्त राजनीतिक व्यवस्था में जियांग जेमिन की स्थिति और मजबूत हुई है।

1 "The victory in China's new Democratic revolution and the success in its socialist cause have been achieved by the Chinese people of all ethnic groups, under the leadership of the Communist Party of China."

2 *The Hindustan Times*; 19 October, 1992.

3 Article 93.

4 "The Chairman of the Central Military Commission has over all responsibility for the Commission."

5 "The Chairman of the Central Military Commission is responsible to the National People's Congress and its Standing Committee."

—Article 93.

—Article 94

14. विदेश नीति के सिद्धान्तों का उल्लेख—नये संविधान की प्रस्तावना में चीन की विदेश नीति का वर्णन मिलता है। विदेश नीति के सम्बन्ध में कहा गया है कि (i) चीन का भविष्य समस्त दुनिया से सम्बद्ध है, (ii) चीन 'पंचशील' के आदर्श का पालन करेगा, वह दूसरे देशों की प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान करता है, वह शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करता है। (iii) चीन साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद का विरोध करता है और विकासशील देशों के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलनों का समर्थन करता है। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक से चीन कुछ सीमा तक तो निश्चित रूप से शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की दिशा में आगे बढ़ रहा है। चीन के राष्ट्रीय हितों की रक्षा भी शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति को अपनाने पर ही सम्भव है।

15. न्यायपालिका की आधीन स्थिति—जनवादी चीन में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, सर्वोच्चता और निष्पक्षता जैसे सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया गया है। वहां न्यायपालिका प्रशासन का एक अधीनस्थ अंग है। न्यायपालिका को संविधान की व्याख्या करने, संविधान विरोधी कानूनों को रद्द करने तथा सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करने का भी अधिकार नहीं है। सर्वोच्च जनवादी न्यायालय को राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस (संसद) के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया है। प्रोक्यूरेटर्स की व्यवस्था तथा पिरामिड के आकार का केन्द्रीकृत न्यायिक संगठन इस बात को दर्शाते हैं कि चीनी न्याय व्यवस्था में उच्च मात्रा का केन्द्रीकरण है और न्यायाधीशों को स्वतन्त्रतापूर्वक निष्पक्ष होकर कार्य करने का अधिकार नहीं है।

साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संविधान में शासन व्यवस्था की जो रूपरेखा दी जाती है, व्यवहार में उसका महत्व नहीं होता। चीन में भी ऐसा ही है। संविधान के द्वारा इस प्रकार की समस्त संस्थागत व्यवस्था की गई है; व्यवहार के अन्तर्गत आज चीन की समस्त राज व्यवस्था में एक व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता है और वह व्यक्ति है—हू जिन ताओ। हू जिन ताओ चीन के अध्यक्ष (राष्ट्रपति) और चीन के साम्यवादी दल के महासचिव हैं तथा वे ही 'केन्द्रीय सैनिक आयोग' के अध्यक्ष भी हैं। हू सर्वेसर्वा हैं तथा उन्हें 'आज के विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति'¹ कहा जा सकता है। चीन की राजव्यवस्था का यह 'हू जिन ताओ' युग है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. चीन के गणराज्य के नये संविधान (1982) की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. चीन के वर्तमान संविधान की पृष्ठभूमि और वैचारिक आधार का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. चीन की संवैधानिक पद्धति के अध्ययन का महत्व बताइए।
2. चीन के संवैधानिक विकास की संक्षिप्त रूपरेखा बताइए।
3. 1982 के संविधान की पृष्ठभूमि बतलाइए।

¹ 'He is the world's top gun'—*The Times of India*; September 26, 2004; p. 7.

4. चीन के नए संविधान का वैचारिक आधार स्पष्ट कीजिए।
5. चीन के संविधान की दो विशेषताएं लिखित और निर्मित संविधान तथा 'पारिभाषिक दृष्टि से कठोर', लेकिन व्यवहार की दृष्टि से लचीला संविधान स्पष्ट कीजिए।
6. चीन के संविधान के सन्दर्भ में 'लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद' को स्पष्ट कीजिए।
7. 'चीन में एक दलीय व्यवस्था है' स्पष्ट कीजिए।
8. चीन के नए संविधान का संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. चीन की साम्यवादी क्रान्ति में सबसे प्रमुख भूमिका निभाई :
 (अ) च्यांग काई शेक (ब) माओत्से तुंग
 (स) चाऊ एन लाई (द) ल्यू शाओची
2. चीन के वर्तमान संविधान में है :
 (अ) 138 अनुच्छेद, जो चार अध्यायों में विभाजित हैं।
 (ब) 124 अनुच्छेद, जो चार अध्यायों में विभाजित हैं।
 (स) 144 अनुच्छेद, जो चार अध्यायों में विभाजित हैं।
 (द) 158 अनुच्छेद, जो चार अध्यायों में विभाजित हैं।
3. चीन के संविधान में संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है :
 (अ) अनुच्छेद 68 में (ब) अनुच्छेद 64 में
 (स) अनुच्छेद 72 में (द) अनुच्छेद 74 में
4. चीन में शासन है :
 (अ) संघात्मक शासन (ब) एकात्मक शासन
 (स) परिसंघात्मक शासन (द) इनमें से कोई नहीं
5. जनवादी चीन में किस सिद्धान्त को मान्यता दी गई है :
 (अ) शक्ति विभाजन (ब) विधि का शासन
 (स) लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद (द) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र
6. साम्यवादी चीन में पहला संविधान कब लागू किया :
 (अ) 1975 ई. में (ब) 1954 ई. में
 (स) 1978 ई. में (द) 1982 ई. में
7. चीन का वर्तमान संविधान कब लागू किया गया :
 (अ) 1975 ई. में (ब) 1978 ई. में
 (स) 1982 ई. में (द) 1989 ई. में

[उत्तर—1. (ब), 2. (अ), 3. (ब), 4. (ब), 5. (स), 6. (ब), 7. (स)]

प्रश्न 8. चीन के संविधान में संशोधन की प्रक्रिया क्या है ?

[उत्तर—अनुच्छेद 64 के अनुसार संशोधन का प्रस्ताव राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति द्वारा या राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के $\frac{1}{5}$ सदस्यों द्वारा रखा जाना चाहिए तथा यह प्रस्ताव राष्ट्रीय

कांग्रेस के कुल सदस्यों के $\frac{2}{3}$ बहुमत से स्वीकृत होना चाहिए।]

प्रश्न 9. चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना कब हुई ?

[उत्तर—1 अक्टूबर, 1949 ई. को]

प्रश्न 10. चीन के संविधान के प्रथम अनुच्छेद में चीन को किस प्रकार का राज्य घोषित किया गया है ?

[उत्तर—अनुच्छेद 1 “जनवादी चीन जनवादी लोकतान्त्रिक तानाशाही वाला एक समाजवाद राज्य है जिसका नेतृत्व श्रमिक वर्ग के हाथों में है।”]

प्रश्न 11. चीन का वर्तमान संविधान कब स्वीकृत किया गया ?

[उत्तर—4 दिसम्बर, 1982 ई. को]

प्रश्न 12. चीन के संविधान की तीन विशेषताएं बतलाइए।

[उत्तर—(i) जनवादी लोकतान्त्रिक तानाशाही, (ii) बहु-राष्ट्रीय राज्य, (iii) एकात्मक शासन।]

प्रश्न 13. चीन के वर्तमान संविधान (1982 में लागू किये गये संविधान) में अब तक कितनी बार संशोधन किया गया है ?

[उत्तर—(i) 7वीं राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा 1988 में

(ii) 8वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा 1993 में

(iii) 9वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा 1999 में

(iv) 10वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा मार्च 2004 ई. में।

2

मौलिक अधिकार तथा कर्तव्य

(FUNDAMENTAL RIGHTS AND DUTIES)

अधिकार वे सामाजिक परिस्थितियां तथा अवसर हैं जो मनुष्यों के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास के लिए आवश्यक हैं। अधिकार उन सुविधाओं को कहते हैं जिनका उपयोग कर मनुष्य अपने जीवन को सुखी और सार्थक बना सकते हैं। किसी समाज की उन्नति का मापदण्ड उस समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को समझा जाता है। जिस समाज में नागरिक के जितने अधिक अधिकार स्वीकार कर लिए जाते हैं, वह समाज उतना ही अधिक उन्नतिशील माना जाता है।

मार्क्स के अनुसार किसी समाज में अधिकारों का स्वरूप और चरित्र उस समाज की आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है। मार्क्सवाद के अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में अव्यावहारिक है। मार्क्सवादी व साम्यवादी विचारधाराएं अधिकारों के आर्थिक आधार पर अधिक बल देती हैं। उनके अनुसार स्वतन्त्रता पूर्ण आर्थिक व भौतिक सुरक्षा के अन्तर्गत ही सम्भव है तथा इस आर्थिक लक्ष्य की उपलब्धि तथा सुरक्षा साम्यवादी राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। साम्यवाद के अनुसार अधिकार राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के दावे नहीं हैं बल्कि वे समाजवादी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के प्रतिफल हैं। उन्हें व्यक्ति के हित के लिए नहीं, अपितु समाजवाद की स्थापना तथा दृढ़ता के लिए व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है।

जनवादी चीन के 1954 के संविधान में पूरा एक अध्याय—तृतीय अध्याय मौलिक अधिकारों व कर्तव्यों के लिए दिया गया था, जिसमें 19 अनुच्छेद (अनुच्छेद 85 से 103 तक) सम्मिलित थे। जहां तक नागरिक अधिकारों का प्रश्न है, 1975 के संविधान ने बहुत-से पुराने अधिकार बरकरार रखे—जैसे भाषण का अधिकार, पत्र-व्यवहार की गोपनीयता, प्रेस, सभा, सम्मेलन, जुलूस और प्रदर्शन की आजादी तथा धार्मिक विश्वासों की स्वतन्त्रता। इन अधिकारों के अलावा अधिकारों की सूची में 4 नये अधिकार शामिल किये गये थे—(1) हड़ताल करने का अधिकार, (2) जन सेना संगठित करने का अधिकार, (3) नास्तिकता का प्रचार करने का अधिकार, तथा (4) सार्वजनिक विषयों पर खुले रूप से वाद-विवाद करने और चित्र पोस्टर निकालने का अधिकार। यह उल्लेखनीय है कि इन चारों अधिकारों पर चीन की 'सांस्कृतिक क्रांति' (Cultural Revolution), 1965 से 1969 का प्रभाव देखने को मिलता

है। अधिकारों की सूची में से दो महत्वपूर्ण अधिकार निकाल दिये गये—(1) कला व साहित्य के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से सृजन करने की शक्ति, (2) चीन के किसी प्रदेश में रहने या बस जाने का अधिकार। ये परिवर्तन भी सांस्कृतिक क्रान्ति से ही सम्बन्धित हैं।

1978 के संविधान के तीसरे अध्याय में अनुच्छेद 44 से 59 तक नागरिकों के मूलभूत अधिकारों व कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इन अधिकारों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) आर्थिक अधिकार, जैसे काम का अधिकार, विश्राम का अधिकार, आदि। (2) सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार, जैसे शिक्षा का अधिकार, अनुसन्धान और सृजन करने की स्वतन्त्रता, आदि। (3) राजनीतिक अधिकार, जैसे वोट देने का अधिकार, अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें दर्ज कराने का अधिकार, आदि। (4) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जैसे भाषण, अभिव्यक्ति, हड़ताल का अधिकार, आदि। इसके अतिरिक्त नागरिकों के कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है, जैसे सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना, मातृ-भूमि की रक्षा, सेना में भर्ती होना, संविधान तथा कानून का पालन करना, आदि।

वर्तमान संविधान में मौलिक अधिकार

(THE FUNDAMENTAL RIGHTS IN THE PRESENT CONSTITUTION)

नया संविधान यह मान कर चलता है कि विकसित समाजवाद की परिस्थितियों में राज्य व समाज एक-दूसरे के और अधिक सन्निकट आते हैं। इससे सार्वजनिक और व्यक्तिगत हितों में अधिकाधिक सुसंगत मेल स्थापित हो जाता है। समाजवादी समाज में सत्ता का उद्देश्य कम्युनिज्म के निर्माण के कार्यभारों को शीघ्रताशीघ्र पूरा करना, जनता के जीवन-स्तर में निरन्तर उत्थान करना, चीनी लोगों की बढ़ती भौतिक और आत्मिक आवश्यकताओं की तुष्टि सुनिश्चित करना है। इस प्रकार राज्य सभी मानव अधिकारों की, व्यक्ति के मुक्त चहुंमुखी विकास की गारण्टी प्रदान करता है, इसके लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, विचारधारालमक, आत्मिक तथा सामाजिक मनोवैज्ञानिक सभी पूर्वाधार सुनिश्चित करना है।

1982 के संविधान में व्यक्ति की स्थिति सम्बन्धी प्रस्थापनाओं का विकास 3 मुख्य दिशाओं में हुआ है। सर्वप्रथम 1954, 1975 तथा 1978 के संविधानों में निर्धारित अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को काफी व्यापक बनाया गया है। दूसरे, संविधान में बहुत-से नये अधिकार और स्वतन्त्रताएं शामिल हैं। तीसरे, नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं तथा दायित्वों के बीच परस्पर सम्बन्ध अधिक सुदृढ़ किया गया है।

नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को अधिक व्यापक करने, उनके जीवन को समृद्ध बनाने के साथ-साथ नये संविधान में व्यक्ति की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक गारण्टियां सुदृढ़ की गयी हैं। कानूनी गारण्टियों की भूमिका काफी बढ़ गयी है।

वर्तमान संविधान के अध्याय 2 (अनुच्छेद 33 से 56) में नागरिक अधिकारों एवं कर्तव्यों का उल्लेख है। जनवादी चीन के 1982 के संविधान में दिये गये अधिकार इस प्रकार हैं :

(1) कानून के समक्ष समता तथा मानवाधिकार—अनुच्छेद 33 के अनुसार चीन के सभी नागरिक कानून के समक्ष समान हैं।¹ इस अधिकार का अर्थ यह है कि नागरिकों की स्थिति उनकी सम्पत्ति के आकार, वंश, सामाजिक स्थिति, नस्ल या जाति, स्त्री, पुरुष, शिक्षा, भाषा,

¹ All citizens of the People's Republic of China are equal before the law.

धर्म के प्रति रुख, पेशे के प्रकार या स्वरूप, निवास या अन्य बातों पर निर्भर नहीं करती है और इन भेदों के बावजूद सभी नागरिक कानून की दृष्टि में समान हैं।

मार्च, 2004 में, 10वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा अनुच्छेद 33 में संशोधन कर यह भी जोड़ा गया कि 'राज्य मानवाधिकारों का सम्मान करेगा तथा उनके अस्तित्व को बनाए रखेगा।'

(2) चुनाव लड़ने और मत देने का अधिकार—संविधान के अनुच्छेद 34 के अनुसार 18 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को चीन के संविधान के अन्तर्गत मत देने व किसी भी पद के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार प्राप्त है।²

(3) भाषण, पत्राचार, प्रेस आदि की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 35 के अनुसार संविधान ने सभी नागरिकों को भाषण देने और पत्र-व्यवहार करने की स्वतन्त्रता प्रदान की है। इसके अलावा प्रेस की स्वतन्त्रता, संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता, प्रदर्शन व हड़ताल करने की स्वतन्त्रता भी दी गयी है।³

(4) धार्मिक विश्वासों की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 36 के अनुसार चीनी नागरिकों के लिए अन्तःकरण की स्वतन्त्रता अर्थात् धार्मिक विश्वासों की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। राज्य का कोई भी संगठन किसी भी नागरिक को किसी विशेष धर्म को मानने के लिए बाध्य नहीं करेगा और न ही धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव करेगा। किसी भी धर्म को किसी तरह के विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हैं। राज्य सामान्य धार्मिक गतिविधियों को संरक्षण प्रदान करेगा।⁴

(5) व्यक्ति की निरापदता की गारण्टी—1982 के संविधान में नागरिकों को अपने वैयक्तिक हितों की रक्षा हेतु अधिक अधिकार प्रदान किये गये। पूर्ववर्ती संविधान में जिन अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की अभिपुष्टि की गयी थी, उन्हें न केवल पूरी तरह बनाये रखा गया है, बल्कि नयी प्रस्थापनाओं को काफी सम्बर्द्धित भी किया गया है। ये हैं—व्यक्ति की निरापदता की गारण्टी, आवास की अनुल्लंघनीयता, पत्र-व्यवहार की गोपनीयता, अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा अभियुक्त द्वारा न्यायालय में प्रतिवाद का अधिकार। व्यक्ति की संवैधानिक स्थिति में तीन नये अधिकार शामिल किये गये हैं : (i) सम्मान और प्रतिष्ठा का अधिकार, (ii) व्यक्तिगत जीवन की स्वतन्त्रता, (iii) व्यक्तिगत जीवन की तथा विवाह व परिवार की रक्षा का अधिकार। साथ ही वैयक्तिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की गारण्टियाँ सुदृढ़ की गयी हैं।

संविधान में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को न्यायालय के निर्णय या प्रोक्क्यूटोर के वारण्ट के बिना गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। बिना कानूनी अधिकार के किसी भी व्यक्ति को किसी घर में रह रहे व्यक्तियों की इच्छा के बिना उसमें घुसने का अधिकार नहीं है। नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन को, पत्र-व्यवहार, टेलीफोन वार्ता और तार सन्देशों की गोपनीयता को कानून का संरक्षण प्राप्त है। पत्र-व्यवहार की तलाशी 'अपराध जांच-पड़ताल'

1 "The state respects and preserves human rights.

—Article 33

2 All citizens of the People's Republic of China who have reached the age of 18 have the right to vote and stand for election.

—Article 34.

3 Citizens of People's Republic of China enjoy freedom of speech, of the press, of assembly, of association, of procession and of demonstration.

—Article 35.

4 Citizens of the People's Republic of China enjoy freedom of religious belief.....the state protects normal religious activities.

—Article 36.

का मामला है। किसी व्यक्ति पर फौजदारी का मुकदमा दायर हो जाने पर ही अगर अपराध का राज खोलने या अपराधी का पता लगाने के लिए यह आवश्यक हो, तभी यह तलाशी ली जा सकती है, और ऐसी हालत में भी प्रोक्यूरैटर का वारण्ट या अदालत का निर्णय होना अनिवार्य है।

(6) आलोचना का अधिकार—अनुच्छेद 41 के अनुसार चीन में प्रत्येक नागरिक को राजकीय निकायों और सार्वजनिक संगठनों के कार्यों में सुधार लाने का प्रस्ताव पेश करने और उनके काम की कमियों की आलोचना करने का अधिकार है। अधिकांश निधारित समय सीमा के भीतर नागरिकों के प्रस्तावों और अनुरोधों की जांच करने, उनके उत्तर देने और उचित कार्यवाही करने के लिए बाध्य हैं। आलोचनाओं के लिए उत्पीड़न निषिद्ध है।

(7) काम करने या रोजगार पाने का अधिकार—अनुच्छेद 42 के अनुसार चीन के नागरिकों को काम पाने का अधिकार है। साथ ही काम करना नागरिकों का पवित्र कर्तव्य माना गया है। राज्य रोजगार के समुचित अवसर प्रदान करेगा और काम करने की स्थितियों में सुधार करेगा। राज्य नागरिकों के समुचित व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करेगा।

(8) विश्राम और अवकाश का अधिकार—अनुच्छेद 43 के अनुसार चीन के नागरिकों को विश्राम और अवकाश पाने का अधिकार है। राज्य श्रमिकों के काम के घण्टों का निर्धारण करेगा तथा सवैतनिक अवकाश, मनोरंजन आदि की व्यवस्था करेगा।

(9) वृद्धावस्था व शारीरिक अयोग्यता में भरण-पोषण—अनुच्छेद 45 के अनुसार प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह वृद्धावस्था, बीमारी व अपाहिज होने की दशा में अर्थात् काम करने के लिए अयोग्य हो जाने की दशा में राज्य से निर्वाह व्यय प्राप्त करे। राज्य सामाजिक बीमे, मेडीकल तथा स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करेगा ताकि नागरिक इस अधिकार का समुचित प्रयोग कर सकें। अन्धे, गूंगे तथा अपाहिज लोगों के भरण-पोषण की व्यवस्था राज्य करेगा।

(10) शिक्षा पाने का अधिकार—अनुच्छेद 46 के अनुसार, नागरिकों का यह कर्तव्य तथा अधिकार है कि वे शिक्षा प्राप्त करें। सभी प्रकार की शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था की गयी है। राज्य का दायित्व है कि बच्चों और नवयुवकों के नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक विकास का समुचित प्रबन्ध करे।

(11) वैज्ञानिक, तकनीकी और कलात्मक कार्य की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 47 के अनुसार नागरिकों को वैज्ञानिक शोध, साहित्यिक और कलात्मक कार्य की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। यह स्वतन्त्रता वैज्ञानिक शोध के विस्तार, आविष्कारों और नव प्रवर्तकों के प्रोत्साहन तथा साहित्य और कलाओं के विकास द्वारा सुनिश्चित है।

(12) स्त्रियों के अधिकार—अनुच्छेद 48 के अनुसार स्त्रियों को आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, सांस्कृतिक व जीवन के अन्य समस्त क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। वे पूर्ण रूप से व स्वतन्त्र रूप से सभी क्षेत्रों में भाग ले सकती हैं। पुरुषों के समान ही वे काम करने, पारिश्रमिक पाने, विश्राम करने, शिक्षा पाने की अधिकारिणी हैं।

अनुच्छेद 49 सभी नागरिकों को वैवाहिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान करता है। इसके साथ ही संविधान में वैवाहिक जीवन, परिवार, मातृत्व एवं शिशुओं के राज्य द्वारा संरक्षण का प्रावधान है। विशेष बात यह है कि संविधान में स्त्रियों और बच्चों के साथ दुर्व्यवहार की मनाही की गई है।

(13) विदेशों में निवास करने वाले चीनियों के अधिकारों का संरक्षण—अनुच्छेद 50 के अनुसार चीन का जनवादी गणराज्य विदेशों में निवास करने वाले चीनियों के हितों का संरक्षण करता है तथा विदेशों से लौटने वाले चीनियों के कानूनी अधिकारों की गारण्टी करता है।

(14) निजी सम्पत्ति का अधिकार—मार्च, 2004 ई. में संवैधानिक संशोधन के आधार पर चीनी नागरिकों के निजी सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार किया गया और संरक्षण प्रदान किया गया है। अब चीनी नागरिकों के वैधानिक तरीके से अर्जित की गई सम्पत्ति व बौद्धिक सम्पदा जैसी अन्य सम्पत्तियों को संरक्षण प्रदान किया गया है तथा व्यवस्था की गई है कि इसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।

नये संविधान में वर्णित मौलिक कर्तव्य

(FUNDAMENTAL DUTIES IN THE NEW CONSTITUTION)

अधिकार की पहली शर्त है कर्तव्यों के प्रति जागरूकता। चीनी संविधान की विलक्षणता यह है कि अधिकारों के साथ-साथ नागरिक कर्तव्यों का भी निर्धारण संविधान द्वारा किया गया है। ये कर्तव्य इस प्रकार हैं—(1) अनुच्छेद 52 के अनुसार नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे राष्ट्रीय अखण्डता बनाये रखें। (2) अनुच्छेद 53 के अनुसार चीन के नागरिकों का यह दायित्व है कि वे देश के संविधान और कानूनों का पालन करें, नागरिकों से यह अपेक्षा की गयी है की राज्य की गोपनीयता बनाए रखें, सार्वजनिक सम्पत्ति की हिफाजत रखें, श्रमिक अनुशासन को बनाये रखें, सार्वजनिक व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक नैतिकता को मान्यता प्रदान करें। (3) अनुच्छेद 54 के अनुसार मातृभूमि की रक्षा, प्रतिष्ठा और हितों का संरक्षण प्रत्येक नागरिक का पवित्र कर्तव्य है। (4) अनुच्छेद 55 के अनुसार नागरिकों का यह कर्तव्य है कि मातृभूमि पर होने वाले आक्रमणों का प्रतिरोध करें, नागरिक प्रसन्नतापूर्वक सैनिक सेवा में सम्मिलित हों तथा राष्ट्र की प्रतिष्ठा में वृद्धि करें। (5) अनुच्छेद 56 के अनुसार चीन के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वे नियमानुसार करें का भुगतान करें।

इसके अतिरिक्त संविधान के कुछ अनुच्छेदों में अधिकार और कर्तव्य का साथ-साथ उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 42 के अनुसार, काम का अधिकार अधिकार होने के साथ नागरिक का कर्तव्य भी है। इसी प्रकार अनुच्छेद 46 के अनुसार शिक्षा प्राप्त करना अधिकार होने के साथ कर्तव्य भी है। अनुच्छेद 49 के अनुसार, प्रत्येक पति-पत्नी का कर्तव्य है कि वे परिवार नियोजन की स्थिति को अपनायें।

मौलिक अधिकारों का मूल्यांकन

(AN EVALUATION OF FUNDAMENTAL RIGHTS)

नया संविधान पूर्व संविधानों की तुलना में अधिकारों और कर्तव्यों की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। रोजगार के अधिकार को विस्तृत किया गया है, नागरिकों को आलोचना करने का अधिकार प्रदान किया गया है। नये संविधान में मानव अधिकारों से सम्बन्धित धाराओं को काफी सुधारा गया है। नये संविधान में वर्णित अधिकारों व कर्तव्यों को ध्यानपूर्वक देखने से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं :

(1) अधिकारों तथा कर्तव्यों की सूची विस्तृत है।

- (2) आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के साथ-साथ राजनीतिक और नागरिक अधिकारों को सम्मिलित किया गया है।
- (3) सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के अधिकार उपलब्ध कराये गये हैं।

चीन के संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम, आर्थिक और सामाजिक अधिकार तथा द्वितीय, नागरिक स्वतन्त्रताएं एवं राजनीतिक अधिकार। यह तथ्य है कि चीन के नागरिकों को आर्थिक और सामाजिक अधिकार किसी अन्य देश की तुलना में अधिक अंशों में प्राप्त है।

लेकिन नागरिक स्वतन्त्रताओं और राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में आलोचकों का कहना है कि ये 'दिखावा मात्र' (Window dressing) है। संविधान के शब्दों में, चाहे जो भी कहा गया हो, यदि व्यवहार में नागरिक विचार और भाषण की स्वतन्त्रताओं का उपयोग करते हुए सरकार की आलोचना करते हैं, समूह बद्ध होकर सरकार के विरुद्ध कोई प्रदर्शन करते हैं या संगठित रूप में सरकार का विरोध करने की कोई चेष्टा करते हैं तो ऐसे नागरिक या नागरिक समूह को भीषण यातनाएं सहन करनी होती हैं। 'थियनामन चौक पर भीषण नर संहार' (1989) आलोचकों के इस कथन की पुष्टि करता है। 'थियनामन चौक' नर संहार की सबसे भीषण घटना अवश्य है, लेकिन चीन में यह कोई अकेली घटना नहीं है। इसके बाद के वर्षों में भी मानवीय अधिकारों के निरन्तर उल्लंघन की घटनाएं प्रकाश में आयी हैं और ये घटनाएं इस बात की परिचायक हैं कि नागरिक स्वतन्त्रताओं का अस्तित्व केवल कागज पर ही है, व्यवहार में नहीं।

मार्च, 2004 ई. में 10वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस ने संविधान के अनुच्छेद 33 को संशोधित करते हुए कहा है—'राज्य मानवाधिकारों का सम्मान करेगा तथा उनके अस्तित्व को बनाए रखेगा।' संविधान में किए गए इस परिवर्तन से अधिकारों के प्रसंग में वास्तविक स्थिति में कोई सारभूत परिवर्तन नहीं आया है, क्योंकि अधिकारों की क्रियान्विति के लिए कोई संस्थागत व्यवस्था नहीं की गई है।

चीन में साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य किसी दल का गठन नहीं किया जा सकता। एक दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत मत देने और चुनाव लड़ने के अधिकार का कोई अर्थ, और कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। चीन की राजनीतिक व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु तो 'लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद' है और इस 'लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद' में लोकतन्त्र तो हाशिये पर है तथा केन्द्रवाद और असीमित सत्ता को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त है। नागरिक स्वतन्त्रताओं और राजनीतिक अधिकारों का उपभोग एक स्वतंत्र समाज में ही किया जा सकता है, लेकिन चीनी समाज एक स्वतंत्र समाज होने के बजाय एक नियंत्रित समाज है। ऐसी स्थिति में नागरिक स्वतन्त्रताएं और राजनीतिक अधिकार मात्र एक शून्य बनकर रह जाते हैं। इन सबके अतिरिक्त चीन में संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकांश अधिकारों के लिए न्यायालय के संरक्षण की व्यवस्था नहीं है और इसके अभाव में अधिकारों का महत्व निश्चित रूप से कम हो जाता है।

ये तथ्य चीन के वर्तमान संविधान के अधिकार पत्र के महत्व को कम कर देते हैं, किन्तु इसके बावजूद मौलिक अधिकारों की यह व्यवस्था अपने आप में महत्वपूर्ण है, इस

बात से इंकार नहीं किया जा सकता। यह तथ्य है कि चीन ने उदारवादी व्यवस्था और स्वतन्त्र समाज की दिशा में अपनी यात्रा प्रारम्भ कर दी है। यद्यपि अब तक इस दिशा में बहुत थोड़ी दूरी ही तय की जा सकी है, लेकिन यह यात्रा भविष्य के लिए आशाओं को जन्म देती है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जनवादी चीन में नागरिकों के मूल अधिकारों और कर्तव्यों का मूल्यांकन कीजिए।
2. वर्तमान संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये गये अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. चीन में मौलिक अधिकारों का स्वरूप क्या है?
2. कानून के समक्ष समता और व्यक्ति की निरापेक्षा की गारण्टी; ये दो मौलिक अधिकार समझाइए।
3. नवीन संविधान में वर्णित मौलिक कर्तव्य बताइए।
4. मौलिक अधिकारों का मूल्यांकन प्रस्तुत कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. वर्तमान संविधान में नागरिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है :
 (अ) अध्याय 1 (ब) अध्याय 2
 (स) अध्याय 3 (द) अध्याय 4
2. चीन के संविधान द्वारा नागरिकों को प्रथम अधिकार दिया गया है :
 (अ) काम का अधिकार
 (ब) विश्राम तथा अवकाश का अधिकार
 (स) कानून के समक्ष समानता का अधिकार
 (द) शिक्षा पाने का अधिकार
3. जनवादी चीन के संविधान में निम्न में से किसको नागरिक का अधिकार एवं कर्तव्य दोनों माना गया है :
 (अ) परिवार नियोजन (ब) विश्राम
 (स) प्रेस की स्वतन्त्रता (द) शिक्षा प्राप्त करना
4. जनवादी चीन के संविधान में निम्न में से किसको अधिकार एवं कर्तव्य दोनों माना गया है :
 (अ) कर देना (ब) मातृभूमि की रक्षा
 (स) काम करना (द) आलोचना करना
5. जनवादी चीन के संविधान में मताधिकार की आयु है :
 (अ) 18 वर्ष (ब) 20 वर्ष
 (स) 21 वर्ष (द) 25 वर्ष
6. किस देश के संविधान में परिवार नियोजन को व्यवहार में लाना पति-पत्नी का कर्तव्य माना गया है ?
 (अ) ब्रिटेन का संविधान
 (ब) अमेरिका का संविधान
 (स) चीन का संविधान
 (द) स्विट्जरलैण्ड का संविधान

7. किस देश के संविधान में वैवाहिक जीवन, परिवार, मातृत्व एवं शिशु के संरक्षण का दायित्व राज्य का है ?

(अ) अमेरिका का संविधान

(ब) चीन का संविधान

(स) स्विट्जरलैण्ड का संविधान

(द) ब्रिटेन का संविधान

[उत्तर—1. (ब), 2. (अ), 3. (द), 4. (स), 5. (अ), 6. (स), 7. (ब)]

प्रश्न 8. चीन के नागरिकों के तीन मौलिक अधिकार बताइए।

[उत्तर—ये अधिकार हैं—1. विधि के समक्ष समता, 2. चुनाव लड़ने और मत देने का अधिकार, 3. भाषण, पत्राचार व प्रेस आदि की स्वतन्त्रता]

प्रश्न 9. दो ऐसी बातें बताइए, जो चीन के नागरिकों के अधिकार हैं और कर्तव्य भी।

[उत्तर—1. काम का अधिकार, 2. शिक्षा का अधिकार। चीन के नागरिकों के ये अधिकार हैं और कर्तव्य भी।]

प्रश्न 10. नागरिक अधिकारों का उल्लेख किन अनुच्छेदों में किया गया है ?

[उत्तर—अध्याय 2 (अनुच्छेद 33 से 56) कुल 13 मौलिक अधिकार हैं।]

प्रश्न 11. 2004 ई. में किये गये संवैधानिक संशोधन के आधार पर चीन के नागरिकों को कौन-सा मौलिक अधिकार प्रदान किया गया है ?

[उत्तर—निजी सम्पत्ति का अधिकार (10वीं राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा मार्च 2004 ई. में नागरिकों को यह अधिकार प्रदान किया गया)]

3

जनवादी चीन का विधानमण्डल : राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस

(LEGISLATURE OF CHINA : THE NATIONAL
PEOPLE'S CONGRESS)

चीन के नये संविधान में 'विधानमण्डल की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है और चीन के विधानमण्डल को 'राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस' (The National People's Congress) का नाम दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 57 में राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस को राज्य शक्ति का सर्वोच्च अंग घोषित किया गया है।¹ संविधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जनवादी कांग्रेस और उसकी स्थायी समिति राज्य की विधायी शक्ति का प्रयोग करने वाला निकाय हैं।²

जनवादी कांग्रेस : रचना और संगठन

(THE NATIONAL PEOPLE'S CONGRESS : ORGANIZATION)

चीन में एकसदनात्मक विधानमण्डल है। वर्तमान समय के राज्यों में सामान्यतया विधानमण्डल द्विसदनात्मक होते हैं, लेकिन लगभग एक अरब 30 करोड़ जनसंख्या वाले राज्य चीन में एकसदनात्मक विधानमण्डल को ही अपनाया गया है। 1954, 1975 तथा 1978 के संविधान में विधानमण्डल एकसदनात्मक ही था। 1982 के नये संविधान में भी इसी व्यवस्था को बनाये रखा गया है।

संविधान के अनुच्छेद 59 में राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की रचना और संगठन पर प्रकाश डाला गया है। अनुच्छेद 59 के अनुसार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस में निम्न क्षेत्रों के प्रतिनिधि होते हैं :

(i) प्रान्तों के निर्वाचित प्रतिनिधि, (ii) स्वशासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि, (iii) केन्द्र के सीधे अधिकार में आने वाली नगरपालिकाओं के प्रतिनिधि, (iv) सशस्त्र सेनाओं के प्रतिनिधि।

1 "The National People's Congress of the People's Republic of China is the highest organ of state power."
—Article 57.

2 "The National People's Congress and its standing committee exercise the Legislative power of the state."
—Article 58.

(v) मार्च, 2004 में अनुच्छेद 59 में संशोधन कर विशेष प्रशासकीय क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को भी स्थान दिया गया है। प्रतिनिधियों की संख्या का निर्धारण तथा उनके निर्वाचन के लिए अपनाई जाने वाली पद्धति की व्यवस्था कानून द्वारा की जाती है।

राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रतिनिधियों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। चीन में 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्तियों को वयस्क माना गया है।¹ सभी वयस्क नागरिक मताधिकारी हैं और निर्वाचन में भी उम्मीदवार हो सकते हैं, परन्तु शर्त यह है कि वे (i) पागल नहीं होने चाहिए, (ii) न्यायालय से दण्डित न हों, और (iii) साम्राज्यवादी, पूंजीपति तथा सामन्त न रहे हों। राष्ट्रीयता, प्रजाति, काम-धन्धे, कुल धार्मिक विश्वास, शिक्षा, सम्पत्ति या निवास स्थान के आधार पर किसी भी व्यक्ति को मताधिकार या उम्मीदवार होने के अधिकार से वंचित नहीं किया जायेगा।²

जनवादी कांग्रेस के सदस्यों की संख्या का निर्धारण कानून के आधार पर होता है। नये संविधान को स्वीकृत करने वाली कांग्रेस में सदस्यों की उपस्थिति 3,037 थी। इस प्रकार जनवादी कांग्रेस विश्व का सबसे बड़ा विधायी सदन है। जनवादी कांग्रेस के सदस्यों को 'डिप्टी' (Deputy) कहा जाता है। व्यवहार के अन्तर्गत अन्य साम्यवादी देशों की तरह चीन में भी उम्मीदवारों की एक ही सूची रखी जाती है और चुनाव में संघर्ष की स्थिति कभी भी उत्पन्न नहीं होती। राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की सदस्यता के लिए उम्मीदवारों की नामजदगी पर दल के केन्द्रीय अधिकारियों का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। चीन के शासकों के अनुसार, उम्मीदवारों की यह नामजदगी व्यापक और निरन्तर वाद-विवाद के आधार पर होती है और इसे 'लोकतान्त्रिक विचार-विमर्श की प्रक्रिया का परिणाम' समझा जाना चाहिए।

सदस्यों के विशेषाधिकार—संविधान के अनुसार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के सदस्यों को उनके सदस्य बने रहने तक कुछ विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। किसी भी सदस्य को कांग्रेस की पूर्व अनुमति के बिना बन्दी नहीं बनाया जा सकता है और न ही मुकदमा चलाया जा सकता है। यदि कांग्रेस की बैठक न हो तो इस सम्बन्ध में कांग्रेस की स्थायी समिति से अनुमति लेना आवश्यक है।³

कार्यकाल और अधिवेशन—अनुच्छेद 60 के अनुसार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का निर्वाचन 5 वर्ष के लिए होता है।⁴ इसके कार्यकाल की समाप्ति से दो माह पूर्व स्थायी समिति को नयी कांग्रेस के निर्वाचन पूर्ण करा लेने चाहिए। स्थायी समिति के लिए यह आवश्यक है कि वह जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन वर्ष में एक बार अवश्य बुलाये। आवश्यकता पड़ने पर इसका अधिवेशन पहले भी बुलाया जा सकता है और स्थगित भी किया जा सकता है। यदि 1/5 डिप्टी कांग्रेस के अधिवेशन बुलाने का आग्रह करें तो भी इसका अधिवेशन बुलाया जा सकता है।⁵

1 Article 34.

2 Article 34.

3 Article 74.

4 Article 60.

5 Article 61.

जनवादी कांग्रेस : शक्तियां और कार्य

(THE NATIONAL PEOPLE'S CONGRESS : POWERS AND FUNCTIONS)

राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रमुख कार्य और शक्तियां निम्नलिखित हैं :¹

(1) अपने पहले अधिवेशन में जनवादी कांग्रेस अपनी कार्यवाही के संचालन हेतु 'प्रेसीडियम' का चुनाव करती है।²

(2) यह संविधान में संशोधन करती है।

(3) यह संविधान के क्रियान्वयन का निरीक्षण करती है।

(4) यह फौजदारी, दीवानी तथा राज्य के विविध अंगों से सम्बन्धित मूल-भूत कानूनों का निर्माण व संशोधन करती है।

(5) जनवादी चीनी गणराज्य के राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करना।

(6) राष्ट्रपति की सिफारिश पर राज्य परिषद् (State Council) के प्रधानमन्त्री तथा उपप्रधानमन्त्री के चयन का निर्धारण करना, जनवादी कांग्रेस ही स्टेट कौन्सिलर, मन्त्रालयों के प्रभारी मन्त्रियों, ऑडिटर जनरल तथा राज्य परिषद के महासचिव का प्रधानमन्त्री द्वारा मनोनयन होने पर अन्तिम रूप से चयन करती है।

(7) यह केन्द्रीय सैनिक आयोग के अध्यक्ष का निर्वाचन करती है तथा उनके द्वारा मनोनीत सदस्यों का आयोग के लिए चयन करती है।

1 The National People's Congress exercise the following functions and powers :

- to amend the constitution;
- to supervise the enforcement of the constitution;
- to enact and amend basic statutes concerning criminal offences, civil affairs, the state organs and other matters;
- to elect the President and the Vice-president of the People's Republic of China;
- to decide on the choice of the Premier of the State Council upon nomination by the President of the People's Republic of China, and to decide on the choice of the Vice-premiers, State councillors, ministers-in-charge of ministries or commissions and the Auditor-General and the Secretary-General of the State council upon nomination by the premier;
- to elect the Chairman, of the Central Military Commission and, upon nomination by the Chairman to decide on the choice of all the others on the Central Military Commission;
- to elect the President of the Supreme People's Court;
- to elect the Procurator-General of the Supreme People's Procuratorate;
- to examine and approve the plan for national economic and social development and the report on its implementation;
- to examine and approve the state budget and report on its implementation;
- to alter or annual inappropriate decisions of the Standing Committee of the National People's Congress;
- to approve the establishment of provinces, autonomous regions, and municipalities directly under the Central Government;
- to decide on the establishment of special administrative regions and the systems to be instituted there;
- to decide on questions of war and peace; and
- to exercise such other functions and powers as the highest organ of state should exercise.

—Article 62.

2 When the National People's Congress meets it elects a Presidium to conduct its Session.

—Article 61.

(8) यह सर्वोच्च जनवादी न्यायालय (The Supreme People's Court) के सभापति का निर्वाचन करती है।

(9) यह सर्वोच्च जनवादी प्रोक्यूरेटोरेट के प्रोक्यूरेटर जनरल का निर्वाचन करती है।

(10) यह आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए योजनाओं की जांच व स्वीकृति प्रदान करती है, यह योजनाओं के क्रियान्वयन के बारे में प्रस्तुत प्रतिवेदनों की जांच करती है।

(11) यह राज्य के बजट की जांच व स्वीकृति प्रदान करती है, यह बजट के क्रियान्वयन सम्बन्धी प्रतिवेदनों की जांच करती है।

(12) यह स्थायी समिति द्वारा लिए हुए अवांछित और अनुचित निर्णयों को बदल सकती है या उन्हें रद्द कर सकती है।

(13) नये प्रान्तों, स्वायत्त प्रदेशों या नगरपालिकाओं की स्थापना के लिए इसकी स्वीकृति आवश्यक है।

(14) यह विशेष प्रशासनिक प्रदेशों की स्थापना का निर्णय करती है।

(15) यह युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर समुचित निर्णय लेती है।

(16) यह उन सभी कार्यों और शक्तियों का प्रयोग करती है जो कि राज्य के सर्वोच्च शक्तिशाली अंग के रूप में इससे अपेक्षित हैं।

नये संविधान के अनुच्छेद 63 के अनुसार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस निम्न पदाधिकारियों को उनके पद से हटा सकती है :

(1) यह चीन के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति को उनके पद को हटा सकती है

(2) यह प्रधानमन्त्री, उप-प्रधानमन्त्रियों, स्टेट कौन्सिलरों, मन्त्रालयों तथा आयोगों के प्रभारी मन्त्रियों, आडीटर जनरल तथा स्टेट कौन्सिल के महासचिव को उनके पद से हटा सकती है

(3) यह केन्द्रीय सैनिक आयोग के चेयरमैन तथा अन्य सदस्यों को हटा सकती है

(4) यह सर्वोच्च जनवादी न्यायालय के सभापति को उनके पद से हटा सकती है, तथा

(5) यह सर्वोच्च जनवादी प्रोक्यूरेटोरेट के प्रोक्यूरेटर जनरल को उनके पद से हटा सकती है।

राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस : वास्तविक स्थिति (The National People's Congress : Actual Position)

जनवादी कांग्रेस की शक्तियों और कार्यों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस ब्रिटेन के लोक सदन अथवा अन्य किसी देश की व्यवस्थापिका से किसी भी रूप में कम नहीं है। उसे न केवल विधायी वरन् प्रशासनिक और वित्तीय शक्तियां भी प्राप्त हैं और नये संविधान में तो उसे राज्य शक्ति का सर्वोच्च अंग कहा गया है। चीन में एकात्मक शासन-व्यवस्था होने के कारण जनवादी कांग्रेस की कानून-निर्माण की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और इसके द्वारा किसी भी विषय पर कानून का निर्माण किया जा सकता है। राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा पारित विधेयकों पर कार्यपालिका के किसी पदाधिकारी को निषेधाधिकार प्राप्त नहीं है। चीन में न्यायिक पुनर्निरीक्षण की भी कोई व्यवस्था नहीं है इसलिए जनवादी कांग्रेस द्वारा निर्मित कानूनों को किसी के भी द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती है। इस दृष्टि से जनवादी कांग्रेस को कानून-निर्माण के क्षेत्र में ब्रिटेन की संसद या पूर्व सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत से भी अधिक व्यापक शक्ति प्राप्त है।

नये संविधान में यह भी प्रावधान है कि 'राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस उन अनन्य शक्तियों का प्रयोग कर सकती है जो संविधान के द्वारा राज्य सत्ता के अन्य किसी अंग को प्रदान नहीं की गई है। यह उपबन्ध बहुत ही व्यापक है और इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस उन सभी शक्तियों का प्रयोग कर सकती है जिनकी चर्चा संविधान में नहीं की गयी है। ऐसी कोई भी व्यवस्था अमरीका, भारत या पूर्व सोवियत संघ के संविधानों में नहीं है। केन्द्रीय सत्ता जनवादी कांग्रेस को शक्तिशाली बनाना ही इस उपबन्ध का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है।

परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जनवादी कांग्रेस, केवल संविधान के पृष्ठों पर ही सर्वोच्च और शक्तिशाली संस्था है तथा वास्तविक स्थिति दूसरी ही है, इसके कई कारण हैं :

(1) प्रथम, इसकी अत्यधिक विशाल सदस्य संख्या के कारण यह किसी भी मामले पर ठीक प्रकार से विचार नहीं कर सकती।

(2) द्वितीय, जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन बहुत थोड़े समय के लिए होने के कारण समस्त वास्तविक शक्ति इसके सत्रावसान काल में कार्य करने वाली स्थायी समिति के पास केन्द्रित हो गयी है यद्यपि स्थायी समिति जनवादी कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी है, परन्तु यह उत्तरदायित्व भी केवल कागजी ही है।

(3) तृतीय, साम्यवादी दल के सर्वोच्च नेता ही सब कुछ हैं। वे ही नीतियों का निर्माण करते हैं। स्थायी समिति या जनवादी कांग्रेस तो केवल संवैधानिक और औपचारिकताओं के नाते अपनी स्वीकृति की मोहर लगाती है।

यदि हम जनवादी कांग्रेस के कार्यों तथा कार्य-प्रक्रिया पर ध्यान दें, तो भी यह निष्कर्ष निकलेगा कि जनवादी कांग्रेस एक दिखावे की संस्था मात्र है। विभिन्न अधिवेशनों में प्रतिनिधियों ने सरकारी प्रतिवेदनों, नीतियों और संकल्पों आदि के विरुद्ध जिनके बारे में निर्णय साम्यवादी दल द्वारा कर लिये जाते हैं, न तो कुछ कहा और न ही मत दिया, सभी प्रतिनिधियों ने हाथ उठाकर उन्हें स्वीकार कर लिया। इससे स्पष्ट है कि जनवादी कांग्रेस एक साधन मात्र है जिसका प्रयोग चीन का साम्यवादी दल अपने अधिनायकवाद को छिपाने और बनाये रखने के लिए करता है। यदि कोई सदस्य दल के निर्णयों की आलोचना का साहस करे, तो उसे 'दक्षिण पंथी' करार देकर उसके विरुद्ध कार्यवाही की जाती है। 1954 के संविधान के आधार पर कार्य करने वाली 'जनवादी कांग्रेस' के सम्बन्ध में प्रो. हरिमोहन जैन ने लिखा था :

"जनवादी कांग्रेस की सदस्यता का बहुत बड़ा आकार उसमें साम्यवादी दल का प्राधान्य, राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस और उसकी स्थायी समिति के बीच समान दलीय आधार के कारण सामंजस्य, जनवादी कांग्रेस के अधिवेशनों का बहुत कम और अल्प समय के लिए होना आदि बातों ने जनवादी कांग्रेस को संविधान का केवल एक औपचारिक अंग बना दिया है, उसकी यथार्थ सत्ता का प्रयोग स्थायी समिति करती है।"¹ 1982 के वर्तमान संविधान के अन्तर्गत कार्य करने वाली जनवादी कांग्रेस के सम्बन्ध में भी स्थिति निश्चित रूप से यही है।

1 "The very large size of the N. P. C. membership, the predominance in it of the Communist Party, the harmony between it and the standing committee by virtue of their common party complexion, the infrequency and short duration of N. P. C. sessions are bound to reduce it to a merely formal and ceremonial part of the constitution, delegating the actual exercise of its authority to the Standing Committee."—Hari Mohan Jain's Article : 'Some Aspects of the Chinese Constitution, India Quarterly, Oct.-Dec. 1959, p. 374.

राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति

(THE STANDING COMMITTEE OF THE NATIONAL PEOPLE'S CONGRESS)

चीन के नवीन संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति की स्थिति बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। संविधान में इसे राष्ट्रीय जन कांग्रेस का स्थायी अंग (Permanent Organ) कहा गया है।

रचना—स्थायी समिति की रचना का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 65 में किया गया है¹ इसके अनुसार स्थायी समिति में एक अध्यक्ष (Chairman), कई उपाध्यक्ष (Vice-chairman), महासचिव (Secretary General) तथा अन्य साधारण सदस्य होते हैं। इनका चुनाव राष्ट्रीय जन कांग्रेस के द्वारा होता है जिसे इन्हें वापस बुलाने (Recall) का अधिकार भी है। स्थायी समिति के आकार के सम्बन्ध में संविधान कुछ नहीं कहता है। इसका निर्धारण राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस को करना है। व्यवहार में स्थायी समिति की सदस्य संख्या भी बहुत अधिक हो जाती है²

जहां तक इसके कार्यकाल का प्रश्न है, संविधान के अनुसार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का कार्यकाल 5 वर्ष है और स्थायी समिति उस समय तक अपना कार्य करती है जब तक कि नयी स्थायी समिति का चुनाव न हो जाय। अतः स्थायी समिति का कार्यकाल सामान्यतया 5 वर्ष से कुछ अधिक होगा। यदि राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का कार्यकाल बढ़ जाये तो स्वाभाविक रूप से इसका कार्यकाल भी बढ़ जायेगा³ इसकी बैठकों के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह स्थायी निकाय है और इसकी बैठकें किसी भी समय बुलायी जा सकती हैं। बैठक की अध्यक्षता अध्यक्ष करता और उपाध्यक्ष उसकी सहायता करते हैं।

स्थायी समिति का अध्यक्ष—स्थायी समिति का अध्यक्ष स्थायी समिति की अध्यक्षता करता है तथा उसकी आज्ञा और निर्णयों पर हस्ताक्षर भी करता है, लेकिन उसे अलग से कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। सैद्धान्तिक रूप से वह पूर्व सोवियत संघ की प्रेसीडियम के अध्यक्ष के समतुल्य दिखायी पड़ता है लेकिन व्यवहार में उसे वह भी मान्यता प्राप्त नहीं है जो प्रेसीडियम के अध्यक्ष को है।

स्थायी समिति की शक्तियां तथा कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE STANDING COMMITTEE)

नये संविधान के अनुच्छेद 67 में स्थायी समिति के अग्र कार्यों व शक्तियों का वर्णन किया गया है :

- 1 The Standing Committee of the National People's Congress is composed of the following :
The Chairman, The Vice-chairman, The Secretary-General and members.
Minority nationalities are entitled to appropriate representation on the Standing Committee of the National People's Congress. —Article 65.
- 2 जनवरी 1945 में चौथी राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा 144 सदस्यों की स्थायी समिति निर्मित की गयी जिसमें अध्यक्ष, 22 उपाध्यक्ष और 121 साधारण सदस्य चुने गये।
- 3 "The Standing Committee of the National People's Congress is elected for the same terms as the National People's Congress; it exercise its functions and powers until a new Standing Committee is elected by the succeeding National People's Congress." —Article 66.

1. यह संविधान की व्याख्या करती है तथा संविधान के क्रियान्वयन का निरीक्षण करती है।
2. उन कानूनों का निर्माण व संशोधन करती है जो राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के क्षेत्राधिकार 12 में नहीं हैं।
3. राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के सत्रावसान काल में कानूनों का निर्माण तथा विद्यमान कानून में आंशिक संशोधन करने का कार्य स्थायी समिति करती है।
4. यह संविधियों की व्याख्या करती है।
5. राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के सत्रावसान काल में आर्थिक और सामाजिक विकास की योजनाओं तथा बजट को स्वीकृति प्रदान करना।
6. यह राज्य परिषद, केन्द्रीय सैनिक आयोग, सर्वोच्च जन न्यायालय तथा सर्वोच्च जन प्रोक्क्यूरेटोरेट के कार्यों का निरीक्षण व जांच करती है।
7. राज्य परिषद द्वारा निर्मित उन प्रशासनिक नियमों, आदेशों तथा निर्णयों को यह रद्द कर सकती है जो संविधान के प्रतिकूल हैं।
8. स्थानीय निकायों द्वारा निर्मित उन निर्णयों व नियमों को यह रद्द कर सकती है जो संविधान के प्रतिकूल हैं।
9. जब राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन न चल रहा हो तो मन्त्रियों के चयन, ऑडीटर जनरल तथा राज्य परिषद के महासचिव के चयन के बारे में यह निर्णय करती है।
10. जब राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन न चल रहा हो तो केन्द्रीय सैनिक आयोग व इसके सदस्यों के चयन के बारे में यह निर्णय करती है।
11. सर्वोच्च जन न्यायालय के सभापति के परामर्श से सर्वोच्च जन न्यायालय के सभापति तथा अन्य न्यायाधीशों, न्यायिक समिति के सदस्यों, सैनिक न्यायालय के सभापति की यह नियुक्ति करती है।
12. यह उप प्रोक्क्यूरेटर जनरल तथा प्रोक्क्यूरेटोरेट समिति के अन्य सदस्यों की भी नियुक्ति करती है।
13. विदेशों में नियुक्त किये जाने वाले प्रतिनिधियों की नियुक्ति व पदच्युति करने का भी इस समिति को अधिकार है।
14. विदेशों से किये जाने वाले समझौतों व सन्धियों का पुष्टीकरण यही समिति करती है।
15. सैनिक और कूटनीतिक उपाधियां वितरित करने का स्थायी समिति को अधिकार है।
16. राज्य की ओर से दिये जाने वाले पदक तथा उपाधियां इसकी स्वीकृति से दी जाती हैं।
17. विशेष क्षमादान देने का इसको अधिकार है।
18. देश पर आक्रमण होने पर युद्ध के प्रतिरोध हेतु निर्णय लेने का इसको अधिकार है।
19. इसे आम लामबन्दी (general mobilization) तथा आंशिक लामबन्दी घोषित करने की शक्ति प्राप्त है।

20. 20 मार्च, 2004 ई. में किए गए संशोधन के अनुसार सम्पूर्ण देश, किन्हीं प्रान्तों, स्वायत्तशासी प्रदेशों या केन्द्रीय सरकार के अधीन प्रत्यक्ष नियन्त्रण वाले नगरपालिका क्षेत्रों में आपातकाल (emergency) की स्थिति की घोषणा करने का इसको अधिकार है।
21. राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा सौंपे जाने वाले अन्य समस्त कार्य करने का इसको अधिकार है। वस्तुतः यह बहुत ही व्यापक प्रावधान है, जिसके आधार पर जनवादी कांग्रेस इसे कोई भी कार्य सौंप सकती है।

स्थायी समिति की वास्तविक स्थिति

(THE STANDING COMMITTEE : ACTUAL POSITION)

संविधान के अनुच्छेद 69 के अनुसार स्थायी समिति को राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है तथा इसे अपने समस्त दायित्वों का प्रतिवेदन जनवादी कांग्रेस के सम्मुख प्रस्तुत करना होता है।

स्थायी समिति की शक्तियों और कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसका अधिकार क्षेत्र व्यापक और बहुमुखी है। राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के स्थायी निकाय के रूप में जनवादी कांग्रेस के अधिकारों का बहुत अधिक सीमा तक इसी के द्वारा सम्पादन किया जाता है। इसे राज्याध्यक्ष की तरह महत्वपूर्ण अधिकार तो प्राप्त हैं ही यह एक दृष्टि से राष्ट्रीय संसद भी है, मन्त्रिपरिषद भी है और सर्वोच्च न्यायालय भी है इसीलिए रॉबर्ट एलीगेण्ट ने इसे 'सरकार की सर्वोच्च संस्था' (Supreme Body in the Government) कहा है।

लेकिन कुछ अन्य लेखकों का इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण है। प्रथम, वे कहते हैं कि समिति की सदस्यता बहुत बड़ी है और इतनी अधिक (144) सदस्यता वाली संस्था कुशलता से कार्य नहीं कर सकती। द्वितीय, स्थायी समिति की भूमिका बहुत अधिक सीमा तक राज्य परिषद तथा कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति, उसके पोलिट ब्यूरो तथा पोलिट ब्यूरो की स्थायी समिति से सीमित हो जाती है। आलोचकों के अनुसार, चीन में सभी सरकारी संस्थाओं पर केन्द्रीयकृत पार्टी नेतृत्व है, इसलिए स्थायी समिति को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता।

वस्तुस्थिति यह है कि चीन की समस्त शासन व्यवस्था में साम्यवादी दल के नेतृत्व पर तो सन्देह किया नहीं जा सकता, लेकिन इस स्थिति के बावजूद स्थायी समिति समस्त शासन व्यवस्था में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। व्यावहारिक राजनीति का महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्थायी समिति में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक प्रमुख सदस्य होते हैं और यह बात स्थायी समिति को अत्यधिक उच्चता प्रदान कर देती है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. चीन की राष्ट्रीय जन कांग्रेस की रचना, कार्यों व शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति की शक्तियों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. जनवादी कांग्रेस की रचना और संगठन समझाइए।
2. जनवादी कांग्रेस की शक्तियां और कार्य बताइए।
3. जनवादी कांग्रेस की वास्तविक स्थिति स्पष्ट कीजिए।
4. राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति की रचना बताइए।

5. स्थायी समिति की शक्तियां और कार्य स्पष्ट कीजिए।
6. पूर्व सोवियत संघ के प्रेसीडियम तथा स्थायी समिति का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
7. स्थायी समिति की वास्तविक स्थिति बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. 1 अरब 30 करोड़ की जनसंख्या वाले चीन का विधानमण्डल है :
 (अ) एक-सदनात्मक (ब) द्वि-सदनात्मक
 (स) बहु-सदनात्मक (द) सदनात्मक
2. संविधान द्वारा चीन के विधानमण्डल को नाम दिया गया है :
 (अ) सर्वोच्च परिषद (ब) डायट
 (स) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस (द) कांग्रेस
3. चीन में संविधान की व्याख्या करने की शक्ति किसमें निहित है ?
 (अ) राज्य परिषद (ब) स्थायी समिति
 (स) केन्द्रीय सैनिक आयोग (द) प्रोक्क्यूरेटर
4. राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन कौन आहूत करता है ?
 (अ) साम्यवादी दल (ब) स्थायी समिति
 (स) केन्द्रीय सैनिक आयोग (द) राज्य परिषद
5. राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का कार्यकाल है ?
 (अ) 4 वर्ष (ब) 2 वर्ष
 (स) 6 वर्ष (द) 5 वर्ष
6. चीन के संविधान में संशोधन करने की शक्ति किसमें निहित है ?
 (अ) प्रेसीडियम (ब) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस
 (स) राष्ट्रपति (द) प्रेसीडियम

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (ब), 5. (द), 6. (ब)]

प्रश्न 7. चीन की शासन व्यवस्था में दूसरे देशों की शासन व्यवस्था से अलग हटकर सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था कौन-सी है ?

[उत्तर—‘जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति’ इसकी सदस्य संख्या 144 है, इसे राज्याध्यक्ष की तरह महत्वपूर्ण अधिकार तो प्राप्त हैं ही यह एक दृष्टि से राष्ट्रीय संसद भी है मन्त्रिपरिषद भी है और सर्वोच्च न्यायालय भी।]

4

जनवादी चीन का शासन-तन्त्र [राष्ट्रपति, राज्य परिषद् (मन्त्रिपरिषद्) तथा केन्द्रीय सैनिक आयोग]

(CHINESE GOVERNMENTAL FRAMEWORK)
(The President, The State Council And
The Central Military Commission))

नये चीनी संविधान से ऐसा लगता है कि सिद्धान्त रूप से चीन में संसदीय शासन प्रणाली की स्थापना की गयी है। चीन के विधानमण्डल का नाम 'राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस' रखा गया है तथा मन्त्रिपरिषद् को 'राज्य परिषद्' की संज्ञा दी गयी है। नये संविधान में राष्ट्राध्यक्ष तथा केन्द्रीय सैनिक आयोग की स्थापना की गयी है।

जनवादी चीन में राष्ट्रपति का पद

(THE PRESIDENT OF THE PEOPLE'S REPUBLIC OF CHINA)

1954 के चीनी संविधान में राष्ट्रपति पद (जिसे चीनी गणराज्य के चेयरमैन का नाम दिया गया था) का प्रावधान किया गया था। संविधान की 8 धाराएं (धारा 39 से 46) राष्ट्रपति के पद एवं शक्तियों से सम्बन्धित थीं। चीनी गणराज्य का अध्यक्ष राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा निर्वाचित होता था और सामान्य तौर पर उसका कार्यकाल-4 वर्ष था। उसे अनेक प्रकार की शक्तियां प्राप्त थीं जिनमें कार्यपालिका, न्यायिक, राजनयिक एवं सैनिक शक्तियां मुख्य थीं। कार्यपालिका शक्तियों के अन्तर्गत (i) विधियां एवं आज्ञासियां प्रसारित करना तथा (ii) प्रधानमन्त्री एवं अन्य मन्त्रियों, विभिन्न आयोगों के सदस्यों की नियुक्ति एवं पदच्युति आदि सम्मिलित था। न्यायिक शक्तियों में क्षमादान का अधिकार निहित था। राजदूतों की नियुक्ति तथा उनकी वापसी, दूसरे देशों से आने-जाने वाले राजदूतों का स्वागत आदि औपचारिक कार्य चीनी गणराज्य के अध्यक्ष की राजनयिक शक्तियों में सम्मिलित थे। वह चीन की सेनाओं का सर्वोच्च अधिकारी भी था।

1975 के संविधान के अन्तर्गत जनवादी चीन के राष्ट्रपति पद को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार चीन की राज व्यवस्था में कोई सर्वोच्च पद नहीं रहा और माओ की मृत्यु के बाद चीन में कोई सर्वोच्च नेता भी नहीं रहा। यही कारण था कि चाऊ एन लाई तथा

माओ की मृत्यु के उपरान्त चीन में सत्ता के लिए तीव्र संघर्ष प्रारम्भ हो गया। 1978 के संविधान में भी राष्ट्रपति जैसे किसी पद की व्यवस्था नहीं की गयी थी, लेकिन व्यवहार में यह अनुभव किया गया कि कार्यपालिका के क्षेत्र में सर्वोच्च पद की व्यवस्था न होने पर संस्थागत अस्थायित्व की स्थिति जन्म ले लेती है और शासन की क्षमता को आघात पहुंचाती है। अतः 1982 के नये संविधान में राष्ट्रपति पद की पुनर्स्थापना की गयी है तथा ऐसा करने का लक्ष्य यही है कि चीन की आन्तरिक व्यवस्था और अधिक मजबूत हो तथा संस्थागत अस्थायित्व दूर हो।

निर्वाचन—नये संविधान के अनुच्छेद 79 के अनुसार जनवादी चीन के राष्ट्रपति का निर्वाचन राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा किया जायेगा। चीनी गणराज्य का कोई भी नागरिक जिसे मताधिकार प्राप्त है, जो चुनाव में उम्मीदवार होने की योग्यता रखता है तथा जिसकी उम्र 45 वर्ष है, राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार बन सकता है। राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष है। कोई भी व्यक्ति अधिक-से-अधिक दो कार्यकाल पूरे कर सकता है।

पद रिक्त होने पर—यदि राष्ट्रपति का कार्यकाल पूर्ण होने से पूर्व किन्हीं कारणों (जैसे त्यागपत्र, मृत्यु आदि) से राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है तो उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति का स्थान ले लेता है, किन्तु यदि उपराष्ट्रपति पद भी रिक्त हो तो ऐसी स्थिति में जनवादी कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन किया जाएगा, किन्तु तब तक जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति का अध्यक्ष अस्थायी रूप में राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करता है।

शक्तियाँ एवं कार्य—1982 के चीनी संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के निम्नलिखित कार्य हैं : (1) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस अथवा उसकी स्थायी समिति के आदेशानुसार वह विधियों और अध्यादेशों को प्रभावी करता है (2) प्रधानमन्त्री, उप प्रधानमन्त्री, मन्त्रियों, आयोगों के प्रधानों और राज्य परिषद के महासचिव की नियुक्ति करता है एवं उन्हें पद से हटाता है, ऑडीटर जनरल की नियुक्ति करता तथा उन्हें पद से हटाता है (3) राज्य की ओर से नागरिकों को सम्मानार्थ उपाधियाँ आदि देता है (4) सार्वजनिक क्षमादान की घोषणा करता है और व्यक्तिगत अपराधियों को क्षमादान देता है (5) आपातकाल की स्थिति की घोषणा करता है और प्रतिकक्षा के लिए तैयार होने का आदेश जारी करता है।

उपर्युक्त कार्यों को वह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस तथा उसकी स्थायी समिति के आदेशों के अनुसार ही कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 81 के अनुसार राष्ट्रपति के जनवादी कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में कुछ अन्य कार्य भी हैं : (1) चीनी गणराज्य के वैदेशिक सम्बन्धों में राज्य का प्रतिनिधित्व करना (2) विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों का स्वागत करना (3) दूसरे देशों में चीन के राजनयिक प्रतिनिधियों को नियुक्त करना एवं वापस बुलाना (4) विदेशों से की गयी सन्धियों एवं समझौतों की पुष्टि करना अथवा उन्हें रद्द करना।

राष्ट्रपति की स्थिति—राष्ट्रपति के कार्यों का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि उसके अधिकांश कार्य मात्र औपचारिक हैं। वह इन कार्यों को राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस अथवा उसकी स्थायी समिति की इच्छाओं के अनुसार करता है।

1. मार्च, 2004 में अनुच्छेद 80 में संशोधन कर यह प्रावधान किया गया जिसमें सैनिक कानून (Martial law) के स्थान पर आपातकाल की स्थिति (State of Emergency) शब्द प्रयुक्त किया गया है।

चीन के राष्ट्रपति की तुलना संसदीय व्यवस्था वाले राज्य के संवैधानिक प्रमुख से नहीं की जा सकती, क्योंकि उसे वैधानिक दृष्टि से राज्य के प्रधान की स्थिति प्राप्त नहीं है। उसे अमरीकी राष्ट्रपति के समान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग प्रधानमन्त्री और राज्य-परिषद के माध्यम से करता है। उसे राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा पारित विधेयकों पर निषेधाधिकार के प्रयोग का अधिकार भी नहीं है। वैधानिक दृष्टि से वह परावलम्बी और दुर्बल है। वस्तुतः उसकी शक्ति साम्यवादी दल में उसकी स्थिति पर निर्भर करती है। यदि साम्यवादी दल इस पद पर किसी प्रथम श्रेणी के नेता को नियुक्त करता है तो राष्ट्रपति का पद अत्यन्त शक्तिशाली बन सकता है।

मार्च, 2003 में हू जिन्ताओ को चीन का 'राज्याध्यक्ष' (राष्ट्रपति) निर्वाचित किया गया है।

जनवादी चीन में उपराष्ट्रपति का पद

(THE VICE-PRESIDENT OF THE PEOPLE'S REPUBLIC OF CHINA)

1954 के चीनी संविधान में उपराष्ट्रपति पद का प्रावधान था और श्रीमती सनयात सेन वर्षों तक उपराष्ट्रपति पद पर कार्य करती रही थीं। उपराष्ट्रपति राजकार्य में राष्ट्रपति की सहायता करता था। वर्तमान में जेंग किंगहोंग (Zeng Qinghong) चीन के उपराष्ट्रपति हैं।

नये संविधान में भी उपराष्ट्रपति पद का प्रावधान है। उसका चुनाव राष्ट्रपति की भांति ही राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस करती है। उपराष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए वे ही योग्यताएं रखी गयी हैं जो राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए हैं। उसका कार्यकाल भी 5 वर्ष रखा गया है।

संविधान के अनुच्छेद 82 के अनुसार उपराष्ट्रपति का प्रमुख कार्य गणराज्य के राष्ट्रपति की सहायता करना है। राष्ट्रपति उसे आवश्यकतानुसार शक्तियां प्रदान करता है और उसके कर्तव्यों का निर्धारण करता है। राष्ट्रपति की अनुपस्थिति अथवा अस्वस्थता के समय वह राष्ट्रपति के समस्त कार्यों को करता है। अनुच्छेद 84 के अनुसार राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होने पर उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति के पद पर आसीन कर दिया जाता है।

राज्य परिषद्

(THE STATE COUNCIL)

चीन का नया संविधान कार्यपालिका और प्रशासन सम्बन्धी अधिकार राज्य परिषद को सौंपता है। संविधान के अनुच्छेद 85 में कहा गया है कि, "राज्य परिषद् केन्द्रीय जनवादी सरकार है। राज्य परिषद् राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस तथा उसकी स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी और जवाबदेय है।"

रचना और संगठन—राज्य परिषद् की रचना प्रधानमन्त्री, उप प्रधानमन्त्रियों, स्टेट कौंसिलरों, मन्त्रालय के प्रभारी मन्त्रियों, आयोगों के प्रभारी मन्त्रियों, ऑडीटर जनरल तथा महासचिव से मिलकर होती है। राज्य परिषद् के बारे में समस्त दायित्व प्रधानमन्त्री पर है। मार्च, 2003 में वेन जिआबाओ (Wen Jiabao) प्रधानमन्त्री निर्वाचित किए गए हैं।

1 The State Council is composed of the following :

The Premier; The Vice-premiers; The State Councillors; the Ministers in-charge of Ministries; The Ministers in-charge of Commissions; The Auditor General; and The Secretary General.

The Premier has overall responsibility for the State Council. The ministers have overall responsibility for the ministries or commissions under their charge.

The organization of the State Council is prescribed by law.

—Article 86.

संविधान राज्य परिषद् के सदस्यों की संख्या या मन्त्रालयों की भी चर्चा नहीं करता, जैसा कि पूर्व सोवियत संघ के संविधान में किया गया है। इन्हें निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस को दिया गया है। चौथी राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस (जनवरी 1975) ने साम्यवादी पार्टी की केन्द्रीय समिति के सुझाव पर जिस राज्य परिषद् का गठन किया, उसमें प्रधानमन्त्री, 12 उप प्रधानमन्त्री और कुल 19 मन्त्रालय थे। कुछ उप प्रधानमन्त्री भी मन्त्रालय के प्रभारी थे, जबकि अन्य को कोई विशेष मन्त्रालय नहीं वरन् सामान्य जिम्मेदारी दी गयी।

राज्य परिषद् का कार्यकाल राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की भांति 5 वर्ष है। राज्य परिषद् राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस और उसकी स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी है। इसलिए जहां तक इसके कार्यकाल का प्रश्न है, एक टीम के रूप में इसका कार्यकाल सामान्यतया 5 वर्षों से कुछ अधिक ही होगा, जब तक नयी राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा नयी राज्य परिषद् का गठन न कर लिया जाय। यदि राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का कार्यकाल बढ़ा दिया जाय, तो राज्य परिषद् का कार्यकाल भी तदनुसार बढ़ जायगा। लेकिन प्रत्येक स्थिति में यह राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस तथा उसकी स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी है।

प्रधानमन्त्री और मन्त्रिगण—नये संविधान के अनुच्छेद 88 के अनुसार राज्य परिषद् प्रधानमन्त्री के मार्ग-निर्देशन में कार्य करेंगी। उप प्रधानमन्त्री तथा स्टेट कौंसिलर उसके कार्यों में सहायता करेंगे।¹ राज्य परिषद् के कार्यकारी बैठकों में प्रधानमन्त्री, उप प्रधानमन्त्री, स्टेट कौंसिलर तथा महासचिव सम्मिलित होंगे। राज्य परिषद् की कार्यकारिणी की बैठकों का आयोजन तथा अध्यक्षता प्रधानमन्त्री करेंगे। मन्त्रालयों के प्रभारी मन्त्री तथा आयोगों के अध्यक्ष अपने-अपने विभाग के कार्यों के प्रति उत्तरदायी होंगे। वे अपने-अपने विभागों की बैठकों का आयोजन करेंगे और विभागीय प्रश्नों पर निर्णय लेंगे।

प्रधानमन्त्री की स्थिति के सम्बन्ध में चीन के संविधान में कुछ भी नहीं कहा गया है, न ही इस बात की चर्चा है कि अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री के परामर्श पर की जायेगी। उसकी संवैधानिक स्थिति की तुलना यदि भारत या ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री से की जाय, तो स्पष्ट ही उसका अधिकार-क्षेत्र बहुत सीमित है। पूर्व सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री के साथ ही उसकी तुलना उचित प्रतीत होती है। इन दोनों ही अधिकारियों को प्रधानमन्त्री के रूप में अलग से कोई महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है। लेकिन क्योंकि प्रधानमन्त्री पदधारी ये व्यक्ति अपने-अपने देश की साम्यवादी पार्टी में प्रभावशाली स्थिति रखते हैं, इसलिए शासन-व्यवस्था में भी उन्हें बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है। परन्तु उसकी शक्तियों का स्रोत प्रधानमन्त्री पद नहीं, वरन् साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व में उसे प्राप्त महत्वपूर्ण स्थिति है। उप प्रधानमन्त्री के पदों पर भी साम्यवादी पार्टी के महत्वपूर्ण नेता नियुक्त किये जाते हैं। अधिकांश मन्त्रिगण भी पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य होते हैं।

राज्य परिषद् की शक्तियाँ और कार्य

नये संविधान के अनुच्छेद 89 के अनुसार राज्य परिषद् को अग्रलिखित कार्य एवं शक्तियाँ सौंपी गयी हैं :

1 "The Premier directs the work of the state council. The Vice-premiers and state councillors assist in the work of the Premier."

- (1) कानूनों और आज्ञासियों के अनुसार यह विभिन्न विभागों के प्रशासनिक कार्यों को निर्धारित करता है, उनके निर्णयों और आदेशों की घोषणा करता है और उनके कार्यपालन की देखरेख करता है।
- (2) कानून सम्बन्धी विधेयकों को राष्ट्रीय कांग्रेस या उसकी स्थायी समिति के सम्मुख प्रस्तुत करता है।
- (3) विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय स्थापित करता है।
- (4) मन्त्रियों अथवा समितियों के अध्यक्षों द्वारा जारी किये गये अनुपयुक्त निर्णयों और आदेशों में संशोधन करता है या उन्हें रद्द कर देता है।
- (5) स्थानीय समितियों के अनुपयुक्त निर्णयों और आदेशों में संशोधन करता या उन्हें रद्द करता है।
- (6) राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं और राष्ट्रीय बजट को लागू करता है।
- (7) विदेशी और घरेलू व्यापार पर नियन्त्रण रखता है।
- (8) सांस्कृतिक, शिक्षा सम्बन्धी और सार्वजनिक स्वास्थ्य के कार्यों का संचालन करता है।
- (9) राष्ट्रीयता से सम्बन्धित कार्यों का संचालन करता है।
- (10) विदेशों में रहने वाले चीनियों से सम्बन्धित कार्यों का संचालन करता है।
- (11) राज्य के हित की रक्षा करता है, सार्वजनिक व्यवस्था कायम रखता और नागरिक अधिकारों की रक्षा करता है।
- (12) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करता है।
- (13) सशस्त्र सेनाओं का निर्माण तथा संचालन करता है।
- (14) स्वशासित जिलों, तहसीलों और नगरपालिकाओं के पद और सीमाओं को स्वीकार करता है।
- (15) कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार प्रबन्धक अधिकारियों को नियुक्त और पदच्युत करता है।
- (16) राष्ट्रीय कांग्रेस या उसकी स्थायी समिति द्वारा सौंपे गये अन्य कार्य करता और अन्य अधिकारों का उपयोग करता है।

राज्य परिषद् के कार्यों को देखने से ऐसा लगता है कि उसके कार्य प्रशासकीय कार्यों को निर्धारित करना; संविधान, कानून और आज्ञासियों के अनुकूल निर्णय और आदेश जारी करना; विभिन्न मन्त्रालयों, आयोगों तथा देश के अन्तर्गत स्थानीय स्तर के राज्यांगों का केन्द्रीकृत नेतृत्व करना; राष्ट्रीय आर्थिक योजना और राजकीय बजट का प्रारूप तैयार करना और उसे लागू करना, है। इन सबके अतिरिक्त राज्य परिषद् का एक महत्वपूर्ण कार्य उन प्रशासकीय कार्यों का निर्देशन करना तथा उन शक्तियों का प्रयोग एवं कार्यों का सम्पादन करना है जो राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस या उसकी स्थायी समिति द्वारा सौंपे जाते हैं।

राज्य परिषद् की वास्तविक स्थिति

यद्यपि राज्य परिषद् जनवादी चीन की कार्यपालिका और राज्य का सर्वोच्च प्रशासनिक अंग है, परन्तु इसे ब्रिटेन या भारत के मन्त्रिमण्डलों के समान गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं है। ब्रिटेन में जब तक मन्त्रिमण्डल को लोकसदन के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है, तब तक वह प्रशासन के संचालन और कानून निर्माण, दोनों ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण शक्तियों का प्रयोग

करता है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की तुलना में चीन की राज्य परिषद् को अत्यन्त सीमित शक्तियाँ ही प्राप्त हैं। राज्य परिषद् की कमजोर स्थिति का प्रमुख कारण यह है कि राज्य परिषद् पर साम्यवादी दल का पूर्ण नियन्त्रण है और राज्य परिषद् साम्यवादी दल द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार ही शासन का संचालन करती है। ऑग और जिंक द्वारा 1954 के संविधान द्वारा स्थापित राज्य परिषद् के सम्बन्ध में कही गयी यह बात नवीन संविधान की राज्य परिषद् पर भी पूर्णतया लागू होती है : “सामान्यतया परिषद् साम्यवादी दल के पोलिट ब्यूरो द्वारा पहले से लिये गये निर्णयों की पुष्टि ही करती है। निश्चित रूप से यह केवल औपचारिक अर्थ में ही सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता है, पोलिट ब्यूरो के कारण उसके द्वारा वस्तुतः इस रूप में कार्य नहीं किया जा सकता है।”¹

राज्य परिषद् : क्या एक संसदीय कार्यपालिका है ?

ऐसा लगता है कि चीन की राज्य परिषद् को संसदात्मक स्वरूप देने की चेष्टा की गयी है। नये संविधान के अनुच्छेद 92 के अनुसार राज्य परिषद् राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रति और जब जनवादी कांग्रेस का अधिवेशन न हो रहा हो, तब उसको स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी है और उसके समक्ष अपने कार्यों के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करती है। इस प्रकार राज्य परिषद् का समस्त कार्यकरण राष्ट्रीय कांग्रेस के अनुसमर्थन का विषय है और राष्ट्रीय कांग्रेस उन्हें आवश्यकतानुसार पदच्युत भी कर सकती है। संविधान के अनुसार राष्ट्रीय जन कांग्रेस के सदस्य मन्त्रियों तथा अन्य आयोगों के अध्यक्षों से प्रश्न पूछ सकते हैं और उनके द्वारा प्रश्नों का उत्तर दिया जाना आवश्यक है।

इन प्रावधानों से राज्य परिषद् को उत्तरदायी कार्यपालिका का रूप देने का प्रयास किया गया, परन्तु व्यवहार में स्थिति भिन्न प्रकार की है। व्यवहार में सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त चीन में प्रचलित नहीं है। व्यवहार में राज्य परिषद् पर साम्यवादी दल का नियन्त्रण रहता है न कि राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस का। एक अन्य बात जो राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस तथा राज्य परिषद् के आपसी सम्बन्धों में राज्य परिषद् को अधिक शक्तिशाली बना देती है, यह है कि राज्य परिषद् के प्रधानमन्त्री तथा उप-प्रधानमन्त्री साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के सदस्य होते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा नियन्त्रित होने के बजाय स्वयं उस पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने में सफल होते हैं। इन तथ्यों के प्रकाश में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि “चीन में राज्य परिषद् राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति उस अर्थ में उत्तरदायी नहीं है जिस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन और भारत में मन्त्रिमण्डल अपनी संसदों के प्रति उत्तरदायी होते हैं।” संक्षेप में, चीन के संविधान के अन्तर्गत संसदीय कार्यपालिका के केवल बाहरी रूप को अपनाया गया है, संसदीय कार्यपालिका की आत्मा को ग्रहण नहीं किया गया है। राज्य परिषद् पूर्व सोवियत संघ की मन्त्रिमण्डल के अनुरूप है, जिससे चीन के संविधान के निर्माताओं ने अधिकाधिक प्रेरणा ली है।

1 “At times the council does little more than confirm the decisions already made by the communist party through the Polit Bureau. Certainly it is hardly the supreme executive authority in more than a formal sense, the Polit Bureau would leave it no room for such a job.”

—Ogg and Zink

केन्द्रीय सैनिक आयोग (THE CENTRAL MILITARY COMMISSION)

नये संविधान के अनुच्छेद 93 में एक केन्द्रीय सैनिक आयोग के गठन का उल्लेख किया गया है। 'यह आयोग देश की सेना का नियन्त्रण एवं निर्देशन करेगा'¹ इस आयोग का गठन सभापति, उप सभापति तथा अन्य सदस्यों से मिलकर होगा² इस आयोग की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जिम्मेदारी सभापति की होगी³ आयोग का कार्यकाल 5 वर्ष होगा⁴ आयोग का सभापति राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस तथा उसकी स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी होगा⁵

केन्द्रीय सैनिक आयोग का अध्यक्ष सेना का सर्वोच्च कमाण्डर भी होता है। 'सैनिक आयोग के नियन्त्रण में 20 लाख शक्तिशाली व्यक्तियों की सेना है तथा चीन में आणविक शस्त्रों पर भी सैनिक आयोग को पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं'⁶ व्यवहार में देखा गया है कि सैन्य आयोग का अध्यक्ष, अपनी इस स्थिति के आधार पर चीन की समस्त राजव्यवस्था में बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति के आधार पर पर्यवेक्षकों का अनुमान है कि चीन में यदि कभी सेना साम्यवादी दल से अधिक शक्तिशाली बन जाए, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। व्यवहार में सेना और साम्यवादी दल के बीच संघर्ष की स्थिति जन्म न ले सके इसके लिए राष्ट्रपति पद, साम्यवादी दल के महासचिव का पद और सैन्य आयोग के अध्यक्ष का पद इन तीनों पदों पर एक ही व्यक्ति को प्रतिष्ठित करने की स्थिति अपना ली गई है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जनवादी चीन के राष्ट्राध्यक्ष के कार्यों एवं अधिकारों का वर्णन कीजिए।
2. राज्य परिषद् की रचना किस प्रकार होती है? उसके मुख्य कार्यों एवं अधिकारों का वर्णन कीजिए।
3. राज्य परिषद् की वास्तविक स्थिति का वर्णन कीजिए। क्या राज्य परिषद् को संसदीय कार्यपालिका कहा जा सकता है?

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. जनवादी चीन में राष्ट्रपति के पद पर टिप्पणी कीजिए।
2. राष्ट्रपति की शक्तियां और कार्य बताइए।
3. राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति समझाइए।
4. जनवादी चीन में उपराष्ट्रपति पद पर टिप्पणी कीजिए।
5. राज्य परिषद की रचना और संगठन बताइए।
6. राज्य परिषद की शक्तियां और कार्य बताइए।

1 Article 93.

2 Ibid.

3 Article 93.

4 Article 93.

5 Article 90.

6 *The Times of India*; September 26, 2004; p. 7.

7. क्या राज्य परिषद संसदीय कार्यपालिका है? स्पष्ट कीजिए।
8. 'केन्द्रीय सैनिक आयोग' पर टिप्पणी कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. वर्तमान समय में चीन में अध्यक्ष या राष्ट्रपति पद पर आसीन हैं ?
 (अ) जियांग जेमिन (ब) देंग जियाओ पिंग.
 (स) ली पेंग (द) हू जिन्ताओ
2. 1982 के संविधान में किस नवीन निकाय (संस्था) का प्रावधान किया गया है :
 (अ) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस (ब) साम्यवादी दल
 (स) केन्द्रीय सैनिक आयोग (द) राष्ट्रपति
3. चीन की राज्य परिषद किसके प्रति उत्तरदायी है ?
 (अ) साम्यवादी दल (ब) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस
 (स) जनता (द) राष्ट्रपति
4. जनवादी चीन में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए कम-से-कम आयु होनी चाहिए :
 (अ) 25 वर्ष (ब) 30 वर्ष (स) 35 वर्ष (द) 45 वर्ष
5. जनवादी चीन में राज्य परिषद की अध्यक्षता करता है :
 (अ) प्रधानमंत्री (ब) साम्यवादी दल का महासचिव
 (स) उपराष्ट्रपति (द) राष्ट्रपति
6. जनवादी चीन में राज्य प्रशासन का सर्वोच्च अंग है :
 (अ) राष्ट्रपति (ब) स्थायी समिति (स) उप राष्ट्रपति (द) राज्य परिषद
 [उत्तर—1. (द), 2. (स), 3. (ब), 4. (द), 5. (अ), 6. (द)]
- प्रश्न 7. चीन में सेना पर नियन्त्रण के लिए किस संस्था की व्यवस्था की गई है ?
 [उत्तर—केन्द्रीय सैनिक आयोग]
- प्रश्न 8. जनवादी चीन का राष्ट्रपति किसके द्वारा चुना जाता है ?
 [उत्तर—अनुच्छेद 79 जनवादी चीन के राष्ट्रपति का निर्वाचन राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस द्वारा किया जाता है।]
- प्रश्न 9. राज्य परिषद किसके निर्देशन में कार्य करती है ?
 [उत्तर—अनुच्छेद 88 राज्य परिषद प्रधानमंत्री के निर्देशन में कार्य करेगी। उप प्रधानमंत्री तथा कौंसिलर उसके कार्यों में सहायता करेंगी।]
- प्रश्न 10. राष्ट्रपति लगातार कितनी अवधि तक अपने पद पर रह सकते हैं ?
 [उत्तर—अधिक-से-अधिक दो कार्यकाल तक।]
- प्रश्न 11. चीन में किन तीन पदों को एक ही व्यक्ति में समाहित कर दिया गया है ?
 उत्तर—चीन के साम्यवादी दल के महासचिव का पद राष्ट्रपति का पद और सैन्य आयोग के अध्यक्ष का पद—ये तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद एक ही व्यक्ति में समाहित कर दिये गये हैं। वर्तमान में हू जिन्ताओ ही इन तीनों पदों पर आसीन हैं।

5

न्याय-व्यवस्था

(JUDICIAL SYSTEM)

चीन की न्याय-व्यवस्था की विशेषताएं

चीन की समस्त राज-व्यवस्था कार्ल मार्क्स, लेनिन और माओ के सिद्धान्तों पर आधारित है, अतः चीन की न्याय-व्यवस्था, विधि और न्याय का आधार भी यही है। स्वाभाविक रूप से यह न्याय-व्यवस्था पाश्चात्य न्याय-व्यवस्था से भिन्न है और इसकी विशेषताओं का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) कानून के सम्बन्ध में साम्यवादी मान्यता या 'वैधानिकता' का साम्यवादी सिद्धान्त—पश्चिमी प्रजातन्त्रीय देशों की मान्यता यह है कि राज्य और कानून समस्त जनता के हितों की रक्षा के साधन होते हैं लेकिन साम्यवादी विचारधारा के अनुसार राज्य एक ऐसा यन्त्र है, जिसका कार्य एक विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन की स्थापना व उसकी रक्षा करना है। उसके विचारानुसार पूंजीवादी सामाजिक संगठन की रक्षा पूंजीवादी राज्य द्वारा ही सम्भव होती है। चूंकि राज्य के कानून राज्य की आज्ञाएं होती हैं, अतः कानून का स्वरूप भी राज्य के स्वरूप के अनुसार ही होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, "कानून शक्तिशाली वर्ग की इच्छा मात्र होती है, जिसे अधिनियम का स्तर दे दिया जाता है।"

कानून के स्वरूप के विषय में जो उक्त साम्यवादी मान्यता है, उसी पर साम्यवादी चीन की कानूनी व्यवस्था भी आधारित है। वहां इस बात को स्वीकार नहीं किया जाता कि राज्य के आर्थिक तथा सामाजिक ढांचे से अलग शाश्वत न्याय के किन्हीं सिद्धान्तों पर कोई कानूनी व्यवस्था आधारित हो सकती है। वह वस्तुतः यह मानकर चलती है कि कानून शासक वर्ग की इच्छा की अभिव्यक्ति के साधन मात्र होते हैं और एक समाजवादी राज्य में कानून ऐसे होने चाहिए, जिनसे श्रमिकों तथा उनके अधिनायकतन्त्र के हितों की सुरक्षा बनी रहे। अतः साम्यवादी चीन की विधि और न्याय-सम्बन्धी धारणा में 'प्राकृतिक कानून' अथवा 'राज्य के विरुद्ध सुरक्षा का व्यक्ति का अधिकार' जैसे विचारों के लिए कोई स्थान नहीं है। साम्यवादी चीन में इस विचार को मान्यता प्रदान की गयी है कि कानून सदा ऐसा होना चाहिए, जिससे साम्यवाद की जड़ें अधिकाधिक मजबूत हो सकें, चाहे उसके द्वारा व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन क्यों न बना दिया जाय।

(2) न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को मान्यता नहीं—पश्चिमी प्रजातन्त्रों में शासन के अन्य अंगों से न्यायपालिका की पृथक्ता और न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता विधि के शासन और नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए नितान्त अपरिहार्य समझे जाते हैं और न्यायपालिका को राजनीतिक दबावों से मुक्त रखने के लिए व्यापक व्यवस्था की जाती है। लेकिन साम्यवादी देशों में न्यायपालिका के द्वारा व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था के रक्षक का कार्य किया जाता है। पश्चिमी प्रजातन्त्र इस मान्यता पर आधारित हैं कि व्यक्ति और राज्य के बीच न्यायोचित संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, लेकिन साम्यवादी विचारधारा, जिसे चीन में स्वीकार किया गया है, यह है कि सरकार जनता ही है और शासन के विरुद्ध किया गया कोई भी कार्य जनता के विरुद्ध किया गया कार्य होने के कारण 'क्रान्ति विरोधी' और 'प्रतिक्रियावादी' है और व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के समान ही न्यायपालिका का भी कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के क्रान्ति विरोधियों और प्रतिक्रियावादियों का दमन करे। अतः न्यायाधीश अराजनीतिज्ञ होने के स्थान पर साम्यवादी दल के प्रमुख सदस्य होते हैं। सर्वोच्च जन न्यायालय के वर्तमान चेयरमैन जियाओ यंग (Xiao Yang) साम्यवादी दल के पोलिट ब्यूरो के लम्बे समय से चले आ रहे सदस्य हैं और एक अवसर पर उन्होंने पुलिस को कहा था कि 'वह और अधिक क्रान्ति विरोधियों को उनके सामने लाये।' प्रजातन्त्रीय देशों में न्यायाधीश के इस प्रकार के कथन को बहुत अधिक अनुचित ही समझा जायगा। वस्तुतः चीन की समस्त न्याय-व्यवस्था पर साम्यवादी दल का प्रभावी नियन्त्रण है। लाइनबारगर के शब्दों में, "चीन में भी सोवियत संघ की तरह न्यायालय को वर्गीय न्याय और राजनीतिक नीति का साधन समझा जाता है। इसे दो व्यक्तियों अथवा पक्षों के बीच उठने वाले कानूनी विवादों का निर्णय करने वाला स्वतन्त्र न्यायिक अंग नहीं समझा जाता।"¹

(3) लोक उत्तरदायित्व (Popular Accountability)—पाश्चात्य राज-व्यवस्थाओं में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है और वे व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। लेकिन चीन में न्यायाधीशों के सम्बन्ध में लोक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को अपनाया गया है। अनुच्छेद 128 के अनुसार, "जन न्यायालय अपने-अपने स्तर पर जनवादी कांग्रेस और उनके स्थायी अंग (स्थायी समिति) के प्रति उत्तरदायी हैं। विभिन्न स्तरों पर जनवादी कांग्रेस द्वारा जनवादी न्यायालय के अध्यक्षों की नियुक्ति की जाती है और पदच्युति की जा सकती है।"² व्यवस्थापिका के प्रति न्यायाधीशों का उत्तरदायित्व समाजवादी व्यवस्था वाले देशों का विशिष्ट सिद्धान्त है।

(4) समझौते और मध्यस्थता की प्रणाली—चीन की न्याय-प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता समझौते और मध्यस्थता की प्रणाली है। सामान्य किस्म के झगड़ों का निबंटारा करने के लिए प्राथमिक न्यायालय के निरीक्षण में 'समझौता समितियाँ' (Conciliation Committees) स्थापित की जाती हैं। इन समितियों में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं और ये समितियाँ

1 "Thus in China as in Russia, a court is considered an instrument of class justice and political policy. It is not supposed to be an independent judicial organ for settling legal disputes between individuals."

2 "The Supreme People's Court is responsible to the National People's Congress and its Standing Committee. Local people's courts and different levels are responsible to the organs of state power which created them."

—Article 128 (The Constitution of 1982)

वादी और प्रतिवादी की सहमति से बहुत बड़े पैमाने पर छोटे-छोटे झगड़ों का निबटारा करती हैं। इससे न्यायालयों का कार्यभार कम हो जाता है तथा वादी और प्रतिवादी को भी लाभ पहुंचता है। इन समितियों के निर्णय की अपील न्यायालय में भी की जा सकती है।

(5) कानूनी पेशे का समाजवादीकरण—साम्यवाद की स्थापना के पूर्व कोमिन्तांग शासन व्यवस्था में कानूनी पेशे के लोग सम्पत्तिशाली वर्ग से आते थे और इस कारण क्रान्ति के बाद शुरू के दिनों में कानूनी पेशे को शत्रुता की दृष्टि से देखा गया, लेकिन 1954 के लगभग कानूनी पेशे के प्रति सरकारी रवैये में परिवर्तन हुआ। कानूनी पेशे से सम्बन्धित नियम बनाये गये और इस पेशे को सहकारी आधार पर गठित करते हुए 'बकील संघों' (Bar Associations) का निर्माण किया गया। इन संघों द्वारा 'कानूनी परामर्शदात्री कार्यालयों' की स्थापना की गयी। इन कार्यालयों की आय को सम्बन्धित वकीलों में उनके कार्य की मात्रा और योग्यतानुसार बांट दिया जाता है। इस प्रकार कानूनी पेशे के सम्बन्ध में अर्द्ध-सरकारी व्यवस्था को अपनाया गया है।

(6) एकीकृत न्याय-प्रणाली—चीन की न्याय-व्यवस्था का संगठन एकीकृत आधार पर किया गया है और 'जनवादी केन्द्रवाद' का सिद्धान्त न्यायपालिका पर भी लागू होता है। संविधान द्वारा सर्वोच्च जन न्यायालय, स्थानीय जन न्यायालय और विशेष न्यायालय इन तीन-स्तरीय ढांचे को एक ही सूत्र में पिरोया गया है। प्रोक्यूरेटोरियल विभाग किसी न्यायालय में मुकदमा ले जा सकता है और सर्वोच्च जन न्यायालय को स्थानीय न्यायालयों और विशेष न्यायालयों की कार्यवाही के निरीक्षण-नियन्त्रण का अधिकार है। यह व्यवस्था समाजवाद, समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी वैधानिकता को सुदृढ़ करने की दृष्टि से अपनायी गयी है।

(7) न्यायाधीशों का निश्चित काल के लिए निर्वाचन—सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि न्यायाधीशों को कार्यपालिका द्वारा जीवनपर्यन्त या सेवा-निवृत्ति की आयु तक के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। किन्तु चीन में न्यायाधीशों को वहां की व्यवस्थापिका, जनवादी कांग्रेस तथा उसकी स्थायी समिति के द्वारा 5 वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है।

(8) न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं (No Judicial Review)—चीन की न्यायपालिका न केवल स्वतन्त्र नहीं है, वरन् उसकी स्थिति भी महत्वपूर्ण नहीं है। उसे संविधान और कानून की व्याख्या करने की वह शक्ति प्रदान नहीं की गयी है, जो सामान्यतया अन्य राज्यों में न्यायपालिका को प्राप्त होती है। चीन में कानूनों की व्याख्या करने की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय को प्रदान करने के बजाय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति को प्रदान की गयी है। इस प्रकार न्यायपालिका संविधान के संरक्षक और नागरिक अधिकारों के रक्षक के रूप में कार्य नहीं कर सकती है। न्यायपालिका की स्थिति को कमजोर बनाने वाला एक अन्य तथ्य यह है कि चीन में 'बन्दी प्रत्यक्षीकरण' (Writ of Habeas Corpus) की व्यवस्था नहीं है।

(9) खुली न्यायिक कार्यवाही—संविधान में लिखा है कि चीन में जनवादी न्यायालयों के अधिवेशन गुप्त रूप से न होकर सब लोगों के सामने हों। जिन मुकदमों से देश की रक्षा खतरे में पड़ती है, केवल उनकी सुनवायी ही गुप्त रूप से की जा सकती है। वे मुकदमे जो खुले तौर पर होते हैं, उनमें जनता के किसी भी व्यक्ति को न्यायालय में न्यायाधीश के सम्मुख विचार प्रस्तुत करने का अधिकार है। अपराधी को अपनी रक्षा का अधिकार है।

(10) स्थानीय भाषा में कार्य संचालन—सामान्यतया न्यायालयों में एक या दो भाषाएं ही वैधानिक रूप से मान्य होती हैं, परन्तु चीन के नागरिकों को न्यायालयों में अपनी भाषा में अपना पक्ष प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता दी गयी है। यदि कोई व्यक्ति किसी स्थानीय न्यायालय में प्रयुक्त होने वाली भाषा से अनभिज्ञ है, तो न्यायालय उसके लिए दुभाषिये का प्रबन्ध करता है। क्षेत्रीय या स्थानीय न्यायालयों में कार्यवाही वहां की स्थानीय भाषा में चलाई जाती है।

चीन के न्यायालयों का संगठन एवं कार्य

संविधान के अनुसार चीन के जनवादी गणराज्य में तीन प्रकार के न्यायालय हैं :

1. सर्वोच्च जन न्यायालय (Supreme People's Court)
2. स्थानीय जन न्यायालय (Local People's Court)
3. विशेष जन न्यायालय (Special People's Court)

इन न्यायालयों की रचना कानून द्वारा निर्धारित की जाती है। प्रत्येक वर्ग के न्यायालय का अपना एक अध्यक्ष होता है जिसका कार्यकाल 5 वर्ष होता है। सभी स्तर के जन-न्यायालय अपने स्तर की जन कांग्रेस और उसके स्थायी निकाय के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(1) सर्वोच्च जन-न्यायालय

(SUPREME PEOPLE'S COURT)

सर्वोच्च जन न्यायालय, चीन का सबसे बड़ा न्यायालय है, जिसमें एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा अन्य न्यायाधीश होते हैं। इसका अध्यक्ष 5 वर्ष के लिए जनवादी कांग्रेस द्वारा निर्वाचित होता है और जनवादी कांग्रेस ही उसे पदच्युत भी कर सकती है। उपाध्यक्ष तथा अन्य न्यायाधीशों को जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति नियुक्त तथा पदच्युत करती है। न्यायाधीशों की संख्या संविधान द्वारा निश्चित नहीं की गयी है। इसमें एक दीवानी विभाग (Civil Division), एक फौजदारी विभाग (Criminal Division) तथा कुछ अन्य विभाग होते हैं, जिनकी आवश्यकता समझी जाय।

संविधान में सर्वोच्च जन न्यायालय की शक्तियों एवं अधिकार क्षेत्र का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। संविधान में केवल इतना ही कहा गया है कि “सर्वोच्च जन न्यायालय उच्चतम न्यायिक संगठन है और यह स्थानीय न्यायालयों और विशेष न्यायालयों के न्यायिक कार्यों की देखरेख करेगा।”¹

सर्वोच्च जन न्यायालय को निम्न अधिकार प्राप्त हैं :

(1) ऐसे अभियोग, जिन्हें कानून और आज्ञासियां (decrees) इसे सबसे पहले सुनने के लिए आज्ञा दें। इसे ही न्यायालय का ‘मौलिक क्षेत्राधिकार’ कहा जा सकता है। (2) उच्चतर न्यायालयों (Higher Courts) तथा विशेष न्यायालयों के निर्णयों तथा आदेशों के विरुद्ध अपीलें तथा विरोधी या प्रत्यापतियों (Protests) को सुनता है। (3) उच्चतम जनवादी प्रोक्क्यूरेटोरेट के द्वारा ‘न्यायिक निरीक्षण की प्रक्रिया’ (Procedure of Judicial Super-

1 “The Supreme People's Court is the highest judicial organ.

The Supreme People's Court supervises the administration of justice by the local people's courts at different levels and by the special people's courts. People's courts at higher levels supervise the administration of justice by those at lower levels.”

—Article 127 (The Constitution of 1982.)

vision) के अनुसार जो विरोध या प्रत्यापत्तियां इनके पास भेजी जायं। (4) चीन का सर्वोच्च जन न्यायालय अपने से निम्न न्यायालयों के कार्यों की देखभाल करता है।

इस प्रकार चीन के सर्वोच्च जन न्यायालय की स्थिति भारत या संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में बहुत अधिक हीन है, क्योंकि इसे न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त नहीं है। इस प्रकार उसके द्वारा संविधान के व्याख्याकार या संरक्षक का कार्य नहीं किया जा सकता है। सर्वोच्च जन न्यायालय जनवादी कांग्रेस के प्रति या उसके सत्रावसान काल में स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी होता है।¹

(2) स्थानीय जन न्यायालय (LOCAL PEOPLE'S COURT)

स्थानीय जन न्यायालयों को तीन श्रेणियों में बांटा गया है :

(अ) बुनियादी या मूल जन न्यायालय (Basic People's Court)

(ब) मध्यवर्ती जन न्यायालय (Intermediate People's Court),

(स) उच्चतर जन न्यायालय (Higher People's Court),

(अ) बुनियादी या मूल जन न्यायालय—बुनियादी या मूल जन न्यायालय काउण्टी, नगरपालिका एवं जिला स्तर पर स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार के प्रत्येक न्यायालय में एक अध्यक्ष, दो उपाध्यक्ष तथा अन्य न्यायाधीश होते हैं। फौजदारी और दीवानी अभियोग की सुनवाई हेतु अलग-अलग न्यायाधीशों की व्यवस्था की जाती है, परन्तु आवश्यक होने पर वे संयुक्त रूप से भी अभियोग सुन सकते हैं। मूल जन न्यायालय छोटे-छोटे मुकदमों को सुनता और निबटाता है। ऐसे अनेक छोटे-छोटे विवाद भी ये न्यायालय निबटाते हैं, जिनमें मुकदमों की आवश्यकता नहीं होती है। ये न्यायालय समझौता समितियों (Conciliation Committees) और अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत न्याय प्रशासन की भी देखभाल करते हैं। अपने कार्यों के लिए यह न्यायालय अपने क्षेत्र की जन कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी होता है।

(ब) मध्यवर्ती जन न्यायालय—प्रान्तों, स्वायत्त प्रदेशों, केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष रूप से अधीन नगरपालिकाओं और स्वागत चारु (Chou) या क्षेत्रों तथा बड़ी नगरपालिकाओं में मध्यवर्ती जन न्यायालय स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार के प्रत्येक न्यायालय में एक प्रधान, एक या दो उप-प्रधान, खण्डों के मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं। मध्यवर्ती जन न्यायालय आवश्यकतानुसार फौजदारी, दीवानी तथा अन्य विभाग या खण्ड स्थापित कर सकते हैं। ये न्यायालय आज्ञासियों और विधियों द्वारा उनके क्षेत्राधिकार में पड़ने वाले मुकदमे, मूल जन न्यायालय द्वारा भेजे गये मुकदमे अथवा उनके निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार रखते हैं।

(स) उच्चतर जन न्यायालय—प्रत्येक प्रान्त में एक उच्चतर जन न्यायालय की व्यवस्था है। इसमें एक अध्यक्ष, एक या अधिक उपाध्यक्ष, बैंचों के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश होते हैं। अन्य न्यायालयों की भांति उच्चतर जन न्यायालय में भी एक फौजदारी विभाग और एक दीवानी विभाग होता है तथा आवश्यकतानुसार अन्य विभाग स्थापित किये जा सकते हैं। ये न्यायालय उन मुकदमों को सुनते हैं जो कानून के अनुसार इनके मौलिक क्षेत्राधिकार में आते हैं। ये उन मुकदमों को सुनते हैं, जो निम्न न्यायालयों से इनके पास हस्तान्तरित

¹ Article 128.

किये जाते हैं। ये न्यायालय निम्न न्यायालयों के निर्णयों तथा आदेशों के विरुद्ध अपील सुनते हैं। न्यायिक निरीक्षण की प्रक्रिया के अन्तर्गत यदि जन प्रोक्यूरैटोरेट द्वारा किसी मामले पर कोई आपत्ति उठायी जाये, तो उस मामले पर भी ये विचार करते हैं।

(3) विशेष जन न्यायालय (SPECIAL PEOPLE'S COURT)

सैनिक न्यायालय, रेल परिवहन न्यायालय तथा जल परिवहन न्यायालय विशेष जन न्यायालय की श्रेणी में शामिल हैं। इस सबके संगठन की रूपरेखा राष्ट्रीय जन कांग्रेस की स्थायी समिति निर्धारित करती है। इस प्रकार के न्यायालय प्रशासनिक स्तर पर सर्वोच्च जन न्यायालय के अधीन होते हैं।

प्रोक्यूरैटर का पद (THE OFFICE OF THE PROCURATOR)

नये संविधान के अनुच्छेद 130 के अनुसार सर्वोच्च जन प्रोक्यूरैटोरेट (Supreme People's Procuratorate) के पद की व्यवस्था की गई है। अन्य स्तरों पर स्थानीय प्रोक्यूरैटर तथा सैनिक एवं विशिष्ट प्रोक्यूरैटर के पद निर्मित किये गये हैं। इनका कार्यकाल 5 वर्ष है। प्रोक्यूरैटोरेट जनरल अधिक से अधिक दो कार्यकाल पूरे कर सकता है। प्रोक्यूरैटोरेट का संगठन कानून द्वारा तय किया जायगा। 'जन प्रोक्यूरैटोरेट अपने कर्तव्यों का निर्वाह स्वतन्त्र रूप से करेंगे तथा अन्य प्रशासकीय संगठन, सार्वजनिक संगठन या व्यक्ति उनके कार्यों में दखल नहीं दे सकेंगे' (अनुच्छेद 131)।

'सर्वोच्च जन प्रोक्यूरैटोरेट इस संगठन का सर्वोच्च अधिकारी होगा और स्थानीय जन प्रोक्यूरैटोरेटों को वह निर्देश दे सकेगा।¹ अपने कर्तव्यों के निर्वहन के लिए वह राष्ट्रीय जन कांग्रेस और स्थायी समिति के प्रति उत्तरदायी होगा।²

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जनवादी चीन की न्याय-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।
2. चीन की न्यायपालिका के संगठन का विश्लेषण कीजिए और प्रोक्यूरैटर पद पर टिप्पणी कीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. चीन की न्याय व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएं बताइए।
2. 'न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं' और 'खुली न्यायिक कार्यवाही' न्याय व्यवस्था की इन दो विशेषताओं पर टिप्पणी कीजिए।
3. सर्वोच्च जन न्यायालय पर टिप्पणी कीजिए।
4. स्थानीय जन न्यायालयों को कितनी श्रेणियों में बांटा गया है? मध्यवर्ती जन न्यायालय पर टिप्पणी कीजिए।
5. प्रोक्यूरैटर पद पर टिप्पणी कीजिए।

1 Article 132.

2 Article 133.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. चीन में सर्वोच्च जन न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश का निर्वाचन कौन करता है ?
(अ) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस (ब) जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति
(स) प्रेजीडियम (द) राष्ट्रपति
2. चीन के सर्वोच्च जन न्यायालय को कौन-सा अधिकार प्राप्त नहीं है ?
(अ) संविधान की व्याख्या (ब) न्यायिक पुनर्विलोकन
(स) महाभियोग लगाना (द) उपर्युक्त सभी
3. चीन में सर्वोच्च जन न्यायालय किसके प्रति उत्तरदायी है ?
(अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस
(स) जनता (द) साम्यवादी दल
4. प्रोक्यूरैटर का पद किस देश के संविधान में पाया जाता है :
(अ) इंग्लैण्ड (ब) अमेरिका
(स) चीन (द) जापान

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (ब), 4. (स)]

प्रश्न 5. चीन में न्यायाधीश किस आधार पर अपना पद ग्रहण करते हैं ?

[उत्तर—राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस की स्थायी समिति उन्हें 5 वर्ष के लिए निर्वाचित करती है।]

प्रश्न 6. चीन के जनवादी गणराज्य में कितने प्रकार के न्यायालय हैं ?

[उत्तर—तीन प्रकार के न्यायालय—1. सर्वोच्च जन न्यायालय, 2. स्थानीय जन न्यायालय, 3. विशेष जन न्यायालय]

6

साम्यवादी दल : भूमिका और संगठन

(THE COMMUNIST PARTY : ROLE AND STRUCTURE)

चीन की शासन-व्यवस्था में साम्यवादी दल की भूमिका

दल और शासन—साम्यवादी चीन की दलीय व्यवस्था विश्व के अन्य प्रजातन्त्रात्मक देशों से भिन्न है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत एक से अधिक राजनीतिक दलों के गठन की स्वतन्त्रता होती है, लेकिन चीन में पूर्व सोवियत संघ के समान ही एकदलीय व्यवस्था को अपनाया गया है। इस प्रसंग में पूर्व सोवियत संघ की व्यवस्था और 1954 के संविधान के अन्तर्गत चीन की व्यवस्था में एक अन्तर था। पूर्व सोवियत संघ में दल के महत्व को कानूनी मान्यता प्रदान की हुई है, लेकिन 1954 के संविधान में साम्यवादी दल की भूमिका का कोई उल्लेख नहीं था। दोनों देशों की व्यवस्था में यह मात्र एक औपचारिक भेद था, लेकिन बाद में यह भेद भी समाप्त हो गया है और 1975 के संविधान द्वारा शासन व्यवस्था में साम्यवादी दल की नेतृत्वकारी भूमिका को स्पष्टतया स्वीकार कर लिया गया। इस संविधान के अनुच्छेद 2 में कहा गया है, “चीन के साम्यवादी दल को चीन की समस्त जनता की नेतृत्वकारी स्थिति प्राप्त है। श्रमजीवी वर्ग राज्य पर अपना नेतृत्व अपने अग्रणी साम्यवादी दल के माध्यम से ही रखता है।” 1982 के नये संविधान की प्रस्तावना में भी साम्यवादी पार्टी के महत्व को स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि चीन के साम्यवादी दल के नेतृत्व में चीनी जनता समाजवादी मार्ग का अनुसरण करती रहेगी।¹

चीन की राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत विधायी क्षेत्र की सर्वप्रमुख संस्था राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस और कार्यपालिका क्षेत्र की सर्वप्रमुख संस्था राज्य परिषद् है। 1982 के संविधान द्वारा इन दोनों ही संस्थाओं पर साम्यवादी दल के नेतृत्व को स्वीकार किया गया है। संविधान में कहा गया है कि, “राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस चीन के साम्यवादी दल के नेतृत्व में चीन की राज्य सत्ता का उच्चतम अंग है।” राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस चीन के साम्यवादी दल

1 “Under the leadership of the Communist Party of China and the guidance of Marxism-Leninism and Mao-Zedong thought, the Chinese people of all nationalities will continue to adhere to the people's democratic dictatorship and follow the socialist road.”

—Preamble (Constitution of 1982.)

की केन्द्रीय समिति के सुझाव पर राज्य परिषद् के प्रधानमन्त्री और अन्य सदस्यों की नियुक्ति तथा पदच्युति करती है।

चीन में भी पूर्व सोवियत संघ की भांति साम्यवादी दल और शासन में भेद कर सकना कठिन है और दोनों के बीच विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। इन दोनों ही देशों में दल ही वास्तविक शासन शक्ति है और विभिन्न शासकीय संस्थाएं दल की नीति को क्रियान्वित करने के साधन मात्र हैं। चीनी साम्यवादी दल के पोलिट ब्यूरो के एक सदस्य तुंग पी बू ने स्पष्टतया घोषित किया था कि “क्रान्ति का नेतृत्व करने, सत्ता प्राप्त करने और लोकतन्त्रात्मक अधिनायकवाद की स्थापना करने में साम्यवादी दल राज्य के अंगों का निर्देशक दल बन गया है।” उनके मतानुसार दल और राज्य के अंगों के बीच सम्बन्ध निम्नलिखित सिद्धान्त पर आधारित हैं :

(1) राज्य कार्यों के स्वरूप और दिशा के विषय में दल राज्य को विशिष्ट निर्देश देता है।

(2) दल अपनी नीतियों को राज्य व उसके अंगों के माध्यम से कार्य रूप देता है तथा उनकी कार्यवाहियों की देखरेख करता है।

(3) दल ही राज्य के अंगों में निष्ठापूर्वक व कुशलता से काम करने वाले दल के सदस्यों तथा अन्य व्यक्तियों की छांट और उनकी पदोन्नति करता है।

प्रशासकीय नीति से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण प्रश्न, चाहे वे आन्तरिक प्रशासन से सम्बन्धित हों चाहे वैदेशिक सम्बन्धों से, पहले दल के उच्चतम अंगों में निश्चित किये जाते हैं और बाद में वे राज्य के अंगों द्वारा घोषित किये जाते व क्रियान्वित किये जाते हैं। शेन यू डाई के शब्दों में, “चीनी शासन पर चीन के साम्यवादी दल का पूर्ण नियन्त्रण आधुनिक सर्वसत्तावादी राज्यनीति का सर्वाधिक विस्मयकारी तथ्य है।”¹

न केवल सामान्य प्रशासन, वरन् न्यायपालिका और सेना पर भी साम्यवादी दल का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। चीन में न्यायपालिका सरकार की एक स्वतन्त्र शाखा न होकर, सामान्य प्रशासन का एक अंग मात्र है, जिसका सर्वप्रमुख कार्य व्यक्तियों को समाजवाद के ढांचे में ढालना है। सर्वोच्च जन न्यायालय के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, अन्य न्यायाधीश और प्रोक्यूरेटोरेट सभी साम्यवादी दल के सक्रिय सदस्य होते हैं। सेना पर भी साम्यवादी दल का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। रक्षा परिषद् और रक्षा मन्त्रालय दल के प्रभुत्व में रहते हैं और सेनापति, उप-सेनापति तथा उच्च सैनिक अधिकारी दल के सक्रिय सदस्य होते हैं। सैनिक यूनिटों में भी पार्टी की यूनिटें होती हैं। नवीन संविधान द्वारा तो सेना पर दल के नियन्त्रण को औपचारिक मान्यता भी प्रदान कर दी गयी है। इस संविधान के अनुसार, “चीन की मुक्ति सेना और जन सेना पर चीन के साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष को देश के समस्त सशस्त्र बलों पर नेतृत्व की स्थिति प्राप्त है।” इस प्रकार अब चीन की राजनीतिक व्यवस्था में साम्यवादी दल तथा उसके अध्यक्ष को औपचारिक और कानूनी रूप में वह स्थिति प्राप्त हो गयी है जो स्थिति उसे पूर्व सोवियत संघ अथवा अन्य किसी साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था में भी प्राप्त नहीं थी। सेना का नेतृत्व दल के अध्यक्ष को सौंपने की यह बात माओ के इस

¹ “The Chinese Communist Party's complete control over the government, is perhaps the most amazing phenomenon in modern totalitarian politics.”

—Shen Yu Dai, *Party Rule in China*, p. 171.

विचार के अनुरूप है कि “हमारा यह सिद्धान्त है कि पार्टी सेना को कमाण्ड करती है और सेना को कभी भी पार्टी को कमाण्ड करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता है।”¹

साम्यवादी दल के एकछत्र नियन्त्रण के सम्बन्ध में बाई और मैकरीडीज का कथन है कि “चीन की राजनीति में साम्यवादी दल ही नीति निर्धारित करने वाला और उसे कार्य रूप में परिणत करने वाला केन्द्र है, जो सत्ता के एकाधिकार में किसी भी प्रतियोगी को सहन नहीं करता। शासन और समाज में सभी प्रमुख पदों पर इसके सदस्य आसीन हैं। इसका दर्शन ही एकमात्र सरकारी तौर पर प्रचारित दर्शन है, जो सदस्यों और असदस्यों सभी के लिए समान रूप से मान्य है। यद्यपि दल और शासन एकरूप नहीं है, परन्तु व्यवहार में साम्यवादी दल ही शासन पर अपना एकाधिकारपूर्ण प्रभुत्व कायम किये हुए है।”²

इस प्रकार साम्यवादी दल के द्वारा चीन की समस्त शासन व्यवस्था पर एकाधिकारपूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है। साम्यवादी दल ही वास्तविक शासक है। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि यद्यपि माओत्से तुंग ने 1959 में शासन के सर्वोच्च पद से त्यागपत्र दे दिया और उसके बाद वे शासन से सम्बन्धित किसी पद पर आसीन नहीं थे, लेकिन जीवन-पर्यन्त साम्यवादी चीन के वास्तविक शासक माओ ही थे, इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। निष्कर्ष रूप में बार्नेट के इन शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है कि “साम्यवादी दल अन्तिम राजनीतिक सत्ता और सभी निर्णयों का स्रोत है। यह सेना, शासन, जन राजनीतिक संगठनों और वस्तुतः पेइचिंग शासन के असाधारण रूप से व्यापक राजनीतिक यन्त्र के प्रत्येक तत्व को निर्देशित और नियन्त्रित करता है।”³

चीन में साम्यवादी दल का उदय और विकास

चीन में साम्यवादी दल की स्थापना 1921 में केवल 13 अराजकतावादियों, उग्र पन्थियों और कट्टर मार्क्सवादियों द्वारा शंघाई में की गयी थी। 1925 में इस दल की सदस्य संख्या में कुछ वृद्धि होना प्रारम्भ हुई। लेकिन दल के प्रारम्भिक नेता चेन नू शे और ली ली सान इसे सफल नेतृत्व प्रदान नहीं कर सके और 1933 ई. तक साम्यवादी दल के पतन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। 1933 में जब इस दल का नेतृत्व माओत्से तुंग के हाथ में आया, तभी से इसकी शक्ति में वृद्धि होना प्रारम्भ हुई। जापान के विरुद्ध युद्ध के कारण कोमिन्तांग दल और साम्यवादी दल में सहयोग प्रारम्भ हुआ और इस बात ने साम्यवादी दल को अपनी स्थिति मजबूत करने का सुअवसर दिया। परिणामतः द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक दल के सक्रिय सदस्यों की संख्या 10 लाख हो गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कोमिन्तांग दल

1 “Our principle is that the party commands the gun and the gun must never be allowed to command the Party.”

—Mao Tse Tung

2 “In the politics of China the Chinese Communist Party is clearly the decision making centre and implementing organization which brooks no rival in its monopoly of power. Its members staff all the key positions in government and society. Its ideology is the only officially propagated doctrine, mandatory for non-member and member alike. While the C. C. P. is not identical with the government, it controls the government in the fullest sense of the term.”

—Ward and Macridis, *Modern Political System of Asia*, p. 154.

3 “The Communist Party is the ultimate political authority and the source of all decision making on the mainland China today. It directs and controls the army, the government, the mass political organizations and in fact, every element in the extra-ordinary extensive political apparatus of the Peking regime.”

—Barnett, Dock A., *Communist China and Asia*, p. 154.

और साम्यवादी दल की मिली-जुली सरकार की स्थापना के प्रयत्न असफल रहे और माओ के नेतृत्व में साम्यवादी दल ने भ्रष्ट और प्रतिक्रियावादी कोमिन्तांग शासन के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। मुक्ति युद्ध के वर्षों (1945-49) में इसकी शक्ति में बहुत तेजी से वृद्धि हुई और 1949 में जबकि चीन की मुख्य भूमि की शासन सत्ता इसके हाथ में आयी, उस समय तक इसके सदस्यों की संख्या 45 लाख हो गयी। उसके बाद उनकी शक्ति में और भी तेजी से वृद्धि हुई और 1961 तक साम्यवादी दल के सदस्यों की संख्या 1 करोड़ 70 लाख हो गयी जो 10 लाख से अधिक मूल इकाइयों में गठित हैं। अगस्त 1977 में चीन के साम्यवादी दल की सदस्य संख्या तीन करोड़ 50 लाख से भी बढ़ गयी। 1980 के बाद चीन के साम्यवादी दल के अनुशासन और कार्य-प्रणाली की कठोरता में कमी आयी है और समाज के सभी वर्गों से व्यक्तियों को दल की ओर आमन्त्रित किया जा रहा है। वर्तमान में साम्यवादी दल के सदस्यों की संख्या लगभग 6 करोड़ 64 लाख है। लाईनबारगर ने बीसवीं सदी के छठे दशक में कहा था कि “चीन के साम्यवादी दल को पूर्व सोवियत संघ के बाहर विश्व का सबसे शक्तिशाली राजनीतिक दल कहा जा सकता है।” बीसवीं सदी के नौवें दशक और अन्तिम दशक में तो चीन के साम्यवादी दल ने विश्व की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति की स्थिति को प्राप्त कर लिया है :

दल की सदस्यता—अन्य देशों के साम्यवादी दलों की तरह दल की इकाइयों का एक मुख्य कार्य नये सदस्यों की भर्ती करना है। दल के संविधान की धारा 1 के अनुसार सदस्यता के लिए चार शर्तें आवश्यक हैं :

- (1) दल के कार्यक्रम और संविधान को स्वीकार करना,
- (2) दल के किसी संगठन से सम्बद्ध होना और उसका कार्य स्वीकार करना,
- (3) दल के निर्णयों का पालन करना, और
- (4) सदस्यता शुल्क देना।

भर्ती की प्रक्रिया यह है कि दलीय कार्यों में सक्रिय भाग लेने वाले व्यक्तियों की सूचियां बनायी जाती हैं और उन्हीं में से भावी सदस्य भर्ती किये जाते हैं। सदस्यों की भर्ती सावधानी से की जाती है और सदस्य बनने के पूर्व व्यक्ति एक प्रकार से कुछ समय के लिए उम्मीदवार रहता है। सदस्य को अपने रजिस्ट्रेशन कार्ड पर लिखी निम्न 8 बातें माननी होती हैं :

1. साम्यवादी दल के स्वरूप और दल निर्माण के विषय में लेनिन और स्टालिन के सिद्धान्तों को समझना,
2. दल का देश में अन्तिम उद्देश्य—साम्यवाद की स्थापना को समझना,
3. साम्यवाद के लिए आजीवन संघर्ष हेतु दृढ़ निश्चय करना,
4. दलीय अनुशासन और नेताओं की आज्ञा का पालन करना,
5. सर्वसाधारण के सामान्य हितों को निजी स्वार्थ के ऊपर रखना,
6. आत्म-आलोचना (self-criticism) और आलोचना द्वारा अपनी कमियों का निरीक्षण कर उन्हें दूर करना,
7. सर्वसाधारण जनता की सच्चे हृदय से सेवा करना, उनके मत को सुनना तथा उन्हें दलीय नीति से परिचित कराना,
8. मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ के सिद्धान्तों का अध्ययन करना।

सदस्यों की भर्ती के बाद उन्हें पूर्णरूपेण प्रशिक्षित किया जाता है, उनके आचरण पर कड़ी दृष्टि रखी जाती है और उनकी योग्यता के अनुसार उनकी दल में पदोन्नति होती है। दल की सदस्य संख्या काफी बड़ी होते हुए भी कुल जनसंख्या का अल्पांश ही है।

एकता और अनुशासन—हैराल्ड हिण्टन का विचार है कि “दल की एकता और अनुशासन की भावना पर चीनी साम्यवादी दल में विशेष ध्यान दिया जाता है। त्रुटियाँ करने पर सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाहियाँ की जाती हैं और अपराध के अनुसार उन्हें दण्डित किया जाता है। चेतावनी से लेकर दल के निष्कासन तक दण्ड के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। गम्भीर अपराध के लिए दल जन न्यायालय की सहायता से सदस्यों को दण्डित करता है।”

साम्यवादी दल का संगठन

लोकतन्त्रात्मक केन्द्रीकरण (Democratic Centralism)—पूर्व सोवियत संघ के साम्यवादी दल की तरह चीन का साम्यवादी दल भी पूर्ण केन्द्रीकृत और कठोर, अनुशासनयुक्त और एकाधिकारपूर्ण संगठन है, जो लोकतन्त्रात्मक केन्द्रीकरण के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है। इसके अन्तर्गत दल के सभी पदाधिकारियों का निर्वाचन होता है और प्रत्येक स्तर पर नीति निर्धारण में सदस्यों को भाग लेने और अपना मत प्रकट करने का अधिकार है, कम-से-कम जब तक कि कोई निर्णय न लिया जाय। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सदस्य को दलीय नीति की आलोचना करने का भी अधिकार है। इन लोकतन्त्रीय तत्वों के साथ दल में केन्द्रवादी तत्व भी हैं, जिनके अनुसार उच्चतर दलीय उपकरणों के निर्णय निम्नतर दलीय निकायों को सदैव ही मान्य होते हैं। व्यवहार में दल के अन्तर्गत केन्द्रीकरण अधिक है और लोकतन्त्र कम। दल के सदस्यों में मतों और कार्यों पर केन्द्रीय नेतृत्व का पूर्ण नियन्त्रण रहता है।

चीन में साम्यवादी दल का संगठन पिरामिड के आकार का है। इस पिरामिड का आधार ‘सेल’ (Cell) है और शीर्ष पर ‘पोलिट ब्यूरो’ (Polit Bureau) है।

(1) **प्रारम्भिक संगठन सेल**—दल के संगठन में प्रारम्भिक स्तर पर ‘सेल’ है, जो 20 सदस्यों की प्राथमिक इकाई होता है। ये इकाइयाँ कृषि फार्म, कारखानों या सेना में हो सकती हैं। इसके ऊपर ग्रामीण या शहरी कांग्रेस होती है, जो काउण्टीज के सदस्यों का निर्वाचन करती है। काउण्टीज प्रादेशिक कांग्रेसों को, और ये कांग्रेस राष्ट्रीय कांग्रेस को चुनती हैं। राष्ट्रीय दल कांग्रेस के सदस्यों की संख्या 1900 से अधिक है। संविधान के अनुसार राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्य और उसकी शक्तियाँ सर्वोच्च सत्ताधारी अंग जैसी हैं, जिनमें ये प्रमुख हैं—केन्द्रीय समिति का चुनाव, दल के संविधान और कार्यक्रम को दोहराना तथा उनमें आवश्यक संशोधन करना, चालू नीति के मुख्य प्रश्नों का निर्णय करना और विभिन्न अंगों द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट को स्वीकार करना। किन्तु यथार्थ में राष्ट्रीय कांग्रेस साम्यवादी दल का सर्वोच्च सत्ताधारी अंग नहीं है, यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि सन् 1928 से 1945 तक दल की कोई राष्ट्रीय कांग्रेस नहीं हुई और न ही कोई कांग्रेस 1945 के बाद के वर्षों में हुई जबकि विधान के अनुसार उसका अधिवेशन प्रति तीन वर्ष बाद होना चाहिए।

(2) **केन्द्रीय समिति**—राष्ट्रीय कांग्रेस दल का एक बड़ा निकाय है और आवश्यकता होने पर शीघ्रता के साथ उसकी बैठक आमन्त्रित भी नहीं की जा सकती है। अतः राष्ट्रीय कांग्रेस की एक केन्द्रीय समिति की स्थापना की गयी है जिसका निर्वाचन राष्ट्रीय दल कांग्रेस

करती है। यह अपेक्षाकृत छोटा निकाय है जिसके अन्तर्गत वर्तमान में 198 सदस्य और 158 वैकल्पिक सदस्य हैं।

दल के संविधान के अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि जब राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन न हो रहा हो, तब यह समिति दल का संचालन करेगी। केन्द्रीय समिति केन्द्रीय राजनीतिक ब्यूरो, सचिवालय एवं 'दल नियन्त्रण आयोग' का निर्वाचन करती है।

(3) पॉलिट ब्यूरो (Polit Bureau)—यह केन्द्रीय समिति की तुलना में छोटा निकाय है, जिसकी सदस्य संख्या वर्तमान में 24 है तथा इनके अतिरिक्त एक वैकल्पिक सदस्य होता है। यह अत्यन्त प्रभावी एवं महत्वपूर्ण अंग है जो दल के संगठन को संचालित करता है। पॉलिट ब्यूरो दल की केन्द्रीय समिति के अधिवेशन आमन्त्रित करता है और अपने निर्णयों को उसके पास भेजता है।

परन्तु पोलिट ब्यूरो में भी अन्तिम शक्ति 9 सदस्यों की स्थायी समिति में केन्द्रित होती है जो पार्टी के सर्वोच्च नेता होते हैं। इस 'स्थायी समिति' (इसे केन्द्रीय समिति भी कहा जाता है) को 'दल का मस्तिष्क' कहा जाता है। अतीत में माओ त्से तुंग, चाऊ एन लाई, लिन पियाओ और चू तेह जैसे नेता इसमें रहे और वर्तमान में भी चीन की राजनीतिक व्यवस्था में सर्वाधिक प्रभाव रखने वाले व्यक्ति इसके सदस्य हैं।

(4) सचिवालय—इसमें 7 सदस्य हैं और दल का महासचिव इसका अध्यक्ष होता है। यह प्रतिदिन दल के केन्द्रीय अंगों, ब्यूरो एवं समितियों द्वारा दल के कार्य संचालन के विषय में निर्देश देता रहता है।

(5) दल नियन्त्रण आयोग—यह भी केन्द्रीय समिति का एक अंग है जिसमें 1 सचिव, 7 उपसचिव तथा 18 सदस्य होते हैं। दल नियन्त्रण आयोग का कार्य यह देखना है कि दल की नीतियों और आदेशों का सभी अंग ठीक से पालन कर रहे हैं अथवा नहीं। इसके द्वारा अनुशासन सम्बन्धी मामलों पर विचार कर अनुशासन लागू करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाते हैं। दल के सदस्यों की शिकायतों और अपीलों को निबटाने की शक्ति इस आयोग को सौंपी गई है।

इस प्रकार साम्यवादी दल का समस्त ढांचा 'लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद' के सिद्धान्त पर आधारित है।

चीन का शासन : लोकतन्त्रीय या अधिनायकवादी

(GOVERNMENT OF CHINA : DEMOCRATIC OR DICTATORSHIP)

रूस के समान ही चीन की शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में भी इस बात पर बहुत अधिक विवाद है कि इसे लोकतन्त्रीय व्यवस्था कहा जाना चाहिए या अधिनायकवादी। साम्यवादी चीन के नेता अपनी शासन व्यवस्था को 'जनवादी लोकतन्त्र' (People's Democracy) का नाम देते हैं और गर्वपूर्वक घोषणा करते हैं कि उनकी शासन व्यवस्था पूंजीवादी देशों के 'बुर्जुआ लोकतन्त्र' की तुलना में निश्चित रूप से बहुत अधिक श्रेष्ठ है। लेकिन पश्चिमी लेखक चीन की शासन व्यवस्था को लोकतन्त्रीय मानने के लिए तैयार नहीं हैं। इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों का अध्ययन इन रूपों में किया जा सकता है :

चीनी संविधान और व्यवस्था में लोकतन्त्र के लक्षण

1940 में माओत्से तुंग ने उद्घोषणा की थी 'चीन का भावी 'नया प्रजातन्त्रात्मक राज्य' (New Democratic State) 'पूँजीवादी सर्वाधिकारवाद' तथा 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद'

से सर्वथा भिन्न होगा। चीन में एक ऐसे राज्य की स्थापना की जायेगी जिसमें सर्वहारा वर्ग, कृषक, श्रमिक, बुद्धिजीवी तथा जनता के अन्य वर्गों का समुचित प्रतिनिधित्व होगा और जनतन्त्र के सुदृढ़ आधार पर उसकी नींव रखी जायेगी।”¹ इसके बाद 1945 ई. में जब सामान्य कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की गयी तो माओ ने घोषित किया कि “हम एक ऐसी शासन व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसे ‘नव प्रजातन्त्र’ का नाम दिया जायेगा और जो बहुसंख्यक जनता की इच्छा पर आधारित विभिन्न दलों की मिली-जुली लोकतन्त्रात्मक सरकार होगी।” व्यवहार में भी 1949 में जब साम्यवादियों द्वारा सत्ता हस्तगत की गयी, तो संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी जिसमें विभिन्न लोकतान्त्रिक तत्वों को सम्मिलित किया गया।

1954 में जिस नवीन संविधान को अपनाया गया, उसके प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि “जनवादी लोकतान्त्रिक चीन सर्वहारा के अधिनायकत्व का समाजवादी राज्य है। श्रमिक वर्ग इसका नायक है और वह श्रमिकों तथा कृषकों के सहयोग पर आधारित है।” संविधान की प्रस्तावना और उसकी अनेक धाराएं स्पष्ट बताती हैं कि जनता का व्यापक जनवादी मोर्चा चीन की जनवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का मूल आधार है।

संविधान और शासन व्यवस्था में अन्य भी कुछ लोकतान्त्रिक लक्षण हैं। चीन की जनवादी कांग्रेस के निर्वाचन एवं प्रतिनिधित्व का जो विवरण संविधान में दिया गया है, वह प्रजातन्त्रीय ही है क्योंकि संविधान के अनुसार ‘राज्य परिषद् (State Council) राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी होगी।’ इसी प्रकार संविधान में अधिकार और कर्तव्यों की घोषणा प्रजातन्त्र के प्रति अपना झुकाव प्रकट करती है। इन अधिकारों के अनुसार, ‘कानून के समक्ष सभी समान होंगे’ और ‘सभी व्यक्तियों को रोजगार का अधिकार होगा।’ सभी राष्ट्रीय जातियों को समान माना गया है और उन्हें इसी आधार पर प्रतिनिधित्व देने की बात भी कही गयी है। कुछ तो ऐसी बातें हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि चीन का संविधान प्रजातन्त्र के मार्ग पर पश्चिमी देशों से भी आगे है। उदाहरण के लिए, प्रत्यावहन (Recall) की व्यवस्था ऐसी ही है जिसके अनुसार जनता निर्वाचित प्रतिनिधि को वापस बुला सकती है। संविधान में यह भी व्यवस्था है कि किसी शासनाधिकारी के कार्य से हानि पहुंचने पर नागरिक उससे हर्जाना वसूल कर सकते हैं। उपरोक्त लक्षणों के आधार पर कहा जा सकता है कि संविधान द्वारा चीन में एक जनतान्त्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी है।

शासन व्यवस्था वस्तुतः अधिनायकवादी

चीन के संविधान द्वारा स्थापित व्यवस्था में, यद्यपि सभी प्रजातान्त्रिक लक्षण विद्यमान हैं, लेकिन अन्य साम्यवादी देशों के समान ही चीन के सम्बन्ध में भी ये ऊपरी लक्षण नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। चीनी शासन व्यवस्था वस्तुतः अधिनायकवादी है, इस मत की पुष्टि में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं :

(1) एकदलीय व्यवस्था—चीन के संविधान में ‘जन प्रभुता’ (Popular sovereignty) की बात कही गयी है, लेकिन जन प्रभुता को कार्य रूप में परिणित करने के साधन नहीं

1 “The future New Democratic State in China would differ from the old democracy as well as from the “proletarian dictatorship” of the Soviet Union. In China it was to be a state system in which the proletariat, the peasantry, the intelligentsia and other sections of the petty bourgeoisie would constitute the basic forces.”

—Mao Tse Tung, *Selected Works*.

अपनाये गये हैं, लोकतन्त्र या जनप्रभुता का व्यावहारिक तात्पर्य यह है कि जनता जिस राजनीतिक दल या व्यक्ति या समूह को शासन सत्ता प्रदान करना चाहे, कर सके। लेकिन चीन में वस्तुतः एक ही राजनीतिक दल साम्यवादी दल का अस्तित्व होने के कारण यह सम्भव नहीं है। एक दलीय व्यवस्था के कारण जन सम्प्रभुता साम्यवादी दल की सर्वोच्चता में परिणत हो गयी है और वस्तुतः चीन में दल के शीर्ष नेता का अधिनायकवादी शासन है।

मताधिकार और चुनावों के सम्बन्ध में संविधान द्वारा की गयी व्यवस्था भी नितान्त भ्रमपूर्ण है। यद्यपि संविधान सभी नागरिकों को मताधिकार प्रदान करता है, लेकिन किन व्यक्तियों को 'नागरिक' माना जाय, यह बात दलीय नेतृत्व द्वारा निश्चित की जाती है। अनेक व्यक्तियों को इस आधार पर नागरिक मानने से इन्कार कर दिया गया है कि वे जनता के शत्रु हैं। चुनाव एक दिखावा मात्र है, क्योंकि इसके आधार पर जनता साम्यवादी दल के स्थान पर किसी अन्य राजनीतिक दल की सरकार स्थापित नहीं कर सकती, चाहे वह साम्यवादी दल की सरकार से कितनी ही अधिक असन्तुष्ट क्यों न हो। माइकेल टी. फ्लोरेन्की ने लिखा है कि "राजनीतिक लोकतन्त्र का सार उन मतों को, जो सत्तारूढ़ दल के मत से मेल नहीं खाते, रखने और स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने का अधिकार है। संगठित विरोध आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणाली का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है।" चीन में संगठित विरोध की व्यवस्था न होने के कारण चीन की शासन व्यवस्था को लोकतन्त्रीय नहीं कहा जा सकता। बीसवीं सदी के नौवें और अन्तिम दशक में चीन सुधारवाद के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है, लेकिन अक्टूबर 1992 में आयोजित 14वीं पार्टी कांग्रेस तथा सितम्बर 1997 में आयोजित 15वीं कांग्रेस में स्पष्ट कर दिया गया है कि, 'चीन पाश्चात्य ढंग की बहुदलीय व्यवस्था को कभी नहीं अपनायेगा'

(2) साम्यवादी दल का अत्यधिक कठोर संगठन—चीन में न केवल साम्यवादी दल का शासन है, वरन् साम्यवादी दल का संगठन और अनुशासन भी अत्यधिक कठोर होने के कारण यह दल के सर्वोच्च नेता माओ या साम्यवादी दल के पॉलिट ब्यूरो के अधिनायकवाद में परिणत हो गया है। पूर्व सोवियत संघ के समान ही चीन की शासन व्यवस्था और साम्यवादी दल के सम्बन्ध में लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद (Democratic Centralism) की बहुत अधिक चर्चा की जाती है, किन्तु वस्तुतः इस तथाकथित 'लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद' में केन्द्रवाद ही केन्द्रवाद है, लोकतन्त्र नहीं। प्रारम्भ में पेकिंग शासन ने यह प्रभाव उत्पन्न किया था कि वह उदारवादी है और साम्यवादी दल के अन्दर तथा बाहर विरोधियों को सहन किया जा सकता है। 1965 में माओत्से तुंग ने कहा था कि मैं चाहता हूँ कि शत-शत फूल खिलें और चीन में विभिन्न विचारधाराएं पनपें।¹ लेकिन बाद में दल के शीर्ष नेताओं की विचारधारा से असहमत व्यक्तियों पर जिस प्रकार से अनाचार किये गये, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि यह उदारवादी घोषणा विरोधियों को मैदान में पकड़ने का जाल मात्र थी। 'पीपुल्स डेली' (People's Daily) ने स्वीकार किया कि सांपों को तभी समाप्त किया जा सकता है जबकि उन्हें खुले में बाहर लाया जाये।² साम्यवादी दल के अन्तर्गत निरन्तर शुद्धि आन्दोलन (Rectification campaign) होते रहते हैं, जिनके आधार पर शीर्ष नेताओं से तनिक भी असहमति रखने वाले व्यक्तियों

¹ 'Let hundred flowers blossom and let diverse schools for thought content.'

² 'Serpents can only be exterminated if they are brought out in the open.'

को दल से निकाल बाहर कर दिया जाता है और इस कार्य में आवश्यकतानुसार हिंसा का प्रयोग भी किया जाता है।

(3) नागरिक अधिकार भ्रमपूर्ण—चीन के संविधान द्वारा अपने नागरिकों को जो नागरिक अधिकार और स्वतन्त्रताएं प्रदान की गयी हैं, वे नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। विचार और भाषण, प्रदर्शन, साहित्यिक स्वतन्त्रता और प्रेस की स्वतन्त्रता का अधिकार देते हुए उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि इनका प्रयोग साम्यवादी विचारधारा की सीमा में रहकर ही हो सकता है अर्थात् अधिकार एक हाथ से वापस भी ले लिये गये हैं। चीन के संविधान में 'बन्दी प्रत्यक्षीकरण' (Habeas Corpus) की कोई व्यवस्था न होने के कारण नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता शासन की दया पर आश्रित हो गयी है। अधिकार इस दृष्टि से भी भ्रमपूर्ण हैं कि संविधान के द्वारा अधिकार तो प्रदान कर दिये गये हैं, लेकिन उनकी क्रियान्विति का भार न्यायपालिका को नहीं सौंपा गया है। वस्तुस्थिति यह है कि यदि एक व्यक्ति के विचार और कार्य तनिक भी साम्यवादी दल के विरुद्ध हैं तो उसे कोई सुरक्षा प्राप्त नहीं हो सकती।

(4) न्यायपालिका स्वतन्त्र नहीं—स्वतन्त्र न्यायपालिका प्रजातन्त्र की एक प्रमुख शर्त है, लेकिन चीन में न्यायपालिका स्वतन्त्रता नहीं वरन् शासन की विचारधारा से बंधा हुआ एक अंग मात्र है। चीन की न्यायपालिका संविधान और अधिकारों की रक्षा करने का दावा नहीं कर सकती। प्रोक्यूरेटर्स की व्यवस्था को सिद्धान्त में नौकरशाही ज्यादातियों और न्यायिक त्रुटियों को दूर करने का साधन बताया गया है। लेकिन वस्तुतः यह न्यायपालिका को कार्यपालिका और दलीय विचारधारा के अधीन करने का एक यन्त्र मात्र है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आक्रामक नीति—प्रजातान्त्रिक राज्यों से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे शान्ति की नीति अपनाते हुए सभी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करेंगे, लेकिन यह नितान्त स्पष्ट है कि चीन शान्ति की नीति में विश्वास नहीं करता। तिब्बत, कोरिया, भारत और वियतनाम आदि के सम्बन्ध में चीन के द्वारा विस्तारवादी नीति अपनायी गयी और वह अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने में अनवरत रूप से संलग्न है।

इस प्रकार चीन के साम्यवादी नेता अपनी शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में चाहे जो दावे करें, वस्तुतः चीन एक अधिनायकवादी और पूर्णतया नियन्त्रित व्यवस्था वाला राज्य है। शिक्षा और ज्ञान-वर्द्धन के समस्त साधनों जैसे स्कूल, प्रेस, थियेटर और सिनेमा आदि पर शासन का पूर्ण नियन्त्रण है और इन सबका उपयोग नागरिकों पर नकली एकमतता आरोपित करने के लिए किया जाता है। जहां तक शासन को प्राप्त जन-समर्थन का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि चीन के शासन को जन समर्थन प्राप्त है। लेकिन जन समर्थन होने के कारण ही किसी राज्य को प्रजातान्त्रिक नहीं कहा जा सकता। हिटलर को व्यापक जन समर्थन प्राप्त था और जब कभी हिटलर जनता के बीच आता था तो हिटलर की जय-जयकार के गगनभेदी स्वर होते थे। लेकिन इस आधार पर नाजी शासन को लोकतान्त्रिक नहीं कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या यह जन समर्थन स्वैच्छिक है और लोकतान्त्रिक साधनों से प्राप्त किया गया है। चीन के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। माओ के शासन को जनता के द्वारा जो समर्थन प्रदान किया गया वह बहुत कुछ सीमा तक 'सामूहिक आधीनता' की स्थिति थी और यह समर्थन आधुनिक सर्वाधिकारवाद के शक्तिशाली दमनात्मक

तरीकों से प्राप्त किया गया है। माओ की मृत्यु के बाद नवीन शासक वर्ग के सम्बन्ध में भी स्थिति निश्चित रूप से यही है। अतः हैरोल्ड सी. हिण्टन के शब्दों में कहा जा सकता है कि "किसी भी उचित परिभाषा के अनुसार यह स्पष्ट है कि चीन की शासन व्यवस्था सर्वाधिकारवादी है।"¹

यह तथ्य है कि चीन में उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था नहीं है और जनता का एक भाग राजनीतिक व्यवस्था से घोर असन्तुष्टि रखता है, यह बात 1989 में 'थियनामन चौक' के ऐतिहासिक घटनाचक्र से भी स्पष्ट हो गई है। जनता के एक वर्ग, विशेषतया नवयुवकों और छात्रों ने जब लाखों की संख्या में एकत्रित होकर नागरिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताओं और व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन की मांग की तब न केवल उन्हें गोलियों से भून दिया गया, वरन् उन पर टैंकों से गोले बरसाये गये। हजारों व्यक्ति मौत के घाट उतार दिये गये। अपने ही नागरिकों के विरुद्ध ऐसा बल प्रयोग किया गया, जिसका अभी हाल ही के वर्षों में कोई उदाहरण नहीं मिलता। 'थियनामन चौक' की घटना के बाद के वर्षों में भी चीन में नागरिक अधिकारों के निरन्तर उल्लंघन की घटनाएँ प्रकाश में आई हैं। आज जनता के एक वर्ग द्वारा चीन की राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, चीन के साम्यवादी दल का नेतृत्व भी उदारवाद की दिशा में आगे बढ़ रहा है। आगे आने वाले वर्ष चीन की राजनीतिक व्यवस्था के लिए निर्णयकारी सिद्ध हो सकते हैं।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जनवादी चीन में साम्यवादी दल के लक्ष्य एवं संगठन का वर्णन कीजिए।
2. जनवादी चीन के शासन में साम्यवादी दल की भूमिका की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
3. चीन में साम्यवादी दल के महत्व के आलोचनात्मक परीक्षण करते हुए स्पष्ट कीजिए कि दल का शासन पर कहां तक नियन्त्रण है?
4. 'चीन की शासन व्यवस्था का केवल स्वरूप जनतन्त्रात्मक है, वास्तविक में यह जनतन्त्रीय नहीं है।' क्या आप इस दृष्टिकोण से सहमत हैं? कारण सहित उत्तर दीजिए।

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. चीन की शासन व्यवस्था में साम्यवादी दल की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
2. चीन के साम्यवादी दल की सदस्यता प्राप्त करने के नियम क्या हैं?
3. चीन में साम्यवादी दल के संगठन के विभिन्न स्तर बताइए।
4. चीन की शासन व्यवस्था में लोकतन्त्र के लक्षण बताइए।
5. चीन की शासन व्यवस्था में अधिनायकवाद के लक्षण बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. जनवादी चीन की शासन व्यवस्था में वस्तुतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका किसकी है?
 (अ) राज्य परिषद (ब) राष्ट्रपति
 (स) साम्यवादी दल (द) उप-राष्ट्रपति

¹ "It is clear by any reasonable definitions; that the governmental system of the People's Republic of China is totalitarian."
 —Harold C. Hinton

2. किस देश की राज व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल की भूमिका को संवैधानिक मान्यता दी गई है?

(अ) इंग्लैण्ड

(ब) चीन

(स) अमेरिका

(द) स्विट्जरलैण्ड

3. जनवादी चीन में किस सिद्धान्त को मान्यता दी गई है?

(अ) विधि का शासन

(ब) शक्ति पृथक्करण

(स) लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद

(द) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र

[उत्तर—1. (स), 2. (ब), 3. (स)]

प्रश्न 4. चीन के साम्यवादी दल में शीर्ष पर कौन-सी संस्था स्थित है?

[उत्तर—शीर्ष पर स्थित संस्था है 'पोलिट ब्यूरो' जिसकी सदस्य संख्या है 24; पोलिट ब्यूरो में अन्तिम शक्ति 9 सदस्यों की स्थायी समिति को प्राप्त है।]

प्रश्न 5. चीन की शासन व्यवस्था के दो ऐसे लक्षण बताइए, जिनके आधार पर इसे लोकतान्त्रिक व्यवस्था कहा जाता है?

[उत्तर—ऐसे लक्षण हैं—1. नियमित रूप से चुनावों की व्यवस्था, 2. कानून निर्माण और शासन के लिए लोकतान्त्रिक संस्थाओं की व्यवस्था।]

प्रश्न 6. चीन की शासन व्यवस्था में दो ऐसे लक्षण बताइए, जिनके आधार पर इसे अधिनायकवादी शासन कहा जा सकता है?

[उत्तर—ऐसे दो लक्षण हैं—1. एकदलीय व्यवस्था और साम्यवादी दल का सत्ता पर एकाधिकार, 2. साम्यवादी दल का अत्यधिक कठोर और केन्द्रवादी संगठन।]

भारत का संविधान

1

भारतीय संविधान की विशेषताएं

(SALIENT FEATURES OF THE INDIAN CONSTITUTION)

भारतीय संविधान के निर्माण का पूर्व इतिहास

किसी देश के संविधान का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके इतिहास का अध्ययन बहुत अधिक आवश्यक होता है क्योंकि प्रत्येक संविधान विशेष परिस्थितियों का परिणाम होता है। इसलिए भारतीय संविधान के अध्ययन हेतु उसके संवैधानिक इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। भारतीय संविधान के वैधानिक इतिहास की मोटे तौर पर निम्नलिखित रूप में रूपरेखा दी जा सकती है :

ईस्ट इण्डिया कम्पनी शासन और ब्रिटिश शासन—भारत में आधुनिक काल का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना और ब्रिटिश शासन से होता है। सन् 1600 ई. में अंग्रेज भारत में व्यापार करने के लिए आये और इसी समय उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत की निर्बल राजनीतिक स्थिति से लाभ उठाकर इस कम्पनी ने भारत में राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न किये और सन् 1757 की प्लासी की लड़ाई के बाद कम्पनी सारे भारत की स्वामी हो गयी। धीरे-धीरे उसका अधिकार-क्षेत्र और भी बढ़ गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन में अनेक गम्भीर दोष थे और इन दोषों के परिणामस्वरूप सन्-1857 में एक बड़ा भारी विद्रोह हुआ, जिसे 'भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम' कहा जा सकता है, लेकिन विविध कारणों से यह विद्रोह भारत में ब्रिटिश शासन को समाप्त करने में असफल रहा। सन् 1858 में ब्रिटिश संसद ने 'सत्ता हस्तान्तरण और भारत के श्रेष्ठ शासन हेतु' कानून पास किया जिसके द्वारा कम्पनी के राजनीतिक अधिकारों का अन्त कर दिया गया और भारत का शासन सीधे तौर पर ब्रिटिश सम्राट के हाथ में आ गया।

भारतीय जनता ब्रिटिश शासन से दिन-प्रतिदिन अधिक-से-अधिक असन्तुष्ट होती जा रही थी और भारत में अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। अतः सन् 1885 में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना की गयी जिसके माध्यम से भारतीयों द्वारा ब्रिटिश शासन में अधिक भाग मांगा गया, लेकिन उन्नीसवीं सदी के अन्त तक लोकमान्य तिलक जैसे व्यक्तियों द्वारा यह घोषणा कर दी गयी कि 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।' सन् 1929 में राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि भारतीय स्वराज की प्राप्ति ही हमारा अन्तिम लक्ष्य है। ब्रिटिश शासन के द्वारा भारतीय जनमत को सन्तुष्ट करने के लिए सन् 1861, 1892, 1909, 1919 और 1935 में कानून पास किये गये लेकिन ये सुधार भारतीय जनता को कभी सन्तुष्ट नहीं कर सके।

1939 से 1947 तक का संवैधानिक विकास—ब्रिटिश शासन की 8 अगस्त, 1940 की घोषणा में भारतीयों को युद्ध के बाद औपनिवेशिक स्वराज्य और अपने देश के संविधान का निर्माण करने के अधिकार की बात कही गयी थी। दिसम्बर, 1941 में जापान द्वारा भी अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाने पर युद्ध भारतीय क्षेत्र तक विस्तृत हो गया और ब्रिटेन के लिए युद्ध प्रयत्नों में भारतीयों का सहयोग बहुत अधिक आवश्यक हो गया। इसलिए मार्च 1942 में 'क्रिप्स मिशन' भारत भेजा गया, जिसने कुछ दूसरे शब्दों में 8 अगस्त, 1940 के प्रस्तावों को ही दोहराया। महात्मा गांधी ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार करते हुए कहा था, 'मांगी थी रोटी, मिला पत्थर।'

क्रिप्स योजना की असफलता के बाद 8 अगस्त, 1942 को कांग्रेस ने अपना 'भारत छोड़ो आन्दोलन' प्रारम्भ किया जो भारतीय जनता द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किया गया अभूतपूर्व संघर्ष था। जून 1945 में गवर्नर जनरल लॉर्ड वेवल ने वैधानिक समस्या को हल करने का प्रयत्न किया, लेकिन मुस्लिम लीग की हठधर्मी के कारण कोई समझौता सम्पन्न न हो सका।

युद्ध की समाप्ति पर सन् 1945 में ब्रिटेन में जो चुनाव हुए, उसमें अनुदार दल के स्थान पर भारत की स्वतन्त्रता से सहानुभूति रखने वाले मजदूर दल को विजय प्राप्त हुई। मार्च, 1946 में ब्रिटेन की मजदूर दलीय सरकार ने मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्यों का एक शिष्टमण्डल 'कैबिनेट मिशन' के नाम से भारत भेजा। इस योजना में अन्तरिम सरकार के निर्माण और संविधान सभा की स्थापना के स्पष्ट सुझाव थे। अनेक मतभेदों के पश्चात् अन्त में यह योजना स्वीकार कर ली गयी। इसके अनुसार संविधान सभा के निर्माण हेतु अप्रत्यक्ष चुनाव हुए। दिसम्बर, 1946 में नयी संविधान सभा ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

कैबिनेट मिशन योजना स्वीकार कर लेने के बाद भी मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों ने संविधान सभा में भाग नहीं लिया। इधर 2 सितम्बर, 1946 को पं. नेहरू के नेतृत्व में अन्तरिम सरकार का निर्माण हुआ जिसमें भी प्रारम्भ में मुस्लिम लीग के सदस्य सम्मिलित नहीं हुए। बाद में अक्टूबर 1946 में मुस्लिम लीग के सदस्य मन्त्रिमण्डल में शामिल हुए, किन्तु मन्त्रिमण्डल में शामिल होते हुए भी उन्होंने अपनी असहयोग और बाधा डालने की नीति जारी रखी।

20 फरवरी, 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री लॉर्ड एटली ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी कि ब्रिटिश सरकार जून, 1948 के पूर्व ही भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर देगी। उन्होंने इस दिशा में प्रगति हेतु लॉर्ड माउण्टबेटन को भारत का गवर्नर जनरल बनाकर भेजा। लॉर्ड माउण्टबेटन ने भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों से बातचीत कर लेने के बाद 3 जून, 1947 को अपनी योजना पेश की, जिसे माउण्टबेटन योजना के नाम से जाना जाता है। योजना में भारत की स्वतन्त्रता के साथ-साथ पृथक् पाकिस्तान के निर्माण की बात कही गयी थी। अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के असहयोग तथा साम्प्रदायिक उपद्रवों को देखकर कांग्रेस को भी यह योजना स्वीकार करनी पड़ी। सभी पक्षों द्वारा योजना की स्वीकृति के बाद ब्रिटिश संसद द्वारा 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947' स्वीकार किया गया जिसके अन्तर्गत भारत और पाकिस्तान इस प्रकार के दो राज्यों के निर्माण को स्वीकार किया गया। इस प्रकार 15 अगस्त, 1947 को ये दो नवीन राज्य अस्तित्व में आये।

संविधान सभा की स्थापना—कैबिनेट मिशन योजना के आधार पर भारत में प्रान्तीय व्यवस्थापिका द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों की एक संविधान सभा की स्थापना की

गयी। विभाजन के पूर्व संविधान सभा में 389 सदस्य थे, किन्तु पाकिस्तान बन जाने के बाद इस संविधान सभा में 310 सदस्य ही रह गये। भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा के बाद जो नरेश अपनी रियासतों को भारतीय संघ में मिलाने के लिए सहमत हो गये उनके द्वारा नामजद प्रतिनिधियों ने भी संविधान सभा में भाग लिया। संविधान सभा भारत के विशाल बहुमत की वास्तविक प्रतिनिधि सभा थी और इसमें ऐसे अनुभवी तथा योग्य व्यक्ति थे जिन पर किसी भी देश की संविधान सभा को गर्व हो सकता था। कांग्रेस के तो प्रायः सभी चोटी के नेता पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना आजाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, पं. गोविन्द वल्लभ पंत, श्री बाल गोविन्द खेर, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, श्री के. एम. मुन्शी, आचार्य कृपलानी और टी. टी. कृष्णामाचारी इसके सदस्य थे। कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों से सम्बद्ध व्यक्तियों में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, पं. हृदयनाथ कुंजरू, श्री एम. गोपालास्वामी आयंगर, डॉ. जयकर, बळ्शी टेकचन्द, सर अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, प्रो. के. टी. शाह और डॉ. भीमराव अम्बेदकर प्रमुख थे। महिला सदस्यों में श्रीमती सरोजनी नायडू, श्रीमती हंसा मेहता और श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख प्रमुख थीं।

संविधान सभा की स्थिति—वास्तव में अपने जन्म के समय संविधान सभा पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संस्था नहीं थी। वह कैबिनेट योजना में वर्णित संविधान की मूल रूपरेखा में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी। किन्तु 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम' (अगस्त 1947) ने भारतीय संविधान सभा को वैधानिक दृष्टि से और तथ्य रूप में पूर्ण स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न संस्था बना दिया।

संविधान का निर्माण—संविधान सभा की प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा की अध्यक्षता में हुई, पर 11 दिसम्बर, 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के स्थायी सभापति चुने गये और संविधान निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम 13 दिसम्बर, 1946 को पं. जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में 'उद्देश्य प्रस्ताव' (Objective Resolution) प्रस्तुत किया जो 22 जनवरी, 1947 को स्वीकृत हुआ। इस प्रस्ताव में संविधान सभा ने निश्चय किया कि :

(1) भारत एक पूर्णतया स्वतन्त्र और प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य होगा जिसके द्वारा स्वयं अपने संविधान का निर्माण किया जायगा।

(2) इस समय 'ब्रिटिश भारत' कहे जाने वाले क्षेत्र, भारतीय रियासतों में आने वाले क्षेत्र और ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के बाहर के ऐसे अन्य क्षेत्र, जो स्वतन्त्र प्रभुत्वसम्पन्न भारत में शामिल होना चाहते हैं, सब मिलकर एक संघ कहलायेंगे।

(3) ये तथाकथित क्षेत्र, अपनी वर्तमान सीमाओं में अथवा संविधान द्वारा निश्चित की गयी सीमाओं में संविधान द्वारा की गयी व्यवस्था के अनुसार स्वायत्तशासी इकाइयां होंगे।

(4) भारतीय संघ तथा उनके अन्तर्गत विविध राज्यों में समस्त राजशक्ति का मूल स्रोत जनता ही होगी।

(5) विधि के अनुसार तथा सार्वजनिक नैतिकता के अधीन सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, विचार, भाषण, अभिव्यक्ति, विश्वास, व्यवसाय, संघ के निर्माण और कार्य की स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

(6) अल्पसंख्यक वर्गों, पिछड़ी जातियों व कबायली जातियों के हितों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जायगी।

(7) भारत राज्य क्षेत्र की अखण्डता और भूमि, जल तथा वायु पर उसकी सम्प्रभुता की रक्षा, न्याय तथा सभ्य राष्ट्रों के कानूनों के अनुसार की जायगी।

(8) यह प्राचीन देश विश्व में अपना अधिकार व सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करता है और विश्व-शान्ति तथा मानव जाति के कल्याण में अपना पूर्ण और स्वैच्छिक योग देता रहेगा।

श्री के. एम. मुन्शी ने कहा था कि “श्री नेहरू का उद्देश्य सम्बन्धी यह प्रस्ताव ही हमारे स्वतन्त्र गणराज्य की जन्मकुण्डली है।”¹ भारतीय संविधान में उद्देश्य प्रस्ताव का वही महत्व है जो कि अमरीकी संविधान में स्वतन्त्रता की घोषणा का है।

संविधान सभा ने संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए 29 अगस्त, 1947 को डॉ. भीमराव अम्बेदकर की अध्यक्षता में 7 सदस्यों की एक प्रारूप समिति का गठन किया। इस समिति के अन्य सदस्य थे—श्री एन. गोपालास्वामी आयंगर, अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, मोहम्मद सादुल्ला, के. एम. मुन्शी, बी. एल. मित्र और डी. पी. खेतान। थोड़े समय बाद बी. एल. मित्र का स्थान एन. माधवन राव द्वारा लिया गया और 1948 में डी. पी. खेतान की मृत्यु हो जाने पर उनका स्थान टी. टी. कृष्णामाचारी द्वारा लिया गया।

संविधान प्रारूप समिति ने 315 धाराओं तथा 8 परिशिष्टों का मसविदा तैयार कर उसे 5 नवम्बर, 1948 को संविधान सभा के सामने रखा। इस प्रारूप में 7,535 संशोधन प्रस्तुत किये गये, किन्तु बाद में 2,437 संशोधनों पर ही विचार किया गया और अन्तिम रूप में 395 धाराओं तथा 8 परिशिष्टों का संविधान 29 नवम्बर, 1949 को स्वीकार किया गया। संविधान के कुछ अनुच्छेद इसी दिन से लागू कर दिये गये, पर शेष संविधान 26 जनवरी के दिन का ऐतिहासिक महत्व होने के कारण 26 जनवरी, 1950 से लागू किया गया।

भारतीय संविधान के प्रमुख स्रोत

(MAIN SOURCES OF INDIAN CONSTITUTION)

डायसी ने एक स्थान पर लिखा है, “संविधान की तुलना उस देशी पौधे से की जा सकती है जो विदेशी भूमि पर नहीं उगता” परन्तु डायसी का यह कथन भारतीय संविधान पर पूर्ण रूप से लागू नहीं होता, क्योंकि भारतीय संविधान के निर्माण में देशी और विदेशी अनेक प्रकार के प्रभावों ने प्रमुख भूमिका अदा की है। इस स्थिति के कारण कुछ लोगों के द्वारा भारतीय संविधान को ‘उधार का बैल’ (Bag of Borrowings) कहा गया है, लेकिन वास्तव में इस प्रकार की आलोचना उचित नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय संविधान में अन्य संविधानों की नकल करते हुए उनके सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं किया गया है वरन् उन्हें अपने देश की विशेष परिस्थितियों के अनुसार ढाला गया है। संविधान-निर्माताओं का उद्देश्य ‘मौलिक संविधान’ की रचना नहीं वरन् एक ‘व्यावहारिक संविधान’ (Workable Constitution) था और इसी कारण ऐसा किया गया। भारतीय संविधान के प्रमुख स्रोतों का उल्लेख निम्न प्रकार है :

(1) ‘1935 का भारतीय शासन अधिनियम’ भारतीय संविधान का एक प्रमुख स्रोत रहा है। संविधान की विषय-सामग्री तथा भाषा पर इस अधिनियम का प्रभाव स्पष्टतया देखा जा सकता है। संघ और राज्यों के बीच शक्ति-विभाजन तथा राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों

1 “Objective resolution cast the horoscope of our Sovereign Democratic Republic.”

के सम्बन्ध में व्यवस्था सन् 1935 के अधिनियम जैसी ही है। अधिनियम की लगभग 200 धाराएं ऐसी हैं जिन्हें या तो अक्षरशः या वाक्य-रचना में मामूली परिवर्तन करके संविधान में स्थान दिया गया है।

(2) संविधान में संसदीय व्यवस्था ब्रिटिश संविधान से ग्रहण की गयी है।

(3) मौलिक अधिकारों, सर्वोच्च न्यायालय से सम्बन्धित व्यवस्थाओं और उपराष्ट्रपति के सम्बन्ध में की गयी व्यवस्था पर अमरीकी संविधान का प्रभाव है।

(4) हमारी संघात्मक व्यवस्था बहुत अधिक सीमा तक कनाडा की व्यवस्था के समान है। कनाडा के ही समान हमारे संविधान में संघ के लिए 'फेडरेशन' (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं वरन 'यूनियन' (Union) शब्द का प्रयोग किया गया है और कनाडा के समान अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र को सौंपी गयी हैं।

(5) भारतीय संविधान की कुछ व्यवस्थाएं ऑस्ट्रेलिया के संविधान से मिलती हुई हैं। संविधान की प्रस्तावना में निहित भावनाएं, समवर्ती सूची तथा इस सूची के विषयों पर संघ और इकाइयों के बीच उत्पन्न होने वाले विवादों को निपटाने के उपाय ऑस्ट्रेलिया के संविधान के ही समान हैं।

(6) भारतीय संविधान की कुछ व्यवस्थाएं आयरलैण्ड के संविधान पर आधारित हैं। 'नीति निदेशक सिद्धान्त' का विचार आयरलैण्ड के संविधान से ही लिया गया। इस प्रकार राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल की व्यवस्था तथा राज्यसभा में कला, साहित्य, विज्ञान, आदि से सम्बन्धित विशिष्ट व्यक्तियों के मनोनयन की प्रणाली आयरलैण्ड के संविधान से मिलती-जुलती है।

(7) भारतीय संविधान की संशोधन पद्धति दक्षिण अफ्रीका के संविधान की संशोधन पद्धति से मिलती हुई है।

(8) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 की शब्दावली 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर' जापान के संविधान से ली गयी है।

इस प्रकार सन् 1935 का भारतीय शासन अधिनियम और विश्व के अन्य कुछ प्रमुख संविधान भारतीय संविधान के स्रोत रहे हैं, लेकिन इस आधार पर भारतीय संविधान को 'उधार का बैल' या 'भानुमती का पिटरा' नहीं कहा जा सकता है। सच तो यह है कि संविधान-निर्माताओं ने अन्धे होकर नकल नहीं की थी, उन्होंने केवल उन्हीं व्यवस्थाओं को अपनाया, जिनकी उपयोगिता भारत की वर्तमान परिस्थितियों में थी और उन व्यवस्थाओं को भी भारतीय परिस्थितियों के अनुसार ढाला गया। वास्तव में, विभिन्न संविधानों के सम्मिश्रण से भारत के संविधान में एक ऐसी मौलिकता आ गयी है जो स्वयं भारत की है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना

(PREAMBLE OF THE INDIAN CONSTITUTION)

प्रत्येक संविधान के प्रारम्भ में सामान्यतया एक प्रस्तावना होती है जिसके द्वारा संविधान के मूल उद्देश्यों व लक्ष्यों को स्पष्ट किया जाता है। भारतीय संविधान के प्रारम्भ में भी प्रस्तावना है और यह प्रस्तावना संविधान में जुड़ा हुआ एक श्रेष्ठ आभूषण है। यह तो भारत के प्रजातन्त्रीय गणतन्त्रात्मक राज्य का एक संक्षिप्त, लेकिन सारपूर्ण घोषणा-पत्र है।

भारतीय संविधान की मूल प्रस्तावना में 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) द्वारा कुछ शब्दों को जोड़ा गया और अब संविधान की प्रस्तावना इस प्रकार है :

“हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, समाजवादी, धर्म-निरपेक्ष, लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए उन सब में, व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष सप्तमी संवत् 2006 विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।”¹

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएं

(SALIENT FEATURES OF THE INDIAN CONSTITUTION)

संविधान जीवन का वह मार्ग है जिसे राज्य ने अपने लिए अपनाया है। प्रत्येक राज्य का किसी-न-किसी रूप में संविधान अवश्य ही होता है और संविधान का यह रूप उस देश की परिस्थितियों के अनुसार होता है। प्रत्येक राज्य की परिस्थितियां भिन्न होने के कारण उस देश के संविधान की भी अपनी कुछ विशेष बातें होती हैं जिन्हें संविधान की विशेषताएं कहा जा सकता है। भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) लोकप्रभुता पर आधारित संविधान—भारतीय संविधान लोकप्रिय सम्प्रभुता पर आधारित है अर्थात् यह भारतीय जनता द्वारा निर्मित संविधान है और इसमें अन्तिम शक्ति भारतीय जनता को ही प्रदान की गयी है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है, “हम भारत के लोग.....दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज दिनांक 26 नवम्बर, 1949 को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियम एवं आत्मार्पित करते हैं।”

(2) लिखित और सर्वाधिक व्यापक संविधान—भारत के संविधान की अधिकांश बातें लिखित हैं और इसका निर्माण एक विशेष समय पर हुआ है। इसके अतिरिक्त यह संसार के दूसरे संविधानों से व्यापक है। वर्तमान समय में भारत के संविधान में 395 धाराएं और 12 अनुसूचियां हैं,² जबकि अमरीका के संविधान में केवल 7 ही धाराएं हैं।

यह कहना असत्य न होगा कि नये संविधान की विशालता सन् 1935 के कानून के प्रभाव के कारण है, प्रमुख रूप से जिसे ध्यान में रखकर इस संविधान का निर्माण किया गया है। इसके अतिरिक्त, भारत के संविधान में अधिक-से-अधिक बातों को लिखित रूप प्रदान किया गया है तथा इसे सभी प्रकार से पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है जिससे किसी भी प्रकार के भ्रम के लिए गुंजाइश न रहे। इसमें केन्द्रीय शासन के ढांचे के अतिरिक्त राज्यों की सरकारों के संगठन का भी वर्णन किया गया है। संविधान में ही नागरिकता, मौलिक अधिकार, निदेशक तत्व, अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विशेष अधिकारों का भी समावेश किया गया है, जिसके कारण संविधान इतना अधिक विशाल हो

1 काले छपे शब्द 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में जोड़े गये हैं।

2 मूल संविधान में 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थीं। नवीं अनुसूची संविधान के प्रथम संशोधन द्वारा तथा 10वीं अनुसूची संविधान के 52वें संशोधन द्वारा बढ़ाई गई हैं। भारतीय संविधान में 11वीं और 12वीं अनुसूची 73वें और 74वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर 1993 में जोड़ी गई हैं।

गया। यद्यपि सामान्यतया संक्षिप्तता को अच्छे संविधान का एक लक्षण समझा जाता है किन्तु भारत में नवस्थापित प्रजातन्त्र और देश की परिस्थितियों को देखते हुए कहा जा सकता है कि संविधान की यह विशालता उसका गुण ही है।

(3) **सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य**—संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है।

सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न—भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य है, इसका तात्पर्य यह है कि हमारा राज्य आन्तरिक और बाहरी दोनों ही प्रकार से सर्वोच्च सत्ताधारी है। आन्तरिक प्रभुता का तात्पर्य यह है कि भारत में रहने वाले सभी लोगों और भारत राज्य में स्थित सभी समुदायों पर भारत राज्य को अधिकार प्राप्त है और बाहरी प्रभुता का तात्पर्य यह है कि भारत किसी विदेशी राज्य के अधीन नहीं है तथा दूसरे राज्यों से वह अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। 15 अगस्त, 1947 से पूर्व भारत को यह स्थिति प्राप्त नहीं थी।

लोकतन्त्रात्मक—भारत एक लोकतन्त्रात्मक राज्य है अर्थात् भारत में राजसत्ता जनता में निहित है। जनता को अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार होगा, जो जनता के स्वामी न होकर सेवक होंगे। इस राज्य में साधारण नागरिक राज्य के सबसे बड़े पद को धारण कर सकता है।

गणराज्य—गणराज्य का आशय यह है कि शासन का अध्यक्ष एक निर्वाचित व्यक्ति हो। भारत एक पूर्ण गणराज्य है, क्योंकि भारतीय संघ का अध्यक्ष एक सम्राट न होकर जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति है।

(4) **समाजवादी राज्य**—संविधान सभा में इस बात पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ था कि भारत के द्वारा समाजवाद को राज्य दर्शन के रूप में स्वीकार किया जाय अथवा नहीं। अन्त में यही सोचा गया था कि किसी एक विशेष दर्शन को स्वीकार करने से नवीन विवादों को जन्म मिलेगा। लेकिन इस बात पर सभी भारतीय सहमत रहे हैं कि भारत के लिए समाजवाद का मार्ग ही उपयुक्त हो सकता है। इस सामान्य भावना को स्वीकार करते हुए ही 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में भारत को समाजवादी राज्य घोषित किया गया है।

भारत के द्वारा अपनी विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही समाजवाद को अपनाया जायेगा और भारतीय समाजवाद अन्य अधिक परिचित समाजवादों से अपने आप में भिन्न होगा।

(5) **कठोरता और लचीलेपन का समन्वय**—कानून दो प्रकार के होते हैं : साधारण कानून और संवैधानिक कानून। संवैधानिक कानून उन्हें कहते हैं, जिन पर शासन का सारा ढांचा ही आधारित होता है। यदि संविधान में संशोधन करने के लिए साधारण कानून के निर्माण से भिन्न किसी पद्धति को अपनाना आवश्यक होता है, तो उसे कठोर संविधान कहते हैं। इस दृष्टि से भारत का संविधान एक कठोर संविधान है। संघात्मक शासन-व्यवस्था होने के कारण ऐसा होना आवश्यक भी था लेकिन हमारा संविधान अमरीका के संविधान जितना कठोर नहीं है। संविधान की अनेक धाराएं तो संसद द्वारा साधारण बहुमत से ही बदली जा सकती हैं। भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संविधान में काफी लचीलापन रखा गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत का संविधान न तो कठोर है और न ही बहुत अधिक लचीला।

नवम्बर 2006 ई. तक भारतीय संविधान में 94 संशोधन हो चुके हैं।

(6) धर्मनिरपेक्ष राज्य¹ की स्थापना—संविधान द्वारा भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गयी है जिसका अर्थ यह है कि राज्य और धर्म का क्षेत्र अलग-अलग है, राज्य की दृष्टि से सभी धर्म समान हैं तथा व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म की उपासना की जा सकती है। धर्म के नाम पर राज्य और शासन द्वारा भारत के नागरिकों में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायगा और व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार धार्मिक संस्थाएं स्थापित करने और उनके संचालन का अधिकार होगा। इस प्रकार भारत के सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। भारत राज्य के सम्बन्ध में श्री बैंकटरमण ने ठीक ही कहा है, “भारत राज्य न तो धार्मिक है और न अधार्मिक या धर्म विरोधी; वह धार्मिक संकीर्णताओं से परे रहते हुए धार्मिक मामलों में तटस्थ है।”

(7) एकात्मकता की ओर झुका हुआ संघात्मक शासन—भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार, “इण्डिया अर्थात् भारत राज्यों का एक संघ होगा।”² इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है और उसमें संघात्मक शासन के सभी लक्षण विद्यमान हैं। संविधान ने शासन शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित न कर केन्द्र और राज्य सरकारों में विभाजित कर दी है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। संविधान लिखित और बहुत अधिक सीमा तक कठोर है और इसे सर्वोच्च स्थिति प्रदान की गयी है। उच्चतम न्यायालय को संविधान का रक्षक बनाया गया है जिसे संविधान की व्याख्या करने और केन्द्र एवं राज्यों के बीच संवैधानिक झगड़ों के निर्णय का अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार भारत में संघात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी है, किन्तु इसमें कुछ ऐसे तत्व भी हैं जिनसे इनका झुकाव एकात्मक शासन की ओर स्पष्ट होता है; जैसे—इकहरी नागरिकता, इकहरी न्यायपालिका, अखिल भारतीय सेवाएं, राष्ट्रपति द्वारा राज्यों के राज्यपालों और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति, आदि। अन्त में, राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों के अन्तर्गत, संकटकाल की घोषणा द्वारा तो स्पष्ट रूप से संघात्मक व्यवस्था को एकात्मक व्यवस्था के रूप में बदला जा सकता है।

इस प्रकार हमारे संविधान द्वारा एक लचीले संघ का निर्माण किया गया है, जो परिस्थितियों के अनुसार संघात्मक और एकात्मक दोनों ही रूप ग्रहण कर सकता है। इन सब विशेषताओं के कारण कुछ लेखकों ने भारतीय संघ को ‘अर्ध-संघात्मक’ (Quasi-federal) कहा है। वास्तव में, यह एक ऐसी संघात्मक शासन-व्यवस्था है जिसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।

(8) संसदात्मक शासन-व्यवस्था—व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से जो दो प्रकार की शासन-व्यवस्थाएं होती हैं, उनमें संविधान-निर्माताओं ने केन्द्र और राज्यों में संसदात्मक शासन-व्यवस्था को ही अपनाया है। संसदात्मक शासन के तीन

1 भारत सरकार द्वारा प्रकाशित ‘भारत का संविधान’ (हिन्दी अनुवाद) संस्करण में ‘धर्मनिरपेक्ष’ शब्द के बजाय ‘पन्थनिरपेक्ष’ शब्द का प्रयोग किया गया है जो अधिक उपयुक्त है। सही अर्थों में भारत ‘धर्मनिरपेक्ष’ राज्य न होकर ‘पन्थनिरपेक्ष राज्य’ ही है। ‘Secular’ शब्द का अनुवाद ‘पन्थनिरपेक्ष’ ही होना चाहिए। व्यवहार में ‘Secular’ के लिए ‘धर्मनिरपेक्ष’ शब्द का प्रचलन है, इसलिए धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है।

2 “India, that is Bharat, shall be a union of States.”

प्रमुख लक्षण होते हैं—(क) शासन का एक नाममात्र का प्रधान, (ख) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध, तथा (ग) कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित न होना।

हमारे देश के संविधान में संसदात्मक शासन के तीनों ही लक्षण विद्यमान हैं। राष्ट्रपति भारतीय शासन का नाममात्र का प्रधान है। संविधान के अनुच्छेद 75 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि “भारतीय मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका अर्थात् संसद के प्रति उत्तरदायी होगा” मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल निश्चित नहीं है और लोकसभा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार भारत में इंग्लैण्ड की ही भांति संसदात्मक शासन-पद्धति है।

(9) मूल अधिकार और मूल कर्तव्य—अमरीका, आयरलैण्ड, आदि देशों के संविधानों की तरह हमारे संविधान द्वारा नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं। मूल अधिकारों का तात्पर्य संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकार और स्वतन्त्रताओं से है, जिन्हें केन्द्र तथा राज्य सरकारों के विरुद्ध भी लागू किया जा सकता है। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि संविधान द्वारा ही अधिकारों के साथ-साथ प्रतिबन्धों की व्यवस्था भी की गयी है और इन अधिकारों की क्रियान्विति की भी व्यवस्था है।

संविधान द्वारा नागरिकों को 7 मूल अधिकार प्रदान किये गये थे; लेकिन 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा ‘सम्पत्ति के अधिकार’ को एक मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया है और अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार रह गया है। इस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय नागरिकों को 6 मूल अधिकार प्राप्त हैं।

मूल संविधान में केवल मूल अधिकारों की ही व्यवस्था की गई थी, लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन, 1976 के द्वारा मूल संविधान में एक भाग चौथा ‘अ’ जोड़ा गया है और इसमें नागरिकों के मूल कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा नागरिकों के 10 मूल कर्तव्य निश्चित किये गये हैं।

(10) नीति निदेशक तत्व—भारतीय संविधान के चौथे अध्याय में शासन संचालन के लिए कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है और इन्हें ही राज्य की नीति के निदेशक तत्व अर्थात् नीति निश्चित करने वाले तत्व कहा गया है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों का कर्तव्य होगा कि वे राज्य के संचालन और कानून निर्माण में इन तत्वों का ध्यान रखें, किन्तु वे तत्व किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किये जा सकेंगे। इस प्रकार निदेशक तत्वों को वैधानिक शक्ति तो प्राप्त नहीं है, लेकिन इन्हें नैतिक और राजनीतिक शक्ति अवश्य ही प्राप्त है। इन तत्वों में भारत-राज्य को एक वास्तविक लोककल्याणकारी राज्य का स्वरूप देने के लिए आवश्यक सिद्धान्तों की घोषणा की गयी है।

(11) स्वतन्त्र न्यायपालिका और अन्य स्वतन्त्र अभिकरण—संघात्मक शासन-व्यवस्था में न्यायपालिका संविधान की व्याख्याता और रक्षक होने के कारण उनका स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी न्यायपालिका की स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक हो जाती है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता हेतु संविधान में अनेक विशेष व्यवस्थाएँ की गयी हैं; यथा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होना, न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त होना, न्यायाधीशों के कार्यकाल में उनके वेतन में कमी न हो सकना, न्यायाधीशों के आचरण पर व्यवस्थापिका द्वारा विचार न कर सकना, आदि।

इस प्रकार न्यायपालिका स्वतन्त्र है और लगभग 55 से अधिक वर्षों की अवधि में न्यायपालिका अपनी स्वतन्त्रता का अनेक बार परिचय दे चुकी है। 1992-2006 के वर्षों में तो न्यायपालिका ने 'न्यायिक सक्रियता' की स्थिति को अपनाकर व्यवस्थापिका और विशेषतया कार्यपालिका की सत्ता पर एक बड़ी नियन्त्रणकारी शक्ति का परिचय दिया है।

स्वतन्त्र न्यायपालिका के अतिरिक्त संविधान के द्वारा अन्य स्वतन्त्र अभिकरणों की भी व्यवस्था की गयी है जिसमें निर्वाचन आयोग, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक व लोक-सेवा आयोग प्रमुख हैं।

(12) संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय—इंग्लैण्ड में संसद सर्वोच्च है और ब्रिटिश संसद द्वारा निर्मित कानून को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इसके विपरीत, अमरीका के संविधान में न्यायपालिका की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अपनाया गया है, जिसका अर्थ है कि न्यायपालिका संविधान की रक्षक और अभिभावक है तथा इस नाते प्रत्येक ऐसे कानून और प्रशासनिक आदेश को अवैध घोषित कर सकती है जो संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध हों।

भारतीय संविधान के निर्माता संसदीय प्रभुसत्ता में विश्वास करते थे, लेकिन संघात्मक व्यवस्था को अपनाये जाने के कारण न्यायपालिका को कुछ सीमा तक संविधान के अभिभावक और रक्षक की स्थिति भी प्रदान की गयी है। इस प्रकार भारतीय संविधान में मध्यम मार्ग को अपनाते हुए संसदीय प्रभुता और न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय स्थापित किया गया है।

(13) साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की समाप्ति और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ—ब्रिटिश सरकार के द्वारा भारत में साम्प्रदायिक निर्वाचन की पद्धति को अपनाया गया था, जिसके कारण भारत की विभिन्न जातियों, विशेषतया हिन्दू और मुसलमानों में बहुत अधिक कटुता उत्पन्न हो गयी। स्वतन्त्र भारत के संविधान में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को समाप्त कर संयुक्त प्रतिनिधित्व की पद्धति और वयस्क मताधिकार को अपनाया गया है। 61वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर अब 18 वर्ष की आयु प्राप्त प्रत्येक भारतीय नागरिक को मताधिकार प्राप्त है।

(14) अल्पसंख्यक तथा पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण की विशेष व्यवस्था—अनेक बार प्रजातन्त्र की आलोचना करते हुए इसे 'बहुमत का अत्याचार' कहा जाता है, लेकिन भारतीय संविधान के निर्माताओं ने इस प्रकार की आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं रख छोड़ा है। संविधान में अल्पसंख्यकों के धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक हितों की रक्षा की विशेष व्यवस्था की गयी है। इसके अतिरिक्त, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को संविधान के अनुच्छेद 330 और 332 के अन्तर्गत लोकसभा तथा राज्य विधान सभाओं में आरक्षण प्रदान किया गया है। प्रारम्भ में यह व्यवस्था 25 जनवरी, 1960 तक के लिए की गई थी। किन्तु संविधान में संशोधन कर इसकी सीमा को बढ़ाया जाता रहा है और अब 79वें संवैधानिक संशोधन (1999) के आधार पर इन प्रतिनिधि संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था को 25 जनवरी, 2010 ई. तक के लिए बढ़ा दिया गया है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए सेवाओं में दावों (Claims) की व्यवस्था अनुच्छेद 335 के अन्तर्गत है और संविधान के अनुसार इन दावों, जिन्हें सामान्यतया आरक्षण के नाम से जाना जाता है, के लिए कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है। यह सुविधा इस दृष्टि से दी गयी है कि इन वर्गों की बहुत अधिक गिरी हुई स्थिति होने के कारण इन वर्गों को विकास के लिए विशेष सुविधाओं की आवश्यकता

है। संविधान की यह व्यवस्था समानता और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं वरन् वास्तविक और व्यावहारिक रूप में इन सिद्धान्तों की प्राप्ति के प्रयत्न हैं।

(15) एकल नागरिकता—भारतीय संविधान के द्वारा संघात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी है और सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि संघ राज्य के नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होनी चाहिए। प्रथम, संघ की नागरिकता और द्वितीय, संघ की इकाई या राज्य की नागरिकता। संयुक्त राज्य अमरीका और अन्य संघ राज्यों में ऐसी ही व्यवस्था है। लेकिन भारतीय संविधान-निर्माताओं का विचार था कि दोहरी नागरिकता भारत की एकता को बनाने रखने में बाधक सिद्ध हो सकती है। अतः संविधान-निर्माताओं द्वारा संघ राज्य की स्थापना करते हुए भी दोहरी नागरिकता को नहीं, वरन् एकल नागरिकता के आदर्श को ही अपनाया गया है।

(16) सामाजिक समानता की स्थापना—सामान्यतया संविधानों के द्वारा अपने नागरिकों की राजनीतिक और कानूनी समानता पर ही बल दिया जाता है, सामाजिक समानता पर नहीं। केवल भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि संविधान के द्वारा सामाजिक क्षेत्र में भी नागरिकों की समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि “अस्पृश्यता का अन्त किया गया है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। किसी भी रूप में अस्पृश्यता का आचरण विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।” भारत के दलित वर्गों की गिरी हुई स्थिति में सुधार करने के लिए संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था करना आवश्यक भी था।

(17) संकटकालीन उपबन्ध—संकटकाल के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध हमारे संविधान की एक अन्य विशेषता है जिसके अनुसार संकटकाल में हमारी राज्य-व्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं। संविधान में तीन प्रकार के संकट काल का उल्लेख किया गया है :

- (i) युद्ध या बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति के उत्पन्न होने पर (अनुच्छेद 352)।
- (ii) राज्यों में संवैधानिक व्यवस्था के भंग हो जाने पर (अनुच्छेद 356)।
- (iii) वित्तीय संकट के उत्पन्न होने पर (अनुच्छेद 360)।

संकटकालीन घोषणा का सबसे प्रमुख प्रभाव यह होता है कि हमारा संघात्मक शासन एकात्मक हो जाता है। ये संकटकालीन उपबन्ध संविधान को लचीलापन प्रदान करते हैं जो कि भारत देश की परिस्थितियों में नितान्त आवश्यक है।

(18) कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श—संविधान के नीति निदेशक तत्वों के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि संविधान-निर्माताओं द्वारा भारत के लिए एक आदर्श निश्चित किया गया है और वह आदर्श है कल्याणकारी राज्य की स्थापना। भारतीय संविधान के निर्माता स्पष्ट रूप से यह चाहते थे कि भारत की केन्द्रीय और राज्य सरकारें भारतीय नागरिकों को पुष्टिकर भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की अधिकाधिक सुविधाएं प्रदान कर उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठायें तथा इन सबके लिए अधिकाधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना की जाये। केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें संविधान में निर्दिष्ट इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं।

(19) एक राष्ट्र भाषा की व्यवस्था—राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए हमारे संविधान में हिन्दी को देवनागरी लिपि में भारत की राष्ट्र भाषा घोषित किया गया है। इसके साथ ही संघीय सरकार के सभी कार्यालयों में संविधान लागू होने के 15 वर्ष बाद तक अंग्रेजी के प्रयोग की आज्ञा दे दी गयी। संविधान में यह भी कहा गया है कि संसद के द्वारा 15 वर्ष बाद भी आज्ञा जारी कर अंग्रेजी के प्रयोग की अनुमति दी जा सकती है। सन् 1965 में 'सहभाषा विधेयक' पास कर हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी को जारी रखने की अनुमति दी गयी है।

एक राष्ट्र भाषा की यह व्यवस्था क्षेत्रीय भाषाओं की प्रगति के मार्ग में बाधक नहीं है। संविधान में भारतीय भाषाओं को विभिन्न राज्यों में प्रादेशिक भाषा के रूप में प्रयोग के लिए स्वीकार कर लिया गया है। अब भारत में 22 भाषाओं को प्रादेशिक भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है।

(20) ग्राम-पंचायतों की स्थापना—संविधान-निर्माताओं ने जहाँ एक ओर बीसवीं सदी की शासन-व्यवस्था को अपनाया है, वहाँ दूसरी ओर इस बात को नहीं भुलाया है कि भारतीय व्यवस्था के आधार 'ग्राम' हैं, जिनका प्रबन्ध ग्राम-पंचायतों के आधार पर ही भली-भाँति सम्पन्न है। नीति निदेशक तत्वों में कहा गया है कि "ग्राम-पंचायतों की स्थापना कर उन्हें स्थानीय शासन की प्राथमिक इकाई बनाया जायगा।" इसके अनुसार 1959 में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था को अपनाया गया और ग्रामीण क्षेत्र में पंचायतों, पंचायत समितियों व जिला परिषदों की स्थापना की गयी है। 73वें व 74वें संवैधानिक संशोधन (1993) के आधार पर पंचायती राज व्यवस्था और शहरी क्षेत्र की अन्य स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है।

(21) विश्व-शान्ति का समर्थन—'वसुधैव कुटुम्बकम्' भारतीय जीवन और संस्कृति का आदर्श रहा है और हमारे संविधान-निर्माता भी इस आदर्श के प्रति सचेष्ट थे। इसी कारण संविधान के नीति निदेशक तत्वों में कहा गया है कि "राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की उन्नति का और राष्ट्रों के बीच न्याय तथा सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का प्रबन्ध करेगा।" व्यवहार के अन्तर्गत भी भारत द्वारा विश्व-शान्ति बनाये रखने की प्रत्येक सम्भव चेष्टा की गयी है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष की समानता तथा राजनीतिक एकता का पोषण आदि भी भारतीय संविधान की विशेषताएं कही जा सकती हैं। संक्षेप में, भारत का नवीन संविधान जनता की प्रभुसत्ता के मूल सिद्धान्त पर आधारित है तथा भारतीय जनता की वास्तविक एकता का प्रतीक है। भारतीय संविधान के स्वरूप और विशेषताओं से स्पष्ट है कि भारत का संविधान एक ऐसा आदर्श प्रलेख है जिसमें सिद्धान्त और व्यावहारिकता का श्रेष्ठ समन्वय है।

धर्मनिरपेक्षता या भारत : एक धर्मनिरपेक्ष राज्य (पंथनिरपेक्ष राज्य)

भारतीय संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' की स्थापना है। यद्यपि मूल संविधान में कहीं पर भी भारत को स्पष्टतया 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' घोषित नहीं किया गया, लेकिन ऐसी व्यवस्थाएं की गयीं, जिनके आधार पर इसे 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' का रूप प्राप्त हो

जाता है। 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) द्वारा प्रस्तावना में भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करके धर्मनिरपेक्षता को और बल प्रदान किया गया है।

धर्मनिरपेक्षता या धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ

धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य ऐसे राज्य से होता है जिसमें राज्य किसी विशेष धर्म को 'राज्य धर्म' के रूप में स्वीकार नहीं करता या किसी भी धर्म को कोई विशेष स्थिति प्रदान नहीं करता और धार्मिक विश्वास के प्रसंग में राज्य तटस्थ रहता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक आचरण की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। राज्य की दृष्टि में अपने सभी नागरिक समान हैं तथा धर्म के आधार पर उसके द्वारा अपने नागरिकों में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता है। "संविधान सभा वादविवाद" के अध्ययन से 'धर्मनिरपेक्षता' का आशय अधिक अच्छे रूप में स्पष्ट हो जाता है। लक्ष्मीकान्त मैत्र ने 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' की व्याख्या करते हुए संविधान सभा में कहा था, "जहां तक मैं समझता हूँ धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह है कि राज्य किसी विशिष्ट धर्म के मानने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा। सारांश में इसका अभिप्राय यह है कि राज्य में किसी भी एक धर्म को किसी भी प्रकार का राज्याश्रय प्राप्त नहीं होगा।" श्री आर. वेंकटरमण के अनुसार, "राज्य न तो धार्मिक है, न अधार्मिक या धर्म विरोधी है। वह धार्मिक संकीर्णताओं से परे रहते हुए धार्मिक मामलों में तटस्थ है।" चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने कहा था, "धर्मनिरपेक्षता का आशय है, सभी धर्मों और धार्मिक संस्थाओं के प्रति राज्य का निष्पक्ष व्यवहार।"

धर्मनिरपेक्षता के प्रसंग में एक भ्रान्ति को दूर कर लेना आवश्यक है। कुछ आलोचकों द्वारा इस धर्मनिरपेक्षता के आधार पर भारत को 'धर्म विरोधी राज्य' की संज्ञा दी गयी है, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत ही है। इस सम्बन्ध में आधुनिक भारत के एक प्रमुख दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् ने 27 जनवरी, 1949 को लखनऊ विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में कहा था कि "भारत को यदि धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य घोषित किया गया है तो इस प्रसंग में धर्मनिरपेक्ष होने का तात्पर्य न तो धर्म के विरुद्ध होना है और न धार्मिक दृष्टि से संकुचित होना है, वरन् अत्यन्त आध्यात्मिक होना है। इस सबका तात्पर्य केवल यही है कि भारत राज्य सभी व्यक्तियों की धार्मिक निष्ठा का आदर करता है तथा उसी मार्ग की रक्षा करता है जिसके द्वारा मनुष्य अपने सर्वोच्च या अन्तिम ध्येय तक पहुँच सकता है।" संविधान सभा में इस बात पर सभी सहमत थे कि 'धर्मनिरपेक्षता का आशय धर्म विरोधी होना नहीं है।'

भारत एक धर्म विरोधी राज्य नहीं है, यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारतीय संविधान और भारतीय राज-व्यवस्था द्वारा भारत के नागरिकों को धार्मिक और परोपकारी कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 27 द्वारा 'ऐसी आय को कर-मुक्त कर दिया गया है जिसे धार्मिक एवं परोपकारी कार्यों में खर्च करना निश्चित किया गया हो।'

भारत : एक धर्मनिरपेक्ष राज्य

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारत को अब 'सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' घोषित किया गया है। धर्मनिरपेक्षता भारतीय संविधान

और भारतीय राज-व्यवस्था का एक मूल आधार है। सर्वोच्च न्यायालय की 9-सदस्यीय संविधान पीठ ने अपने 11 मार्च, '94 के निर्णय में कहा है कि "धर्मनिरपेक्षता (पंथनिरपेक्षता) संविधान का एक मूल लक्षण है तथा यदि कोई राज्य सरकार धर्मनिरपेक्षता के आदर्श के विरुद्ध कार्य करती है, तो राष्ट्रपति के द्वारा उसे बर्खास्त किया जा सकता है।"¹ निम्नलिखित संवैधानिक प्रावधानों से भारत की धर्मनिरपेक्षता नितान्त स्पष्ट है :

(1) भारत राज्य का अपना कोई धर्म नहीं—संविधान के अनुसार, भारत राज्य का स्वयं अपना कोई धर्म नहीं है। राज्य की दृष्टि से सभी धर्म समान हैं।

(2) अन्तःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता—संविधान के अनुच्छेद 25(1) के अनुसार, "लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान अधिकार होगा।"

अनुच्छेद 25 से दो बातें स्पष्ट हैं : प्रथम, लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के हित में व्यक्तियों की धार्मिक स्वतन्त्रता को राज्य द्वारा सीमित किया जा सकता है। द्वितीय, सार्वजनिक प्रकृति की हिन्दू धार्मिक संस्थाओं (मन्दिरों और अन्य स्थानों) में हिन्दू समाज के किसी भी व्यक्ति को प्रवेश करने से नहीं रोका जा सकेगा। इस प्रकार राज्य इस बात का निषेध करता है कि हिन्दू समाज अपने ही सदस्यों में किसी भी प्रकार का भेदभाव करे। यह व्यवस्था हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की परम्परागत कुप्रथा को ध्यान में रखते हुए ही की गयी है और अनुच्छेद 25 की समस्त व्यवस्था धर्मनिरपेक्षता की धारणा के नितान्त अनुरूप है।

(3) धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 26 द्वारा सभी धार्मिक सम्प्रदायों को अधिकार दिया गया है कि वे (क) धार्मिक और परोपकारी कार्यों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण कर सकेंगे, (ख) अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबन्ध कर सकेंगे, (ग) चल और अचल सम्पत्ति अर्जित कर सकेंगे और धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्ति का प्रबन्ध राज्य के कानूनों के अनुसार कर सकेंगे।

(4) धार्मिक या परोपकारी कार्यों के लिए व्यय की जाने वाली राशि को करों से मुक्ति—अनुच्छेद 27 के द्वारा ऐसी आय को कर से मुक्त कर दिया गया है जिसे धार्मिक एवं परोपकारी कार्यों में खर्च करना निश्चित किया गया हो।

(5) शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थिति के प्रसंग में स्वतन्त्रता—भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, अतः किसी भी व्यक्ति को विशेष धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने या धार्मिक उपासना में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि "राज्य निधि से पूर्णतया पोषित किसी शिक्षण संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी। इसके साथ ही राज्य से मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने या धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।" धर्मनिरपेक्ष

1 "Secularism is a basic feature of the constitution and any state govt. seen to be acting against the secularist ideal can be dismissed by the president."

—Rules SC—*The Hindustan Times*, March 12, 1994.

राज्य धर्म विशेष की शिक्षा का निषेध करता है, लेकिन धर्मनिरपेक्ष राज्य में नैतिक शिक्षा या 'मानवीय मूल्यों की शिक्षा' को अपनाया जा सकता है और अपनाया जाना चाहिए।

(6) नागरिकता के प्रसंग में धार्मिक आधार पर भेदभाव नहीं—भारत में नागरिकता के प्रसंग में धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जा सकता है। निर्धारित शर्तों को पूरा करने पर किसी भी धर्म का अनुयायी भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकता है।

(7) साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का अन्त—स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा अपने अलग-अलग प्रतिनिधियों का निर्वाचन किया जाता था। संविधान द्वारा इस साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली का अन्त कर दिया गया है। अब प्रतिनिधियों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार और क्षेत्रीय आधार पर होता है।

(8) धर्म के आधार पर भेदभाव का निषेध—अनुच्छेद 15(1) में कहा गया है कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।

(9) धर्म के आधार पर सार्वजनिक स्थानों पर भेदभाव का निषेध—अनुच्छेद 15(2) में कहा गया है कि केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी आधार पर किसी नागरिक को दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश अथवा राज्य निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग से वंचित नहीं किया जा सकता।

(10) राज्य के अधीन नौकरियों में अवसर की समानता—राज्य के अधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी। अनुच्छेद 16(2) में कहा गया है कि “राज्य के अधीन किसी नौकरी या पद के सम्बन्ध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर न तो कोई नागरिक अपात्र होगा और न उससे विभेद किया जायेगा।”

(11) अस्पृश्यता का अन्त—इन सबके अतिरिक्त अनुच्छेद 17 द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। अस्पृश्यता से उत्पन्न होने वाली किसी अयोग्यता को लागू करना अपराध घोषित किया गया है, जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा। धर्मनिरपेक्ष राज्य समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की मांग करता है। अतः धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अस्पृश्यता का अन्त आवश्यक हो जाता है।

भारत की धर्मनिरपेक्षता के प्रसंग में कम-से-कम दो बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए। प्रथम, धर्मनिरपेक्ष राज्य लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के हित में नागरिकों की धार्मिक स्वतन्त्रता को सीमित कर सकता है। द्वितीय, धर्मनिरपेक्षता में धार्मिक सहिष्णुता का भाव निहित है। अतः भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के नाते 'धार्मिक कट्टरता और धार्मिक कम्युलेशन' की किसी स्थिति को सहन नहीं कर सकता। विभिन्न धर्मों के बीच आपसी सद्भाव धर्मनिरपेक्षता का मूल तत्व है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय को राज्य धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करता वरन् सभी धर्मों के सार मानव धर्म को स्वीकार करता है। भारत एक धर्म विरोधी राज्य होने के स्थान पर मानवता के व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित एक ऐसा वास्तविक नैतिक

राज्य है जिसका उद्देश्य संकीर्ण धार्मिक विवादों से परे रहते हुए अपने सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति की ओर उन्मुख करना है। एक प्रगतिशील राज्य धर्मनिरपेक्षता की नींव पर ही खड़ा हो सकता है। भारत राज्य की एकता और अखण्डता की रक्षा धर्मनिरपेक्षता के मार्ग को अपनाकर ही सम्भव है।

संविधान के मूल ढांचे या आधारभूत सिद्धान्तों की धारणा

(CONCEPT OF THE BASIC STRUCTURE OR THE BASIC PRINCIPLES OF THE CONSTITUTION)

संविधान के मूल ढांचे की धारणा का आशय यह है कि संविधान की कुछ व्यवस्थाएं अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं, वे संविधान के मूल ढांचे के समान हैं और समस्त संवैधानिक व्यवस्था उन पर ही आधारित है। सर्वप्रथम इस धारणा का प्रतिपादन सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 24 अप्रैल, 1973 को मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित एक विवाद 'केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य' पर निर्णय देते हुए किया गया। इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि "संसद मौलिक अधिकारों को संशोधित या सीमित कर सकती है, किन्तु संविधान के अनुच्छेद 368 से संसद को संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन का अधिकार प्राप्त नहीं होता।" 'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य बनाम भारत सरकार' (मई 1980) विवाद में भी सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा पुनः इस बात का प्रतिपादन किया गया। इसके अतिरिक्त 1975-76 की राजनीतिक स्थिति के आधार पर यह अनुभव किया गया कि शासक वर्ग संसद पर अनुचित प्रभाव और नियन्त्रण स्थापित कर संसद की सर्वोच्चता के नाम पर संविधान को खिलवाड़ का साधन बना सकता है, अतः शासन की इस शक्ति पर रोक लगाने के लिए 'संविधान के मूल ढांचे की धारणा' को अपनाया जाना चाहिए।

1973 तथा 1980 के निर्णय में यह नहीं बताया गया कि 'संविधान के मूल ढांचे' या 'आधारभूत ढांचे' के अन्तर्गत संविधान की कौन-कौनसी व्यवस्थाएं आती हैं। 'मूल ढांचे की धारणा' को कुछ स्पष्ट करने की एक चेष्टा 45वें संविधान संशोधन विधेयक में की गयी थी, लेकिन राज्यसभा की असहमति के कारण उसे संविधान संशोधन विधेयक से निकाल दिया गया। 'संविधान के मूल ढांचे' की धारणा से सहमति रखने वाले सभी व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि संविधान के मूल ढांचे में निम्न बातें अवश्य ही आती हैं :

1. संविधान की सर्वोच्चता,
2. भारत का सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का स्वरूप,
3. संविधान का पंथ निरपेक्ष स्वरूप और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता,
4. विधि का शासन,
5. प्रतिष्ठा तथा अवसर की क्षमता तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य,
6. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था,
7. भारत की एकता तथा अखण्डता,
8. शक्तियों का पृथक्करण,
9. मूल अधिकारों व निदेशक तत्वों के बीच सन्तुलन,
10. संविधान का संघात्मक स्वरूप।

इस प्रकार संविधान के मूल ढांचे में अन्तिम रूप से परिवर्तन का अधिकार संसद या राज्य विधान सभाओं को नहीं, वरन् स्वयं जनता को ही है। इस सम्बन्ध में प्रक्रिया यह हो सकती है कि संसद द्वारा संविधान में किये गये उपर्युक्त परिवर्तन पर लोकनिर्णय के माध्यम से जन-स्वीकृति प्राप्त की जाय। जन-स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अन्य किसी तरीके को अपनाया जा सकता है, लेकिन संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन के लिए जन-स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। इसी कारण इस विचार को 'जन-सर्वोच्चता' या 'जन-सम्रभुता की धारणा' (Concept of People's Supremacy or People's Sovereignty) का नाम भी दिया जा सकता है।

प्रश्न

1. भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय गणतन्त्र के संविधान की प्रमुख विशेषताओं का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. "भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है" स्पष्ट कीजिए।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
 - (अ) भारतीय संविधान की प्रस्तावना;
 - (ब) भारतीय संविधान के स्रोत;
 - (स) संविधान के मूल ढांचे या आधारभूत सिद्धान्तों की धारणा।

2

मूल अधिकार और मूल कर्तव्य

(FUNDAMENTAL RIGHTS AND FUNDAMENTAL DUTIES)

मूल अधिकारों की आवश्यकता और महत्व

व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या सदैव से ही बहुत अधिक जटिल रही है और वर्तमान समय की प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में इस समस्या ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है। वर्तमान समय में ऐसा माना जाता है कि राज्य की शक्ति पर ऐसे नियन्त्रण स्थापित किये जाने चाहिए, जिससे राज्य नागरिकों पर मनमानी शक्ति का प्रयोग न कर सके। राज्य की शक्ति पर ऐसे प्रतिबन्ध मूल अधिकारों के माध्यम से ही लगाये जा सकते हैं। इसी बात को दृष्टि में रखकर फ्रांस, अमरीका, आदि देशों के संविधानों में मूल अधिकारों को स्थान दिया गया है। भारतीय संविधान सभा के सदस्यों ने ब्रिटिश शासन के अत्याचार प्रत्यक्ष रूप में देखे थे और बहुतों के द्वारा इन अत्याचारों की भयानकता स्वयं अनुभव की गयी थी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से उनके द्वारा यह सोचा गया कि ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी जानी चाहिए, जिससे अब शासन जनता पर इस प्रकार के अत्याचार न कर सके। भारत में प्रजातन्त्र नया-नया ही स्थापित किया जा रहा था, इस कारण भी नागरिकों के अधिकारों को विधानमण्डल की इच्छा पर छोड़ना उचित नहीं समझा गया। इस सम्बन्ध में डॉ. अम्बेदकर ने कहा है, “भारत में इन अधिकारों को विधानमण्डलों या सरकार की इच्छा पर छोड़ देना उचित नहीं था, क्योंकि भारत में लोकतन्त्र अब तक पूर्ण रूप से पनप नहीं पाया है, इसलिए इन अधिकारों को संविधान में रख दिया गया।”¹

इस प्रकार मूल अधिकार नागरिक को कल्याण, न्याय और उचित व्यवहार की सुरक्षा प्रदान करते हैं और राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं।

मूल अधिकार का अर्थ

मूल अधिकार वे अधिकार होते हैं जो व्यक्ति के जीवन के लिए मूल तथा अपरिहार्य होने के कारण संविधान के द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और व्यक्ति के इन अधिकारों में राज्य के द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता।

1 “Democracy in India is only a top dressing on the Indian soil which is essentially undemocratic. In the circumstances, it is wiser not to trust the legislatures to prescribe the form of Administration. This is the justification for incorporating them in the constitution.”

—Dr. Ambedkar

व्यक्ति के इन अधिकारों को कई कारणों से मूल कहा जा सकता है। प्रथम, व्यक्ति के भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए ये अधिकार नितान्त आवश्यक हैं। इनके अभाव में उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। इसलिए लोकतन्त्रात्मक राज्य के प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इन अधिकारों को मूल कहने का दूसरा कारण यह है कि इन्हें देश की मूल विधि अर्थात् संविधान में स्थान दिया जाता है और साधारणतया संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया के अतिरिक्त इनमें और किसी प्रकार से परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के विवाद में मुख्य न्यायाधीश श्री पातंजलि शास्त्री ने कहा था, "मूल अधिकारों की यह मुख्य विशेषता है कि वे राज्य द्वारा पारित विधियों से ऊपर हैं।" तृतीय मूल अधिकार को वैधानिक शक्ति प्राप्त है अर्थात् व्यवस्थापिका या कार्यपालिका द्वारा इनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यदि सरकार के इन अंगों द्वारा मूल अधिकारों के विरुद्ध कोई भी कार्य किया जाय तो न्यायपालिका द्वारा उन्हें अवैधानिक घोषित कर दिया जायेगा।

भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र की विशेषताएं (SALIENT FEATURES OF THE INDIAN BILL OF RIGHTS)

यद्यपि मूल अधिकारों के सम्बन्ध में भारतीय संविधान द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका और आधुनिक संविधानों से प्रेरणा ली गयी है, लेकिन भारतीय संविधान का अधिकार-पत्र अधिकारों और उनसे सम्बद्ध व्यवस्था के सम्बन्ध में वैसा ही नहीं है जैसे कि अन्य संविधानों के अधिकार-पत्र हैं। भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र की निम्न विशेषताएं हैं :

(1) सर्वाधिक विस्तृत अधिकार-पत्र—भारतीय संविधान का तृतीय भाग, जिसमें मूल अधिकारों का विवेचन किया गया है, विश्व के अन्य किसी भी संविधान में दिये गये अधिकार-पत्र से विस्तृत है। संविधान के अन्तर्गत मूल अधिकारों के सम्बन्ध में 23 अनुच्छेद (अनुच्छेद 12 से 30 और 32 से 35) हैं और इनमें से कुछ अनुच्छेद तो असाधारण रूप से लम्बे हैं। मूल अधिकारों के सम्बन्ध में पूर्ण और स्पष्ट व्यवस्था करने के प्रयास में ही अधिकार-पत्र इतना विस्तृत हो गया है।

(2) मूल अधिकार व्यावहारिकता पर आधारित—भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार कोरे सिद्धान्तों की अपेक्षा वास्तविकता पर आधारित और सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए, सभी व्यक्तियों हेतु समानता के अधिकार को स्वीकार करते हुए भी पिछड़े और दलित वर्गों के विकास के लिए संविधान में विशेष व्यवस्था की गयी है, शिक्षा और संस्कृति की स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों के शिक्षा और भाषा सम्बन्धी हितों की रक्षा का प्रबन्ध किया गया है और धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार की व्यवस्था इस दृष्टिकोण से की गयी है कि समाज में धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन मिले।

(3) मूल अधिकार सीमित हैं, अमर्यादित नहीं—हमारे संविधान में असीमित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आदर्श को नहीं अपनाया गया है, वरन् सामाजिक हित में स्वतन्त्रता को सीमित करना स्वीकार कर लिया गया है। संविधान में ही नागरिकों के अधिकारों के साथ-साथ प्रतिबंधों की व्यवस्था भी कर दी गयी है, जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सामाजिक कल्याण और राज्य की सुरक्षा के आदर्शों में सन्तुलन बना रहे।

1 "Paramountcy to state made laws is the hall-mark of Fundamental Rights."
—Patanjali Shastri

(4) मूल अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था—भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकार केवल कागजी प्रतिज्ञाएं मात्र नहीं हैं। वे पूर्ण वैधानिक अधिकार हैं और संविधान ने न्यायालयों को आज्ञा दी है कि वे देखें कि नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन न होने पाये। संविधान के अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालयों की शरण ले सकता है और न्यायपालिका, व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के ऐसे सभी कानूनों और कार्यों को अवैधानिक घोषित कर देगी, जो मूल अधिकारों को अनुचित रूप से प्रतिबन्धित करते हों।

संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार

भारतीय संविधान में भाग 3 द्वारा नागरिकों को 7 मूल अधिकार प्रदान किये गये थे किन्तु 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया है। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार के रूप में है। परिणामतः मूल अधिकारों की संख्या 6 हो गयी थी। दिसम्बर, 2002 में 86वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर देश के सभी बच्चों को शिक्षा का मूल अधिकार प्रदान किया गया है, अतः अब पुनः मूल अधिकारों की संख्या 7 हो गयी है।

समानता का अधिकार

समानता का अधिकार प्रजातन्त्र का आधारस्तम्भ है, अतः भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र में सर्वप्रथम अनुच्छेद 14 से लेकर 18 तक समानता के अधिकार का उल्लेख किया गया है। संविधान के द्वारा नागरिकों को निम्नलिखित पांच प्रकार की समानताएं प्रदान की गयी हैं :

(1) कानून के समक्ष समानता—अनुच्छेद 14 के अनुसार, “भारत के राज्य क्षेत्र में राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।” इस व्यवस्था का आशय यह है कि राज्य सभी व्यक्तियों के लिए एक-सा कानून बनायेगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा। दूसरे शब्दों में, समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के साथ कानून का व्यवहार एक-सा होगा।

कानून के समक्ष समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि औचित्यपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती। यदि कानून कर लगाने के सम्बन्ध में धनी और गरीब में और सुविधाएं प्रदान करने में स्त्री और पुरुषों में भेद करता है तो इसे कानून के समक्ष समानता का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता।

(2) सामाजिक समानता—कानून के समक्ष समानता के साथ-साथ संविधान के द्वारा सामाजिक समानता की भी व्यवस्था की गयी है। अनुच्छेद 15 के अनुसार, “राज्य द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, आदि के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में पक्षपात नहीं किया जायगा।” कानून के द्वारा निश्चित कर दिया गया है कि सब नागरिकों के साथ दुकानों, होटलों तथा सार्वजनिक स्थानों जैसे, कुओं, तालाबों, स्नानघरों, सड़कों, आदि पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायगा।

(3) सरकारी पदों की प्राप्ति के लिए अवसर की समानता—अनुच्छेद 16 के अनुसार, “सब नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्ति के लिए समान अवसर प्राप्त होंगे और इस सम्बन्ध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जायगा।” इसके अन्तर्गत राज्य को यह अधिकार भी है कि वह राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक योग्यताएं निर्धारित कर दे।

संसद कानून द्वारा संघ में सम्मिलित राज्यों को अधिकार दे सकती है कि वे उस पद के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक कर दें। इसी प्रकार सेवाओं में पिछड़े हुए वर्गों के लिए भी स्थान सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

(4) अस्पृश्यता का अन्त—अनुच्छेद 17 के द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है और इसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध कर दिया गया है। अस्पृश्यता से उत्पन्न होने वाली किसी अयोग्यता को लागू करना अपराध घोषित किया गया है, जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा।

अनुच्छेद 17 द्वारा की गई इस व्यवस्था का उद्देश्य देश की जनसंख्या के उस 1/6 भाग को मुक्ति दिलाना है, जो सदियों से छुआछूत के आधार पर शोषित रहा है। संविधान द्वारा अस्पृश्यता का निषेध कर दिये जाने पर भी व्यवहार में और विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में अस्पृश्यता का व्यवहार होता रहा है। अतः संसद द्वारा पूरे भारत के लिए 'अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति अत्याचार निरोधक कानून, 1989' बनाया गया है। अस्पृश्यता के अन्त के लिए बने कानूनों में यह सबसे अधिक कठोर है। आवश्यकता इस बात की है कि इस कानून का उपयोग अवश्य हो, लेकिन दुरुपयोग न हो।

(5) उपाधियों का अन्त—अनुच्छेद 18 में व्यवस्था की गयी है कि "सेना अथवा विया सम्बन्धी उपाधि के अतिरिक्त राज्य कोई अन्य उपाधि प्रदान नहीं कर सकता।" इसके साथ ही भारत का कोई भी नागरिक बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता।

ब्रिटिश शासनकाल में राय बहादुर, खान साहब, सर, आदि की उपाधियाँ दी जाती थीं, जिनका नवीन संविधान के अन्तर्गत अन्त कर दिया गया है। नवीन संविधान के अन्तर्गत भारत राज्य के प्रति की गयी सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण, पद्मश्री, आदि उपाधियों की व्यवस्था की गयी है।

स्वतन्त्रता का अधिकार

भारतीय संविधान का उद्देश्य विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वाधीनता सुनिश्चित करना है, अतः संविधान के अनुच्छेद 19 से लेकर 22 तक स्वतन्त्रता के अधिकार का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 19 सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मूल संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को 7 स्वतन्त्रताएं प्रदान की गयी थीं और इनमें छठी स्वतन्त्रता 'सम्पत्ति की स्वतन्त्रता' थी। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा सम्पत्ति के मूल अधिकार के साथ-साथ 'सम्पत्ति की स्वतन्त्रता' भी समाप्त कर दी गयी है और अब नागरिकों को 6 स्वतन्त्रताएं ही प्राप्त हैं :

(1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता—भारत के सभी नागरिकों को विचार करने, भाषण देने और अपने व अन्य व्यक्तियों के विचारों के प्रचार की स्वतन्त्रता प्राप्त है। प्रेस भी विचारों के प्रचार का एक साधन होने के कारण इसी में प्रेस की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है। यही बात आकाशवाणी और दूरदर्शन के सम्बन्ध में है। सर्वोच्च न्यायालय ने 10 फरवरी, 1995 के ऐतिहासिक निर्णय में कहा है कि, "विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार में शिक्षित करने, सूचना देने और मनोरंजन करने का अधिकार सम्मिलित है।" नागरिकों को विचार और अभिव्यक्ति की यह स्वतन्त्रता असीमित रूप से प्राप्त नहीं है, वरन् इस स्वतन्त्रता को अपमान लेख और वचन, न्यायालय अपमान, शिष्टाचार या सदाचार पर आधारित और राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध और सार्वजनिक व्यवस्था के हित में सीमित किया जा सकता है।

(2) अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्ण सम्मेलन की स्वतन्त्रता—व्यक्तियों के द्वारा अपने विचारों के प्रचार के लिए शान्तिपूर्वक और बिना किन्हीं शस्त्रों के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है तथा उनके द्वारा जुलूस या प्रदर्शन का आयोजन भी किया जा सकता है। यह स्वतन्त्रता भी असीमित नहीं है और राज्य के द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा के हित में व्यक्ति की इस स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है।

(3) समुदाय और संघ निर्माण की स्वतन्त्रता—संविधान के द्वारा सभी नागरिकों को समुदायों और संघों के निर्माण की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, परन्तु यह स्वतन्त्रता भी उन प्रतिबन्धों के अधीन है, जिन्हें राज्य साधारण जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए लगाता है। इस स्वतन्त्रता की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों का निर्माण नहीं कर सकता जो षडयन्त्र करें अथवा सार्वजनिक शान्ति और व्यवस्था को भंग करें।

(4) भ्रमण की स्वतन्त्रता—भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध या विशेष अधिकार-पत्र के सम्पूर्ण भारतीय क्षेत्र में घूम सकते हैं।

(5) निवास की स्वतन्त्रता—भारत के प्रत्येक नागरिक को भारत में कहीं भी रहने या बस जाने की स्वतन्त्रता है। भ्रमण और निवास के सम्बन्ध में यह व्यवस्था संविधान द्वारा अपनायी गयी इकहरी नागरिकता के अनुरूप है। भ्रमण और निवास की इस स्वतन्त्रता पर भी राज्य सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के हितों में उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(6) व्यवसाय की स्वतन्त्रता—भारत के सभी नागरिकों को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे अपनी आजीविका के लिए कोई भी पेशा, व्यापार या कारोबार कर सकते हैं। राज्य साधारणतया व्यक्ति को न तो कोई विशेष नौकरी, व्यापार या व्यवसाय करने के लिए बाध्य करेगा और न ही उसके इस प्रकार के कार्य में बाधा डालेगा। किन्तु इस सम्बन्ध में राज्य को यह अधिकार प्राप्त है कि वह कुछ व्यवसायों के सम्बन्ध में आवश्यक वृत्ति या योग्यताएं निर्धारित कर सकता है अथवा किसी कारोबार या उद्योग को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से अपने हाथ में ले सकता है।

‘स्वतन्त्रता के अधिकार’ के अन्तर्गत ही ‘गोपनीयता का अधिकार’ भी सम्मिलित है। अतः सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में ‘टेलीफोन टैपिंग’ को गोपनीयता का उल्लंघन मानते हुए सामान्यतया टेलीफोन टैपिंग का निषेध किया है। एक अन्य महत्वपूर्ण निर्णय (13 नवम्बर, 1997) में सर्वोच्च न्यायालय ने हड़ताल तथा बन्द में अन्तर करते हुए ‘जबरन कराये जाने वाले बन्द को असंवैधानिक तथा गैर-कानूनी घोषित कर दिया है।’

कानून का उल्लंघन न होने तक दण्ड से स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि “किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता, जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो।” इसके साथ ही एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही बार दण्डित किया जा सकता है।

जीवन और शरीर रक्षण का अधिकार—अनुच्छेद 21 में ‘जीवन के अधिकार’ को मान्यता प्रदान की गयी है। इसमें कहा गया है कि “किसी व्यक्ति को उसके प्राण तथा शारीरिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।” 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को और अधिक महत्व प्रदान किया गया है। अब आपात्काल में भी जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता है।

बन्दीकरण की अवस्था में अधिकार—अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसमें कहा गया है कि उसके अपराध के बारे में अथवा बन्दी बनाने के कारणों को बताये बिना किसी व्यक्ति को अधिक समय तक बन्दीगृह में नहीं रखा जायेगा। उसे वकील से परामर्श करने और अपने बचाव के लिए प्रबन्ध करने का अधिकार होगा तथा बन्दी बनाये जाने के बाद 24 घण्टे के अन्दर-अन्दर (इसमें बन्दीगृह से न्यायालय तक जाने का समय सम्मिलित नहीं है) उसे निकटतम न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित किया जायेगा। अनुच्छेद 22 के द्वारा बन्दी बनाये जाने वाले व्यक्तियों को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होंगे—प्रथम, शत्रु देश के निवासियों पर और द्वितीय, 'निवारक निरोध अधिनियम' (Preventive Detention Act) के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर।

निवारक निरोध (Preventive Detention)

अनुच्छेद 22 के खण्ड 4 में निवारक निरोध की चर्चा की गयी है और यह भारतीय संविधान की सबसे अधिक विवादास्पद धारा है। यद्यपि संविधान में निवारक निरोध की परिभाषा नहीं दी गयी है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि निवारक निरोध का तात्पर्य वास्तव में किसी प्रकार का अपराध किये जाने के पूर्व और बिना किसी प्रकार की न्यायिक प्रक्रिया के ही नजरबन्दी है। निवारक निरोध का उद्देश्य व्यक्ति को अपराध के लिए दण्ड देना नहीं, वरन् उसे अपराध करने से रोकना है। सामान्यतया विश्व के अन्य देशों में केवल युद्धकाल में निवारक निरोध की व्यवस्था लागू की जाती है लेकिन भारतीय संविधान युद्ध और शान्ति दोनों समय के लिए निवारक निरोध की व्यवस्था करता है।

संविधान के अनुच्छेद 22 में की गई 'निवारक निरोध' की इस व्यवस्था के अन्तर्गत अब तक केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर अनेक कानून बनाये गये हैं। केन्द्र सरकार द्वारा बनाये गये प्रमुख कानून हैं : 1. निवारक नजरबन्दी कानून (1950 से 1969 तक लागू), 2. आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम या मीसा (MISA) (1971 से अप्रैल 1979 तक लागू), 3. राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (1981 से लागू), 4. आतंकवाद एवं विध्वंसक गतिविधियां निरोधक कानून—टाडा (TADA) (1985 से 1995 तक लागू), 5. आतंकवाद निरोधक कानून—पोटा (POTA) 2002।

निवारक निरोध के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों के लिए इन संरक्षणों की व्यवस्था की गयी है—(क) अब किसी व्यक्ति को दो माह से अधिक समय के लिए नजरबन्द नहीं रखा जा सकता, जब तक कि 'परामर्शदाता मण्डल' (Advisory Board) द्वारा नजरबन्दी का काल बढ़ाने की सिफारिश न की जाय। (ख) 'परामर्शदाता मण्डल' का निर्माण ऐसे व्यक्तियों से होगा, जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यता रखते हों। इस प्रकार एक स्वतन्त्र मण्डल द्वारा कार्यपालिका की शक्ति के अनुचित प्रयोग को रोका जा सकता है। (ग) इसके अतिरिक्त, नजरबन्द बनाये गये व्यक्ति को बन्दी बनाये जाने के कारणों से परिचित कराया जायगा, यद्यपि जिन तथ्यों को प्रकट करना अधिकारी जनहित के विरुद्ध समझते हों, उनको स्पष्ट एवं प्रकट करने के लिए वे बाध्य नहीं हैं। निवारक निरोध के अन्तर्गत नजरबन्द व्यक्तियों को यह अधिकार भी होगा कि वे नजरबन्दी आदेश के विरुद्ध 'अभ्यावेदन' (Representation) प्रस्तुत कर सकें।

आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम, 1971 (Maintenance of Internal Security Act, 1971, MISA—मीसा)—‘निवारक निरोधक अधिनियम’ 1950 में पारित किया गया था। समय-समय पर इसकी अवधि बढ़ायी जाती रही और वह 1969 तक चलता रहा। 1969 में निवारक निरोध अधिनियम की अवधि नहीं बढ़ायी जा सकी। 1971 में जब पाकिस्तान से शरणार्थियों का संकट उपस्थित हुआ तो राष्ट्रपति के द्वारा 7 मई, 1971 को ‘आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अध्यादेश’ जारी किया गया और जून 1971 में ही इसने कानून का रूप प्राप्त कर लिया और इस कानून को बोलचाल की भाषा में ‘मीसा’ (Misa) कहा जाता है।

‘मीसा’ की व्यवस्था ‘निवारक निरोध अधिनियम’ से भी कठोर थी।

1971 में जारी किया गया ‘आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (मीसा)’ 44वें संवैधानिक संशोधन के प्रतिकूल था और इस कारण यह अधिनियम 1979 में स्वतः ही रद्द हो गया।

निवारक निरोध के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति

निवारक निरोध कानून की व्यवस्था संविधान सभा में अत्यधिक विवाद का कारण बनी थी और संविधान लागू किए जाने के बाद भी अनेक पक्षों द्वारा इसकी आलोचना की गई। 1975 में घोषित आपातकाल के अन्तर्गत तो निवारक निरोध और ‘मीसा’ की व्यवस्था का बहुत अधिक दुरुपयोग किया गया था। अतः निवारक निरोध और ‘मीसा’ के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा ऐसे कुछ प्रबन्ध किए गए, जिससे शासक वर्ग द्वारा निवारक निरोध कानून की व्यवस्थाओं का दुरुपयोग न किया जा सके। 1971 में जारी किया गया ‘आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम’ (मीसा) 44वें संवैधानिक संशोधन के प्रतिकूल था और इस कारण अप्रैल 1979 में यह स्वतः ही रद्द हो गया।

भारत में केन्द्र और राज्यों दोनों को ही निवारक निरोध कानून बनाने और लागू करने का अधिकार प्राप्त है। अतः केन्द्रीय स्तर पर ‘मीसा’ की व्यवस्था समाप्त हो जाने पर भी अधिकांश राज्यों में निवारक निरोध कानून की व्यवस्थाएं लागू रहीं।

राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (National Security Act)—जनवरी, 1980 में सत्ता परिवर्तन के बाद केन्द्र में स्थापित इन्दिरा कांग्रेस सरकार द्वारा 22 सितम्बर, 1980 को ‘राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश’ जारी किया गया। घोषणा की गई कि यह अध्यादेश जम्मू-कश्मीर के अतिरिक्त भारतीय संघ के अन्य सभी राज्यों पर लागू होगा। फरवरी 1981 में इस अध्यादेश को कानून का रूप प्रदान कर दिया गया। राष्ट्रीय सुरक्षा कानून ‘निवारक निरोध’ की व्यवस्था ही है।

इसके अतिरिक्त 22 जून, '84 को ‘राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (दूसरा संशोधन) अध्यादेश, 1984’ जारी किया गया। अध्यादेश में कहा गया कि यह जम्मू-कश्मीर राज्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में लागू होगा और इसके आधार पर ‘राष्ट्रीय सुरक्षा कानून’ की व्यवस्थाओं में निम्न परिवर्तन करते हुए इसे और कठोर बना दिया गया :

प्रथम, यह संशोधन किया गया कि किसी व्यक्ति की नजरबन्दी के आदेश की अवधि खत्म होने या आदेश रद्द हो जाने अथवा वापस ले लिए जाने के बाद नया आदेश जारी करके उसे नजरबन्द किया जा सकेगा।

द्वितीय, मुख्य प्रावधान यह किया गया कि नजरबन्दी के हर कारण पर अदालतों को अलग-अलग विचार करके फैसला करना होगा। अभी तक स्थिति यह थी कि नजरबन्दी के अनेक कारणों में से किसी एक को भी अदालत अवैध पाती थी, तो नजरबन्दी को गैर-कानूनी

घोषित करके नजरबन्द व्यक्ति को रिहा करने का फैसला दे देती थी अब ऐसा नहीं हो सकेगा।

आर्थिक क्षेत्र में 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून' की श्रेणी का कानून 'विदेशी मुद्रा संरक्षण व तस्करी निरोधक अधिनियम, 1974' (COFEPOSA) 19 दिसम्बर, 1974 से लागू है। 13 जुलाई, '84 को एक अध्यादेश के आधार पर इस अधिनियम को संशोधित कर तत्कारों के लिए नजरबन्दी की सीमा एक वर्ष से बढ़ाकर दो वर्ष कर दी गई है।

निवारक निरोध की व्यवस्था के अन्तर्गत ही एक और कानून 'आतंकवाद विरोधी अधिनियम' (TADA) लागू किया गया था। अप्रैल '93 में भारतीय संसद ने इस कानून की अवधि दो वर्ष के लिए बढ़ा दी तथा यह कानून मई '95 तक लागू रहा, लेकिन मई '95 के बाद यह कानून लागू नहीं है। निवारक निरोध की व्यवस्था के अन्तर्गत 'टाडा' सबसे अधिक कठोर कानून था।

'आतंकवाद निरोधक कानून' (पोटा) की समाप्ति—निवारक निरोधक कानून की श्रेणी में एक कठोर कानून 'आतंकवाद निरोधक कानून' (पोटा) मार्च 2002 ई. में लागू किया गया था लेकिन यह कानून और व्यवहार में कुछ राज्य सरकारों द्वारा इसका प्रयोग प्रारम्भ से ही भारी विवाद का विषय बन गया। मई, 2004 ई. में गठित 'संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन' की सरकार ने अपने 'सामान्य न्यूनतम कार्यक्रम' के अन्तर्गत इस कानून को समाप्त करने का संकल्प व्यक्त किया था और 21 सितम्बर, 2004 ई. को अध्यादेश के माध्यम से 'पोटा' कानून निरस्त कर दिया गया। पोटा समाप्त होने के उपरान्त 'राष्ट्रीय समीक्षा समिति' वर्ष भर तक पोटा के तहत दर्ज 333 मामलों की समीक्षा करेगी तथा समिति जिन मामलों को जारी रखने की सिफारिश करेगी, केवल उन मामलों में पोटा के तहत मुकदमा जारी रहेगा।

गैर-कानूनी गतिविधियां निवारण अध्यादेश (2004)—'पोटा' कानून को समाप्त करते हुए भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विद्यमान आतंकवाद से निबटने के लिए कठोर कानून की आवश्यकता अनुभव करते हुए सितम्बर, 2004 ई. में ही गैर कानूनी गतिविधियां निरोधक अध्यादेश जारी किया गया है। यह कानून मूलतः 1967 ई. में बनाया गया था। सितम्बर 2004 ई. में इसमें 54 संशोधन करते हुए इसे अध्यादेश के रूप में स्वीकृति दी गई है। इस अध्यादेश में रद्द किए गए 'पोटा' कानून के कई प्रावधानों को जैसे का तैसा शामिल कर लिया गया है।

निवारक निरोध या 'मीसा', 'टाडा', पोटा आदि की आलोचना—संविधान सभा में निवारक निरोध सम्बन्धी व्यवस्था की कटु आलोचना की गई थी। पं. ठकुर दास भार्गव ने इसे असफलताओं का शिरोमणि बताया और बख्शी टेकचन्द ने इसे दमन और निरंकुशता का पत्र कहा था। न्यायालयों के द्वारा भी निवारक निरोध की व्यवस्था पर गम्भीर आक्षेप किए गए हैं। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश महाजन ने अपने एक निर्णय में कहा था कि "निवारक निरोध कानून न्यायालय के न्यायाधीश महाजन ने अपने एक निर्णय में कहा था कि "निवारक निरोध कानून प्रजातान्त्रिक संविधानों के प्रतिकूल है एवं विश्व के अन्य किसी भी प्रजातान्त्रिक राज्य में वे नहीं पाए जाते। यह आश्चर्य है कि इसे भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के अध्याय में स्थान दिया गया है।" न्यायाधीश मुखर्जी द्वारा भी अपने एक निर्णय में 'निवारक निरोध कानून' की आलोचना की गई थी। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा निवारक निरोध के दुरुपयोग के विरुद्ध कुछ व्यवस्था की गई है, लेकिन फिर भी इसकी अग्र आलोचनाएं की जाती हैं :

(1) दो महीने की नजरबन्दी का समय भी अधिक है। यह अवधि 15 दिन या अधिक से अधिक एक माह होनी चाहिए।

(2) व्यक्ति को बन्दी बनाए जाने की अवधि में शारीरिक यातना दी जा सकती है, इससे बचाव का कोई उपाय नहीं किया गया है।

(3) निरोध की अवधि में बन्दियों के परिवार के भरण-पोषण की कोई व्यवस्था नहीं की गई है।

(4) शान्तिकाल में निवारक निरोध के उपयोग को रोकने या दलीय हितों के लिए इसका प्रयोग होने से रोकने की व्यवस्था नहीं है।

निवारक निरोध कानूनों का औचित्य

निवारक निरोध की व्यवस्था की इन आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संविधान निर्माण के समय की परिस्थितियों में और आज की परिस्थितियों में भी निवारक निरोध की व्यवस्था कुछ सीमा तक आवश्यक और उपयोगी है। संविधान निर्माता इस तथ्य से परिचित थे कि अपनी विध्वंसकारी करतूतों से देश की स्वतन्त्रता के लिए संकट उत्पन्न करने वाले तत्वों की कमी नहीं है, अतः इन विध्वंसकारी कार्यों पर रोक लगाने के लिए निवारक निरोध की व्यवस्था व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रतिकूल नहीं है। 'गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के विवाद में न्यायाधीश पातंजलि शास्त्री ने निवारक निरोध की उपयोगिता इन शब्दों में स्वीकार की थी, "इस भयावह उपकरण की व्यवस्था, जिसका प्रजातान्त्रिक संविधान में कोई स्थान नहीं है, जो मूल अधिकार की पवित्रता के प्रतिकूल और संविधान में की गई प्रतिज्ञाओं के विरुद्ध है, उन समाज-विरोधी तथा विध्वंसकारी तत्वों के विरुद्ध की गई है, जिनसे नवजात प्रजातन्त्र के राष्ट्रीय हित को खतरा है।"

इस प्रकार 'निवारक निरोध' की व्यवस्था एक भरी हुई बन्दूक के समान है, जिसका किसी भी रूप में प्रयोग किया जा सकता है तथा जो व्यक्ति की रक्षा भी कर सकती है और उसकी हत्या भी। अतः बन्दूक का प्रयोग बहुत अधिक सावधानी से और विवेकपूर्वक ही किया जाना चाहिए।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

भारत में सदियों से किसी-न-किसी रूप में दासता की प्रथा विद्यमान रही है, जिसके अन्तर्गत हरिजनों, खेतिहर श्रमिकों तथा स्त्रियों पर अत्याचार किये जाते रहे हैं। संविधान के अनुच्छेद 23 और 24 द्वारा सभी नागरिकों को शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न व्यवस्थाएं हैं :

(1) मनुष्य के क्रय-विक्रय और बेगार पर रोक—अनुच्छेद 23 (1) के अनुसार, "मनुष्यों के क्रय-विक्रय और बेगार (जबरदस्ती श्रम) पर रोक लगा दी गयी है, जिसका उल्लंघन विधि के अनुसार दण्डनीय अपराध है।" इस सम्बन्ध में की गयी व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अपवाद यह है कि राज्य सार्वजनिक उद्देश्य से अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकता है। लेकिन ऐसा करते समय राज्य नागरिकों के बीच धर्म, मूलवंश, जाति, वर्ण या सामाजिक स्तर के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।

(2) बाल श्रम अर्थात् बच्चों को कारखानों, खानों, आदि में नौकर रखने का निषेध—अनुच्छेद 24 में कहा गया है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को कारखानों, खानों या अन्य किसी जोखिम भरे काम पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।

वास्तव में शोषण के विरुद्ध अधिकार का उद्देश्य एक वास्तविक सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है। शोषण के विरुद्ध अधिकार को वास्तविकता का रूप देने के लिए ही जुलाई 1975 में घोषित किया गया कि “बन्धक मजदूरी प्रथा, जहां भी कहीं हो, गैर-कानूनी घोषित कर दी जायगी।”

1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को 6 माह में बाल मजदूरी खत्म करने का निर्देश दिया तथा ‘बाल पुनर्स्थापना कल्याण कोष’ की भी स्थापना की। इस प्रकार बाल मजदूरी समाप्त करने की दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये हैं, लेकिन तथ्य यह है कि बाल मजदूरी की स्थिति अभी भी बनी हुई है। वस्तुतः बन्धक मजदूरी हो या बाल मजदूरी; इन स्थितियों को जन्म देने वाले सामाजिक-आर्थिक कारणों को समाप्त किये बिना इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 द्वारा सभी व्यक्तियों को चाहे वे विदेशी हों या भारतीय नागरिक, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान में धार्मिक स्वतन्त्रता का उल्लेख बहुत अधिक व्यापक शब्दों में और धार्मिक अल्पसंख्यकों की सन्तुष्टि को ध्यान में रखकर किया गया है। इस सम्बन्ध में की गयी व्यवस्थाएं निम्न प्रकार हैं :

(1) धार्मिक आचरण और प्रचार की स्वतन्त्रता—25वें अनुच्छेद द्वारा सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक आचरण और धर्म के प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। सिखों द्वारा कृपाण धारण करना धार्मिक स्वतन्त्रता का अंग माना गया है।

(2) धार्मिक मामलों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—अनुच्छेद 26 के द्वारा सभी धर्मों के अनुयायियों को यह अधिकार दिया गया है कि वे :

(i) धार्मिक और परोपकारी कार्यों के लिए संस्थाएं बना सकेंगे और उनका संचालन कर सकेंगे।

(ii) अपने धार्मिक मामलों का प्रबन्ध कर सकेंगे।

(iii) चल और अचल सम्पत्ति अर्जित कर सकेंगे और धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्ति का प्रबन्ध राज्य के कानूनों के अनुसार कर सकेंगे।

(3) धार्मिक कार्यों के लिए व्यय की जाने वाली राशि को कर से मुक्ति—अनुच्छेद 27 के द्वारा ऐसी समस्त आय को कर से मुक्त कर दिया गया है जिसे धार्मिक एवं परोपकारी कार्यों में खर्च करना निश्चित किया गया हो।

(4) शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने या न करने की स्वतन्त्रता—भारत राज्य का स्वल्प धर्मनिरपेक्ष राज्य का है जिसे धर्म के क्षेत्र में निष्पक्ष रहना है। अतः अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि “राजकीय निधि से चलने वाली किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जायगी। इसके साथ ही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।”

किन्तु अन्य अधिकारों की भांति ही धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार भी असीमित नहीं है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य, आदि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसी प्रकार आर्थिक, राजनीतिक या अन्य किसी प्रकार के सार्वजनिक हित की दृष्टि से राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य सामाजिक हित और सुधार

सम्बन्धी कार्य भी कर सकता है चाहे ऐसा करते हुए धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप ही क्यों न करना पड़े? इस प्रकार सार्वजनिक हित की दृष्टि से उचित प्रतिबन्धों के साथ संविधान के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी है।

संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 के द्वारा भारत के सभी नागरिकों को संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न व्यवस्थाएं हैं :

(1) अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति सुरक्षित रखने का अधिकार—अनुच्छेद 29 के अनुसार, “नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार है।” यह भी कह दिया गया है कि किसी राजकीय या राजकीय सहायता से संचालित शिक्षण संस्था में प्रवेश के सम्बन्ध में मूलवंश, जाति, धर्म और भाषा इनमें से किसी आधार पर भेदभाव नहीं किया जायगा।

(2) अल्पसंख्यक वर्गों को शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन का अधिकार—अनुच्छेद 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा। यह भी व्यवस्था की गयी है कि शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन हैं।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख से अधिक महत्वपूर्ण बात उन्हें क्रियान्वित करने की व्यवस्था है, जिसके बिना मूल अधिकार अर्थहीन सिद्ध होंगे। संविधान-निर्माताओं ने इस उद्देश्य से ‘संवैधानिक उपचारों के अधिकार’ को भी संविधान में स्थान दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि नागरिक, अधिकारों को लागू करवाने के लिए सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों की शरण ले सकते हैं। इन न्यायालयों के द्वारा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित उन सभी कानूनों और कार्यपालिका के कार्यों को अवैधानिक घोषित कर दिया जायेगा, जो मूल अधिकारों के विरुद्ध हों। संवैधानिक उपचारों के अधिकार की व्यवस्था के महत्व को दृष्टि में रखते हुए डॉ. अम्बेदकर ने कहा था, “यह संविधान का हृदय तथा आत्मा है।”¹

उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किये जा सकते हैं :

(1) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए यह लेख सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है, जो यह समझता है कि उसे अवैध रूप से बन्दी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय, बन्दीकरण करने वाले अधिकारी को आदेश देता है कि वह बन्दी बनाये गए व्यक्ति को निश्चित समय और स्थान पर उपस्थित करे, जिससे न्यायालय बन्दी बनाये जाने के कारणों पर विचार कर सके, दोनों पक्षों की बात सुनकर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबन्दी वैध है या अवैध और यदि अवैध होती है तो न्यायालय बन्दी को तुरन्त मुक्त करने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार अनुचित एवं गैर-कानूनी रूप से बन्दी बनाये गये व्यक्ति बन्दी प्रत्यक्षीकरण के लेख के आधार पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं।

1 “Article 32 (Right of Constitutional Remedies) is the heart and soul of the constitution.”
—Dr. Ambedkar

(2) परमादेश (Mandamus)—परमादेश का लेख उस समय जारी किया जाता है, जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता। इस प्रकार के आज्ञा-पत्र के आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्तव्यपालन का आदेश जारी किया जाता है।

(3) प्रतिषेध (Prohibition)—यह आज्ञा-पत्र सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालयों तथा अर्ध-न्यायिक न्यायाधिकरणों को जारी करते हुए उन्हें आदेश दिया जाता है कि इस मामले में अपने यहां कार्यवाही स्थगित कर दें, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार-क्षेत्र के बाहर है।

(4) उत्प्रेषण (Certiorari)—यह आज्ञा-पत्र अधिकांशतः किसी विवाद को निम्न न्यायालयों से उच्च न्यायालय में भेजने के लिए जारी किया जाता है, जिससे वह अपनी शक्ति से अधिक अधिकारों का उपयोग न करे या अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हुए न्याय के प्राकृतिक सिद्धान्तों को भंग न करे। इस आज्ञा-पत्र के आधार पर उच्च न्यायालय निम्न न्यायालयों से किन्हीं विवादों के सम्बन्ध में सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं।

(5) अधिकार-पृच्छा (Quo-warranto)—जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करने लगता है, जिसके रूप में कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से अधिकार नहीं है तो न्यायालय अधिकार-पृच्छा के द्वारा उस व्यक्ति से पूछता है कि वह किस आधार पर इस पद पर कार्य कर रहा है और जब तक वह इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता, वह कार्य नहीं कर सकता।

व्यक्तियों द्वारा साधारण परिस्थितियों में ही न्यायालयों की शरण लेकर अपने मूल अधिकारों की रक्षा की जा सकती है; लेकिन युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति जैसी परिस्थितियों में जबकि राष्ट्रपति के द्वारा संकटकाल की घोषणा कर दी गयी हो, मूल अधिकारों की रक्षा के लिए कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नहीं कर सकेगा। इस प्रकार संविधान के द्वारा संकटकाल में नागरिकों के मूल अधिकारों को स्थगित करने की व्यवस्था की गयी है। संकट काल में भी अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त 'जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार' को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता।

शिक्षा (प्रारम्भिक शिक्षा) का मूल अधिकार (दिसम्बर 2002)

एक लम्बे अर्से के संघर्ष के बाद 86वें संवैधानिक संशोधन (दिसम्बर 2002) के आधार पर प्रारम्भिक शिक्षा को मूल अधिकार के रूप में संविधान में शामिल कर लिया गया है। अब अनुच्छेद 21 के बाद एक नया अनुच्छेद 21ए के रूप में जोड़ दिया गया है, जिसके अनुसार 'राज्य 6 से लेकर 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा देने को बाध्य होगा' तथा इसे कार्य रूप में परिणत करने के लिए कानून बनाकर व्यवस्था की जाएगी।

इस प्रावधान को यदि पूरी निष्ठा के साथ लागू किया गया, तो सन् 2010 ई. तक इस देश में शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति आ जाएगी। इसका हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर भी जबरदस्त प्रभाव पड़ेगा। वर्तमान समय में 6 से 14 वर्ष के लगभग 4.5 करोड़ बच्चे ऐसे हैं, जिन्होंने स्कूल का मुंह नहीं देखा। प्रारम्भिक शिक्षा का अधिकार मात्र मूल अधिकार के रूप में न रहे, वरन् इसे वास्तविकता का रूप प्राप्त हो सके। इसके लिए केन्द्र और राज्य दोनों ही सरकारों को बहुत व्यापक शासकीय और आर्थिक प्रबन्ध करने होंगे। इसके साथ ही बच्चों के माता-पिता सहित अन्य सभी को इस सम्बन्ध में जन-जागरूकता की स्थिति अपनानी होगी। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा था कि स्वतन्त्रता का आशय

है—“व्यक्ति के लिए सम्मानपूर्ण जीवन’ और सम्मानपूर्ण जीवन शिक्षा के बिना सम्भव नहीं है। अतः प्रारम्भिक शिक्षा के मूल अधिकार की व्यवस्था स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत अनुच्छेद 21 के बाद एक नया अनुच्छेद ‘21 ए’ के रूप में जोड़कर की गई है।¹

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005—नागरिक मूल अधिकारों का व्यवहार में अधिकाधिक सम्भव सीमा तक उपभोग कर सकें, इस दृष्टि से उन्हें शासन से सभी आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। अतः सूचना के अधिकार की आवश्यकता अनुभव करते हुए 2002 ई. में ‘सूचना की स्वतन्त्रता का विधेयक पारित किया गया। इस विधेयक में कुछ कमियां थीं, अतः ‘सूचना अधिकार अधिनियम’ (2005) अपनाया गया।

इस अधिनियम के अन्तर्गत आम नागरिकों को केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों, पंचायती संस्थाओं तथा सरकारी अनुदान प्राप्त करने वाली संस्थाओं से भी सूचना प्राप्त करने का अधिकार होगा। सूचना प्राप्त करने की प्रक्रिया अधिनियम में निर्धारित की गयी है जो पर्याप्त सरल, सुगम व समयबद्ध है। निर्धारित समय के भीतर वांछित सूचनाएं उपलब्ध करवाने में विफल रहने वाले अधिकारियों के खिलाफ कड़े दण्ड का प्रावधान अधिनियम में किया गया है। कुछ विभागों को अधिनियम के प्रावधानों से छूट भी प्रदान की गयी है।

12 अक्टूबर, 2005 ई. से सूचना का अधिकार अधिनियम लागू कर दिया गया है तथा इस अधिकार की सही रूप में क्रियान्विति हेतु केन्द्र सरकार ने बजाह्त हवीबुल्लाह की अध्यक्षता में पांच सदस्यीय ‘केन्द्रीय सूचना आयोग’ गठित किया है। यदि इस कानून की सही रूप में क्रियान्विति हो पाती है, तो इससे सरकारी काम-काज में पारदर्शिता आएगी, भ्रष्टाचार पर अंकुश लगेगा तथा नागरिक अपने अधिकारों का उपभोग तथा कर्तव्यों की रक्षा अधिक अच्छे प्रकार से कर सकेंगे।

सम्पत्ति का अधिकार

भारतीय नागरिकों को वर्तमान समय में सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त नहीं है लेकिन 1978 तक सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त था। 1950 से लेकर 1978 तक इस अधिकार के सम्बन्ध में अनेक संवैधानिक संशोधन हुए और यह अधिकार बहुत अधिक विवाद का विषय रहा, अतः आज भी संवैधानिक इतिहास की दृष्टि से इस अधिकार का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है।

भारतीय संविधान में सार्वजनिक कल्याण को दृष्टि में रखते हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार और उस पर नियन्त्रण की आवश्यकता में सन्तुलन स्थापित किया गया है। अनुच्छेद 31 में घोषित किया गया था कि “किसी भी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से उस समय तक बंचित नहीं किया जायेगा जब तक कि ऐसा करने के लिए ‘विधि का प्राधिकार (Authority of Law)’ प्राप्त न कर लिया जाय और क्षतिपूर्ति की व्यवस्था न कर दी जाय।”

प्रथम संशोधन, 1951—मूल रूप से संविधान में जो व्यवस्था की गयी थी उसके अनुसार कानून द्वारा भी कोई ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती थी, जिसके अन्तर्गत किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति बिना उचित मुआवजे के ली जा सके, किन्तु 1951 के प्रथम संवैधानिक संशोधन द्वारा इसमें परिवर्तन किया गया। इस संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है

1 इस दृष्टि से ‘प्रारम्भिक शिक्षा के मूल अधिकार’ को स्वतन्त्रता के अधिकार या जीवन के अधिकार के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

कि जमींदारी व जागीरदारी इत्यादि के अन्त से सम्बन्धित विधेयक मुआवजे की व्यवस्था के न होते हुए भी वैध समझे जायेंगे।

चतुर्थ संशोधन, 1955—प्रथम संशोधन के बाद भी राज्य द्वारा व्यक्तियों की भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति ग्रहण करने के मार्ग में कठिनाई बनी हुई थी, अतः 1955 में संविधान में चतुर्थ संशोधन कर निश्चित किया गया कि “सम्पत्ति ग्रहण करने के बदले में राज्य के द्वारा क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए; लेकिन क्षतिपूर्ति की मात्रा विधानमण्डल द्वारा निर्धारित की जायेगी और क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता की जांच न्यायपालिका द्वारा नहीं की जा सकेगी।”

गोलकनाथ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय और संविधान में 24वां संशोधन—संविधान लागू किये जाने के बाद से यही समझा जाता था कि यद्यपि मूल अधिकार संविधान की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था हैं, लेकिन संविधान की अन्य व्यवस्था के समान ही संसद मूल अधिकारों में भी परिवर्तन कर सकती है। 1951 और 1965 के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस स्थिति को स्वीकार किया था लेकिन 27 फरवरी, 1967 को सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा गोलकनाथ विवाद में अपने ही पुराने निर्णयों को अस्वीकार करते हुए कहा गया, “इस निर्णय के बाद संसद को संविधान के भाग 3 के किसी उपबन्ध को इस तरह से संशोधन करने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा जिससे कि मूल अधिकार छिन जायें या सीमित हो जायें।”

उपर्युक्त निर्णय से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि संसद आर्थिक और सामाजिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने

मूल अधिकार

(I) समानता का अधिकार

1. कानून के समक्ष समानता
2. सामाजिक समानता
3. राज्याधीन नौकरियों का समान अवसर
4. अस्पृश्यता का अन्त
5. उपाधियों का अन्त

(II) स्वतन्त्रता का अधिकार

1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता
2. अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्वक सम्मेलन की स्वतन्त्रता
3. समुदाय और संघ निर्माण की स्वतन्त्रता
4. भ्रमण की स्वतन्त्रता
5. निवास की स्वतन्त्रता
6. व्यवसाय की स्वतन्त्रता

(III) शोषण के विरुद्ध अधिकार

1. बेगार का अन्त
2. आपत्तिजनक कार्यों में बाल श्रम का निषेध

(IV) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

1. किसी भी धर्म के पालन व धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता
2. धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की स्वतन्त्रता
3. धार्मिक कार्यों के लिए कर-मुक्ति
4. धार्मिक क्षेत्र में राज्य की निष्पक्षता

(V) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

1. प्रत्येक वर्ग की भाषा, लिपि और संस्कृति की स्वतन्त्रता
2. सभी वर्गों को अपनी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन की स्वतन्त्रता
3. राज्य द्वारा शिक्षण संस्थाओं को सहायता देने में भेदभाव नहीं

(VI) संवैधानिक उपचारों का अधिकार

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण
2. परमादेश
3. प्रतिषेध
4. उद्घोषण
5. अधिकार-पृच्छा

(VII) शिक्षा (प्रारंभिक शिक्षा का मूल अधिकार, 2002)

के लिए या संविधान में दिये गये नीति निदेशक तत्वों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए कोई कार्य नहीं कर सकती थी। अतः गोलकनाथ विवाद में किये गये निर्णय को रद्द करने के लिए 1971 में ही संविधान में 24वां संशोधन किया गया। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया कि संसद को संविधान के किसी भी उपबन्ध को (जिसमें मूल अधिकार भी आते हैं) संशोधित करने का अधिकार होगा।

25वां संवैधानिक संशोधन, 1971—इसके द्वारा अनुच्छेद 31 को संशोधित कर तथा अनुच्छेद 31(ग) के बाद कुछ शब्दों को जोड़कर यह व्यवस्था की गयी कि “सम्पत्ति के सार्वजनिक दृष्टि से अर्जन और उसके मुआवजे की राशि को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी।”

29वां संवैधानिक संशोधन, 1972—इस संशोधन द्वारा केरल की भूमि-सुधार के दो विधेयकों को संविधान की 9वीं अनुसूची में शामिल कर लिया गया और अब इन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा यह निश्चित किया गया कि यदि भूमि के सीमाकरण से व्यक्तिगत जोत की भूमि भी प्रभावित होती है तो राज्य के द्वारा यह भूमि प्राप्त की जा सकती है और व्यवस्थापिका के द्वारा इस भूमि के बदले में मुआवजा निश्चित किया जा सकता है, जो उस भूमि के बाजार मूल्य से कम हो अर्थात् न्यायालय को मुआवजे की धनराशि पर विचार करने का अधिकार नहीं होगा। 34वां संवैधानिक संशोधन, 1974 और 40वां संवैधानिक संशोधन, 1976 भी इसी आशय के थे।

सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति—संविधान लागू किये जाने के बाद से ही अनेक पक्षों द्वारा यह सोचा जा रहा था कि भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किया गया सम्पत्ति का मूल अधिकार सामाजिक-आर्थिक न्याय की प्राप्ति में बाधक बन रहा है और इसी कारण सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में नहीं बनाये रखा जाना चाहिए। 1977 में सत्तारूढ़ जनता पार्टी द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र में कहा गया था कि “सम्पत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में नहीं रहेगा, वरन् यह केवल एक कानूनी अधिकार होगा।” अतः सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में 44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1979) में निम्न प्रकार से व्यवस्था की गयी :

सम्पत्ति का अधिकार अब एक मूल अधिकार नहीं रहा है, वरन् केवल एक कानूनी अधिकार है। ‘सम्पत्ति का अधिकार’ मूल अधिकार के रूप में न रहने पर भी कानूनी प्रक्रिया के बिना शासन द्वारा किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं छीनी जा सकेगी। जिन व्यक्तियों के पास ‘भूमि सीमाकरण कानून’ (Land Ceiling Act) की सीमा के भीतर भूमि है और इस भूमि पर वे स्वयं कृषि कार्य करते हैं तो बाजार मूल्य पर मुआवजा दिये बिना इन व्यक्तियों की भूमि राज्य द्वारा नहीं ली जा सकेगी।

44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा की गई यह व्यवस्था किसी व्यक्ति को सम्पत्ति से वंचित करने के ‘कार्यपालिका आदेश’ के विरुद्ध तो सुरक्षा प्रदान करती है; किन्तु संसद या विधानमण्डल कानून बनाकर व्यक्ति को सम्पत्ति से वंचित कर सकते हैं।

मूल अधिकारों का मूल्यांकन

संविधान में वर्णित मूल अधिकारों की प्रमुख रूप से अग्रलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) कुछ प्रमुख अधिकारों का अभाव—मूल अधिकारों से सम्बन्धित व्यवस्था की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसमें कुछ ऐसी बातों को छोड़ दिया गया है, जिन्हें मूल अधिकार घोषित किया जाना चाहिए था। इस श्रेणी में काम करने का अधिकार, सूचना का अधिकार, कुछ परिस्थितियों में राज्य से सहायता प्राप्त करने का अधिकार, निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, आदि को रखा जा सकता है।

लेकिन उपर्युक्त आलोचना करने वाले व्यक्ति भूल जाते हैं कि किसी भी देश के संविधान द्वारा देश में विद्यमान साधनों के आधार पर ही अधिकार प्रदान किये जा सकते हैं और भारत राज्य के पास इतने आर्थिक साधन नहीं हैं कि अब तक भी इन अधिकारों को लागू किया जा सके। इतना होने पर भी भारतीय संविधान के निर्माता इन अधिकारों की ओर से उदासीन नहीं थे, इसलिए उन्होंने इन अधिकारों को उन नीति निदेशक तत्वों में स्थान दिया है, जिन्हें लागू करना शासकों का परम कर्तव्य समझा जायगा।

(2) मूल अधिकारों पर बहुत अधिक प्रतिबन्ध एवं अपवाद—आलोचकों का कथन है कि भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों के साथ इतने अधिक अपवाद और प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं कि यह समझना भी कठिन है कि व्यक्ति को मूल अधिकारों से क्या मिला? संविधान सभा में ही प्रो. के. टी. शाह ने कहा था, “वास्तव में 19वें अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त ये स्वतन्त्रताएं इतनी संवेहास्पंद हो गयी हैं कि इन स्वतन्त्रताओं की खोज करने के लिए सूक्ष्मदर्शक-यन्त्र का प्रयोग आवश्यक होगा।” इस वर्ग के आलोचक कहते हैं कि संविधान एक हाथ से मूल अधिकार प्रदान करता है और दूसरे हाथ से उन्हें छीन लेता है।

लेकिन इस श्रेणी के आलोचक भूल जाते हैं कि असीमित स्वतन्त्रता और अधिकार प्रदान करना न तो सम्भव है और न ही हितकर। मूल अधिकारों पर जो भी प्रतिबन्ध लगाये जायेंगे, उनका औचित्यपूर्ण होना आवश्यक है और प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं वरन् न्यायपालिका को प्रदान की गयी है। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व न्यायाधीश डागला अपनी पुस्तक ‘*Law, Liberty and Life*’ में लिखते हैं कि “संविधान के द्वारा प्रतिबन्धों के औचित्य के निर्णय की शक्ति व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को नहीं, वरन् न्यायपालिका को सौंपी गयी है और न्यायपालिका स्वतन्त्र होने के कारण नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायपालिका पर भरोसा कर सकते हैं।”

(3) कार्यपालिका द्वारा मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था दोषपूर्ण—संविधान के द्वारा संकटकालीन परिस्थितियों में कार्यपालिका को मूल अधिकारों के स्थगन का जो अधिकार दिया गया है और संकटकाल के अतिरिक्त सामान्य परिस्थितियों में भी ‘निवारक निरोध’ की जो व्यवस्था की गयी है, वह कटु आलोचना का विषय रही है। श्री हरि विष्णु काम्ब ने इस व्यवस्थाओं का विरोध करते हुए संविधान सभा में कहा था, “इस व्यवस्था द्वारा हम तानाशाही और पुलिस राज्य की स्थापना कर रहे हैं।”

लेकिन संविधान की इन व्यवस्थाओं का अध्ययन करते हुए यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की स्वतन्त्रता से कहीं अधिक मूल्यवान है। शासन को मूल अधिकारों के अतिक्रमण का अधिकार केवल असामान्य परिस्थितियों में ही प्राप्त होता है और ऐसी परिस्थिति अल्पकालिक ही होती है। इस दृष्टि से मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था स्वतन्त्रता और मूल अधिकार के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था के सम्बन्ध में संविधान सभा में कहा

था, “यह व्यवस्था अत्यन्त ही आवश्यक है। यही व्यवस्था संविधान का जीवन होगी। इससे प्रजातन्त्र की हत्या नहीं वरन् रक्षा होगी।”

मूल अधिकारों के स्थगन की व्यवस्थाएं कुछ सीमा तक राष्ट्रीय सुरक्षा के हित में आवश्यक होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतीय संविधान में राष्ट्रीय सुरक्षा के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक सावधानी बरती गयी है। ऐसी स्थिति में मानवीय स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा के लिए स्वयं व्यक्तियों और न्यायालयों को पर्याप्त सजगता का परिचय देना आवश्यक है।

मूल अधिकार, संसद और सर्वोच्च न्यायालय

इस बात पर विवाद रहा है कि संसद मूल अधिकारों को संशोधित-परिवर्तित कर सकती है अथवा नहीं। इस प्रसंग में अन्तिम रूप से मान्य स्थिति, जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने भी 1973 तथा 1980 के निर्णय में स्वीकार किया, यह है कि सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में संसद की सत्ता उच्च है। संसद मूल अधिकारों को संशोधित, परिवर्तित कर सकती है, लेकिन इस प्रसंग में संसद के अधिकार की सीमाएं हैं और सर्वोच्च न्यायालय इस बात पर विचार कर सकता है कि मूल अधिकारों को संशोधित, परिवर्तित करने में संसद ने अपनी अधिकार-सीमाओं का उल्लंघन तो नहीं किया है।

मानव अधिकारों की रक्षा की दिशा में विशेष प्रयत्न (1993)

(मानव अधिकार आयोग और मानव अधिकार न्यायालयों का गठन)

पिछले लगभग एक दशक से भारत में कुछ व्यक्तियों और संस्थाओं द्वारा तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ‘एमनेस्टी इण्टरनेशनल’ तथा अन्य कुछ मानवीय अधिकार समर्थकों द्वारा यह कहा जा रहा था कि भारतीय संविधान में ‘मूल अधिकारों’ का प्रावधान होने के बावजूद व्यवहार में राजसत्ता से जुड़ी विविध एजेन्सियों (राज्य के पुलिस बल, अर्द्ध-सैनिक बल, सेना और जेल व्यवस्था, आदि) द्वारा अनेक बार मूल अधिकारों का हनन किया जाता है। अतः यह अनुभव किया गया कि नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। इस प्रसंग में पहले तो सितम्बर, 1993 में राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी किया गया तथा उसके बाद दिसम्बर, 1993 में संसद द्वारा ‘मानवाधिकार आयोग व न्यायालय’ गठन सम्बन्धी विधेयक पारित किया गया।

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (NHRC)—यह एक 8-सदस्यीय आयोग होगा। आयोग की अध्यक्षता¹ सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान या सेवा-निवृत्त न्यायाधीश द्वारा की जायेगी। आयोग के अन्य सदस्य होंगे : सर्वोच्च न्यायालय का एक वर्तमान या सेवा-निवृत्त न्यायाधीश, उच्च न्यायालय का एक सेवारत या सेवा-निवृत्त मुख्य न्यायाधीश, दो प्रतिष्ठित व्यक्ति जिन्हें मानवीय अधिकारों के सम्बन्ध में ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हो, अल्पसंख्यक आयोग का अध्यक्ष तथा महिला आयोग का अध्यक्ष। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आयोग को स्वशासी तथा वैधानिक स्तर प्राप्त है तथा इसे वित्तीय स्वायत्तता प्राप्त होगी। आयोग का मुख्यालय भारत की राजधानी में होगा तथा केन्द्र सरकार की अनुमति से अन्य स्थानों पर आयोग के कार्यालय स्थापित किए जा सकते हैं।

1 आयोग के प्रथम अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री रंगनाथ मिश्र थे।

आयोग का कार्यक्षेत्र, कार्य और कार्यविधि—आयोग को मानवीय अधिकारों (भारतीय संविधान से स्वीकृत अधिकारों और अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं से मान्यता प्राप्त व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता, समानता और गरिमा, आदि अधिकारों) के हनन, दुरुत्साहन और मानवीय अधिकारों के हनन की रोकथाम में सरकारी कर्मचारी की उपेक्षा की सभी शिकायतों पर विचार करने का अधिकार होगा। आयोग अपनी प्रकृति में केवल जांच करने और सिफारिश करने वाली संस्था है लेकिन यदि आयोग के सुझावों को सरकार द्वारा स्वीकार नहीं किया जाये, तो आयोग अपने तरीके से जनमत को जाग्रत करने की चेष्टा कर सकता है। आयोग को सशस्त्र बलों या अर्द्ध-सैनिक बलों के सम्बन्ध में जांच करने का क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं है। यह केवल राज्य के पुलिस बलों के कार्यों की ही जांच कर सकता है। आयोग आतंकवाद सहित, मानवीय अधिकारों के उपभोग में बाधक सभी तत्वों पर विचार करेगा। आयोग को जेलों के निरीक्षण का अधिकार भी होगा। आयोग को राज्य या राज्य सत्ता की किसी एजेन्सी के कार्यों से मानवीय अधिकारों का हनन होने पर ही जांच करने और मानवीय अधिकारों की रक्षा हेतु आवश्यक कदम उठाने का अधिकार है; व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों या निजी क्षेत्र के प्रसंग में उसे कार्य करने का अधिकार नहीं है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि आयोग को मानवीय अधिकारों के उल्लंघन की घटनाओं की स्वतन्त्र रूप से जांच करने का अधिकार प्राप्त है। जांच के लिए आयोग के अपने कर्मचारीगण होंगे तथा आयोग को केन्द्र सरकार की जांच एजेंसियों तथा राज्य सरकार की जांच एजेंसियों से सहायता प्राप्त करने का अधिकार भी होगा। आयोग अपने जांच कार्य में 'एमनेस्टी इण्टरनेशनल' अथवा अन्य किसी विदेशी या अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी को अथवा गैर-सरकारी विशेषज्ञों को संयुक्त कर सकता है। आयोग को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह मानवीय अधिकारों की रक्षा की दृष्टि से, विद्यमान कानूनों में संशोधन के लिए शासन को सुझाव दे सके।

आयोग प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट सरकार को देगा, सरकार आयोग को सूचित करेगी कि उसकी सिफारिशों पर क्या कार्यवाही की गई है। इसके बाद आयोग पीड़ित पक्ष को अपनी जांच और इस प्रसंग में स्वयं द्वारा या शासन द्वारा उठाये गये कदमों की सूचना देगा। अत्यन्त जरूरी मामलों में आयोग अन्तरिम रिपोर्ट दे सकेगा।

राज्य स्तर पर मानव अधिकार आयोगों की स्थापना राज्य सरकारों पर निर्भर करेगी और वे अपने मानव अधिकार आयोग की स्थापना से सम्बन्धित व्यवस्था में इच्छानुसार परिवर्तन कर सकेंगी।

'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' ने 1994 के प्रारम्भिक दिनों से ही अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है। 'टाइम' कानून की समाप्ति और बाल श्रम का निषेध करने की बात पर बल देने में इस आयोग का महत्वपूर्ण योगदान रहा है तथा अपने कार्यकाल के प्रथम 7 वर्षों में आयोग ने मानवीय अधिकारों की रक्षक संस्था के रूप में अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित कर ली है। भविष्य में सरकार की किसी एजेन्सी के कारण जब नागरिकों के मूल अधिकार या अन्य अधिकारों का हनन होगा, तब नागरिकों के सामने विकल्प होगा कि वे सर्वोच्च न्यायालय/उच्च न्यायालयों में जायें अथवा मानव अधिकार आयोग और उससे जुड़े न्यायालयों में जाएं।

फरवरी, 2003 ई. में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के अध्यक्ष पद पर भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश ए. एस. आनन्द को नियुक्त किया गया है।

मूल कर्तव्य

(FUNDAMENTAL DUTIES)

1950 में लागू किये गये भारतीय संविधान में नागरिकों के केवल अधिकारों का ही उल्लेख किया गया था, मूल कर्तव्यों का नहीं। लेकिन 1976 में संविधान में व्यापक संशोधन करते समय यह अनुभव किया गया कि संविधान में नागरिकों के मूल कर्तव्यों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। अतः संविधान के चतुर्थ भाग के बाद भाग 'चतुर्थ अ' जोड़ा गया, जिसमें मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गयी। ये दस मूल कर्तव्य इस प्रकार हैं :

(1) संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं और राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान—भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा कि वह संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(2) राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन—स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखे और उनका पालन करे।

(3) भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा—प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाये रखे। इसे भारतीय नागरिकों के सर्वोच्च कर्तव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

(4) देश की रक्षा और राष्ट्र सेवा—प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह देश की रक्षा करे और बुलाये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

(5) भारत के लोगों में समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास—भारत के सभी भागों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का विकास करें, जो धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं। इस प्रकार दो कर्तव्यों का बोध कराया गया है : (1) समस्त भारतीयों के मध्य समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास और (2) स्त्रियों का सम्मान करना।

(6) समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा की रक्षा—प्रत्येक नागरिक समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझें और संरक्षण करें।

(7) प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और सभी प्राणियों के प्रति दया भाव—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव भी हैं, रक्षा करे और उनका सम्बर्द्धन करे तथा प्राणी-मात्र के प्रति दयाभाव रखे।

(8) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

(9) सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा व हिंसा से दूर रहना—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे व हिंसा से दूर रहे।

(10) व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि व्यक्तिगत व सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रगति और उपलब्धि की नवीन ऊंचाइयों को छू सके।

आलोचना

मूल कर्तव्यों सम्बन्धी इस व्यवस्था की प्रमुखता दो आधारों पर आलोचना की जा सकती है :

(1) कर्तव्यों के उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था नहीं—विश्व के अनेक देशों के संविधानों में ऐसी व्यवस्था है कि नागरिक मूल कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे, तो उन्हें मूल अधिकारों से तथा नागरिकता से भी वंचित कर दिया जायेगा। किन्तु भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों का उल्लंघन किये जाने पर दण्ड की व्यवस्था नहीं की गयी है। ऐसी स्थिति में इस बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि नागरिक इन मूल कर्तव्यों का अवश्य ही पालन करेंगे। आलोचकों के अनुसार मूल कर्तव्यों के उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था न होने के कारण इन कर्तव्यों के संविधान में उल्लेख का कोई महत्व नहीं रहा है।

(2) भाषा की अस्पष्टता—संविधान में वर्णित कई मूल कर्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद, सुधार की भावना का विकास और सभी क्षेत्रों में उत्कृष्टता के प्रयास, आदि ऐसी बातें हैं, जिनकी व्याख्या विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण एवं मान्यता के अनुसार मनमाने रूप से कर सकते हैं।

(3) मूल कर्तव्यों की यह व्यवस्था अत्यधिक आदर्शवादी—मूल कर्तव्यों की यह जो व्यवस्था की गई है वह अत्यधिक आदर्शवादी है तथा इसमें व्यावहारिकता को दृष्टि में नहीं रखा गया है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन, भारत के लोगों में समरसता, समन्वित संस्कृति की परम्परा की रक्षा तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, आदि मात्र आदर्शवादी स्थितियां हैं, जिन्हें क्रियान्वित कर पाना सम्भव नहीं है। यह देखने के लिए भी कोई मापदण्ड नहीं है कि हम इन दिशाओं में कितना आगे बढ़ पाए हैं।

(4) शासन के अत्याचार की आशंका—कुछ पक्षों द्वारा यह आशंका भी व्यक्त की गई है कि मूल कर्तव्यों में जिस शब्दावली को अपनाया गया है, उसकी आड़ में शासन जनता पर अत्याचार कर सकता है। उदाहरण के लिए, भारत की सभ्रमुता के नाम पर शासन की प्रभुसत्ता स्थापित करने की कोशिश की जा सकती है। पिछले लगभग तीस वर्षों में समय-समय पर ऐसी चेष्टाएं की जा चुकी हैं, अतः यह आशंका निर्मूल नहीं है।

मूल कर्तव्यों का महत्व

यह सर्वमान्य तथ्य है कि कर्तव्यों का पालन किये बिना अधिकारों का उपभोग सम्भव नहीं है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने सोचा था कि भारतीय नागरिक राष्ट्रीय आन्दोलन के उच्च आदर्शों से प्रेरित हैं, अतः उनमें कर्तव्य बोध सदैव ही जगा रहेगा और वे अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे। लेकिन छठे-सातवें दशक में देखा गया कि नागरिकों का दायित्व बोध कमजोर पड़ने लगा है। अतः संविधान में मूल कर्तव्यों का उल्लेख करने की आवश्यकता अनुभव की गयी।

वस्तुतः केवल कुछ ही कर्तव्यों की भाषा अस्पष्ट है। अधिकांश कर्तव्यों की भाषा और भाव नितान्त स्पष्ट तथा उनका महत्व स्वयंसिद्ध है। इनमें संविधान के प्रति निष्ठा और राष्ट्रीय ध्वज व राष्ट्रीय गान का आदर तथा भारत की एकता और अखण्डता की रक्षा विशेष उल्लेखनीय हैं। भारत जैसे बहुधर्मी और बहुभाषी समाज में समन्वित संस्कृति की रक्षा भी एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कर्तव्य है।

जापान, इटली, पूर्व सोवियत रूस, चीन और अन्य यूरोपियन देशों के संविधानों में अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का भी उल्लेख है और अब भारत भी इस सम्बन्ध में इन देशों की श्रेणी में आ गया है। संविधान में नागरिक कर्तव्यों के उल्लेख से यह आशा की गयी है कि भारतीय नागरिकों को अपने कर्तव्यों का अधिक स्पष्ट रूप से बोध होगा और वे अधिक अच्छे रूप में इनका पालन कर सकेंगे। इन कर्तव्यों की अवहेलना की जाने पर अभी तक किसी प्रकार की दण्ड-व्यवस्था नहीं की गयी है लेकिन संसद द्वारा इस सम्बन्ध में दण्ड की व्यवस्था की जा सकती है। इन कर्तव्यों का पालन करना भारत के प्रत्येक नागरिक द्वारा अपना सर्वोच्च धर्म समझा जाना चाहिए।

प्रश्न

1. मूल अधिकारों से आप क्या समझते हैं? भारतीय संविधान में उल्लेख किये गये मूल अधिकारों का वर्णन कीजिए।
2. संविधान द्वारा निर्धारित मूल अधिकारों से आप क्या समझते हैं? उनके महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. भारतीय संविधान में नागरिकों को कौन-कौन से मूल अधिकार दिये गये हैं? संवैधानिक संशोधन के द्वारा उन्हें कहां तक छीना जा सकता है?
4. भारतीय नागरिकों के मूल कर्तव्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए :
 - (अ) संवैधानिक उपचारों का अधिकार;
 - (ब) स्वतन्त्रता का अधिकार और 'निवारक निरोध' कानून की व्यवस्था।

3

राज्य नीति के निदेशक तत्व

(DIRECTIVE PRINCIPLES OF STATE POLICY)

हमारे संविधान की एक प्रमुख विशेषता नीति निदेशक तत्व हैं। विश्व के अन्य देशों के संविधान में आयरलैण्ड के संविधान को छोड़कर अन्य किसी देश के संविधान में इस प्रकार के तत्व नहीं हैं। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने संविधान में केवल राज्य के संगठन की व्यवस्था एवं अधिकार-पत्र का वर्णन ही नहीं किया है, वरन् वह दिशा भी निश्चित की है जिसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न भविष्य में भारत राज्य को करना है। संविधान-निर्माताओं का लक्ष्य भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना था और इसलिए उन्होंने नीति निदेशक तत्वों में ऐसी बातों का समावेश किया, जिन्हें कार्य रूप में परिणत किये जाने पर एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना सम्भव हो सकती है।

नीति निदेशक तत्वों का अर्थ और स्वरूप

(MEANING AND NATURE OF DIRECTIVE PRINCIPLES)

निदेशक तत्व हमारे राज्य के सम्मुख कुछ आदर्श उपस्थित करते हैं, जिनके द्वारा देश के नागरिकों का सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक उत्थान हो सकता है। संविधान की प्रस्तावना द्वारा भारत के नागरिकों को समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय प्रदान करवाने का लक्ष्य इन आदेशों को क्रियान्वित किये जाने पर ही पूर्ण हो सकता है। ये निदेशक तत्व एक प्रकार से राज्य के लिए नैतिकता के सूत्र हैं तथा देश में स्वस्थ एवं वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना की दिशा में प्रेरणा देने वाले हैं।

इन तत्वों की प्रकृति के सम्बन्ध में संविधान की 37वीं धारा¹ में कहा गया है कि “इस भाग में दिये गये उपबन्ध किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय² (Enforceable) नहीं होंगे, किन्तु फिर भी इसमें दिये हुए तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि निर्माण में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।”

इस धारा से यह बात स्पष्ट है कि निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों के समान वैधानिक शक्ति प्रदान नहीं की गयी है अर्थात् निदेशक तत्वों की क्रियान्विति के लिए न्यायालय के द्वारा किसी भी प्रकार के आदेश जारी नहीं किये जा सकते हैं। वैधानिक महत्व प्राप्त न होने पर भी ये तत्व राज्य के शासन को चलाने के आधारभूत सिद्धान्त हैं और राज्य का यह

1 Application of the principles contained in this part—“The provisions contained in this part shall not be enforceable by any court, but the principles there in laid down are nevertheless fundamental in the governance of the country and it shall be duty of the state of apply these principles in making laws.”

2 ‘प्रवर्तनीय’ का आशय है, ऐसे तत्व जिन्हें लागू करने के लिए आदेश दिया जा सके, निदेशक तत्व न्यायालय द्वारा ‘प्रवर्तनीय’ नहीं हैं।

नैतिक कर्तव्य है कि व्यवहार में सदैव ही इन तत्वों का पालन करे। निदेशक तत्वों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए श्री जी. एन. जोशी ने लिखा है कि “इन निदेशक तत्वों का विधानमण्डलों को कानून बनाते समय और कार्यपालिका को इन कानूनों को लागू करते समय ध्यान रखना चाहिए। यह उस नीति की ओर संकेत है जिसका अनुकरण संघ और राज्यों को करना चाहिए।”

मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्वों में भेद

(DISTINCTION BETWEEN FUNDAMENTAL RIGHTS AND DIRECTIVE PRINCIPLES)

मूल अधिकार और नीति निदेशक तत्व, यद्यपि इन दोनों का ही लक्ष्य भारत की प्रगति और भारतीय नागरिकों को विकास के अधिकतम अवसर प्रदान करना है और इस दृष्टि से ‘मूल अधिकार यदि साध्य हैं तो निदेशक तत्व साध्य’ लेकिन परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हुए भी इन दोनों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण अन्तर हैं :

(1) मूल अधिकार प्रवर्तनीय (Enforceable) है लेकिन निदेशक तत्व प्रवर्तनीय नहीं हैं—मूल अधिकार और निदेशक तत्वों में सबसे प्रमुख अन्तर यह है कि मूल अधिकार न्यायालय द्वारा, प्रवर्तनीय हैं, लेकिन निदेशक तत्व न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं। यदि कोई कानून किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करता है तो अनुच्छेद 32 ने सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को अधिकार दिया है कि वे मूल अधिकारों को कार्यान्वित करने के लिए उचित कार्यवाही करें, अतः ये न्यायालय मूल अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कानूनों को अवैध घोषित कर सकते हैं। लेकिन यदि कोई कानून निदेशक सिद्धान्त के प्रतिकूल है तो उसे अवैध नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि निदेशक तत्व न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं। निदेशक तत्व का उल्लंघन होने पर व्यक्ति न्यायालय में वाद उपस्थित कर सकता है, न्यायालय यह भी कह सकते हैं कि संविधान में उल्लिखित निदेशक तत्व की क्रियान्विति हेतु आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए; लेकिन सर्वोच्च न्यायालय सहित भारत का कोई भी न्यायालय न तो सरकार को निदेशक तत्व की क्रियान्विति हेतु आदेश दे सकता है और न ही ऐसे किसी कानून को अवैध घोषित कर सकता है, जिससे निदेशक तत्व का उल्लंघन होता हो। उदाहरण के लिये, सर्वोच्च न्यायालय ने अब तक विभिन्न विवादों में कम-से-कम तीन बार अनुच्छेद-44 की क्रियान्विति हेतु ‘समान नागरिक संहिता’ बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है, लेकिन वह ऐसा आदेश देने में समर्थ नहीं है। सामान्य शब्दों में, मूल अधिकारों को कानूनी शक्ति प्राप्त है, लेकिन निदेशक तत्वों को कानूनी शक्ति प्राप्त नहीं है। इन्हें तो जनमत का बल या नैतिक शक्ति ही प्राप्त है।

(2) मूल अधिकार निषेधात्मक हैं जबकि निदेशक तत्व सकारात्मक निर्देश हैं—दूसरा अन्तर यह है कि मूल अधिकार राज्य के लिए कतिपय निषेधाज्ञाएं (Injunctions) हैं जिनके द्वारा राज्य को कुछ काम न करने का आदेश दिया गया है। इसके विपरीत, निदेशक तत्व नागरिकों के प्रति राज्य के कतिपय सकारात्मक (Positive) उत्तरदायित्व हैं और राज्य से आशा की गयी है कि वह नागरिकों के प्रति अपने इन दायित्वों को पूर्ण करेगा। एलेन ग्लेडहिल के शब्दों में, “मूल अधिकार तो कतिपय निषेधाज्ञाएं हैं और इनके द्वारा राज्य को कुछ कार्य करने से रोका जाता है। इसके विपरीत, राज्य नीति के निदेशक तत्व सरकार को कुछ सकारात्मक आदेश हैं जिन्हें पूरा करना उसका कर्तव्य ठहराया गया है।”¹

1 Allen Gledhill, *Republic of India*, p. 161.

(3) मूल अधिकार नागरिकों के लिए हैं, नीति निदेशक तत्व राज्य के लिए हैं। ये तत्व राजा के कर्तव्य निर्धारित करते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने 'मिनर्वा मिल्स तथा अन्य विवाद' (मई, 1980) में निर्णय देते हुए इस बात पर बल दिया है कि मूल अधिकार और निदेशक तत्व—संविधान की इन दो प्रमुख व्यवस्थाओं में कानूनी दृष्टि से मूल अधिकारों को उच्च स्थिति प्राप्त है। यह कानूनी स्थिति है; लेकिन 1970 के बाद से ही व्यावहारिक राजनीति की प्रवृत्ति निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों की अपेक्षा अधिक महत्व देने की रही है। निदेशक तत्वों का सर्वाधिक प्रमुख लक्ष्य आर्थिक-सामाजिक न्याय की प्राप्ति है और 1971-72 में भारतीय संविधान में जो 24वां, 25वां और 26वां, 1974 में 34वां एवं 1975 में 42वां संशोधन किया गया, उन सबका उद्देश्य निदेशक तत्वों के इस लक्ष्य की क्रियान्विति ही बतलाया गया था। लोकसभा में '25वां संविधान संशोधन विधेयक' प्रस्तावित करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने कहा था, "हम निदेशक तत्वों की क्रियान्विति हेतु कृत संकल्प हैं और इस हेतु मूल अधिकारों को संशोधित भी करना पड़ा, तो हम करेंगे।" 1980 में पुनः सत्ता प्राप्ति के बाद भी श्रीमती गांधी द्वारा इसी विचार को अपनाया गया।

इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शासन के द्वारा निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए भी उन्हें कभी 'प्रवर्तनीय' स्थिति प्रदान नहीं की गई है। अतः जब तक निदेशक तत्वों को प्रवर्तनीय स्थिति प्रदान नहीं की जाती है, तब तक वैधानिक दृष्टि से निदेशक तत्वों की स्थिति मूल अधिकारों की तुलना में गौण ही रहेगी।

मूल अधिकार एवं नीति निदेशक तत्व एक-दूसरे के पूरक :

'सामंजस्यपूर्ण संरचना का सिद्धान्त'

(PRINCIPLE OF HARMONIOUS CONSTRUCTION)

संविधान के भाग तीन में सम्मिलित मूल अधिकार एवं भाग चार में उल्लिखित निदेशक तत्व वास्तव में एक ही समूची व्यवस्था के अंग हैं तथा इन दोनों का लक्ष्य एक ही है और वह है व्यक्तित्व का विकास तथा लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना। भूतपूर्व न्यायाधीश के. सदानन्द हेगड़े ने कहा है कि "सिद्धान्ततः एक ही संविधान के दो भागों में कोई असंगति नहीं हो सकती। राज्य नीति के निदेशक तत्वों को अपनाकर हमारे संविधान-निर्माताओं ने कोई असंगति उत्पन्न नहीं की। उनका प्रयत्न वैयक्तिक अधिकार व सामाजिक कल्याण में समन्वय स्थापित करना था।"

'चन्द्रभवन बोर्डिंग एण्ड लॉजिंग बेंगलोर बनाम मैसूर राज्य और अन्य' (1970) मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ' (1980) तथा अन्य कुछ विवादों के निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात पर बल दिया है कि 'मूल अधिकार और निदेशक तत्व एक-दूसरे के पूरक हैं।' पायली, ग्रेनविल, आस्टिन, के सदानन्द हेगड़े तथा अन्य अनेक लेखकों ने अपनी पुस्तकों में इसी बात पर बल दिया है। वस्तुतः इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

नीति निदेशक तत्व

संविधान की धारा 38 से 51 तक में राज्य की नीति के निदेशक तत्वों का वर्णन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन तत्वों को निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है :

1. **आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व**—भारतीय संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य भारत में एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना था और इस दृष्टि से अधिकांश निदेशक तत्वों द्वारा आर्थिक सुरक्षा और आर्थिक न्याय के सम्बन्ध में व्यवस्था की गयी है। संविधान में इस प्रकार के निम्न तत्वों का उल्लेख है :

(1) राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा। (2) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक-से-अधिक सार्वजनिक हित हो सके। (3) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार से केन्द्रीकरण न हो कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुंचे। (4) राज्य प्रत्येक नागरिक को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा। (5) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न होने देगा। (6) मूल संविधान में कहा गया था कि “राज्य बच्चों तथा युवकों की शोषण से तथा भौतिक या नैतिक परित्याग से रक्षा करेगा।” 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा इसे इस प्रकार संशोधित किया गया है : “राज्य के द्वारा बच्चों को स्वस्थ रूप में विकास के लिए अवसर और सुविधाएं प्रदान की जाएंगी, उन्हें स्वतन्त्रता और सम्मान की स्थिति प्राप्त होगी, बच्चों तथा युवकों की शोषण से तथा भौतिक या नैतिक परित्याग से रक्षा की जायेगी।” (7) राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार और विकास की सीमाओं के भीतर यह प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें, शिक्षा पा सकें एवं बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें। (8) राज्य ऐसा प्रयत्न करेगा कि व्यक्तियों को अपने अनुकूल अवस्थाओं में ही कार्य करना पड़े तथा स्त्रियों को प्रसूतावस्था में कार्य न करना पड़े। (9) राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि कृषि और उद्योगों में लगे हुए सभी मजदूरों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए यथोचित वेतन मिल सके, उनका जीवन-स्तर ऊपर उठ सके, वे अवकाश के समय का उचित उपयोग कर सकें तथा उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो सके। (10) राज्य का कर्तव्य होगा कि गांवों में व्यक्तिगत अथवा सहकारी आधार पर कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दे। (11) वैज्ञानिक आधार पर कृषि का संचालन करना भी राज्य का कर्तव्य होगा। (12) राज्य पशुपालन की अच्छी प्रणालियों का प्रचलन करेगा और गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक पशुओं की नरु सुधारने और उनके वध को रोकने का प्रयत्न करेगा। 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी दो निदेशक तत्व जोड़े गये हैं। ये इस प्रकार हैं : (13) राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि कानूनी व्यवस्था का संचालन समान अवसर के आधार पर न्याय की प्राप्ति में सहायक हो और उचित व्यवस्थापन, योजना या अन्य किसी प्रकार से समाज के कमजोर वर्गों के लिए निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था करेगा, जिससे आर्थिक असामर्थ्य या अन्य किसी प्रकार से व्यक्ति न्याय से वंचित न रहें। (14) राज्य उचित व्यवस्थापन या अन्य प्रकार से औद्योगिक संस्थानों के प्रबन्ध में कर्मचारियों को भागीदार बनाने के लिए कदम उठायेगा।

44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल, 1979) द्वारा आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्वों में एक और तत्व जोड़ा गया है। इसमें कहा गया है कि “राज्य न केवल व्यक्तियों की आय और उनके सामाजिक स्तर, सुविधाओं और अवसरों सम्बन्धी भेदभाव को कम करने का प्रयत्न करेगा, वरन् विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों के समुदायों के बीच विद्यमान आय, सामाजिक स्तर, सुविधाओं और अवसरों सम्बन्धी भेदभाव को भी कम-से-कम करने का प्रयत्न करेगा।”

2. सामाजिक हित सम्बन्धी निदेशक तत्व—इस सम्बन्ध में राज्य के अधोलिखित कर्तव्य निश्चित किये गये हैं :

(1) राज्य लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य सुधारने के लिए प्रयत्न करेगा। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए औषधि में प्रयोग किये जाने के अतिरिक्त स्वास्थ्य के लिए हानिकारक मादक द्रव्यों तथा अन्य मादक पदार्थों के सेवन पर प्रतिबन्ध लगायेगा। (2) राज्य जनता के दुर्बलतर अंगों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के, शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

3. न्याय, शिक्षा और प्रजातन्त्र सम्बन्धी निदेशक तत्व—भारत में सुगम और सुलभ न्याय-व्यवस्था, शिक्षा के प्रचार और प्रसार तथा प्रजातन्त्र की भावना के विकास के लिए भी कुछ निदेशक तत्वों का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार हैं :

(1) न्याय की प्राप्ति हेतु राज्य सभी नागरिकों के लिए समान कानून बनायेगा और अपनी सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने का प्रयत्न करेगा। (2) शिक्षा के सम्बन्ध में यह प्रस्तावित किया गया है कि विधान के लागू होने के 10 वर्ष के समय में राज्य 14 वर्ष तक के बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करेगा। (3) प्रजातन्त्र की भावना के विकास के लिए निदेशक तत्वों में कहा गया है कि राज्य ग्राम-पंचायतों के संगठन की ओर कदम उठायेगा और इन्हें इतने अधिकार प्रदान किये जायेंगे कि वे स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें।

4. प्राचीन स्मारकों की रक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व—इन तत्वों द्वारा प्राचीन स्मारकों, कलात्मक महत्व के स्थानों और राष्ट्रीय महत्व के भवनों की रक्षा का कार्य भी राज्य को सौंपा गया है। राज्य का कर्तव्य निश्चित किया गया है कि वह प्रत्येक स्मारक, कलात्मक या ऐतिहासिक रुचि के स्थान को, जिसे संसद ने राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दिया हो, रक्षा करने का प्रयत्न करेगा।

42वें संवैधानिक संशोधन में कहा गया है कि “राज्य देश के पर्यावरण (environment) की रक्षा और उसमें सुधार का प्रयास करेगा।” राज्य के द्वारा वनों और वन्य जीवों की सुरक्षा का भी प्रयास किया जायेगा।

5. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व—हमारे देश का आदर्श सदैव ही ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ का रहा है और हमने सदैव ही ‘शान्ति तथा जीओ और जीनो दो’ के सिद्धान्त को अपनाया है। इसी आदर्श को हमारे संविधान ने अन्तिम निदेशक तत्व में अग्र प्रकार बताया है :

राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निम्नलिखित आदर्शों को लेकर चलने का प्रयत्न करेगा :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा में वृद्धि, (2) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखना, (3) राष्ट्रों के आपसी व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय कानून और सन्धियों के प्रति आदर का भाव बढ़ाना, (4) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को मध्यस्थता द्वारा सुलझाने के लिए प्रोत्साहित करना।

निदेशक तत्वों के इस वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि इन तत्वों के आधार पर भारत में वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना हो सकेगी और हमारा देश एक ऐसा लोककल्याणकारी राज्य बन सकेगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता, समता तथा सामाजिक न्याय प्राप्त हो सके।

नीति निदेशक तत्वों की आलोचना

(CRITICISM OF THE DIRECTIVE PRINCIPLES)

जिस समय संविधान का निर्माण हो रहा था, उस समय संविधान सभा में और बाहर भी राज्य नीति के निदेशक तत्वों सम्बन्धी उपबन्धों की बहुत आलोचना हुई थी। संविधान के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् भी अनेक विद्वानों ने कई आधारों पर इन तत्वों की आलोचना की है। आलोचकों की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित रहे हैं :

(1) वैधानिक शक्ति का अभाव—निदेशक तत्वों की आलोचना का सबसे प्रमुख आधार यह है कि इन तत्वों को वैधानिक शक्ति प्राप्त न होने के कारण ये निरर्थक हैं। संविधान ने राज्य नीति के निदेशक तत्वों को एक ओर तो देश के शासन में मूलभूत माना है किन्तु साथ ही वे वैधानिक शक्ति प्राप्त या न्याय-योग्य नहीं हैं अर्थात् न्यायालय उपर्युक्त सिद्धान्तों को क्रियान्वित नहीं करा सकते। अतः आलोचकों की राय में ये निदेशक तत्व 'शुभ इच्छाएं' (Pious wishes), 'नैतिक उपदेश' (Moral precepts) या ऐसी राजनीतिक घोषणाओं के समान हैं जिनका कोई संवैधानिक महत्व नहीं है। संविधान सभा के सदस्य प्रो. नसीरुद्दीन ने उन्हें "नव वर्ष के प्रथम दिन पास किये गये शुभकामना प्रस्ताव कहा था, जिनकी अवहेलना दूसरे दिन से ही प्रारम्भ कर दी जाती है।" प्रो. के. टी. शाह के शब्दों में, "यह एक ऐसा चेक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।" इसी प्रकार प्रो. क्लियर ने उन्हें "मात्र उद्देश्यों और आकांक्षाओं का घोषणा-पत्र कहा।"

(2) निदेशक तत्व काल्पनिक आदर्श-मात्र—आलोचकों का कथन है कि निदेशक तत्वों में ऐसे काल्पनिक आदर्शों का चित्रण किया गया है जिन्हें क्रियान्वित करना निश्चित रूप से बहुत दूर की बात है। इस आलोचना का प्रतिपादन करते हुए केम्पसन ने लिखा है कि "जो लक्ष्य निश्चित किये गये हैं उनमें से कुछ का तो सम्भावित कार्यक्रम की वास्तविकता से बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध है।" एन. आर. राधवाचारी तो यहां तक कहते हैं कि "इन तत्वों का उद्देश्य जनता को मूर्ख बनाना व बहकाना ही है।"

(3) एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य में अप्राकृतिक—एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों को ग्रहण करना अप्राकृतिक भी प्रतीत होता है। एक उच्च सत्ता अधीनस्थ सत्ता को आदेश दे सकती है लेकिन एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य को आदेश दिया जाय, यह नितान्त अस्वाभाविक जान पड़ता है। विधिवेत्ताओं की दृष्टि में एक सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य के लिए इस प्रकार के आदेशों का कोई औचित्य नहीं है।

(4) संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न होने की आशंका—संवैधानिक विधिवेत्ताओं ने आशंका व्यक्त की है कि ये तत्व संवैधानिक द्वन्द्व और गतिरोध के कारण भी बन सकते हैं। संविधान सभा में श्री के. सत्यानम् ने भय प्रकट किया था कि इन निदेशक तत्वों के कारण राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री अथवा राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच मतभेद पैदा हो सकता है। यदि शासन निदेशक तत्वों के विरुद्ध व्यवस्थापिका से कोई विधेयक स्वीकृत करवा लेता है तो राष्ट्रपति या राज्यपाल इस आधार पर विधेयक पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकते हैं कि वह शासन के मूलभूत सिद्धान्त निदेशक तत्वों के विरुद्ध है। इस प्रकार की घटनाएं कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान और वास्तविक प्रधान के बीच मतभेदों को जन्म देंगी और इससे संसदीय प्रजातन्त्र को गम्भीर आघात पहुंच सकता है।

नीति निदेशक तत्वों का महत्व

(IMPORTANCE OF THE DIRECTIVE PRINCIPLES)

नीति निदेशक तत्वों की जो आलोचना की गयी है, उसका यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिए कि वे बिल्कुल व्यर्थ और महत्वहीन हैं। वास्तव में संवैधानिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से निदेशक तत्वों का बहुत अधिक महत्व है। इन तत्वों के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) निदेशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति—यद्यपि इन निदेशक तत्वों को न्यायालय द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, लेकिन इनके पीछे जनमत की सत्ता होती है जो प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा न्यायालय है। अतः जनता के प्रति उत्तरदायी कोई भी सरकार इनकी अवहेलना का साहस नहीं कर सकती। शासन द्वारा किया गया इन तत्वों का उल्लंघन देश में शाक्तिशाली विरोध को जन्म देगा। व्यवस्थापिका के भीतर शासन को विरोधी दल के प्रहारों का सामना करना पड़ेगा और व्यवस्थापिका के बाहर इसे निर्वाचन के समय निर्वाचकों को जवाब देना ही होगा। प्रो. पायली के अनुसार, “ये निदेशक तत्व राष्ट्रीय चेतना के आधारभूत स्तर का निर्माण करते हैं और जिनके द्वारा इन तत्वों का उल्लंघन किया जाता है वे ऐसा कार्य उत्तरदायित्व की स्थिति से अलग होने की जोखिम पर ही करते हैं।” अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने संविधान सभा में ठीक ही कहा था कि “कोई लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल संविधान के चतुर्थ भाग के उपबन्धों के उल्लंघन का साहस नहीं कर सकता।”¹

(2) नैतिक आदर्शों के रूप में महत्व—यदि निदेशक तत्वों को केवल नैतिक धारणाएं ही मान लिया जाय, तो इस रूप में भी इनका अपार महत्व है। ब्रिटेन में मैग्नाकार्टा, फ्रांस में मानवीय तथा नागरिक अधिकारों की घोषणा तथा अमरीकी संविधान की प्रस्तावना को कोई वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है, फिर भी इन देशों के इतिहास पर इनका प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार उचित रूप में यह आशा की जा सकती है कि ये निदेशक तत्व भारतीय शासन की नीति को निर्देशित और प्रभावित करेंगे। एलेन ग्लेडहिल (Allen Gledhill) के शब्दों में, “अनगिनत व्यक्तियों के जीवन नैतिक आदर्शों के फलस्वरूप सुधरे हैं और ऐसे उदाहरण भी मिलने कठिन नहीं हैं जबकि उच्च नैतिक आदर्शों का राष्ट्र के इतिहास पर प्रभाव पड़ा हो”

1 “No ministry responsible to the people can afford lightly to ignore the provisions in part IV of the Constitution.” —Alladi Krishnaswamy Aiyer

(3) शासन के मूल्यांकन का आधार—नीति निदेशक तत्वों द्वारा जनता को शासन की सफलता-असफलता की जांच करने का मापदण्ड भी प्रदान किया जाता है। शासक दल के द्वारा अपने मतदाताओं को निदेशक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में अपनी सफलताएं बतानी होंगी और शासन शक्ति पर अधिकार करने के इच्छुक राजनीतिक दल को इन तत्वों की क्रियान्विति के प्रति अपनी तत्परता और उत्साह दिखाना होगा। इस प्रकार निदेशक तत्व जनता को विभिन्न दलों की तुलनात्मक जांच करने के योग्य बना देंगे।

(4) सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति के साधन—हमने सन् 1947 में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, लेकिन राजनीतिक स्वतन्त्रता देश की सामान्य जनता की सामाजिक-आर्थिक स्थिति सुधारने का एक साधन ही है। इस प्रकार सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति का मार्ग निदेशक तत्वों में बताया गया है। अतः निदेशक तत्वों को क्रियान्वित करते हुए सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र के अन्तर्गत नवीन युग में प्रवेश किया जा सकता है।

(5) संविधान की व्याख्या में सहायक—संविधान के अनुसार निदेशक तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं जिसका तात्पर्य यह है कि देश के प्रशासन के लिए उत्तरदायी सभी सत्ताएं उनके द्वारा निर्देशित होंगी। न्यायपालिका भी शासन का एक महत्वपूर्ण अंग होने के कारण यह आशा की जाती है कि भारत में न्यायालय संविधान की व्याख्या के कार्य में निदेशक तत्वों को उचित महत्व देंगे। एम. सी. सीतलबाद के शब्दों में, “राज्य नीति के इन मूलभूत सिद्धान्तों को वैधानिक प्रभाव प्राप्त न होते हुए भी उनके द्वारा न्यायालयों के लिए उपयोगी प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया जाता है।”

(6) कार्यपालिका प्रधान इनका दुरुपयोग नहीं कर सकते हैं—निदेशक तत्वों के पक्ष में एक बात यह कही जा सकती है कि यद्यपि संविधान सभा के सदस्यों और कुछ संविधानवेत्ताओं ने यह भय प्रकट किया है कि राष्ट्रपति या राज्यपाल इस आधार पर किसी विधेयक पर अपनी सम्मति देने से इन्कार कर सकते हैं कि वह निदेशक तत्वों के प्रतिकूल है लेकिन व्यवहार में ऐसी घटना की सम्भावना बहुत कम है, क्योंकि संसदात्मक शासन में नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान लोकप्रिय विधानमण्डल और मन्त्रिपरिषद् द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने का दुस्साहस नहीं कर सकता है। डॉ. अम्बेदकर के शब्दों में, “विधायिका द्वारा पारित विधि को अस्वीकृत करने के लिए राष्ट्रपति या राज्यपाल इन तत्वों को अपना आधार नहीं बना सकते।”

निदेशक तत्व इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि इनमें गांधीवादी आदर्शों को स्थान दिया गया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैधानिक शक्ति प्राप्त न होने पर भी निदेशक तत्वों का अपना महत्व और उपयोगिता है।

निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन तथा आलोचना

नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन की समस्या पुलिस राज्य को कल्याणकारी राज्य और संविधान द्वारा स्थापित राजनीतिक लोकतन्त्र को आर्थिक-सामाजिक लोकतन्त्र में परिवर्तित कर सकने की समस्या है। नीति निदेशक तत्वों में अनेक बातें कही गई हैं। लेकिन यदि निदेशक तत्वों का कोई लक्ष्य बतलाया जा सकता है तो वह है ‘आर्थिक-सामाजिक न्याय’।

निदेशक तत्वों में आर्थिक-सामाजिक न्याय से सम्बन्धित प्रमुख बातें ये हैं : अधिकतम सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना, सभी व्यक्तियों के लिए आजीविका के साधन, बालकों-महिलाओं-युवकों और श्रमिकों सहित सभी व्यक्तियों की शोषण से रक्षा, छोटे कृषकों और भूमिहीन कृषि मजदूरों के हितों की रक्षा, असहाय व्यक्तियों को राजकीय सहायता और सभी व्यक्तियों के लिए कानूनी न्याय की प्राप्ति, आदि।

आर्थिक-सामाजिक न्याय की प्राप्ति का लक्ष्य इतना बड़ा है कि इसे पूरा करने के लिए दीर्घकालीन प्रयत्न, प्रचुर धन तथा तीव्र गति से आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास आवश्यक है। संविधान लागू किए जाने के समय से ही इस दिशा में शासन द्वारा कुछ महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

(i) जमींदारी और जागीरदारी प्रथा का अन्त और भूमि सुधार—भारत में जमींदारी और जागीरदारी प्रथा के आधार पर सैकड़ों वर्षों से किसानों का शोषण किया जाता रहा है। अतः 1951 में ही जमींदारी और जागीरदारी व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

इसके साथ ही 1951 से लेकर आज तक अनेक भूमि सुधार कानून पारित किए गए हैं। इन भूमि सुधार कानूनों को संविधान की नौवीं अनुसूची में रखते हुए उन्हें उच्च संवैधानिक स्थिति प्रदान की गई है। इन भूमि सुधार कानूनों का सर्वप्रमुख लक्ष्य है : भूमि पर जोतने वाले का अधिकार।

(ii) पंचवर्षीय योजनाएं—देश के आर्थिक विकास के लिए नियोजन के मार्ग को अपनाया गया। अब तक नौ पंचवर्षीय योजनाएं क्रियान्वित की जा चुकी हैं। 1 अप्रैल, 2002 से दसवीं पंचवर्षीय योजना के आधार पर विकास कार्य चल रहा है। इन योजनाओं में कृषि, जल संसाधन, पशु नस्ल सुधार, ग्रामीण विकास, ऊर्जा, उद्योग, वाणिज्य, परिवहन, संचार, श्रम, आवास, स्वास्थ्य, पर्यावरण, वैज्ञानिक अनुसन्धान और शिक्षा, आदि के सम्बन्ध में विविध कार्यक्रम अपनाकर उन्हें क्रियान्वित किया जा चुका है। कुटीर उद्योग और लघु उद्योगों को प्रोत्साहित किया गया है। इसी उद्देश्य से अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, अखिल भारतीय हाथकरघा बोर्ड और लघु उद्योग बोर्ड, आदि अनेक संगठनों की स्थापना की गई है।

(iii) पंचायती राज और स्थानीय स्वशासन—नीति निदेशक तत्वों में ग्राम पंचायतों की स्थापना और उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों का रूप देने की बात कही गई है। अतः 2 अक्टूबर, 1959 से 'पंचायती राज' की व्यवस्था को अपनाया गया और व्यवहार के अन्तर्गत पंचायती राज की व्यवस्था में जो कमियां देखी गईं, उन्हें दूर करने के लिए 1993 ई. में संसद ने 73वां संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया है। इस संशोधन अधिनियम के आधार पर संविधान में 11वीं अनुसूची की व्यवस्था कर पंचायती राज को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है। इसी प्रकार 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के आधार पर शहरी क्षेत्र में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया है।

(iv) कमजोर वर्गों का कल्याण—अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए संविधान और शासन ने विशेष सुविधाएं उपलब्ध करवाई हैं। प्रतिनिधि संस्थाओं में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण की अवधि 79वें संवैधानिक

संशोधन (2000 ई.) के आधार पर 25 जनवरी, 2010 ई. तक के लिए बढ़ा दी गई है। सरकारी नौकरियों में इनके लिए 'विशेष दावों की व्यवस्था' को अपनाया गया है, जिसके लिए कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है और संसद तथा विधानमण्डलों में इनके लिए जनसंख्या के अनुपात में स्थान आरक्षित हैं।

अस्पृश्यता निवारण के लिए कठोर कानूनों का निर्माण किया गया है। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के बालक-बालिकाओं के लिए उदारतापूर्वक छात्रवृत्तियों, पोशाक और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था के आधार पर उन्हें शिक्षित करने की प्रत्येक सम्भव चेष्टा की जा रही है। 1990 में 65वें संविधान संशोधन अधिनियम के आधार पर एक उच्चस्तरीय 7-सदस्यीय 'अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग' की स्थापना कर उसे संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इन जातियों पर अत्याचार से सम्बद्ध घटनाओं की यह आयोग जांच कर सकेगा। भारतीय समाज के अन्तर्गत महिलाएं भी समाज के कमजोर वर्गों में ही आती हैं। 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियम के आधार पर पंचायती राज संस्थाओं और शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में महिलाओं के लिए 30 प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं। आशा की जाती है कि यह कदम महिला जांगृति की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ाएगा। 93वें संवैधानिक संशोधन 2005 ई. के आधार पर व्यवस्था की गई है कि सरकारी या सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त करने वाली या वित्तीय सहायता प्राप्त न करने वाली शिक्षण संस्थाओं में अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण प्राप्त होगा।

(v) सामाजिक सुरक्षा—युवक वर्ग व बालकों की शोषण से रक्षा करने के लिए अनेक कानून पारित किए गए हैं। कुछ राज्य सरकारों द्वारा वृद्धावस्था पेन्शन योजना लागू की गई है। बीमारी तथा दुर्घटना के विरुद्ध सुरक्षा के लिए कुछ सीमा तक मजदूर वर्ग बीमा योजना लागू की गई है तथा बेरोजगारी बीमा योजना को लागू करने और रोजगार की सुविधाएं बढ़ाने के लिए प्रयास किए जा रहे हैं। राज्य सामाजिक कल्याण की दिशा में धीमी गति से ही सही, लेकिन निरन्तर आगे बढ़ रहा है।

(vi) बड़े-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण—इसके अन्तर्गत जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण; 20 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण; पर्यटन, परिवहन, कोयला खान और विद्युत आपूर्ति, आदि का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसी प्रकार राजाओं के प्रिवी पर्स समाप्त कर दिए गए। ये सभी कार्य आर्थिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किए गए।

(vii) सम्पत्ति के मूल अधिकार को सीमित करना—सम्पत्ति के मूल अधिकार को आर्थिक-सामाजिक न्याय के मार्ग में बाधक मानते हुए पहले तो विविध संवैधानिक संशोधनों के आधार पर इसे सीमित किया गया और बाद में 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) के आधार पर उसे मूल अधिकारों की सूची से निकाल दिया गया। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार है, मूल अधिकार नहीं।

(viii) न्यायिक व्यवस्था में सुधार—न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण किया गया, जिससे जनता को निष्पक्ष न्याय मिल सके। इसी प्रकार शीघ्र न्याय की प्राप्ति के लिए 'लोक अदालतों' की व्यवस्था को अपनाया गया तथा निःशुल्क कानूनी सहायता के लिए भी

कुछ व्यवस्थाएं की गई हैं। 2001-02 में शीघ्र न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'त्वरित न्यायालयों' की व्यवस्था को अपनाया गया है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भी इस दिशा में कुछ अन्य कार्य हुए हैं। 1975 में बन्धक मजदूरी की समाप्ति और स्त्री-पुरुष को समान वेतन दिलाने का कानून पारित किया गया। 1989-92 के वर्षों में छोटे किसानों तथा कारीगरों के छोटे ऋणों को माफ किया गया। 1993 में केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था लागू की गई। 1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को निर्देश दिया कि 6 माह में बाल मजदूरी समाप्त कर दी जाय। अतः बाल मजदूरी की समाप्ति हेतु प्रयत्न किये जा रहे हैं और 'बाल पुनर्स्थापना कल्याण कोष' की स्थापना की गई है। 1 अप्रैल, 2000 से केन्द्र सरकार द्वारा बेसहारा वृद्ध व्यक्तियों के लिए सीमित रूप में मुफ्त अनाज देने की योजना 'अन्नपूर्णा योजना' लागू की गई है। इस योजना के अन्तर्गत चयनित लगभग 14 लाख वरिष्ठ नागरिकों को प्रति माह दस किलो अनाज दिया जाएगा।

निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रारम्भिक कदम 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम, 2005' के रूप में उठाया गया है, जिसके अनुसार देश की ग्रामीण जनसंख्या (प्रति परिवार एक सदस्य) को वर्ष में न्यूनतम 100 दिन के रोजगार की गारण्टी दी गई है। प्रारम्भ में देश के 200 जिलों में इस अधिनियम को लागू किया गया है। अपनी सभी सीमाओं के बावजूद निश्चित रूप से यह एक महत्वपूर्ण कदम है।

शासन द्वारा उठाए गए कदमों का प्रभाव

शासन द्वारा निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की दिशा में जो कार्य किए गए, उनका निम्न रूपों में उपयोगी प्रभाव भी पड़ा है :

प्रथम, बड़े किसानों की स्थिति तो पहले भी अच्छी थी, शासन द्वारा भूमि सुधार कानूनों और कृषि के विकास की दिशा में जो कार्य किए गए, उनसे मध्यम श्रेणी के किसानों की स्थिति में सुधार हुआ है। द्वितीय, अनुसूचित जातियों पर अत्याचार की घटनाएं अब भी घटित होती हैं, लेकिन कुछ तो कालचक्र के प्रभाव से और कुछ शासन द्वारा किए गए कार्यों के परिणामस्वरूप, अधिकांश घटनाओं में अनुसूचित जातियों द्वारा इन स्थितियों का विरोध किया जाता है तथा अब यह बात नितान्त स्पष्ट हो गई है कि समाज की उच्च जातियों द्वारा अनुसूचित जातियों और दलित वर्गों को लम्बे समय तक दबा कर नहीं रखा जा सकेगा। तृतीय, संगठित श्रमिक वर्ग की स्थिति में निश्चित रूप से सुधार हुआ है। चतुर्थ, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में सुविधाएं पहले से निश्चित रूप से बढ़ी हैं। पंचम, रोजगार के अवसर भी पहले से बढ़े हैं लेकिन जनसंख्या वृद्धि के कारण बेरोजगारों की संख्या घटने के बजाय बढ़ गई है।

निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन की आलोचना

निदेशक तत्वों का लक्ष्य है 'सामाजिक-आर्थिक न्याय' और भारत के विविध राजनीतिक दल सामाजिक-आर्थिक न्याय की स्थिति को प्राप्त करने का संकल्प लगातार दोहराते रहे हैं, लेकिन इस दिशा में जैसा ठोस कार्य अपेक्षित था, वैसा नहीं किया गया। निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की आलोचना निम्न प्रकार है :

प्रथम, नीति निदेशक तत्वों का लक्ष्य है, 'अधिकतम सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना' लेकिन लगभग 59 वर्षों में धनी और निर्धन के बीच विषमता में कमी आने के बजाय वृद्धि ही हुई है। सम्पत्ति के मूल अधिकार को संवैधानिक संशोधनों के आधार पर सीमित करना और अन्ततः सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में समाप्त करना, आदि तो नाटकीय कार्य हैं, जिनका व्यावहारिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। भारत का राजनीतिक अभिजन आर्थिक समानता की दिशा में आगे बढ़ने की इच्छा रखता है, इसमें निश्चित रूप से सन्देह है। इस प्रसंग में हमारी असफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि आज भी लगभग 26.1 प्रतिशत व्यक्ति गरीबी सीमा-रेखा के नीचे या गरीबी सीमा रेखा के समीप रहते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं। निर्धनता के समुद्र में विलसिता के टापू खड़े हैं।

द्वितीय, आर्थिक-सामाजिक न्याय की प्राप्ति तभी सम्भव थी, जबकि भारत के सभी नागरिकों को 'रोजगार का अधिकार' दिया जाता। अब तक ऐसा नहीं किया गया है और देश सबके लिए रोजगार की दिशा में आगे नहीं बढ़ रहा है। बेरोजगारों और शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में कमी होने के बजाय निरन्तर वृद्धि हो रही है।

तृतीय, अब तक अनेक भूमि सुधार कानून पारित किए गए, लेकिन इन कानूनों में कुछ कमियां रही हैं और अधिकांश राज्यों में इन कानूनों की क्रियान्विति उचित रूप में नहीं हुई। छोटे किसान और भूमिहीन श्रमिक के दुःख-दर्द पहले से कम होने के बजाय बढ़ गए हैं। 'भूमि पर जोतने वाले का अधिकार हो' (Land to the tiller) यह नारा हमने लगातार लगाया है, लेकिन व्यवहार में आज भी इस स्थिति से हम बहुत दूर हैं।

चतुर्थ, शिक्षा के क्षेत्र में सुविधाओं में कुछ वृद्धि हुई है, लेकिन 2001 की जनगणना के अनुसार पूरे देश में साक्षरता का प्रतिशत 64.8 ही है। स्त्रियों का साक्षरता प्रतिशत तो केवल 53.7 ही है।¹

अन्य कुछ बातों के सम्बन्ध में भी स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। 'बन्धुआ मजदूरी' की स्थिति कानूनन तो समाप्त कर दी गई, लेकिन व्यवहार में आज भी बनी हुई है। बालक, महिलाएं और सभी निर्धन व्यक्ति आज भी शोषण का शिकार हो रहे हैं। न्याय व्यवस्था ऐसी है कि निर्धन व्यक्ति न्याय प्राप्त करने की बात सोच भी नहीं पाता। यह सारी स्थिति तो इस प्रश्न को जन्म देती है कि क्या भूतपूर्व और वर्तमान शासक वर्ग को निदेशक तत्वों में, दूसरे शब्दों में आर्थिक तथा सामाजिक न्याय में कोई आस्था है।

'सरदार पटेल स्मारक व्याख्यान माला' के अन्तर्गत 'संविधान और सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन' विषय पर बोलते हुए 16 दिसम्बर, 1977 को सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री हंसराज खन्ना ने कहा था कि "संविधान में जो सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित किए गए थे, वे हमसे पहले की अपेक्षा अधिक दूर हो गए हैं। उन्होंने कहा कि "यह विडम्बना ही है कि संविधान लागू होने के बाद, 28 वर्ष बीत जाने पर भी, भावी पीढ़ी को दिए गए वचन पूरे करने की दिशा में ठोस कदम नहीं उठाए गए।"² वस्तुतः

1 *Census of India, 2001.*

2 *दैनिक हिन्दुस्तान*, 18 दिसम्बर, 1977, पृ. 3.

निदेशक तत्वों की क्रियान्विति नारेबाजी पर नहीं, वरन् ठोस कार्यों पर निर्भर करती है और संविधान लागू किए जाने के समय से लेकर अब तक जो भी वर्ग सत्कारुद्ध रहा है, उसने नारेबाजी का ही अधिक आश्रय लिया, सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में ठोस कार्य नहीं किया गया या नहीं किया जा सका। संक्षेप में, निदेशक तत्वों की क्रियान्विति की दिशा में अब तक जो कुछ किया गया, उसकी तुलना में अभी बहुत कुछ किया जाना है और भारतीय लोकतन्त्र के हित में अब यह कार्य, विशेषतया आर्थिक-सामाजिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने का कार्य, सच्चे मन से और शीघ्रातिशीघ्र किया जाना चाहिए।

प्रश्न

1. संविधान में उल्लिखित राज्य के नीति निदेशक तत्वों को समझाकर लिखिए और बताइए कि उनका महत्व क्या है?
2. राज्य के नीति निदेशक तत्वों से आप क्या समझते हैं? उनमें तथा मूल अधिकारों में क्या अन्तर है?
3. भारतीय संविधान में राज्य के नीति निदेशक तत्वों का क्या अर्थ है? क्या वे मूल अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण हैं?
4. भारतीय संविधान में निर्दिष्ट राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
5. मूल अधिकार और राज्य के नीति निदेशक तत्वों में अन्तर स्पष्ट कीजिए और निदेशक तत्वों की उपयोगिता बतलाइए।

4

भारतीय संघीय व्यवस्था : केन्द्र तथा राज्यों का सम्बन्ध

(INDIAN FEDERAL SYSTEM : RELATION BETWEEN CENTRE AND THE STATES)

भारत : राज्यों का संघ (INDIA : UNION OF STATES)

एक देश के संविधान द्वारा क्षेत्र के आधार पर शक्तियों का जो विभाजन या केन्द्रीकरण किया जाता है उस दृष्टि से दो प्रकार की शासन-व्यवस्थाएं होती हैं : एकात्मक शासन और संघात्मक शासन। भारत क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से अत्यधिक विशाल और बहुत अधिक विविधताओं से परिपूर्ण देश है, ऐसी स्थिति में भारत के लिए संघात्मक शासन-व्यवस्था को ही अपनाया स्वाभाविक था और भारतीय संविधान के द्वारा ऐसा ही किया गया। संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि “भारत राज्यों का एक संघ होगा।”¹ लेकिन संविधान-निर्माता संघीय शासन को अपनाते हुए भी संघीय शासन की दुर्बलताओं से दूर रहने के लिए उत्सुक थे और इस कारण भारत के संघीय शासन में एकात्मक शासन के भी कुछ लक्षणों को अपना लिया गया। वास्तव में, भारतीय संविधान में संघीय शासन के लक्षण प्रमुख रूप से और एकात्मक शासन के लक्षण गौण रूप से विद्यमान हैं।

भारतीय संघ : राज्य व संघीय क्षेत्र

भारतीय संघ में अक्टूबर, 2000 ई. तक 25 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र थे।² संसद ने विधिवत् विधेयक पारित कर नवम्बर, 2000 ई. में तीन नवीन राज्यों का गठन किया। ये तीन राज्य हैं :

26वां राज्य छत्तीसगढ़ (स्थापना दिवस 1 नवम्बर, 2000)—मध्य प्रदेश राज्य का विभाजन कर छत्तीसगढ़ का गठन किया गया।

1 “India, that is Bharat; shall be a Union of States.”

—Article 1

2 भारत में वर्तमान समय में 28 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र हैं। दिल्ली को या पाण्डिचेरी को राज्य का दर्जा नहीं दिया गया है वरन् 70वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर केवल यह व्यवस्था की गई है कि इन दोनों संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों को भारतीय संघ के राज्यों की विधानसभाओं के सदस्यों की भांति राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेने का अधिकार होगा।

27वां राज्य उत्तरांचल (स्थापना दिवस 9 नवम्बर, 2000)—उत्तर प्रदेश राज्य का विभाजन कर उत्तरांचल राज्य का गठन किया गया।

28वां राज्य झारखण्ड (स्थापना दिवस 15 नवम्बर, 2000)—विहार राज्य का विभाजन कर झारखण्ड का गठन किया गया।

इस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय संघ में 28 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र हैं। भारतीय संघ के इन राज्यों का विवरण निम्न प्रकार है :¹

भारत/राज्य	राजधानी	क्षेत्रफल (वर्ग किमी)	जनसंख्या (2001)
भारत	नई दिल्ली	32,87,263	1,02,87,37,436
राज्य			
आंध्र प्रदेश	हैदराबाद	2,75,045	76,210,007
असम	दिसपुर	78,438	26,655,528
उड़ीसा	भुवनेश्वर	1,55,707	36,68,04,660
उत्तर प्रदेश	लखनऊ	2,40,928	166,197,921
केरल	तिरुवनन्तपुरम्	38,863	31,841,374
गुजरात	गांधीनगर	1,96,024	50,671,017
जम्मू-कश्मीर ²	श्रीनगर	2,22,236	10,143,700
तमिलनाडु	चेन्नई	1,30,058	62,405,679
त्रिपुरा	अगरतल्ला	10,486	3,199,203
नगालैण्ड	कोहिमा	16,579	1,990,361
पंजाब	चण्डीगढ़	50,362	24,358,999
प. बंगाल	कोलकाता	88,752	80,176,197
बिहार	पटना	94,163	82,998,509
मध्य प्रदेश	भोपाल	3,08,245	60,348,023
महाराष्ट्र	मुम्बई	3,07,713	96,778,627
मेघालय	शिलांग	22,429	2,318,822
मणिपुर	इम्फाल	22,327	2,393,896
राजस्थान	जयपुर	3,42,239	56,507,188
हरियाणा	चण्डीगढ़	44,212	21,144,564
हिमाचल प्रदेश	शिमला	55,673	6,077,900
कर्नाटक	बंगलौर	1,91,791	52,850,562
सिक्किम	गंगटोक	7,096	540,851
मिजोरम	एजल	21,081	888,573
अरुणाचल प्रदेश	ईटानगर	83,743	1,097,968
गोवा	पणजी	3,702	1,347,668
छत्तीसगढ़	रायपुर	1,35,191	20,833,803
झारखण्ड	रांची	79,714	26,945,829
उत्तरांचल	देहरादून	53,483	8,489,349

1 संघीय क्षेत्रों का विवरण एक पृथक् अध्याय 'संघीय क्षेत्र' तथा उनकी शासन-व्यवस्था' में दिया गया है।

2 जम्मू-कश्मीर के क्षेत्र में पाक और चीन द्वारा अधिकृत क्षेत्र भी हैं, जनसंख्या के आंकड़े भारत अधिकृत जम्मू-कश्मीर क्षेत्र के ही हैं।

भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षण

संघात्मक शासन के प्रमुख रूप से चार लक्षण कहे जा सकते हैं : (1) संविधान की सर्वोच्चता, (2) संविधान के द्वारा केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों में शक्तियों का विभाजन, (3) लिखित और कठोर संविधान, (4) स्वतन्त्र उच्चतम न्यायालय। भारतीय संविधान में संघात्मक शासन के ये सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं।

(1) संविधान की सर्वोच्चता—यद्यपि भारतीय संविधान में संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भांति यह घोषित नहीं किया गया है कि संविधान सर्वोच्च होगा, लेकिन फिर भी भारतीय संविधान इस देश का सर्वोच्च कानून है। इस संविधान की व्यवस्थाएं केन्द्रीय सरकार और सभी राज्य सरकारों पर बन्धनकारी हैं और किसी भी सरकार द्वारा इनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। संविधान की व्यवस्थाओं के विरुद्ध किसी प्रकार के कानून का निर्माण सम्भव नहीं है और भारत के राष्ट्रपति, राज्यपाल व अन्य पदाधिकारियों द्वारा संविधान के अनुसार कार्य करने की शपथ ली जाती है। संक्षेप में, इस देश में कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नहीं है।

(2) शक्तियों का विभाजन—विश्व के अन्य संघात्मक संविधानों की तरह भारतीय संविधान द्वारा भी संघ और राज्यों के बीच शक्ति-विभाजन किया गया है। संघीय सूची में 97 विषय हैं जिन पर संघीय शासन को क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। राज्य सूची के विषयों की संख्या 66 है। ये विषय सामान्य परिस्थितियों में राज्य सरकारों के अधिकार में हैं। समवर्ती सूची के विषयों की संख्या 47 है। जिन पर संघ तथा राज्य दोनों को क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। संघीय और राज्य सरकारों के बीच शक्ति-विभाजन का उल्लेख भारतीय संविधान में अन्य किसी भी संघात्मक संविधान की तुलना में अधिक व्यापक रूप में किया गया है।

मूल संविधान द्वारा केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों (राज्य सरकार) के बीच जो शक्ति-विभाजन किया गया, उसमें '42वें संवैधानिक संशोधन, 1976' द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्य सूची के चार विषय (शिक्षा, वन, वन्य जीव-जन्तुओं और पक्षियों का रक्षण और नाप-तौल) समवर्ती सूची में कर दिये गये और समवर्ती सूची में एक नवीन विषय 20 क, 'जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन' जोड़ा गया है।

42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा की गई इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप गणना की दृष्टि से राज्य सूची के विषयों की संख्या घटकर 62 रह गई है और समवर्ती सूची के विषयों की संख्या बढ़कर 52 हो गई है। लेकिन यह स्थिति मात्र गणना की दृष्टि से है, संविधान के अध्ययन के अन्तर्गत गणना की तुलना में अधिक महत्व संवैधानिक दृष्टि का होता है, संवैधानिक दृष्टि से आज भी संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के विषयों की संख्या क्रमशः 97, 66 और 47 ही बनी हुई है। समवर्ती सूची में जो विषय बढ़ाये गये हैं, उनका उल्लेख संविधान के संशोधित अधिकृत पाठ में इस प्रकार है : 17 क वन; 17 ख वन्य जीव-जन्तुओं और पक्षियों का संरक्षण; 20 क जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन; 25 क शिक्षा; 33 क बांट और नाप-तौल। इसी प्रकार राज्य सूची से विषय क्रमांक 19, 20, 29 और 36 निकाल दिये गये हैं लेकिन इससे राज्य सूची के विषयों की क्रमसंख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। भारत सरकार के विधि और न्याय विभाग द्वारा प्रकाशित संविधान में (1982 और उसके बाद

1992 तथा 1996 में प्रकाशित संविधान के अधिकृत पाठ और अन्य सभी प्रकाशनों में) संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची के विषयों की संख्या क्रमशः 97, 66 और 47 ही बतलायी गयी है और यही सही स्थिति है। संघीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में विषयों की संख्या तो पहले के समान क्रमशः 97, 66 और 47 बनी हुई है, लेकिन संविधान लागू होने के बाद से ही और विशेषतया 42वें संवैधानिक संशोधन से संघीय सरकार का कार्यक्षेत्र बढ़ा है और राज्य सरकारों का कार्यक्षेत्र कम हुआ है।

(3) लिखित और कठोर संविधान—भारतीय संविधान एक लिखित संविधान है और संविधान के संशोधन की दृष्टि से कठोर भी है, क्योंकि इस संविधान में साधारण कानून बनाने की पद्धति से भिन्न पद्धति के आधार पर ही परिवर्तन किया जा सकता है।

(4) स्वतन्त्र उच्चतम न्यायालय—भारतीय संविधान के द्वारा संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करने के लिए एक स्वतन्त्र उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गयी है। संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की स्थापना की है, जिन्हें संघीय संसद या राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा पारित किसी भी ऐसे कानून को अवैधानिक घोषित करने का अधिकार प्राप्त है, जो संविधान की व्यवस्थाओं के विरुद्ध हों। न्यायालय की यह व्यवस्था संघात्मक शासन के पूर्णतया अनुकूल है।

संविधान की उपर्युक्त व्यवस्थाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक पूर्ण संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करता है।

भारतीय संविधान के एकात्मक लक्षण अथवा भारतीय संघ की विशेषताएं

(UNITARY FEATURES OF INDIAN CONSTITUTION OR SALIENT FEATURES OF THE INDIAN FEDERATION)

भारत एक अत्यन्त विशाल और विविधतापूर्ण देश होने के कारण संविधान-निर्माताओं के द्वारा भारत में संघात्मक शासन की स्थापना करना उपयुक्त समझा गया लेकिन संविधान-निर्माता भारतीय इतिहास के इस तथ्य से भी परिचित थे कि भारत में जब-जब केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गयी, तब-तब भारत की एकता भंग हो गयी और उसे पराधीन होना पड़ा। संविधान-निर्माता यह नहीं चाहते थे कि इतिहास अपने आपको दोहराये। इसके अतिरिक्त, संविधान-निर्माता इस बात से भी परिचित थे कि वर्तमान समय के सभी संघात्मक राज्यों में विविध उपायों से केन्द्रीय सत्ता को पहले से अधिक शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। अतः संघात्मक व्यवस्था को अपनाते हुए भी संविधान-निर्माताओं ने केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाना उचित समझा। अतः भारतीय संविधान द्वारा स्थापित संघात्मक व्यवस्था में अनेक एकात्मक लक्षणों को भी यथास्थान देखा जा सकता है। इन्हें ही भारतीय संघ की विशेषताएं कहा जा सकता है। संविधान के ये एकात्मक लक्षण प्रमुख रूप से निम्न हैं :

(1) शक्ति का विभाजन केन्द्र के पक्ष में—भारतीय संविधान द्वारा संघ और राज्यों के बीच शक्ति-विभाजन तो किया गया है, लेकिन शक्ति-विभाजन की इस सम्पूर्ण योजना में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक प्रबल है। इस शक्ति-विभाजन का रूप है : केन्द्रीय सूची में 97 विषय, राज्य सूची में 66 विषय एवं समवर्ती सूची में 47 विषय। समवर्ती सूची के विषयों पर संघ और राज्य दोनों को ही कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है लेकिन इन दोनों द्वारा निर्मित कानून में पारस्परिक विरोध की स्थिति में संघीय सरकार के कानून ही मान्य

होंगे। इस प्रकार संघीय सरकार को राज्य सरकारों की तुलना में बहुत अधिक शक्तियां प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा, जल-थल और वायुशक्ति, रेलवे, मुद्रा और वैदेशिक सम्बन्ध आदि सभी महत्वपूर्ण विषय अकेली संघीय सरकार के अधिकार में हैं और कनाडा के संघ की तरह अवशेष शक्तियां भी केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हैं। इन सब बातों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संविधान द्वारा किया गया शक्ति-विभाजन निश्चित रूप से केन्द्रीय सरकार के पक्ष में है।

(2) **इकहरी नागरिकता**—संघात्मक शासन में साधारणतया संघ की नागरिकता के साथ-साथ राज्यों की नागरिकता की भी व्यवस्था की जाती है, किन्तु भारतीय संविधान दोहरी नागरिकता की इस शर्त को पूरा नहीं करता। भारत में संयुक्त राज्य अमरीका, आदि राज्यों की तरह दोहरी नागरिकता नहीं, वरन् एक ही भारतीय नागरिकता की व्यवस्था है। इकहरी नागरिकता की यह व्यवस्था भारत की एकता को बनाये रखने की दृष्टि से उचित होते हुए भी उसे संघात्मक शासन के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं कहा जा सकता।

(3) **संघ और राज्यों के लिए एक ही संविधान**—साधारणतया संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यों के संविधान संघ से पृथक् होते हैं, लेकिन भारत में भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघ के संविधान के साथ-साथ राज्यों के संविधान भी सम्मिलित हैं। भारतीय संघ की इकाइयों को अमरीकी संघ की इकाइयों की तरह अपने अलग-अलग संविधान के निर्माण का अधिकार नहीं है।

(4) **एकीकृत न्याय-व्यवस्था**—संघात्मक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण लक्षण संघीय और राज्य के कानूनों को लागू करने के लिए दोहरी न्याय-व्यवस्था है। लेकिन भारतीय संघ में अमरीका या ऑस्ट्रेलिया के संघ की तरह दोहरी न्याय-व्यवस्था का प्रबन्ध करने के स्थान पर न्यायपालिका को बहुत अधिक सीमा तक एकीकृत कर दिया गया है। राज्यों के उच्च न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय की ही शाखाएं हैं; सर्वोच्च न्यायालय को उन उच्च न्यायालयों पर व्यापक क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया है और उच्च न्यायालयों का निर्माण तथा गठन संघीय सत्ता के द्वारा ही किया जाता है। देहली स्थित सर्वोच्च न्यायालय देश की सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था के शिखर पर स्थित है और यह केवल एक संघीय न्यायालय ही नहीं, वरन् सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय भी है।

(5) **संसद राज्यों की सीमाओं के परिवर्तन में समर्थ**—अमरीका या ऑस्ट्रेलिया के संघ में राज्य की सीमाओं में उनकी सहमति के बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता और इसे संघात्मक व्यवस्था का एक आवश्यक सिद्धान्त समझा जाता है किन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि उसके द्वारा वर्तमान राज्यों के क्षेत्र में कमी या वृद्धि की जा सकती है, राज्यों के नामों में परिवर्तन किया जा सकता है अथवा दो या अधिक राज्यों को मिलाकर किसी नवीन राज्य का निर्माण किया जा सकता है।

(6) **भारतीय संविधान संकटकाल में एकात्मक**—भारतीय संविधान में एकात्मकता का यह एक ऐसा लक्षण है, जो साधारणतया अन्य किसी भी संघात्मक व्यवस्था में नहीं मिलता। संघात्मक व्यवस्थाएं शान्तिकाल और संकटकाल दोनों में ही संघात्मक बनी रहती हैं, लेकिन भारतीय संविधान की विशेषता यह है कि सामान्य काल में तो यह संघात्मक बना रहेगा लेकिन संकट के समय इसे बिना किसी प्रकार के औपचारिक संशोधन के एकात्मक व्यवस्था का रूप दिया जा सकता है। संकटकाल की घोषणा के क्रियाशील रहने के समय संघीय

संसद के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर भी कानूनों का निर्माण किया जा सकेगा और संघीय शासन के द्वारा राज्य सरकारों को उनके निश्चित क्षेत्र में भी आवश्यक निर्देश दिये जा सकेंगे। इस प्रकार संकटकाल में राज्यों की स्वतन्त्रता का पूर्णतया अन्त हो जायेगा।

(7) सामान्य काल में भी संघ की असाधारण शक्तियाँ—भारतीय संविधान संकटकाल में तो एकात्मक हो ही जाता है, संविधान के द्वारा सामान्य काल में भी संघीय सरकार को असाधारण शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्य सभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करके राष्ट्रीय हित में अल्पकाल के लिए संघीय संसद को राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार दे सकती है। अनुच्छेद 250 के अनुसार संघीय संसद को इस प्रकार का अधिकार दो या अधिक राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा प्रस्ताव पास करके भी दिया जा सकता है, इसके अतिरिक्त किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते के पालन के लिए भी संघ के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर विधि निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार संघ को सामान्य काल में भी राज्य सूची के विषयों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त है जो निश्चित रूप से एकात्मक शासन-व्यवस्था का ही एक लक्षण है।

(8) मूलभूत विषयों में एकरूपता—सामान्यतया संघात्मक राज्यों में दोहरा कानूनी प्रशासन तथा दोहरी न्यायिक व्यवस्था होती है, किन्तु भारत में उन समस्त मूलभूत विषयों के सम्बन्ध में जो राष्ट्र की एकता बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं, एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन उपाय बताये गये हैं : (क) न्यायपालिका का एकीकृत ढांचा, (ख) सारे देश में फौजदारी और दीवानी कानूनों में समानता, (ग) संघ और विभिन्न राज्यों के प्रमुख पदों के लिए सामान्य अखिल भारतीय सेवाएँ।

इसी प्रकार सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही चुनाव आयोग तथा वित्तीय प्रशासन के लिए एक ही 'नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक' के पद की व्यवस्था है।

(9) राज्यों के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा—संयुक्त राज्य अमरीका में राज्य के गवर्नर का चुनाव राज्य की जनता के द्वारा किया जाता है लेकिन भारत में राज्यों के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और राज्यपाल बहुत कुछ सीमा तक राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में ही कार्य करता है। राज्यपाल की नियुक्ति और कार्य की यह विधि संघात्मक सिद्धान्तों के विरुद्ध ही है।

(10) राज्य सभा में इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व नहीं—संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया और अन्य संघात्मक राज्यों में संघ की छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को संघीय व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, लेकिन भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य सभा में इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया है। भारतीय संविधान में इकाइयों की समान स्थिति को स्वीकार न किये जाने के कारण भी इसे संघात्मक व्यवस्था के अनुरूप नहीं कहा जा सकता है।

(11) आर्थिक दृष्टि से राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता—राज्य वित्तीय दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के स्थान पर केन्द्र पर निर्भर है। केन्द्र के द्वारा राज्यों को विभिन्न प्रकार के अनुदान, आदि दिये जाते हैं और आर्थिक सहायता के कारण केन्द्र राज्यों पर छाया रहता है। वित्तीय क्षेत्र में आत्मनिर्भर न होने के कारण राज्यों की स्वतन्त्रता नाममात्र की ही है।

(12) संविधान के संशोधन में संघ को अधिक शक्ति प्राप्त होना—संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्ध भी राज्य सरकारों पर संघ की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर बल देते हैं।

संविधान के अनेक उपबन्धों को तो संघीय संसद के द्वारा साधारण कानूनों के निर्माण की प्रक्रिया से ही संशोधित किया जा सकता है और दूसरे कुछ महत्वपूर्ण उपबन्धों को अकेली संघीय संसद के दोनों सदनों द्वारा अपने दो-तिहाई बहुमत से संशोधित किया जा सकता है। संविधान के केवल कुछ ही ऐसे उपबन्ध हैं, जिनके संशोधन के लिए आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति भी आवश्यक होती है। राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा संवैधानिक संशोधन का कोई विधेयक प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अन्य किसी भी संघ के राज्यों की तुलना में भारतीय संघ के राज्यों को संवैधानिक संशोधन की बहुत कम शक्ति प्राप्त है।

(13) अन्तर्राज्य परिषद् और क्षेत्रीय परिषदें—संविधान के अनुच्छेद 263 के अनुसार राष्ट्रपति को अन्तर्राज्य परिषद् की नियुक्ति का अधिकार है जिसका कार्य राज्यों के आपसी विवादों की जांच करना और सामान्य हित के विषयों पर विचार करना होगा। इसके अलावा 1957 के 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम' के अन्तर्गत 'क्षेत्रीय परिषदों' (Zonal Councils) की स्थापना की गयी थी और 1971 में उत्तरी-पूर्वी सीमा के 5 राज्यों और 2 संघीय क्षेत्रों के लिए 'पूर्वोत्तर सीमान्त परिषद्' की स्थापना की गयी है। 1990 में अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना भी की गई। वास्तव में अन्तर्राज्य परिषद् और क्षेत्रीय परिषदें राज्यों के कार्य में समन्वय की दिशा में ही उठाये गये कदम हैं।

(14) भारतीय संघ में केन्द्रशासित प्रदेश—भारतीय संघ में दो प्रकार की इकाइयां हैं—(क) राज्य, और (ख) केन्द्रशासित क्षेत्र। वर्तमान समय में 7 केन्द्रशासित क्षेत्र (संघीय क्षेत्र) हैं। संघ के राज्यों को तो राज्य सूची के विषयों पर लगभग पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं किन्तु केन्द्रशासित क्षेत्रों के सम्बन्ध में केन्द्र को नियन्त्रण की प्रभावशाली शक्तियां प्राप्त हैं। संसद को इन क्षेत्रों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है और इन क्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त प्रशासक द्वारा करता है। इन केन्द्रशासित क्षेत्रों के सम्बन्ध में डॉ. महादेव शर्मा ठीक ही लिखते हैं कि "वास्तव में इन प्रदेशों का केन्द्र के साथ वही सम्बन्ध है जो किसी एकात्मक राज्यों के उपखण्डों का उसकी केन्द्रीय सरकार के साथ होता है।"²

(15) योजना आयोग—उपर्युक्त संवैधानिक तत्वों के अलावा संविधान के बाहर एक तत्व 'योजना आयोग' ने बहुत अधिक केन्द्रवादी तत्व के रूप में कार्य किया है। योजना आयोग ने केन्द्रीय सूची और राज्य सूची के विभिन्न विषयों पर योजनाओं का निर्माण करते हुए राज्य सरकारों के कार्य-संचालन पर बहुत अधिक नियन्त्रण रखा है और कुछ सीमा तक राज्य सरकारों एक एकात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय प्रशासन की इकाइयां बनकर रह गयी हैं। के. बी. राव इस स्थिति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "केन्द्र ही योजना बनाता है, केन्द्र ही निर्णय लेता है, केन्द्र ही निर्देश देता है और राज्य योजना आयोग के द्वार पर दान के लिए प्रतीक्षा करने के अलावा और कोई सकारात्मक कार्य करने के योग्य नहीं हैं।"

इस प्रकार यद्यपि भारतीय संविधान में संघीय शासन के सभी लक्षण मिलते हैं फिर भी अनेक दृष्टियों से यह संघीय सिद्धान्तों से भिन्न है और एकात्मक व्यवस्था की स्थापना करता है। अनेक विचारकों द्वारा इस प्रकार का मत व्यक्त किया गया है कि भारतीय संविधान केवल देखने में ही संघीय है, वास्तव में यह एकात्मक है। प्रो. व्हीयर (Wheare) का मत है

1 अब इन दो संघीय क्षेत्रों—मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश को राज्य की स्थिति प्राप्त हो गयी है।

2 M. P. Sharma, *The Government of Indian Republic*, p. 91.

कि “भारतीय संविधान एक ऐसी शासन प्रणाली की स्थापना करता है जो अधिक-से-अधिक अर्धसंघीय है। यह एक ऐसे एकात्मक राज्य की स्थापना करता है जिसमें संघात्मक शासन के लक्षण गौण रूप से हों।”¹ डॉ. कृष्ण सी. मुखर्जी का मत है कि “भारतीय संविधान असंघीय अथवा एकात्मक है।” श्री दुर्गादास बसु का मत है कि “भारतीय संविधान न तो नितान्त संघात्मक है और न ही एकात्मक, वरन् यह दोनों का मिश्रण है।”

वास्तव में, उपर्युक्त विचारकों द्वारा भारतीय संविधान के संघात्मक स्वरूप की जो आलोचनाएं की गयी हैं वे उचित नहीं हैं। यद्यपि संविधान में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्यों का अपना कोई अस्तित्व नहीं है या उनका स्थान शासन पद्धति में केवल नगरपालिकाओं के समान है। संविधान द्वारा राज्यों के अस्तित्व को उचित सम्मान प्रदान किया गया है। राज्यों का अपना कार्य-क्षेत्र है जिसमें वे सामान्यतया स्वतन्त्र और सर्वोच्च हैं। इसी कारण डॉ. अम्बेदकर ने संविधान-निर्मात्री सभा में कहा था, “इस आधार पर बड़ा गम्भीर दोषारोपण किया गया है कि केन्द्रीकरण की मात्रा बहुत ही अधिक हो गयी है और राज्यों का स्थान नगरपालिकाओं के समान कर दिया गया है। स्पष्ट ही है कि यह विचारधारा न केवल एक अतिशयोक्ति है अपितु यह संविधान के लक्ष्य के प्रतिकूल एक भ्रमपूर्ण धारणा पर आधारित है।”²

वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि भारतीय संविधान में संघात्मक शासन-व्यवस्था के सिद्धान्त का पूर्ण पालन नहीं किया गया है और इसमें एकात्मक शासन के कुछ लक्षण विद्यमान हैं, लेकिन इस कारण से भारतीय संविधान को एकात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना करने वाला संविधान नहीं कहा जा सकता है। संविधान का निर्माण करते समय संविधान-निर्माताओं के मस्तिष्क में सदा ही दो उच्चतम आदर्श रहे : राष्ट्रीय हित और देश की एकता। इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए ही संविधान द्वारा स्थापित संघात्मक व्यवस्था में एकात्मक शासन के लक्षणों को अपना लिया गया है। संविधान निर्माण के समय भारत में जो विघटनकारी प्रवृत्तियां विद्यमान थीं उन्होंने संविधान-निर्माताओं को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे भारत की एकता को बनाये रखने के लिए आवश्यक प्रबन्ध कर लें। वस्तुतः अमरीका में संघात्मक व्यवस्था को अपनाने के बाद से ही संघात्मक व्यवस्था की कुछ कमजोरियां प्रकाश में आयी हैं और भारतीय संविधान में कुछ एकात्मक लक्षणों को अपनाकर इन कमजोरियों को ही दूर करने का प्रयास किया गया है, अतः भारतीय संविधान-निर्माताओं द्वारा एकात्मकता के इन लक्षणों को अपनाकर संघात्मकता को नष्ट नहीं किया गया, वरन् संविधान की संघात्मकता के साथ व्यावहारिकता का समन्वय किया गया है। संविधान के कुछ एकात्मक लक्षण अवश्य हैं, लेकिन ये एकात्मक लक्षण गौण रूप में हैं और संविधान मूल रूप से संघात्मक ही है। श्री सन्थानम् का विचार ठीक ही है कि “भारतीय संविधान में संघात्मक लक्षण इतने अधिक प्रमुख रूप में विद्यमान हैं कि यह एक वास्तविक संघात्मक संविधान है।”

1 “The Indian Constitution established indeed a system of Government which is at most, quasi-federal almost devolutionary in character, a unitary state with subsidiary federal features rather a federal state with subsidiary unitary features.”
 —M. C. Wheare

2 *Indian Journal of Political Science*, July-Sept. 1953, Vol. XII, p. 172.

संघ व राज्यों में सम्बन्ध

(RELATIONS BETWEEN UNION AND THE STATES)

संविधान के द्वारा भारत में एक संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है और संघात्मकता के अनुकूल संघ और इकाइयों के बीच शक्ति का विभाजन किया गया है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत संघ और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है—विधायी सम्बन्ध, प्रशासनिक सम्बन्ध और वित्तीय सम्बन्ध।

विधायी सम्बन्ध (Legislative Relations)

संघ व राज्यों के विधायी सम्बन्धों का संचालन उन तीन सूचियों के आधार पर होता है, जिन्हें संघ सूची (Union list), राज्य सूची (State list) व समवर्ती सूची (Concurrent list) का नाम दिया गया है।

संघीय सूची—इस सूची में राष्ट्रीय महत्व के ऐसे विषयों को रखा गया है जिनके सम्बन्ध में सम्पूर्ण देश में एक ही प्रकार की नीति का अनुकरण आवश्यक कहा जा सकता है। इस सूची के सभी विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार संघीय संसद को प्राप्त है। इस सूची में कुल 97 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—रक्षा, वैदेशिक मामले, युद्ध व सन्धि, देशीकरण और नागरिकता, विदेशियों का आना-जाना, रेल, बन्दरगाह, हवाई मार्ग, डाक, तार, टेलीफोन व बेतार, मुद्रा निर्माण, बैंकिंग, बीमा, खानें व खनिज, आदि।

राज्य सूची—इस सूची में साधारणतया वे विषय रखे गये हैं जो क्षेत्रीय महत्व के हैं। इस सूची के विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार सामान्यतया राज्यों की व्यवस्थापिका को प्राप्त है। इस सूची में 66 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख विषय हैं : पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई और सड़कें आदि।

समवर्ती सूची—औपचारिक रूप में और कानूनी दृष्टि से इन तीनों सूचियों के विषयों की संख्या वही बनी हुई है, जो मूल संविधान में थी। लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्य सूची के चार विषय (शिक्षा, वन, जंगली जानवर, पक्षियों की रक्षा तथा नाप-तौल) समवर्ती सूची में सम्मिलित कर दिये गये और समवर्ती सूची में एक नवीन विषय 'जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन' शामिल किया गया। इस प्रकार आज स्थिति यह है कि गणना की दृष्टि से समवर्ती सूची के विषयों की संख्या 52 हो गयी है, लेकिन संवैधानिक दृष्टि से समवर्ती सूची के विषयों की संख्या आज भी 47 ही है। इस सूची में साधारणतः वे विषय रखे गये जिनका महत्व क्षेत्रीय और संघीय दोनों ही दृष्टि से है। इस सूची के विषय पर संघ तथा राज्य दोनों को ही विधियां बनाने का अधिकार प्राप्त है। यदि इस सूची के किसी विषय पर संघीय तथा राज्य सरकार द्वारा निर्मित कानून परस्पर विरोधी हों तो सामान्यतः संघ का कानून मान्य होगा। इस सूची में कुल 47 विषय हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं : फौजदारी विधि तथा प्रक्रिया, निवारक निरोधक, विवाह और विवाह-विच्छेद, दत्तक और उत्तराधिकार, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, आर्थिक और सामाजिक योजना, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, पुनर्वास और पुरातत्व, जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन, शिक्षा और वन, आदि।

संयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैण्ड और ऑस्ट्रेलिया में अवशेष विषय के सम्बन्ध में कानून निर्माण का अधिकार इकाइयों को प्रदान किया गया है, लेकिन भारतीय संघ में

कनाडा के संघ की तरह अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति संघीय सरकार को प्रदान की गयी है।

संसद को राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति—सामान्यतया संविधान द्वारा किये गये इस शक्ति-विभाजन का उल्लंघन किसी भी सत्ता द्वारा नहीं किया जा सकता। संसद द्वारा राज्य सूची के किसी विषय पर और किसी राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा केन्द्रीय सूची के किसी विषय पर निर्मित कानून अवैध होगा। लेकिन राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संसद के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी कानून का निर्माण किया जा सकता है। ये विशेष परिस्थितियाँ निम्न प्रकार हैं :

(1) **राज्य सूची का विषय राष्ट्रीय महत्व का घोषित होने पर**—संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार यदि राज्य सभा अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है कि राज्य सूची का कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का है तो संसद को उस विषय पर विधि बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(2) **राज्य के विधानमण्डलों द्वारा इच्छा प्रकट करने पर**—यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास कर इच्छा व्यक्त करते हैं कि राज्य सूची के किन्हीं विषयों पर संसद द्वारा कानून निर्माण किया जाय तो उन राज्यों के लिए उन समस्त विषयों पर अधिनियम बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में राज्यों के विधानमण्डल न तो इन कानूनों में संशोधन कर सकते हैं और न इन्हें पूर्ण रूप से समाप्त कर सकते हैं।

(अनुच्छेद 252)

(3) **संकटकालीन घोषणा लागू होने पर**—संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्य की समस्त विधायी शक्तियों पर भारतीय संसद का अधिकार हो जाता है। इस घोषणा की समाप्ति के 6 माह बाद तक संसद द्वारा निर्मित नियम पूर्ववत् चलते रहेंगे।

(अनुच्छेद 250)

(4) **विदेशी राज्यों से हुई सन्धि के पालन हेतु**—यदि संघ सरकार ने विदेशी राज्यों से कोई सन्धि की है तो इस सन्धि के पालन हेतु संघ सरकार को सम्पूर्ण भारत की सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी विषय पर नियम निर्माण का अधिकार होगा।

(अनुच्छेद 253)

(5) **राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने पर**—यदि किसी राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जाय या संवैधानिक तन्त्र विफल हो जाय तो राष्ट्रपति राज्य विधानमण्डल के समस्त अधिकार संसद को प्रदान कर सकता है।

(अनुच्छेद 356)

(6) **कुछ विधेयकों को राज्य विधानमण्डल में प्रस्तावित करने हेतु केन्द्र की अनुमति आवश्यक**—उपर्युक्त परिस्थितियों में तो संसद के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानून का निर्माण किया ही जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी राज्य व्यवस्थापिका की राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति सीमित है। अनुच्छेद 304 (ख) के अनुसार कुछ विधेयक ऐसे होते हैं, जिनके राज्य विधानमण्डल में प्रस्तावित किये जाने के पूर्व राष्ट्रपति की पूर्व-स्वीकृति की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, वे विधेयक जिनके द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से उस राज्य के अन्दर या उससे बाहर व्यापार-वाणिज्य या मेल-जोल पर कोई प्रतिबन्ध लगाये जाते हों।

(7) **राज्यपाल द्वारा विधेयक रक्षित करना**—राज्य के राज्यपाल को यह शक्ति प्राप्त है कि वह राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित कर सकता है। राज्य द्वारा सम्पत्ति के अधिग्रहण, आदि से सम्बन्धित कुछ विधेयक

ऐसे हैं जिन्हें राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति अपने विवेक के अनुसार विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार करेंगे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संविधान द्वारा साधारणतया संघ तथा राज्य सरकारों को अलग-अलग विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति प्रदान की गयी है लेकिन विशेष परिस्थितियों में संघ सरकार द्वारा राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण किया जा सकता है।

प्रशासनिक सम्बन्ध (Administrative Relations)

श्री दुर्गादास बसु के शब्दों में, “संघीय व्यवस्था की सफलता और दृढ़ता संघ की विविध सरकारों के बीच अधिकाधिक सहयोग तथा समन्वय पर निर्भर करती है।” भारतीय संविधान-निर्माता इस तथ्य से परिचित थे। इसी कारण प्रशासनिक सम्बन्धों की व्यवस्था करते हुए जहां राज्यों को अपने-अपने क्षेत्र में सामान्यतः स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है वहां इस बात का ध्यान रखा गया है कि राज्यों के प्रशासनिक तन्त्र पर संघ का नियन्त्रण बना रहे और संघ तथा राज्यों के बीच संघर्ष की सम्भावना कम-से-कम हो जाय। राज्य सरकारों पर संघीय शासन के नियन्त्रण की व्यवस्था निम्नलिखित उपायों के आधार पर की गयी है :

(1) राज्य सरकारों को निर्देश—केन्द्र द्वारा राज्यों को निर्देश सामान्यतया संघीय व्यवस्था के अनुकूल नहीं समझे जाते हैं, लेकिन भारतीय संघ में केन्द्र द्वारा राज्य सरकारों को निर्देश देने की व्यवस्था की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 256 में स्पष्ट कहा गया है कि “प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार होगा कि संसद द्वारा निर्मित कानूनों का पालन सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा, जो उस प्रयोजन के लिए भारत सरकार को आवश्यक दिखायी दे” (अनुच्छेद 256)

अनुच्छेद 257 में कहा गया है कि “प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए कि संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में बाधा या प्रतिकूल प्रभाव न पड़े तथा इस सम्बन्ध में संघ की कार्यपालिका द्वारा राज्य को निर्देश दिये जा सकेंगे।”

(2) राज्य सरकारों को संघीय कार्य सौंपना—संघीय सरकार राज्य सरकारों को कोई भी कार्य सौंप सकती है। यदि राज्यों की सरकार या उसके अधिकारी उसे पूरा न करें, तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर राज्य का शासन अपने हाथों में ले ले।

(3) अखिल भारतीय सेवाएं—संविधान संघ तथा राज्य सरकारों के लिए अलग-अलग सेवाओं की व्यवस्था करता है, लेकिन कुछ ऐसी सेवाओं की भी व्यवस्था है जो संघ तथा राज्य सरकारों दोनों के लिए सामान्य हैं। इन्हें अखिल भारतीय सेवाएं कहते हैं और इन सेवाओं के अधिकारियों पर संघीय सरकार का विशेष नियन्त्रण रहता है।

(4) सहायता अनुदान—संघीय शासन राज्यों को आवश्यकतानुसार सहायता व अनुदान भी दे सकता है। अनुदान देते समय संघ राज्यों पर कुछ शर्तें लगाकर उसके व्यय को भी नियन्त्रित कर सकता है।

(5) अन्तर्राज्यीय नदियों पर नियन्त्रण—संसद को अधिकार है कि वह विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यीय नदी अथवा इसके जल का प्रयोग, वितरण या नियन्त्रण के सम्बन्ध में व्यवस्था करे।

(6) अन्तर-राज्य परिषद् (Inter-State Council) की स्थापना (जून 1990)—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 263 में एक ‘अन्तर-राज्य परिषद्’ की स्थापना का प्रावधान किया गया

है और राजमन्त्रार आयोग, प्रशासनिक सुधार आयोग तथा सबसे अन्त में सरकारिया आयोग, जिसने नवम्बर 1987 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की; इन सबने अपनी सिफारिशों में इस बात पर बल दिया कि अन्तर-राज्य परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए, लेकिन व्यवहार में मई 1990 तक अन्तर-राज्य परिषद् की स्थापना नहीं की गयी थी। इस परिषद् की स्थापना जून 1990 में की गयी है।

रचना—प्रधानमन्त्री इस परिषद् का अध्यक्ष होगा तथा राष्ट्रपति द्वारा इस परिषद् में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के 6 सदस्यों को मनोनीत किया जायेगा। इसके अतिरिक्त, सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों के मुख्यमन्त्री इस समिति के 'पदेन सदस्य' होंगे। यह परिषद् संघीय व्यवस्था और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के सुचारु संचालन हेतु एक विचार-मंच का कार्य करेगी। परिषद् के दिन-प्रतिदिन के कार्य हेतु एक स्थायी सचिवालय की स्थापना की गयी है।

(7) **संचार साधनों की रक्षा**—समस्त भारतीय संघ के संचार साधनों की रक्षा का भार भी संघीय सरकार पर ही है। संघ सरकार राज्यों के अन्तर्गत हवाई अड्डों, रेलों तथा अन्य राष्ट्रीय महत्व के आवागमन और संचार साधनों की रक्षा के लिए राज्य सरकारों को आवश्यक आदेश दे सकती है जिनका पालन राज्य सरकारों के लिए आवश्यक है। इन आदेशों के पालन में राज्य सरकारों को जो अतिरिक्त खर्च उठाना पड़ेगा, वह संघ सरकार राज्य को देगी।

(8) **राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति**—इन सबके अतिरिक्त राज्य सरकारों पर संघीय शासन के नियन्त्रण का एक प्रमुख उपाय यह है कि प्रधानमन्त्री के परामर्श से राष्ट्रपति राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति करता है जो वहां राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं।

(9) **मुख्यमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों के विरुद्ध आरोपों की जांच**—यदि किसी राज्य के मुख्यमन्त्री या अन्य मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार या अन्य किसी प्रकार के आरोप लगाये जाते हैं तो इस प्रकार का आरोप-पत्र कार्यवाही के लिए राष्ट्रपति को दिया जाता है और केन्द्रीय सरकार को ही इस बात के सम्बन्ध में निर्णय लेने का अधिकार है कि इन आरोपों की न्यायिक जांच करवानी चाहिए अथवा नहीं। आरोप सिद्ध हो जाने पर केन्द्रीय सरकार सम्बन्धित मन्त्रियों को पद छोड़ने के लिए कह सकती है। पंजाब के मुख्यमन्त्री कैरो और उड़ीसा के मुख्यमन्त्री वीरेन मित्रा को न्यायिक जांच में दोषी पाये जाने पर ही त्यागपत्र देना पड़ा था।

(10) **राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करना**—इन सबके अलावा संविधान के अनुच्छेद 356 में कहा गया है कि यदि किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र भंग हो जाता है तो राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर या अपने विवेक से राष्ट्रपति द्वारा उस राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राज्य में संवैधानिक तन्त्र भंग हुआ है अथवा नहीं; इस सम्बन्ध में निर्णय लेने की शक्ति राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्रीय शासन को ही प्राप्त है और राष्ट्रपति शासन की यह बड़ी छड़ी राज्यों को केन्द्र के सभी निर्देश मानने के लिए बाध्य करती है।

इस प्रकार प्रशासनिक क्षेत्र में राज्यों पर भारत सरकार का प्रभावदायक नियन्त्रण है। लेकिन इनके साथ यह नहीं भुला दिया जाना चाहिए कि ये प्रावधान बहुत अधिक सावधानीपूर्वक और संकटकाल में ही उपयोग के लिए हैं। सामान्यतया राज्य को कानून निर्माण और प्रशासन के सम्बन्ध में अपने निश्चित क्षेत्र में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होगी।

केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध : संवैधानिक प्रावधान

केन्द्र तथा राज्यों के मध्य राजस्व के साधनों के विभाजन के आधारभूत सिद्धान्त हैं—कार्यक्षमता, पर्याप्तता तथा उपयुक्तता। इन तीनों उद्देश्यों की एक साथ ही प्राप्ति अत्यन्त

कठिन थी, अतः भारतीय संविधान में समझौते की चेष्टा की गयी। संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का निरूपण इस प्रकार किया जाता है :

(1) कर-निर्धारण, शक्ति का वितरण और करों से प्राप्त आय का विभाजन—भारतीय संविधान में वित्तीय प्रावधानों की दो विशेषताएँ हैं : प्रथम, संघ तथा राज्यों के मध्य कर-निर्धारण की शक्ति का पूर्ण विभाजन कर दिया गया है और द्वितीय, करों से प्राप्त आय का बंटवारा होता है।

संघ के प्रमुख राजस्व स्रोत इस प्रकार हैं—निगम कर, सीमा शुल्क, निर्यात शुल्क, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, रेलें, रिजर्व बैंक, शेयर बाजार, आदि। राज्यों के राजस्व स्रोत हैं—प्रति व्यक्ति कर, कृषि भूमि पर कर, सम्पदा शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर, वाहनों पर चुंगी कर, आदि।

संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत तथा विनियोजित किए जाने वाले शुल्कों के उदाहरण हैं। बिल, विनिमयों, प्रोमिसरी नोटों, हुण्डियों, चैकों, आदि पर मुद्रांक शुल्क और दवा, मादक द्रव्य पर कर, शौक-श्रृंगार की चीजों पर कर तथा उत्पादन-शुल्क।

संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले करों के उदाहरण हैं : कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर, कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, रेल, समुद्र, वायु द्वारा लें जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमान्त कर, रेल भाड़ों तथा वस्तु भाड़ों पर कर; शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के आदान-प्रदान पर मुद्रांक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार-पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उसमें प्रकाशित किए गए विज्ञापनों पर और समाचार-पत्रों के अन्य अन्तर्राज्यीय व्यापार तथा वाणिज्य से माल के क्रय-विक्रय पर कर।

कतिपय कर संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किए जाते हैं, पर उनका विभाजन संघ तथा राज्यों के बीच होता है। आय-कर का विभाजन संघीय भू-भागों के लिए निर्धारित निधि तथा संघीय खर्च को काटकर शेष राशि में से किया जाता है। आय-कर के अतिरिक्त दवा तथा शौक-श्रृंगार सम्बन्धी चीजों के अतिरिक्त अन्य चीजों पर लगाया गया उत्पादन शुल्क इसके अन्तर्गत आता है।

(2) सहायता अनुदान तथा अन्य सार्वजनिक उद्देश्य के लिए दिया जाने वाला अनुदान—संविधान के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा राज्यों को चार तरह के सहायक अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था की गयी है। प्रथम, पटसन व उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता है उसमें से कुछ भाग अनुदान के रूप में जूट पैदा करने वाले राज्यों—बिहार, प. बंगाल, असम व उड़ीसा—को दे दिया जाता है। द्वितीय, बाढ़, भूकम्प व सूखाग्रस्त क्षेत्रों में पीड़ितों की सहायता के लिए भी केन्द्रीय सरकार राज्यों को अनुदान दे सकती है। तृतीय, जनजातियों व कबीलों की उन्नति व उनके कल्याण की योजनाओं के लिए सहायक अनुदान दिया जाता है। चतुर्थ, राज्यों को आर्थिक कठिनाइयों से उबारने के लिए केन्द्र राज्यों की वित्तीय सहायता कर सकता है।

(3) ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध—संविधान केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी संचित निधि की साख पर देशवासियों व विदेशी सरकारों से ऋण ले सके। ऋण

लेने का अधिकार राज्यों को भी प्राप्त है, परन्तु वे विदेशों से उधार नहीं ले सकते। यदि किसी राज्य सरकार पर संघ सरकार का कोई कर्ज बाकी है तो राज्य सरकार अन्य कर्ज संघ सरकार की अनुमति से ही ले सकती है। इस प्रकार का कर्ज देते समय संघ सरकार किसी भी प्रकार की शर्तें लगा सकती है।

(4) करों की विमुक्ति—राज्यों द्वारा संघ की सम्पत्ति पर कोई कर तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक संसद विधि द्वारा कोई प्रावधान न कर दे। भारत सरकार या रेलवे द्वारा प्रयोग में आने वाली बिजली पर संसद की अनुमति के अभाव में राज्य किसी प्रकार का शुल्क नहीं लगा सकते। इसी प्रकार संघ सरकार भी राज्य की सम्पत्ति और आय पर कर नहीं लगा सकती।

(5) भारत के नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा नियन्त्रण—भारत के नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक की नियुक्ति केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के परामर्श से राष्ट्रपति करता है। यह भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के हिसाब का लेखा रखने के ढंग और उनकी निष्पक्ष रूप से जांच करता है। नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संसद राज्यों की आय पर अपना नियन्त्रण रखती है।

(6) वित्तीय संकटकाल—वित्तीय संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्यों की आय सीमा राज्य सूची में चर्चित करों तक ही सीमित रहती है। वित्तीय संकट के प्रवर्तन काल में राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधानों को स्थगित करने का अधिकार है जो सहायता अनुदान अथवा संघ के करों से आय में भाग बंटाने से सम्बन्धित हों। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देश भी दे सकती है।

वित्त आयोग (Finance Commission)

संविधान के अनुच्छेद 280 के अनुसार, राष्ट्रपति पहली बार संविधान लागू होने के दो वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् प्रत्येक पांच वर्ष की समाप्ति पर या उससे पहले ऐसे समय पर, जिसे वह आवश्यक समझे, एक वित्त आयोग की नियुक्ति करेगा। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त इस आयोग में एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य होंगे। वित्त आयोग अपनी प्रक्रिया स्वयं निर्धारित करेगा तथा अपने कार्यों के पालन में उसे ऐसी शक्तियां प्राप्त होंगी, जो संसद विधि द्वारा उसे प्रदान करे।

कार्य—आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह निम्न विषयों पर राष्ट्रपति को सिफारिश करे :

(1) आय कर और अन्य करों से प्राप्त राशि का केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच किस अनुपात में बंटबारा किया जाए।

(2) 'भारत के संचित कोष' से राज्यों के राजस्व में सहायता देने के क्या सिद्धान्त हों।

(3) सुदृढ़ वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे गए किसी अन्य विषय के बारे में आयोग राष्ट्रपति को सिफारिश करेगा।

संविधान के अनुच्छेद 281 के अनुसार राष्ट्रपति संविधान के उपबन्धों के अधीन वित्त आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश को उस पर की गई कार्यवाही के व्याख्यात्मक ज्ञापन सहित, संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा।

। पिछले वर्षों में राज्य सरकारें निरन्तर यह कहती रही हैं कि केन्द्र सरकार द्वारा उन्हें अधिक वित्तीय साधन प्रदान किए जाने चाहिए। सातवें, आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें वित्त आयोग ने केन्द्र द्वारा राज्यों को दिए जाने वाले वित्तीय अनुदानों में वृद्धि के सुझाव दिए और केन्द्र सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार करते हुए राज्यों को दिए जाने वाले अनुदानों में निरन्तर वृद्धि की है।

ग्यारहवां वित्त आयोग—राष्ट्रपति के. आर. नारायणन द्वारा 6 जुलाई, 1998 को प्रो. ए. एम. खुसरो की अध्यक्षता में 11वें वित्त आयोग का गठन किया, जिसने 2000 ई. के उत्तरार्द्ध में अपनी अन्तरिम और 2001 के प्रारम्भ में अपनी अन्तिम रिपोर्ट दे दी है।

राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि—राज्य सरकारों द्वारा केन्द्र से अधिक वित्तीय साधनों की मांग की जा रही थी और दसवें वित्त आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में कहा था कि केन्द्रीय राजस्व पुल से राज्यों का हिस्सा 27 प्रतिशत से बढ़ाकर 29 प्रतिशत कर दिया जाना चाहिए। 1997 में संसद ने अधिनियम पारित कर राज्यों का हिस्सा 29 प्रतिशत कर दिया है तथा इसे 1 अप्रैल, 1996 से लागू कर दिया है। ग्यारहवें वित्त आयोग ने अपनी सिफारिशों में राज्यों के वित्तीय साधनों में और अधिक वृद्धि की सिफारिश करते हुए ठोस सुझाव दिए हैं।

अब तक के 10 वित्त आयोगों ने राज्यों के बीच बांटे जाने वाली रकम के दो हिस्से कर रखे थे। एक फार्मूले के आधार पर वे रकम के एक बड़े भाग में से निर्धारित हिस्सा राज्यों को दे देते थे तथा एक छोटी रकम अलग रख ली जाती थी, जिसे आर्थिक संकट से जूझ रहे राज्यों में बांटा जाता था। 11वें वित्त आयोग ने यह व्यवस्था समाप्त करके केन्द्रीय करों से आने वाले सारे राजस्व का एक कोष बना दिया है। इसमें से राज्यों की हिस्सेदारी 29.5 प्रतिशत निर्धारित की गई। यह भी तय हुआ कि राज्यों की हिस्सेदारी उनकी आबादी, प्रति व्यक्ति आय, बुनियादी सुविधाओं, कर उगाही और वित्तीय अनुशासन, आदि के आधार पर तय होगी।

बारहवां वित्त आयोग : रिपोर्ट—नवम्बर, 2002 ई. में राष्ट्रपति ने देश के प्रमुख अर्थशास्त्री डॉ. सी. रंगराजन की अध्यक्षता में 12वां वित्त आयोग नियुक्त किया। दिसम्बर, 2004 ई. में आयोग से प्राप्त रिपोर्ट को सरकार ने 25 फरवरी, 2005 ई. को सार्वजनिक कर दिया। केन्द्र सरकार ने आयोग की रिपोर्ट को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। आयोग की सिफारिशें 1 अप्रैल, 2005 ई. से 31 मार्च, 2010 ई. तक लागू रहेंगी।

आयोग ने कर राजस्व में राज्यों का हिस्सा 29.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 30.5 प्रतिशत करने के साथ-साथ 2010 तक सफल घरेलू उत्पाद की तुलना में केन्द्र और राज्यों का कर अनुपात 17.6 प्रतिशत करने, प्राथमिक खर्च 23 प्रतिशत और पूंजीगत खर्च 7 प्रतिशत करने की सिफारिश की है। आयोग ने सेवा-कर को भी राज्यों में विभाजित करने योग्य माना है और कहा है कि सेवा-कर के बारे में केन्द्रीय कानून से राज्यों के राजस्व के कुल हिस्से में नुकसान नहीं होना चाहिए। आयोग ने राज्यों को केन्द्र से मिलने वाली समग्र हस्तान्तरित राशि केन्द्र की राजस्व प्राप्तियों के 38 प्रतिशत के बराबर रखने की सिफारिश की है, जबकि 11वें वित्त आयोग ने यह हिस्सा 37.5 प्रतिशत पर रखा था।

इस प्रकार राज्यों के वित्तीय साधनों में एक बार और वृद्धि की गई है। आयोग ने राजकोषीय स्थिति में सुधार पर बल देते हुए इसे केन्द्र और राज्यों की साझा जिम्मेदारी बताया

है तथा उन्हें अपना राजस्व आधार बढ़ाने और अनावश्यक खर्चों पर अंकुश लगाने का सुझाव दिया है। केन्द्र सरकार ने 2 फरवरी, 2005 ई. को 12वें वित्त आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली हैं।

जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में प्राप्त विशेष स्थिति

धारा 370 द्वारा जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में विशेष स्थिति प्रदान की गई है और भारतीय संविधान की जिन धाराओं ने भारतीय राजनीति में बहुत अधिक विवाद की स्थिति को जन्म दिया है, उनमें एक है धारा 370 इस दृष्टि से धारा 370 का विशेष अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है।

भारतीय संविधान का भाग 21 (अनुच्छेद 369 से लेकर 378 और अनुच्छेद 392) 'अस्थायी, संक्रमणकालीन और विशेष उपबन्धों' (Temporary, Transitional and Special Provisions) की व्यवस्था करता है। संविधान के इस भाग द्वारा भारतीय संघ के 11 राज्यों (जम्मू-कश्मीर, महाराष्ट्र, गुजरात, नगालैण्ड, असम, मणिपुर, आंध्र प्रदेश, सिक्किम, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा) के लिए अस्थायी रूप से विशेष व्यवस्थाएं की गई हैं। इनमें से कुछ राज्यों के लिए की गई विशेष व्यवस्था केवल कहने भर के लिए है जैसे गोवा, लेकिन कुछ राज्यों के लिए सारभूत रूप में विशेष व्यवस्था की गई है। इन व्यवस्थाओं में जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए की गई विशेष व्यवस्था निश्चित रूप से सर्वाधिक प्रमुख है।

जम्मू-कश्मीर राज्य भारत का एक अभिन्न अंग है, किन्तु कुछ ऐतिहासिक कारणों से उसे अनुच्छेद 370 के अधीन एक विशेष संवैधानिक दर्जा दिया गया है। यह स्थिति भारत और जम्मू-कश्मीर राज्य के बीच हुए समझौते के परिणामस्वरूप है, जिसके अन्तर्गत जम्मू-कश्मीर राज्य के तत्कालीन शासक महाराजा हरीसिंह ने भारतीय संघ में सम्मिलित होने का निर्णय लिया था। 15 अगस्त, 1947 में भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही जम्मू-कश्मीर भी स्वतन्त्र हो गया था किन्तु जब पाकिस्तानी सेनाओं ने इस राज्य पर आक्रमण किया, तो महाराजा हरीसिंह ने भारत से सहायता मांगी और भारत संघ में सम्मिलित होने के लिए 26 अक्टूबर, 1947 को 'अधिमिलन-पत्र' (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर किए। इस प्रकार यद्यपि जम्मू-कश्मीर राज्य भारत का एक अभिन्न अंग है और संविधान की प्रथम अनुसूची में 'भारत संघ के राज्यों की सूची' में जम्मू-कश्मीर का नाम सम्मिलित है किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में विशेष स्थिति प्राप्त है।

अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना—अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना भारत के संवैधानिक इतिहास में पहली बार 25 जून, 1990 को की गई।

रचना और कार्य—प्रधानमन्त्री इस परिषद् का अध्यक्ष होगा और राष्ट्रपति द्वारा परिषद् में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के 6 सदस्यों को मनोनीत किया जायगा। इसके अतिरिक्त भारतीय संघ के सभी राज्यों और संघीय क्षेत्रों के मुख्यमन्त्री इस समिति के सदस्य होंगे। यह परिषद् संघीय व्यवस्था और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के सुचारु संचालन हेतु एक विचार मंच का कार्य करेगी। परिषद् के दिन-प्रतिदिन के कार्य हेतु एक स्थायी सचिवालय की स्थापना की गई है।

निष्कर्ष—देश के इतिहास और संघात्मक व्यवस्था का पाठ यह है कि देश की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार तथा राज्य में विकास के लिए राज्य स्तर पर शक्तिशाली सरकार होनी चाहिए। वस्तुतः शक्तिशाली केन्द्र और शक्तिशाली राज्य, इन

दोनों स्थितियों में कोई आपसी विरोध नहीं है। मूल बात यह है कि केन्द्र तथा राज्य के आपसी सम्बन्धों का संचालन दलीय दृष्टिकोण के आधार पर नहीं, वरन् राष्ट्रीय दृष्टिकोण के आधार पर किया जाना चाहिए। यद्यपि राज्यों को विकास कार्यों में अधिकाधिक सम्भव सीमा तक स्वायत्तता दी जानी चाहिए, लेकिन विघटनकारी और पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को रोकना भी नितान्त आवश्यक है। अन्त में भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश पी. बी. गजेन्द्र गडकर के शब्दों में कहा जा सकता है कि “संविधान के प्रावधानों में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, वरन् संघ तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के सुचारु संचालन के लिए स्वस्थ संघात्मक परम्पराओं को अपनाये जाने की आवश्यकता है।”¹

प्रश्न

1. भारत का संविधान स्वरूप में संघात्मक है, परन्तु आत्मा में विवेकात्मक है। विवेचना कीजिए।
2. भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षणों का वर्णन कीजिए।
3. भारतीय संघ की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। क्या यह कथन सही है कि उसकी भावना एकात्मक है न कि संघात्मक?
4. संघ सरकार तथा राज्य सरकार के पारस्परिक सम्बन्धों पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
5. “भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है, किन्तु उसमें एकात्मक संविधान के महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान हैं।” उदाहरण सहित इस कथन की व्याख्या कीजिए।
6. भारतीय संघ के अन्तर्गत केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
7. संघ और राज्यों के प्रशासकीय सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

1 “What was necessary was not any redical change in the provision of Constitution, but establishment of healthy federal conventions to regulate the relations between the Union and State Governments.”—P. B. Gajendra in his third J. Nehru Memorial Lecture—*Philosophy of National Integration—Its broad Imperatives* (Quoted from Indian Express, Nov. 28, 1972).

5

संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति

(UNION EXECUTIVE : PRESIDENT)

भारतीय संविधान में कहा गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं अथवा अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। इस प्रकार संघीय कार्यपालिका में राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद् होंगे। राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान होगा और मन्त्रिपरिषद् कार्यपालिका की वास्तविक प्रधान।

राष्ट्रपति (PRESIDENT)

भारतीय संघ की कार्यपालिका के प्रधान को राष्ट्रपति कहा गया है। यद्यपि कार्यपालिका के प्रधान का यह नामकरण अमरीकी संविधान के समान है, लेकिन भारतीय राष्ट्रपति के कार्य और शक्तियां अमरीकी राष्ट्रपति के समान नहीं हैं। अमरीका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान ही वास्तविक प्रधान होता है, लेकिन भारत में ब्रिटेन जैसी संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका का एक वैधानिक प्रधान होता है और दूसरा वास्तविक प्रधान। राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है और भारतीय संघ में उनकी स्थिति अमरीकी राष्ट्रपति के स्थान पर ब्रिटिश सम्राट जैसी होती है।

राष्ट्रपति पद की योग्यताएं

संविधान में राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित होने वाले व्यक्ति के लिए निम्न योग्यताएं निश्चित की गयी हैं :

- (1) वह भारत का नागरिक हो।
- (2) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
- (3) वह लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

इसके अतिरिक्त ऐसा कोई भी व्यक्ति जो भारत सरकार, राज्य सरकार या किसी स्थानीय सरकार के अन्तर्गत पदाधिकारी हो, राष्ट्रपति के पद का उम्मीदवार नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में संघ के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्य के राज्यपाल और संघ अथवा राज्य के मन्त्रियों को सरकारी अधिकारी नहीं समझा जायेगा।

राष्ट्रपति भारतीय संसद अथवा राज्यों के विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं होगा। यदि निर्वाचन के पूर्व वह इनका सदस्य है तो निर्वाचन की तिथि से उसका स्थान

उस सभा से रिक्त समझा जायेगा। राष्ट्रपति अपने कार्यकाल की अवधि में कोई अन्य वेतनभोगी पद ग्रहण नहीं कर सकता।

भारतीय संघ के इस सर्वोच्च पद के लिए इतनी कम योग्यता का होना आश्चर्य का विषय हो सकता है लेकिन संविधान-निर्माताओं ने जान-बूझकर ऐसा इसलिए किया है कि भारत का प्रत्येक नागरिक इस उच्च पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सके। यह व्यवस्था जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के अनुकूल है। व्यवहार में इस पद पर केवल वही व्यक्ति निर्वाचित हो सकेगा, जिसे देश में बहुत अधिक सम्मान प्राप्त हो।

राष्ट्रपति का निर्वाचन

(ELECTION OF THE PRESIDENT)

अप्रत्यक्ष चुनाव और निर्वाचक मण्डल की व्यवस्था—भारतीय गणतन्त्र का राष्ट्रपति जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है। राष्ट्रपति का चुनाव एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है। इस निर्वाचक मण्डल के सदस्य हैं : (1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, और (2) राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य। राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में राज्यों की विधानसभाओं को भी इसलिए सम्मिलित किया गया है कि राष्ट्रपति न केवल केन्द्रीय शासन वरन् सम्पूर्ण भारतीय संघ का प्रधान होता है। संविधान सभा में पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि “राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ-साथ राज्यों के विधानमण्डल के सदस्यों को सम्मिलित कर इस बात का प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो और संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तविक रूप में राष्ट्रीय पद का रूप प्राप्त हो सके।”

इस निर्वाचक मण्डल के गठन के सम्बन्ध में एक परिवर्तन 70वें संवैधानिक संशोधन, 1992 द्वारा किया गया है। मूल संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के सदस्य हैं : (1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और (2) भारतीय संघ के सभी राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य। 70वें संवैधानिक संशोधन, 1992 के अनुसार संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों को भी राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित किया गया है। इस दृष्टि से भविष्य में होने वाले राष्ट्रपति पद के चुनावों में ‘लोकप्रिय शासन वाले संघीय क्षेत्रों’ (विधानसभा वाले संघीय क्षेत्रों) की विधानसभा के सदस्यों को भी राष्ट्रपति के चुनाव में मतदान का अधिकार होगा।

संसद तथा राज्य की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव एक विशेष मत-पद्धति के द्वारा होगा, जिसे ‘एकल संक्रमणीय मत पद्धति’ (Single Transferable Vote System) कहा जाता है। इस चुनाव में मतदान गुप्त मतपत्र द्वारा होगा और चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार के लिए ‘न्यूनतम कोटा’ (Quota) प्राप्त करना आवश्यक होगा। ‘न्यूनतम कोटा’ निर्धारित करने के लिए निम्न सूत्र अपनाया गया है :

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिये गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} + 1$$

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए की गयी है ताकि स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने पर ही एक व्यक्ति को राष्ट्रपति का पद प्राप्त हो सके। इस व्यवस्था से ही वह पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सकता है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की एक विशेष बात यह है कि निर्वाचक मण्डल के प्रत्येक सदस्य के मत का समान मूल्य नहीं होता। निर्वाचक मण्डल के सदस्यों में से प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य निम्न दो सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किया जाता है :

प्रथम, भारतीय संघ के कुछ राज्यों (विशाल राज्यों) की विधानसभाओं के सदस्य अधिक जनसंख्या का और कुछ राज्यों की विधानसभाओं के सदस्य बहुत कम जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। विधानसभाओं के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य उस अनुपात से निश्चित होता है, जितनी जनसंख्या का वह प्रतिनिधित्व करता है।

द्वितीय सिद्धान्त यह अपनाया गया है कि राष्ट्रपति के चुनाव में केन्द्र तथा राज्यों (राज्यों की विधानसभाओं और लोकप्रिय शासन वाले संघीय क्षेत्रों) का बराबर का हिस्सा होना चाहिए। इसलिए सभी राज्यों की विधानसभाओं के समस्त सदस्यों के जितने मत हों, उतने ही मत संसद सदस्यों द्वारा दिये जाने चाहिए।

(1) किसी भी राज्य या संघीय क्षेत्र की विधानसभाओं के मतों की संख्या

$$= \frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} + 1000$$

(2) संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या

समस्त राज्यों और संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के समस्त सदस्यों को प्राप्त मतों की संख्याओं का कुल योग

$$= \frac{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}{\text{संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}$$

राष्ट्रपति चुनाव (जुलाई, 2002)

उपर्युक्त सूत्र को जुलाई 2002 ई. में सम्पन्न राष्ट्रपति चुनाव के आधार पर समझा जा सकता है :

इन चुनावों में निर्वाचक मण्डल के कुल सदस्यों की संख्या 4,896 थी। इनमें से 776 सांसद थे और 4,120 विधायक। प्रत्येक सांसद के मत का मूल्य 708 था और विधानसभा सदस्य के मत का मूल्य राज्यवार गणनानुसार अलग-अलग था। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश राज्य की विधानसभा के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य 403 था, लेकिन सिक्किम विधानसभा के प्रत्येक सदस्य के मत का मूल्य सबसे कम केवल 32 था।

चुनाव में दो उम्मीदवार थे : डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम और कैप्टेन लक्ष्मी सहगल। इन दोनों उम्मीदवारों को प्राप्त मतों का विवरण इस प्रकार है :

डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम : 4,152 मत (वैध मतों का 89.97 प्रतिशत; मत मूल्य 9,22,884)

कैप्टेन लक्ष्मी सहगल : 459 मत (वैध मतों का 10.3 प्रतिशत; मत मूल्य 1,07,366)

डॉ. अब्दुल कलाम ने 25 जुलाई, 2002 ई. को राष्ट्रपति पद ग्रहण किया।

मतों की गणना के सम्बन्ध में उपर्युक्त सूत्र और प्रक्रिया को इस उद्देश्य से अपनाया गया है कि राष्ट्रपति के चुनाव में समस्त राज्यों के प्रभाव में जनसंख्या के आधार पर एकरूपता रहे और समस्त राज्यों की विधानसभाओं को सामूहिक रूप से संघीय संसद के बराबर प्रभाव प्राप्त रहे। समस्त विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्याओं का योग भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करता है और इसी प्रकार संसद के दोनों सदनों के सदस्य भी भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः यह उचित है कि इन दोनों पक्षों को, जो

समान रूप से भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, राष्ट्रपति के चुनाव में समान शक्ति प्राप्त हो।

इस प्रकार के मतों के मूल्य के आधार पर मतों की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता (Second Preference) के मतों की गणना में किसी उम्मीदवार को जीत के लिए आवश्यक 50 प्रतिशत से अधिक मत नहीं मिल पाते, तो द्वितीय वरीयता (Second Preference) के मतों की गणना कर उसके आधार पर चुनाव का निर्णय किया जाता है। अगस्त, 1969 में भारतीय राष्ट्रपति का जो पांचवां चुनाव हुआ, उसमें द्वितीय वरीयता के मतों की गणना भी आवश्यक हो गयी थी। राष्ट्रपति के चुनाव की समस्त प्रक्रिया समझने की दृष्टि से 1969 के चुनाव का उदाहरण ही अधिक महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रपति के चुनाव का परिणाम, 1969

प्रथम मतगणना								द्वितीय मतगणना श्री देशमुख के मतों का हस्तान्तरण			
श्री गिरि		श्री रेड्डी		श्री देशमुख		अन्य		श्री गिरि		श्री रेड्डी	
कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य	कुल मतपत्र	मतपत्रों का मूल्य
1,910	4,71,515	1,503	3,13,418	509	1,12,759	45	8,487	103	18,291	391	91,449

1974 में जबकि राष्ट्रपति का चुनाव होना था, गुजरात विधानसभा भंग की जा चुकी थी, अतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या गुजरात विधानसभा भंग होने की स्थिति में राष्ट्रपति के चुनाव हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति ने 29 अप्रैल, 1974 को अनुच्छेद 143 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगा और सर्वोच्च न्यायालय ने अपने परामर्श में कहा कि "राष्ट्रपति का चुनाव वर्तमान राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व होना चाहिए और एक या एक से अधिक राज्यों की विधानसभा भंग होने की स्थिति में भी ये चुनाव हो सकते हैं।"

राष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित अन्य बातें 'राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति निर्वाचन अधिनियम, 1952' के अनुसार निश्चित की गयी हैं। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक राष्ट्रपति पद हेतु जो चुनाव हुए उनमें राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवारों की एक लम्बी पंक्ति और अन्य कठिनाइयों का अनुभव किया गया तथा यह भी देखने में आया कि कुछ व्यक्तियों के द्वारा अपने आपको मखौल के रूप में इस महान् पद का उम्मीदवार बना लिया जाता है। देश के सर्वोच्च पदों के चुनाव से गैर गम्भीर प्रत्याशियों को हतोत्साहित करने के इरादे से 5 जून, 1997 को राष्ट्रपति द्वारा एक अध्यादेश जारी किया गया और अब राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार प्रत्येक व्यक्ति का नाम कम-से-कम 50 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित व कम-से-कम 50 निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित किया जाना चाहिए। इसी प्रकार उपराष्ट्रपति पद के उम्मीदवार का नाम कम-से-कम 20 निर्वाचकों द्वारा प्रस्तावित और कम-से-कम 20 निर्वाचकों द्वारा अनुमोदित

किया जाना चाहिए। इसी अध्यादेश द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पद के लिए जमानत की धनराशि 15,000 रुपए निश्चित की गई है।

राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचकों को उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी।

राष्ट्रपति का चुनाव अप्रत्यक्ष क्यों?—संविधान सभा में राष्ट्रपति के चुनाव की पद्धति पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ था। कुछ सदस्य चाहते थे कि राष्ट्रपति का चुनाव भारतीय जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए। उनका विचार था कि प्रत्यक्ष निर्वाचन ही लोकतन्त्र के अनुकूल होगा और इस प्रकार से निर्वाचित व्यक्ति ही उचित रूप से भारत राष्ट्र के प्रतीक के रूप में कार्य कर सकता है। लेकिन अन्त में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति ही अपनायी गयी; क्योंकि भारत की संसदात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति केवल एक औपचारिक या वैधानिक प्रधान होता है और वास्तविक कार्यपालिका सत्ता उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथ में रहती है। श्री संथानम् के शब्दों में, “यह महसूस किया गया कि जब राष्ट्रपति को औपचारिक प्रधान माना बनाना है, तो फिर उसे प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कराना व्यर्थ का परिश्रम ही होगा।” यह भी सोचा गया कि करोड़ों मतदाताओं वाले देश में प्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाने में बड़ी बाधाएं और कठिनाइयां उपस्थित होंगी।

संविधान सभा में यह भय भी प्रकट किया गया और ऐसा सोचना उचित ही था कि शायद प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति, राष्ट्र का केवल वैधानिक प्रधान बना रहना स्वीकार न करे और उस स्थिति में उसका मन्त्रिमण्डल से संघर्ष हो सकता है, जिसका परिणाम संवैधानिक द्वन्द्व होगा।

यद्यपि राष्ट्रपति के निर्वाचन की यह पद्धति पर्याप्त क्लिष्ट है लेकिन क्लिष्टता के बावजूद यह पद्धति राष्ट्रपति के पद से सम्बन्धित इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल रही है कि राष्ट्रपति एक वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करे और राष्ट्रपति को भारतीय संघ के सर्वोच्च प्रधान के रूप में सर्वोच्च आदर और सम्मान की स्थिति प्राप्त रहे।

उपलब्धियां¹, भत्ते तथा कार्यकाल

संसद ने 4 अगस्त, 1998 को एक विधेयक पारित कर राष्ट्रपति की मासिक उपलब्धियां 50 हजार रुपए कर दी गई हैं। राष्ट्रपति की उपलब्धियां आय कर से मुक्त होती हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें निःशुल्क निवास स्थान व संसद द्वारा स्वीकृत अन्य भत्ते प्राप्त होते हैं। राष्ट्रपति के कार्यकाल में उनकी उपलब्धियां तथा भत्ते में कोई कमी नहीं की जा सकती है। जब तक कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के पद पर आसीन है तब तक उसके विरुद्ध किसी दीवानी या फौजदारी न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।

राष्ट्रपति की पेन्शन में समय-समय पर वृद्धि की गई तथा अब राष्ट्रपति के लिए तीन लाख रुपए वार्षिक पेन्शन निर्धारित की गई है। पूर्व राष्ट्रपति को इसके अतिरिक्त सचिवालय के खर्च के लिए 12 हजार रुपये वार्षिक की राशि तथा निःशुल्क आवास, रोशनी, पानी, कार, आदि की सुविधा भी उपलब्ध होती है। दिसम्बर 1993 में संसद द्वारा पारित कानून के आधार पर पूर्व राष्ट्रपतियों को विमान, रेल, सड़क और जहाज से सर्वोच्च श्रेणी में साथ के एक व्यक्ति सहित निःशुल्क यात्रा की सुविधा प्राप्त होगी। फरवरी, 2000 ई. में राष्ट्रपति के

1 राष्ट्रपति के प्रसंग में संविधान में ‘वेतन’ शब्द का नहीं वरन् उपलब्धियां (Emoluments) शब्द का प्रयोग किया गया है।

जीवित जीवन साथी को आवास और पेंशन (1 लाख, 50 हजार रुपए वार्षिक) देने का निर्णय लिया गया है।

राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित किया गया है। यदि मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग द्वारा पदच्युति के कारण राष्ट्रपति का पद इस अवधि के बीच में ही रिक्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति का निर्वाचन पुनः 5 वर्ष की सम्पूर्ण अवधि के लिए होता है न कि शेष अवधि के लिए। यद्यपि संविधान द्वारा राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है, फिर भी यह एक संवैधानिक परम्परा विकसित हो रही है कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित नहीं होगा।

महाभियोग—भारत के राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष है किन्तु भारतीय संविधान के अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा संविधान का उल्लंघन किये जाने पर संविधान में दी गयी पद्धति के अनुसार उस पर महाभियोग लगाकर उसे पदच्युत किया जा सकता है। उस पर अभियोग लगाने का अधिकार भारतीय संसद के प्रत्येक सदन को प्राप्त है। अभियोग चलाने के लिए अभियोग चलाने वाले सदन की सदस्य संख्या के 1/4 सदस्यों के हस्ताक्षर होने आवश्यक हैं। अभियोग चलाने के 14 दिन बाद अभियोग चलाने वाले सदन में उस पर विचार किया जायेगा और यदि अभियोग का प्रस्ताव सदन की कुल सदस्य संख्या के 2/3 सदस्यों द्वारा स्वीकृत हो जाय, तो उसके उपरान्त प्रस्ताव द्वितीय सदन को भेज दिया जाता है। दूसरा सदन इन अभियोगों की या तो स्वयं जांच करेगा या इस कार्य के लिए एक विशेष समिति नियुक्त करेगा। राष्ट्रपति स्वयं उपस्थित होकर या अपने प्रतिनिधि द्वारा अपना पक्ष प्रस्तुत कर सकता है। यदि इस सदन में राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाये गये आरोप सिद्ध हो जाते हैं और दूसरा सदन भी अपने कुल सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकार कर ले, तो प्रस्ताव स्वीकृत होने की तिथि से राष्ट्रपति पदच्युत समझा जायेगा।

राष्ट्रपति अपने पद पर निश्चित अवधि की समाप्ति के उपरान्त भी उस समय तक आसीन रहेगा, जब तक कि उसका उत्तरधिकारी राष्ट्रपति पद को ग्रहण नहीं करता है। मृत्यु, त्यागपत्र या महाभियोग स्वीकृत होने से राष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर यथासम्भव 6 माह के अन्दर-अन्दर नया निर्वाचन हो जाना चाहिए। निर्वाचन तक, भारत का उपराष्ट्रपति उसके पद पर कार्य करेगा।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ—राष्ट्रपति को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के ज्येष्ठतम न्यायाधीश के समक्ष शपथ लेनी होगी कि :

“मैं.....अमुक..... ईश्वर की शपथ लेता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ राष्ट्रपति पद का कार्यपालन करूंगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का पालन, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूंगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूंगा।”

राष्ट्रपति के अधिकार अथवा शक्तियां और कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE PRESIDENT)

भारत के राष्ट्रपति को विभिन्न प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं और इस प्रकार संविधान के द्वारा भारत के राष्ट्रपति को अनेक प्रकार की शक्तियां प्रदान की गयी हैं। अध्ययन

की सुविधा के लिए राष्ट्रपति की समस्त शक्तियों को प्राथमिक रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है : (1) सामान्यकालीन शक्तियाँ और (2) संकटकालीन शक्तियाँ।

1. सामान्यकालीन शक्तियाँ अथवा अधिकार

संविधान द्वारा सामान्यकाल में राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं उनका अध्ययन निम्नलिखित पांच शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) कार्यपालिका अथवा प्रशासनिक शक्तियाँ—संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार, “संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा।” इस प्रकार शासन का समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से होगा और सरकार के समस्त निर्णय उसके ही माने जायेंगे। उसे संघीय शासन से सम्बन्धित सभी मामलों में सूचना पाने का अधिकार है। प्रधानमन्त्री के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के सभी निर्णयों और प्रशासन सम्बन्धी सभी मामलों में सूचना दे, जिनके बारे में राष्ट्रपति ऐसी सूचनाएं मांगे।

प्रशासनिक क्षेत्र में वह इन शक्तियों का उपयोग करेगा :

(i) महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति व पदच्युति की शक्ति—राष्ट्रपति भारत संघ के अनेक महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति करता है; जैसे, प्रधानमन्त्री, उनकी सलाह से अन्य मन्त्री, राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य, विदेशों में राजदूत, आदि। इन उच्च अधिकारियों के अतिरिक्त राष्ट्रपति को कुछ प्रशासनिक आयोगों की नियुक्ति का भी अधिकार प्राप्त है, जैसे, अन्तर्राज्य परिषद्, निर्वाचन आयोग, वित्त आयोग, राज भाषा आयोग, पिछड़े हुए वर्गों की दशा सुधार सम्बन्धी आयोग, आदि। राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से मन्त्रियों को, राज्यपालों को तथा भारत के महान्यायवादी को पदमुक्त कर सकता है।

(ii) शासन संचालन सम्बन्धी शक्ति—राष्ट्रपति को शासन संचालन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है। इस सम्बन्ध में उसके द्वारा विभिन्न प्रकार के नियम बनाये जा सकते हैं। वह संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक, सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति तथा नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक की शक्तियों से सम्बन्धित नियमों का निर्माण करता है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के बीच विभागों का वितरण भी उसी के द्वारा किया जाता है।

(iii) वैदेशिक क्षेत्र में शक्ति—भारतीय संघ का वैधानिक प्रमुख होने के नाते राष्ट्रपति वैदेशिक क्षेत्र में भारत का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेशों में स्थित भारतीय दूतावासों के लिए राजदूतों व कूटनीतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति करता है और विदेशों के राजदूत व कूटनीतिक प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करता है। विदेशों से सन्धियाँ और समझौते भी राष्ट्रपति के नाम से किये जाते हैं, यद्यपि इन समझौतों के सम्बन्ध में पहल (initiative) मन्त्रियों के हाथ में रहती है और इनकी संसद से पुष्टि आवश्यक है।

(iv) सैनिक क्षेत्र में शक्ति—राष्ट्रपति भारत की समस्त सेनाओं का प्रधान सेनापति है। किन्तु इस अधिकार का प्रयोग वह कानून के अनुसार ही कर सकता है। प्रतिरक्षा सेनाओं, युद्ध और शान्ति, आदि के विषय में कानून बनाने की शक्ति केवल संसद को प्राप्त है। अतः भारत का राष्ट्रपति संसद की स्वीकृति के बिना न तो युद्ध की घोषणा कर सकता है और न ही सेनाओं का प्रयोग कर सकता है।

(2) विधायी शक्ति—भारत का राष्ट्रपति भारतीय संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान तो है ही, उसे भारतीय संसद का भी अभिन्न अंग माना गया है और इस रूप में राष्ट्रपति को विधायी क्षेत्र की विभिन्न शक्तियां प्राप्त हैं :

(i) विधायी क्षेत्र का प्रशासन—राष्ट्रपति को विधायी क्षेत्र के प्रशासन से सम्बन्धित अनेक शक्तियां प्राप्त हैं। वह संसद के अधिवेशन बुलाता और अधिवेशन समाप्ति की घोषणा करता है। वह लोकसभा को उसके निश्चित काल से पूर्व भी भंग कर सकता है। अब तक 8 बार (1970, जनवरी '77, अगस्त '79, नवम्बर '84, नवम्बर '89, मार्च '91, दिसम्बर '97 और अप्रैल '99) लोकसभा को समय से पूर्व भंग किया जा चुका है। संसद के अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में भाषण देता है। उसके द्वारा अन्य अवसरों पर भी संसद को संदेश भेजने या उनकी बैठकों में भाषण देने का कार्य किया जा सकता है। राष्ट्रपति के इन भाषणों में शासन की सामान्य नीति की घोषणा की जाती है।

(ii) सदस्यों को मनोनीत करने की शक्ति—राष्ट्रपति को राज्य सभा में 12 ऐसे सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है जिनके द्वारा साहित्य, विज्ञान, कला या अन्य किसी क्षेत्र में विशेष सेवा की गयी हो। वह लोकसभा में 2 आंग्ल भारतीय सदस्यों को मनोनीत कर सकता है।

(iii) विधेयकों पर निषेधाधिकार का प्रयोग—संसद द्वारा स्वीकृत प्रत्येक विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद ही कानून का रूप ग्रहण करता है। वह विधेयक को अपनी इच्छानुसार स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। साधारण विधेयक को कुछ सुझावों के साथ संसद को पुनः विचार के लिए लौटा सकता है। लेकिन यदि वह विधेयक संसद द्वारा पुनः संशोधन के साथ या बिना संशोधन के पारित कर दिया जाता है तो राष्ट्रपति को दूसरी बार उसे स्वीकृति देनी होगी। इस प्रकार राष्ट्रपति की निषेधाधिकार की शक्ति अन्तिम नहीं है और इस सम्बन्ध में अमरीकी राष्ट्रपति की शक्ति अधिक वास्तविक और प्रभावशाली है।

(iv) अध्यादेश जारी करने की शक्ति—जिस समय संसद का अधिवेशन न हो रहा हो, उस समय राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है। इन अध्यादेशों को संसद द्वारा पास किये गये अधिनियमों के समान ही मान्यता एवं प्रभाव प्राप्त होगा। ये अध्यादेश संसद का अधिवेशन प्रारम्भ होने के 6 सप्ताह बाद तक लागू रहेंगे, लेकिन संसद चाहे, तो उसके द्वारा इस अवधि के पूर्व भी इन अध्यादेशों को समाप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार से अध्यादेश जारी करने की शक्ति ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका या अन्य प्रजातन्त्रात्मक देशों की कार्यपालिका के प्रधान को प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार भारत के राष्ट्रपति को विधायी क्षेत्र में बहुत अधिक महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं। प्रो. ए. बी. लाल के शब्दों में, "लिखित संविधान तथा संसदात्मक शासन-व्यवस्था वाले अन्य किसी भी देश में राज्याध्यक्ष को इतनी अधिक विधायी शक्तियां प्राप्त नहीं हैं।"

(3) वित्तीय शक्तियां—राष्ट्रपति को वित्तीय क्षेत्र में भी कुछ महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं। राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में संसद के दोनों सदनों के सम्मुख भारत सरकार का उस वर्ष के लिए आय और व्यय का विवरण रखवायेगा। उसकी आज्ञा के बिना धन विधेयक अथवा वित्त विधेयक और अनुदान मांगें लोकसभा में प्रस्तावित नहीं की जा सकतीं।

1 "In no country with written constitution and a parliamentary type of government, the chief of the state is the repository of such prodigious legislative powers."
—A. B. Lal, *The Indian Parliament*, p. 223.

भारत की “आकस्मिकता निधि” (Contingency Fund) पर भी उसका नियन्त्रण होता है। वह आकस्मिक व्यय के लिए इस निधि से धनराशि दे सकता है, इसके लिए बाद में संसद की स्वीकृति आवश्यक है। उसे एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने का भी अधिकार है जो आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को परामर्श देता है। आय कर से प्राप्त धनराशि केन्द्रीय और राज्य सरकारों में बांटने तथा पटसन से प्राप्त होने वाली आय के बदले पश्चिमी बंगाल, बिहार और उड़ीसा को आर्थिक सहायता देने का कार्य भी वही करता है।

(4) न्यायिक शक्तियाँ—संविधान में ‘न्यायपालिका की स्वतन्त्रता’ के सिद्धान्त को अपनाया गया है, इस कारण राष्ट्रपति को न्याय प्रबन्ध में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त नहीं है; लेकिन फिर भी उसे कुछ न्यायिक शक्तियाँ अवश्य ही प्राप्त हैं। वह उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्मित न्यायालय की कार्य-व्यवस्था से सम्बन्धित नियमों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है। राष्ट्रपति को एक अन्य महत्वपूर्ण शक्ति क्षमादान की प्राप्त है। राष्ट्रपति की संघीय शक्ति के अन्तर्गत दण्ड प्राप्त व्यक्तियों को क्षमा प्रदान करने या दण्ड को कुछ समय के लिए स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है।

संविधान ने राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दिया है कि वह सार्वजनिक महत्व के किसी प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय की सम्मति मांग सके। इस प्रकार की सम्मति को मानना या न मानना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर है।

(5) राज्यों से सम्बन्धित अधिकार—राष्ट्रपति न केवल केन्द्रीय कार्यपालिका वरन् समस्त भारतीय संघ का प्रधान है और राष्ट्रपति को भारतीय संघ के 28 राज्यों और 7 केन्द्रशासित क्षेत्रों पर निम्नलिखित महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं :

प्रथम, राष्ट्रपति को राज्यों के व्यवस्थापन के सम्बन्ध में शक्ति प्राप्त है। राज्यपाल को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए किसी विधेयक को सुरक्षित रख ले। संविधान के अनुसार यदि राज्यों का विधानमण्डल कोई ऐसा कानून बनाता है जिसका सम्बन्ध उच्च न्यायालय के अधिकार कम करने से है या उन वस्तुओं पर कर लगाने से है जो संसद द्वारा जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक घोषित कर दी गयी हों, तो ऐसा विधेयक राज्यपाल को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखना ही होगा। राष्ट्रपति इन विधेयकों को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है या विधानमण्डल को पुनः विचार के लिए भेज सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद ही विधानमण्डल में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

द्वितीय, राष्ट्रपति को राज्यों के वित्त के सम्बन्ध में कुछ अधिकार प्राप्त हैं। यदि संसद कोई ऐसा कर लगाने जा रही है जिससे राज्य प्रभावित हो सकते हैं तो संसद को राष्ट्रपति से इसकी पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक है।

तृतीय, राष्ट्रपति किसी राज्य सरकार को ऐसे विषयों से सम्बन्धित कुछ कार्य सौंप सकता है जो साधारण रूप से संघ की कार्यपालिका के हों।

इन सबके अतिरिक्त राष्ट्रपति राज्यों की कार्यपालिका के प्रधान (राज्यपालों) की नियुक्ति करता है और ये राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रति विश्वासी रहकर ही अपने पदों पर कार्य करते हैं।

2. संकटकालीन शक्तियां अथवा अधिकार (Emergency Powers)

संकट की स्थिति का सामना करने के लिए संविधान द्वारा राष्ट्रपति को विशेष शक्तियां प्रदान की गयी हैं। राष्ट्रपति को ये संकटकालीन शक्तियां या दूसरे शब्दों में संविधान के संकटकालीन प्रावधान अब तक बहुत अधिक संशोधन-परिवर्तन के विषय रहे हैं। 1975 में लागू आपातकाल में 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) के आधार पर संकटकालीन प्रावधानों को और अधिक कठोर बनाया गया। लेकिन आपातकाल में संकटकालीन प्रावधानों का जिस प्रकार से दुरुपयोग किया गया, उसमें इन प्रावधानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त 1977 में सत्तारूढ़ जनता पार्टी संविधान के संकटकालीन प्रावधानों में ऐसे परिवर्तन के लिए वचनबद्ध थी, जिससे वर्तमान या भविष्य के शासक वर्ग द्वारा इन प्रावधानों का दुरुपयोग न किया जा सके। 44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1979) द्वारा इस सम्बन्ध में आवश्यक व्यवस्थाएं की गयी हैं और इस संविधान संशोधन के बाद वर्तमान समय में संविधान के संकटकालीन प्रावधानों की स्थिति निम्न प्रकार है :

(1) युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति से सम्बन्धित संकटकालीन व्यवस्था—मूल संविधान के अनुच्छेद 352 में व्यवस्था थी कि यदि राष्ट्रपति को अनुभव हो कि युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत या उसके किसी भाग की शान्ति या व्यवस्था नष्ट होने का भय है तो यथार्थ रूप में इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने पर या इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होने की आशंका होने पर राष्ट्रपति संकटकालीन अवस्था की घोषणा कर सकता था। संसद की स्वीकृति के बिना भी यह दो माह तक लागू रहती और संसद से स्वीकृत हो जाने पर शासन इसे जब तक लागू रखना चाहता, लागू रख सकता था। 44वें संवैधानिक संशोधन के बाद वर्तमान समय में इस सम्बन्ध में व्यवस्था निम्न प्रकार है :

प्रथम, अब इस प्रकार का आपातकाल युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह अथवा इस प्रकार की आशंका होने पर ही घोषित किया जा सकेगा। केवल आन्तरिक अशान्ति के नाम पर आपातकाल घोषित नहीं किया जा सकता।

द्वितीय, राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा तभी की जा सकेगी, जबकि मन्त्रिमण्डल लिखित रूप में राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श दे।

तृतीय, घोषणा के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत (पृथक्-पृथक् संसद के दोनों सदनों के कुल बहुमत एवं उपस्थिति और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत) से इसकी स्वीकृति आवश्यक होगी और इसे लागू रखने के लिए प्रति 6 माह बाद स्वीकृति आवश्यक होगी।

चतुर्थ, लोकसभा में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से आपातकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है। आपातकाल पर विचार हेतु लोकसभा की बैठक लोकसभा के 1/10 सदस्यों की मांग पर अनिवार्य रूप से बुलाई जायगी। राष्ट्रपति द्वारा की गयी संकटकालीन घोषणा को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

मूल संविधान में व्यवस्था थी कि अनुच्छेद 352 के आधीन संकटकाल की घोषणा पूरे देश के लिए ही की जा सकती थी, देश के केवल किसी एक या कुछ भागों के लिए नहीं। 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के

आधीन संकटकाल की घोषणा पूरे देश के लिए या देश के किसी एक या कुछ भागों के लिए की जा सकती है। 42वें संवैधानिक संशोधन की इस व्यवस्था को बनाये रखा गया है।

इस घोषणा के लागू रहने के समय 19वें अनुच्छेद द्वारा नागरिकों को प्रदत्त 6 स्वतन्त्रताएं स्थगित की जा सकती हैं। मूल संविधान में व्यवस्था थी कि संकटकाल के समय नागरिक अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय की शरण नहीं ले सकेंगे, लेकिन 44वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर व्यवस्था की गयी है कि आपातकाल में भी व्यक्ति के जीवन और शारीरिक स्वाधीनता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकेगा। लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य अधिकारों की रक्षा के लिए नागरिक न्यायालय की शरण नहीं ले सकेंगे। राष्ट्रपति इस संकटकाल के समय संसद को राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार दे सकता है और किसी राज्य की सरकार को उसको प्रशासनिक शक्ति के संचालन हेतु आदेश दे सकता है। राष्ट्रपति केन्द्र और राज्यों के बीच आय के वितरण में भी परिवर्तन कर सकता है।

अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत अब तक तीन बार संकटकाल की घोषणा की गयी है—1962 में भारत पर चीन और 1971 में भारत पर पाकिस्तान का आक्रमण होने की स्थिति में तथा तीसरी बार 1975 में। प्रथम बार संकटकालीन घोषणा 26 अक्टूबर, 1962 को की गयी और इसे 10 जनवरी, 1968 को समाप्त किया गया। दूसरी बार 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने पर इसी दिन राष्ट्रपति ने संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। तीसरी बार 26 जून, 1975 को आन्तरिक अव्यवस्था के नाम पर संकटकाल की घोषणा की गयी। जून 1975 में घोषित संकटकाल 21 मार्च, 1977 को समाप्त कर दिया गया और 1971 से जारी संकटकाल 27 मार्च, 1977 को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार वर्तमान समय में अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत कोई संकटकाल लागू नहीं है।

(2) राज्यों में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने से उत्पन्न संकटकालीन अवस्था—संविधान के द्वारा संघीय सरकार को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह देखे कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुसार चलायी जाती है। अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन पर या अन्य किसी प्रकार से समाधान हो जाय कि ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी है कि राज्य का शासन संविधानों के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो वह संकटकाल की घोषणा कर सकता है।

संसद के द्वारा एक बार प्रस्ताव पास कर राज्य में 6 माह के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। 44वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व राज्य में राष्ट्रपति शासन की अधिकतम अवधि तीन वर्ष थी, लेकिन अब इस व्यवस्था में यह परिवर्तन किया गया है कि राज्य में राष्ट्रपति शासन के एक वर्ष की अवधि के बाद इसे और अधिक समय के लिए जारी रखने का प्रस्ताव संसद द्वारा तभी पारित किया जा सकेगा, जबकि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित किये जाने के समय अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल लागू हो और चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि वर्तमान समय में राज्य में चुनाव करवाना सम्भव नहीं है। किसी परिस्थिति में तीन वर्ष के बाद राष्ट्रपति शासन लागू नहीं रखा जा सकेगा।

इस परिस्थिति में राष्ट्रपति यह घोषित कर सकता है कि उस राज्य की कानून निर्माण की शक्ति का प्रयोग केन्द्रीय संसद करेगी। राष्ट्रपति राज्यपाल सहित राज्य के किसी भी अधिकारी

1 1987-1991 के वर्षों में पंजाब में तीन वर्षों से अधिक अवधि के लिए राष्ट्रपति शासन लागू रहा; लेकिन यह कार्य विशेष संवैधानिक संशोधनों के आधार पर ही किया जा सका।

की शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता है। वह घोषणा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उच्च न्यायालय की शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त शक्ति अपने हाथ में ले सकता है। जब लोक सभा की बैठकें नहीं हो रही हों, उस समय राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से व्यय का आदेश दे सकता है और उसके द्वारा अध्यादेश भी जारी किया जा सकता है। संकट की अवधि में, राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताओं पर रोक लगा सकता है और उसके द्वारा संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी स्थगित किया जा सकता है।

संविधान लागू किये जाने के समय से लेकर 100 से अधिक बार अनुच्छेद 356 के आधीन संकटकाल घोषित किया जा चुका है।

(3) वित्तीय संकट—अनुच्छेद 360 के अनुसार जब राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं कि जिनसे भारत के वित्तीय स्थायित्व या साख को खतरा है, तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी घोषणा के लिए भी वही अवधि निर्धारित है, जो प्रथम प्रकार के संकट की घोषणा के लिए है।

इस प्रकार की अवधि में राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से किसी भी राज्य सरकार को आदेश दे सकता है। संघ तथा राज्य सरकार के अधिकारियों के वेतन में, जिनमें उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश भी शामिल होंगे आवश्यक कमी की जा सकती है। राष्ट्रपति राज्य सरकारों को इस बात के लिए बाध्य कर सकता है कि राज्य के समस्त वित्त विधेयक उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किये जायें। संघ की कार्यकारिणी राज्य की कार्यकारिणी को शासन सम्बन्धी आवश्यक आदेश दे सकती है और राष्ट्रपति केन्द्र तथा राज्यों के धन सम्बन्धी बंटवारे में आवश्यक परिवर्तन कर सकता है।

देश में वित्तीय संकट लागू करने का अवसर अब तक नहीं आया है।

संकटकालीन शक्तियों का मूल्यांकन

भारतीय संविधान की यह संकटकालीन व्यवस्था संविधान निर्माण के समय और उसके बाद कटु आलोचना का विषय रही है। जिस दिन संविधान सभा में यह व्यवस्था स्वीकार हुई, उस दिन श्री हरिविष्णु कामथ ने संविधान सभा में कहा था, “यह शर्मनाक दिन है। ईश्वर भारतीयों की रक्षा करो”। इस संकटकालीन व्यवस्था की प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है :

(1) राष्ट्रपति अधिनायक बन सकता है—आलोचकों के अनुसार संविधान में ऐसी कोई धारा नहीं रखी गयी है कि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सम्मति पर ही अपने इन अधिकारों का प्रयोग करेगा। आलोचकों के अनुसार संकट की स्थिति का एकमात्र निर्णायक राष्ट्रपति ही है और राष्ट्रपति के द्वारा संसद से पूछे बिना भी संकटकालीन घोषणा एक माह के लिए लागू की जा सकती है। एक माह की इस अवधि में वह मन्त्रिमण्डल को पदच्युत तथा लोकसभा को भंग कर लगभग 5 या 7 माह तक तो मनमाना शासन कर ही सकता है। महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति इस अवधि में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर अधिनायक बनने का प्रयत्न कर सकता है।¹

(2) संधात्मक रूप का अन्त—संविधान द्वारा भारत में एक संधात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना की गयी है लेकिन संविधान के ये संकटकालीन उपबन्ध संधात्मक शासन-व्यवस्था का आधारभूत स्वरूप ही समाप्त कर देते हैं। संवैधानिक तन्त्र की विफलता के समय राज्य सरकार लगभग समाप्त ही हो-जाती है और युद्धकालीन अथवा वित्तीय संकट में राज्य सरकारों पर

1 ‘44वें संवैधानिक संशोधन, 1979’ के बाद इस प्रकार की आशंका का कोई आधार नहीं रहा है।

केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण अत्यधिक बढ़ जाता है। परिणामतः राज्य सरकारों का रूप एक ऐसे एजेंट के समान हो जाता है जिसका कार्य संघीय सरकार के आदेशों का पालन करना भर हो।

(3) राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों का दमन सम्भव है—अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्यों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता की स्थिति में संकटकालीन घोषणा की जो व्यवस्था की गयी है उसके सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही यह भय प्रकट किया गया है कि केन्द्र का शासक दल राष्ट्रपति के माध्यम से राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों का दमन कर सकता है। अब तक इस प्रकार की शक्ति का जिस रूप में प्रयोग किया गया, उससे भी इस प्रकार के भय की पुष्टि ही होती है।

(4) राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता समाप्त हो जायेगी—संकटकाल में केन्द्रीय कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को व्यापक वित्तीय अधिकार प्रदान किये गये हैं। राष्ट्रपति आर्थिक क्षेत्र में राज्य सरकारों को किसी भी प्रकार का आदेश दे सकता है और श्री इदयनाथ कुंजरू के शब्दों में, “संकटकाल के नाम पर राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता समाप्त की जा सकती है।”

(5) मौलिक अधिकार अर्थहीन हो जायेंगे—संकटकालीन उपबन्धों के विरुद्ध सबसे बड़ी आलोचना यह की जाती है कि ये उपलब्ध संविधान द्वारा प्रदान किये गये मौलिक अधिकारों को समाप्त कर देंगे। अमरीका, इंग्लैण्ड, कनाडा, आयरलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, ऑस्ट्रेलिया, आदि किन्हीं भी देशों के संविधान द्वारा कार्यपालिका को नागरिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताओं को प्रतिबन्धित करने की इतनी व्यापक शक्तियाँ प्रदान नहीं की गयी हैं जितनी कि भारतीय संविधान द्वारा। संविधान सभा के अनेक प्रमुख सदस्यों ने संकटकाल के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों को समाप्त करने की इस व्यवस्था को प्रजातन्त्र के लिए घातक बताया। श्री कामथ और श्री शिव्बन लाल सक्सेना के द्वारा इसे ‘भारतीय संविधान पर एक धब्बा’ कहा गया है। संकटकालीन शक्तियों के पक्ष में तर्क

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संकटकालीन उपबन्धों की जो उपर्युक्त आलोचनाएं की गयी हैं, उनमें सत्य का अंश है; लेकिन इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि ये आलोचनाएं अतिशयोक्तिपूर्ण हैं और इन शक्तियों के पक्ष में व्यावहारिक तर्क दिये जा सकते हैं :

(1) संकटकालीन उपबन्ध विशेष परिस्थितियों के लिए—सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि संविधान के ये उपबन्ध सामान्य परिस्थितियों के लिए नहीं, वरन् केवल विशेष परिस्थितियों के लिए हैं और यह बात निर्विवाद है कि संकटकाल में व्यक्ति की पूर्ण राजभक्ति की अधिकारिणी केन्द्रीय सरकार ही हो सकती है, राज्य सरकारें नहीं। संकटकालीन उपबन्ध संधात्मक व्यवस्था को समाप्त नहीं करते, वरन् केवल सीमित करते हैं और संकटकाल समाप्त हो जाने पर संधात्मक व्यवस्था पुनः अपनी सामान्य स्थिति को प्राप्त कर लेती है।

(2) राष्ट्रपति या अन्य कोई पदाधिकारी तानाशाह नहीं बन सकता—इस आधार पर संकटकालीन उपबन्धों की आलोचना करना कि इसके आधार पर राष्ट्रपति अधिनायक बन जायगा, बाल की खाल निकालना ही है। संसदात्मक शासन-व्यवस्था में कोई भी राष्ट्रपति अधिनायक बनने की बात सोचेगा, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। न ही कोई प्रधानमंत्री या कैबिनेट इन उपबन्धों के आधार पर अधिनायक बनने में सफल हो सकती है। क्योंकि जैसा टी. टी. कृष्णामाचारी ने संविधान सभा में कहा था, “अगर कार्यपालिका अपनी संकटकालीन शक्तियों का दुरुपयोग करती है तो संसद उसे सबक दे सकती है।”

44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा मूल संविधान की व्यवस्था में जो परिवर्तन किये गये हैं, उनसे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या मन्त्रिपरिषद् के तानाशाह बनने की आशंका और भी निराधार हो गयी है।

(3) संकटकाल में नागरिक अधिकारों की अपेक्षा राज्य की सुरक्षा अधिक महत्वपूर्ण—जहां तक संकटकालीन घोषणा के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों के स्थगन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में संविधान-निर्माताओं के सामने व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं राज्य की सुरक्षा तथा राज्य के अन्तर्गत व्यवस्था के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या थी और संकटकाल में मौलिक अधिकारों के स्थगन की व्यवस्था कर एक सन्तुलित मार्ग अपनाने का ही प्रयत्न किया गया है। व्यक्ति की दृष्टि से मौलिक अधिकारों का स्थगन चाहे कितना ही अनुचित क्यों न हो, राज्य की सुरक्षा और व्यवस्था की दृष्टि से संकटकाल में मौलिक अधिकारों का स्थगन कुछ सीमा तक आवश्यक ही है।

(4) सशस्त्र विद्रोह या वितीय संकट की स्थिति भी भयावह—जहां तक युद्ध के कारण उत्पन्न आपात और अन्य परिस्थितियों के कारण उत्पन्न आपात में भेद न करने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सशस्त्र विद्रोह या वितीय संकट की स्थिति भी उतनी ही भयानक हो सकती है जितनी कि युद्ध के कारण उत्पन्न स्थिति।

संविधान में दिये गये इन संकटकालीन उपबन्धों का अरुचिकर प्रतीत होना नितान्त स्वाभाविक है; किन्तु साथ ही यह स्वीकार करना होगा कि संकटकाल के सम्बन्ध में की गयी यह व्यवस्था नवजात राष्ट्र की स्वतन्त्रता, एकता और प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है। टी. टी. कृष्णामाचारी ने संविधान सभा में ठीक ही कहा था कि “संविधान के अन्तर्गत की गयी संकटकालीन व्यवस्था को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करना होगा, क्योंकि इन प्रबन्धों के बिना संविधान निर्माण के हमारे सभी प्रयत्न ही अन्ततः असफल हो जायेंगे।”

यह तथ्य है कि 1975 में लागू किये गये 19^{वां} माह के आपातकाल में आपातकालीन शक्तियों का बहुत अधिक दुरुपयोग किया गया। इस स्थिति को देखकर आपातकालीन शक्तियों के दुरुपयोग पर अंकुश लगाने की आवश्यकता अनुभव की गयी, अतः 44वें संवैधानिक संशोधन (1976) द्वारा ऐसी व्यवस्थाएं की गयी हैं कि भविष्य में शासक वर्ग के द्वारा निजी स्वार्थों की रक्षा के लिए आपातकाल लागू नहीं किया जा सके और आवश्यक होने पर जब आपातकाल लागू किया जाय, तब भी शासक वर्ग द्वारा शक्तियों का मनमाना प्रयोग न किया जा सके।

राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

(ACTUAL POSITION OF THE PRESIDENT)

भारतीय राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति एक बहुत अधिक विवादपूर्ण प्रश्न है और इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो धारणाओं का प्रतिपादन किया जाता है। प्रथम धारणा के अनुसार, राष्ट्रपति एक वास्तविक प्रधान है जिसके द्वारा मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के बिना या परामर्श के विरुद्ध कार्य किया जा सकता है। द्वितीय धारणा के अनुसार राष्ट्रपति एक संवैधानिक प्रधान मात्र है, जिसके द्वारा प्रत्येक कार्य मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही किया जायगा।

1. “These emergency provisions have got to be tolerated as a necessary evil and without these provisions, it is well high possible that all our efforts to frame a constitution may ultimately be jeopardised.”

स्वतन्त्र राष्ट्रपति की धारणा—इस धारणा के विचारकों का कथन है कि संविधान द्वारा राष्ट्रपति को जो शक्तियां प्रदान की गयी हैं, व्यवहार में वह स्वयं अपने विवेक के आधार पर इन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। अनुच्छेद 53(1) में कहा गया है कि “संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा।” इसी प्रकार अनुच्छेद 74(1) में कहा गया है कि “राष्ट्रपति को अपने कार्यों का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।”

इन अनुच्छेदों के आधार पर प्रथम श्रेणी के विचारकों का कथन है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होगा और यदि राष्ट्रपति चाहे तो वास्तविक शासक बन सकता है। डॉ. बी. एम. शर्मा कहते हैं कि अनुच्छेद 53(1) के अनुसार, यदि राष्ट्रपति चाहे तो वास्तविक शासक बन सकता है। इसी प्रकार श्री डी. एन. बनर्जी का कथन है कि “क्या राष्ट्रपति को अनुच्छेद 74(1) के उपबन्ध मानने के लिए बाध्य किया जा सकता है? क्या राष्ट्रपति हर स्थिति में अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा मानने पर बाध्य है? मैं तो कहता हूँ कि ऐसा नहीं है।” ग्लेडहिल ने भी कहा है कि “इस बात की पर्याप्त सम्भावना है कि राष्ट्रपति संविधान का बिना उल्लंघन किये ही तानाशाह बन बैठे।” संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का भी यही मत था। उन्होंने कहा था, “अनुच्छेद 74(1) यह नहीं कहता है कि राष्ट्रपति को मन्त्रियों की मन्त्रणा माननी ही होगी।”

इस पक्ष के प्रतिपादकों का कथन है कि यदि राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रधान ही बनाना था तो राष्ट्रपति को कुछ ऐसी शक्तियां क्यों दी गयीं, जो अध्यक्षात्मक व्यवस्था में पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए, किसी साधारण विधेयक को जो उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया है, वह पुनर्विचार के लिए संसद के पास लौटा सकता है या किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को फिर से विचार के लिए मन्त्रिपरिषद् के सामने रखवा सकता है। जहां तक राष्ट्रपति के लिए ब्रिटिश सम्राट के पद से सम्बन्धित परम्पराओं के पालन का सम्बन्ध है, यह जरूरी नहीं है कि भारत में भी परम्पराओं का विकास उसी दिशा में हो, जिस दिशा में इंग्लैण्ड में हुआ है, क्योंकि परम्पराओं का विकास उस देश की परिस्थितियों, काल, संयोग, मानवीय तत्व और अन्य अनेक बातों पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त, ब्रिटिश सम्राट और भारतीय राष्ट्रपति की स्थिति में आधारभूत अन्तर है, ब्रिटिश सम्राट उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद प्राप्त करता है, लेकिन भारतीय राष्ट्रपति, चाहें परोक्ष रूप से ही सही, निर्वाचित होता है। अतः इस श्रेणी के विचारकों का कथन है कि भारतीय राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा मानने के लिए बाध्य नहीं होगा।

संवैधानिक प्रधान की धारणा—दूसरी ओर अनेक लेखक और विद्वान हैं जो यह मानते हैं कि यद्यपि संविधान राष्ट्रपति को स्पष्ट शब्दों में मन्त्रियों का परामर्श मानने के लिए बाध्य नहीं करता; किन्तु फिर भी संविधान में प्रयुक्त वाक्यांश से स्पष्ट है कि उसे ऐसा करना ही होगा। पालन्दे के अनुसार यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि उसे अपनी शक्तियों का प्रयोग संविधान के अनुसार करना है। इन शब्दों के प्रयुक्त होने का अर्थ यही है कि वह संवैधानिक शासक मात्र रहेगा। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेदकर ने इस सम्बन्ध में कहा था : “राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश संविधान में सम्राट की है। वह राष्ट्र का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, उसका नेतृत्व नहीं। वह साधारणतया

मन्त्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा। वह न तो उनके परामर्श के विरुद्ध कुछ कर सकता है और न उनके परामर्श के बिना ही।" भूतपूर्व प्रधानमन्त्री नेहरू ने भी संविधान सभा में लगभग इन्हीं शब्दों को दोहराते हुए कहा था, "हम सरकार की इस मन्त्रिमण्डलीय विशेषता पर बल देना चाहते हैं कि वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापिका में निहित है न कि राष्ट्रपति में। हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्ति नहीं दी है वरन् हमने उसके पद को सत्ता और प्रतिष्ठा से विभूषित किया है।" संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने भी कहा था, "संविधान में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके कारण राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य हो। फिर भी यह आशा की जाती है कि जैसे इंग्लैण्ड का राजा हमेशा अपने मन्त्रियों की सलाह को मानता है, वैसी ही प्रथा इस देश में भी स्थापित हो जायगी और राष्ट्रपति सब बातों में केवल नाममात्र का शासक रहेगा।"

वास्तव में भारतीय संविधान द्वारा जिस संसदात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना की गयी है, उसके अन्तर्गत राष्ट्रपति एक वास्तविक प्रधान हो ही नहीं सकता। संसदात्मक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, अतः व्यवहार में कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा किया जा सकता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों। व्यवस्थापिका के प्रति कैबिनेट उत्तरदायी होती है, राष्ट्रपति नहीं। अतः स्वाभाविक रूप से शासन की शक्ति का प्रयोग कैबिनेट द्वारा ही किया जा सकता है और राष्ट्रपति केवल एक औपचारिक प्रधान होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पं. नेहरू ने 7 जुलाई, 1959 को दोहराया था कि "हमारा संविधान राष्ट्रपति को इंग्लैण्ड के सम्राट या साम्राज्ञी जैसी स्थिति प्रदान करता है। अगर ऐसा नहीं हो तो मन्त्रिमण्डल और संसद के उत्तरदायित्व के प्रश्न को हानि पहुँचेगी।"

राष्ट्रपति निरंकुश नहीं हो सकता—संविधान की भावना यही प्रतीत होती है कि भारतीय राष्ट्रपति ऊपर से देखने पर चाहे बहुत शक्तिशाली प्रतीत हो, किन्तु उसके पास वास्तविक शक्ति का नितान्त अभाव है। जहां तक भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की परम्पराएँ स्थापित की गयी हैं, राष्ट्रपति कभी भी स्वेच्छाचारी और निरंकुश नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि भारतीय राष्ट्रपति कभी निरंकुश शासक बनेगा। कभी ऐसा अवसर तो आ सकता है जबकि राष्ट्रपति को मन्त्रियों की मन्त्रणा के विरुद्ध आचरण करना आवश्यक जान पड़े; किन्तु यदि राष्ट्रपति जान-बूझकर मन्त्रियों की मन्त्रणा की अवहेलना करेगा तो वे त्यागपत्र दे देंगे, जिसके फलस्वरूप संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो जायगा। यदि मन्त्रिमण्डल के दल का संसद में बहुमत है और यदि उसकी नीतियों को सार्वजनिक समर्थन प्राप्त है तो राष्ट्रपति के लिए त्यागपत्र देने वाले मन्त्रिमण्डल के स्थान पर दूसरे मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना अत्यधिक कठिन होगा। वैसे तो राष्ट्र के सर्वोच्च पद को धारण करने वाले व्यक्ति से इस बात की आशा की जा सकती है कि उसके द्वारा विवेकपूर्ण आचरण किया जायेगा, लेकिन यदि राष्ट्रपति दुराग्रही और अत्यधिक महत्वाकांक्षी हो जाता है, तो फिर उसके विरुद्ध महाभियोग लगाया जा सकता है। यदि राष्ट्रपति किसी अन्य दल का हो और मन्त्रिमण्डल किसी अन्य दल का तो कठिनाइयाँ आ सकती हैं, किन्तु सामान्यतः राष्ट्रपति सदैव संवैधानिक प्रधान बना रहेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

भारतीय संविधान का 50 से अधिक वर्षों का कार्यकरण इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रपति की स्थिति का विकास उचित और वांछनीय दिशा में हुआ है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद,

डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. जाकिर हुसैन, श्री गिरि, श्री फखरुद्दीन अली अहमद और श्री संजीव रेड्डी ने सदैव दलगत राजनीति से ऊपर उठकर निष्पक्ष रूप से संवैधानिक प्रधान के रूप में कार्य किया। राष्ट्रपति जैलसिंह के अन्तिम महीनों, विशेषतया 1987 के प्रथम चार महीनों में राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच कुछ नितान्त अशोभनीय विवादों ने अवश्य जन्म लिया, लेकिन समस्त अटकलों और आशंकाओं के बावजूद व्यवहार में राष्ट्रपति ने अपने पद की मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं किया। भारतीय गणतन्त्र के आठवें राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण और नवें राष्ट्रपति डा. शंकरदयाल शर्मा ने अनिश्चित राजनीतिक स्थिति और राजनीतिक अस्थायित्व की अत्यन्त कठिन और विवादपूर्ण परिस्थितियों में अपने पद की मर्यादाओं को पूर्णतया दृष्टि में रखते हुए संवैधानिक भूमिका का निर्वाह किया। दसवें राष्ट्रपति के. आर. नारायणन ने पूर्व के किसी भी राष्ट्रपति की तुलना में अधिक प्रभावी भूमिका निभाते हुए भी संवैधानिक मर्यादाओं का पूर्णतया पालन किया। आशा की जाती है और यह सोचने का आधार बनता है कि वर्तमान राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम भी इन्हीं स्थितियों को अपनाएंगे। इस प्रकार राष्ट्रपति एक 'गौरवपूर्ण तथा निष्पक्ष' (Dignified and Detached) राज्याध्यक्ष बन गया है।

राष्ट्रपति की भूमिका के सम्बन्ध में राष्ट्रपति वेंकटरमण ने एक अवसर पर टिप्पणी की थी कि "राष्ट्रपति का पद आपातकालीन प्रकाश-व्यवस्था की भांति है। संकट की स्थिति में इसकी भूमिका स्वतः प्रारम्भ हो जाती है और संकट समाप्त हो जाने पर इसकी भूमिका स्वतः समाप्त हो जाती है।"¹

42वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति की स्थिति—संविधान-निर्माता चाहते थे कि भारत का राष्ट्रपति केवल एक वैधानिक प्रधान हो, वास्तविक प्रधान नहीं। लेकिन उन्होंने सोचा कि इस बात को कानून द्वारा निश्चित किये जाने के बजाय परम्परा द्वारा निश्चित होने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। परम्पराएं राष्ट्रपति को एक वैधानिक प्रधान की ही भूमिका दे रही थीं, लेकिन इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की अस्पष्टता को दूर करने के लिए 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान के पुराने अनुच्छेद 74 की धारा 1 के स्थान पर इन शब्दों को रखा गया है :

"राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रिपरिषद् होगी और राष्ट्रपति अपने कार्यों के सम्पादन में मन्त्रिपरिषद् से प्राप्त परामर्श के आधार पर कार्य करेगा।"

42वें संवैधानिक संशोधन के उपर्युक्त शब्दों के स्थान पर 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) में इन शब्दों को अपनाया गया है :

"राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् से जो परामर्श प्राप्त होगा, उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह मन्त्रिपरिषद् को इस परामर्श पर पुनर्विचार करने के लिए कहे, लेकिन पुनर्विचार के बाद मन्त्रिपरिषद् से राष्ट्रपति को जो परामर्श प्राप्त होगा, राष्ट्रपति उस परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।"

¹ "The office of the president is like an emergency light. It comes on automatically when there is a crisis and goes off automatically, when the crisis passes."—R. Venkataraman (Quoted in *The Times of India*, 28 Oct., 1990, p. 12.)

वस्तुतः 44वें संवैधानिक संशोधन में अपनाये गये इन शब्दों का आशय भी लगभग वही है जो 42वें संवैधानिक संशोधन के शब्दों का था। इस प्रकार, अब राष्ट्रपति अपने सभी कार्य मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार करने के लिए बाध्य है।

राष्ट्रपति के पद का महत्व

(IMPORTANCE OF OFFICE OF PRESIDENT)

भारत का राष्ट्रपति केवल एक औपचारिक प्रधान मात्र है, वास्तविक कार्यपालिका शक्ति तो प्रधानमन्त्री और कैबिनेट में निहित है। ऐसी स्थिति में अनेक व्यक्तियों द्वारा राष्ट्रपति पद के महत्व पर शंका की जाती है और वे ऐसा सोचने लगते हैं कि यदि राष्ट्रपति पद को समाप्त कर दिया जाय तो इससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं आयेगा। लेकिन वास्तव में ऐसा सोचना भ्रमपूर्ण है। भारत की संसदात्मक व्यवस्था में राष्ट्रपति के पद का बहुत अधिक महत्व है। राष्ट्रपति पद के महत्व या उपयोगिता का अध्ययन प्रमुखतया निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) राष्ट्र का प्रतीक—सामान्य जनता किन्हीं अमूर्त प्रतीकों की अपेक्षा राष्ट्र के मूर्त प्रतीक पर विश्वास रखने की अभ्यस्त होती है और उसके माध्यम से ही राष्ट्र के प्रति भक्ति रखती है। भारतीय व्यवस्था में ऐसा व्यक्ति राष्ट्रपति ही हो सकता है, क्योंकि वह किसी एक दल या वर्ग का नेता नहीं, वरन् समस्त भारत राष्ट्र का नेता है। राष्ट्रपति भारत राज्य का सर्वोच्च प्रतीक है।

(2) संक्रमण काल में व्यवस्था और स्थायित्व—संसदात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत एक मन्त्रिमण्डल के पतन अथवा त्यागपत्र और दूसरे मन्त्रिमण्डल के निर्माण के बीच समय लग सकता है और इसमें ही राजनीतिक दृष्टि से संक्रमण काल कहा जाता है। ऐसी स्थिति में जबकि लोकसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, तब तो मन्त्रिमण्डल के निर्माण में कठिनाई भी हो सकती है। ऐसी समस्त परिस्थितियों में राष्ट्रपति ही इस बात का निर्णय करता है कि स्थायी मन्त्रिमण्डल का निर्माण किसके नेतृत्व में हो सकेगा और इस दृष्टि से संक्रमण काल में देश के अन्तर्गत व्यवस्था और स्थायित्व बनाये रखने का कार्य भी राष्ट्रपति के द्वारा ही किया जाता है। इस दृष्टि से 1989-91 की राजनीति में राष्ट्रपति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

(3) लोकतन्त्र का प्रहरी—सामान्य परिस्थितियों में राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान मात्र है और वास्तविक शासन का कार्य मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है। लेकिन कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रपति के द्वारा लोकतन्त्र के प्रहरी और रक्षक के रूप में कार्य किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि मन्त्रिमण्डल लोकसभा का विश्वास खो देने पर भी त्यागपत्र नहीं देता तो राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल को पदच्युत भी कर सकता है।

(4) संकटकाल में राष्ट्र का नेतृत्व—संकटकालीन परिस्थितियों में यदि मन्त्रिमण्डल सश्रीय हित के लिए आवश्यक कदम उठाने में असमर्थ रहता है तो राष्ट्रपति उसे ऐसा करने के लिए बाध्य कर सकता है। राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतीक है और संकटकालीन परिस्थितियों में दलगत राजनीति से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों की रक्षा का भार उसी पर है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र का प्रतिनिधि—अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राष्ट्रपति ही भारत का प्रतिनिधित्व करता है।

विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति की भूमिका

सामान्य परिस्थितियों में राष्ट्रपति एक नाम मात्र का प्रधान ही है, लेकिन विशेष परिस्थितियों में वह प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद् पर अंकुश रखने का कार्य कर सकता है। किन्हीं भी कारणों से जब सरकार को केवल एक 'कामचलाऊ सरकार' की स्थिति प्राप्त हो, तब राष्ट्रपति उस सरकार को नीतिगत फैसले लेने से रोक सकता है या निर्देश दे सकता है। 1979 में नीलम संजीव रेड्डी, 1991 में आर. वेंकटरमण और 1996 में राष्ट्रपति डॉ. शर्मा ऐसा कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में 1997 और 1998 के उदाहरण तो बहुत महत्वपूर्ण हैं। अक्टूबर, 1997 में जब केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने का परामर्श राष्ट्रपति को दिया और सितम्बर 1998 में जब बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने का परामर्श दिया, तब इन दोनों ही अवसरों पर राष्ट्रपति ने 44वें संवैधानिक संशोधन को आधार बनाकर मन्त्रिमण्डल को इस परामर्श पर पुनर्विचार करने के लिए कहा और मन्त्रिमण्डल ने अपने पूर्व परामर्श पर पुनर्विचार करते हुए उसे वापस ले लिया। इस प्रकार राष्ट्रपति ने 'असाधारण वस्तुनिष्ठता और परम ईमानदारी का परिचय' देकर संविधान के सच्चे संरक्षक की भूमिका का निर्वाह किया।¹ राष्ट्रपति के. आर. नारायणन ने एक वर्ष के भीतर दूसरी बार दो टूक अन्दाज में बता दिया है कि वे रबड़ स्टाम्प बनने को तैयार नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त जब कभी प्रधानमन्त्री पद के लिए एक से अधिक दावेदार होते हैं, जैसा कि 1979 ई. में और 1996 ई. में हुआ, तब राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री के चयन में अपने विवेक का प्रयोग करना होता है। राष्ट्रपति की भूमिका; उसकी वास्तविक स्थिति और उसके पद के महत्व के सम्बन्ध में आर. वेंकटरमण का यह विचार नितान्त उचित है, "राष्ट्रपति का महत्व आपात्कालीन प्रकाश-व्यवस्था की भांति है। संकट की स्थिति में इसकी भूमिका स्वतः प्रारम्भ हो जाती है और संकट समाप्त हो जाने पर इसकी भूमिका स्वतः समाप्त हो जाती है।"

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रपति 'भारतीय राजव्यवस्था का पांचवां पहिया नहीं है' अर्थात् राष्ट्रपति का पद व्यर्थ का पद नहीं है। राष्ट्रपति भारतीय संविधान और शासन की व्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक अंग है; लेकिन इस सबके बावजूद राष्ट्रपति की राजनीतिक सक्रियता की स्पष्ट सीमाएं हैं और सामान्यतया, राष्ट्रपति समस्त राजनीतिक व्यवस्था के एक नैतिक बिन्दु की तरह ही कार्य कर सकता है।

उपराष्ट्रपति

(VICE-PRESIDENT)

भारतीय संविधान के 63वें अनुच्छेद में उपराष्ट्रपति के पद की व्यवस्था की गयी है। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में होता है और यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत से तथा गुप्त मतदान द्वारा होता है। इस पद के उम्मीदवार में निम्नलिखित योग्यताएं होनी आवश्यक हैं : (1) वह भारत का नागरिक हो; (2) उसकी आयु कम-से-कम 35 वर्ष हो; (3) उसमें वे सब योग्यताएं पायी जायें, जो संविधान द्वारा राज्यसभा के सदस्यों के लिए निश्चित की गयी हैं।

उपराष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष होता है किन्तु वह स्वेच्छा से त्यागपत्र द्वारा इस अवधि के पूर्व भी अपना पद छोड़ सकता है अथवा उसे राज्यसभा के कुल बहुमत द्वारा पास किये

¹ *Mainstream*, Editorial, 25 Oct., 1997.

गये प्रस्ताव से जिसे लोकसभा भी स्वीकार कर ले, पदच्युत भी किया जा सकता है। ऐसे प्रस्ताव की सूचना 14 दिन पूर्व दी जानी आवश्यक है। उपराष्ट्रपति अपने पद पर तब तक आसीन रहेगा, जब तक कि उसका उत्तराधिकारी उसके पद को न संभाल ले। भारत में उपराष्ट्रपति केवल अस्थायी रूप से ही राष्ट्रपति पद को धारण करता है। स्थायी राष्ट्रपति का चुनाव यथासम्भव शीघ्र ही होना आवश्यक है। 4 अगस्त, 1998 को एक संशोधन विधेयक पारित कर उपराष्ट्रपति का वेतन 40,000 रुपये प्रति माह कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त उन्हें 1,000 रुपये मासिक भत्ता और केन्द्रीय मन्त्रियों को मिलने वाली अन्य सुविधाएं प्राप्त होती हैं। इसके पूर्व 1997 में अधिनियम पारित कर उपराष्ट्रपति के लिये भी पेन्शन तथा अन्य सुविधाओं का प्रावधान किया गया है। उन्हें 20,000 रुपये प्रति माह पेन्शन तथा 12,000 रुपये प्रति वर्ष कार्यालय व्यय के रूप में प्राप्त होगा।

उपराष्ट्रपति के कार्य—उपराष्ट्रपति के कार्य दो हैं : प्रथम, संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान की भांति हमारे संविधान में भी व्यवस्था है कि उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। इस रूप में उसे सदन के सभापति की सभी साधारण शक्तियां प्राप्त होती हैं; जिनमें यह भी सम्मिलित है कि किसी विधेयक या प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में समान मत आने पर वह अपना निर्णायक मत दे। द्वितीय, यदि कभी राष्ट्रपति रोग अथवा अनुपस्थिति के कारण अस्थायी रूप में अपने कर्तव्यों को पूरा करने में असमर्थ हो तो उपराष्ट्रपति ही उसके स्थान पर कार्य करेगा। जिस काल में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति पद पर कार्य करेगा, उसे वे ही उपलब्धियां और भत्ते प्राप्त होंगे, जिनका राष्ट्रपति अधिकारी है।

प्रश्न

1. नये संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को क्या शक्तियां प्राप्त हैं? उनका भारतीय शासन में क्या महत्व है?
2. भारत के राष्ट्रपति का चुनाव कैसे होता है? उनकी सामान्य और संकटकालीन शक्तियां क्या हैं? क्या वह तानाशाह बन सकता है?
3. भारत के राष्ट्रपति के चुनाव की पद्धति का वर्णन कीजिए। उसे अपने पद से कैसे हटाया जा सकता है?
4. भारत में राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का वर्णन कीजिए तथा उन पर एक संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणी दीजिए।
5. भारत में आपातकाल की घोषणा किन परिस्थितियों में की जाती है? इस घोषणा के क्या परिणाम होते हैं?
6. भारत के राष्ट्रपति की चुनाव प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति पद का क्या महत्व है?
7. भारत के राष्ट्रपति के अधिकार और शक्तियों का वर्णन कीजिए।

6

संघीय कार्यपालिका : प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद्

(UNION EXECUTIVE : PRIME MINISTER AND THE COUNCIL OF MINISTERS)

संघीय मन्त्रिपरिषद्

(THE UNION COUNCIL OF MINISTERS)

मूल संविधान के अनुच्छेद 74 में उपबन्धित है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।" सैद्धान्तिक रूप से भारतीय संविधान द्वारा समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित मानी गयी है और राष्ट्रपति को सहायता तथा परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था की गयी है लेकिन संविधान द्वारा अपनायी गयी संसदात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवहार में राष्ट्रपति एक संवैधानिक शासक-मात्र है और वास्तविक रूप से कार्यपालिका की समस्त सत्ता 'सहायता और परामर्श देने वाली इस समिति', मन्त्रिपरिषद् में निहित होती है। राष्ट्रपति के नाम पर शासन की समस्त शक्तियों का उपयोग मन्त्रिपरिषद् के द्वारा ही किया जाता है।

मन्त्रिपरिषद् की रचना या नियुक्ति

(COMPOSITION OR APPOINTMENT OF THE COUNCIL OF MINISTERS)

मन्त्रिपरिषद् की रचना एक जटिल प्रश्न है, जिसमें कुछ सैद्धान्तिक तथा अनेक व्यावहारिक प्रश्न निहित हैं। मन्त्रिपरिषद् की रचना के विभिन्न चरण हैं :

(1) प्रधानमन्त्री की नियुक्ति—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 75 के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री के परामर्श से की जायगी। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता है लेकिन व्यवहार में इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति की शक्ति बहुत अधिक सीमित है। राष्ट्रपति अनिवार्यता लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करता है। लेकिन कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में अपने विवेक से कार्य करने का अवसर मिल सकता है। प्रथम परिस्थिति उस समय उत्पन्न होती है जबकि लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो। द्वितीय स्थिति उस समय उत्पन्न हो सकती है जबकि बहुमत वाले दल में कोई निश्चित नेता न रहे या दो समान रूप से प्रभावशाली नेता हों। तृतीय स्थिति उस समय उत्पन्न हो सकती है जबकि राष्ट्रपति लोकसभा भंग कर

कुछ समय के लिए किसी को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दे। व्यवहार में भारतीय गणतन्त्र के संवैधानिक इतिहास के प्रथम 53 वर्षों में चार बार (मोरारजी देसाई के त्याग-पत्र के बाद चरणसिंह का चयन; 31 अक्टूबर, 1984 को श्रीमती गांधी की मृत्यु के बाद राजीव गांधी का चयन और नवम्बर, 1990 में वी. पी. सिंह के त्याग-पत्र के बाद प्रधानमन्त्री पद के लिए चन्द्रशेखर का और ग्यारहवीं लोकसभा के चुनाव के बाद अटल बिहारी वाजपेयी का चयन) ऐसी स्थिति आई, जबकि प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति ने अपने विवेक का प्रयोग किया।

(2) प्रधानमन्त्री द्वारा मन्त्रियों का चयन—अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में संवैधानिक स्थिति यह है कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की राय से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा, लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है। यदि मन्त्रियों की नियुक्ति में राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श को न माने, तो प्रधानमन्त्री स्वयं त्याग-पत्र देकर संवैधानिक संकट उपस्थित कर सकता है। लेकिन व्यवहार में मन्त्रियों का चयन करते समय प्रधानमन्त्री को कई बातों का ध्यान रखना होता है :

(i) पं. नेहरू के द्वारा अपनी पहली मन्त्रिपरिषद् में कांग्रेस दल के अलावा अन्य दलों के नेताओं को भी लिया गया था, लेकिन इस सम्बन्ध में अनुभव अच्छा नहीं रहा और उसके बाद से प्रधानमन्त्री के द्वारा मन्त्रिपरिषद् का निर्माण अपने राजनीतिक दल से ही किया जाता है।

(ii) प्रधानमन्त्री अपने दल के विभिन्न सदस्यों की स्थिति को ध्यान में रखता है और सामान्यतया दल के बहुत अधिक महत्वपूर्ण सदस्यों को मन्त्रिपरिषद् में स्थान दिया जाता है।

(iii) मन्त्रिपरिषद् में राष्ट्र के विभिन्न समुदायों और भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व देने की चेष्टा की जाती है।

(iv) संसद के दोनों सदनों को उचित प्रतिनिधित्व तथा विभिन्न वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व देने का प्रयत्न किया जाता है।

(v) मन्त्रिपरिषद् में ऐसे सदस्यों को लिया जाता है जो प्रधानमन्त्री के विश्वासपात्र हों और प्रधानमन्त्री के नेतृत्व को प्रसन्नता के साथ स्वीकार करें।

(vi) यद्यपि कानूनी तौर पर मन्त्री पद के लिए कोई योग्यताएं निश्चित नहीं हैं, लेकिन व्यवहार में प्रधानमन्त्री ऐसे योग्य व्यक्तियों को ही इस पद पर नियुक्त करता है जो मन्त्री पद और संसदीय कार्य से सम्बन्धित दायित्वों को भली-भांति निभा सकें और अपने विभाग का प्रशासन चला सकें।

(vii) प्रधानमन्त्री के द्वारा किन्हीं ऐसे योग्य व्यक्तियों को भी मन्त्रिपरिषद् में लिया जा सकता है, जो किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध न हों। ऐसा तभी किया जायगा जबकि उन्हें बहुमत दल की सामान्य नीति में विश्वास और प्रधानमन्त्री में निष्ठा हो। नरसिम्हा राव मन्त्रिमण्डल में वित्त मन्त्री मनमोहन सिंह और वाजपेयी मन्त्रिमण्डल में विनिवेश मन्त्री अरुण शौरी की नियुक्ति इस श्रेणी में आती है।

(3) मन्त्रिपरिषद् की सदस्य संख्या—मूल संविधान द्वारा मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई थी, लेकिन अब 91वें संवैधानिक संशोधन (2003 ई.) के आधार पर व्यवस्था की गई है कि प्रधानमन्त्री सहित मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती।

(4) मन्त्रियों में कार्य विभाजन—मन्त्रिपरिषद् के गठन के बाद प्रधानमन्त्री के द्वारा इससे अधिक कठिन कार्य उनके बीच विभागों के विभाजन का किया जाता है। वैधानिक दृष्टि से इस सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री को पूर्ण शक्ति प्राप्त है, लेकिन व्यवहार में विभागों का वितरण करते हुए प्रधानमन्त्री को कई बातों का ध्यान रखना होता है। एक मन्त्री के अन्तर्गत प्रायः एक ही विभाग किन्तु कभी-कभी एक से अधिक विभाग रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर नये विभागों का निर्माण भी कर लिया जाता है। मन्त्री को उसके कार्य में सहायता देने के लिए राजमन्त्री, उपमन्त्री, संसदीय सचिव तथा अतिरिक्त सचिव, उपसचिव, आदि के रूप में स्थायी पदाधिकारी रहते हैं।

(5) मन्त्रियों के लिए आवश्यक योग्यताएँ—मन्त्रिपरिषद् का सदस्य बनने के लिए कानूनी दृष्टि से यह आवश्यक है कि व्यक्ति संसद के किसी सदन का सदस्य हो। यदि कोई व्यक्ति मन्त्री बनते समय संसद सदस्य नहीं है तो उसे 6 महीने के अन्दर-अन्दर संसद सदस्य बनना अनिवार्य है। यदि वह ऐसा करने में असफल रहता है तो उसे अपना पद छोड़ना होगा। जुलाई 1993 में श्री प्रणव मुखर्जी को मन्त्री पद से इसी कारण त्यागपत्र देना पड़ा। व्यावहारिक दृष्टि से अन्य योग्यताओं पर प्रधानमन्त्री द्वारा विचार किया जाता है।

(6) मन्त्रियों द्वारा शपथ ग्रहण—पद ग्रहण करने के पूर्व प्रधानमन्त्री सहित प्रत्येक मन्त्री को राष्ट्रपति के सामने पद और गोपनीयता की दो शपथ लेनी होती है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं :

पद की शपथ—“मैं..... ईश्वर की शपथ लेता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ

के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, संघ के मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक तथा अन्तःकरण से पालन करूंगा तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार न्याय करूंगा।”

गोपनीयता की शपथ—“मैं..... ईश्वर की शपथ लेता हूँ कि जो विषय संघीय सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ

मन्त्री के रूप में मेरे विचार के लिए लाया जायगा, अथवा मुझे ज्ञात होगा, उसे किसी व्यक्ति या शक्तियों को उस अवस्था में छोड़कर जबकि मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों के उचित निर्वहन के लिए ऐसा करना अपेक्षित हो, अन्य अवस्था में मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सूचित या प्रकट नहीं करूंगा।”

(7) मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल—मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। मन्त्रिपरिषद् तभी तक अपने पद पर रहती है जब तक कि उसे संसद का विश्वास प्राप्त हो। मन्त्रिपरिषद् अधिक-से-अधिक लोकसभा के कार्यकाल तक, जो कि सामान्यतया 5 वर्ष होता है, अपने पद पर बनी रहती है। व्यक्तिगत रूप से किसी मन्त्री का कार्यकाल प्रधानमन्त्री के उसके प्रति विश्वास पर निर्भर करता है।

(8) मन्त्रियों की श्रेणियाँ (मन्त्रिपरिषद् तथा मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट)—मन्त्रियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं—मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट के सदस्य, राज्यमन्त्री तथा उपमन्त्री। प्रथम श्रेणी के मन्त्री कैबिनेट के सदस्य होते हैं जो कि भारत की संसदात्मक व्यवस्था में प्रशासन की सर्वोच्च इकाई है। कैबिनेट के सदस्य एक या अधिक विभागों के प्रधान होते हैं।

दूसरी श्रेणी में राज्यमन्त्री आते हैं जिनकी स्थिति पूर्ण मन्त्री तथा उपमन्त्री के बीच की होती है। ये विशेष विभागों से सम्बन्धित रहते हैं और कभी-कभी उनके द्वारा विभाग के स्वतन्त्र प्रधान के रूप में भी कार्य किया जाता है। प्रधानमन्त्री द्वारा इस श्रेणी के मन्त्रियों को कैबिनेट की उन बैठकों में आमन्त्रित किया जाता है, जिनमें उनके विभाग से सम्बन्धित प्रश्न विचाराधीन होते हैं।

राज्यमन्त्री के बाद उपमन्त्रियों की श्रेणी आती है जो किसी ज्येष्ठ मन्त्री के आधीन रहते हुए उस मन्त्री की सहायता करते हैं।

उपर्युक्त तीन श्रेणियों के मन्त्रियों को सामूहिक रूप से मन्त्रिपरिषद् के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् एक बृहत् संस्था है जिसमें सभी श्रेणियों के मन्त्री सम्मिलित रहते हैं। लेकिन कैबिनेट मन्त्रिपरिषद् के अन्तर्गत एक छोटा-सा समूह होता है जिसमें केवल प्रथम श्रेणी के मन्त्री होते हैं जो विभिन्न विभागों के प्रधान होते हैं और जिनके द्वारा सामूहिक रूप से सम्पूर्ण प्रशासनिक नीति का निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार कैबिनेट का प्रत्येक सदस्य मन्त्रिपरिषद् का सदस्य होता है। कैबिनेट एक ऐसी संगठित इकाई है जिसके सदस्य मन्त्रिपरिषद् के केवल कुछ ही सदस्य होते हैं। कैबिनेट मन्त्रिपरिषद् की आन्तरिक समिति के रूप में है, यह मन्त्रिपरिषद् का भीतरी चक्र है।

(9) सामूहिक उत्तरदायित्व—मन्त्रिमण्डलीय व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त मन्त्रिमण्डल का संसद के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व है। मन्त्रिगण व्यक्तिगत रूप से तो संसद के प्रति उत्तरदायी होते ही हैं, इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से प्रशासनिक नीति और समस्त प्रशासनिक कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सामूहिक उत्तरदायित्व के इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में कार्य करता है और सभी मन्त्री एक-दूसरे के निर्णय तथा कार्य के लिए उत्तरदायी हैं। जिस समय मन्त्रिमण्डल किसी नीति पर विचार कर रहा होता है, उस समय विभिन्न विभागों के मन्त्री गोपनीय रूप से अपने विचार प्रकट करते हुए एक-दूसरे का विरोध कर सकते हैं। परन्तु बहुमत से जब नीति निर्धारित हो जाती है तो सभी मन्त्री उसका समर्थन करते हैं। यदि मन्त्रिमण्डल का कोई सदस्य निर्धारित नीति से सहमत नहीं है तो उसके द्वारा मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया जाना चाहिए। प्रधानमन्त्री सामूहिक उत्तरदायित्व का उल्लंघन करने वाले मन्त्री को मन्त्रिमण्डल से हटाने के लिए राष्ट्रपति से सिफारिश कर सकता है। यदि लोकसभा किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करे अथवा उस विभाग से सम्बन्धित विधेयक को रद्द कर दे तो समस्त मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है। लॉर्ड मार्ले की भाषा में, “मन्त्रिमण्डल के सदस्य एक ही साथ तैरते और एक ही साथ डूबते हैं।” यही सामूहिक उत्तरदायित्व का सार है। सामूहिक उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल को एक संगठित शक्ति का रूप प्रदान करता है और इस आधार पर राष्ट्रपति तथा संसद के सम्मुख मन्त्रिमण्डल की स्थिति बहुत अधिक सुदृढ़ हो जाती है।

मन्त्रिपरिषद् की कार्य-विधि

मन्त्रिपरिषद् की सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई मन्त्रिमण्डल है और सभी महत्वपूर्ण मामलों पर विचार और निर्णय का कार्य मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिमण्डल की बैठक सामान्यतया सप्ताह में एक बार होती है, इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री जब चाहे तब इसकी बैठक बुला सकता है। इन बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमन्त्री द्वारा की

जाती है और इसकी अनुपस्थिति में मन्त्रिमण्डल का सबसे वरिष्ठ सदस्य अध्यक्षता करता है। बैठक की कोई 'गणपूर्ति' (कोरम) नहीं होती है।

मन्त्रिमण्डल की कार्यप्रणाली के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं : सामूहिक उत्तरदायित्व और गोपनीयता। बजट के सम्बन्ध में गोपनीयता के नियम का विशेष कड़ाई के साथ पालन किया जाता है। मन्त्रिमण्डल अपना कार्य सुचारु रूप से कर सके, इसके लिए 'मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय' (Cabinet Secretariat) की व्यवस्था की गयी है।

मन्त्रिमण्डल की शक्तियाँ और कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE CABINET)

संविधान के अनुच्छेद 75 में कहा गया है कि "मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्श देगा।" किन्तु यह परम्परागत शब्दावली है और जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, मन्त्रिमण्डल भारतीय शासन-व्यवस्था की सर्वोच्च इकाई है और उसके द्वारा समस्त शासन-व्यवस्था का संचालन किया जाता है। वास्तव में, राष्ट्रपति की समस्त शक्तियों का उपयोग मन्त्रिमण्डल द्वारा ही किया जाता है और इसे 'भारतीय शासन-व्यवस्था का हृदय' कहा जा सकता है।

भारत में ब्रिटेन जैसी ही संसदात्मक शासन-व्यवस्था है, इसलिए ब्रिटिश कैबिनेट के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह भारतीय कैबिनेट या मन्त्रिमण्डल पर भी पूर्ण रूप से लागू होता है। ब्रिटिश कैबिनेट के सम्बन्ध में लाबेल लिखते हैं कि "कैबिनेट राजनीतिक भवन की आधारशिला है।" सर जॉन मैरियट के अनुसार, "कैबिनेट वह धुरी है, जिसके चारों ओर समस्त राजनीतिक यन्त्र घूमता है।"

(1) राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना—मन्त्रिमण्डल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना है। मन्त्रिमण्डल यह निश्चित करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रशासन के विभिन्न विभागों द्वारा और वैदेशिक क्षेत्र में दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध के विषय में किस प्रकार की नीति अपनायी जायगी। मन्त्रिमण्डल द्वारा अपनायी गयी नीति के आधार पर ही समस्त प्रशासनिक व्यवस्था चलती है।

(2) कानून निर्माण पर नियन्त्रण—संसदात्मक व्यवस्था होने के कारण मन्त्रिमण्डल का कार्यक्षेत्र नीति निर्धारण तक ही सीमित नहीं है वरन् इसके द्वारा कानून निर्माण के कार्य का भी नेतृत्व किया जाता है। मन्त्रिमण्डल द्वारा नीति निर्धारित कर दिये जाने के बाद उसके द्वारा ही विधि निर्माण का कार्यक्रम निश्चित किया जाता है और मन्त्रिमण्डल के सदस्य ही महत्वपूर्ण विधेयक सदन में प्रस्तावित करते हैं। वर्तमान समय में मन्त्रिमण्डल कानून निर्माण कार्य में इतने अधिक प्रमुख रूप में भाग लेता है कि इसे देखते हुए यदि यह कहा जाय कि संसद की सलाह से मन्त्रिमण्डल ही कानून निर्माण करता है, तो अनुचित न होगा। अध्यादेश जारी करने व प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण तो मन्त्रिमण्डल की कानून निर्माण की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है।

(3) राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियन्त्रण—सैद्धान्तिक दृष्टि से संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में है लेकिन व्यवहार में इस प्रकार की समस्त

1 शक्तियाँ और कार्य के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिपरिषद् में कोई अन्तर नहीं है।

2 "The Cabinet is the key-stone of the political arch."

3 "Cabinet is the pivot round which whole political machinery revolve."
—Sir John Marriot

कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिमण्डल में विभिन्न विभाग के अध्यक्ष होते हैं। वे अपने विभागों का संचालन करते और उनके कार्यों की देखभाल करते हैं। मन्त्रिमण्डल ही आन्तरिक प्रशासन का संचालन करता है और देश की समस्त प्रशासनिक व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

(4) मन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य—प्रशासनिक सुविधा के लिए सरकार को विभिन्न विभागों में विभाजित कर दिया जाता है लेकिन इन विभागों में विभाजित होने पर भी सरकार में एक प्रकार की आंगिक एकता पायी जाती है और सुशासन के लिए प्रशासन के विभिन्न विभागों में समन्वय नितान्त आवश्यक होता है। विभिन्न विभागों में इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिमण्डल विभिन्न विभागों को अधिकाधिक पारस्परिक सहयोग के लिए प्रेरित करता है। इसी उद्देश्य से मन्त्रिमण्डलीय समितियों की स्थापना की जाती है।

(5) वित्तीय कार्य—देश की आर्थिक नीति निर्धारित करने का उत्तरदायित्व भी मन्त्रिपरिषद् का ही होता है। इस हेतु उसके द्वारा प्रत्येक वर्ष संसद के सम्मुख देश की सम्भावित आय-व्यय का ब्यौरा (बजट) प्रस्तुत किया जाता है। बजट मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के आधार पर ही वित्तमन्त्री तैयार करता है और वही उसे लोकसभा में प्रस्तुत करता है। अन्य समस्त वित्त विधेयकों को भी मन्त्रिमण्डल ही लोकसभा में प्रस्तुत करता है।

(6) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन—भारत के वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है। इसके द्वारा युद्ध तथा शान्ति सम्बन्धी घोषणाएं की जाती हैं और इस बात का निर्णय किया जाता है कि दूसरे देशों के साथ किस प्रकार के सन्धि सम्बन्ध स्थापित किये जायें। मन्त्रिमण्डल समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार कर आवश्यक निर्णय लेता है।

(7) नियुक्ति सम्बन्धी कार्य—संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन पदाधिकारियों को नियुक्त करने की शक्ति प्रदान की गयी है, व्यवहार में इन पदाधिकारियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही की जाती है। मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही संसद के दोनों सदनों के मनोनीत सदस्य नियुक्त किये जाते हैं। राज्यों के राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, महाधिवक्ता, महालेखा परीक्षक और सेना के सेनापतियों की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही की जाती है।

(8) अन्य कार्य—उपर्युक्त के अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल के द्वारा कुछ अन्य कार्य भी किये जाते हैं, जैसे :

(i) अपराधियों को क्षमा प्रदान करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सिफारिश करना।

(ii) भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्मश्री आदि उपाधियां प्रदान करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सिफारिश करना।

वास्तव में मन्त्रिमण्डल के कार्य एवं उनकी शक्तियां बहुत अधिक व्यापक होती हैं और देश की समस्त राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था पर उसका अधिकार होता है।

प्रधानमन्त्री

(PRIME MINISTER)

ब्रिटिश संविधान में प्रधानमन्त्री का पद परम्परा पर आधारित है, लेकिन भारत में प्रधानमन्त्री के पद को संविधान द्वारा मान्यता प्रदान की गयी है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 74 प्रधानमन्त्री पद की व्यवस्था करता है।

प्रधानमन्त्री की नियुक्ति—संविधान में उपबन्धित है कि प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा, लेकिन व्यवहार में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की शक्ति नगण्य है। संसदात्मक प्रणाली के मूलभूत सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रपति लोकसभा के बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त करने के लिए बाध्य है। फिर भी कुछ ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं, जिनमें राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में विवेक का प्रयोग कर सके। यद्यपि संविधान के अनुसार भारत में संसद के किसी भी सदन का सदस्य प्रधानमन्त्री हो सकता है और श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रथम बार प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के समय राज्य सभा की ही सदस्य थीं तथा पी. वी. नरसिम्हा राव और एच. डी. देवगौड़ा प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करते समय संसद के किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे फिर भी अधिक उपयुक्त यही है कि प्रधानमन्त्री लोकसभा का सदस्य हो अथवा प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के बाद वह लोकसभा की सदस्यता प्राप्त करे। विधान के अनुसार तो कोई व्यक्ति 6 महीने तक संसद का सदस्य बने बिना ही प्रधानमन्त्री पद पर आसीन रह सकता है लेकिन मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है कि प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रिगण संसद के सदस्य अवश्य हों। प्रधानमन्त्री के लिए लोकसभा का सदस्य होना अधिक उपयुक्त होगा।

उप-प्रधानमन्त्री पद—भारत में समय-समय पर उप-प्रधानमन्त्री पद की व्यवस्था भी की गयी है। सर्वप्रथम तो 1947-50 के काल में उप-प्रधानमन्त्री पद की व्यवस्था की गयी थी जबकि पं. नेहरू प्रधानमन्त्री और सरदार पटेल उप-प्रधानमन्त्री थे। दिसम्बर, 1950 में सरदार पटेल की मृत्यु के साथ ही उप-प्रधानमन्त्री पद समाप्त हो गया। उसके बाद चौथे आम चुनाव के बाद 1967-69 के काल में उप-प्रधानमन्त्री पद की व्यवस्था की गयी, जब श्रीमती गांधी प्रधानमन्त्री और श्री मोरारजी देसाई उप-प्रधानमन्त्री थे। अगस्त, 1969 में श्री देसाई के पद त्याग के साथ ही उप-प्रधानमन्त्री पद समाप्त हो गया। इसके उपरान्त जनवरी, 1979 में उप-प्रधानमन्त्री पद की व्यवस्था की गयी और दो उप-प्रधानमन्त्री बनाये गये—श्री चरणसिंह और श्री जगजीवनराम। उप-प्रधानमन्त्री पद को मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की तुलना में कोई विशेष शक्तियां प्राप्त नहीं हैं। 1989 और 1991 में वी. पी. सिंह मन्त्रिमण्डल और चन्द्रशेखर मन्त्रिमण्डल में श्री देवीलाल उप-प्रधानमन्त्री पद पर आसीन रहे। 2002 ई. में वाजपेयी मन्त्रिमण्डल में लालकृष्ण आडवाणी को उप प्रधानमन्त्री बनाया गया है। उप-प्रधानमन्त्री पद का संविधान में कोई उल्लेख नहीं है, यह तो व्यावहारिक राजनीतिक सुविधा का परिणाम है। अतः उप-प्रधानमन्त्री को भी मन्त्री के रूप में ही शपथ लेनी होती है। उप-प्रधानमन्त्री पद को मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों की तुलना में कोई भी विशेष शक्ति प्राप्त नहीं है।

प्रधानमन्त्री के कार्य और शक्तियां अथवा अधिकार (FUNCTIONS AND POWERS OF THE PRIME MINISTER)

संसदात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री ही संविधान भवन रूपी वृत्तखण्ड की मुख्य शिला होती है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के सम्बन्ध में ग्रीब्स का कथन है कि "उसकी शक्तियां किसी एकाधिकारपूर्ण सम्राट से कम नहीं हैं।" और रेन्जे म्योर लिखते हैं कि "उसको इतनी अधिक शक्तियां प्राप्त हैं जो विश्व के किसी भी संवैधानिक प्रधान को प्राप्त नहीं हैं, यहां

तक कि अमरीका के राष्ट्रपति को भी नहीं हैं।” ग्रीब्ज और रैन्जे म्योर के कथन भारतीय प्रधानमन्त्री पर भी पूर्णरूप से लागू होते हैं।

वर्तमान समय में ब्रिटेन और भारत जैसे देशों में प्रधानमन्त्री की शक्तियाँ इतनी अधिक बढ़ गयी हैं कि कुछ लोगों के अनुसार इन देशों की शासन-व्यवस्था को ‘संसदीय शासन’ या ‘मन्त्रिमण्डलात्मक शासन’ नहीं, बरन् प्रधानमन्त्री का शासन (Prime-Ministerial Govt.) कहा जाना चाहिए। भारतीय शासन को ‘प्रधानमन्त्री का शासन’ कहा जाय या नहीं, इस पर विवाद किया जा सकता है; लेकिन यह तथ्य है कि व्यावहारिक रूप में भारत का प्रधानमन्त्री शासन का सर्वोच्च प्रधान है। प्रधानमन्त्री के कार्य तथा शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) मन्त्रिपरिषद् का निर्माण—अपना पद ग्रहण करने के बाद प्रधानमन्त्री का सर्वप्रथम कार्य मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करना होता है। अपने साथियों को चुनने के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री को पर्याप्त छूट रहती है। प्रधानमन्त्री ही निर्णय करता है कि मन्त्रिपरिषद् में कितने मन्त्री हों और कौन-कौन मन्त्री हों। प्रधानमन्त्री यदि चाहे तो अपने राजनीतिक दल और संसद के बाहर से किन्हीं व्यक्तियों को भी मन्त्रिपरिषद् में शामिल कर सकता है।

(2) मन्त्रियों में विभागों का बंटवारा और परिवर्तन—मन्त्रियों में विभागों का बंटवारा करते समय भी प्रधानमन्त्री स्वविवेक के अनुसार ही कार्य करता है और प्रधानमन्त्री द्वारा किये गये अन्तिम विभाग वितरण पर साधारणतया कोई आपत्ति नहीं की जाती है। अपने साथियों में एक बार विभाग वितरण कर चुकने के बाद भी प्रधानमन्त्री पदों में जब चाहे और जिस प्रकार चाहे परिवर्तन कर सकता है। उसका यह अधिकार और कर्तव्य है कि वह किसी ऐसे मन्त्री से त्याग-पत्र देने के लिए कह दे, जिसकी उपस्थिति से मन्त्रिमण्डल की ईमानदारी, कार्यकुशलता या शासन की नीति पर आघात पहुंचता हो। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के पालन हेतु प्रधानमन्त्री को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त होना नितान्त आवश्यक है। जुलाई 1969 में कांग्रेस में तीव्र मतभेद उत्पन्न होने पर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा अपने मन्त्रिमण्डल में जिस प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये और उसके बाद 1970, 1972, 1974, 1975, 1980-81, 1982, 1988, 1990 और 1995 में तथा उसके बाद भी प्रधानमन्त्री द्वारा मन्त्रिमण्डल के जो पुनर्गठन किये गये, उससे यह नितान्त स्पष्ट है कि प्रधानमन्त्री को मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन का पूर्ण अधिकार होता है। मन्त्रिपरिषद् का अन्त भी प्रधानमन्त्री की इच्छा पर ही निर्भर करता है। संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री के त्यागपत्र को सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् का त्यागपत्र समझा जाता है। इस प्रकार, जैसा कि लास्की ने कहा है, “मन्त्रिपरिषद् के निर्माण, उसके कार्य-संचालन तथा अन्त में प्रधानमन्त्री को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त होती है।”

(3) मन्त्रिपरिषद् का कार्य-संचालन—प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापतित्व और मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही का संचालन करता है। मन्त्रिपरिषद् की बैठक में उन्हीं विषयों पर विचार किया जाता है जिन्हें प्रधानमन्त्री ‘एजेण्डा’ (Agenda) में रखे। यद्यपि मन्त्रिपरिषद् में विभिन्न बातों का निर्णय पारस्परिक सहमति के आधार पर किया जाता है, लेकिन व्यवहार में सामान्यतया प्रधानमन्त्री का परामर्श ही निर्णायक होता है।

(4) शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय—प्रधानमन्त्री शासन के समस्त विभागों में समन्वय स्थापित करता है जिससे कि समस्त शासन एक इकाई के रूप में कार्य कर सके।

इस उद्देश्य से उसके द्वारा विभिन्न विभागों को निर्देश दिये जा सकते हैं और मन्त्रियों के विभागों तथा कार्यों में हस्तक्षेप किया जा सकता है।

(5) लोकसभा का नेता—प्रधानमन्त्री संसद का, मुख्यतया लोकसभा का नेता होता है और कानून निर्माण के समस्त कार्य में प्रधानमन्त्री ही नेतृत्व प्रदान करता है। वार्षिक बजट सहित सभी सरकारी विधेयक उसके निर्देशानुसार ही तैयार किये जाते हैं। दलीय सचेतक द्वारा वह अपने दल के सदस्यों को आवश्यक आदेश देता है और लोकसभा में व्यवस्था रखने में वह अध्यक्ष की सहायता करता है। इस सम्बन्ध में उसकी एक अन्य महत्वपूर्ण शक्ति लोकसभा को भंग करने की है। अपनी इस शक्ति के आधार पर प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी द्वारा राष्ट्रपति को परामर्श देकर 27 दिसम्बर, 1970 को (सामान्य कार्यकाल के लगभग 14 माह पूर्व) लोकसभा को भंग कराया गया। दूसरी बार जनवरी, 1977 में, तीसरी बार अगस्त, 1979 में, चौथी बार नवम्बर, 1984 में, पांचवीं बार नवम्बर, 1989 में छठी बार मार्च, 1991 में, सातवीं बार दिसम्बर, 1997 में और आठवीं बार अप्रैल, 1999 तथा नवमी बार फरवरी, 2004 में लोकसभा को भंग करवाया गया। इस प्रकार अब तक कुल नौ बार लोकसभा को समय से पूर्व भंग करवाया जा चुका है।

(6) राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल के बीच सम्बन्ध स्थापितकर्ता—सार्वजनिक महत्व के मामलों पर राष्ट्र के प्रधान से केवल प्रधानमन्त्री के माध्यम से ही सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। वही राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के निश्चयों से परिचित कराता है और वही राष्ट्रपति के परामर्श को मन्त्रिमण्डल तक पहुंचाता है। राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के बीच जो विचार-विमर्श होता है, उसे पूर्णतया गुप्त ही रखा जाता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति तथा मन्त्रिमण्डल के बीच कड़ी का कार्य भी करता है।

(7) विभिन्न पद प्रदान करना—संविधान के द्वारा राष्ट्रपति को जिन उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है, व्यवहार में उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति स्वविवेक से नहीं; वरन् प्रधानमन्त्री के परामर्श से ही करता है।

(8) उपाधियां प्रदान करना—भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रीय सेवा के उपलक्ष में भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्मश्री आदि उपाधियां और सम्मान की जो व्यवस्था की गयी है, व्यवहार में वे उपाधियां प्रधानमन्त्री के परामर्श पर ही राष्ट्रपति द्वारा प्रदान की जाती हैं।

(9) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का प्रतिनिधित्व—अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारतीय प्रधानमन्त्री का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चाहे विदेश विभाग प्रधानमन्त्री के हाथ में न हो, फिर भी अन्तिम रूप में विदेश नीति का निर्धारण प्रधानमन्त्री के द्वारा ही किया जाता है। यह महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श में भाग लेता है। मार्च, 1983 में दिल्ली में आयोजित 'सातवें गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन' में भारतीय प्रधानमन्त्री की भूमिका से यह बात नितान्त स्पष्ट है।

(10) शासन का प्रमुख प्रवक्ता—संसद, देश तथा विदेश में प्रधानमन्त्री शासन की नीति का प्रमुख तथा अधिकृत प्रवक्ता होता है। यदि कभी संसद में किन्हीं दो मन्त्रियों के परस्पर विरोधी वक्तव्यों के कारण भ्रम और विवाद उत्पन्न हो जाय तो प्रधानमन्त्री का वक्तव्य ही इस स्थिति को समाप्त कर सकता है।

(11) आम चुनाव—प्रधानमन्त्री का चुनाव—जिस बात ने प्रधानमन्त्री की स्थिति को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है, वह यह है कि भारत में भी आम चुनाव प्रधानमन्त्री का होता है। भारत में प्रथम तीन आम चुनाव 'कांग्रेस को बोट देकर नेहरू के हाथ मजबूत करो' नारे के आधार पर लड़े गये थे और मार्च 1971 में लोकसभा चुनाव तथा जनवरी 1972 के पांचवें आम चुनाव कांग्रेस दल ने श्रीमती गांधी के नाम पर ही लड़े थे। 1977 के लोकसभा चुनाव भी प्रधानमन्त्री पदधारी व्यक्ति (श्रीमती गांधी) और आपातकाल में उनके द्वारा किये गये कार्यों पर केन्द्रित थे और जनवरी, 1980 के लोकसभा चुनाव तो पूर्णतया प्रधानमन्त्री के पद के आधार पर ही लड़े गये थे। इसी प्रकार दिसम्बर, 1984 में सम्पन्न आठवीं लोकसभा के चुनाव 'प्रधानमन्त्री पद पर राजीव गांधी के लिए जनमत संग्रह' के रूप में थे और नौवीं लोकसभा के चुनाव का मुख्य मुद्दा भी प्रधानमन्त्री का चयन था। बारहवीं लोकसभा के चुनाव का एक मुख्य मुद्दा प्रधानमन्त्री पद के लिए अटल बिहारी वाजपेयी का नाम था। इसी प्रकार तेरहवीं लोकसभा के चुनाव का मुख्य मुद्दा अटल बिहारी वाजपेयी का नेतृत्व या 'वाजपेयी अथवा सोनिया' था। इस प्रकार के चुनाव स्वाभाविक रूप से प्रधानमन्त्री की प्रतिष्ठा और शक्ति में बहुत वृद्धि कर देते हैं।

(12) देश का सर्वोच्च नेता तथा शासक—एक पंक्ति में प्रधानमन्त्री देश का सर्वोच्च नेता तथा शासक होता है। सिद्धान्त रूप में न सही, लेकिन व्यवहार में देश का समस्त शासन उसी की इच्छानुसार संचालित होता है। वह व्यवस्थापिका से अपनी इच्छानुसार कानून बनवा सकता है और संविधान में आवश्यक संशोधन करवा सकता है। मन्त्रिपरिषद् में उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है। देश की जनता हो या संसद, राज्य सरकारें हों या प्रधानमन्त्री का अपना राजनीतिक दल, हर कोई नेतृत्व के लिए प्रधानमन्त्री की ओर देखता है। व्यवहार के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री पदधारी व्यक्तियों ने इस पद की शक्तियों और सम्मान में सामान्यतया वृद्धि ही की है।

प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद् का सम्बन्ध या मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमन्त्री का स्थान

भारतीय संविधान सभा में लगभग एकमत से इस बात को स्वीकार किया गया था कि भारतीय राज-व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की स्थिति वही है, जो ब्रिटेन की राज-व्यवस्था में वहां के प्रधानमन्त्री की है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की संसदीय या मन्त्रिमण्डलात्मक व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए हैं उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मन्त्रिपरिषद् पर प्रधानमन्त्री की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी। भारतीय संविधान और शासन के अन्तर्गत प्रारम्भ से ही मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमन्त्री को बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त थी और संविधान लागू किये जाने के बाद से लेकर अब तक मन्त्रिपरिषद् में उसकी स्थिति और अधिक महत्वपूर्ण हुई है।

जिन बातों ने प्रधानमन्त्री को मन्त्रिपरिषद् में बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थिति तथा मन्त्रिपरिषद् पर लगभग पूर्ण नियन्त्रण प्रदान किया है वे इस प्रकार हैं :

(1) प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् का निर्माण बहुत अधिक सीमा तक स्वविवेक से ही करता है। वह ऐसे व्यक्तियों को भी मन्त्रिपरिषद् में ले सकता है जिन्हें दल में कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो और देश में जिनका नाम बहुत थोड़े व्यक्ति जानते हों। श्री टी. एन. सिंह, श्री शास्त्री जी और गोपालस्वरूप पाठक, डॉ. कर्ण सिंह, टी. ए. पई, मोहन कुमार मंगलम् और दुर्गाप्रसाद धर श्रीमती गांधी की व्यक्तिगत प्रसन्न से ही मन्त्रिपरिषद् के सदस्य बने थे। 1985 से लेकर 1987 तक राजीव मन्त्रिमण्डल के अधिकांश सदस्यों को प्रधानमन्त्री राजीव गांधी की व्यक्तिगत

पसन्द ही कहा जा सकता है। 1991 में गठित मन्त्रिमण्डल में मनमोहन सिंह, पी. वी. नरसिंह राव की व्यक्तिगत पसन्द ही थे और वाजपेयी मन्त्रिमण्डल में अरुण शौरी अटल बिहारी वाजपेयी की व्यक्तिगत पसन्द ही थे।

(2) मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों में विभागों का वितरण प्रधानमन्त्री के द्वारा ही किया जाता है।

(3) प्रधानमन्त्री मन्त्रियों के विभागों में परिवर्तन कर सकता है और उनसे त्यागपत्र भी मांग सकता है। 1966 में नन्दा, 1969 में देसाई, 1980 में श्री कमलापति त्रिपाठी, 1986 में श्री अरुण नेहरू और 1987 में श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह का त्यागपत्र तथा 1990 में श्री देवीलाल की बर्खास्तगी प्रधानमन्त्री की शक्ति का परिचय देते हैं। मन्त्रिपरिषद् के पुनर्गठन में प्रधानमन्त्री बहुत अधिक सीमा तक अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है।

(4) प्रधानमन्त्री मन्त्रियों को उनके विभागीय कार्यों के सम्बन्ध में निर्देश दे सकता है और आवश्यक होने पर उनके कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है। 'कैबिनेट सचिवालय' और 'प्रधानमन्त्री सचिवालय' के माध्यम से भी प्रधानमन्त्री सभी विभागों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है।

(5) प्रधानमन्त्री शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करता है। वह मन्त्रियों के मतभेदों को दूर कर उनमें सामंजस्य बनाये रखता है।

(6) प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता है और मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यविधि पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है।

(7) मन्त्रिपरिषद् की ओर से संसद में घोषणा का कार्य प्रधानमन्त्री के द्वारा ही किया जाता है।

मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमन्त्री की स्थिति को स्पष्ट करते हुए संविधान सभा में डॉ. अम्बेदकर ने कहा था, "प्रधानमन्त्री वास्तव में मन्त्रिमण्डल रूपी भवन के वृत्तखण्ड की मुख्य शिला है और जब तक हम इस पदाधिकारी को इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छा से मन्त्रियों की नियुक्ति या पदच्युति कर सके, तब तक मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।"

प्रधानमन्त्री तथा उसके सहयोगियों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए विविध प्रकार की उक्तियों का प्रयोग किया जाता रहा है। इस सम्बन्ध में लॉर्ड मार्ले की शब्दावली 'समकक्षों में प्रथम' (*Primus inter pares*) तो बहुत बीते हुए समय की बात हो चुकी है। अब तो सर विलियम हार्कोर्ट उसे 'नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा' और डॉ. जैनिंग ऐसा 'सूर्य बतलाते हैं जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते रहते हैं।' मन्त्रिपरिषद् में भारतीय प्रधानमन्त्री की स्थिति पर हार्कोर्ट और जैनिंग के ये कथन पूर्ण रूप से लागू होते हैं। पं. नेहरू को प्रधानमन्त्री के रूप में अपनी मन्त्रिपरिषद् पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त था और श्रीमती गांधी द्वारा अपने प्रधानमन्त्री काल में मन्त्रिपरिषद् में बहुत अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति का उपयोग किया गया।

भारत में मन्त्रिपरिषद् पर प्रधानमन्त्री का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया है। जैसा कि भूतपूर्व मन्त्री एम. सी. छागला ने कहा है, "अब कैबिनेट की कुछ नहीं चलती है, प्रत्येक फैसला प्रधानमन्त्री का है।" डॉ. लक्ष्मीलाल सिंघवी भी इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि "संस्थागत दृष्टि से कैबिनेट के सदस्यों की स्थिति बहुत अधिक सीमा तक प्रधानमन्त्री के सहयोगियों की अपेक्षा प्रधानमन्त्री के अभिकर्ता (Agent) और प्रतिनिधि की होती जा रही है।" 1980-89 की

स्थिति के सम्बन्ध में यह बात पूर्णतया लागू होती है। लेकिन नौवीं लोकसभा और ग्यारहवीं लोकसभा के चुनाव के बाद जो राजनीतिक स्थिति बनी, उसमें यह बात नहीं थी।

लेकिन इन सबका अभिप्राय यह नहीं कि भारतीय प्रधानमन्त्री अधिनायक हो गया है। प्रधानमन्त्री अपने सहयोगियों के साथ तानाशाह की भाँति व्यवहार नहीं कर सकता, बल्कि वह उन्हें अपने साथ लेकर चलता है। व्यवहार में मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमन्त्री का स्थान स्वयं उसके व्यक्तित्व, राष्ट्र के प्रति उसकी सेवा और अपने राजनीतिक दल में उसके स्थान पर निर्भर करता है।

मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति (CABINET AND PRESIDENT)

मन्त्रिमण्डल तथा राष्ट्रपति के पारस्परिक सम्बन्ध पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—सैद्धान्तिक दृष्टिकोण तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण।

यदि सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होता है कि मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को सहायता और परामर्श देने वाली एक समिति है जिसके परामर्श को मानना या न मानना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है। व्यावहारिक स्थिति यह है कि उसे मन्त्रिमण्डल का परामर्श मानना ही होगा। भारत में अपनाये गये संसदात्मक शासन के अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। अतः व्यवहार में कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा किया जा सकता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों। व्यवस्थापिका के प्रति कैबिनेट उत्तरदायी होती है, राष्ट्रपति नहीं। अतः स्वाभाविक रूप से शासन की शक्ति का प्रयोग कैबिनेट द्वारा ही किया जा सकता है और राष्ट्रपति केवल एक औपचारिक प्रधान होता है जो साधारणतया मन्त्रियों के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा। वह न तो उनके परामर्श के विरुद्ध कुछ कर सकता है और न उनके परामर्श के बिना ही। व्यवहार में राष्ट्रपति परामर्श देने का कार्य करता है और निर्णय मन्त्रिमण्डल के द्वारा किये जाते हैं। 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) में इस बात का कानूनी तौर पर उल्लेख कर दिया गया है कि “राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल का परामर्श मानने के लिए बाध्य होगा।” अप्रैल, 1977 में कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री जत्ती और मन्त्रिमण्डल के बीच 9 राज्यों की विधानसभाएं भंग करने के सम्बन्ध में विवादपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई, लेकिन अन्त में श्री जत्ती को अपनी हठधर्मी छोड़कर मन्त्रिमण्डल का परामर्श मानना पड़ा। श्री जैलसिंह के कार्यकाल के अन्तिम महीने में आशंका उत्पन्न हुई थी कि वे मन्त्रिमण्डल के परामर्श की अवहेलना कर सकते हैं, लेकिन व्यवहार में उनके द्वारा भी ऐसा नहीं किया गया। मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) में कहा गया है, “राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल से जो परामर्श प्राप्त होगा, उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह मन्त्रिपरिषद् को इस परामर्श पर पुनर्विचार करने के लिए कहें, लेकिन पुनर्विचार के बाद मन्त्रिमण्डल से राष्ट्रपति को जो परामर्श प्राप्त होगा, राष्ट्रपति उस परामर्श के अनुसार कार्य करेंगे।” राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमण्डल से अपने परामर्श पर पुनर्विचार के लिए कहना कुछ परिस्थितियों में बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है। 1997 और 1998 में क्रमशः उत्तर प्रदेश और बिहार में राष्ट्रपति शासन लागू करने के परामर्श के सम्बन्ध में ऐसी दो स्थितियां देखी गई हैं। 1 अप्रैल, 1999 के राजनीतिक घटनाचक्र में भी राष्ट्रपति ने प्रभावशाली भूमिका निभायी और भविष्य की राजनीति में ऐसी स्थितियां उत्पन्न होने की सम्भावनाएं हैं। यदि प्रधानमन्त्री मिली-जुली सरकार का नेतृत्व कर

रहा है या देश की राजनीति में प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर है तो मन्त्रिमण्डल के साथ सम्बन्धों में राष्ट्रपति अधिक सक्रिय भूमिका अपना सकता है।

मन्त्रिमण्डल तथा संसद (संसद का कार्यपालिका से सम्बन्ध) (CABINET AND PARLIAMENT)

मन्त्रिमण्डल तथा संसद के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है : (1) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से और (2) व्यावहारिक दृष्टिकोण से।

1. सैद्धान्तिक दृष्टिकोण—संविधान द्वारा भारत में संसदात्मक शासन-व्यवस्था अपनायी गयी है और संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती हैं तथा कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) व्यवस्थापिका (संसद) के प्रति उत्तरदायी होती है। उत्तरदायित्व के प्रसंग में संसद का आशय लोकसभा से ही होता है। उत्तरदायित्व का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल लोकसभा के आधीन है, वह उसकी इच्छानुसार ही कार्य करेगा और मन्त्रिमण्डल उसी समय तक अपने पद पर बना रह सकेगा, जब तक कि उसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। संसद के द्वारा मन्त्रिमण्डल पर निम्नलिखित साधनों से नियन्त्रण रखा जा सकता है :

(1) प्रश्नोत्तर (Interpellations)—संसद को अधिकार है कि वह संसद के अधिवेशनों में मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से विभिन्न प्रशासनिक बातों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे। इन प्रश्नों के आधार पर संसद सदस्य सरकार के विभिन्न प्रशासनिक विभागों की त्रुटियों से परिचित हो जाते हैं और उनके द्वारा निन्दा-आलोचना के आधार पर सरकार को सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

(2) कामरोको प्रस्ताव (Adjournment Motion)—यदि प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में कोई गम्भीर घटना घटित हो गयी है तो प्रत्येक संसद सदस्य को अधिकार है कि वह अपने सदन में इस आशय का प्रस्ताव रखे कि पहले चले आ रहे सभी विषयों पर विचार स्थगित कर इस गम्भीर घटना पर विचार करें। इसे ही 'कामरोको प्रस्ताव' कहते हैं और यह प्रस्ताव मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन होता है।

(3) विधेयक या नीति की अस्वीकृति—संसद का अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के सदस्य द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक या नीति को अस्वीकार कर दे। यदि अस्वीकृति लोकसभा की ओर से होती है, तो मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।

(4) बजट पर कटौती—मन्त्रिमण्डल संसद की स्वीकृति के बिना आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं कर सकता। लोकसभा का बजट पर पूर्ण नियन्त्रण होता है और लोकसभा द्वारा बजट में कटौती का आशय अविश्वास का प्रस्ताव होता है।

(5) प्रशासनिक जांच—संसद मन्त्रिमण्डल के कार्यों की जांच-पड़ताल के लिए एक जांच समिति स्थापित कर सकती है। यह सरकार के हिसाब-किताब की जांच के लिए लेखा परीक्षक नियुक्त कर सकती है और बाद में लेखा परीक्षकों की रिपोर्ट पर विचार कर सकती है।

(6) अविश्वास प्रस्ताव—लोकसभा के द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पास कर सरकार को पदच्युत किया जा सकता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से संसद मन्त्रिमण्डल के सभी कार्यों पर नियन्त्रण रखती है और यदि संसद मन्त्रिमण्डल के कार्य करने के ढंग से असन्तुष्ट हो, तो लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत किया जा सकता है।

2. व्यावहारिक दृष्टिकोण—सैद्धान्तिक दृष्टि से तो मन्त्रिमण्डल पर संसद के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है, किन्तु व्यावहारिक स्थिति सामान्यतया नितान्त विपरीत ही है। व्यवहार में संसद मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण नहीं रखता वरन् मन्त्रिमण्डल द्वारा संसद पर निम्नलिखित साधनों के आधार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता है :

(1) मन्त्री संसद के बहुमत दल के महत्वपूर्ण सदस्य होते हैं और उनके पीछे संसद का बहुमत रहता है। प्रधानमन्त्री संसद (लोकसभा) के बहुमत दल का नेता होता है और प्रधानमन्त्री की नीतियों के समर्थन के लिए संसद में बहुमत दल सदैव विद्यमान रहता है।

(2) संसद पर मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन दलीय अनुशासन होता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का प्रधान होने के साथ-साथ लोकसभा में बहुमत दल का नेता होता है और प्रधानमन्त्री के दल के सदस्य लोकसभा में उसकी नीति का समर्थन करने के अतिरिक्त और कुछ कार्य नहीं कर सकते। यदि वे प्रधानमन्त्री की नीति की कड़ी आलोचना करें तो उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकती है। इसलिए लोकसभा में बहुमत दल के सदस्य प्रधानमन्त्री का लगभग पूर्ण समर्थन करते हैं।

(3) कानून निर्माण के क्षेत्र में विधेयक तैयार करने, विधेयक प्रस्तावित करने और उन्हें पास करवाने में मन्त्रिमण्डल के द्वारा प्रभावशाली रूप में कार्य किया जाता है। अधिक महत्वपूर्ण विधेयक तो अनिवार्य रूप में मन्त्रिमण्डल के सदस्य ही प्रस्तावित करते हैं और वर्तमान समय में यदि यह कहा जाय कि कानून निर्माण का कार्य संसद की सहमति से मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है, तो अनुचित न होगा।

(4) वित्तीय क्षेत्र में व्यवहार के अन्तर्गत वित्तमन्त्री जिस रूप में बजट पेश करता है, उसी रूप में संसद के द्वारा बजट को स्वीकार कर लिया जाता है। संसद खर्च में वृद्धि तो कर ही नहीं सकती और बजट में कटौती का मतलब होता है सरकार का पतन, जो संसद सामान्यतया चाहती नहीं है। अतः संसद के सम्मुख बजट को पूरे-पूरे तौर पर स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता।

(5) संसद पर मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण का अन्तिम महत्वपूर्ण साधन प्रधानमन्त्री के हाथ में लोकसभा को भंग करने की शक्ति है। सामान्यतया लोकसभा के सदस्य पांच वर्ष की अवधि पूरी होने के पूर्व अपना पद नहीं छोड़ना चाहते और ऐसी स्थिति में प्रधानमन्त्री का समर्थन करने को बाध्य होते हैं।

वास्तव में मन्त्रिमण्डल और संसद का पारस्परिक सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करता है कि एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल है या मिला-जुला मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डल के राजनीतिक दल की संसद; विशेषतया लोकसभा में स्थिति कैसी है। एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल मिला-जुला मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा संसद के साथ सम्बन्ध में अधिक शक्ति का परिचय देता है। भारत में अपवादस्वरूप कुछ समय (1977-79 के वर्ष) को छोड़कर सामान्यतया 1988 तक एक राजनीतिक दल के मन्त्रिमण्डलों का ही गठन हुआ और 1991-95 के काल में नरसिम्हा राव मन्त्रिमण्डल को भी सामान्यतया यही स्थिति प्राप्त थी। अतः इस समस्त काल में मन्त्रिमण्डल और संसद के आपसी सम्बन्धों में सामान्यतया मन्त्रिमण्डल की सुदृढ़ स्थिति ही देखी गई।

लेकिन नौवीं लोकसभा, ग्यारहवीं लोकसभा, बारहवीं लोकसभा, तेरहवीं लोकसभा, और चौदहवीं लोकसभा में कोई एक राजनीतिक दल लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं

कर सका। ऐसी स्थिति में मिली-जुली सरकारों का गठन हुआ है। ये सभी सरकारें संसद पर नियन्त्रण रख पाने में समर्थ नहीं हो सकती थीं। परिणामतः संसद ने अविश्वास प्रस्ताव पारित कर या अविश्वास प्रस्ताव जैसी स्थिति को अपनाकर इन सरकारों को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया। भारत में अब तक तीन मन्त्रिमण्डलों (देसाई मन्त्रिमण्डल 1979, वी. पी. सिंह मन्त्रिमण्डल 1990 और देवगौड़ा मन्त्रिमण्डल 1997) का पतन अविश्वास प्रस्ताव के कारण हुआ; अप्रैल, 1999 में वाजपेयी मन्त्रिमण्डल का पतन इस कारण हुआ कि वह 'विश्वास-मत' प्राप्त करने में असफल रहा और तीन मन्त्रिमण्डलों (चरणसिंह मन्त्रिमण्डल 1979, चन्द्रशेखर मन्त्रिमण्डल 1991 और गुजराल मन्त्रिमण्डल 1997) ने यह समझकर त्यागपत्र दे दिये कि उन्हें लोकसभा में बहुमत का विश्वास अब प्राप्त नहीं है। भारत की बहुदलीय व्यवस्था में अब एक दल की प्रधानता समाप्त हो गई है। अतः केन्द्र में मिली-जुली सरकारें बन रही हैं। सम्भावना यह है कि निकट भविष्य की राजनीति में भी प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल पर संसद के नियन्त्रण की स्थितियाँ बनी रहेंगी।

प्रश्न

1. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कैसे होता है? उसके अधिकारों और कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. नवीन संविधान के अनुसार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है? प्रधानमन्त्री के कर्तव्यों तथा अधिकारों का वर्णन कीजिए।
3. मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कैसे होता है? उसका राष्ट्रपति व लोकसभा के साथ सम्बन्ध समझाइए।
4. भारतीय शासन में प्रधानमन्त्री की स्थिति तथा महत्व का वर्णन विशेष रूप से वर्तमान समय की स्थिति के सन्दर्भ में कीजिए।
5. भारतीय संघ में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है? शासन में उसका क्या महत्व है?
6. केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का निर्माण कैसे होता है? मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री का क्या स्थान है? व्याख्या कीजिए।

7

संघीय व्यवस्थापिका : संसद

(THE UNION LEGISLATURE : PARLIAMENT)

संसद के अंग

(ORGANS OF PARLIAMENT)

संविधान के अनुच्छेद 79 द्वारा व्यवस्था की गयी है कि भारतीय संघ की एक संसद होगी जिसका निर्माण राष्ट्रपति तथा दो सदनों से मिलकर होगा, जिनके नाम क्रमशः लोकसभा तथा राज्यसभा होंगे। इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा ब्रिटिश सरकार की ही भांति राज्य के वैधानिक प्रधान को संसद का अंग माना गया है। 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में केन्द्र में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गयी थी और वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की ही व्यवस्था है। अतः भारतीय संविधान भी संघीय क्षेत्र में एक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना करता है। इस द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को संविधान के द्वारा 'संसद' (Parliament) का नाम दिया गया है। संसद के निम्न तीन अंग हैं :

(1) राष्ट्रपति जो कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है लेकिन जिसकी कानून निर्माण के क्षेत्र में भी भूमिका है।

(2) लोकसभा (House of the people) जो प्रथम या निम्न सदन या लोकप्रिय सदन है।

(3) राज्यसभा (Council of States) जो द्वितीय अर्थात् उच्च सदन या वरिष्ठ सदन है। इस प्रकार राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्यसभा तीनों का संयुक्त नाम 'संसद' है।

संसद के कार्य तथा शक्तियां अथवा अधिकार

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE PARLIAMENT)

क्या भारतीय संसद सम्प्रभु (Sovereign) है?

भारत में ब्रिटिश शासनकाल में 1919 और 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत जिस विधानमण्डल की स्थापना की गयी थी वह बाहरी शक्ति ब्रिटिश संसद के अधीन था, लेकिन नवीन संविधान के अन्तर्गत गठित भारतीय संसद किसी भी बाहरी शक्ति के अधीन नहीं है और इस दृष्टि से इसे 'सम्प्रभुतासम्पन्न विधानमण्डल' (Sovereign law-making Body) कहा जा सकता है। किन्तु भारतीय संसद उस अर्थ में सर्वोच्च और सम्प्रभुतासम्पन्न संस्था नहीं है, जिस अर्थ में ब्रिटिश संसद है। ब्रिटिश संसद के द्वारा ब्रिटेन के समस्त क्षेत्र और सभी विषयों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के कानून का निर्माण किया जा सकता है और ब्रिटिश संसद द्वारा निर्मित कानून को किसी के द्वारा अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। किन्तु

भारतीय संविधान में तीन ऐसे लक्षण हैं जिनके कारण संसद की कानून निर्माण की सत्ता सीमित हो गयी है। प्रथम, संविधान के द्वारा संसद की सर्वोच्चता नहीं वरन् संविधान की सर्वोच्चता के विचार का प्रतिपादन किया गया है और भारतीय संविधान कठोर है, जिसके कारण संसद की कानून निर्माण की शक्ति सीमित हो गयी है। द्वितीय, संविधान के द्वारा संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की जाने के कारण संसद उन विषयों पर कानून का निर्माण नहीं कर सकती, जो विषय संविधान के द्वारा राज्य सरकारों को सौंपे गये हैं। तृतीय संसद के द्वारा मौलिक अधिकारों के विरुद्ध किसी कानून का निर्माण नहीं किया जा सकता। इन सबके अतिरिक्त संविधान के द्वारा 'न्यायिक पुनर्विलोकन' (Judicial Review) की व्यवस्था की गयी है, जिसके अनुसार संसद द्वारा निर्मित कानूनों की न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) द्वारा जांच की जाती है। यदि सर्वोच्च न्यायालय समझता है कि संसद के द्वारा किसी विशेष कानूनों का निर्माण करने में संविधान का उल्लंघन किया गया है, तो सर्वोच्च न्यायालय इन कानूनों को अवैधानिक घोषित कर सकता है। इस दृष्टि से भारतीय संसद की स्थिति ब्रिटिश संसद और अमरीकी कांग्रेस के मध्य में है।

इन सीमाओं के बावजूद संविधान के द्वारा संसद को व्यापक शक्तियां प्रदान की गयी हैं और संसद की प्रमुख शक्तियों का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) विधायी शक्तियां—संसद का सबसे प्रमुख कार्य राष्ट्रीय हितों को दृष्टि में रखते हुए कानूनों का निर्माण करना है। संसद को संघीय सूची के 97 और समवर्ती सूची के 47 विषयों पर कानून निर्माण का अधिकार प्राप्त है। यद्यपि समवर्ती सूची के विषयों पर संघीय संसद और राज्य विधानमण्डल दोनों के द्वारा ही कानूनों का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु इन दोनों द्वारा निर्मित कानूनों में पारस्परिक विरोध होने की स्थिति में संसद द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होंगे। संसद के द्वारा अवशेष विषयों पर भी कानूनों का निर्माण किया जा सकता है, क्योंकि संविधान के द्वारा अवशेष शक्तियां संघ को सौंपी गयी हैं। इसके अतिरिक्त सभी केन्द्र शासित क्षेत्रों के लिए संसद को सदैव ही सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है।

संविधान के द्वारा संकटकाल के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की गयी है। संकटकाल की घोषणा के समय संसद राज्यों के लिए राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है। इन सबके अतिरिक्त सामान्य काल में भी कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं जबकि संसद के द्वारा राज्य सूची के विषयों पर भी कानून का निर्माण किया जा सकता है। प्रथम, जब कभी दो या अधिक राज्यों के विधानमण्डल प्रस्ताव पास करके संसद से राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बनाने की प्रार्थना करें तो संसद उन राज्यों के सम्बन्ध में ऐसा कर सकती है। द्वितीय, जब कभी राज्यसभा दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करे कि राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य सूची के किसी विषय विशेष पर कानून बनाना चाहिए।¹

(2) संविधान के संशोधन की शक्ति—संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में संसद को महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है। संविधान के अनुसार संविधान में संशोधन का प्रस्ताव संसद में ही प्रस्तावित किया जा सकता है, किसी राज्य के विधानमण्डल में नहीं। संसद के दोनों सदनों द्वारा संविधान के संशोधन का कार्य किया जाता है और संविधान के अधिकांश भाग में अकेली संसद के द्वारा ही या तो सामान्य बहुमत से या पृथक्-पृथक् दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत

1 अनुच्छेद 252.

2 अनुच्छेद 249.

से परिवर्तन किया जा सकता है। संविधान की केवल कुछ ही व्यवस्थाएं ऐसी हैं जिनमें संशोधन के लिए भारतीय संघ के आधे राज्यों के विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होती है।

फरवरी, 1967 में सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ विवाद में जो निर्णय लिया था, उसमें संसद की संविधान में संशोधन की शक्ति सीमित हो गयी थी क्योंकि इस विवाद के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा था कि संसद ऐसा कोई विधेयक पारित नहीं कर सकती, जो मौलिक अधिकारों को छीनता या कम करता हो। लेकिन 1971 के अन्त में संविधान का 24वां संशोधन विधेयक पारित हुआ जिसके अनुसार संसद को यह अधिकार होगा कि वह संविधान के किसी भी उपबन्ध में (जिसमें मौलिक अधिकार भी सम्मिलित हैं) संशोधन कर सके। 24वें संशोधन विधेयक में यह भी कहा गया है कि अब कोई संविधान संशोधन विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित होकर जब राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाय, तो उन्हें उस पर अपनी अनुमति दे देनी चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रपति भी संसद द्वारा विधिवत् रूप से पारित किये गये संविधान संशोधन विधेयक को अस्वीकृत नहीं कर सकता है। संविधान के 24वें संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी थी, लेकिन 23 अप्रैल, 1973 के अपने ऐतिहासिक निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने इस संवैधानिक संशोधन की वैधता को स्वीकार कर लिया है।

इस प्रकार संसद को संविधान में संशोधन की शक्ति प्राप्त है, लेकिन संसद की यह शक्ति असीमित नहीं है। 'केशवानन्द भारती विवाद' (1973) और 'मिनर्वा मिल्स विवाद' (1980) में सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि संसद संविधान में ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती, जो 'संविधान के मूल ढांचे' को नष्ट कर दे या बदल दे।

(3) वित्तीय शक्तियाँ—अमरीकी स्वाधीनता संग्राम के समय से ही ऐसा माना जाता है कि "जनता के धन पर जनता के प्रतिनिधियों को ही पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए।" संविधान द्वारा स्थापित प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में इस विचार को पूर्णतया स्वीकार किया गया है। जनता के प्रतिनिधि होने के नाते भारतीय संसद को राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है और प्रति वर्ष वित्तमन्त्री द्वारा प्रस्तावित बजट (राष्ट्रीय आय-व्यय का लेखा) जब तक संसद से स्वीकार न करा लिया जाय, उस समय तक आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं किया जा सकेगा। लोकसभा के द्वारा बजट में कटौती की जा सकती है, जिसका आशय शासन के प्रति अविश्वास होता है। संसद ही अनुमान और सार्वजनिक लेखा समिति नियुक्त करती है तथा नियन्त्रण व महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार कर उचित कार्यवाही करती है।

(4) प्रशासनिक शक्तियाँ—भारतीय संविधान द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गयी है, अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है, जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रख सकती है।

प्रथम, संसद के सदस्य कार्यपालिका के सदस्यों से सरकारी नीतियों तथा कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा प्रशासन की आलोचना कर सकते हैं।

द्वितीय, संसद 'कामरोको प्रस्ताव' के आधार पर सरकारी नीतियों और कार्यों की त्रुटियों को प्रकाश में ला सकती है।

तृतीय, संसद सरकारी विधेयक को अस्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके, जिससे सरकार सहमत न हो अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है।

चतुर्थ, संसद के द्वारा बजट में कटौती की जा सकती है। बजट में कटौती की जाने पर मन्त्रिमण्डल को पद त्याग करना होता है।

इन सबके अतिरिक्त संसद को मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार संसद संघ की वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल पर प्रभावशाली रूप में नियन्त्रण रखती है।

(5) निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ—अनुच्छेद 54 के द्वारा संसद को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं। संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मण्डल के अंग हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार संसद सदस्य दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।

(6) विविध शक्तियाँ—उपर्युक्त के अतिरिक्त संसद को कुछ अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं :

(क) संसद के दोनों सदन संविधान द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के आधार पर राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास कर उसे पदच्युत कर सकते हैं। इस प्रकार ये दोनों सदन सर्वोच्च या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को अक्षमता या दुराचरण के आधार पर पदच्युत करने का प्रस्ताव पास कर सकते हैं। इस प्रकार का प्रस्ताव प्रत्येक सदन में दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित होना चाहिए। उपराष्ट्रपति को हटाने के लिए राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव लोकसभा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए।

(ख) राष्ट्रपति द्वारा घोषित संकटकालीन घोषणा को एक निश्चित अवधि से अधिक समय तक लागू रखने के लिए संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है।

(ग) अन्त में संसद सार्वजनिक विवाद स्थल का कार्य करती है। इस दृष्टि से संसद लोकप्रिय भावना के दर्पण तथा शिक्षण का कार्य करती है।

लोकसभा की रचना या संगठन

(COMPOSITION OF LOK-SABHA)

लोकसभा संसद का प्रथम या निम्न सदन है। इसे लोकप्रिय सदन भी कहते हैं, क्योंकि इसके सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली है और अनेक प्रसंगों में 'संसद' का आशय लोकसभा से ही लिया जाता है।

(1) सदस्य संख्या—मूल संविधान में लोकसभा की सदस्य संख्या 500 निश्चित की गयी थी, लेकिन समय-समय पर इसमें वृद्धि की गयी। 31वें संवैधानिक संशोधन (1974) के अनुसार लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 547 निश्चित की गयी थी। परन्तु अब 'गोबा, दमन और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987'¹ द्वारा निश्चित किया गया है कि लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 552 हो सकती है। इनमें से अधिकतम 530 सदस्य राज्यों के निर्वाचन क्षेत्रों से व अधिकतम 20 सदस्य संघीय क्षेत्रों से निर्वाचित किये जा सकेंगे एवं राष्ट्रपति भारतीय वर्ग के 2 सदस्यों का मनोनयन कर सकेंगे। वर्तमान में लोकसभा की सदस्य संख्या 545 है। इन सदस्यों में 530 सदस्य 28 राज्यों से और 13 सदस्य 7 संघीय क्षेत्रों से निर्वाचित

¹ भारत का संविधान (विधि और न्याय मन्त्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित प्रकाशन वर्ष 1996); पृष्ठ 22.

होते हैं तथा 2 सदस्य आंग्ल भारतीय वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हैं। भारतीय संविधान में व्यवस्था की गयी थी कि प्रति दस वर्ष पश्चात् होने वाली गणना के आधार पर 'परिसीमन आयोग' लोकसभा में राज्यों व संघीय क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित करेगा। संविधान की इस व्यवस्था के अन्तर्गत 1971 की जनगणना के आधार पर भविष्य के लिए लोकसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या निश्चित की गयी और वर्तमान समय में राज्यों व संघीय क्षेत्रों को लोकसभा में जो प्रतिनिधित्व प्राप्त है, उसे पृष्ठ 107 की तालिका के आधार पर समझा जा सकता है।

42वें संवैधानिक संशोधन (1976) के पूर्व यह व्यवस्था थी कि प्रति 10 वर्ष पर जनगणना होने के बाद लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव क्षेत्रों का पुनर्निर्धारण करने के लिए परिसीमन आयोग गठित किया जाता था। 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा इस व्यवस्था को समाप्त करते हुए निश्चित किया गया था कि ये निर्वाचन क्षेत्र 2001 ई. तक वही रहेंगे, जो 1971 की जनगणना के आधार पर निर्धारित किये गये।

71वें संवैधानिक संशोधन (1992) और 84वें संवैधानिक संशोधन (2002) द्वारा इस व्यवस्था में पुनः परिवर्तन किया गया। 84वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर लोकसभा के कुल सदस्यों की संख्या और लोकसभा में राज्यवार प्रतिनिधित्व 2026 तक यथावत् रखने का निर्णय लिया गया है। कुल स्थानों और राज्यवार प्रतिनिधित्व को यथावत् रखते हुए राज्यों में निर्वाचन क्षेत्रों का पुनर्सीमांकन किया जा सकेगा। पुनर्सीमांकन के आधार पर आरक्षित सीटों की संख्या में परिवर्तन हो सकता है, आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र को सामान्य निर्वाचन क्षेत्र और सामान्य निर्वाचन क्षेत्र को आरक्षित बनाया जा सकता है। संवैधानिक संशोधन के आधार पर व्यवस्था की गई है कि लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन क्षेत्रों का पुनर्सीमांकन 2001 ई. की जनगणना के आधार पर किया जाएगा।

(2) निर्वाचन—लोकसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से और वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। भारत में 61वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार अब 18 वर्ष की आयु प्राप्त व्यक्ति को वयस्क माना गया है। अब लोकसभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र 'एकल-सदस्यीय' रखे गये हैं। प्रतिनिधित्व का अनुपात कुछ अपवादों को छोड़कर यथासम्भव समस्त देश में समान रखने का प्रयत्न किया जायेगा। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु 10 वर्ष की अवधि के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये थे किन्तु बाद में यह अवधि बढ़ा दी गयी। संविधान के 79वें संवैधानिक संशोधन (1999) के अनुसार अब उनके लिये 25 जनवरी, 2010 ई. तक स्थान आरक्षित कर दिये गये हैं।

(3) मतदाताओं के लिए योग्यताएं—लोकसभा के चुनाव में उन सभी व्यक्तियों को मतदान का अधिकार होगा, जो

- (i) भारत के नागरिक हैं,
- (ii) जिनकी आयु 18 वर्ष या अधिक है,
- (iii) जिनका नाम अपने निवास क्षेत्र की मतदाता सूची में है,
- (iv) जो पागल या दिवालिया नहीं हैं,
- (v) जिन्हें संसद के कानून द्वारा किसी अपराध, भ्रष्टाचार या गैर-कानूनी व्यवहार के कारण मतदान से वंचित नहीं कर दिया गया है।

लोकसभा में स्थानों का आबण्टन

राज्य/संघ राज्य क्षेत्र का नाम	कुल सदस्य संख्या	अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित	अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित
आन्ध्र प्रदेश	42	6	2
उत्तर प्रदेश	80	17	—
उत्तरांचल	05	1	—
बिहार	40	7	—
झारखण्ड	14	1	4
महाराष्ट्र	48	3	4
मध्य प्रदेश	29	4	7
छत्तीसगढ़	11	2	4
तमिलनाडु	39	7	—
कर्नाटक	28	4	1
गुजरात	26	2	4
राजस्थान	25	4	3
उड़ीसा	21	3	5
केरल	20	2	—
असम	14	1	2
हरियाणा	10	1	—
जम्मू-कश्मीर	6	—	—
हिमाचल प्रदेश	4	1	—
त्रिपुरा	2	—	1
मणिपुर	2	—	1
पंजाब	13	3	—
प. बंगाल	42	8	2
मेघालय	2	—	2
नगालैण्ड	1	—	1
सिक्किम	1	—	—
मिजोरम प्रदेश	1	—	1
अरुणाचल प्रदेश	2	—	—
गोआ	2	—	—
संघीय क्षेत्र	—	—	—
दिल्ली	7	1	—
पाण्डिचेरी	1	—	—
चण्डीगढ़	1	—	—
दादरा तथा नागर हवेली	1	—	1
अण्डमान-निकोबार	1	—	—
लक्षद्वीप	1	—	1
दमन व दीव	1	—	—
	543	78	46

(4) सदस्यों के लिए योग्यताएं—लोकसभा की सदस्यता के लिए संविधान के अनुसार निम्नलिखित योग्यताएं होनी आवश्यक हैं :

(i) वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो।

(ii) उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो।

(iii) भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अन्तर्गत वह कोई लाभ का पद धारण न किये हो।

(iv) वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया हो तथा दिवालिया न हो।

इन योग्यताओं के अतिरिक्त अन्य योग्यताएं निर्धारित करने का अधिकार संविधान के द्वारा संसद को दिया गया है। इस अधिकार के अन्तर्गत संसद ने 1951 में 'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम' (People's Representation Act) पास कर संसद सदस्यों के लिए निम्न योग्यताएं निर्धारित की हैं :

1. अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित सुरक्षित स्थान के उम्मीदवारों के लिए आवश्यक है कि वे अनुसूचित जाति के सदस्य हों। इसी प्रकार जनजाति से सम्बन्धित सुरक्षित स्थान के उम्मीदवारों के लिए आवश्यक है कि वे जनजाति के सदस्य हों। ये व्यक्ति समस्त भारतीय क्षेत्र में किसी भी स्थान से अनुसूचित जाति या जनजाति के सदस्य हो सकते हैं किन्तु यह बात असम के स्वतन्त्र जिलों तथा जनजाति क्षेत्रों पर लागू नहीं है।

2. असम में जनजातियों के सुरक्षित स्थान से उम्मीदवार बनने के लिए उस जनजाति का होना और उस संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का या उस स्वतन्त्र जिले के किसी अन्य निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है।

3. अन्य किसी स्थान से उम्मीदवार होने के लिए भारत में किसी भी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना आवश्यक है अर्थात् किसी भी निर्वाचन क्षेत्र से उसका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए।

4. निर्वाचन सम्बन्धी अपराध के लिए दोषी पाये गये व्यक्ति को निर्वाचन आयोग द्वारा संसद का चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित किया जा सकता है।

5. उसने किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक सजा न पायी हो तथा उसे जेल से छूटे पांच वर्ष से अधिक हो गये हों।

6. उसे सरकार से सम्बन्धित किसी ठेके में हिस्सेदार न होना चाहिए और न सरकार से सम्बन्धित किसी कारखाने में उसका कोई हित होना चाहिए।

7. उसे बेईमानी या राजद्रोह के कारण सरकारी नौकरी से न निकाला गया हो। इस प्रकार के अपराध के 5 वर्ष बाद ही वह संसद की सदस्यता प्राप्त कर सकता है।

दिसम्बर, 1988 में 'जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951' में संशोधन कर आतंकवादी गतिविधि, तस्करी, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, खाद्य पदार्थों एवं दवाओं में मिलावट करने वाले, विदेशी मुद्रा नियमन अधिनियम (फेरा) का उल्लंघन करने वाले तथा महिलाओं के खिलाफ अपराध करने वाले व्यक्तियों को संसद या राज्य के विधानमण्डल का चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित कर दिया गया है।

जन प्रतिनिधि संस्थाओं में अपराधियों के प्रवेश पर रोक हेतु व्यवस्था : आपराधिक रिकार्ड सहित पृष्ठभूमि की जानकारी नामांकन पत्र के साथ ही प्रस्तुत करना अनिवार्य — गत लगभग तीन दशक से भारतीय राजनीति की एक विकृति निरन्तर बढ़ती जा रही है और वह है : जन प्रतिनिधि संस्थाओं में अपराधियों का प्रवेश। प्रबुद्ध वर्ग ने जब इस बात की ओर सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान आकर्षित किया, तब सर्वोच्च न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि

“संविधान का अनुच्छेद 19-एक, जनता को उम्मीदवारों की आपराधिक पृष्ठभूमि, सम्पत्ति, दायित्व और शैक्षणिक योग्यता से सम्बन्धित जानकारीयां हासिल करने का अधिकार देता है।”

अपने इस दृष्टिकोण के अनुरूप सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 2 मई, 2002 के फैसले में चुनाव आयोग को निर्देश जारी किए। चुनाव आयोग द्वारा इस फैसले की क्रियान्विति के लिए 28 जून, 2002 को निर्देश जारी किए गए, लेकिन चुनाव आयोग के इन निर्देशों को निष्प्रभावी बनाने के लिए संसद ने 2002 में ही ‘जन प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 2002 पारित कर दिया। इस अधिनियम को जब सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई, तब सर्वोच्च न्यायालय ने अधिनियम की धारा 33 को अवैध घोषित करते हुए अपने 2002 ई. के फैसले के ही अनुरूप 13 मार्च, 2003 को पुनः फैसला देते हुए चुनाव आयोग को नई अधिसूचना जारी कर फैसले की क्रियान्विति सुनिश्चित करने का निर्देश दिया। अतः चुनाव आयोग ने 31 मार्च, 2003 को निर्देश जारी किए कि राज्यसभा, लोकसभा, विधानसभा और विधानपरिषद का नामांकन पत्र भरते समय उम्मीदवारों को शपथ-पत्र पर निम्न विषयों पर पूरी जानकारी बिन्दुवार देनी होगी :

1. क्या प्रत्याशी किसी आपराधिक मामले में नामजद, दोषमुक्त या बरी हुआ है। यदि हां तो उस पर अर्थदण्ड लगा अथवा उसे कैद की सजा सुनाई गई।

2. नामांकन से 6 माह पहले तक के समय में क्या प्रत्याशी दो वर्ष या इससे ज्यादा कैद योग्य किसी लम्बित प्रकरण में आरोपित था, जिसमें उस पर आरोप लगाए जा चुके हों, और अदालत द्वारा संज्ञान लिया जा चुका हो। यदि हां तो उनका विवरण।

3. प्रत्याशी, उसके पति या पत्नी तथा उसके आश्रितों के नाम की चल तथा अचल सम्पत्तियों के ब्यौरे।

4. उत्तरदायित्व, खास तौर से यदि उन पर किसी सार्वजनिक वित्तीय संस्था अथवा सरकार का कोई बकाया है, तो उसका विवरण।

5. प्रत्याशी की शैक्षणिक योग्यता।

चुनाव आयोग के सूत्र बताते हैं कि यदि कोई प्रत्याशी प्रासंगिक जानकारी देने में असफल रहा हो तो इसका आशय होगा कि उसने सर्वोच्च न्यायालय के आदेश की अवहेलना की है, अतः निर्वाचन अधिकारी जांच के समय ऐसे नामांकन पत्र को रद्द कर देगा। निर्वाचन अधिकारी उम्मीदवार द्वारा शपथ-पत्र पर प्रदत्त जानकारी को अपने कार्यालय के नोटिस बोर्ड पर प्रदर्शित करेगा। चुनाव आयोग ने स्पष्ट कर दिया है कि यदि उम्मीदवार अपनी लेनदारियों और देनदारियों के सम्बन्ध में सही जानकारी देने में असफल रहते हैं, तब इस आधार पर उनके नामांकन पत्र रद्द नहीं किए जा सकेंगे।

जनवरी, 1992 में ‘जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951’ में संशोधन कर यह व्यवस्था की गई है कि लोकसभा और विधानसभा चुनावों के दौरान यदि किसी निर्दलीय उम्मीदवार की मृत्यु हो जाए, तो चुनाव स्थगित नहीं होंगे। चुनाव तभी स्थगित होंगे, जब किसी ‘मान्यता प्राप्त राजनीतिक दल’ (चुनाव आयोग में पंजीकृत दल) के उम्मीदवार की मृत्यु होगी।

(5) कार्यकाल (Term)—लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है। प्रधानमन्त्री के परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति के द्वारा लोकसभा को समय से पूर्व भी भंग किया जा सकता है, ऐसा अब तक 9 बार 1970, 1977, 1979 नवम्बर, 1984; नवम्बर, 1989; मार्च, 1991; दिसम्बर, 1997; अप्रैल, 1999 तथा फरवरी, 2004 में किया गया है। संकटकाल की घोषणा

लागू होने पर संसद विधि द्वारा लोकसभा के कार्यकाल में वृद्धि कर सकती है, जो एक बार में एक वर्ष से अधिक न होगी। 1976 में लोकसभा का कार्यकाल दो बार एक-एक वर्ष के लिए बढ़ाया गया था।

(6) अधिवेशन—लोकसभा और राज्यसभा के अधिवेशन राष्ट्रपति के द्वारा ही बुलाये और स्थगित किये जाते हैं और इस सम्बन्ध में नियम केवल यह है कि लोकसभा की दो बैठकों में 6 माह से अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए।

(7) लोकसभा के पदाधिकारी : अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष—संविधान के अनुच्छेद 93 के अनुसार लोकसभा स्वयं ही अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करेगी। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को उनके पद से हटाया भी जा सकता है यदि लोकसभा के तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास हो जाय, परन्तु इस प्रकार कोई प्रस्ताव लोकसभा में तभी पेश हो सकेगा जबकि इस प्रकार के प्रस्ताव को पेश करने के लिए कम-से-कम 14 दिन की पूर्व सूचना दी गयी हो। संविधान के अनुसार अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को संसद द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे।

वर्तमान समय में लोकसभा के अध्यक्ष को 40,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निःशुल्क निवास-स्थान तथा केन्द्रीय मन्त्रियों को मिलने वाली अन्य सुविधाएं भी प्राप्त होती हैं।

अध्यक्ष द्वारा पदत्याग, पदच्युति या अन्य किसी कारण से अध्यक्ष की अनुपस्थिति की स्थिति में उपाध्यक्ष लोकसभा की अध्यक्षता करता है। अध्यक्ष, सभापतियों का एक मण्डल (Panel) भी नियुक्त करता है, जिसके सदस्य अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में लोकसभा की अध्यक्षता करते हैं।

अध्यक्ष के कार्य और शक्तियाँ—भारतीय लोकसभा के अध्यक्ष को लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो ब्रिटिश लोकसदन (House of Commons) के अध्यक्ष को हैं। उसकी शक्तियों का उल्लेख निम्न प्रकार है :

(1) अध्यक्ष के द्वारा लोकसभा की सभी बैठकों की अध्यक्षता की जाती है और अध्यक्ष होने के नाते उसके द्वारा सदन में शान्ति-व्यवस्था और अनुशासन बनाये रखने का कार्य किया जाता है। यदि उसकी दृष्टि में सदन के किसी सदस्य का आचरण अनुचित हो तो वह उसे सदन से बाहर भेज सकता है। यदि कोई सदस्य उसकी आज्ञाएं न माने व सदन की कार्यवाही में निरन्तर बाधा डाले, तो वह उसकी सदस्यता को निलम्बित (suspend) भी कर सकता है।

(2) लोकसभा का समस्त कार्यक्रम और कार्यवाही अध्यक्ष के द्वारा ही निश्चित की जाती है। वह सदन के नेता के परामर्श से विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद का समय निश्चित करता है। संसद के सदस्यों को भाषण देने की अनुमति वही देता है और भाषणों का क्रम भी उसी के द्वारा निश्चित किया जाता है। वह विभिन्न विधेयकों, प्रस्तावों, आदि पर मतदान कराकर परिणाम घोषित करता है। प्रश्नों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का कार्य वही करता है और 'कामरोको प्रस्ताव' भी उसकी अनुमति से ही पेश हो सकता है। प्रक्रिया सम्बन्धी सभी विवादों पर उसका निर्णय अन्तिम होता है।

(3) वह सदन की कुछ समितियों का पदेन सभापति होता है। प्रवर समितियों (Select Committees) के सभापतियों को वही नियुक्त करता है और इन समितियों के द्वारा उसके निर्देशन में ही कार्य किया जाता है।

(4) अध्यक्ष ही यह निश्चित करता है कि कोई विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं।

(5) संसद और राष्ट्रपति के बीच सारा पत्र-व्यवहार उसके ही द्वारा होता है।

(6) कार्यपालिका व शासन की अन्य सत्ताओं से सदन के सदस्य के अधिकारों की रक्षा का कार्य अध्यक्ष के द्वारा ही किया जाता है।

इस प्रकार लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियां काफी विस्तृत हैं। वस्तुतः वह सदन की शक्ति, प्रतिष्ठा तथा गौरव का द्योतक होता है।

लोकसभा की शक्तियां अथवा अधिकार और कार्य

भारतीय संसद के दो सदनों में लोकसभा लोकप्रिय सदन है, क्योंकि इसके गठन का आधार जनसंख्या है और लोकसभा के सदस्यों का जनता के द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर निर्वाचन किया जाता है। संसदीय व्यवस्था का यह निश्चित सिद्धान्त है कि कानून निर्माण और प्रशासन पर नियन्त्रण की अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन को प्राप्त होती है। भारतीय संविधान द्वारा भी लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में उच्च स्थिति प्रदान की गयी है। संसद लोकसभा, राज्यसभा तथा राष्ट्रपति से मिलकर बनती है, लेकिन लोकसभा संसद की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है। लोकसभा की शक्तियों तथा उसके कार्यों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **विधायी शक्ति**—संविधान के अनुसार भारतीय संसद संघीय सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और कुछ परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण अवितीय विधेयकों और संविधान संशोधन के विधेयकों के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्ति प्रदान की गयी है। संविधान में कहा गया है कि इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं और दोनों सदनों से पारित होने पर ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए भेजे जायेंगे। लेकिन इसके साथ ही दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाने पर राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाये जाने की व्यवस्था है और लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगुनी से अधिक होने के कारण इस बैठक में विधेयक के भाग्य का निर्णय लोकसभा की इच्छानुसार ही होता है। इस प्रकार कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लोकसभा है और राज्यसभा साधारण अवितीय या संविधान संशोधन सम्बन्धी विधेयक को 6 महीने तक रोकें रखने के अलावा और कुछ भी नहीं कर सकती है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जाते रहे हैं।

(2) **वित्तीय शक्ति**—भारतीय संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र के सम्बन्ध में शक्ति लोकसभा को ही प्रदान की गयी है और इस सम्बन्ध में राज्यसभा की स्थिति बहुत गौण है। अनुच्छेद 109 के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। लोकसभा से पारित होने के बाद वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजा जाता है और राज्यसभा के लिए यह आवश्यक है कि उसे वित्त विधेयक की प्राप्ति की तिथि से 14 दिन के अन्दर-अन्दर विधेयक लोकसभा को लौटा देना होगा। राज्यसभा विधेयक में संशोधन के लिए सुझाव दे सकती है, लेकिन उन्हें स्वीकार करना या न करना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान यह भी व्यवस्था करता है कि यदि वित्त विधेयक पारित होने के बाद 14 दिन के अन्दर राज्यसभा सिफारिशों सहित या सिफारिशों के बिना वित्त विधेयक लोकसभा को न लौटाये तो निश्चित तिथि के बाद वह दोनों सदनों से पारित मान लिया

जायगा। वार्षिक बजट और अनुदान सम्बन्धी मांगें भी लोकसभा के समक्ष ही रखी जाती हैं और इस प्रकार के समस्त व्यय की स्वीकृति देने का एकाधिकार लोकसभा को ही प्राप्त है।

(3) कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति—भारतीय संविधान के द्वारा संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गयी है। अतः संविधान के अनुसार संघीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल उसी समय तक अपने पद पर रहता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक प्रकार से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रख सकती है। संसद के सदस्य मन्त्रियों से सरकारी नीति के सम्बन्ध में व सरकार के कार्यों के सम्बन्ध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा उनकी आलोचना कर सकते हैं। संसद सरकारी विधेयक अथवा बजट को अस्वीकार करके, मन्त्रियों के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकार करके अथवा किसी सरकारी विधेयक में कोई ऐसा संशोधन करके, जिससे सरकार सहमत न हो, अपना विरोध प्रदर्शित कर सकती है। वह कामरोको प्रस्ताव (Adjournment motions) पास करके भी सरकारी नीति की गलतियों को प्रकाश में ला सकती है। अन्तिम रूप में लोकसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद् को उसके पद से हटाया जा सकता है।

कार्यपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति के अन्तर्गत ही लोकसभा संघीय लोक सेवा आयोग, भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक, वित्त आयोग, भाषा आयोग व अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग की रिपोर्ट पर विचार करती है।

(4) संविधान संशोधन सम्बन्धी शक्ति—लोकसभा को राज्यसभा के साथ मिलकर संविधान में संशोधन-परिवर्तन का अधिकार भी प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान 7 अधिकांश भाग में संशोधन का कार्य अकेली संसद के द्वारा ही किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में प्रक्रिया यह है कि संशोधन का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है और प्रस्ताव के पारित होने के लिए आवश्यक है कि उसे संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाय। संशोधन प्रस्ताव के सम्बन्ध में संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर प्रस्ताव अस्वीकार समझा जायगा। संविधान संशोधन के प्रस्ताव पर विचार के लिए संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाने का कोई प्रावधान नहीं है।

भारतीय संसद की संविधान संशोधन सम्बन्धी शक्ति पिछले वर्षों बहुत अधिक वाद-विवाद का विषय रही है। इस प्रकार के वाद-विवाद का एक प्रमुख बिन्दु यह रहा है कि संसद मौलिक अधिकारों को सीमित करने वाला संवैधानिक संशोधन कर सकती है अथवा नहीं। इस प्रसंग में 24वें संवैधानिक संशोधन और 1973 तथा 1980 में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के आधार पर यह निश्चित हो गया है कि संसद मौलिक अधिकार सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन-परिवर्तन कर सकती है। लेकिन इसके साथ ही इन दोनों निर्णयों में कहा गया है कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार नहीं है कि वह संविधान के मूल स्वरूप या उसके आधारभूत ढांचे (Basic Structure) को ही बदल सके या उसे नष्ट कर सके। संविधान के मूल स्वरूप में कौन-कौन सी बातें आती हैं, इसे स्पष्ट नहीं किया गया है।

(5) निर्वाचक मण्डल के रूप में कार्य—लोकसभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा के सदस्यों तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति को निर्वाचित करते हैं। अनुच्छेद 66 के

अनुसार लोकसभा और राज्यसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करती हैं। लोकसभा के द्वारा सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को निर्वाचित किया जाता है तथा यह उन्हें पदच्युत भी कर सकती है।

(6) जनता की शिकायतों का निवारण—लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित होकर आते हैं अतः उनके द्वारा जनता की शिकायतें, जनता के विचार तथा भावनाएं सरकार तक पहुंचायी जाती हैं। लोकसभा के सदस्यगण इस बात की भी चेष्टा करते हैं कि सरकार अपनी नीतियों का निर्माण एवं कार्यों का सम्पादन जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए करे। यदि सैद्धान्तिक अध्ययन के स्थान पर वास्तविक अध्ययन किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि लोकसभा सबसे अधिक प्रमुख रूप में यही कार्य सम्पादित करती है।

(7) विविध कार्य—लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है जो इस प्रकार हैं :

- (i) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती हैं।
- (ii) उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटाने के लिए यदि राज्यसभा प्रस्ताव पास कर दे, तो इस प्रस्ताव का लोकसभा द्वारा अनुमोदन आवश्यक होता है।
- (iii) लोकसभा और राज्यसभा मिलकर सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पास कर सकती हैं।
- (iv) राष्ट्रपति द्वारा संकटकाल की घोषणा को एक महीने के अन्दर संसद से स्वीकार कराना आवश्यक है अन्यथा इस प्रकार की घोषणा एक महीने बाद स्वयं ही समाप्त मान ली जाती है।
- (v) यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा (Amnesty) देना चाहे तो उसकी स्वीकृति संसद से लेनी होगी।

लोकसभा की शक्तियों के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि संसद देश का सर्वोच्च अंग है तो लोकसभा संसद का सर्वोच्च अंग है। जनता का प्रतिनिधि सदन होने के कारण लोकसभा संसद का महत्वपूर्ण, शक्तिशाली एवं प्रभावशाली अंग है। व्यवहार की दृष्टि से लोकसभा को ही संसद कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।

राज्यसभा की रचना या संगठन

(COMPOSITION OF RAJYA SABHA)

राज्यसभा भारतीय संसद का द्वितीय या उच्च सदन है। इसे लोकसभा की तुलना में कम शक्तियां प्राप्त हैं, लेकिन फिर भी इसका अपना महत्व और उपयोगिता है :

(1) सदस्य संख्या और निर्वाचन पद्धति—राज्यसभा के सदस्यों की अधिक-से-अधिक संख्या 250 हो सकती है, परन्तु वर्तमान समय में यह संख्या 245 ही है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। ये ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान, समाज-सेवा या सहकारिता के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या अनुभव प्राप्त हो। शेष सदस्य संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करते हैं और ये जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं। इन सदस्यों का चुनाव एकल संक्रमणीय मत तथा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार संघ के विभिन्न क्षेत्रों की विधानसभा के सदस्यों द्वारा किया जाता है। जिन क्षेत्रों में विधानसभाएं नहीं होतीं, वहां पर राज्यसभा के सदस्यों के चुनाव के लिए विशेष निर्वाचक मण्डल गठित किये जाते हैं।

2003 ई. में संसद द्वारा राज्यसभा की रचना की पद्धति में दो परिवर्तन किए गए हैं। प्रथम, मूल संविधान में व्यवस्था थी कि राज्यसभा के सदस्य का नाम उस राज्य की मतदाता सूची में होना आवश्यक है, जिस राज्य से वह राज्यसभा का चुनाव लड़ना चाहता है। अब व्यवस्था की गई है कि राज्यसभा की उम्मीदवारी के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक नहीं होगा, जिस राज्य से वह राज्यसभा का चुनाव लड़ना चाहता है। द्वितीय, गुप्त मतदान की व्यवस्था के कारण राज्यसभा के चुनाव में विधायक धन के प्रलोभन से प्रभावित होकर अपने मताधिकार का प्रयोग करते हुए पाए गए हैं। इस भ्रष्ट आचरण को समाप्त करने के लिए राज्यसभा के चुनाव में गुप्त मतदान के स्थान पर खुले मतदान की व्यवस्था को अपनाया गया है।

हमारे संविधान में इकाइयों को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर दिया गया है और अमरीका के समान भारत में संघ की छोटी-बड़ी सभी इकाइयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में संविधान यह व्यवस्था करता है कि एक राज्य की जनसंख्या के प्रथम दस लाख पर एक और उसके बाद प्रत्येक 20 लाख पर एक के हिसाब से राज्य को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

वर्तमान समय में विभिन्न राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों को राज्यसभा में निम्न प्रकार प्रतिनिधित्व प्राप्त है :

राज्यसभा में स्थानों का आवंटन

राज्य	सदस्य संख्या	राज्य	सदस्य संख्या
आंध्र प्रदेश	18	असम	7
बिहार	16	झारखण्ड	6
गुजरात	11	जम्मू-कश्मीर	4
केरल	9	मध्य प्रदेश	11
छत्तीसगढ़	5	महाराष्ट्र	19
कर्नाटक	12	उड़ीसा	10
पंजाब	7	राजस्थान	10
तमिलनाडु	18	उत्तर प्रदेश	31
उत्तरांचल	3	पश्चिम बंगाल	16
हरियाणा	5	हिमाचल प्रदेश	3
नेपालैण्ड	1	मेघालय	1
मणिपुर	1	त्रिपुरा	1
सिक्किम	1	मिजोरम प्रदेश	1
अरुणाचल प्रदेश	1	गोआ	1
संघीय क्षेत्र	सदस्य संख्या	संघीय क्षेत्र	सदस्य संख्या
दिल्ली	3	पाण्डिचेरी	1
योग	233		

(2) सदस्यों की योग्यताएं—राज्यसभा के सदस्यों के लिए वे ही योग्यताएं हैं जो लोकसभा के सदस्यों के लिए हैं। अन्तर केवल यह है कि लोकसभा की सदस्यता के लिए 25 वर्ष की आयु किन्तु राज्यसभा की सदस्यता के लिए 30 वर्ष या इससे अधिक की आयु होना आवश्यक है।

(3) **सदस्यों का कार्यकाल**—राज्यसभा एक स्थायी सदन है जो कभी भंग नहीं होता। इसमें सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है और राज्यसभा के एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष बाद सेवा-निवृत्त हो जाते हैं।

(4) **राज्यसभा के पदाधिकारी**—राज्यसभा के दो प्रमुख पदाधिकारी होते हैं : **सभापति और उपसभापति**। भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है और उसका कार्यकाल 5 वर्ष है। राज्यसभा अपने सदस्यों में से किसी एक को 6 वर्ष के लिए उपसभापति निर्वाचित करती है। सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति सभापति के कर्तव्यों का पालन करता है तथा उपसभापति का स्थान भी रिक्त हो, तब राज्यसभा का ऐसा सदस्य, जिसे राष्ट्रपति इस कार्य के लिए नियुक्त करे, इस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा।

यह वेतन भारत की संचित निधि में से दिया जाता है। उपसभापति को राज्यसभा के सदस्यों द्वारा अपने कुल बहुमत से प्रस्ताव पारित कर हटाया जा सकता है।

राज्यसभा के सभापति के अधिकार तथा कर्तव्य वही हैं जो कि लोकसभा के अध्यक्ष के हैं। अन्तर केवल यह है कि राज्यसभा के सभापति को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी विधेयक को वित्त विधेयक घोषित कर सके।

दोनों सदनों पर समान रूप से लागू होने वाली बातें

(1) **सदस्यों के विशेषाधिकार**—संसद सदस्य अपना कार्य उचित रूप से कर सकें, इसके लिए उन्हें कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। प्रथम, संसद के नियमों तथा आदेशों का पालन करते हुए सदस्यों को सदन में भाषण की स्वतन्त्रता प्राप्त है। संसद अथवा उसकी किसी समिति में कही गयी बात पर सदस्य के विरुद्ध किसी भी न्यायालय में किसी भी प्रकार की कार्यवाही नहीं की जा सकती। द्वितीय, सदस्यों को बन्दी न होने का अधिकार प्राप्त है। संसद के अधिवेशन प्रारम्भ होने के 40 दिन पूर्व और पश्चात् कोई सदस्य बन्दी नहीं बनाया जा सकता है किन्तु फौजदारी विषयों से सम्बन्धित अपराधों में अथवा निवारक निरोध या 'मीसा' में उन्हें बन्दी बनाया जा सकता है। सदस्य की गिरफ्तारी की सूचना तुरन्त अध्यक्ष को दी जानी अनिवार्य है। किसी भी सदस्य को सदन क्षेत्र में बिना अध्यक्ष की आज्ञा के गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है। संसद विधि के आधार पर संसद सदस्यों को अन्य और अधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान कर सकती है।

(2) **संसद सदस्यों का वेतन तथा भत्ता**—संसद सदस्यों का वेतन, भत्ता और पेंशन स्वयं संसद के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है तथा 1952 में प्रथम संसद के गठन से लेकर अब तक इन वेतन भत्तों और पेंशन में निरन्तर वृद्धि की जाती रही है। वेतन-भत्तों और पेंशन के अतिरिक्त संसद सदस्यों को हवाई और रेल यात्रा, आवास, फोन, मोबाइल फोन तथा बिजली-पानी आदि की निःशुल्क सुविधा प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सांसद को एक सहायक भी दिया जाता है।

प्रति वर्ष दो करोड़ के विकास कार्यों के सुझाव देने का अधिकार—इन सबके अतिरिक्त 'स्थानीय क्षेत्र विकास योजना' के अन्तर्गत प्रत्येक सांसद को प्रतिवर्ष दो करोड़ रु. के विकास कार्यों के सुझाव देने का अधिकार प्राप्त है। इस योजना के अन्तर्गत लोकसभा सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र में तथा राज्यसभा सदस्य अपने राज्य के चुनिंदा क्षेत्र में अपनी पसन्द की विकासपरक योजनाएं सुझा सकेंगे। कोई भी परियोजना 25 लाख रुपये से ज्यादा की नहीं होगी तथा एक

वर्ष में अधिकतम दो करोड़ रुपये तक की योजनाएं सुझाई जा सकेंगी। संसद सदस्य सुझाव देंगे और योजना का क्रियान्वयन सरकारी एजेंसियों के माध्यम से ही होगा।

23 दिसम्बर, 1993 को जब पहली बार यह योजना घोषित की गई, तब सांसद को प्रति वर्ष एक करोड़ रु. के विकास कार्यों के सुझाव देने का अधिकार दिया गया था, योजना के 5 वर्ष पूरे हो जाने पर धनराशि को बढ़ाकर दो करोड़ कर दिया गया है।¹

(3) सदस्यों द्वारा शपथ ग्रहण—प्रत्येक संसद सदस्य को अपना पद ग्रहण करने पर राष्ट्रपति या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त व्यक्ति के सम्मुख संविधान और देश की प्रभुता के प्रति श्रद्धा और निष्ठा की शपथ लेनी होती है। यह शपथ इस प्रकार है “मैं.....जो लोकसभा (अथवा राज्यसभा) का सदस्य निर्वाचित या मनोनीत हुआ हूँ, ईश्वर की शपथ लेता हूँ (या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ) कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, मैं भारत की प्रभुता और अखण्डता अक्षुण्ण रखूंगा तथा जिस पद को ग्रहण करने वाला हूँ उसके कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक पालन करूंगा।”

(4) सदस्यों की सदस्यता का अन्त—निम्न परिस्थितियों में संसद सदस्य की सदस्यता का अन्त हो जाता है :

- (i) यदि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हो जाता है, तो उसे एक सदन से त्यागपत्र देना होता है।
- (ii) इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति संसद के किसी एक सदन का और साथ ही राज्य विधानमण्डल का सदस्य चुन लिया जाता है और एक निर्धारित अवधि के भीतर राज्य के विधानमण्डल की सदस्यता का त्याग नहीं करता तो उसकी संसद की सदस्यता समाप्त हो जाती है।
- (iii) यदि कोई सदस्य सदन की बैठकों में लगातार 60 दिन तक सदन की अनुमति के बिना अनुपस्थित रहता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है।
- (iv) यदि किसी व्यक्ति में संसद की सदस्यता प्राप्त कर चुकने के बाद संसद सदस्य के लिए निर्धारित योग्यता नहीं रह जाती है या कोई अयोग्यता पैदा हो जाती है तो वह सदस्य नहीं रह जाता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई सदस्य किसी अन्य देश की नागरिकता स्वीकार कर लेता है या सरकारी नौकरी कर लेता है या दिवालिया अथवा पागल हो जाता है तो सदस्य नहीं रह जाता है।

‘52वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1985’ के मतानुसार निम्न परिस्थितियों में भी संसद सदस्य की सदस्यता समाप्त हो जायेगी :

- (i) यदि कोई सदस्य अपने दल या उसके द्वारा अधिकृत व्यक्ति की अनुमति के बिना सदन में उसके किसी निर्देश के प्रतिकूल मतदान करे या मतदान में अनुपस्थित रहे। परन्तु यदि 15 दिन के अन्दर दल उसे निर्देश के उल्लंघन के लिए क्षमा कर दे तो उसकी सदस्यता समाप्त नहीं होगी।
- (ii) यदि निर्दलीय रूप में निर्वाचित संसद सदस्य किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो जाय।

1 The Hindustan Times; 24 December, 1998.

(iii) यदि कोई मनोनीत सदस्य शपथ लेने के बाद 6 माह की अवधि में किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो जाय।

91वें संवैधानिक संशोधन (2003) के आधार पर यह व्यवस्था की गई कि दल-बदल करने वाला कोई भी सांसद सम्बन्धित सदन की सदस्यता खो देगा तथा इसके साथ-साथ अगली बार चुनाव जीतने तक अथवा सदन के शेष कार्यकाल तक (जो भी पहले हो) मन्त्री पद या लाभ का कोई भी अन्य पद धारण नहीं कर सकेगा।

(5) गणपूर्ति (Quorum)—लोकसभा अथवा राज्यसभा, दोनों के लिए गणपूर्ति अपनी सदस्य संख्या का 1/10 है अर्थात् जब तक सदन के 1/10 सदस्य उपस्थित न हों सम्बन्धित सदन की बैठक नहीं हो सकती।

राज्यसभा के कार्य और शक्तियां अथवा अधिकार

(POWERS AND FUNCTIONS OF RAJYA SABHA)

राज्यसभा की रचना लोकसभा के सहयोगी और सहायक सदन के रूप में की गयी है। राज्यसभा के कार्य और शक्तियों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) विधायी शक्तियां—लोकसभा के साथ-साथ राज्यसभा भी विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य करती है। संविधान के द्वारा अवितीय विधेयक के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा को समान शक्तियां दी गयी हैं। अवितीय विधेयक लोकसभा या राज्यसभा दोनों सदनों में से किसी सदन में पहले प्रस्तावित किया जा सकता है और दोनों सदनों से पारित होने के बाद ही राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जाता है। व्यवहार में स्थिति यह है कि सामान्यतया सभी महत्वपूर्ण विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जाते हैं, राज्यसभा में नहीं।

अनुच्छेद 108 के अनुसार यदि किसी साधारण विधेयक के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा में मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो उस विधेयक पर दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में विचार किया जायेगा और विधेयक के भाग्य का निर्णय बहुमत के आधार पर होगा।

(2) संविधान संशोधन की शक्ति—संविधान संशोधन के सम्बन्ध में राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त है। संशोधन प्रस्ताव तभी स्वीकृत समझा जायेगा, जब उसे संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दिया जाय। संशोधन प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में असहमति होने पर संविधान में संशोधन का प्रस्ताव गिर जायेगा। संविधान संशोधन के प्रसंग में राज्यसभा की शक्ति का परिचय इस बात से मिलता है कि 45वां संविधान संशोधन विधेयक (44वां संवैधानिक संशोधन) उसी रूप में पारित हुआ जिस रूप में राज्यसभा चाहती थी।

(3) वित्तीय शक्ति—राज्यसभा को कुछ वित्तीय शक्ति प्राप्त है यद्यपि इस सम्बन्ध में संविधान के द्वारा राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में निर्बल स्थिति प्रदान की गयी है। संविधान के अनुसार वित्त विधेयक पहले लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जायेंगे। लोकसभा से स्वीकृत होने पर वित्त विधेयक राज्यसभा में भेजे जायेंगे, जिनके द्वारा अधिक-से-अधिक 14 दिन तक इस विधेयक पर विचार किया जा सकेगा। राज्यसभा वित्त विधेयक के सम्बन्ध में अपने सुझाव लोकसभा को दे सकती है, लेकिन यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि उन प्रस्तावों को माने या न माने।

(4) कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति—संसदात्मक शासन-व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् संसद के लोकप्रिय सदन के प्रति ही उत्तरदायी होता है। अतः भारत में भी मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के

प्रति ही सामूहिक रूप से उत्तरदायी है, राज्यसभा के प्रति नहीं। राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु इन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मन्त्रियों को हटाने का अधिकार नहीं है।

(5) विविध शक्तियाँ—उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त राज्यसभा को कुछ अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं, जिनका प्रयोग वह लोकसभा के साथ मिलकर करती है। ये शक्तियाँ और कार्य इस प्रकार हैं :

- (i) राज्यसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं।
- (ii) राज्यसभा के सदस्य लोकसभा के सदस्यों के साथ मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करते हैं।
- (iii) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा कुछ पदाधिकारियों पर महाभियोग लगा सकती है। महाभियोग केवल तभी पारित समझा जाता है, जब दोनों सदन इस प्रकार के प्रस्ताव को स्वीकार कर लें।
- (iv) राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर बहुमत से प्रस्ताव पास कर उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने का प्रस्ताव प्रथम बार राज्यसभा में ही पारित होकर लोकसभा के पास जाता है।
- (v) एक माह से अधिक की अवधि तक यदि आपातकाल लागू रखना हो, तो इस प्रकार के प्रस्ताव का अनुमोदन लोकसभा और राज्यसभा दोनों के द्वारा पृथक्-पृथक् अपने विशेष बहुमत से किया जाना आवश्यक है। लोकसभा के भंग हो जाने की स्थिति में केवल राज्यसभा का विशेष बहुमत से अनुमोदन ही आवश्यक है। आपातकाल में मौलिक अधिकारों के निलम्बन के लिए दिये गये आदेशों को भी यथाशीघ्र संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाना चाहिए।

(6) विशेष अधिकार—अन्त में, राज्यसभा को ऐसे अनन्य अधिकार भी प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं हैं और जिनका प्रयोग अकेले राज्यसभा ही करती है। इस प्रकार की शक्तियों का सम्बन्ध देश के संघीय ढांचे से है और राज्यसभा को राज्यों का एकमात्र प्रतिनिधि होने के नाते इस प्रकार की दो शक्तियाँ प्राप्त हैं :

(i) अनुच्छेद 249 के अनुसार, राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित कर सकती है। राज्यसभा द्वारा ऐसा प्रस्ताव पास कर दिये जाने पर संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारम्भ में एक वर्ष के लिए पारित किया जायगा, किन्तु उसका काल बढ़ाया जा सकता है।

(ii) संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार, राज्यसभा ही अपने दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर नयी अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दे सकती है। राज्यसभा जब तक इस प्रकार का प्रस्ताव पारित न कर दे, तब तक संसद या भारत सरकार किन्हीं नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था नहीं कर सकती है।

(7) राज्यसभा की शक्तियों का मूल्यांकन—राज्यसभा की शक्तियों के अध्ययन से नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसभा न केवल द्वितीय सदन वरन् द्वितीय महत्व का सदन भी है। शक्तियों की दृष्टि से इसकी स्थिति ब्रिटिश लॉर्ड सभा और अमरीकी सीनेट के बीच में ही कहीं

है। वास्तव में, संविधान-निर्माताओं द्वारा राज्यसभा को प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन की भूमिका ही प्रदान की गयी है, प्रतिद्वन्द्वी या प्रतियोगी सदन की नहीं। लोकसभा की तुलना में निर्वल होते हुए भी उसकी स्थिति और शक्तियों का महत्व है। पायली के शब्दों में, “राज्यसभा एक निरर्थक सदन या व्यवस्थापन पर रोक लगाने वाला सदन ही नहीं है। वास्तव में, राज्यसभा शासनतन्त्र का आवश्यक अंग है, केवल दिखावे मात्र का दूसरा सदन नहीं।”

राज्यसभा उन सभी कार्यों को कर रही है जो परम्परागत रूप में द्वितीय सदन के द्वारा किये जाने हैं और भारत जैसे विशाल तथा संघात्मक व्यवस्था वाले देश के लिए संघात्मक व्यवस्थापिका का द्विसदनात्मक होना नितान्त स्वाभाविक और आवश्यक है। सामान्यतया राज्यसभा का कार्यकरण सफल रहा है और इसके अस्तित्व के औचित्य पर भी कोई सन्देह नहीं किया जाता है। प्रो. जितेन्द्र रंजन ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि “राज्यसभा न केवल रचना की दृष्टि से विश्व का सबसे अधिक श्रेष्ठ द्वितीय सदन है, वरन् यह आधुनिक प्रजातन्त्र के योग्य तथा द्वितीय सदन के उद्देश्य की पूर्ति करने की दृष्टि से भी सर्वाधिक सन्तुलित द्वितीय सदन है।”

लोकसभा और राज्यसभा की तुलना और दोनों

का पारस्परिक सम्बन्ध

लोकसभा और राज्यसभा का तुलनात्मक अध्ययन या दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) नामकरण के सम्बन्ध में—भारतीय संसद के दो सदन हैं : लोकसभा तथा राज्यसभा। लोकसभा संसद का प्रथम अथवा निम्न सदन है और राज्यसभा द्वितीय तथा उच्च सदन है। लोकसभा को ‘लोकप्रिय सदन’ और राज्यसभा को ‘वरिष्ठ सदन’ भी कहा जाता है।

(2) प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में—लोकसभा भारत की समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करती है और राज्यसभा भारतीय संघ की इकाइयों अर्थात् राज्यों और केन्द्रशासित क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करती है, लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि राज्यसभा में भारतीय संघ के सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया है।

(3) सदस्य संख्या के सम्बन्ध में—लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 552 हो सकती है। वर्तमान समय में यह सदस्य संख्या 545 है। राज्यसभा में अधिक-से-अधिक सदस्य 250 हो सकते हैं, जिनमें से 12 मनोनीत और 238 परोक्ष रूप में निर्वाचित होंगे। वर्तमान समय में यह सदस्य संख्या 245 (233+12) है। इस प्रकार लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगुनी से भी अधिक है और संयुक्त बैठक में यह सदस्य संख्या ही लोकसभा की शक्ति का आधार है।

(4) निर्वाचन के सम्बन्ध में—लोकसभा के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर और प्रत्यक्ष निर्वाचन के तरीके से होता है। राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर होता है।

(5) कार्यकाल के सम्बन्ध में—लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है, लेकिन राज्यसभा एक स्थायी सदन है जो कभी भंग नहीं होता है। राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष के बाद अवकाश ग्रहण कर लेते हैं और इतने ही नये सदस्य निर्वाचित कर लिए जाते हैं।

(6) साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में—सैद्धान्तिक दृष्टि से साधारण या अवितीय विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों सदनों की शक्तियां बराबर हैं। साधारण विधेयक दोनों सदनों में से पहले

किसी में भी पेश किये जा सकते हैं। यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक के बारे में मतभेद उत्पन्न हो जाय तो अनुच्छेद 108 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है। संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर उस विधेयक के सम्बन्ध में निर्णय लिया जायेगा। लोकसभा की सदस्य संख्या राज्यसभा की दुगुनी से भी अधिक होने के कारण संयुक्त बैठक में लोकसभा की ही इच्छानुसार कार्य होने की सम्भावना अधिक रहती है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्यसभा को साधारण विधेयकों के बारे में लोकसभा के बराबर शक्ति प्राप्त होते हुए भी व्यवहार में उसकी स्थिति लोकसभा से बहुत निर्बल होती है।

(7) **संवैधानिक संशोधन के सम्बन्ध में**—संसद के दोनों सदनों को समान शक्ति प्राप्त है। संविधान संशोधन से सम्बन्धित विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जाता है और उसे संसद के दोनों सदनों द्वारा अपने विशेष बहुमत से पारित किया जाना आवश्यक है। व्यवहार के अन्तर्गत अब तक केवल एक बार (1975 में 40वां संशोधन विधेयक) संविधान संशोधन विधेयक राज्यसभा में प्रस्तावित किया गया है।

(8) **वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में**—वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में संविधान के द्वारा ही लोकसभा को राज्यसभा से अधिक शक्ति दी गयी है। संविधान के अनुसार, वित्त विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित किये जायेंगे और लोकसभा से पारित होने पर ये विधेयक राज्यसभा में आयेंगे, जिसके द्वारा अधिक-से-अधिक 14 दिन तक ऐसे किसी विधेयक पर विचार किया जा सकता है। राज्यसभा के सुझावों को मानना या न मानना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है।

(9) **कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में**—संसदात्मक शासन में मन्त्रिमण्डल संसद के लोकप्रिय सदन के ही प्रति उत्तरदायी होता है, अतः भारत में भी मन्त्रिमण्डल लोकसभा के ही प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है, राज्यसभा के प्रति नहीं। राज्यसभा के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं और उनकी आलोचना भी कर सकते हैं, परन्तु अविश्वास प्रस्ताव के आधार पर मन्त्रिमण्डल को पदच्युत करने का अधिकार केवल लोकसभा को ही प्राप्त है। अतः कार्यपालिका पर नियन्त्रण की दृष्टि से लोकसभा राज्यसभा की तुलना में निश्चित रूप से अधिक शक्तिशाली है।

(10) **अन्य कार्यों और अधिकारों के सम्बन्ध में**—निम्न मामलों में दोनों सदनों की शक्तियाँ समान हैं :

- (i) राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में दोनों ही सदनों के सदस्य समान रूप से भाग लेते हैं।
- (ii) राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का अधिकार दोनों ही सदनों को है। एक सदन अभियोग लगाता है और दूसरा उसकी जांच करता है।
- (iii) सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक तथा मुख्य चुनाव आयुक्त को पदच्युत करने के लिए दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है।
- (iv) राष्ट्रपति द्वारा की गयी संकटकालीन उद्घोषणा की स्वीकृति संसद के दोनों सदनों से आवश्यक है।

(11) **राज्यसभा की अनन्य शक्तियाँ**—राज्यसभा को राज्यों के एकमात्र प्रतिनिधि होने के नाते दो अनन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। प्रथम अनुच्छेद 249 के अनुसार, राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से घोषित कर सकती है कि

राष्ट्रीय हित में संसद को राज्य सूची के अमुक विषय पर कानून बनाना चाहिए। द्वितीय अनुच्छेद 312 के अनुसार, उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से राज्यसभा नवीन अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के लिए प्रस्ताव पास करती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचना से यह नितान्त स्पष्ट है कि राज्यसभा को लोकसभा की तुलना में कम शक्तियां प्राप्त हैं और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक है। संसदीय व्यवस्था में अन्तिम निर्णय की शक्ति लोकप्रिय सदन को ही प्राप्त हो सकती है, परोक्ष रूप में निर्वाचित द्वितीय सदन को नहीं। संविधान-निर्माताओं के द्वारा राज्यसभा की कल्पना प्रथम सदन के सहायक और सहयोगी सदन के रूप में की गयी थी, प्रतिद्वन्द्वी सदन के रूप में नहीं और राज्यसभा के द्वारा इसी रूप में आचरण किया गया है।

विधि-निर्माण की प्रक्रिया (LAW-MAKING PROCEDURE)

साधारण विधेयक मन्त्रियों अथवा संसद के निजी सदस्यों द्वारा संसद के किसी भी सदन में रखे जा सकते हैं। इंग्लैण्ड की भांति भारत में भी विधेयक के तीन वाचन होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं :

प्रथम वाचन—विधेयक को प्रस्तावित करना—कुछ विषयों से सम्बन्धित विधेयकों को सदन में प्रस्तावित करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक होती है; जैसे, राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने वाले विधेयक। साधारणतया किसी विधेयक को प्रस्तुत करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए एक माह का नोटिस देना आवश्यक होता है। यदि कोई सदस्य किसी विधेयक को पेश करना चाहता है, तो उसे सदन की आज्ञा लेनी होती है। आज्ञा मिलने पर विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य, यदि विधेयक महत्वपूर्ण हुआ, तो उसकी मुख्य बातों के सम्बन्ध में एक भाषण भी दे सकता है। इसी समय विधेयक के विरोधी सदस्य द्वारा भी अपने विचार व्यक्त किये जा सकते हैं। यही विधेयक का प्रथम वाचन कहलाता है और इसके बाद विधेयक सरकारी गजट में प्रकाशित किया जाता है। परन्तु जब कभी लोकसभा का अध्यक्ष किसी विधेयक को सदन में पेश करने की आज्ञा प्रदान करने के पूर्व ही उसे सरकारी गजट में प्रकाशित करने की आज्ञा दे दे, तो प्रथम वाचन इससे पूरा हुआ समझ लिया जाता है।

द्वितीय वाचन—इसके बाद एक निश्चित दिन विधेयक का द्वितीय वाचन प्रारम्भ होता है। उस दिन विधेयक का प्रस्तावक इन तीन में से कोई एक प्रस्ताव रखता है—(1) विधेयक प्रवर समिति को विचारार्थ सौंप दिया जाय। (2) जनमत जानने के लिए प्रस्तावित किया जाय। (3) उस पर तत्काल ही विचार किया जाय। साधारणतः अति आवश्यक सरकारी अथवा विवाद-रहित विधेयकों को छोड़कर अन्य विधेयकों पर तत्काल विचार नहीं किया जाता है। समाज-सुधार सम्बन्धी विधेयक बहुधा जनमत जानने के लिए प्रसारित किये जाते हैं। किन्तु अधिकांश विधेयकों पर विचार हेतु 'प्रवर समितियां' बना दी जाती हैं। उनमें से कोई-सा भी प्रस्ताव पास होने पर सदन में विधेयक के मूल सिद्धान्तों पर वाद-विवाद होता है। इस समय विस्तार की बातों पर वाद-विवाद नहीं होता और न ही कोई संशोधन पेश किया जाता है। इसके उपरान्त विधेयक तीसरी स्थिति में आता है, जिसे समिति स्थिति कहते हैं। प्रवर समिति में विधेयक का प्रस्तावक तथा कुछ अन्य सदस्य होते हैं। प्रवर समिति विधेयक की

प्रत्येक धारा पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करती और उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन करती है। इसके उपरान्त विधेयक का प्रस्तावक निश्चित दिन सदन के सम्मुख प्रवर समिति की रिपोर्ट पर विचार करने का प्रस्ताव रखता है। उसके स्वीकार हो जाने पर सदन में विधेयक के संशोधित रूप की एक-एक धारा पर विस्तारपूर्वक विचार होता है। इस समय विचाराधीन अनुच्छेद या उसके खण्ड पर सदस्य अपनी ओर से संशोधन प्रस्तुत करते हैं। पहले संशोधन पर वाद-विवाद होता है और उस पर मत लिया जाता है, तब संशोधित अनुच्छेद पर मत लिया जाता है। इस पर विधेयक के एक-एक अनुच्छेद को स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जाता है। वस्तुतः विधेयक के पास होने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण चरण यही होता है।

तृतीय वाचन—अन्त में विधेयक को किसी निश्चित दिन सदन के विचारार्थ लाया जाता है, यह वाचन मुख्यतया औपचारिक ही होता है, क्योंकि इस चरण में विधेयक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जा सकता। तृतीय वाचन में साधारणतया विधेयक के अस्पष्ट शब्दों को अधिक स्पष्ट करने और उसमें भाषा सम्बन्धी सुधार किये जाते हैं। विधेयक पर मत लिये जाते हैं और यदि बहुमत विधेयक के पक्ष में हो, तो सदन का अध्यक्ष विधेयक को पास हुआ प्रमाणित करके उसे दूसरे सदन में भेज देता है। दूसरे सदन द्वारा भी विधेयक के सम्बन्ध में यही प्रक्रिया अपनायी जाती है। दूसरे सदन द्वारा विधेयक को अस्वीकृत किये जाने या उसमें ऐसे संशोधन किये जाने पर, जो प्रथम सदन को स्वीकार्य न हो, अनुच्छेद 108 के अनुसार, राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुला सकता है और संयुक्त बैठक में बहुमत के आधार पर विधेयक के भाग्य का निर्णय होता है। यदि दूसरा सदन 6 माह तक विधेयक पर कोई कार्यवाही न करे, तो भी राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है।

विधेयक के दोनों सदनों द्वारा पारित होने पर वह राष्ट्रपति के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति उसे स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकता है या विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। राष्ट्रपति द्वारा विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटाने पर यदि दोनों सदन विधेयक को संशोधन के साथ या बिना संशोधन के अस्वीकार कर लेते हैं तो राष्ट्रपति उस पर स्वीकृति प्रदान करने के लिए बाध्य होता है।

संविधान संशोधन विधेयक पारित किये जाने की भी वही प्रक्रिया है जो प्रक्रिया साधारण विधेयकों के पास किये जाने की है। अन्तर केवल यह है कि संविधान संशोधन विधेयक के सम्बन्ध में संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की कोई व्यवस्था नहीं है और इस प्रकार के विधेयक के लिए संसद के दोनों सदनों से पृथक्-पृथक् स्वीकृति होना आवश्यक है।

वित्त विधेयक के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें—साधारणतया आय-व्यय से सम्बन्धित सभी विधेयक वित्त विधेयक कहे जा सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 110 में यह भी स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार के विधेयक वित्त विधेयक कहे जायेंगे। कोई विधेयक वित्त विधेयक है अथवा नहीं, इसका अन्तिम निर्णय लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा किया जायेगा।

वित्त विधेयक पारित करने की भी प्रक्रिया लगभग वही है जो साधारण विधेयक पारित करने की है, फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें हैं। प्रथम, वित्त विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति से ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं और ये विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तावित हो सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। द्वितीय, लोकसभा द्वारा पारित होने पर वित्त विधेयक राज्यसभा

में उपस्थित किये जाते हैं और राज्य सभा को 14 दिन के भीतर वित्त विधेयक पर अपना मत प्रकट करने का अधिकार है। यदि लोकसभा राज्यसभा की सिफारिश स्वीकार न करे, तो विधेयक उस रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है, जिस रूप में वह लोकसभा द्वारा पारित हुआ था। यदि राज्यसभा 14 दिन में विधेयक पर अपना मत व्यक्त नहीं करती है तो 14 दिन की समाप्ति पर विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से कानून बन जाता है।

प्रश्न

1. राज्यसभा का गठन कैसे होता है? इसके कार्यों पर प्रकाश डालिए।
2. लोकसभा तथा राज्यसभा के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।
3. लोकसभा की रचना किस प्रकार होती है? राज्यसभा से उसके सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
4. भारतीय संसद में विधि निर्माण प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
5. भारत के संघीय संविधान के अन्तर्गत संसद के कार्यों का वर्णन कीजिए।
6. राज्यसभा के संगठन पर प्रकाश डालिए। भारतीय संसद में राज्यसभा का क्या महत्व है?
7. लोकसभा के अध्यक्ष (स्पीकर) का चुनाव किस प्रकार होता है? उसकी शक्तियों तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
8. लोकसभा और राज्यसभा के अधिकारों व शक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
9. भारतीय संसद के कार्यों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।

8

भारतीय न्यायपालिका : सर्वोच्च न्यायालय

(INDIAN JUDICIARY : SUPREME COURT)

सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व (NECESSITY AND IMPORTANCE OF SUPREME COURT)

भारतीय राज-व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता और महत्व का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) संविधान का रक्षक—भारत में एक लिखित और कठोर संविधान को अपनाया गया है और इसके साथ ही संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है। संविधान की सर्वोच्चता को बनाये रखने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जाता है।

सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा संविधान के रक्षक और संविधान के अधिकारिक व्याख्याता के रूप में कार्य किया जाता है। वह संसद द्वारा निर्मित ऐसी प्रत्येक विधि को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के विरुद्ध हो। अपनी इस शक्ति के आधार पर वह संविधान की प्रभुता और सर्वोच्चता की रक्षा करता है। संविधान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर संविधान की अधिकारपूर्ण व्याख्या उसी के द्वारा की जाती है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय संविधान की रक्षा करता है।

(2) संघात्मक व्यवस्था का रक्षक—संविधान के द्वारा भारत में एक संघात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी है जिसके अन्तर्गत संविधान द्वारा ही संघीय और राज्य सरकार के बीच शक्ति विभाजन किया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय इस शक्ति विभाजन की रक्षा करता है और संघीय या राज्य सरकारों को अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर कोई कार्य करने से रोक सकता है।

इसके अलावा संविधान द्वारा चाहे कितना ही अधिक स्पष्ट शक्ति विभाजन क्यों न किया जाय, अनेक विषयों पर संघीय या राज्य सरकारों के बीच या राज्य सरकारों में ही परस्पर विवाद उत्पन्न हो सकता है, जिसका निपटारा एक सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा ही किया जा सकता है।

(3) मूल अधिकारों का रक्षक—भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं और इन मूल अधिकारों की रक्षा भी सर्वोच्च न्यायालय ही करता है।

1 *Crisis in Indian Judiciary*, p. 23.

यदि व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या अन्य कोई सत्ता नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करती है, तो सर्वोच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उद्घेष्टन जव जैसी आवश्यकता हो, वैसा आदेश जारी कर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है।

इस प्रकार संविधान के रक्षक, संघात्मक व्यवस्था के रक्षक और मूल अधिकारों के रक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है।

सर्वोच्च न्यायालय की रचना या संगठन

(COMPOSITION OF THE SUPREME COURT)

(1) न्यायाधीशों की संख्या—मूल रूप से सर्वोच्च न्यायालय के लिए एक मुख्य न्यायाधीश तथा सात अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गयी थी और संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या, सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार, न्यायाधीशों के वेतन या सेवा शर्तें निश्चित करने का अधिकार संसद को दिया गया था। संसद के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि की जाती रही है और अब 'सर्वोच्च न्यायालय न्यायाधीशों की संख्या अधिनियम, 1985' के द्वारा व्यवस्था की गयी है कि इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश और 25 अन्य न्यायाधीश होंगे। वर्तमान समय में यही व्यवस्था है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है। भारत के प्रमुख न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयों के ऐसे अन्य न्यायाधीशों से परामर्श लेता है, जिनसे वह इस सम्बन्ध में परामर्श लेना आवश्यक समझता है।

(2) न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रक्रिया—राष्ट्रपति द्वारा भेजे गये सन्दर्भ (Reference) और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 28 अक्टूबर, 1998 को दिये गये निर्णय के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया अब इस प्रकार है : राष्ट्रपति द्वारा ये नियुक्तियां सर्वोच्च न्यायालय से प्राप्त परामर्श के आधार पर की जाएंगी। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश इस प्रसंग में राष्ट्रपति को परामर्श देने के पूर्व 'चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह' से परामर्श प्राप्त करेंगे तथा न्यायाधीशों से प्राप्त परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति को परामर्श देंगे। सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ ने अपने सर्वसम्मत निर्णय में कहा है कि "वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह को एक मत से सिफारिश करनी चाहिए। जब तक न्यायाधीशों के समूह की राय मुख्य न्यायाधीश के विचार से मेल नहीं खाए, तब तक मुख्य न्यायाधीश द्वारा राष्ट्रपति से कोई सिफारिश नहीं की जानी चाहिए। मुख्य न्यायाधीश द्वारा न्यायाधीशों से सिफारिश लिखित में ली जानी चाहिए।"¹

सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कर दिया कि "यदि भारत के मुख्य न्यायाधीश परामर्श की प्रक्रिया पूरी किये बिना न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को सिफारिश करते हैं, तो सरकार ऐसी सिफारिशें मानने के लिए बाध्य नहीं है।"²

(3) न्यायाधीशों की योग्यताएं—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है :

1. वह भारत का नागरिक हो।

1 Supreme Court : Chief Justice must follow constitutional process; *Hindustan Times*, 29th October, 1998.

2 *Ibid.*

2. वह किसी उच्च न्यायालय अथवा दो या दो से अधिक न्यायालयों में लगातार कम-से-कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश से रूप में कार्य कर चुका हो।

या

किसी उच्च न्यायालय या न्यायालयों में लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो।

3. राष्ट्रपति की दृष्टि में कानून का उच्च कोटि का ज्ञाता हो।

(4) कार्यकाल तथा महाभियोग—साधारणतया सर्वोच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रह सकता है। इस अवस्था के पूर्व वह स्वयं त्यागपत्र दे सकता है। सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के कारण संसद के द्वारा न्यायाधीश को उसके पद से हटाया जा सकता है। यदि संसद के दोनों सदन अलग-अलग अपने कुल सदस्यों की संख्या के बहुमत तथा दोनों सदनों की बैठकों में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से इसको अयोग्य या आपत्तिजनक आचरण करने वाला प्रमाणित कर देते हैं तो भारत के राष्ट्रपति के आदेश से उस न्यायाधीश को उसके पद से हटना होगा। न्यायाधीश को हटाने वाला प्रस्ताव संसद के एक ही सत्र में स्वीकार होना चाहिए। महाभियोग की प्रक्रिया में न्यायाधीश को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का पूरा अवसर दिया जायेगा।

भारत में अब तक केवल एक बार 1992-93 में सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश जी. रामास्वामी के विरुद्ध संसद में महाभियोग का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, लेकिन संसद में जब इस प्रस्ताव पर विचार चल रहा था, तभी शासक दल के द्वारा प्रस्ताव वापस ले लिया गया। इस प्रकार भारत के संवैधानिक इतिहास में अब तक किसी न्यायाधीश के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव पारित नहीं किया गया है।

(5) वेतन-भत्ते तथा अन्य सुविधाएं—संविधान के अनुच्छेद 125 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे वेतन दिये जायेंगे, जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करें। ये वेतन और भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जाते हैं और सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन-भत्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

1998 में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन में आवश्यक सुधार किया गया है। अब सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 33 हजार रुपए प्रति माह व अन्य न्यायाधीशों को 30 हजार रुपए प्रति माह वेतन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को निवास-स्थान, मासिक भत्ता, यात्रा भत्ता, मनोरंजन भत्ता, स्टाफ कार, सीमित मात्रा में पेट्रोल तथा अन्य कुछ आवश्यक सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

न्यायाधीशों के पेंशन व सेवा-निवृत्ति वेतन (ग्रेजुइटी) की व्यवस्था सर्वप्रथम 1976 ई. में की गई थी और 1998 में उनकी पेंशन, सेवा-निवृत्ति वेतन व अन्य सेवा शर्तों में आवश्यक सुधार किया गया है।

(6) उन्मुक्तियां—न्यायाधीशों को अपने सभी कार्यों पर निर्णयों के लिए आलोचना से मुक्ति प्रदान की गयी है, किन्तु न्यायालय के किसी निर्णय या किसी न्यायाधीश की किसी सम्मति की शैक्षणिक दृष्टि से आलोचनात्मक विवेचना की जा सकती है। न्यायाधीशों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने किसी प्रेरणा या हितवश एक विशेष प्रकार का निर्णय दिया। संसद के द्वारा भी महाभियोग के प्रस्ताव पर विचार करने के अतिरिक्त अन्य किसी समय पर न्यायाधीशों के आचरण पर विचार नहीं किया जा सकता।

भारतीय न्यायपालिका

सर्वोच्च न्यायालय

राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करता है।



मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से वही अधिकतम
25 न्यायाधीशों को नियुक्त करता है।



इनके अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय हैं।



इनके अधीन जिलों के निम्न न्यायालय हैं।

(7) न्यायालय का मुख्य स्थान—अनुच्छेद 130 के अनुसार, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है। मुख्य न्यायाधीश, राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति लेकर दिल्ली के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर सर्वोच्च न्यायालय की बैठकें बुला सकता है। अब तक हैदराबाद और श्रीनगर में इस प्रकार की बैठकें की जा चुकी हैं।

(8) न्यायाधीशों पर प्रतिबन्ध—संविधान में यह निश्चित किया गया है कि जो व्यक्ति भारत के सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश रह चुके हैं वे पद से निवृत्ति के बाद भारत में किसी भी न्यायालय या किसी भी अधिकारी के सामने वकालत नहीं कर सकते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार या शक्तियाँ तथा कार्य

(JURISDICTION OR POWERS AND FUNCTIONS OF THE SUPREME COURT)

भारतीय संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को बहुत अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं, जिनका अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को निम्नांकित दो वर्गों में रखा जा सकता है :

(क) प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार—प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार का आशय उन विवादों से है, जिनकी सुनवाई भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक एकमेव क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं :

- (i) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद;
- (ii) भारत सरकार, संघ का कोई राज्य या राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद;
- (iii) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच संवैधानिक विषयों के सम्बन्ध में उत्पन्न कोई विवाद।

(ख) प्रारम्भिक समवर्ती क्षेत्राधिकार—संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों को लागू करने के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के साथ-साथ उच्च न्यायालय को भी अधिकार प्रदान किया गया है। अतः मूल अधिकारों के उल्लंघन से सम्बन्धित जो विवाद हैं, वे चाहे तो पहले किसी राज्य के उच्च न्यायालय में और चाहे तो सीधे सर्वोच्च न्यायालय में उपस्थित किये जा सकते हैं।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के साथ-साथ संविधान ने अपीलीय क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है और यह भारत का अन्तिम अपीलीय न्यायालय है। उसे समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का

अधिकार है। सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को निम्न चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, **संवैधानिक, दीवानी, फौजदारी व विशिष्ट**।

(क) **संवैधानिक**—संविधान के अनुच्छेद 132 के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है, तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण-पत्र न दे तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर सकता है, यदि उसको यह विश्वास है कि उस विषय में संविधान से सम्बन्धित कोई प्रश्न निहित है।

(ख) **दीवानी**—इस सम्बन्ध में मूल संविधान के अन्तर्गत जो व्यवस्था थी, उसे 1973 में हुए संविधान के 30वें संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 133 को संशोधित कर धनराशि की सीमा हटाते हुए अब यह निश्चित किया गया है कि उच्च न्यायालय से सर्वोच्च न्यायालय में ऐसे सभी दीवानी विवादों की अपील की जा सकेगी, जिनमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि इन विवादों में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्गस्त हैं।

(ग) **फौजदारी**—फौजदारी के क्षेत्र में उन विवादों में उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है जिनमें (1) उच्च न्यायालय ने नीचे के न्यायालय के ऐसे किसी निर्णय को रद्द करके अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दे दिया हो, जिसमें नीचे के न्यायालय ने अभियुक्त को अपराध-मुक्त कर दिया हो; या (2) उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालय में चल रहे किसी विवाद को अपने यहां लेकर अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया हो; या (3) उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील के योग्य है।

(घ) **विशिष्ट**—कुछ ऐसे मामले हो सकते हैं जो उपर्युक्त श्रेणी में नहीं आते लेकिन जिनमें सर्वोच्च न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अतः अनुच्छेद 135 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि सैनिक न्यायालय को छोड़कर वह भारत के अन्य किसी न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण (Tribunal) के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने की अनुमति प्रदान कर दे। अपीलीय क्षेत्राधिकार की दृष्टि से भारत का सर्वोच्च न्यायालय विश्व में सबसे शक्तिशाली है। संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय को या दुनिया के अन्य किसी देश के सर्वोच्च न्यायालय को अपीलीय क्षेत्र में इतनी व्यापक शक्तियां प्राप्त नहीं हैं।

(3) **अपील के लिए विशेष आज्ञा देने का अधिकार**—संविधान के अनुच्छेद 136 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को स्वयं भी यह अधिकार प्राप्त है कि वह सैनिक न्यायालय को छोड़कर भारत राज्य क्षेत्र के किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण (Tribunal) के निर्णय के विरुद्ध अपने यहां अपील की अनुमति दे सकता है। उसकी इस शक्ति पर कोई संवैधानिक प्रतिबन्ध नहीं है।

दुर्गादास बसु इस अधिकार के सम्बन्ध में लिखते हैं कि “सर्वोच्च न्यायालय अपने इस अधिकार का प्रयोग प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त के अनुसार कर सकता है।”

(4) **पुनर्विचार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार**—संविधान के अनुच्छेद 137 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्वयं द्वारा दिये गये आदेश या निर्णय पर पुनर्विचार कर उचित समझे तो उसमें आवश्यक परिवर्तन कर सके। ऐसा उस समय किया जाता है जबकि सर्वोच्च न्यायालय को यह सन्देह हो कि उसके द्वारा दिये गये निर्णय में

किसी पक्ष के प्रति न्याय नहीं हुआ है। यदि उस विवाद के सम्बन्ध में कोई नवीन तथ्य प्रकाश में आये हों, तब भी ऐसा किया जा सकता है।

(5) परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार—संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार भी प्रदान किया है। अनुच्छेद 143 के अनुसार यदि किसी समय राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न पैदा हुआ है, जो सार्वजनिक महत्व का है तो वह उस प्रश्न पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श मांग सकता है। न्यायालय के परामर्श को स्वीकार या अस्वीकार करना राष्ट्रपति के विवेक पर निर्भर होगा। अभी तक राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से केवल 10 बार परामर्श प्राप्त किया है। अन्तिम बार 2002 ई. में अनुच्छेद 174 (विधानसभा के दो सत्रों के बीच अधिकतम अवधि और चुनाव के प्रसंग में चुनाव आयोग के अधिकार और भूमिका के सम्बन्ध में परामर्श प्राप्त किया गया है। अब यह निश्चित हो गया है कि राष्ट्रपति जब सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श मांगें, तब सर्वोच्च न्यायालय उस विषय पर विचार करने के बाद यदि परामर्श देना अनुचित या अनावश्यक समझें, तो उसके द्वारा किसी विषय विशेष पर राष्ट्रपति को परामर्श देने से इंकार किया जा सकता है।

राष्ट्रपति ने जनवरी '93 में सर्वोच्च न्यायालय से इस विषय पर परामर्श मांगा था कि विवादास्पद बाबरी मस्जिद से पूर्व वहां कोई मन्दिर था या नहीं। सर्वोच्च न्यायालय ने 24 अक्टूबर, 1994 को अपने सर्वसम्मत ऐतिहासिक निर्णय में राष्ट्रपति को इस सम्बन्ध में परामर्श देने से इंकार कर दिया।

(6) अभिलेख न्यायालय (Court of Record)—अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को अभिलेख न्यायालय का स्थान प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय के दो आशय हैं : प्रथम, इस न्यायालय के निर्णय सब जगह तथा साक्षी के रूप में स्वीकार किये जायेंगे और इन्हें किसी भी न्यायालय में प्रस्तुत किये जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रश्न नहीं उठाया जायेगा। द्वितीय, इस न्यायालय के द्वारा 'न्यायालय अवमान' (Contempt of Court) के लिए किसी भी प्रकार का दण्ड दिया जा सकता है।

(7) मूल अधिकारों का रक्षक—भारत का सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों का रक्षक है। अनुच्छेद 32 सर्वोच्च न्यायालय को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराता है कि वह मूल अधिकारों को लागू करने के लिए आवश्यक कार्यवाही करे। न्यायालय मूल अधिकारों की रक्षा के लिए बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण के लेख जारी कर सकता है। किसी व्यक्ति के अधिकारों का हनन होने पर वह सीधे सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के कार्य के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय मूल अधिकारों की रक्षा के प्रति सदा सजग रहा है तथा इस कार्य में सफल रहा है।

(8) संविधान का संरक्षक : न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति (Power of Judicial Review)—संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को संविधान के संरक्षण का कार्य भी प्रदान किया गया है जिसका अर्थ यह है कि सर्वोच्च न्यायालय को कानूनों की वैधानिकता की जांच करने की शक्ति प्राप्त है। अनुच्छेद 131 और 132 सर्वोच्च न्यायालय को संघीय तथा राज्य सरकारों द्वारा निर्मित विधियों के पुनर्विलोकन का अधिकार देते हैं। अतः यदि संघीय या राज्य विधानमण्डल संविधान का अतिक्रमण करते हैं या मूल अधिकारों के विरुद्ध विधि का निर्माण करते हैं तो संघीय या राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित ऐसी विधि को सर्वोच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को 'न्यायिक

पुनर्विलोकन की शक्ति' (Power of Judicial Review) कहा जाता है। सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति शासन को मर्यादित रखने का एक प्रमुख साधन है। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय की सबसे अधिक महत्वपूर्ण शक्ति है।

(9) न्यायिक क्षेत्र का प्रशासन—सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक क्षेत्र के प्रशासन का अधिकार भी प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद 145 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकी सेवा शर्तें निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त है लेकिन राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो यह निर्देश दे सकता है कि इस प्रकार की नियुक्तियां लोक सेवा आयोग से परामर्श के बाद की जायें। सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालय को भी न्यायिक प्रशासन के सम्बन्ध में निर्देश दे सकता है।

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय को संघीय व्यवस्था और मूल अधिकारों के रक्षक तथा भारतीय संघ के अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में बहुत अधिक व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र की इस व्यापकता को देखकर ही भारत के भूतपूर्व महान्यायवादी एम. सी. सीतलवाड ने कहा था कि "इस न्यायालय का न्यायक्षेत्र तथा उसकी शक्तियां राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश के सर्वोच्च न्यायालय तथा संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यक्षेत्र तथा शक्तियों से व्यापक हैं।" सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के क्रियाकलाप को देखकर कहा जा सकता है कि संघीय व्यवस्था, मूल अधिकार और संविधान की रक्षा करने में सर्वोच्च न्यायालय ने सदैव ही निष्पक्षता, निर्भीकता और न्यायपरायणता का परिचय दिया है।

जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता (Public Interest Litigations and Judicial Activism)

1980 के बाद से ही और विशेषतया 1994-2003 के वर्षों में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता के आधार पर समस्त राजनीतिक व्यवस्था में पहले से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त कर ली है। अपनी इस भूमिका के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने विभिन्न सरकारी एजेन्सियों को अपने कार्य ठीक ढंग से करने के लिए निर्देश दिये हैं और इस बात को प्रतिपादित किया है कि 'व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा हो, कानून उससे ऊपर है' तथा सरकारी एजेन्सियों को अपना कार्य निष्पक्षता के साथ करने चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय ने तो 1996 में प्रधानमंत्री को भी निर्देश दिया कि वे कर्नाटक तथा तमिलनाडु के बीच 'कावेरी जल विवाद' को हल करने के लिए प्रयत्न करें। न्यायपालिका के उच्च स्तर पर अपनाई गई न्यायिक सक्रियता की इस स्थिति की कुछ पक्षों द्वारा आलोचना की गई है, लेकिन इस प्रसंग में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि विधायिका और कार्यपालिका अपने दायित्वों को पूरा करने में असफल रही और इसी कारण न्यायपालिका को न्यायिक सक्रियता की स्थिति अपनानी पड़ी। न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता की स्थिति को अपनाकर समस्त राजनीतिक व्यवस्था में देश की जनता के विश्वास को बनाये रखने का कार्य किया है।

1 "The jurisdiction and powers of this Court are wide than those exercised by highest court of any country in the Commonwealth or the Supreme Court of America."

—M. G. Sitalvad while inaugurating the Supreme Court on 27 Jan., 1950.

सर्वोच्च न्यायालय या न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

(INDEPENDENCE OF THE JUDICIARY OR OF THE SUPREME COURT)

एक स्वतन्त्र न्यायपालिका ही निष्पक्ष न्याय प्रदान कर सकती है। अतः भारतीय संविधान द्वारा न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। न्यायपालिका को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी हैं :

(1) न्यायाधीशों की नियुक्ति—संविधान के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को सौंपा गया है जो मुख्य न्यायाधीश तथा न्यायाधीशों से परामर्श प्राप्त करते हुए न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है।

(2) दीर्घ कार्यकाल और पद की सुरक्षा—भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर आसीन रहते हैं। उन्हें साधारणतया पदच्युत नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को केवल सिद्ध कदाचार या अक्षमता के आधार पर हटा सकता है, लेकिन वह ऐसा तभी कर सकता है जब इस हेतु संसद के प्रत्येक सदन की समस्त संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित प्रस्ताव उसके समक्ष रखा जाय। पदच्युति की इस पद्धति को व्यवहार में अपनाया जाना बहुत कठिन होता है।

(3) वेतन पर्याप्त और संसदीय नियन्त्रण से परे—न्यायाधीशों को अपनी प्रतिष्ठा तथा स्थिति को बनाये रखने के लिए पर्याप्त वेतन दिया जाता है। मुख्य न्यायाधीश को 33 हजार रुपये मासिक व अन्य न्यायाधीशों को 30 हजार रुपये मासिक वेतन मिलता है तथा इन्हें भत्ते और अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। वित्तीय संकट को छोड़कर अन्य किसी भी स्थिति में न्यायाधीशों के वेतन व भत्ते में कमी नहीं की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को संसद के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रखने के लिए व्यवस्था की गयी है कि सर्वोच्च न्यायालय के सभी व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होंगे।

(4) कार्य-प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने की शक्ति—सर्वोच्च न्यायालय की कार्य-प्रणाली के नियमन हेतु नियम बनाने का अधिकार स्वयं सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है।

(5) कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण—सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारी वर्ग पर नियन्त्रण प्राप्त है। न्यायालय के सभी अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों द्वारा की जाती है। उनकी सेवा शर्तें भी न्यायालय द्वारा ही निश्चित की जाती हैं।

(6) उन्मुक्तियाँ—सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय तथा कार्य आलोचना से परे हैं। संसद भी न्यायाधीशों के किन्हीं भी ऐसे कार्यों पर, जिन्हें उन्होंने कर्तव्य-पालन करते हुए किया है, विचार-विमर्श नहीं कर सकती।

(7) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत पर प्रतिबन्ध—संविधान सर्वोच्च न्यायालय के एक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायालय या अधिकारी के समक्ष वकालत करने से मना करता है; लेकिन जांच-पड़ताल या अन्वेषण आदि विशेष प्रकार के कार्यों के सम्पादन हेतु इनकी नियुक्ति की जा सकती है।

व्यवहार में, भारत के अन्तर्गत उच्चस्तरीय न्यायपालिका अब तक नितान्त निष्पक्ष रही है तथा इसके द्वारा व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के दबाव से अपने आपको पूर्णतया मुक्त रखा गया है।

अप्रैल, 1973 में मुख्य न्यायाधीश के पद से श्री सीकरी की पद-निवृत्ति के बाद तीन न्यायाधीशों (श्री शैलेट, श्री हेगड़े, श्री ग्रोवर), की वरिष्ठता का उल्लंघन करते हुए न्यायमूर्ति श्री ए. एन. रे को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। श्री रे की नियुक्ति ने व्यापक प्रतिक्रिया को जन्म दिया और विरोधस्वरूप तीन न्यायाधीशों (श्री शैलेट, श्री हेगड़े और श्री ग्रोवर) ने त्यागपत्र दे दिये। 3 जनवरी, 1977 को पुनः 1973 के ही ढंग पर न्यायमूर्ति एच. आर. खन्ना की वरिष्ठता का उल्लंघन करते हुए न्यायमूर्ति मिर्जा हमीदुल्ला बेग को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति की व्यापक आलोचना हुई और न्यायमूर्ति खन्ना ने त्यागपत्र दे दिया।

मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति और विवाद का निराकरण—1973 और 1977 में जिस प्रकार से मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति की गयी, उससे न्यायपालिका की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा। इसके अतिरिक्त 1977 में सत्तारूढ़ शासक वर्ग न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए वचनबद्ध था। अतः मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त को पुनः स्वीकार करते हुए वरिष्ठतम न्यायाधीश वाई. वी. चन्द्रचूड़ को मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया। उस समय से लेकर अब तक मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त को सदैव ही अपनाया गया है। शासन का यह कार्य न्यायपालिका की स्वतन्त्रता तथा उसके सम्मान को बनाये रखने की दृष्टि से उचित है। विधि आयोग की 80वीं रिपोर्ट में कहा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध में वरिष्ठता के सिद्धान्त का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए।¹ वस्तुतः मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्त निश्चित किये जाने चाहिए जिससे कि न्यायिक क्षेत्र की इन सर्वोच्च नियुक्तियों के सम्बन्ध में शासन के द्वारा मनमाना आचरण न किया जा सके और न्यायाधीश पद तथा पदधारी व्यक्ति विवाद के विषय न बनें। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा तथा लोकतन्त्र के सुचारु संचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता संदेह के परे होनी चाहिए, इस दृष्टि से यह सोचा जा रहा है कि विविध पक्षों और विशेषतया न्यायविदों से परामर्श करते हुए भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के लिए 'आचरण संहिता' (Code of conduct) तैयार की जानी चाहिए।

प्रश्न

1. सर्वोच्च न्यायालय की रचना तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए तथा यह बताइए कि सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए संविधान में क्या व्यवस्थाएं की गयी हैं?
3. भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के संगठन तथा उसके कार्यों का वर्णन कीजिए। उसे संविधान का संरक्षक क्यों कहा जाता है?
4. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के संगठन तथा उसके कार्यों का वर्णन कीजिए। भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय का क्या महत्व है?

1 *The Times of India*, 30 Jan., 1980.

9

राज्य की कार्यपालिका : राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद्

(EXECUTIVE OF STATE : GOVERNOR AND THE
COUNCIL OF MINISTERS)

राज्य की कार्यपालिका : राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद्

राज्य की कार्यपालिका में राज्यपाल और एक मन्त्रिपरिषद् होती है। संविधान के द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना की गयी है और इस संसदात्मक व्यवस्था में राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है, जबकि मन्त्रिपरिषद् राज्य की कार्यपालिका सत्ता की वास्तविक प्रधान होती है।

राज्य का वैधानिक प्रधान : राज्यपाल

राज्यपाल की नियुक्ति—संविधान के मूल प्रारूप में यह प्रस्तावित किया गया था कि राज्य की कार्यपालिका के प्रधान राज्यपाल का चुनाव राज्य की जनता के द्वारा किया जाना चाहिए। लेकिन संविधान सभा के द्वारा यह विचार इस आधार पर स्वीकार नहीं किया गया कि निर्वाचित प्रधान वास्तविक शक्तियां ग्रहण कर सकता है और राज्य प्रशासन के वैधानिक प्रधान के स्थान पर वास्तविक प्रधान बन सकता है। निर्वाचित प्रधान होने पर राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद् में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। संविधान-निर्माता व्यवस्थापिका द्वारा राज्य के प्रधान के चुनाव की पद्धति को भी नहीं अपनाना चाहते थे, क्योंकि इससे राज्य का प्रधान राजनीतिक दलों के हाथों का खिलौना बनकर रह जाता। इन सब कारणों से संविधान सभा ने संसदात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत एक निर्वाचित प्रधान की अपेक्षा मनोनीत प्रधान ही उपयुक्त समझा। अतः राज्यपाल की नियुक्ति संघ की कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपना पद धारण किया जाता है। उसकी नियुक्ति 5 वर्ष की अवधि के लिए की जायेगी, लेकिन वह अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण करने तक अपने पद पर बना रह सकता है। संविधान के अनुसार एक ही व्यक्ति को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल भी नियुक्त किया जा सकता है।

पद की योग्यताएं व बतन—राज्यपाल के पद पर नियुक्ति के लिए दो योग्यताएं होनी आवश्यक हैं। प्रथम, वह भारत का नागरिक हो और द्वितीय, उसकी आयु 35 वर्ष से अधिक हो। राज्यपाल संसद अथवा राज्य के विधानमण्डल का सदस्य नहीं हो सकता है और यदि वह किसी सदन का सदस्य है तो राज्यपाल के पद पर नियुक्ति की तिथि से उसे अपनी सदस्यता का त्याग करना होगा। राज्यपाल कोई लाभ का पद धारण नहीं कर सकता।

अगस्त, 1998 में संसद द्वारा पारित अधिनियम के अनुसार राज्यपाल को 36,000 रु. मासिक वेतन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त उसे निःशुल्क निवास-स्थान, भत्ते व अन्य सुविधाएं प्राप्त होंगी। वेतन तथा भत्तों में उसके कार्यकाल में कोई कमी नहीं की जा सकती है।

राज्यपाल की शक्तियां और कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF GOVERNOR)

संविधान के द्वारा राज्यपाल को पर्याप्त व्यापक शक्तियां प्रदान की गयी हैं। राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की है। अतः दोनों की शक्तियों में कुछ क्षेत्रों को छोड़कर बहुत कुछ समानता है। दुर्गादास बसु के शब्दों में, “थोड़े में राज्यपाल की शक्तियां राष्ट्रपति के समान हैं, सिर्फ कूटनीतिक, सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर।”¹ राज्यपाल की शक्तियों का अध्ययन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है :

(1) कार्यपालिका शक्तियां—राज्य की कार्यपालिका शक्तियां राज्यपाल में निहित हैं, जिनका प्रयोग वह स्वयं या अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करता है। वह मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है तथा उसके परामर्श पर अन्य मन्त्रियों की। वह महाधिवक्ता और लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल से परामर्श लेता है। राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियां राज्य सूची के 66 विषयों तक विस्तृत हैं। समवर्ती सूची के विषयों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति से वह अपने अधिकार का प्रयोग करता है। राज्य सरकार के कार्य के सम्बन्ध में वह नियमों का निर्माण करता है। वह मन्त्रियों के बीच कार्यों का वितरण करता है। उसे मुख्यमन्त्री से शासन से सम्बन्धित सभी विषयों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। वह मुख्यमन्त्री को किसी मन्त्री के व्यक्तिगत निर्णय को सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के सम्मुख विचार के लिए रखने को कह सकता है।

(2) विधायी शक्तियां—राज्यपाल राज्य की व्यवस्थापिका का एक अविभाज्य अंग है और विधायी क्षेत्र में उसे महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त हैं। वह व्यवस्थापिका का अधिवेशन बुलाता, स्थगित करता और व्यवस्थापिका के निम्न सदन विधानसभा को भंग करता है। आम चुनाव के बाद वह विधानमण्डल की पहली बैठक को सम्बोधित करता है और उसके बाद भी वह विधानमण्डल को सन्देश भेज सकता है।

राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। वह विधेयक को अस्वीकृत कर सकता या उसे पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल को लौटा सकता है। यदि विधानमण्डल दूसरी बार विधेयक पारित कर देता है, तो राज्यपाल को स्वीकृति देनी ही होगी। वह कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित रख सकता है।

यदि राज्य के विधानमण्डल का अधिवेशन न हो रहा हो, तो राज्यपाल अध्यादेश जारी कर सकता है। अध्यादेश को राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियमों के समान ही मान्यता प्राप्त होगी। यह अध्यादेश विधानमण्डल की बैठक आरम्भ होने के 6 सप्ताह बाद तक लागू रहता है। यदि 6 सप्ताह पूर्व ही विधानमण्डल इस अध्यादेश को अस्वीकृत कर दे, तो उस अध्यादेश को उसी समय से समाप्त समझा जायगा। कुछ विषयों के सम्बन्ध में अध्यादेश जारी करने के पूर्व राज्यपाल को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। राज्यपाल राज्य

1 “Shortly speaking the powers of Governor of the State are analogous to those of President, excepting the Governor has no diplomatic, military or emergency powers.”

—D. D. Basu, *Commentary on the Constitution of India*, Vol. III.

विधानपरिषद् के सदस्यों को ऐसे लोगों में से नामजद करता है जिन्हें साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आन्दोलन तथा समाज सेवा के क्षेत्र में विशेष तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो। यदि वह ऐसा समझे कि विधानसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है तो वह इस वर्ग के कुछ सदस्यों को मनोनीत कर सकता है।

(3) वित्तीय शक्तियाँ—राज्यपाल को कुछ वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। राज्य विधानसभा में राज्यपाल की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी धन विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वह व्यवस्थापिका के समक्ष प्रति वर्ष बजट प्रस्तुत करवाता है और उसकी अनुमति के बिना किसी भी अनुदान की मांग नहीं की जा सकती है। राज्यपाल विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त तथा अधिक अनुदानों की भी मांग कर सकता है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के ही अधिकार में रहती है। इस निधि में से व्यय कर लिया जाता है और बाद में विधानमण्डल से यह व्यय स्वीकार करवा लिया जाता है।

(4) न्यायिक शक्तियाँ—संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार जिन विषयों पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होता है उन विषयों सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता, स्थगित कर सकता, बदल सकता या उन्हें क्षमा प्रदान कर सकता है।

(5) विविध शक्तियाँ—उपर्युक्त के अतिरिक्त राज्यपाल को कुछ अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त हैं :

(i) वह राज्य लोक सेवा आयोग का वार्षिक प्रतिवेदन और राज्य के आय-व्यय के सम्बन्ध में महालेखा परीक्षक का प्रतिवेदन प्राप्त करता है और उन्हें विधानमण्डल के समक्ष रखता है।

(ii) अगर वह देखता है कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुसार चलना सम्भव नहीं है तो वह राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक तन्त्र की विफलता के सम्बन्ध में सूचना देता है और राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। संकटकालीन स्थिति में वह राज्य में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

राज्यपाल की स्थिति—संविधान के अनुच्छेद 163 (1) के अनुसार, “जिन बातों के सम्बन्ध में संविधान द्वारा या संविधान के अधीन राज्यपाल से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कार्यों का निर्वाह करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान मुख्यमन्त्री होगा।” वर्तमान समय में नगालैण्ड, सिक्किम और अरुणाचल प्रदेश के राज्यों के राज्यपालों को ही इस प्रकार की विवेकात्मक शक्तियाँ प्राप्त हैं और इन राज्यपालों को केवल कुछ निश्चित विषयों के सम्बन्ध में ही ये शक्तियाँ प्राप्त हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि साधारणतया राज्यपाल राज्य का वैधानिक अध्यक्षमात्र है और इनकी शक्तियाँ वास्तविक नहीं हैं।

किन्तु उसकी शक्तियाँ वास्तविक न होते हुए भी राज्य शासन में उसका स्थान सबसे अधिक सम्मानित और प्रतिष्ठित होता है। वह दलगत राजनीति से ऊपर होने के कारण निष्पक्ष होता है और राज्य के वास्तविक शासक (मन्त्रिगण) सदैव ही आवश्यकतानुसार उससे मन्त्रणा प्राप्त कर सकते हैं। अपने निर्दलीय व्यक्तित्व के आधार पर राज्यपाल राज्य शासन की ढिलमुल व्यवस्था में स्थायित्व व स्थिरता उत्पन्न करने की स्थिति में होता है। यदि राज्यपाल

प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला है तो वह विरोधी पक्ष और मन्त्रिमण्डल के बीच अनेक मतभेदों को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। एम. बी. पायली के अनुसार, “राज्यपाल मन्त्रिमण्डल का सूझ-बूझ वाला परामर्शदाता है और राज्य की अशान्त राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है।” के. एम. मुन्शी स्वीकार करते हैं कि “कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल के द्वारा बहुत अधिक हितकारी और प्रभावशाली रूप में कार्य किया जा सकता है।”

यद्यपि संविधान के द्वारा राज्यपाल को स्वविवेकी शक्तियाँ प्रदान नहीं की गयी हैं और संसदात्मक शासन की परम्परा के अनुसार उससे यह आशा की गयी है कि वह एक वैधानिक प्रधान के रूप में ही कार्य करेगा। फिर भी कुछ ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि वह अपने विवेक का प्रयोग कर सके। ऐसे अवसर निम्नलिखित हो सकते हैं : (1) विशेष परिस्थितियों में मुख्यमन्त्री का चयन, (2) मन्त्रिपरिषद् को अपदस्थ करना, (3) विधानसभा का विघटन, (4) मुख्यमन्त्री से सूचना प्राप्त करना, (5) राष्ट्रपति को राज्य की संवैधानिक स्थिति के सम्बन्ध में रिपोर्ट भेजना। सम्भवतः ऐसे अवसरों को दृष्टि में रखते हुए ही बी. जी. खेर ने संविधान सभा में कहा था कि “एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुंचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल दुष्टता भी कर सकता है यद्यपि संविधान द्वारा उसे कम शक्ति दी गयी है।”

इन सब बातों से यह नितान्त स्पष्ट है कि यद्यपि राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान नहीं कहा जा सकता, लेकिन इसके साथ ही “वह केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है, वह एक ऐसा अधिकारी है जो राज्य के शासन में महत्वपूर्ण रूप से भाग ले सकता है।”

वास्तविक कार्यपालिका : मन्त्रिपरिषद् (REAL EXECUTIVE : THE COUNCIL OF MINISTERS)

संविधान द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी है और संसदात्मक शासन में राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद् में निहित होती है, जो कि राज्य की विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार, “उन बातों को छोड़कर जिनमें राज्यपाल स्वविवेक से कार्य करता है, अन्य कार्यों के निर्वाह में उसे सहायता प्रदान करने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान मुख्यमन्त्री होगा।” राज्यपाल को मन्त्रियों ने कब और क्या सलाह दी, इस सम्बन्ध में न्यायालय में प्रश्न नहीं पूछा जा सकता है।

राज्य की मन्त्रिपरिषद् की रचना या संगठन (COMPOSITION OF THE COUNCIL OF MINISTERS OF STATE)

(1) मुख्यमन्त्री की नियुक्ति—मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्य की मन्त्रिपरिषद् के गठन का प्रथम चरण है। अनुच्छेद 164 में कहा गया है कि राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करेगा और फिर मुख्यमन्त्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा। इस सम्बन्ध में निश्चित परम्परा यह है कि राज्य की विधानसभा के बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता है। लेकिन यदि राज्य की विधानसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो अथवा बहुमत प्राप्त दल या विभिन्न दलों द्वारा बनाये गये किसी ‘संयुक्त

1 “A sagacious Councillor and advisor to the ministry, one who can throw oil on the troubled waters of the state politics.” —M. V. Pylee, *India's Constitution*, p. 235.

मोर्चे' का कोई निश्चित नेता न हो तो राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है।

(2) मन्त्रियों का चयन—अन्य मन्त्रियों का चयन मुख्यमन्त्री ही करता है और वह मन्त्रियों के नामों तथा उनके विभागों की सूची राज्यपाल को दे देता है। मूल संविधान द्वारा मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं की गई थी, लेकिन अब 91वें संवैधानिक संशोधन (2003 ई.) के आधार पर यह व्यवस्था की गई है कि राज्य की मन्त्रिपरिषद् में मुख्यमन्त्री सहित मन्त्रियों की संख्या, राज्य विधानसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। छोटे राज्यों (जिन राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या 80 से कम है) में मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या अधिकतम 12 हो सकती है। मन्त्रियों के चयन में मुख्यमन्त्री व्यावहारिक दृष्टि से निम्न बातों को ध्यान में रखता है :

- (i) राज्य के सभी क्षेत्रों और वर्गों को मन्त्रिपरिषद् में न्यायसंगत ढंग से प्रतिनिधित्व दिया जाता है।
- (ii) सामान्यतया मुख्यमन्त्री द्वारा केवल अपने ही दल में से मन्त्रिपरिषद् का निर्माण किया जाता है जिससे मन्त्रिपरिषद् एक इकाई के रूप में कार्य कर सके।
- (iii) दल के प्रभावशाली सदस्यों को मन्त्रिपरिषद् में स्थान दिया जाता है, जिससे मुख्यमन्त्री को दल का विश्वास प्राप्त रहे।
- (iv) मन्त्रिपरिषद् में ऐसे सदस्यों को स्थान दिया जाता है जो मुख्यमन्त्री के विश्वासपात्र हों और उसके नेतृत्व को प्रसन्नता के साथ स्वीकार करें।
- (v) ऐसे व्यक्तियों को लिया जाता है जिनमें प्रशासनिक योग्यता हो और जो कानून निर्माण तथा प्रशासन के दायित्वों को पूरा कर सकें एवं विधानमण्डल में स्थिति का सामना कर सकें।

(3) मन्त्रियों की योग्यताएं—मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्यों के लिए आवश्यक है कि वे विधानमण्डल के किसी सदन के सदस्य हों। यदि कोई व्यक्ति मन्त्री पद पर नियुक्ति के समय विधानमण्डल का सदस्य नहीं है तो उसके लिए 6 माह के भीतर विधानमण्डल की सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक होता है। ऐसा करने में असफल रहने पर उसे मन्त्री पद छोड़ना होता है।

(4) मन्त्रियों में कार्य विभाजन—राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामर्श के अनुसार मन्त्रियों में कार्य विभाजन करता है। मन्त्री के अधिकार के अन्तर्गत प्रायः एक ही प्रमुख विभाग किन्तु कभी-कभी एक से अधिक विभाग भी रहते हैं। मन्त्रियों के अतिरिक्त प्रत्येक विभाग में सचिव, अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव, उपसचिव तथा लिपिक आदि स्थायी पदाधिकारी होते हैं।

(5) मन्त्रियों द्वारा शपथ ग्रहण—पद ग्रहण के पूर्व मुख्यमन्त्री सहित सभी मन्त्रियों को राज्यपाल के समक्ष दो शपथें लेनी होती हैं—पहली पद के कर्तव्यपालन की तथा दूसरी गोपनीयता की।

(6) मन्त्रियों की श्रेणियां—राज्यों की मन्त्रिपरिषद् में भी मन्त्रियों की तीन श्रेणियां होती हैं—(i) कैबिनेट मन्त्री या मन्त्रिमण्डल के सदस्य, (ii) राज्यमन्त्री और (iii) उपमन्त्री। कैबिनेट के सदस्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और कैबिनेट के द्वारा ही सामूहिक रूप से शासन की नीति का निर्धारण किया जाता है। दूसरे स्तर पर राज्यमन्त्री होते हैं। कुछ राज्यमन्त्रियों

को तो स्वतन्त्र रूप से किसी विभाग के प्रधान की स्थिति प्राप्त होती है और कुछ राज्यमन्त्री कैबिनेट मन्त्री के कार्य में हाथ बंटाते हैं। राज्यमन्त्री के बाद उपमन्त्री आते हैं जो कि कैबिनेट मन्त्री के सहायक के रूप में कार्य करते हैं।

मन्त्रियों की इन श्रेणियों के आधार पर ही मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल में अन्तर समझा जा सकता है। प्रथम स्तर के मन्त्रियों को सामूहिक रूप से मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट कहते हैं और तीनों ही स्तरों के मन्त्रियों को सामूहिक रूप से मन्त्रिपरिषद् कहते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट एक छोटी लेकिन बहुत अधिक महत्वपूर्ण इकाई है, मन्त्रिपरिषद् एक बड़ी इकाई है। मन्त्रिमण्डल चक्र के भीतर चक्र है।

(7) मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते—मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते राज्य के विधानमण्डल द्वारा निश्चित किये जाते हैं, अतः भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में स्थितियों में भेद है।

(8) मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल—मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल विधानसभा के विश्वास पर निर्भर करता है और इस दृष्टि से मन्त्रिपरिषद् का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं होता। मन्त्रिपरिषद् का अधिकतम कार्यकाल 5 वर्ष ही हो सकता है क्योंकि विधानसभा का कार्यकाल भी 5 वर्ष ही है। व्यक्तिगत रूप में किसी मन्त्री का कार्यकाल मुख्यमन्त्री के उसमें विश्वास पर निर्भर करता है।

(9) सामूहिक उत्तरदायित्व—मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है अर्थात् मन्त्रिपरिषद् के सदस्य साथ-साथ ही डूबते और तैरते हैं। यदि विधानसभा किसी एक मन्त्री के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर दे या किसी मन्त्री द्वारा रखे गये विधेयक को अस्वीकार कर दे तो समस्त मन्त्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना होता है।

इसी प्रकार मन्त्रिपरिषद् के द्वारा जो भी निर्णय लिए जाते हैं, सभी मन्त्रियों को उनका समर्थन करना होता है, चाहे व्यक्तिगत रूप में वे इस निर्णय से सहमत हों या न हों। नीति सम्बन्धी मामलों में मन्त्रिपरिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। लेकिन किसी मन्त्री के भ्रष्ट आचरण या व्यक्तिगत दोष के लिए सम्बन्धित मन्त्री ही उत्तरदायी है, समस्त मन्त्रिपरिषद् नहीं।

मन्त्रिपरिषद् की कार्य प्रणाली

मन्त्रिपरिषद् की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई मन्त्रिमण्डल है और मन्त्रिमण्डल ही सभी महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय लेता है। मन्त्रिमण्डल की बैठक प्रायः सप्ताह में एक बार होती है; वैसे मुख्यमन्त्री जब चाहे तब इसकी बैठक बुला सकता है। इन बैठकों की अध्यक्षता मुख्यमन्त्री करता है और मुख्यमन्त्री की अनुपस्थिति में वरिष्ठतम मन्त्री। बैठक का कोई 'कोरम' नहीं होता है।

मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही के दो प्रमुख नियम हैं : सामूहिक उत्तरदायित्व और गोपनीयता। मन्त्रिमण्डल की बैठकों में सामान्यतया सभी निर्णय एक मत से लिये जाते हैं। मतभेद की स्थिति में पारस्परिक विचार-विमर्श के आधार पर किसी एक निर्णय को अपना लिया जाता है और यह निर्णय सभी मन्त्रियों का संयुक्त निर्णय माना जाता है। यदि कोई मन्त्री इसे स्वीकार करने में स्वयं को असमर्थ पाता है तो उसे त्यागपत्र देना होता है।

मन्त्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य द्वारा गोपनीयता की शपथ ली जाती है और मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही तथा निर्णय गुप्त रखे जाते हैं। यदि कोई मन्त्री गोपनीयता को भंग करता है

तो उसे त्यागपत्र देना होता है। बजट के सम्बन्ध में इस नियम का और अधिक कड़ाई से पालन किया जाता है।

मन्त्रिपरिषद् की शक्तियां और कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE COUNCIL OF MINISTERS)

यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 163 में मन्त्रिपरिषद् का कार्य राज्यपाल को 'सहायता और परामर्श देना' ही बतलाया गया है, किन्तु वास्तविक स्थिति इसके नितान्त विपरीत ही है। संविधान के द्वारा राज्यपाल को राज्य के शासन के सम्बन्ध में जो शक्तियां प्रदान की गयी हैं, व्यवहार में उन सबका उपभोग मन्त्रिपरिषद् के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिपरिषद् शासन सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेती है और मुख्यमन्त्री इन निर्णयों से राज्यपाल को सूचित करता है। राज्यपाल इस प्रक्रिया में मुख्यमन्त्री को परामर्श अवश्य ही दे सकता है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिपरिषद् में ही निहित है। मन्त्रिपरिषद् के कार्यों तथा शक्तियों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) शासन की नीति निर्धारित करना—मन्त्रिपरिषद् का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य शासन की नीति निर्धारित करना है। चाहे गृह विभाग हो या शिक्षा, स्वास्थ्य अथवा कृषि, शासन की नीति का निर्धारण मन्त्रिपरिषद् के द्वारा ही किया जाता है। मन्त्रिपरिषद् न केवल नीति निर्धारित करती, वरन् उसे कार्य रूप में भी परिणत कराती है।

(2) उच्च पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल को परामर्श—संविधान के अनुसार राज्यपाल महाधिवक्ता, राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों तथा अन्य उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता है। व्यवहार के अन्तर्गत राज्यपाल के द्वारा-ये सभी नियुक्तियां मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के आधार पर ही की जाती हैं। मन्त्रिपरिषद् ही राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श देती है।

(3) विधानमण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व—विधानमण्डल की बैठकों में मन्त्रिगण शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मन्त्रिगण विधानमण्डल और विधान परिषद् में उपस्थित होकर सदस्यों के प्रश्नों तथा आलोचनाओं का उत्तर देते और शासन की नीति का समर्थन करते हैं।

(4) कानून निर्माण का कार्यक्रम निश्चित करना—मन्त्रिपरिषद् न केवल शासन वरन् कानून निर्माण के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यदि यह कहा जाय कि मन्त्रिपरिषद् विधानमण्डल की सहमति से कानूनों का निर्माण करती है तो इसमें कुछ अनुचित न होगा। विधानमण्डल में कौन-कौन से विधेयक तथा किस क्रम में प्रस्तुत किये जायेंगे, इसका निर्णय मन्त्रिपरिषद् को ही करना होता है। प्रायः अधिकांश विधेयक शासन की ओर से ही प्रस्तुत किये जाते हैं और मन्त्रिपरिषद् अपने बहुमत के बल पर ही इन्हें स्वीकृत कराती है; इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् कानून निर्माण के क्षेत्र में विधानमण्डल का नेतृत्व करती है।

(5) बजट तैयार करवाना—राज्य का वार्षिक बजट वित्तीय वर्ष के आरम्भ के पूर्व वित्त मन्त्री द्वारा विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन यह बजट मन्त्रिपरिषद् द्वारा निश्चित की गयी नीति के आधार पर ही तैयार किया जाता है। बजट को पारित कराने का उत्तरदायित्व भी मन्त्रिपरिषद् का ही होता है।

संक्षेप में, मन्त्रिपरिषद् राज्य के प्रशासन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई होती है।

मुख्यमन्त्री (CHIEF MINISTER)

राज्य की मन्त्रिपरिषद् के प्रधान को मुख्यमन्त्री कहा जाता है। मुख्यमन्त्री राज्य की कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान है। अतः राज्य के प्रशासनिक ढांचे में उसे लगभग वही स्थिति प्राप्त है जो केन्द्र में प्रधानमन्त्री की है।

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति—संविधान के अनुच्छेद 164 में केवल यह कहा गया है कि मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा। व्यवहार के अन्तर्गत राज्यपाल के द्वारा विधानसभा के बहुमत दल के नेता को ही मुख्यमन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाता है। मुख्यमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राज्यपाल दो परिस्थितियों में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। प्रथम, जबकि विधानसभा में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो और एक से अधिक पक्ष मुख्यमन्त्री पद के लिए दावे कर रहे हों। द्वितीय स्थिति उस समय हो सकती है जबकि विधानसभा के बहुमत दल का कोई सर्वमान्य नेता न हो। 1966 से लेकर 1970 और उसके बाद 1977-2006 के काल में भारतीय संघ के कुछ राज्यों में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं और भविष्य में भी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उत्तर प्रदेश में गत एक दशक में सम्पन्न विधानसभा चुनावों (1989, 1991, 1993, 1996, और 2002 में सम्पन्न विधानसभा चुनाव) ने निरन्तर ऐसी ही स्थिति को जन्म दिया है।

मुख्यमन्त्री की शक्तियाँ तथा कार्य (POWERS AND FUNCTIONS OF THE CHIEF MINISTER)

मन्त्रिपरिषद् राज्य के प्रशासन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण इकाई है और मुख्यमन्त्री मन्त्रिपरिषद् का प्रधान है। मुख्यमन्त्री की शक्तियों तथा उसके कार्यों का अध्ययन निम्नांकित रूपों में किया जा सकता है :

(1) **मन्त्रिपरिषद् का निर्माण**—मुख्यमन्त्री का सर्वप्रथम कार्य अपनी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करना होता है। मुख्यमन्त्री मन्त्रियों का चयन कर गूची राज्यपाल को दे देता है जिसे राज्यपाल स्वीकार कर लेता है। मन्त्रियों के चयन में मुख्यमन्त्री बहुत कुछ सीमा तक अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता है। मन्त्रियों की संख्या और उनके विभागों के सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री ही निर्णय करता है।

(2) **मन्त्रिमण्डल का कार्य संचालन**—मुख्यमन्त्री ही मन्त्रिमण्डल की बैठकें बुलाता तथा उनकी अध्यक्षता करता है। बैठक के लिए 'एजेन्डा' या कार्यसूची मुख्यमन्त्री के द्वारा ही तैयार किया जाता है। यदि मुख्यमन्त्री पर्याप्त प्रभावशाली है, तो मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही मुख्यमन्त्री की इच्छानुसार ही सम्पादित होती है।

(3) **शासन के विभिन्न विभागों में समन्वय**—मुख्यमन्त्री इस बात का प्रयत्न करता है कि शासन के सभी विभाग, दूसरे शब्दों में मन्त्रिपरिषद्, एक इकाई के रूप में कार्य करे। यदि मन्त्रिपरिषद् के दो या अधिक सदस्यों में किसी प्रकार के मतभेद उत्पन्न हो जायें तो उसके द्वारा इन मतभेदों को दूर कर सामंजस्य स्थापित किया जाता है। मुख्यमन्त्री के रूप में वह विभिन्न विभागों को आदेश-निर्देश देने की स्थिति में होता है।

(4) **मन्त्रियों में कार्य का बंटवारा और परिवर्तन**—मुख्यमन्त्री परिषद् के अपने सहयोगियों के बीच विभागों का बंटवारा करता है। एक बार मन्त्रिपरिषद् के निर्माण व उसके सदस्यों में विभाग का बंटवारा कर चुकने के बाद भी वह जब चाहे तब मन्त्रियों के विभागों तथा

उनकी स्थिति में परिवर्तन कर सकता है। इस सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री के निर्णय को सामान्यतया किसी के भी द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती है।

(5) मन्त्रिपरिषद् और राज्यपाल के बीच सम्बन्ध स्थापितकर्ता—संविधान के अनुसार मुख्यमन्त्री पर यह भार है कि वह मन्त्रिपरिषद् और राज्यपाल के बीच सम्पर्क स्थापित करे। वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयों की सूचना राज्यपाल को देता है और राज्यपाल के विचार मन्त्रिमण्डल तक पहुंचाता है। सामान्यतः कोई भी मन्त्री मुख्यमन्त्री को सूचित किये बिना राज्यपाल से वार्ता नहीं करता है। राज्यपाल के साथ वार्तालाप के सम्बन्ध में मुख्यमन्त्री जो जानकारी देता है, वही अधिकारिक है।

(6) विधानसभा का नेता—मुख्यमन्त्री का दोहरा व्यक्तित्व है। एक ओर यदि वह शासन का प्रधान है तो दूसरी ओर विधानसभा का नेता भी है। विधानसभा के नेता के रूप में उसे कानून निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है और बहुत कुछ सीमा तक कानून निर्माण कार्य उसकी इच्छानुसार ही सम्पन्न होता है। विधानसभा के नेता के रूप में वह राज्यपाल को विधानसभा भंग करने का परामर्श भी दे सकता है।

(7) सरकार का प्रधान प्रवक्ता—मुख्यमन्त्री राज्य सरकार का प्रधान प्रवक्ता होता है और राज्य सरकार की ओर से अधिकृत घोषणा मुख्यमन्त्री द्वारा ही की जाती है। यदि कभी किन्हीं दो मन्त्रियों के परस्पर विरोधी वक्तव्यों से भ्रम उत्पन्न हो जाय, तो इसे मुख्यमन्त्री के वक्तव्य से ही दूर किया जा सकता है।

(8) राज्य में बहुमत दल का नेता—उपर्युक्त के अतिरिक्त मुख्यमन्त्री राज्य में बहुमत दल का नेता भी होता है। उसे दलीय ढांचे पर नियन्त्रण प्राप्त होता है और यह स्थिति उसके प्रभाव तथा शक्ति में और अधिक वृद्धि कर देती है।

(9) राज्य की समस्त शासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण—मुख्यमन्त्री राज्य की शासन-व्यवस्था पर सर्वोच्च और अन्तिम नियन्त्रण रखता है। चाहे शान्ति और व्यवस्था का प्रश्न हो, कृषि सिंचाई, स्वास्थ्य और शिक्षा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय लेना हो और चाहे कोई विकास सम्बन्धी प्रश्न हो, अन्तिम निर्णय मुख्यमन्त्री पर ही निर्भर करता है। मुख्यमन्त्री मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को उनके विभागों के सम्बन्ध में आदेश-निर्देश दे सकता है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य विभिन्न विभागों के प्रधान होते हैं किन्तु अन्तिम रूप में यदि किसी एक व्यक्ति को राज्य के प्रशासन की अच्छाई या बुराई के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तो वह निश्चित रूप से मुख्यमन्त्री ही है।

मुख्यमन्त्री पद के सम्बन्ध में व्यवहार के अन्तर्गत एक बात देखने में आती है कि एक दलीय सरकार का मुख्यमन्त्री अधिक शक्तिशाली होता है लेकिन मिली-जुली सरकार का मुख्यमन्त्री कम शक्तिशाली होता है। एक दलीय सरकार में भी मुख्यमन्त्री की स्थिति इस बात पर निर्भर करती है कि उसे अपने राजनीतिक दल में कैसी स्थिति प्राप्त है। मुख्यमन्त्री की स्थिति इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसे केन्द्रीय सरकार से किस सीमा तक समर्थन और सहयोग प्राप्त है।

मुख्यमन्त्री राज्य के शासन का प्रधान है किन्तु किसी भी रूप में उसे राज्य के शासन का तानाशाह नहीं कहा जा सकता है। यह राज्य का सर्वाधिक लोकप्रिय जननेता है।

मन्त्रिपरिषद् और विधानमण्डल या विधानसभा के बीच सम्बन्ध (RELATIONS BETWEEN COUNCIL OF MINISTERS AND LEGISLATIVE ASSEMBLY)

संविधान के द्वारा राज्यों में भी संसदात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया गया है और इसी कारण मन्त्रिपरिषद् का उदय विधानमण्डल से ही होता है। मन्त्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य के लिए राज्य विधानमण्डल के किसी एक सदन का सदस्य होना आवश्यक होता है। यदि मन्त्री पद ग्रहण करते समय वह विधानमण्डल का सदस्य न हो तो 6 महीने के अन्दर-अन्दर उसके लिए सदस्य बनना आवश्यक होता है।

संविधान के अनुच्छेद 164 में कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। इसका आशय यह है कि मन्त्रिपरिषद् उसी समय तक अपने पद पर रहेगी, जब तक कि उसे विधानसभा का विश्वास प्राप्त रहे। विधानसभा के द्वारा मन्त्रिपरिषद् पर निम्नलिखित साधनों से नियन्त्रण रखा जा सकता है :

(1) प्रश्न पूछकर—विधानसभा और विधानपरिषद् के सदस्यों को अधिकार है कि वे अधिवेशन के दिनों में मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों से विभिन्न प्रशासनिक बातों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछें। इन प्रश्नों के आधार पर प्रशासन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने और प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का कार्य किया जा सकता है।

(2) कामरोको प्रस्ताव—कामरोको प्रस्ताव विधानमण्डल द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है। यदि प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में कोई गम्भीर घटना घटित हो जाती है तो विधानमण्डल के प्रत्येक सदस्य को अधिकार है कि वह अपने सदन में इस आशय का प्रस्ताव रखे कि पहले से चले आ रहे सभी विषयों पर विचार स्थगित कर इस गम्भीर घटना पर विचार किया जाय।

(3) विधेयक या नीति की अस्वीकृति—विधानमण्डल को अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के सदस्य द्वारा प्रस्तावित किसी विधेयक या नीति को अस्वीकार कर दे। यदि यह अस्वीकृति विधानसभा की ओर से होती है तो मन्त्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना होता है।

(4) बजट पर कटौती—मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल की स्वीकृति के बिना आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य नहीं कर सकता। विधानसभा द्वारा बजट में कटौती से मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना होता है।

(5) प्रशासनिक जांच—विधानमण्डल मन्त्रिमण्डल के कार्यों की जांच-पड़ताल के लिए एक जांच समिति स्थापित कर सकता है और सरकार के हिसाब-किताब की जांच के लिए लेखा परीक्षक नियुक्त कर सकता है।

(6) अविश्वास प्रस्ताव—विधानसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिपरिषद् को पदच्युत किया जा सकता है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से विधानमण्डल, विशेषतया, विधानसभा, मन्त्रिमण्डल के कार्यों पर नियन्त्रण रखती है तथा उसे पदच्युत भी कर सकती है। लेकिन व्यावहारिक स्थिति नितान्त विपरीत ही है। व्यवहार में विधानसभा मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण नहीं रखती, वरन् मन्त्रिमण्डल द्वारा विधानसभा पर निम्नलिखित साधनों के आधार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता है :

(1) मुख्यमन्त्री विधानसभा के बहुमत दल का नेता होने के आधार पर विधानसभा पर नियन्त्रण रखता है। विधानसभा के बहुमत दल के सदस्य दलीय अनुशासन के कारण मुख्यमन्त्री का समर्थन करने के लिए बाध्य होते हैं।

(2) कानून निर्माण के क्षेत्र में भी नेतृत्व मन्त्रिमण्डल के द्वारा ही किया जाता है और यदि कहा जाय कि कानून निर्माण का कार्य विधानमण्डल की सहमति से मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है तो अनुचित न होगा।

(3) वित्तीय क्षेत्र में वित्तमन्त्री जिस रूप में बजट पेश करता है विधानसभा के द्वारा उसे स्वीकार कर लिया जाता है, क्योंकि बजट में कटौती का मतलब होता है सरकार का पतन और बहुमत दल यह कभी भी नहीं चाहता है।

(4) विधानसभा पर मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण का अन्तिम महत्वपूर्ण साधन मुख्यमन्त्री द्वारा विधानसभा को भंग करने की शक्ति है।

वास्तव में राज्य मन्त्रिमण्डल और विधानसभा का पारस्परिक सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करता है कि एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल है या मिला-जुला मन्त्रिमण्डल और मन्त्रिमण्डल के राजनीतिक दल की राज्य विधानमण्डल, विशेषतया विधानसभा में स्थिति कैसी है। एक राजनीतिक दल का मन्त्रिमण्डल मिले-जुले मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा विधानमण्डल के साथ सम्बन्ध में अधिक शक्ति का परिचय देता है। व्यवहार में सामान्यतया मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल से नियन्त्रित होने के बजाय विधानमण्डल विशेषतया विधानसभा पर नियन्त्रण ही रखता है। जनवरी, 1985 में 'दल-बदल निषेध कानून' (भारतीय संविधान में 52वां संवैधानिक संशोधन) बन जाने से विधानसभा पर मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण निश्चित रूप से कुछ और बढ़ गया है।

विधानसभा पर मन्त्रिमण्डल का नियन्त्रण व्यावहारिक राजनीति की एक सामान्य स्थिति है, लेकिन अब राजनीतिक अवसरवादिता भारतीय राजनीति का सबसे प्रमुख तत्व बन गया है और ऐसी स्थिति में विधायक पद, साधन या राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए मुख्यमन्त्री तथा राज्य मन्त्रिमण्डल पर निरन्तर दबाव डालते रहते हैं और जब वे यह देखते हैं कि राज्य सरकार से उन्हें यथोचित राजनीतिक लाभ प्राप्त नहीं हो रहे हैं, तब वे सत्ता परिवर्तन की चेष्टा में संलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल और विधानसभा; दूसरे शब्दों में मुख्यमन्त्री और विधायकों के बीच सम्बन्ध 'लगातार सौदेबाजी' की स्थिति से गुजरते रहते हैं।

राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद् या राज्यपाल और मुख्यमन्त्री

(GOVERNOR AND THE COUNCIL OF MINISTER OR GOVERNOR AND THE CHIEF MINISTER)

संविधान के अनुच्छेद 163 में कहा गया है कि "राज्यपाल को उसके कार्यों के सम्पादन में 'सहायता और परामर्श' देने के लिए मन्त्रिपरिषद् होगी, जिसका प्रधान मुख्यमन्त्री होगा।" किन्तु यह वैधानिक शब्दावली है और जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, मन्त्रिपरिषद् राज्य की वास्तविक कार्यपालिका सत्ता होती है। यद्यपि प्रशासन राज्यपाल के नाम से किया जाता है, किन्तु अधिकांश मामलों में वास्तविक निर्णय मन्त्रिपरिषद् द्वारा लिए जाते हैं। सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल से मन्त्रियों की मन्त्रणा के आधार पर ही कार्य करने की आशा की जाती है। यद्यपि संविधान में ऐसी कोई बात नहीं है जो राज्यपाल को मन्त्रियों की मन्त्रणा मानने के लिए बाध्य करती हो, किन्तु फिर भी संसदात्मक शासन-व्यवस्था की राजनीतिक आवश्यकता के रूप में उसे मन्त्रियों की मन्त्रणा माननी होती है। यदि राज्यपाल ऐसी मन्त्रिपरिषद् की सलाह को अस्वीकार कर दे, जिसे कि विधानसभा का विश्वास प्राप्त है तो

मन्त्रिपरिषद् विरोधस्वरूप त्यागपत्र दे सकता है और ऐसा होने पर राज्यपाल कठिन स्थिति में पड़ जायेगा।

अनुच्छेद 167 के अनुसार राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि राज्य प्रशासन से सम्बन्धित मन्त्रिपरिषद् के सभी निर्णयों और विचाराधीन विधेयकों की सूचना राज्यपाल को दे और राज्यपाल इस सम्बन्ध में अन्य आवश्यक जानकारी भी मांग सकता है। मुख्यमन्त्री से प्राप्त इन सूचनाओं के आधार पर राज्यपाल द्वारा मन्त्रिपरिषद् को परामर्श देने, प्रोत्साहित करने और चेतावनी देने का कार्य किया जा सकता है, लेकिन इस प्रकार की सलाह और चेतावनी के बावजूद मन्त्रिपरिषद् द्वारा एक बार निर्णय कर लेने पर राज्यपाल उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है लेकिन कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् की सलाह के बिना ही कार्य करे। उदाहरण के लिए, राज्य में संवैधानिक तन्त्र की विफलता के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को रिपोर्ट राज्यपाल अपने ही विवेक के आधार पर तैयार कर भेजता है और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने की स्थिति में राज्यपाल केन्द्र सरकार के निर्देशों को दृष्टि में रखते हुए राज्य के शासन का संचालन करता है।

संविधान में इस बात का उल्लेख है कि मन्त्रियों द्वारा राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त अपना पद धारण किया जायेगा। इसका शाब्दिक अर्थ यह लिया जा सकता है कि राज्यपाल मन्त्रियों को पदच्युत कर सकेगा। लेकिन इस प्रकार का कार्य उत्तरदायी शासन की भावना और परम्परा के विरुद्ध होगा। इसलिए सैद्धान्तिक रूप में राज्यपाल को इस प्रकार की शक्ति प्राप्त होने पर भी व्यवहार में कोई राज्यपाल इस प्रकार का कार्य करने का साहस नहीं कर सकता। राज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद् के मध्य यदि किसी विषय पर किसी कारणवश विरोध उत्पन्न हो जाय तो उसका क्या वैधानिक हल होगा, इस सम्बन्ध में संविधान में उल्लेख नहीं है।

प्रश्न

1. मुख्यमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है? उसका राज्य के शासन में क्या स्थान है?
2. राज्य मन्त्रिपरिषद् के गठन तथा कार्यों की व्याख्या कीजिए तथा विधानसभा के साथ उसके सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
3. राज्य के शासन में राज्यपाल का क्या स्थान है? राज्यपाल व मन्त्रिपरिषद् के आपसी सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।
4. राज्यपाल की नियुक्ति और शक्तियों का वर्णन कीजिए। इस राज्य के प्रशासन में उसका क्या महत्व है?
5. राज्यपाल की नियुक्ति कैसे होती है? उसके कार्यों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिए।
6. राज्य के प्रशासन में मुख्यमन्त्री की भूमिका का वर्णन कीजिए एवं राज्यपाल से उसके सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।

10

राज्य विधानमण्डल

(THE STATE LEGISLATURE)

संविधान के द्वारा भारत के प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल की व्यवस्था की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 168 में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक विधानमण्डल होगा जो राज्यपाल तथा कुछ राज्यों में दो सदन से तथा कुछ में एक सदन से मिलकर बनेगा। जिन राज्यों में दो सदन होंगे, उनके नाम क्रमशः विधानसभा और विधानपरिषद् होंगे। प्रत्येक राज्य में जनता द्वारा वयस्क रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों का एक सदन होता है, विधानमण्डल के इस प्रथम सदन को विधानसभा कहते हैं। जिन राज्यों में विधानमण्डल का दूसरा सदन है, उसे 'विधानपरिषद्' कहते हैं। राज्यों का विधानमण्डल एकसदनात्मक हो या द्विसदनात्मक, इस बात के निर्णय का अधिकार राज्य में निर्वाचित प्रतिनिधियों और भारतीय संसद को ही है। संविधान के अनुच्छेद 169 के अनुसार, संसद को अधिकार प्राप्त है कि राज्यों में विधानपरिषद् की स्थापना अथवा अन्त कर दे, यदि सम्बन्धित राज्य की विधानसभा अपने कुल बहुमत व उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास करे। वर्तमान समय में भारतीय संघ के केवल 5 राज्यों : उत्तर प्रदेश, जम्मू-कश्मीर, महाराष्ट्र, कर्नाटक और बिहार में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका व शेष राज्यों में एक सदनात्मक व्यवस्थापिका है।

उत्तर प्रदेश में तथा विधानपरिषद् वाले अन्य 4 राज्यों में विधानमण्डल के निम्न तीन अंग हैं :

- (1) राज्यपाल (Governor)
- (2) विधानसभा (Legislative Assembly), जिसे प्रथम या निम्न सदन कहते हैं।
- (3) विधानपरिषद् (Legislative Council), जिसे द्वितीय या उच्च सदन कहते हैं।

विधानसभा की रचना या संगठन

(COMPOSITION OF THE LEGISLATIVE ASSEMBLY)

विधानसभा विधानमण्डल का प्रथम और लोकप्रिय सदन है। जिन राज्यों में विधानमण्डल के दो सदन हैं, वहां पर यह विधानपरिषद् से अधिक शक्तिशाली है।

(1) सदस्य संख्या—संविधान में राज्य की विधानसभा के सदस्यों की केवल न्यूनतम और अधिकतम संख्या निश्चित की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 170 के अनुसार राज्य की विधानसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 500 और न्यूनतम संख्या 60 होगी¹। चुनाव के लिए प्रत्येक राज्य को भौगोलिक आधार पर अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजित

1 सिक्किम, मिजोरम प्रदेश, अरुणाचल प्रदेश और गोवा इस प्रसंग में अपवाद हैं। इनमें सिक्किम राज्य की विधानसभा की सदस्य संख्या 32 और अन्य राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या 40 है।

किया जाता है कि विधानसभा का प्रत्येक सदस्य कम-से-कम 75 हजार जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करे। इस नियम का अपवाद केवल असम के स्वाधीन जिले, शिलांग की छावनी और नगरपालिका के क्षेत्र, सिक्किम और मिजोरम तथा अरुणाचल प्रदेश हैं।

अनुच्छेद 170(3) में कहा गया है कि प्रत्येक जनगणना के उपरान्त विधानसभा की सदस्य संख्या पुनः निश्चित की जायेगी। वर्तमान समय में विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या निम्न प्रकार बतलायी गयी है :

विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या¹

क्रम संख्या	राज्य/संघ राज्य क्षेत्र	कुल सदस्य
1.	आंध्र प्रदेश	294
2.	असम	126
3.	बिहार	243
4.	झारखण्ड	81
5.	हरियाणा	90
6.	हिमाचल प्रदेश	68
7.	जम्मू-कश्मीर ²	76
8.	कर्नाटक	224
9.	केरल	140
10.	मध्य प्रदेश	230
11.	छत्तीसगढ़	90
12.	महाराष्ट्र	288
13.	मणिपुर	60
14.	मेघालय	60
15.	नगालैण्ड	60
16.	उड़ीसा	147
17.	गुजरात	182
18.	पंजाब	117
19.	राजस्थान	200
20.	तमिलनाडु	234
21.	त्रिपुरा	60
22.	उत्तर प्रदेश	403 ³
23.	उत्तरांचल	70
24.	पश्चिम बंगाल	294
25.	सिक्किम	32
26.	मिजोरम प्रदेश	40
27.	अरुणाचल प्रदेश	40
28.	गोवा	40
	संघ राज्य क्षेत्र	
1.	दिल्ली	70
2.	पाण्डिचेरी	30
	योग 4,041	547

1 84वें संवैधानिक संशोधन 2002 (91वें संविधान संशोधन विधेयक) के अनुसार राज्य विधानसभाओं की सदस्य संख्या सन् 2026 तक यही रहेगी। कुल स्थानों की संख्या यथावत रखते हुए राज्य में निर्वाचन क्षेत्रों का पुनर्संमन किया जा सकेगा।

2 इसमें पाकिस्तान के अवैध कब्जे वाले क्षेत्रों के 25 स्थान सम्मिलित नहीं हैं।

3 403 निर्वाचित व एक मनोनीत; कुल सदस्य 404.

84वें संवैधानिक संशोधन (2002) के अनुसार सभी राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या 2026 ई. तक तथा उसके बाद जब तक परिवर्तन न किया जाए, यही रहेगी।

(2) **स्थान आरक्षण (Reservations)**—राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था (79वें संवैधानिक संशोधन, 1999) के अनुसार जनवरी 2010 ई. तक के लिए है।

राज्य की विधानसभा के निर्वाचन के बाद यदि सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल यह अनुभव करता है कि विधानसभा में आंग्ल भारतीय समुदाय को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है, तो वह उस समुदाय के सदस्य को विधानसभा में मनोनीत कर सकता है।

(3) **निर्वाचन पद्धति**—आंग्ल भारतीय समुदाय के नामजद सदस्यों को छोड़कर विधानसभा के अन्य सभी सदस्यों का मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुनाव होता है। इस प्रसंग में वयस्क मताधिकार और संयुक्त निर्वाचन प्रणाली अपनायी गयी है। प्रारम्भ में विधानसभा के निर्वाचन के लिए कुछ द्विसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था थी, परन्तु अब सभी निर्वाचन क्षेत्र एकल-सदस्यीय हैं।

(4) **मतदाताओं की योग्यताएं**—61वें संवैधानिक संशोधन, 1989 के बाद स्थिति यह है कि मतदाता होने के लिए 18 वर्ष की आयु प्राप्त भारतीय नागरिक होना चाहिए। ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि उसे पागल, दिवालिया या अन्य किसी अपराध के कारण मताधिकार से वंचित कर दिया गया हो। उसका नाम मतदाता सूची में होना चाहिए।

(5) **सदस्यों की योग्यताएं**—विधानसभा की सदस्यता के लिए व्यक्ति को निम्नलिखित योग्यताएं प्राप्त होनी चाहिए :

1. वह भारत का नागरिक हो;
2. उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष हो;
3. भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन लाभ का पद धारण किये हुए न हो;
4. वह पागल या दिवालिया घोषित न किया जा चुका हो;
5. वह संसद या राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्धारित शर्तों की पूर्ति करता हो।

कोई भी व्यक्ति राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों का एक साथ सदस्य नहीं हो सकता। न ही वह दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल का सदस्य हो सकता है। कोई भी सदस्य यदि विधानमण्डल के किसी सदन की बैठक में लगातार 60 दिन तक सदन की आज्ञा के बिना अनुपस्थित रहता है तो सदन उसका स्थान रिक्त घोषित कर सकता है।

(6) **कार्यकाल**—राज्य विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है। राज्यपाल द्वारा इसे समय के पूर्व भी भंग किया जा सकता है। परन्तु यदि संकटकाल की घोषणा प्रवर्तन में हो तो संसद विधि द्वारा विधानसभा का कार्यकाल बढ़ा सकती है जो एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगा तथा किसी भी अवस्था में संकटकाल की घोषणा समाप्त हो जाने के बाद 6 माह की अवधि से अधिक नहीं होगा।

पदाधिकारी—प्रत्येक राज्य की विधानसभा के दो प्रमुख पदाधिकारी होते हैं : (1) **अध्यक्ष (Speaker)**, और (2) **उपाध्यक्ष (Deputy Speaker)**। इन दोनों का चुनाव विधानसभा के सदस्य अपने सदस्यों में से ही करते हैं तथा इनका कार्यकाल विधानसभा के कार्यकाल तक होता है। इसके बीच अध्यक्ष अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष को तथा उपाध्यक्ष अपना त्यागपत्र अध्यक्ष को दे सकता है। इन दोनों को विधानसभा सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के आधार पर हटाया जा सकता है किन्तु इस प्रकार के प्रस्ताव की सूचना 14 दिन पूर्व

अध्यक्ष या उपाध्यक्ष (जिसके विरुद्ध प्रस्ताव हो) को देना आवश्यक है। विधानसभा भंग हो जाने पर भी अध्यक्ष अपने पद पर उस समय तक रहता है जब तक कि नयी विधानसभा की प्रथम बैठक न हो। इन दोनों ही पदाधिकारियों को राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्धारित वेतन तथा अन्य सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

अध्यक्ष के अधिकार तथा कार्य (Powers and Functions of the Speaker)—
विधानसभा के अध्यक्ष के अधिकार तथा कार्य निम्न हैं :

(1) वह विधानसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है और सदन की कार्यवाही का संचालन करता है।

(2) सदन में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना उसका मुख्य उत्तरदायित्व है तथा इस हेतु उसे समस्त आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार है।

(3) सदन का कोई भी सदस्य सदन में उसकी आज्ञा से ही भाषण दे सकता है।

(4) वह सदन की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को निकाले जाने का आदेश दे सकता है, जो असंसदीय या अशिष्ट हैं।

(5) सदन के नेता के परामर्श से वह सदन की कार्यवाही का क्रम निश्चित कर सकता है।

(6) वह प्रश्नों को स्वीकार करता या नियम विरुद्ध होने पर उन्हें अस्वीकार करता है।

(7) वह किसी प्रश्न पर मतदान कराता और परिणाम की घोषणा करता है।

(8) सामान्य स्थिति में वह सदन में मतदान में भाग नहीं लेता लेकिन यदि किसी प्रश्न पर पक्ष और विपक्ष में बराबर मत आयें, तो वह 'निर्णायक मत' (Casting Vote) का प्रयोग करता है।

(9) कोई विधेयक 'धन विधेयक' (Money Bill) है अथवा नहीं, इसका निर्णय अध्यक्ष करता है।

(10) विधानसभा और विधानपरिषद् के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता वही करता है।

(11) सदन तथा राज्यपाल के बीच 'अध्यक्ष' ही सम्पर्क स्थापित करने का साधन है।

(12) वह सदन के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा करता है।

(13) वह विधानमण्डल की कुछ समितियों का पदेन सभापति होता है।

(14) वह सदन की दर्शक दीर्घा में दर्शकों और प्रेस प्रतिनिधियों के प्रवेश पर नियन्त्रण भी लगा सकता है।

अध्यक्ष की अनुपस्थिति में इन सभी कार्यों का सम्पादन उपाध्यक्ष करता है। यदि दोनों ही अनुपस्थित हों तो विधानसभा अपने सदस्यों में से एक कार्यवाहक अध्यक्ष चुन लेती है।

विधानपरिषद् की रचना या संगठन (COMPOSITION OF THE LEGISLATIVE COUNCIL)

1. **सदस्य संख्या**—राज्य के विधानमण्डल का द्वितीय या उच्च सदन विधानपरिषद् होता है। संविधान में व्यवस्था की गयी है कि प्रत्येक राज्य की विधानपरिषद् के सदस्यों की संख्या उसकी विधान सभा के सदस्यों की संख्या के $\frac{1}{3}$ से अधिक न होगी, पर साथ ही यह भी कहा गया है कि किसी भी दशा में उसकी सदस्य संख्या 40 से कम नहीं होनी चाहिए। जम्मू-कश्मीर को इस सम्बन्ध में अवश्य ही अपवाद रखा गया है।

2. सदस्यों का निर्वाचन व मनोनयन—विधानपरिषद् के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होता है तथा शेष सदस्यों को मनोनीत किया जाता है। निम्नलिखित निर्वाचक मण्डल विधानपरिषद् के सदस्यों का चुनाव करते हैं :

(1) स्थानीय संस्थाओं का निर्वाचक मण्डल—समस्त सदस्यों का यथाशक्य निकटतम¹ एक-तिहाई उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिला परिषदों और ऐसी अन्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा चुना जाता है, जैसा कि संसद कानून द्वारा निर्धारित करे।

(2) विधानसभा का निर्वाचक मण्डल—कुल संख्या के यथाशक्य निकटतम एक-तिहाई सदस्यों का निर्वाचन विधानसभा के सदस्य ऐसे व्यक्तियों में से करते हैं जो विधानसभा के सदस्य न हों।

विधानपरिषदों की सदस्य संख्या¹

राज्य का नाम	स्थानीय संस्थाओं से निर्वाचित	स्नातकों द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	विधानसभा द्वारा निर्वाचित	राज्यपाल द्वारा मनोनीत	कुल सदस्य संख्या
उत्तर प्रदेश ²	36	8	8	38	10	100
बिहार ³	24	6	6	27	12	75
महाराष्ट्र	22	7	7	30	12	78
कर्नाटक	21	6	6	21	9	63
जम्मू-कश्मीर	6	—	2	22	6	36

(3) स्नातकों (Graduates) का निर्वाचक मण्डल—यह ऐसे शिक्षित व्यक्तियों का निर्वाचक मण्डल होता है जो इस राज्य में रहते हों, जिन्होंने स्नातक स्तर की परीक्षा पास कर ली हो और जिन्हें यह परीक्षा पास किये तीन वर्ष से अधिक हो चुके हों। यह निर्वाचक मण्डल कुल सदस्यों के यथाशक्य निकटतम 1/12 भाग को चुनता है।

(4) अध्यापकों का निर्वाचक मण्डल—इसमें वे अध्यापक होते हैं, जो राज्य के अन्तर्गत किसी माध्यमिक पाठशाला या इससे उच्च शिक्षण संस्था में 3 वर्ष से पढ़ा रहे हों। यह निर्वाचक मण्डल कुल सदस्यों के यथाशक्य निकटतम 1/12 भाग को चुनता है।

(5) राज्यपाल द्वारा मनोनीत सदस्य—उपर्युक्त प्रकार से कुल सदस्य संख्या के लगभग 5/6 सदस्यों को तो निर्वाचित किया जाता है, शेष अर्थात् कुल संख्या के लगभग 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा उन व्यक्तियों में से मनोनीत किये जाते हैं, जो साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा के क्षेत्रों में विशेष रुचि रखते हों।

3. सदस्यों की योग्यताएं—विधानपरिषद् की सदस्यता के लिए भी वे ही योग्यताएं हैं जो विधानसभा की सदस्यता के लिए हैं; अन्तर केवल यह है कि विधान परिषद् की सदस्यता के लिए आयु 30 वर्ष होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त निर्वाचित सदस्य को उस राज्य की विधानसभा के किसी निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक होना चाहिए एवं नियुक्त किये जाने वाले सदस्य को उस राज्य का निवासी होना चाहिए, जिसकी विधानपरिषद् का वह सदस्य बनना चाहता है।

1 संविधान के अंग्रेजी पाठ में 'as nearly as may be' और हिन्दी पाठ में 'यथाशक्य निकटतम' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका आशय 'लगभग' है। 1/3 या 1/12 को व्यवहार में कठोरतापूर्वक लागू नहीं किया गया है।

2 The U.P. Reorganisation Bill, 2000, p.5.

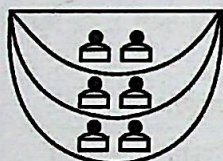
3 The Bihar Reorganisation Act, p.4.

निर्वाचक मण्डलों द्वारा विधानपरिषद् के सदस्यों का यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर एकल संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार होता है। विधानसभा के निर्वाचक मण्डल के अतिरिक्त अन्य तीनों निर्वाचक मण्डल संसद कानून द्वारा निश्चित करती है।

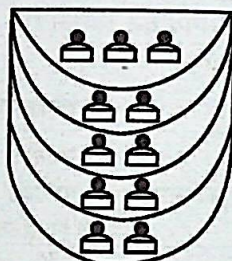
राज्यों के विधानमण्डल

राज्यपाल

विधानमण्डल का अभिन्न अंग होता है



विधानपरिषद



विधानसभा

1/3 राज्य की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा निर्वाचित

जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप रूप से चुनी जाती है

1/3 राज्य की विधानसभा द्वारा निर्वाचित

1/12 राज्य के पंजीकृत स्नातकों द्वारा निर्वाचित

1/12 राज्य के अध्यापकों द्वारा निर्वाचित

1/6 राज्यपाल द्वारा मनोनीत

4. कार्यकाल—विधानपरिषद् इस दृष्टि से स्थायी है कि पूरी विधानपरिषद् कभी भंग नहीं होती और इसे राज्यपाल द्वारा भी भंग नहीं किया जा सकता। विधानपरिषद् के सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। प्रति दो वर्ष पश्चात् एक-तिहाई सदस्य अपना पद छोड़ देते हैं और उनके स्थान के लिए नये सदस्य निर्वाचित होते हैं।

5. पदाधिकारी—विधानसभा अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष तथा विधानपरिषद् अपने सदस्यों में से एक सभापति और एक उपसभापति का चुनाव करती है। यदि सदन के अध्यक्ष का पद रिक्त हो, तो उपाध्यक्ष सदन की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा यदि उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो, तो सम्बन्धित सदन का ऐसा सदस्य, जिसे राज्यपाल इस कार्य के लिए नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करता है। सभापति और उपसभापति के वेतन राज्य का विधानमण्डल निर्धारित करता है।

दोनों सदनों पर समान रूप से लागू होने वाली बातें

(1) सदस्यों के विशेषाधिकार—विधानमण्डल के सदस्यों को विधानमण्डल में अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। उन पर विधानमण्डल अथवा उसकी किसी समिति में कही गयी किसी बात या व्यक्ति किये गये किसी मत पर न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

विधानमण्डल के क्षेत्र में विधानमण्डल के किसी भी सदस्य को अध्यक्ष या सभापति की आज्ञा प्राप्त किये बिना बन्दी नहीं बनाया जा सकता है। यदि क्षेत्र के बाहर भी किसी

व्यक्ति को बन्दी बनाया जाता है तो इसकी अध्यक्ष या सभापति को तुरन्त ही सूचना देना आवश्यक है।

(2) सदस्यों के वेतन तथा भत्ते—विधानसभा तथा विधानपरिषद् के सदस्यों को ऐसे वेतन तथा भत्ते मिलेंगे जिन्हें राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा निर्धारित करे तथा वर्तमान समय में सभी राज्यों के अन्तर्गत विधानमण्डल के सदस्यों के लिए पेंशन की व्यवस्था भी है।

(3) विधानमण्डल की कार्यप्रणाली (अधिवेशन, गणपूर्ति, आदि)—प्रत्येक वर्ष राज्य विधानमण्डल के कम-से-कम दो अधिवेशन अवश्य ही होते हैं। संविधान में यह कहा गया है कि एक अधिवेशन की अन्तिम बैठक और दूसरे अधिवेशन की पहली बैठक के बीच का समय 6 माह से अधिक नहीं होना चाहिए। सदनों की बैठक बुलाने और स्थगित करने का कार्य राज्यपाल द्वारा किया जाता है। सम्बन्धित सदन की गणपूर्ति (Quorum) 10 या कुल सदस्य संख्या का 1/10, जो भी अधिक हो, वही होगी। सदन में उपस्थित किये गये प्रश्न का निर्णय उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा किया जाता है, पर दोनों पक्षों के मत समान होने पर अध्यक्ष या सभापति को अपना निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। विधानमण्डल का कार्य हिन्दी, अंग्रेजी या राज्य की क्षेत्रीय भाषा में सम्पन्न होता है।

विधानपरिषद् के अधिकार अथवा शक्ति तथा कार्य

(POWERS AND FUNCTIONS OF THE LEGISLATIVE COUNCIL)

विधानपरिषद् के अधिकार तथा कार्यों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य—वित्त विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं तथा ये विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। लेकिन इसके साथ ही संविधान के अनुच्छेद 197 में कहा गया है कि यदि कोई विधेयक विधानसभा से पारित होने के पश्चात् विधानसभा द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद् विधेयक में ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार्य नहीं होते या परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह तक विधेयक पारित नहीं किया जाता है, तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः स्वीकृत करके विधानपरिषद् को भेजती है। यदि परिषद् विधेयक को पुनः अस्वीकृत कर देती है अथवा विधेयक रखे जाने की तिथि से एक माह बाद तक विधेयक पास नहीं करती या परिषद् विधेयक में पुनः ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नहीं होते तो विधेयक विधानपरिषद् द्वारा पारित किये जाने के बिना ही दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। इस प्रकार विधानपरिषद् किसी साधारण विधेयक को केवल चार माह तक रोक सकती है। विधानपरिषद् किसी विधेयक को समाप्त नहीं कर सकती।

(2) कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य—विधानपरिषद् के सदस्य मन्त्रिपरिषद् के सदस्य हो सकते हैं। विधानपरिषद् प्रश्नों, प्रस्तावों तथा वाद-विवाद के आधार पर मन्त्रिपरिषद् को नियन्त्रित कर सकती है, किन्तु उसे मन्त्रिपरिषद् को पदच्युत करने का अधिकार नहीं है। यह कार्य केवल विधानसभा के ही द्वारा किया जा सकता है।

(3) वित्त सम्बन्धी कार्य—संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है कि वित्त विधेयक केवल विधानसभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं, विधानपरिषद् में नहीं। विधानसभा जब किसी विधेयक को पारित कर विचार के लिए विधानपरिषद् के पास भेजती है तो विधानपरिषद् 14 दिन तक वित्त विधेयक को अपने पास रोक सकती है। यदि वह 14 दिन

के भीतर अपनी सिफारिशों सहित विधेयक विधानसभा को नहीं लौटा देती, तो वह विधेयक उस रूप में दोनों सदनों से पारित समझा जाता है जिस रूप में उसे विधानसभा ने पारित किया था। यदि वित्त विधेयक के सम्बन्ध में विधानपरिषद् कोई सिफारिशें करती है तो उन्हें मानना या न मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है।

इस प्रकार विधानपरिषद् विधानसभा की तुलना में एक शक्तिहीन सदन है। सामान्यतया विधानपरिषदों को कम उपयोगी ही समझा जाता है। इसका प्रमाण यह है कि 1967 के पूर्व पंजाब और पश्चिमी बंगाल में भी विधानपरिषद् की व्यवस्था थी, लेकिन 1967 में इन राज्यों की विधानसभाओं ने विधानपरिषदों को समाप्त करने का प्रस्ताव पारित किया और 1969 में इन दोनों राज्यों की विधानपरिषदें समाप्त कर दी गयीं। इसी प्रकार आन्ध्र विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव के आधार पर 1985 में आन्ध्र विधानपरिषद् और तमिलनाडु विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुसार 1986 में तमिलनाडु विधानपरिषद् समाप्त कर दी गयीं।

राज्य विधानमण्डल या राज्य विधानसभा की शक्तियां और कार्य (POWERS AND FUNCTIONS OF STATE LEGISLATURE OR LEGISLATIVE ASSEMBLY)

राज्य विधानमण्डल राज्य की व्यवस्थापिका है और संविधान के द्वारा राज्य विधानमण्डल को व्यापक शक्तियां प्रदान की गयी हैं। विधानमण्डल की शक्तियों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) **विधायी शक्ति**—राज्य के विधानमण्डल को सामान्यतया उन सभी विषयों पर कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त है जो राज्य सूची और समवर्ती सूची में दिये गये हैं। परन्तु समवर्ती सूची के विषय पर राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित कोई विधि यदि उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित विधि के विरुद्ध हो, तो राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि मान्य नहीं होगी। राज्य विधानमण्डल की कानून निर्माण की शक्ति पर अग्र प्रतिबन्ध भी हैं :

(i) अनुच्छेद 356 के अनुसार यदि राज्य में संवैधानिक तन्त्र भंग होने के कारण राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है अथवा यदि अनुच्छेद 352 या 360 के अन्तर्गत भारत में संकटकाल लागू है तो ऐसी स्थिति में संसद राज्य सूची के सभी विषयों पर कानून बना सकती है।

(ii) राज्यसभा यदि राज्य सूची के किसी विषय के सम्बन्ध में 2/3 बहुमत से ऐसा प्रस्ताव पास कर दे कि राष्ट्रीय हित में संसद को इस विषय पर कानून बनाना चाहिए, तो संसद ऐसा कर सकती है। (अनुच्छेद 249)

(iii) कुछ विधेयकों को राज्य विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत हो जाने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होना आवश्यक है। जब तक राष्ट्रपति इन्हें स्वीकृति न दे दे, तब तक ये कानून का रूप नहीं लेंगे। इनमें प्रमुखतया दो प्रकार के विधेयक आते हैं। प्रथम, जिनका सम्बन्ध राज्य द्वारा सम्पत्ति प्राप्त करने से हो। द्वितीय, समवर्ती सूची के विषय पर बना हुआ ऐसा कानून जो इस विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के विरोध में हो। (अनुच्छेद 254)

(iv) कुछ विधेयक राज्य विधानमण्डल में प्रस्तावित किये जाने के पूर्व उन पर राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है। ऐसे विधेयक वे हैं जिनका सम्बन्ध राज्य के भीतर या विभिन्न राज्यों के बीच व्यापार, वाणिज्य पर व आने-जाने की स्वतन्त्रता पर रोक लगाने से होता है। (अनुच्छेद 304)

(v) संघीय संसद अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और समझौतों का पालन करने के लिए राज्य सूची के विषय पर कानून बना सकती है।

साधारण विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं; किन्तु इनके सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति विधानसभा को ही प्राप्त है।

(2) **वित्तीय शक्ति**—विधानमण्डल, मुख्यतया विधानसभा, को राज्य के वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त होता है। आय-व्यय का वार्षिक लेखा (बजट) विधानसभा से स्वीकृत होने पर ही शासन के द्वारा आय-व्यय से सम्बन्धित कोई कार्य किया जा सकता है। विधानमण्डल से विनियोग विधेयक पास होने पर ही सरकार संचित निधि से व्यय हेतु धन निकाल सकती है।

(3) **प्रशासनिक शक्ति**—संविधान द्वारा राज्यों के क्षेत्र में भी संसदात्मक व्यवस्था स्थापित किये जाने के कारण राज्य का मन्त्रिमण्डल अपनी नीति और कार्यों के लिए विधानमण्डल, विशेषतया विधानसभा, के प्रति उत्तरदायी होता है। विधानसभा या विधानपरिषद् के सदस्यों द्वारा मन्त्रियों से उनके विभागों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जा सकते हैं, मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध निन्दा या आलोचना का प्रस्ताव पास किया जा सकता है या कामरोको प्रस्ताव पास किया जा सकता है। इन सबके अतिरिक्त विधानसभा के द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास किया जा सकता है, जिसके कारण मन्त्रिमण्डल को पद त्याग करना होता है।

(4) **संविधान के संशोधन की शक्ति**—हमारे संविधान की कुछ धाराएं ऐसी हैं जिनमें संशोधन के लिए जरूरी है कि संसद द्वारा विशेष बहुमत के आधार पर पारित प्रस्ताव को कम-से-कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा स्वीकार किया जाय। इस प्रकार राज्य विधानसभा संविधान संशोधन के कार्य में भी भाग लेती है।

(5) **निर्वाचन सम्बन्धी शक्ति**—राज्य की विधानसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

विधानसभा और विधानपरिषद् की तुलना तथा दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध

विधानसभा और विधानपरिषद् की तुलना तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन अग्रलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) **नामकरण के सम्बन्ध में**—विधानमण्डल के दो अंग विधानसभा और विधानपरिषद् हैं। विधानसभा विधानमण्डल का प्रथम अथवा निम्न सदन है और विधानपरिषद् द्वितीय अथवा उच्च सदन है।

(2) **प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में**—विधानसभा राज्य की समस्त जनता की प्रतिनिधि है, विधानपरिषद् कुछ विशेष वर्गों की।

(3) **सदस्य संख्या के सम्बन्ध में**—किसी राज्य में विधानसभा के सदस्यों की संख्या अधिक-से-अधिक 500 और कम-से-कम 60 हो सकती है। परन्तु विधानपरिषद् के सदस्यों की संख्या अधिक-से-अधिक उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों की संख्या की एक-तिहाई होती है किन्तु वह संख्या 40 से कम किसी अवस्था में नहीं होगी।¹

(4) **निर्वाचन के सम्बन्ध में**—विधानसभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से और साधारण बहुमत की पद्धति के आधार पर होता है, परन्तु विधानपरिषद् के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से और आनुपातिक प्रतिनिधित्व तथा एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के आधार पर होता है।

1 जम्मू-कश्मीर राज्य की विधानपरिषद् इस प्रसंग में अपवाद है।

(5) कार्यकाल के सम्बन्ध में—साधारणतया विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष होता है, यद्यपि इस अवधि के पूर्व भी मुख्यमन्त्री के परामर्श पर राज्यपाल के द्वारा इसे भंग किया जा सकता है। इनके विपरीत, विधानपरिषद् एक स्थायी सदन है, जिसके सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष के बाद अवकाश ग्रहण कर लेते हैं और उनके स्थान पर नये सदस्य निर्वाचित हो जाते हैं।

(6) पदाधिकारियों के सम्बन्ध में—विधानसभा के दो पदाधिकारी (अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष) हैं तथा विधानपरिषद् के दो पदाधिकारी (सभापति तथा उपसभापति) हैं।

(7) कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में—राज्य की मन्त्रिपरिषद् विधानसभा के ही प्रति उत्तरदायी होती है, विधानपरिषद् के प्रति नहीं। विधानपरिषद् केवल प्रश्न, पूरक प्रश्न तथा स्थगन प्रस्ताव उपस्थित कर मन्त्रिपरिषद् के कार्यों की जांच तथा आलोचना ही कर सकती है। मन्त्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे पदच्युत करने का कार्य विधानसभा के द्वारा ही किया जा सकता है।

(8) कानून निर्माण के क्षेत्र में—यद्यपि साधारण विधेयक राज्य विधानमण्डल के किसी भी सदन में प्रस्तावित किये जा सकते हैं तथा वे विधेयक दोनों सदनों से स्वीकृत होने चाहिए, परन्तु यदि विधानसभा द्वारा पारित होने के पश्चात् विधानपरिषद् उसे अस्वीकृत कर दे या ऐसे संशोधन प्रस्तावित करे जो विधानसभा को स्वीकार नहीं हों या परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तिथि से तीन माह तक उसे पारित न किया जाय तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः पारित करके विधानपरिषद् के पास भेजती है। यदि परिषद् विधेयक को पुनः अस्वीकृत कर देती है या उसमें ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नहीं होते अथवा विधेयक रखे जाने की तिथि से एक माह तक विधेयक पारित नहीं करती तो विधेयक विधानपरिषद् द्वारा पारित किये जाने के बिना ही दोनों सदनों से पारित समझा जाता है। इस प्रकार विधानपरिषद् किसी साधारण विधेयक को केवल चार माह तक रोक सकती है। इस प्रकार अवितीय विषयों पर कानून निर्माण के सम्बन्ध में भी राज्यों में विधानपरिषद् विधानसभा के समान नहीं, वरन् कम शक्तिशाली है।

(9) वित्त के क्षेत्र में—वित्त विधेयक विधानसभा में ही प्रस्तावित किये जा सकते हैं। विधानसभा से स्वीकृत होने पर जब कोई वित्त विधेयक परिषद् को भेजा जाता है तथा परिषद् 14 दिन के भीतर विधेयक संशोधनों सहित वापस कर देती है तो उन संशोधनों को स्वीकार करने या न करने का अधिकार विधानसभा का है। यदि परिषद् 14 दिन के भीतर वित्त विधेयक नहीं लौटाती, तो विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जाता है। अनुदानों की मांगों पर मतदान भी केवल विधानसभा में ही होता है। इस दृष्टि से राज्यों में विधानपरिषद् को वैसी ही स्थिति प्राप्त है जैसी स्थिति केन्द्र में राज्यसभा की है।

(10) संविधान संशोधन के क्षेत्र में—संविधान के कुछ विशेष प्रकार के उपबन्धों पर संशोधन की पुष्टि राज्य विधानमण्डल करता है और इस सम्बन्ध में विधानमण्डल के दोनों सदनों की शक्तियाँ समान हैं।

(11) राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में—राष्ट्रपति के निर्वाचन में भी केवल विधानसभा के सदस्य ही भाग लेते हैं, विधानपरिषद् के नहीं।

विधानसभा तथा विधानपरिषद् की शक्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि विधानसभा विधानपरिषद् की तुलना में अधिक शक्तिसम्पन्न है। डॉ. एम. पी. शर्मा के

शब्दों में, “जो समानता का ढोंग लोकसभा और राज्यसभा के बीच है, वह विधानसभा और विधानपरिषद् के बीच नहीं।”¹ विधानसभा का अधिक शक्तिशाली होना स्वाभाविक भी है क्योंकि विधानसभा जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित है, विधानपरिषद् अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित है।

कानून निर्माण की प्रक्रिया

(LAW-MAKING PROCEDURE)

साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में—साधारण विधेयक मन्त्रिपरिषद् के किसी सदस्य या राज्य विधानमण्डल के किसी सदस्य द्वारा विधानमण्डल के किसी भी सदन में रखे जा सकते हैं। यदि विधेयक मन्त्रिपरिषद् के किसी सदस्य द्वारा रखा जाता है तो इसे सरकारी विधेयक और यदि राज्य विधानमण्डल के किसी अन्य सदस्य द्वारा रखा जाता है तो इसे ‘निजी सदस्य विधेयक’ (Private member’s bill) कहा जाता है। राज्य विधानमण्डल को भी कानून निर्माण के लिए लगभग वैसी प्रक्रिया अपनानी होती है, जैसी प्रक्रिया संसद के द्वारा अपनायी जाती है। ऐसे विधेयक को कानून का रूप ग्रहण करने के लिए निम्नलिखित अवस्थाओं से गुजरना होता है :

(1) विधेयक की प्रस्तुति तथा प्रथम वाचन—सरकारी विधेयकों के लिए कोई पूर्व सूचना (notice) देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु निजी सदस्य विधेयकों के लिए एक महीने की पूर्व सूचना देना जरूरी है। सरकारी विधेयक साधारणतया सरकारी गजट में छाप दिया जाता है और इस पर किसी भी समय आवश्यकता के अनुसार विचार किया जा सकता है। ‘निजी सदस्य विधेयक’ को प्रस्तुत करने के लिए तारीख निश्चित कर दी जाती है। निश्चित तिथि को विधेयक पेश करने वाला सदस्य अपने स्थान पर खड़ा होकर उस विधेयक को पेश करने के लिए सदन से आज्ञा मांगता है और इसके बाद विधेयक के शीर्षक को पढ़ता है। यदि विधेयक बहुत महत्वपूर्ण है तो विधेयक पेश करने वाला सदस्य विधेयक पर एक संक्षिप्त भाषण भी दे सकता है। यदि उस सदन में उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाला सदस्य बहुमत से विधेयक का समर्थन करते हैं तो विधेयक सरकारी गजट में छाप दिया जाता है। यही विधेयक का प्रथम वाचन समझा जाता है।

(2) द्वितीय वाचन—प्रथम वाचन के बाद विधेयक प्रस्तावित करने वाला सदस्य प्रस्ताव रखता है कि उसके विधेयक का दूसरा वाचन किया जाये। इस अवस्था में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर ही वाद-विवाद होता है, उसकी एक-एक धारा पर बहस नहीं होती। जब इस प्रकार की बहस के बाद कोई विधेयक पास हो जाता है तो उसे प्रवर समिति (Select Committee) के पास भेज दिया जाता है।

(3) प्रवर समिति अवस्था—दूसरे वाचन के बाद विवादपूर्ण विधेयक को प्रवर समिति के पास भेज दिया जाता है। इसमें विधानमण्डल के 15 से 20 तक सदस्य शामिल होते हैं। इस अवस्था में विधेयक की प्रत्येक धारा पर गहरा विचार किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के सुझाव इस अवस्था में रखे जाते हैं और अन्त में प्रतिवेदन तैयार किया जाता है। इस प्रतिवेदन को सदन के सम्मुख पेश किया जाता है।

1 M. P. Sharma, *The Government of Indian Republic*, p. 255.

(4) प्रतिवेदन अवस्था—अब प्रवर समिति के द्वारा रखे गये प्रतिवेदन पर सदन द्वारा विचार किया जाता है। इस अवस्था में सदन के सदस्यों को भी अपने संशोधन और सुझाव प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। समिति द्वारा सुझाये गये और सदस्यों द्वारा रखे गये प्रत्येक सुझाव पर सदन में मतदान होता है। यदि कोई सुझाव पास न हो तो मूल धारा पर मतदान लिया जाता है। इस तरह विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार और वाद-विवाद करके उसे स्वीकार किया जाता है। विधि निर्माण की समस्त प्रक्रिया में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

(5) तृतीय वाचन—प्रतिवेदन अवस्था की समाप्ति के कुछ समय बाद उसका तृतीय वाचन प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में विधेयक के साधारण सिद्धान्तों पर फिर से बहस की जाती है और विधेयक में भाषा सम्बन्धी सुधार किये जाते हैं। इस अवस्था में विधेयक की धाराओं में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। या तो सम्पूर्ण विधेयक को स्वीकार कर लिया जाता है या अस्वीकार। इसके बाद मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकार होने पर इसे सदन द्वारा स्वीकृत समझा जाता है।

विधेयक दूसरे सदन में—एक सदन द्वारा विधेयक स्वीकार कर लिये जाने पर जिन राज्यों में विधानमण्डल का एक ही सदन है, वह विधेयक राज्यपाल के पास भेज दिया जाता है और जिन राज्यों में विधानमण्डल के दो सदन हैं वहाँ विधेयक दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। द्वितीय सदन में भी विधेयक को उन्हीं अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है, जिन अवस्थाओं से होकर विधेयक प्रथम सदन में गुजरा था। यदि विधेयक विधानसभा द्वारा पारित होने के पश्चात् विधानपरिषद् द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है या परिषद् तीन महीने तक विधेयक पर विचार पूरा नहीं करने पाती या परिषद् विधेयक में ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नहीं होते, तो विधानसभा उस विधेयक को पुनः स्वीकार करके परिषद् के पास भेजती है तब यदि परिषद् पुनः विधेयक अस्वीकार कर देती है अथवा दुबारा विधेयक आने की तिथि से एक माह बाद तक विधेयक पास नहीं करती या परिषद् विधेयक आने की तिथि से एक माह बाद तक विधेयक पास नहीं करती या परिषद् विधेयक में पुनः ऐसे संशोधन करती है जो विधानसभा को स्वीकार नहीं होते, तो विधेयक विधानपरिषद् द्वारा पारित किये जाने के बिना ही दोनों सदनों द्वारा पास हुआ समझ लिया जाता है।

राज्यपाल की स्वीकृति—विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होने पर राज्यपाल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल या तो इस विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे देता है या अपनी ओर से कुछ संशोधन का सुझाव देकर विधेयक विधानमण्डल के पास दुबारा भेज सकता है। यदि राज्य विधानमण्डल उस विधेयक को राज्यपाल द्वारा सुझाये संशोधन सहित या रहित रूप में दुबारा पास कर देता है तो राज्यपाल को विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी होगी। राज्यपाल की स्वीकृति के बाद यह विधेयक कानून बन जाता है। अनेक बार राज्यपाल कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज देता है; ऐसे विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त होने के बाद ही कानून बन पाते हैं।

वित्त विधेयक

वित्त विधेयक पारित करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें हैं। संविधान के अन्तर्गत वित्त विधेयक वे होते हैं, जिनका सम्बन्ध निम्नलिखित बातों से हो :

- (1) किसी कर को लागू करने, समाप्त करने, परिवर्तित करने या व्यवस्थित करने से सम्बन्धित विधेयक।
- (2) ऋण लेने, राज्य द्वारा अनुग्रह प्रदान करने अथवा राज्य के किसी आर्थिक कर्तव्य से सम्बन्धित विधेयक।
- (3) राज्य की संचित निधि (Consolidated fund) और आकस्मिकता निधि (Contingency fund) पर किसी भी रूप में प्रभाव डालने से सम्बन्धित विधेयक।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त उन्हें भी वित्त विधेयक समझा जायेगा जिन्हें विधानसभा का अध्यक्ष वित्त विधेयक घोषित कर दे।

जहां तक वित्त विधेयक की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, ये केवल विधानसभा में ही प्रस्तुत किये जाते हैं और विधानपरिषद् को वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में लगभग वे ही अधिकार प्राप्त हैं, जो राज्यसभा को केन्द्रीय वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में हैं। विधानसभा द्वारा पारित वित्त विधेयक विधानपरिषद् के पास विचारार्थ भेज दिया जाता है। यदि परिषद् उस विधेयक को प्राप्ति की तिथि से 14 दिन बाद तक न लौटाये, तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत समझा जायेगा। यदि परिषद् 14 दिन की अवधि में विधेयक को अपने संशोधन सहित लौटा भी दे तो भी इन संशोधनों को स्वीकार या अस्वीकार करना विधानसभा पर निर्भर करता है। विधानसभा इन संशोधनों के साथ या इन संशोधनों के बिना जिस रूप में भी विधेयक को राज्यपाल के पास भेजना चाहे, भेज सकती है और राज्यपाल की स्वीकृति से यह विधेयक कानून का रूप ग्रहण कर लेता है।

प्रश्न

1. उत्तर प्रदेश की विधानसभा की रचना तथा कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. राज्य की विधानसभा और विधानपरिषद् के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
3. अपने राज्य की विधानपरिषद् के संगठन, उसकी शक्तियों तथा उसके कार्यों की व्याख्या कीजिए।
4. राज्य के विधानमण्डलों में कानून बनाने की क्या प्रक्रिया है? समझाकर लिखिए।
5. इस राज्य के विधानमण्डल के दोनों सदनों के आपसी सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए। विधानपरिषद् की क्या आवश्यकता है?

11

उच्च न्यायालय

(HIGH COURTS)

साधारणतया संघ राज्यों में न्यायपालिका का दोहरा ढांचा होता है, किन्तु भारत एक संघ राज्य होते हुए भी इसमें इकहरी न्यायपालिका को अपनाया गया है। न्यायपालिका के इस इकहरे ढांचे के अन्तर्गत उच्चतम स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय स्थित है, इस सर्वोच्च न्यायालय के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय हैं तथा इन उच्च न्यायालयों के अधीन जिलों के न्यायालय तथा अन्य छोटे दीवानी और फौजदारी न्यायालय हैं।

उच्च न्यायालय

उच्च न्यायालय राज्य का प्रमुख न्यायालय होता है। संविधान के अनुसार एक ही उच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र दो या दो से अधिक राज्यों या संघीय क्षेत्र तक विस्तृत हो सकता है। 1955 के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के द्वारा कलकत्ता उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार अण्डमान तथा निकोबार द्वीपों और केरल उच्च न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र लक्षद्वीप, अमीनद्वीप तथा मिनीकोय तक विस्तृत कर दिया गया है। संविधान के 27वें संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्यों का जो पुनर्गठन किया गया और उत्तर-पूर्वी क्षेत्रीय परिषद् की जो स्थापना की गयी, उसके अन्तर्गत असम, नगालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम इन 7 राज्यों के लिए एक ही उच्च न्यायालय 'गुवाहाटी उच्च न्यायालय' की व्यवस्था की गयी है। राज्यों में उच्च न्यायालय की स्थापना या उससे सम्बन्धित व्यवस्था में परिवर्तन का अधिकार संसद को प्राप्त है।

उच्च न्यायालय का कार्य केन्द्र—सामान्यतया उच्च न्यायालय का मुख्य कार्य केन्द्र उस राज्य की राजधानी होता है, किन्तु कुछ राज्यों में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में उच्च न्यायालय का मुख्य केन्द्र इलाहाबाद में है। इसकी एक शाखा (बैंच) लखनऊ में स्थापित है। इन दोनों के बीच क्षेत्राधिकार का विभाजन इस प्रकार है :

लखनऊ बैंच के पूर्ण क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत अवध के 9 जिले आते हैं। ये हैं : लखनऊ, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, उन्नाव, हरदोई, बाराबंकी, बहराइच और गोंडा।

फैजाबाद, सुल्तानपुर और प्रतापगढ़ जिले के विवादों पर लखनऊ शाखा भी विचार कर सकती है और शेष सभी जिलों के विवाद इलाहाबाद के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हैं।

उच्च न्यायालयों का विवरण

नाम	स्थापना वर्ष	अधिकार क्षेत्र	न्यायालय का स्थान
1. इलाहाबाद	1866	उत्तर प्रदेश	इलाहाबाद (लखनऊ में न्यायपीठ)
2. आंध्र प्रदेश	1954	आन्ध्र प्रदेश	हैदराबाद
3. मुम्बई	1861	महाराष्ट्र तथा गोवा	मुम्बई (नागपुर, पणजी एवं औरंगाबाद में न्यायपीठ)
4. कोलकाता	1861	पश्चिम बंगाल तथा अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह	कोलकाता (पोर्ट ब्लेयर में अस्थायी न्यायपीठ)
5. दिल्ली	1966	दिल्ली	दिल्ली
6. गुवाहाटी	1972	असम, मणिपुर, मेघालय, नगालैण्ड, त्रिपुरा, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश	गुवाहाटी (इम्फाल, आइजोल, अगरतला और कोहिमा में न्यायपीठ) तथा शिलांग में अस्थायी न्यायपीठ
7. गुजरात	1960	गुजरात	अहमदाबाद
8. हिमाचल प्रदेश	1971	हिमाचल प्रदेश	शिमला
9. जम्मू और कश्मीर	1928	जम्मू और कश्मीर	श्रीनगर और जम्मू
10. कर्नाटक	1884	कर्नाटक	बंगलौर
11. केरल	1950	केरल और लक्षद्वीप	एर्नाकुलम
12. मध्य प्रदेश	1956	मध्य प्रदेश	जबलपुर (ग्वालियर एवं इन्दौर में न्यायपीठ)
13. मद्रास	1861	तमिलनाडु और पाण्डिचेरी	चेन्नई
14. उड़ीसा	1948	उड़ीसा	कटक
15. पटना	1916	बिहार	पटना
16. पंजाब और हरियाणा	1947	पंजाब, हरियाणा और चण्डीगढ़	चण्डीगढ़
17. राजस्थान	1949	राजस्थान	जोधपुर (जयपुर में न्यायपीठ)
18. सिक्किम	1975	सिक्किम	गान्तोक
19. छत्तीसगढ़	2000	छत्तीसगढ़	बिलासपुर
20. उत्तरांचल	2000	उत्तरांचल	नैनीताल
21. झारखण्ड	2000	झारखण्ड	रांची

इलाहाबाद उच्च न्यायालय में लखनऊ की स्थायी बेंच सहित न्यायाधीशों के स्वीकृत पदों की संख्या 95 है।¹

उच्च न्यायालयों का संगठन

(COMPOSITION OF THE HIGH COURTS)

(1) न्यायाधीशों की नियुक्ति—प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक प्रमुख न्यायाधीश व कुछ अन्य न्यायाधीश होंगे, जिनकी संख्या निश्चित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधीश और उस राज्य के

¹ उत्तर प्रदेश 2006 : सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश

राज्यपाल के परामर्श से करेंगे तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में उस राज्य के मुख्य न्यायाधीश का परामर्श भी लेना होगा।

अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति—यदि किसी उच्च न्यायालय में कुछ समय के लिए कार्य बढ़ जाये, तो राष्ट्रपति एक या अधिक न्यायाधीश पद की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त कर सकता है। उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश की अपने पद से लम्बी अनुपस्थिति की स्थिति में भी राष्ट्रपति उसके स्थान पर किसी व्यक्ति को अस्थायी तौर पर न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 224 के अनुसार मुख्य न्यायाधीश को यह अधिकार दिया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर वह राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति लेकर किसी उच्च न्यायालय के किसी भी अवकाश प्राप्त न्यायाधीश को 'तदर्थ न्यायाधीश' (Adhoc Judge) के रूप में कार्य करने के लिए बुला सकता है।

(2) न्यायाधीशों की योग्यताएं—उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का पद प्राप्त करने के लिए निम्न योग्यताएं आवश्यक हैं :

(i) वह भारत का नागरिक हो।

(ii) वह कम-से-कम दस वर्ष तक भारत के किसी क्षेत्र में न्याय सम्बन्धी पद पर कार्य कर चुका हो अथवा एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय का लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो।

(3) न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते—संविधान के अनुच्छेद 221 के अनुसार उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को ऐसे वेतन दिये जायेंगे, जो संसद द्वारा निर्धारित करें। ये वेतन और भत्ते 'राज्य की संचित निधि' से दिये जाते हैं और न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन तथा भत्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

1998 में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन में आवश्यक सुधार किया गया है। अब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 30 हजार रु. प्रति माह तथा अन्य न्यायाधीशों को 26 हजार रुपए प्रति माह वेतन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त न्यायाधीशों को निवास-स्थान, मासिक भत्ता, यात्रा भत्ता, मनोरंजन भत्ता, स्टाफ कार, सीमित मात्रा में पेट्रोल तथा अन्य कुछ सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

न्यायाधीशों के लिए पेंशन व सेवा निवृत्ति वेतन (ग्रेज्युटी) की व्यवस्था सर्वप्रथम 1976 ई. में की गई थी और 1998 में उनकी पेंशन, सेवा निवृत्ति वेतन व अन्य सेवा शर्तों में आवश्यक सुधार किये गये हैं।

(4) न्यायाधीशों का कार्यकाल—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का कार्यकाल 62 वर्ष की आयु तक निश्चित किया गया है पर इसके पूर्व वह स्वयं पद त्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि संसद के दोनों सदन अलग-अलग अपनी समस्त संख्या के बहुमत से किसी न्यायाधीश को अयोग्य या दुराचारी प्रमाणित करें और ऐसा प्रस्ताव राष्ट्रपति के सम्मुख रखें, तो राष्ट्रपति के आदेश से उसे अपना पद त्याग देना होगा। संसद द्वारा यह प्रस्ताव एक ही अधिवेशन में रखा जाना चाहिए।

(5) न्यायाधीशों का स्थानान्तरण—राष्ट्रपति को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश का किसी अन्य उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण कर सकता है।

(6) न्यायाधीशों पर प्रतिबन्ध—संविधान के अनुच्छेद 220 के अनुसार उच्च न्यायालय का कोई स्थायी न्यायाधीश पद-निवृत्ति के बाद उसी उच्च न्यायालय में या उस उच्च न्यायालय

के किसी अधीनस्थ न्यायालय में भी वकालत नहीं कर सकता है। वह अन्य उच्च न्यायालयों या सर्वोच्च न्यायालय में वकालत अवश्य ही कर सकता है।

उच्च न्यायालय की शक्तियां तथा अधिकार-क्षेत्र (POWERS AND JURISDICTION OF THE HIGH COURT)

भारतीय संघ के प्रत्येक उच्च न्यायालय को दो प्रकार की शक्तियां प्राप्त हैं : (1) न्याय सम्बन्धी, और (2) प्रशासन सम्बन्धी। इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय 'अभिलेख न्यायालय' (Court of Record) के रूप में भी कार्य करता है। उच्च न्यायालय के न्याय सम्बन्धी क्षेत्र को और आगे दो भागों में बांटा जा सकता है—प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र तथा अपीलीय अधिकार-क्षेत्र।

(1) प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र—मौलिक अधिकारों के रक्षण से सम्बन्धित विवाद प्रारम्भ से ही उच्च न्यायालय में प्रस्तुत किये जाते हैं, क्योंकि उनकी सुनवाई का अधिकार राज्य के अन्य किसी न्यायालय को प्राप्त नहीं है। मौलिक अधिकारों की रक्षा हेतु उच्च न्यायालय के द्वारा विभिन्न प्रकार के लेख जारी किये जा सकते हैं। उच्च न्यायालय द्वारा जारी किये जाने वाले ये लेख हैं : बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण। इसके अतिरिक्त, प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय को वसीयत, विवाह-विच्छेद, विवाह विधि, कम्पनी कानून तथा उच्च न्यायालय का अपमान, इत्यादि से सम्बन्धित मुकदमे सुनने का अधिकार है।

भारतीय संघ के उच्च न्यायालयों में कोलकाता, मुम्बई और चेन्नई उच्च न्यायालयों को अन्य उच्च न्यायालयों की अपेक्षा अधिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त हैं। संविधान लागू होने के पूर्व इन तीनों महानगरों में प्रेजीडेन्सी कोर्ट्स (Presidency Courts) थे, इन तीनों नगरों में प्रेजीडेन्सी कोर्ट्स का दीवानी और फौजदारी अधिकार-क्षेत्र अब इन महानगरों में स्थित उच्च न्यायालयों को प्राप्त हो गया है।

(2) अपीलीय क्षेत्राधिकार—उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के निर्णयों की अपीलें सुनता है जिसमें दीवानी, फौजदारी और राजस्व सम्बन्धी सभी प्रकार के अभियोग सम्मिलित हैं। फौजदारी मुकदमों में सत्र न्यायालय (Sessions Court) द्वारा किये गये मृत्युदण्ड के आदेश पर उच्च न्यायालयों की पुष्टि आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय के ही एक न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध दूसरे उच्च न्यायालय में पुनः अपील की जा सकती है। संविधान लागू होने के समय उच्च न्यायालय को राजस्व सम्बन्धी मुकदमों की अपील सुनने का अधिकार नहीं था, परन्तु अब उच्च न्यायालयों को राजस्व सम्बन्धी सभी प्रकार के मुकदमों की भी अपीलें सुनने का अधिकार प्राप्त है। ये अपीलें 'राजस्व मण्डल' (Revenue Board) के निर्णयों के विरुद्ध होती हैं।

(3) लेखा जारी करने का अधिकार—मूल संविधान के अनुच्छेद 226 के द्वारा उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों को लागू करने तथा अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लेख, आदेश तथा निर्देश जारी करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

(4) न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति—न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का आशय है : संवैधानिक कानून, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून की संविधान के आधार पर जांच और संविधान के विरुद्ध पाये जाने पर उन्हें अवैध घोषित करना। संविधान के द्वारा उच्च न्यायालयों को न्यायिक पुनर्विलोकन की यह शक्ति प्रदान की गयी है और उच्च न्यायालयों को अधिकार है कि वह किसी भी ऐसे संवैधानिक संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य कानून को अवैधानिक

घोषित कर दें, जो संविधान के प्रावधानों के विपरीत हो। न्यायिक पुनर्विलोकन उच्च न्यायालय का बहुत अधिक महत्वपूर्ण कार्य और शक्ति है।

(5) उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय (Court of Record) के रूप में—उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय भी है जिसका तात्पर्य यह है कि इसकी कार्यवाही तथा निर्णय प्रकाशित किये जाते हैं और साक्षी के रूप में अधीनस्थ न्यायालयों में मान्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इसे अपने अपमान के लिए दण्ड देने का भी अधिकार प्राप्त है।

(6) प्रशासनिक शक्तियाँ—उच्च न्यायालय को न्यायिक शक्तियों के अतिरिक्त अपने राज्य की समस्त न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में व्यापक प्रशासनिक शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। यह राज्य की समस्त न्यायिक व्यवस्था पर निम्न प्रकार से नियन्त्रण रखता है :

(i) उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों और न्यायाधिकरणों (Tribunals) पर निगरानी रखते हैं। अपने निरीक्षणों के अधिकार के अन्तर्गत वे अपने अधीन न्यायालयों से किसी भी मुकदमे से सम्बन्धित कागजात मंगवाकर देख सकते हैं।

(ii) यदि अधीन न्यायालय में कोई ऐसा अभियोग चल रहा है, जिसमें भारतीय संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है तो उच्च न्यायालय ऐसे मुकदमे को अपने पास मंगा सकता है।

(iii) उच्च न्यायालय किसी मुकदमे को एक अधीन न्यायालय से दूसरे अधीन न्यायालय में भेज सकता है।

(iv) अधीन न्यायालयों की कार्य-पद्धति, रिकार्ड और रजिस्टर तथा हिसाब इत्यादि रखने के सम्बन्ध में भी उच्च न्यायालय अपने अधीन न्यायालयों के लिए नियम बना सकता है।

(v) वह अधीन न्यायालय के शेरिफ, क्लर्क, अन्य कर्मचारी तथा वकील आदि के वेतन, सेवा-शर्तें और फीस निश्चित कर सकता है।

(vi) यह जिला न्यायालय तथा इससे छोटे न्यायालय के अधिकारियों की नियुक्ति, अवनति, उन्नति, छुट्टी, इत्यादि के सम्बन्ध में नियम बना सकता है।

(vii) उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति की शक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पास होती है।

उच्चतम न्यायालय के समान ही उच्च न्यायालयों ने भी 1993-2006 के वर्षों में जनहित अभियोग और न्यायिक सक्रियता के आधार पर भारतीय राज व्यवस्था में अपनी भूमिका को पहले से अधिक प्रभावशाली बना लिया है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए संविधान के द्वारा वैसे ही उपबन्धों की व्यवस्था की गयी है, जैसे उपबन्धों की व्यवस्था सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए है। संक्षेप में ये उपबन्ध निम्नलिखित हैं :

(1) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और यह नियुक्ति न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों के परामर्श के आधार पर की जाती है।

(2) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल सुरक्षित है। न्यायाधीश अवकाश ग्रहण की आयु तक कार्य करते हैं और इस अवधि के पूर्व न्यायाधीशों को महाभियोग की विशेष प्रक्रिया के आधार पर ही हटाया जा सकता है।

(3) उच्च न्यायालय का न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय तथा उन उच्च न्यायालयों, जिनका वह न्यायाधीश नहीं रह चुका है, को छोड़कर अन्य किसी न्यायालय या पदाधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता है।

(4) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन संविधान द्वारा निश्चित कर दिया गया है और पद ग्रहण करने के बाद उनके वेतन, भत्ते, आदि में कोई कमी नहीं की जा सकती है। वेतन, भत्ते, पेन्शन तथा छुट्टी के सम्बन्ध में नियम निर्माण का अधिकार संसद को प्राप्त है न कि राज्य के विधानमण्डल को।

(5) न्यायाधीशों का वेतन तथा उच्च न्यायालय का प्रशासनिक व्यय संघ या राज्य सरकार की संचित निधि पर भारित है, इसलिए उन पर संसद या राज्य विधानमण्डल में मतदान नहीं हो सकता है।

(6) उच्च न्यायालय के अधिकारियों की नियुक्ति इस न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश करता है तथा उनकी सेवा-शर्तें भी वही निर्धारित करता है।

इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा उच्च न्यायालय की पूर्ण स्वतन्त्रता की व्यवस्था की गयी है और भारतीय संघ के विभिन्न उच्च न्यायालयों के अब तक के कार्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उच्च न्यायालय सामान्यतया अपने कर्तव्य-पालन में स्वतन्त्र और निष्पक्ष रहे हैं।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्थानान्तरण की व्यवस्था और विवाद—उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता पर विपरीत प्रभाव डालने वाली एक स्थिति पिछले लगभग 25 वर्षों से चली आ रही है और यह स्थिति है, केन्द्र सरकार द्वारा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्थानान्तरण की शक्ति। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से अन्य राज्य के उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित कर सकता है।

राष्ट्रपति की इस शक्ति का प्रयोग केन्द्र सरकार द्वारा ही किया जाता है। अतः उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर इस बात का दबाव रहता है कि केन्द्र सरकार अप्रसन्न होने पर उनके स्थानान्तरण का कदम उठा सकती है। उच्च न्यायालयों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि केन्द्र सरकार अपनी इस शक्ति का प्रयोग निश्चित नियमों के आधार पर और नियन्त्रित रूप में ही करे। अतः सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 6 अक्टूबर, 1993 के ऐतिहासिक फैसले में व्यवस्था दी है कि 'उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के मामले में भारत के प्रधान न्यायाधीश की सलाह ही निर्णायक होगी।' भारत सरकार ने इस निर्णय से सहमति व्यक्त की। कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि इस सम्बन्ध में भारत के मुख्य न्यायाधीश की शक्ति को भी नियन्त्रित किया जाना चाहिए। अतः अक्टूबर 1998 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा घोषित निर्णय में व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति व स्थानान्तरण के सम्बन्ध में भारत के मुख्य न्यायाधीश से प्राप्त परामर्श के आधार पर कार्य करेंगे, लेकिन मुख्य न्यायाधीश स्वयं 'सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह' की सर्वसम्मत राय के आधार पर ही इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को परामर्श देंगे। 1998 में की गई यह व्यवस्था निश्चित रूप से श्रेष्ठ है।

प्रश्न

1. उच्च न्यायालय की रचना, शक्तियों तथा कार्य का वर्णन कीजिए।
2. इस राज्य में उच्च न्यायालय के गठन और क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।

12

भारतीय नागरिकता और संविधान में संशोधन

(INDIAN CITIZENSHIP AND AMENDMENTS
IN THE CONSTITUTION)

भारतीय नागरिकता (INDIAN CITIZENSHIP)

नागरिकता मनुष्य की उस स्थिति का नाम है, जिसमें मनुष्य को नागरिक का स्तर प्राप्त होता है और नागरिक केवल ऐसे ही व्यक्तियों को कहा जा सकता है जिन्हें राज्य की ओर से सभी राजनीतिक और नागरिक अधिकार प्रदान किये गये हों, और जो उस राज्य के प्रति विशेष भक्ति रखते हों। नागरिक के उपर्युक्त लक्षण को दृष्टि में रखते हुए ही हमारे संविधान में नागरिकता सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख किया गया है।

भारतीय नागरिकता के कुछ विशेष लक्षण

भारतीय संविधान द्वारा नागरिकता के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गयी है, उसके कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार हैं :

(1) **इकहरी नागरिकता**—सामान्यतया संघात्मक शासन-व्यवस्था में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था की जाती है : प्रथम, संघ की नागरिकता और द्वितीय, राज्य की नागरिकता। भारतीय संविधान द्वारा भारत में संघात्मक शासन की व्यवस्था की गयी है किन्तु अमरीका आदि अन्य संघ राज्यों की भांति भारत में दोहरी नागरिकता की नहीं वरन् एक ही नागरिकता (भारतीय नागरिकता) की व्यवस्था की गयी है। भारत में कोई व्यक्ति भारत के किसी भी क्षेत्र में निवास करता हो, वह केवल भारत का नागरिक होगा। हमारे यहां उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आदि राज्यों की नागरिकता की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। भारत में इकहरी नागरिकता की यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से की गयी है।

(2) **नागरिकता संधीय विषय**—भारतीय संविधान के अनुसार नागरिकता एक संधीय विषय है और राज्य सरकारों को इस सम्बन्ध में कार्य करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। नागरिकता के सम्बन्ध में नियम बनाने और उन्हें संचालित करने का अधिकार केन्द्रीय संसद को ही प्राप्त है।

(3) **नागरिकता के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण**—साधारणतया अन्य देशों में नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में या तो जन्म के सिद्धान्त को अपनाया जाता है अथवा

वंश या रक्त के सिद्धान्त को। किन्तु भारतीय संविधान के अन्तर्गत नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में जन्म के सिद्धान्त और वंश के सिद्धान्त दोनों को ही अपनाया गया था। 1985 तक व्यवस्था यह थी कि 26 जनवरी, 1950 के बाद जो व्यक्ति भारत भूमि पर उत्पन्न हुए हों या जो व्यक्ति चाहे भारत के बाहर उत्पन्न हुए हों, किन्तु जिनके माता-पिता भारत के नागरिक हों, भारत के नागरिक समझे जायेंगे। यह सोचा जा रहा था कि नागरिकता सम्बन्धी इन उदार प्रावधानों का दुरुपयोग किया जा सकता है। अतः 'नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986' के आधार पर अब यह व्यवस्था की गयी है कि इस देश में जन्म लेने वाले किसी व्यक्ति को भारत की नागरिकता तभी प्राप्त होगी, जबकि उसके माता-पिता में से कोई एक भारत का नागरिक होगा।

इस प्रकार अब नागरिकता सम्बन्धी प्रावधान पहले की तुलना में कम उदार हो गये हैं, लेकिन अब भी ये अपेक्षाकृत उदार ही हैं।

संविधान लागू होने के समय नागरिकता की व्यवस्था

भारतीय संविधान के 5 से 11 तक के अनुच्छेदों में नागरिकता सम्बन्धी व्यवस्था की गयी है। संविधान निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को नागरिकता प्रदान करता है :

(1) जन्मजात नागरिक—संविधान लागू होने के समय (26 जनवरी, 1950 ई.) निम्न तीन श्रेणियों के व्यक्ति भारत के जन्मजात नागरिक माने गये :

प्रथम श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो भारत भूमि में पैदा हुए हों;

दूसरी श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जिनके माता-पिता या इन दोनों में से कोई एक भारत की भूमि में पैदा हुए हों; तथा

तृतीय श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो भारतीय संविधान के घोषित होने के पूर्व कम-से-कम 5 वर्ष से भारत भूमि पर निवास कर रहे हों।

(2) शरणार्थी नागरिक—संविधान में उन व्यक्तियों की नागरिकता का भी विवेचन किया गया है जो पाकिस्तान से भारत आये हैं। संविधान के अनुसार वे व्यक्ति जो 19 जुलाई, 1948 के पूर्व पाकिस्तान से भारत आये हैं, भारत के नागरिक समझे जायेंगे। जो व्यक्ति 19 जुलाई, 1948 के बाद पाकिस्तान से भारत आये और जिन्होंने भारत में कम-से-कम 6 मास रहने के बाद उचित अधिकारी के समक्ष नागरिक बनने के लिए प्रार्थना-पत्र देकर संविधान लागू होने के पूर्व अपना नाम रजिस्टर्ड करा लिया, उन्हें भी नागरिकता का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

1 मार्च, 1947 के बाद जो व्यक्ति भारत से पाकिस्तान चले गये हैं, सामान्यतया उन्हें भारतीय नागरिकता से वंचित कर दिया गया है, लेकिन इनमें से भी उन लोगों को, जो भारत में स्थायी निवास का परमिट लेकर पाकिस्तान से भारत में चले आये हैं, 6 महीने भारत में रहने के बाद प्रार्थना-पत्र देकर रजिस्ट्रेशन करवा लेने पर भारत की नागरिकता मिल सकती है।

(3) विदेशों में रहने वाले भारतीय—विदेशों में जो भारतीय रहते हैं, यदि वे निम्न दो शर्तें पूरी करते हों तो भारतीय नागरिक बन सकते हैं—(i) उनका या उनके माता-पिता या उनके दादा-दादी का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो; (ii) उन्होंने विदेश में स्थित भारतीय राजदूत के पास भारत का नागरिक बनने के लिए आवेदन-पत्र देकर अपना नाम रजिस्टर में लिखा लिया हो।

संविधान लागू होने के बाद नागरिकता की व्यवस्था

भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955—हमारे संविधान ने संसद को यह अधिकार दिया है कि वह भारतीय नागरिकता से सम्बन्धित सभी विषयों के सम्बन्ध में व्यवस्था करे। अतः संसद ने 1955 ई. में 'भारतीय नागरिकता अधिनियम' पारित किया। इस अधिनियम में स्पष्ट किया गया है कि भारतीय नागरिकता की प्राप्ति किस प्रकार होगी तथा किन परिस्थितियों में भारतीय नागरिकता का अन्त हो जायेगा।

नागरिकता की प्राप्ति—उपर्युक्त अधिनियम के अनुसार निम्न में से किसी एक आधार पर नागरिकता प्राप्त की जा सकती है :

(1) जन्म से—कोई व्यक्ति जो 25 जनवरी, 1950 या उसके बाद भारत में पैदा हुए हैं, भारत के नागरिक माने जायेंगे। परन्तु विदेशी दूतावासों से जुड़े व्यक्तियों (जो भारत में अन्य देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं) के बच्चे भारत के नागरिक नहीं माने जायेंगे।

(2) रक्त सम्बन्ध या वंशाधिकार से—इस अधिनियम के अनुसार वे व्यक्ति भी, जो 26 जनवरी, 1950 या उसके बाद भारत के बाहर पैदा हुए हों, भारत के नागरिक माने जायेंगे, यदि उसके पिता या माता उसके जन्म के समय भारत के नागरिक रहे हों।

(3) पंजीकरण द्वारा—निम्न श्रेणी के व्यक्ति पंजीकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं :

(i) ऐसे व्यक्ति जो 26 जुलाई, 1947 के बाद पाकिस्तान से आये हैं, उस दशा में भारतीय नागरिक माने जायेंगे, जब वे आवेदन-पत्र देकर अपना नाम 'भारतीय नियुक्ति अधिकारी' के पास नागरिकता के रजिस्टर में दर्ज करा लें। परन्तु ऐसे लोगों के लिए शर्त यह होगी कि आवेदन-पत्र देने के पूर्व कम-से-कम 6 माह से भारत में रहते हों तथा उनका या उनके माता-पिता अथवा दादा-दादी का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो।

(ii) ऐसे भारतीय जो विदेशों में जाकर बस गये हैं, भारतीय दूतावासों में आवेदन-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगे।

(iii) विदेशी स्त्रियां, जिन्होंने भारतीय नागरिक से विवाह कर लिया हो, आवेदन-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगी।

(iv) राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिक, यदि वे भारत में ही रहते हों या भारत सरकार की नौकरी कर रहे हों, आवेदन-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं।

(v) भारतीय नागरिकों के नावालिग बच्चे।

(4) देशीकरण द्वारा—विदेशी नागरिक भी निम्न शर्तों को पूरा करने पर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं :

(i) वह किसी ऐसे देश का नागरिक न हो जहां भारतीय देशीकरण द्वारा नागरिक बनने से रोक दिए जाते हों।

(ii) वह अपने देश की नागरिकता का परित्याग कर चुका हो और केन्द्रीय सरकार को इस बात की सूचना दे दी हो।

(iii) वह देशीकरण के लिए आवेदन करने की तिथि से पहले 12 वर्ष तक या तो भारत में रहा हो या भारत सरकार की सेवा में रहा हो। केन्द्रीय सरकार यदि उचित समझे तो उस अवधि को घटा सकती है।

(iv) या उक्त 12 वर्षों के पहले के कुल 7 वर्षों में से कम-से-कम 4 वर्ष तक उसने भारत में निवास किया हो या भारत सरकार की नौकरी में रहा हो।

(v) वह एक अच्छे चरित्र का व्यक्ति हो।

(vi) वह भारत की किसी प्रादेशिक भाषा या राजभाषा का अच्छा जानकार हो।

(vii) नागरिकता का प्रमाण-पत्र मिलने पर वह भारत में रहने का या भारत सरकार की नौकरी करने का अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में जिसका सदस्य भारत भी हो, काम करने का इच्छुक हो।

(viii) वह राज्यनिष्ठा की शपथ ग्रहण करे।

संविधान में ऐसे व्यक्ति को विशेष छूट दी गई है जो दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य विश्वशान्ति या मानव विकास के क्षेत्र में विशेष कार्य कर चुका हो। उपर्युक्त श्रेणी के व्यक्तियों को संविधान में निर्दिष्ट शर्तों को पूरा किए बिना भी नागरिकता प्रदान की जा सकती है।

(5) भूमि विस्तार द्वारा—यदि किसी नवीन क्षेत्र को भारत में शामिल किया जाय तो वहां की जनता को भारतीय नागरिकता प्राप्त हो जायेगी। जैसे 1961 ई. में गोआ को भारत में शामिल किये जाने पर वहां की जनता को भारतीय नागरिकता प्राप्त हो गई।

भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986

भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 द्वारा जो व्यवस्था की गयी थी, वह बहुत उदार थी और जम्मू-कश्मीर तथा असम जैसे राज्यों में विदेशियों ने अनधिकृत रूप से प्रवेश कर इसका अनुचित लाभ भी उठाया। अतः 'नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986' के आधार पर 'नागरिकता अधिनियम, 1955' में संशोधन कर नागरिकता प्राप्त करने की शर्तों में परिवर्तन किया गया है। संशोधन इस प्रकार हैं :

(1) अब भारत में जन्मे केवल उस व्यक्ति को ही नागरिकता प्रदान की जायेगी, जिसके माता-पिता में से कम-से-कम एक भारत का नागरिक हो।

(2) जो व्यक्ति पंजीकरण के माध्यम से भारतीय नागरिकता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अब भारत में कम-से-कम पांच वर्ष निवास करना होगा। पहले यह अवधि 6 माह थी।

(3) देशीकरण द्वारा नागरिकता तभी प्रदान की जायेगी, जबकि सम्बन्धित व्यक्ति कम-से-कम 10 वर्ष तक भारत में रह चुका हो। पहले यह अवधि 5 वर्ष थी।

'नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986' जम्मू-कश्मीर तथा असम सहित भारत के सभी राज्यों पर लागू होगा।

नागरिकता कानून में संशोधन, 1992

1992 में संसद ने सर्वसम्मति से नागरिकता संशोधन विधेयक पारित किया, जिसके अन्तर्गत व्यवस्था की गई है कि भारत से बाहर पैदा होने वाले बच्चे को, यदि उसकी मां भारत की नागरिक है, तो उसे भारत की नागरिकता प्राप्त होगी। इससे पूर्व उसी दशा में भारत की नागरिकता प्राप्त होती थी, यदि उसका पिता भारत का नागरिक हो। इस प्रकार अब नागरिकता के प्रसंग में बच्चे की 'माता को पिता के समक्ष स्थिति' प्रदान कर दी गई है।

नागरिकता का अन्त

भारतीय नागरिकता का अन्त निम्न प्रकार से हो सकता है :

(1) नागरिकता का परित्याग करने से—यदि कोई वयस्क व्यक्ति भारतीय नागरिकता के परित्याग की घोषणा करता है तो वह घोषणा विशेष अधिकारी द्वारा पंजीकृत कर ली जायेगी और वह व्यक्ति भारत का नागरिक नहीं रहेगा। इसके साथ ही उस व्यक्ति के नाबालिग वच्चों की भारतीय नागरिकता भी समाप्त हो जायेगी।

(2) स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता स्वीकार कर लेने से—यदि भारत का कोई नागरिक पंजीकरण, देशीकरण या अन्य किसी प्रकार से किसी दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है, तो ऐसी स्थिति में वह भारत का नागरिक नहीं रहेगा।

(3) संघ सरकार द्वारा नागरिकता का अपहरण—भारत की संघ सरकार निम्नलिखित कारणों के आधार पर नागरिकता का अपहरण कर सकती है :

(i) असत्य अभिलेख—यदि किसी व्यक्ति ने धोखा देकर या गलत बयान देकर या आवश्यक बातों को छिपाकर नागरिकता प्राप्त कर ली है तो सही जानकारी प्राप्त होने पर उसकी नागरिकता समाप्त की जा सकती है।

(ii) देशद्रोह से—यदि किसी व्यक्ति ने भारत के प्रति देशद्रोह किया है, युद्ध के समय शत्रु की सहायता की है।

(iii) दीर्घ प्रवास से—यदि कोई व्यक्ति भारत सरकार की अनुमति के बिना लगातार सात वर्ष तक विदेश में रहे और विदेश के भारतीय दूतावास में अपनी भारतीय नागरिकता बनाये रखने की इच्छा से प्रति वर्ष पंजीकरण भी न कराये तो उसकी भारतीय नागरिकता समाप्त की जा सकती है।

(iv) अपराध से—यदि किसी व्यक्ति ने पंजीकरण या देशीकरण से नागरिकता प्राप्त की है और नागरिकता प्राप्त करने के पांच वर्ष के भीतर किसी देश में उसे कम-से-कम दो वर्ष की सजा हुई है, तो उसकी नागरिकता समाप्त की जा सकती है।

संघ सरकार किसी व्यक्ति की नागरिकता का अन्त करे, इसके पहले उसे अपनी सफाई देने का पूरा अवसर दिया जायेगा।

भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया

(AMENDMENT PROCEDURE OF THE INDIAN CONSTITUTION)

भारत के द्वारा संघात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया गया है, अतः संयुक्त राज्य अमरीका, ऑस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैण्ड के संविधानों की तरह भारत के द्वारा भी एक कठोर संविधान को अपनाया गया है। लेकिन संविधान-निर्माता अमरीका जैसे अत्यधिक कठोर संविधान को अपनाने से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों से परिचित थे, अतः उनके द्वारा संविधान के संशोधन के लिए एक ऐसी प्रक्रिया को अपनाया गया है जो न तो इंग्लैण्ड के संविधान की तरह अत्यधिक लचीली है और न ही अमरीका के संविधान की तरह कठोर। प्र. जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में संविधान सभा में कहा था, “यद्यपि जहां तक सम्भव हो, हम इस संविधान को एक ठोस और स्थायी संविधान का रूप देना चाहते हैं, लेकिन संविधान में कोई स्थायित्व नहीं होता। इसमें कुछ लचीलापन होना ही चाहिए। यदि आप इसे कठोर और स्थायी बनाते हैं तो आप एक राष्ट्र की प्रगति पर जीवित, प्राणवत् एवं शरीरधारी व्यक्तियों की प्रगति पर रोक लगा देते हैं।”

भारतीय संविधान में संशोधन के लिए तीन प्रणालियों को अपनाया गया है : (क) साधारण विधि द्वारा संशोधन की प्रक्रिया, (ख) संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया, तथा (ग) संसद के विशिष्ट बहुमत और राज्य के विधानमण्डलों के अनुमोदन से संशोधन की प्रक्रिया।

(क) साधारण विधि द्वारा संशोधन की प्रक्रिया—संविधान के अनेक अनुच्छेदों में साधारण विधि निर्माण की प्रक्रिया अर्थात् संसद के दोनों सदनों के पृथक्-पृथक् साधारण बहुमत द्वारा संशोधन करने की व्यवस्था की गयी है। संसद के साधारण बहुमत द्वारा पारित होने तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने पर किसी विधेयक द्वारा संविधान के अनुच्छेदों में परिवर्तन किया जा सकता है। राज्यों के क्षेत्र, सीमा और नाम में परिवर्तन, राज्य की व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन का निर्माण और समाप्ति, नागरिकता, अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों से सम्बन्धित व्यवस्थाएं इसी के अन्तर्गत आती हैं।

(ख) संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया—इसके अन्तर्गत संविधान की वे व्यवस्थाएं आती हैं जिनमें संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा ही संशोधन किया जा सकता है। संविधान के ऐसे संशोधन का विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है। यदि संसद का वह सदन कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से उस विधेयक को पारित कर दे तो वह दूसरे सदन में भेज दिया जाता है और उस सदन में भी इसी प्रकार पारित होने के बाद वह राष्ट्रपति की अनुमति से संविधान का अंग बन जाता है। संशोधन प्रस्ताव संसद के दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग विशेष बहुमत से स्वीकृत किया जाना आवश्यक है। संशोधन प्रस्ताव के सम्बन्ध में दोनों सदनों में असहमति होने पर प्रस्ताव गिर जाएगा, क्योंकि संविधान संशोधन के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की संविधान में कोई व्यवस्था नहीं है। मूल अधिकार, नीति निर्देशक तत्व तथा संविधान की अन्य सभी व्यवस्थाएं, जो प्रथम और तृतीय श्रेणी में नहीं आती, इसी के अन्तर्गत आती हैं।

(ग) संसद के विशिष्ट बहुमत और राज्य के विधानमण्डलों के अनुमोदन से संशोधन की प्रक्रिया—अन्तिम तथा तीसरे वर्ग में संविधान की वे व्यवस्थाएं आती हैं जिनमें संशोधन के लिए संसद के विशिष्ट बहुमत अर्थात् संसद के दोनों सदनों द्वारा पृथक्-पृथक् अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से विधेयक पारित होना चाहिए तथा विधेयक का राज्यों के कुल विधानमण्डलों में से कम-से-कम आधे सदस्यों द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है।

संविधान के निम्नलिखित उपबन्धों को संशोधित करने के लिए इस प्रक्रिया को अपनाना होता है :

- (i) राष्ट्रपति का निर्वाचन (अनुच्छेद 54)।
- (ii) राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति (अनुच्छेद 55)।
- (iii) संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद 73)।
- (iv) राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार (अनुच्छेद 162)।
- (v) संघीय न्यायपालिका (भाग 5 का अध्याय 4)।
- (vi) राज्यों के उच्च न्यायालय (भाग 6 का अध्याय 5)।
- (vii) केन्द्रशासित क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय (अनुच्छेद 241)।
- (viii) संघ तथा राज्यों के विधायी सम्बन्ध (भाग II का अध्याय I)।

- (ix) सातवीं अनुसूची में से कोई भी सूची।
- (x) संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व।
- (xi) संविधान के संशोधन की प्रक्रिया से सम्बन्धित उपबन्ध जिनका उल्लेख अनुच्छेद 368 में किया गया है।

24वें संवैधानिक संशोधन (1971) द्वारा संशोधन प्रक्रिया की एक अस्पष्टता दूर कर दी गयी है। इस संवैधानिक संशोधन में कहा गया है कि जब कोई संविधान संशोधन विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित होकर राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए रखा जाय तो उन्हें उस पर अनुमति दे देनी चाहिए।

भारतीय संविधान में संशोधन के लिए अपनायी गयी उपर्युक्त प्रक्रिया से नितान्त स्पष्ट है कि भारतीय संविधान लचीलेपन और कठोरता का अपूर्व सम्मिश्रण है।

संविधान के संशोधन

(AMENDMENTS IN THE CONSTITUTION)

किसी भी संविधान का निर्माण करते समय भविष्य में उत्पन्न होने वाली सभी परिस्थितियों की ठीक-ठीक कल्पना नहीं की जा सकती और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप संविधान में परिवर्तन करना जरूरी हो जाता है। 26 जनवरी, 1950 को संविधान लागू किये जाने के समय से लेकर अब तक (नवम्बर, 2006 ई.) संविधान में 94 संशोधन हो चुके हैं जो इस प्रकार हैं :

पहला संशोधन (18 जून, 1951)—इसका मुख्य उद्देश्य उन कठिनाइयों को दूर करना था जो कि कुछ मौलिक अधिकारों, विशेष रूप से सम्पत्ति के अधिकार, कानून के समक्ष समानता के अधिकार तथा भाषण की स्वतन्त्रता की क्रियान्विति के मार्ग में सामने आयी थीं। इस संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 15, 19, 31, 85, 87, 174, 176, 372 तथा 376 में संशोधन किया गया और संविधान में दो नये अनुच्छेद 31 अ और 31 ब तथा 9वीं अनुसूची और बढ़ा दी गयी।

इस संशोधन द्वारा यह निश्चित कर दिया गया कि जमींदारी और जागीरदारी के अन्त से सम्बन्धित विधेयक मुआवजे की व्यवस्था के न होते हुए भी वैध समझे जायेंगे। इसमें यह भी घोषित कर दिया गया कि यदि राज्य भूमि या अन्य जायदाद सम्बन्धी कोई कानून बनाता है और यदि उससे सम्पत्ति के उपर्युक्त अधिकार का पूर्ण या आंशिक खण्डन होता है, तब भी वह विधेयक मान्य समझा जायेगा। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा विचार और भाषण की स्वतन्त्रता पर कुछ और प्रतिबन्ध लगाये गये।

दूसरा संशोधन (12 मई, 1952)—इस संशोधन द्वारा लोकसभा में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था में परिवर्तन किया गया ताकि लोकसभा सदस्यों की संख्या 500 से अधिक न हो।

तीसरा संशोधन (22 फरवरी, 1955)—इस संशोधन द्वारा राज्यसूची के कुछ विषयों—बाह्य सामग्री, पशुओं का चारा, रुई तथा पटसन, आदि को समवर्ती सूची में कर दिया गया, जिसमें केन्द्रीय सरकार आवश्यकता के समय इन पर नियन्त्रण रख सके।

चौथा संशोधन (27 अप्रैल, 1955)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 31(2) को संशोधित कर राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण की शक्ति प्रदान की गई। संविधान में की गयी सम्पत्ति के मौलिक अधिकार की व्यवस्था सामाजिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने में बाधक सिद्ध हो रही थी। इस संशोधन द्वारा यह निश्चित किया गया कि केन्द्रीय

सरकार अथवा राज्य सरकार लोक-कल्याण के लिए किसी की सम्पत्ति क्षतिपूर्ति देकर ले सकेगी और क्षतिपूर्ति की मात्रा पर विचार करने का अधिकार न्यायालयों को न होगा।

पांचवां संशोधन (24 दिसम्बर, 1955)—इस समय केन्द्रीय सरकार राज्यों का पुनर्गठन करते हुए राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करना चाहती थी। इस संशोधन द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया गया कि वह एक समय निश्चित कर दे, जिसके भीतर राज्य सरकार अपने विचार लिखित रूप में केन्द्रीय सरकार के पास भेज दे। मूल विधान में समय निश्चित नहीं किया गया था।

छठवां संशोधन (11 अक्टूबर, 1956)—इसके द्वारा अनुच्छेद 269 और 286 में परिवर्तन कर अन्तर्राज्य व्यापार तथा उद्योग के क्रय-विक्रय कर को संघीय सूची में शामिल कर दिया गया।

सातवां संशोधन (19 दिसम्बर, 1956)—इसके द्वारा उनके महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। संशोधन द्वारा राज्यों का अ, व, स और द वर्गों में विभाजन समाप्त कर उन्हें 14 राज्यों और 6 संघीय क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया। इनके द्वारा लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 520 निश्चित की गयी।

आठवां संशोधन (5 जनवरी, 1960)—इसके द्वारा अनुच्छेद 334 को संशोधित कर अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वर्गों व आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए विशेष प्रतिनिधित्व सम्बन्धी व्यवस्था को, जो 1960 तक के लिए थी, 10 वर्ष आगे अर्थात् 1970 तक के लिए बढ़ा दिया गया।

नौवां संशोधन (28 दिसम्बर, 1960)—सितम्बर 1958 में हुए नेहरू-नून समझौते के अनुसार भारत और पाकिस्तान के बीच जो प्रदेशों की अदला-बदली होनी थी, उसे प्रभावी रूप देने के लिए यह संशोधन किया गया।

दसवां संशोधन (19 अगस्त, 1961)—इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 240 और प्रथम अनुसूची को संशोधित कर पुर्तगालियों की अधीनता से मुक्त हुए क्षेत्रों—दादरा और नगर हवेली—को भारतीय संघ में शामिल किया गया।

ग्यारहवां संवैधानिक संशोधन (1961)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 66 और 71 को संशोधित कर यह व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के चुनाव को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सके कि उनके चुनाव के समय सम्बन्धित निर्वाचक मण्डल में कोई स्थान रिक्त था।

बारहवां संवैधानिक संशोधन (1962)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 240 को संशोधित कर गोआ, दमन और दीव को संघीय क्षेत्र के रूप में भारतीय संघ में सम्मिलित किया गया।

तेरहवां संशोधन (28 दिसम्बर, 1962)—इसके द्वारा संविधान में अनुच्छेद 371(अ) को जोड़कर भारतीय संघ के अन्तर्गत नगालैण्ड नामक 16वें राज्य की स्थापना की व्यवस्था की गयी और 1 दिसम्बर, 1963 को इस राज्य का उद्घाटन हुआ।

चौदहवां संशोधन (28 दिसम्बर, 1963)—इसके द्वारा पॉण्डिचेरी को संघीय क्षेत्र के रूप में प्रथम अनुसूची में जोड़ा गया और भारतीय संघ के कुछ केन्द्र-शासित क्षेत्रों—हिमाचल प्रदेश, गोआ, दमन और दीव, पॉण्डिचेरी और मणिपुर—के लिए विधानसभाओं की व्यवस्था की गयी।

पन्द्रहवां संशोधन (1 मई, 1963)—इसके द्वारा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का कार्यकाल 60 वर्ष की आयु के स्थान पर 62 वर्ष की आयु कर दिया गया और एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित होने वाले न्यायाधीशों के लिए क्षतिपूर्ति भत्ता बढ़ाया गया।

सोलहवां संशोधन (5 अक्टूबर, 1963)—भारत की राजनीतिक एकता को बनाये रखने की दृष्टि से इस संशोधन द्वारा राज्यों को यह शक्ति प्रदान की गयी कि वे भारत की प्रभुता तथा अखण्डता के हित में मौलिक अधिकारों के प्रयोग पर उचित प्रतिबन्ध लगाते हुए आवश्यक कानून बना सकते हैं। यह भी निश्चित किया गया कि संसद, राज्यों के विधानमण्डलों के उम्मीदवारों तथा सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को भारत की प्रभुता व अखण्डता बनाये रखने की शपथ लेनी होगी।

सत्रहवां संशोधन (20 जून, 1964)—इसके द्वारा अनुच्छेद 31 अ को और आगे संशोधित कर सरकार को बिना प्रतिकर दिये ऐसी भूमि का अर्जन करने से रोक दिया गया है जिस पर कोई व्यक्ति स्वयं खेती कर रहा है और जो उस समय भूमि रखने की लागू सीमा के भीतर है। इसके साथ ही नवीं अनुसूची को संशोधित कर उसमें 44 और अधिनियम जोड़े गये जिससे उन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सके।

अठारहवां संशोधन (27 अगस्त, 1966)—इसके द्वारा अनुच्छेद 3 को संशोधित करते हुए उसमें दो स्पष्टीकरण जोड़े गये। पहले स्पष्टीकरण में कहा गया कि अनुच्छेद 3 में जो 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसमें 'संघीय क्षेत्र' भी शामिल है। दूसरे स्पष्टीकरण में कहा गया कि अनुच्छेद 3 धारा 1 द्वारा संसद को जो शक्ति राज्यों का क्षेत्र बढ़ाने, घटाने, सीमाओं या नाम में परिवर्तन करने के सम्बन्ध में दी गयी है, उसके अन्तर्गत किसी राज्य, या संघीय क्षेत्र के किसी भाग को किसी अन्य राज्य या संघीय क्षेत्र के साथ मिलाकर नये राज्य या संघीय क्षेत्र का निर्माण करना भी शामिल है।

उन्नीसवां संशोधन (11 दिसम्बर, 1966)—इस संशोधन द्वारा 'चुनाव सम्बन्धी विवादों' का निर्णय करने के लिए स्थापित किये जाने वाले 'चुनाव अधिकरणों' (Election Tribunals) का अन्त कर दिया गया और अब चुनाव याचिकाओं की सुनवाई सीधे उच्च न्यायालयों में होने लगी। यह व्यवस्था की गयी कि उच्च न्यायालयों के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है।

बीसवां संशोधन (13 दिसम्बर, 1966)—'चन्द्रमोहन बनाम राज्य' नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने विधान की 23वीं धारा के अन्तर्गत नियुक्त किये कुछ जिला न्यायाधीशों की नियुक्तियों को अवैध घोषित कर दिया था। इन्हीं नियुक्तियों को वैध बनाने के लिए संसद द्वारा यह संशोधन किया गया।

इक्कीसवां संशोधन (10 अप्रैल, 1967)—इस संशोधन द्वारा मूल विधान की आठवीं अनुसूची में सिन्धी भाषा को भी भारतीय भाषाओं के अन्तर्गत रख दिया गया।

बाईसवां संशोधन (25 दिसम्बर, 1968)—इस संशोधन द्वारा संसद को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह असम राज्य के अन्तर्गत कुछ कबायली क्षेत्रों को मिलाकर नये स्वशासित राज्य की स्थापना कर उसके लिए व्यवस्थापिका तथा मन्त्रिपरिषद् के निर्माण की व्यवस्था करे। इस व्यवस्था के अनुसार 'मेघालय' राज्य की स्थापना हुई।

तेईसवां संशोधन (23 जनवरी, 1970)—इस संशोधन द्वारा निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गयीं: (1) नगालैण्ड में अनुसूचित जातियों के लिए वही व्यवस्था की गयी है, जो असम राज्य के लिए की गयी थी। (2) राज्यपाल को विधानसभा में केवल एक आंग्ल भारतीय को मनोनीत करने का अधिकार होगा। (3) अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए संसद तथा राज्यों की विधानसभाओं में स्थानों के आरक्षण की अवधि अनुच्छेद 334 को संशोधित कर और आगे 10 वर्ष अर्थात् 1980 तक के लिए बढ़ा दी गई।

चौबीसवां संशोधन (1971)—फरवरी 1967 में सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ विवाद में जो निर्णय दिया था, उससे संसद की संविधान संशोधन की शक्ति सीमित हो गयी थी और संसद मौलिक अधिकारों को छीनने या कम करने वाला कोई विधेयक पास नहीं कर सकती थी। 1971 के चौबीसवें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 13 और अनुच्छेद 368 को संशोधित कर व्यवस्था की गई कि संसद को यह अधिकार होगा कि संविधान के किसी भी उपबन्ध में जिसमें मौलिक अधिकार भी सम्मिलित हैं, संशोधन कर सके।

पच्चीसवां संशोधन (1971)—25वां संवैधानिक संशोधन सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित अनुच्छेद 31 को संशोधित कर तथा अनुच्छेद 31-ग के बाद कुछ शब्दों को जोड़कर इनकी व्यवस्था करता है कि सम्पत्ति के सार्वजनिक दृष्टि से अर्जन और उसके मुआवजे की राशि को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। 'मुआवजे' (Compensation) शब्द की न्यायिक व्याख्या 'उचित मुआवजे' के रूप में की गई थी, अतः अब 'मुआवजे' के स्थान पर 'राशि' (amount) शब्द को अपनाया गया।

छब्बीसवां संशोधन (1971)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा भूतपूर्व देशी रियासतों के शासकों के प्रिवीपर्स और विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये।

सत्ताईसवां संशोधन (1971)—भारतीय संसद द्वारा उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र पुनर्गठन अधिनियम पारित कर संविधान में 27वां संशोधन किया गया। इस संशोधन द्वारा उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के पांच राज्यों—असम, नगालैण्ड, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा—तथा दो संघीय क्षेत्रों—मिजोरम प्रदेश और अरुणाचल प्रदेश—का गठन किया गया। इसके साथ ही इस क्षेत्र के इन 5 राज्यों और 2 संघीय क्षेत्रों के प्रशासन में समन्वय और सहयोग के लिए एक पूर्वोत्तर सीमान्त परिषद् की स्थापना की गयी। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 239-ख भी जोड़ा गया, जिसके आधार पर कुछ संघीय क्षेत्रों के प्रशासन को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दे दिया गया है।

अट्ठाईसवां संशोधन (1972)—इस संशोधन द्वारा संविधान में धारा 312(अ) जोड़ दी गयी है और संसद को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह परतन्त्रता काल की आई. सी. एस. (I. C. S.) सेवाओं की शर्तों में संशोधन कर सकती है। इस प्रकार आई. सी. एस. के विशेषाधिकारों को समाप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

उन्तीसवां संशोधन (1972)—1961 और 1971 में जो केरल भूमि सुधार अधिनियम पारित किये गये थे, इस संशोधन द्वारा उन्हें संविधान की 9वीं अनुसूची में सम्मिलित कर लिया गया और इस प्रकार इन अधिनियमों के विरुद्ध केरल के उच्च न्यायालय और भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जो निर्णय दिये गये थे, वे अब अवैध हो गये हैं।

तीसवां संशोधन (1972)—इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 133 को संशोधित कर सर्वोच्च न्यायालय में दीवानी विवादों की अपील के सम्बन्ध में 20 हजार रुपये की धनराशि की सीमा

हटाते हुए व्यवस्था की गयी कि ऐसे सभी दीवानी विवादों की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकेगी, जिनमें उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि कानून की व्याख्या से सम्बन्धित सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हैं।

इक्तीसवां संवैधानिक संशोधन (1974)—इसके द्वारा लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 547 निश्चित की गयी। इन 547 सदस्यों में से 545 निर्वाचित होंगे व 2 राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत। 545 निर्वाचित सदस्यों में से 525 भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होंगे और 20 केन्द्र-शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधि। आंग्ल भारतीय वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में राष्ट्रपति के द्वारा 2 सदस्य मनोनीत किये जा सकते हैं।

बत्तीसवां संवैधानिक संशोधन (1974)—1972-73 में भारतीय संघ के एक राज्य आन्ध्र प्रदेश के दो भागों (आन्ध्र और तेलंगाना) के बीच विवाद की जो स्थिति उत्पन्न हो गयी, उसे दूर कर आन्ध्र प्रदेश की एकता को बनाये रखने के लिए '6-सूत्री प्रस्ताव' रखा गया। इस 6-सूत्री प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के लिए संविधान में 32वां संशोधन किया गया।

तीसवां संवैधानिक संशोधन (1974)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेदों [अनुच्छेद 101(3) और 190(3)] में संशोधन करते हुए व्यवस्था की गयी है कि लोकसभा के स्पीकर या विधानसभा के अध्यक्ष द्वारा स्वयं से सम्बन्धित सदन के सदस्य का त्यागपत्र स्वीकार नहीं किया जायगा, यदि उनके द्वारा की गयी जांच के आधार पर उसे यह विश्वास हो जाए कि त्यागपत्र वास्तविक या स्वैच्छिक नहीं है। इसके पूर्व यह व्यवस्था थी कि सदस्य अपने ही हस्तलेख से स्पीकर या अध्यक्ष को सम्बोधित करते हुए त्यागपत्र लिखता और त्यागपत्र स्वीकृत हो जाता। संविधान में यह 33वां संशोधन गुजरात और बिहार राज्य के जन आन्दोलन में विधानसभा सदस्यों से जनता द्वारा दबाव के आधार पर जो त्यागपत्र लिये गये, उन्हें दृष्टि में रखते हुए किया गया।

चौतीसवां संवैधानिक संशोधन (1974)—विभिन्न राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा जो 20 भूमि सुधार कानून पारित किये गये थे, संविधान के 34वें संशोधन द्वारा उन्हें संविधान की नवम् अनुसूची में स्थान दे दिया गया, ताकि इन कानूनों की वैधता को किसी न्यायालय में चुनौती न दी जा सके।

पैंतीसवां संवैधानिक संशोधन (1974)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान के संघात्मक स्वरूप में मूलभूत परिवर्तन कर सिक्किम को भारतीय संघ के सहराज्य का दर्जा प्रदान किया गया। इसके साथ ही संविधान में दसवीं अनुसूची जोड़ी गई, जिसमें सिक्किम के भारतीय संघ में विलय की शर्तों का उल्लेख किया गया।

छत्तीसवां संवैधानिक संशोधन (1975)—35वें संवैधानिक संशोधन द्वारा जो व्यवस्था की गयी थी, उसे सिक्किम की जनता की मांग पर 36वें संवैधानिक संशोधन द्वारा परिवर्तित किया गया है और अब सिक्किम को भारतीय संघ में संघ के 22वें राज्य के रूप में प्रवेश प्रदान किया गया है।

सैंतीसवां संवैधानिक संशोधन (1975)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा अरुणाचल प्रदेश में गोआ, पोंडिचेरी व मिजोरम प्रदेश के समान ही लोकप्रिय शासन की व्यवस्था की गयी।

39वां संवैधानिक संशोधन (अगस्त 1975)¹—इस संशोधन के द्वारा 1951 ई. के जन प्रतिनिधित्व अधिनियम (1974 और 1975 ई. में किये गये संशोधनों सहित) और अन्य चुनाव कानूनों, तस्कर विरोधी कानून तथा राज्य के 37 अन्य कानूनों को नयी सूची में शामिल कर उन्हें संवैधानिक वैधता प्रदान की गयी।

चालीसवां संवैधानिक संशोधन (1976)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के 54 कानूनों को संविधान की नवीं अनुसूची में स्थान देकर संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया गया है। ये कानून भूमि-सुधार, शहरी भूमि सीमाकरण, आवश्यक वस्तुओं के वितरण, वन्धक थ्रम की समाप्ति और तस्करों तथा विदेशी मुद्रा का घोटाला करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही आदि से सम्बन्धित हैं।

इस संवैधानिक संशोधन द्वारा यह भी व्यवस्था की गई कि भारत की भूमि और जलीय क्षेत्र की सभी खानों, खदानों और समुद्र में निहित सभी मूल्यवान् वस्तुओं पर भारत की संघीय सरकार को शक्ति प्राप्त होगी।

इकतालीसवां संवैधानिक संशोधन (1976)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग और संयुक्त लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की सेवा-निवृत्ति की आयु 60 वर्ष के स्थान पर 62 वर्ष कर दी गयी है।

42वां संवैधानिक संशोधन² (Forty-Second Constitutional Amendment, 1976)—1971 के लोकसभा चुनावों के बाद से ही तत्कालीन शासक दल के एक वर्ग द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया जा रहा था कि देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए संविधान में व्यापक परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। इस पृष्ठभूमि में तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा 26 फरवरी, 1976 को संविधान संशोधन के प्रश्न पर विचार करने के लिए सरदार स्वर्णसिंह की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की गयी। समिति की रिपोर्ट पर विचार के आधार पर विधेयक तैयार कर लोकसभा में प्रस्तावित किया गया और उसे '44वें संविधान संशोधन विधेयक' का नाम दिया गया। 18 दिसम्बर, 1976 को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद इसने ही 42वें संवैधानिक संशोधन का रूप प्राप्त किया। इस संवैधानिक संशोधन में कुल 59 प्रावधान थे और यह भारतीय संविधान का व्यापक और सर्वाधिक विवादास्पद संवैधानिक संशोधन है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान के विभिन्न प्रावधानों में निम्न प्रकार से संशोधन किया गया है :

प्रस्तावना—इसके द्वारा संविधान की प्रस्तावना में 'धर्मनिरपेक्ष' और 'समाजवादी' शब्द जोड़े गये तथा राज्य की एकता के साथ 'और अखण्डता' शब्द जोड़े गये।

मूल कर्तव्यों की व्यवस्था—इसके द्वारा अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों की व्यवस्था करते हुए नागरिकों के 10 मूल कर्तव्य निश्चित किये गये।

निदेशक तत्वों में कुछ नवीन तत्व जोड़े गये, यथा बच्चों को स्वस्थ रूप में विकास के लिए अवसर और सुविधाएं प्रदान करना, समाज के कमजोर वर्गों के लिए निःशुल्क कानूनी

1 38वें संवैधानिक संशोधन को सम्पूर्ण रूप में और 39वें संवैधानिक संशोधन की कुछ बातों को 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा निरस्त कर दिया गया। निरस्त व्यवस्थाओं का उल्लेख नहीं किया गया है।

2 42वें संवैधानिक संशोधन की जिन बातों को 43वें और 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा रद्द कर दिया गया या जिसे 'मिनर्वा मिल्स विवाद' (1980) में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया, उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

सहायता की व्यवस्था करना, औद्योगिक संस्थानों के प्रबन्ध में कर्मचारियों को भागीदार बनाना, व देश के पर्यावरण की रक्षा तथा उसमें सुधार।

आपातकालीन उपबन्ध—प्रथम, यह व्यवस्था की गयी कि अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल समस्त देश में लागू किया जा सकता है या देश के किसी एक या कुछ भागों के लिए।

केन्द्र-राज्य सम्बन्ध—इसके द्वारा शिक्षा, नाप, तौल, वन और जंगली जानवर तथा पक्षियों की रक्षा—ये विषय राज्य सूची से निकालकर समवर्ती सूची में रख दिये गये।

इसके अतिरिक्त प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में न्यायाधिकरण की स्थापना की व्यवस्था पर भी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को सीमित करने का प्रयत्न किया गया।

संक्षिप्त समीक्षा—तत्कालीन शासक वर्ग के द्वारा इस संवैधानिक संशोधन के चाहे जो भी लक्ष्य और उद्देश्य बतलाये गये हों, वस्तुतः इस संवैधानिक संशोधन का व्यवहार में सर्वप्रमुख उद्देश्य प्रधानमन्त्री और कार्यपालिका के हाथ में सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण ही था।

छठी लोकसभा के चुनाव के समय जनता पार्टी के द्वारा जो चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित किया गया, उसके राजनीतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत एक प्रमुख बात 42वें संवैधानिक संशोधन को रद्द करने की कही गयी थी। लेकिन सत्ता प्राप्त करने के बाद 42वें संवैधानिक संशोधन के सभी प्रावधानों को रद्द करने के बजाय इस सम्बन्ध में गुणावगुण के आधार पर व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया गया। 42वें संवैधानिक संशोधन की अनेक बातों को रद्द करने के लिए 43वें और 44वें संवैधानिक संशोधन किये गये।

43वां संवैधानिक संशोधन (1977)—इसके द्वारा 42वें संवैधानिक संशोधन की कुछ आपत्तिजनक व्यवस्थाओं, विशेषतया न्यायपालिका से सम्बन्धित व्यवस्थाओं, को रद्द कर दिया गया। प्रथम, संसद की यह शक्ति समाप्त कर दी गयी कि वह राष्ट्र विरोधी समुदायों और गतिविधियों को नियन्त्रित-प्रतिबन्धित कर सके। वास्तव में, संसद के द्वारा शासक दल के प्रभाव में इस शक्ति का दुरुपयोग किया जा सकता था। 42वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार तथा शक्तियों में कमी कर दी गयी थी और न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया था। 43वें संवैधानिक संशोधन द्वारा 42वें संवैधानिक संशोधन की उपर्युक्त व्यवस्थाओं को रद्द कर दिया गया तथा सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों की शक्ति और न्यायिक पुनर्विलोकन के सम्बन्ध में अब पुनः वही व्यवस्था हो गयी जो 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व थी।

44वां संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1979)—42वें संवैधानिक संशोधन की अनेक आपत्तिजनक बातों को रद्द करने के लिए विधि मन्त्री द्वारा 14 मई, 1978 को 45वां संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में प्रस्तावित किया गया। लोकसभा से पारित होने के बाद राज्यसभा द्वारा संशोधन विधेयक को 5 संशोधनों सहित पारित किया गया। ऐसी स्थिति में लोकसभा के सामने दो मार्ग थे—प्रथम, समस्त संशोधन विधेयक को छोड़ दिया जाय या द्वितीय, राज्यसभा द्वारा विधेयक में किये गये संशोधन सहित उसे स्वीकार कर लिया जाय। लोकसभा और शासन द्वारा इस सम्बन्ध में दूसरा मार्ग अपनाया गया और 30 अप्रैल, 1979 को राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षर किये जाने के बाद इसने 44वें संवैधानिक संशोधन का रूप ले लिया। इस संवैधानिक संशोधन के मुख्य प्रावधान निम्न प्रकार हैं :

मूल अधिकार—सम्पत्ति के मूल अधिकार को रद्द कर दिया गया है। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक कानूनी अधिकार ही है, मूल अधिकार नहीं। इस प्रकार अब भारतीय

नागरिकों को 6 मूल अधिकार प्राप्त हैं। इनके साथ ही 19वें अनुच्छेद की छठी स्वतन्त्रता (सम्पत्ति की स्वतन्त्रता) को समाप्त कर दिया गया।

इस संवैधानिक संशोधन द्वारा ऐसी व्यवस्था कर दी गयी कि 'व्यक्ति के जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार' (अनुच्छेद 21) को शासन के द्वारा आपात्काल में भी स्थगित या सीमित नहीं किया जा सकता।

'निवारक निरोधक कानून' (अनुच्छेद 22) से सम्बन्धित व्यवस्था में ऐसे कुछ परिवर्तन किये गये हैं, जिसमें शासन के द्वारा इस कानून के आधार पर नागरिकों की स्वतन्त्रता को अनुचित रूप से और लम्बे समय तक सीमित या समाप्त न किया जा सके।

आपातकालीन प्रावधान—ऐसी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है कि संविधान के आपातकालीन प्रावधानों का शासन द्वारा दुरुपयोग न किया जा सके। प्रथम, राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा तभी की जा सकेगी जबकि मन्त्रिमण्डल लिखित रूप में राष्ट्रपति को ऐसा परामर्श दे। द्वितीय, यह आपातकाल युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में ही घोषित किया जा सकेगा। तृतीय, घोषणा के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत से इसकी स्वीकृति आवश्यक होगी। चतुर्थ, लोकसभा में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से आपातकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है। आपातकाल पर विचार हेतु लोकसभा की बैठक लोकसभा के 1/10 सदस्यों की मांग पर अनिवार्य रूप से बुलाई जायगी। पंचम, अनुच्छेद 356 के आधार पर राज्य में संवैधानिक व्यवस्था भंग होने की स्थिति में जो आपातकाल घोषित किया जायगा, उसे एक बार प्रस्ताव पास कर संसद 6 माह के लिए लागू कर सकेगी। संसद के द्वारा एक से अधिक वर्ष की अवधि के लिए राज्य में राष्ट्रपति शासन जारी रखने का प्रस्ताव तभी पारित किया जा सकेगा, जबकि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित किये जाने के समय अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकट काल लागू हो और चुनाव आयोग यह प्रमाणित कर दे कि वर्तमान समय में राज्य में चुनाव करवाना सम्भव नहीं है।

38वें संवैधानिक संशोधन को रद्द कर दिया गया है जिसमें व्यवस्था की गयी थी कि राष्ट्रपति द्वारा 352वें अनुच्छेद के अन्तर्गत की गयी संकटकालीन घोषणा को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

राष्ट्रपति—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा राष्ट्रपति की स्थिति को 42वें संवैधानिक संशोधन की तुलना में कुछ गौरवपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया। इसमें व्यवस्था है कि "मन्त्रिमण्डल द्वारा राष्ट्रपति को जो भी परामर्श दिया जायेगा, राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल को उस पर दोबारा विचार करने के लिए कह सकेगा, लेकिन पुनर्विचार के बाद मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति को जो भी परामर्श देगा राष्ट्रपति उस परामर्श को अनिवार्यतः स्वीकार करेगा।

39वें संवैधानिक संशोधन को रद्द करते हुए पुनः व्यवस्था की गयी कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और लोकसभा अध्यक्ष के चुनाव विवादों की सुनवाई का अधिकार उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय को ही होगा।

लोकसभा और विधानसभाएं—लोकसभा और राज्यों की विधानसभाओं का कार्यकाल पुनः 5 वर्ष कर दिया गया।

लोकसभा और विधानसभाओं की गणपूर्ति, आदि के सम्बन्ध में पुनः वही व्यवस्था कर दी गयी, जो 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व थी।

इन सबके अतिरिक्त यह व्यवस्था की गयी कि अनुच्छेद 368 की प्रक्रिया को अपनाते हुए संसद और राज्य विधानसभाओं द्वारा संविधान में जो भी संशोधन किये जायेंगे, उन्हें उसी प्रकार से सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में चुनौती दी जा सकेगी, जिस प्रकार से उन्हें 42वें संवैधानिक संशोधन के पूर्व चुनौती दी जा सकती थी।

इस प्रकार 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा भारतीय संविधान को पुनः सामान्य स्थिति में लाने का प्रयत्न किया गया है।

45वां संवैधानिक संशोधन (जनवरी 1980)—45वें संवैधानिक संशोधन (जनवरी 1980) द्वारा अनुसूचित जातियों तथा जनजाति वर्गों के लिए आरक्षण की अवधि 25 जनवरी, 1990 तक के लिए कर दी गयी।

46वां संवैधानिक संशोधन (जुलाई 1982)—इस संवैधानिक संशोधन का उद्देश्य बिक्री-कर की वसूली की कमियों को दूर कर बिक्री-कर की वसूली के कार्य को सरल बनाना है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में बिक्री-कर की समान दरें और वसूली की एकसमान व्यवस्था को अपनाया गया है।

47वां संवैधानिक संशोधन (1984)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा 14 और भूमि-सुधार कानूनों को संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। इन कानूनों को संविधान की नौवीं अनुसूची में इस उद्देश्य से शामिल किया गया है कि न्यायालय में इनकी वैधता को चुनौती नहीं दी जा सके।

48वां संवैधानिक संशोधन (1984)—यह संवैधानिक संशोधन सीमित और सामयिक राजनीतिक उद्देश्य से किया गया है और केवल पंजाब राज्य तथा उसकी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में है। पंजाब में 6 अक्टूबर, 1983 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था और 44वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार राष्ट्रपति शासन की अधिकतम अवधि एक वर्ष ही हो सकती है; लेकिन पंजाब की स्थिति को देखते हुए एक वर्ष के बाद भी पंजाब में राष्ट्रपति शासन बनाये रखने की आवश्यकता समझी जा रही थी। अतः संविधान के अनुच्छेद 356 की धारा 5 में परिवर्तन कर यह व्यवस्था की गयी कि पंजाब में राष्ट्रपति शासन अधिकतम दो वर्ष की अवधि तक अर्थात् जरूरी होने पर 6 अक्टूबर, 1985 तक के लिए लागू रखा जा सकता है।

49वां संवैधानिक संशोधन (1984)—इस संवैधानिक संशोधन के आधार पर संविधान की छठी अनुसूची के अन्तर्गत त्रिपुरा में स्वायत्तशासी जिला परिषद् की स्थापना की गयी है। इस संवैधानिक संशोधन के पूर्व छठी अनुसूची असम, मेघालय और मणिपुर पर ही लागू होती थी, अब इसे त्रिपुरा तक विस्तृत कर दिया गया है। इस व्यवस्था से त्रिपुरा की जनजातियों का विकास अधिक अच्छे प्रकार से हो सकेगा।

50वां संवैधानिक संशोधन (1984)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 33 को संशोधित करते हुए राज्य संपत्ति की सुरक्षा का दायित्व निभाने वाले सुरक्षा बलों (Security Forces), गुप्तचर संगठनों में लगे हुए व्यक्तियों और विभिन्न सैन्य बलों तथा दूर-संचार के कार्य में लगे हुए व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों को प्रतिबन्धित कर दिया गया है। इन सुरक्षा बलों में अधिक अनुशासन की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए ऐसा किया गया है।

51वां संवैधानिक संशोधन (1984)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 330 और अनुच्छेद 332 को संशोधित किया गया। अनुच्छेद 330 को संशोधित करते हुए मेघालय, नगालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम की अनुसूचित जनजातियों को लोकसभा में आरक्षण प्रदान कर दिया गया। इसी प्रकार अनुच्छेद 332 को संशोधित करते हुए नगालैण्ड और मेघालय की विधान सभाओं में जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी।

52वां संवैधानिक संशोधन (फरवरी, 1985)¹ (दल-बदल पर कानूनी रोक)—राजनीतिक दल-बदल लम्बे समय से भारतीय राजनीति का एक रोग बना हुआ है और 1967 से ही राजनीतिक दल-बदल पर कानूनी रोक लगाने की बात सोची जा रही थी। अन्ततोगत्वा आठवीं लोकसभा के चुनावों के बाद संसद के दोनों सदनों ने सर्वसम्मति से 52वां संवैधानिक संशोधन विधेयक पारित कर राजनीतिक दल-बदल पर कानूनी रोक लगा दी। मोटे तौर पर इस विधेयक में निम्न प्रावधान किये गये हैं :

(1) निम्न रिश्तितियों में संसद या विधानसभा के सदस्य की सदस्यता समाप्त हो जायगी :

(क) यदि वह स्वेच्छा से अपने दल से त्यागपत्र दे दे।

(ख) यदि वह अपने दल या उसके द्वारा अधिकृत व्यक्ति की अनुमति के बिना-सदन में उसके किसी निर्देश के प्रतिकूल मतदान करे या मतदान में अनुपस्थित रहे। परन्तु यदि पन्द्रह दिन के अन्दर दल उसे इस उल्लंघन के लिए क्षमा कर दे तो उसकी सदस्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

(ग) यदि कोई निर्दलीय निर्वाचित सदस्य किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो जाय।

(घ) यदि कोई मनोनीत सदस्य शपथ लेने के बाद 6 माह की अवधि में किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो जाए।

(2) किसी राजनीतिक दल के विघटन पर सदस्यता समाप्त नहीं होगी, यदि मूल दल के कम-से-कम दो-तिहाई सांसद, विधायक दल छोड़ दें।

(3) इसी प्रकार विलय की स्थिति में भी दल-बदल नहीं माना जायगा, यदि किसी दल के कम-से-कम एक-तिहाई सदस्य विलय की स्वीकृति दे दें।

(4) दल-बदल पर उठे किसी भी प्रश्न पर अन्तिम निर्णय सदन के अध्यक्ष का होगा और किसी भी न्यायालय को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा।²

(5) सदन के अध्यक्ष को इस कानून की क्रियान्विति के लिए नियम बनाने का अधिकार होगा।

कानून के दूसरे और तीसरे प्रावधान से स्पष्ट है कि किसी राजनीतिक दल के विघटन या विलय की स्थिति को राजनीतिक दल-बदल की सीमा के बाहर रखा गया है।

1 52वें संवैधानिक संशोधन को स्थान देने के लिए संविधान में दसवीं अनुसूची जोड़ी गई।

2 दल-बदल निषेध कानून और इस कानून की विविध व्यवस्थाओं को 1991 में सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा कि 'दल-बदल' निषेध कानून वैध है। लेकिन दल-बदल निषेध कानून की यह धारा अवैध है कि 'दल-बदल' पर उठे किसी भी प्रश्न पर अन्तिम निर्णय सदन के अध्यक्ष का होगा और किसी भी न्यायालय को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा है कि सदन का अध्यक्ष इस प्रसंग में एक 'न्यायाधिकरण' के रूप में कार्य करता है और उपर्युक्त विषय में सदन के अध्यक्ष के निर्णय पर न्यायालय विचार कर सकता है।

राजनीतिक दल-बदल के पिछले लगभग 20 वर्षों के इतिहास से स्पष्ट है कि दल-बदल का कारण राजनीतिक विचारधारा या अन्तःकरण नहीं, वरन् सत्ता और पदलोलुपता या अन्य लाभ ही रहे हैं; इस दृष्टि से दल-बदल पर लगायी गयी रोक 'भारतीय राजनीति को स्वच्छ करने और राजनीति में अनुशासन लाने का एक प्रयत्न' ही कहा जा सकता है। वस्तुतः इस कानून में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और दलीय अनुशासन के बीच सन्तुलित सामंजस्य बैठाया गया है।

दल-बदल रोकने की दिशा में यह विधेयक एक शुरुआत ही माना जा सकता है। दल-बदल की स्थिति के पूरे निराकरण के लिए और बहुत कुछ अधिक करना पड़ेगा। 'राजनीतिक नैतिकता' ही इस स्थिति का पूर्ण निराकरण हो सकती है।

53वां संवैधानिक संशोधन (1986)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संघीय क्षेत्र मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। मिजोरम की सांस्कृतिक विशिष्टता को बनाये रखने की दृष्टि से उसे विशेष स्थिति भी प्रदान की गयी।

54वां संवैधानिक संशोधन (1986)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवा-शर्तों (वेतन, भत्ते, पेंशन और सेवा-निवृत्ति वेतन) में उल्लेखनीय सुधार किया गया।

55वां संवैधानिक संशोधन (1986)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा केन्द्रशासित क्षेत्र अरुणाचल प्रदेश को भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया। इस प्रकार भारतीय संघ में 24 राज्य हो गये। अरुणाचल प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से अरुणाचल राज्य के राज्यपाल को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होंगे।

56वां संवैधानिक संशोधन (1987)—इसमें गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देने तथा 'दमन और दीव' को नया संघीय क्षेत्र बनाने की व्यवस्था है। गोवा की विधानसभा की सदस्य संख्या 40 की गयी तथा महाराष्ट्र उच्च न्यायालय का क्षेत्र गोवा राज्य तथा संघीय क्षेत्र दादर, नगर हवेली, दमन तथा दीव तक विस्तृत कर दिया गया है।

57वां संवैधानिक संशोधन—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा अनुच्छेद 330 और 332 को संशोधित करते हुए अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम प्रदेश और नगालैण्ड में जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गयी है। इस संवैधानिक संशोधन द्वारा की गयी व्यवस्था अस्थायी है और यह व्यवस्था 2000 ई. के बाद होने वाली प्रथम जनगणना के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों के निर्धारण तक लागू रहेगी। यदि इन राज्यों की विधानसभाओं के सभी सदस्य जनजाति क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं, तो एक स्थान के अतिरिक्त अन्य सभी स्थान अब जनजाति क्षेत्रों से भरे जायेंगे, अन्यथा जनजाति क्षेत्रों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान प्राप्त होंगे।

58वां संवैधानिक संशोधन (1987)—लम्बे समय से संविधान के अधिकृत हिन्दी पाठ की मांग की जा रही थी, अतः संविधान में संशोधन कर राष्ट्रपति को संविधान का अधिकृत हिन्दी पाठ प्रकाशित करने का अधिकार दिया गया। इसके अन्तर्गत यह भी व्यवस्था है कि संविधान के हिन्दी पाठ और प्रत्येक संशोधन का वही अर्थ लगाया जायेगा, जो उसके मूल अंग्रेजी पाठ का है और यदि हिन्दी अनुवाद के किसी भाग का इस प्रकार अर्थ लगाने में कोई कठिनाई उत्पन्न होती है, तो राष्ट्रपति उसका पुनरीक्षण करायेंगे। इसके साथ ही राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया कि वह संविधान के प्रत्येक संशोधन का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर सकें।

59वां संवैधानिक संशोधन (मार्च, 1988)—इस संवैधानिक संशोधन के आधार पर अनुच्छेद 356 को संशोधित करते हुए व्यवस्था की गयी कि पंजाब में कुल तीन वर्ष की अवधि के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। संशोधन विधेयक में पंजाब राज्य में आतंकवादी क्रियाकलापों पर और अधिक प्रभावी रूप से अंकुश लगाने के प्रावधान हैं। आपात् स्थिति लागू किये जाने पर राष्ट्रपति आदेश जारी करके संविधान में दिये गये कुछ मूल अधिकारों को निलम्बित कर सकता है।

60वां संवैधानिक संशोधन (दिसम्बर, 1988)—संविधान के अनुच्छेद 276 में संशोधन कर राज्यों और स्थानीय निकायों को यह अधिकार दिया गया कि वे अधिकतम 2,500 रुपये वार्षिक तक व्यवसाय कर लगा सकें। संसद में कहा गया कि किन व्यवसायों पर कर लगाया जाय और वेतनभोगी लोगों को इसमें शामिल किया जाय या नहीं, ये सब बातें राज्यों को तय करनी हैं। इससे राज्यों को विकास और रोजगार कार्यक्रमों को बढ़ाने में मदद मिलेगी।

61वां संवैधानिक संशोधन (1989)—इसके अनुसार मताधिकार के लिए न्यूनतम आवश्यक आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गयी। अतः 18 वर्ष की आयु प्राप्त सभी स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्राप्त होगा।

62वां संवैधानिक संशोधन (जनवरी, 1990)—इसके अनुसार संविधान के अनुच्छेद 334 को संशोधित करते हुए लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण और आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए नाम निर्देशन की अवधि को 25 जनवरी, 2000 ई. तक के लिए बढ़ा दिया गया।

63वां संवैधानिक संशोधन (1990)—इस संशोधन द्वारा पंजाब में जीवन का अधिकार छीनने वाले संविधान के 59वें संशोधन को रद्द करने का प्रावधान है।

संवैधानिक संशोधन 64, 67 और 68 (1990-91)—इन संवैधानिक संशोधनों द्वारा पंजाब में राष्ट्रपति शासन की अवधि को बढ़ाया गया और अन्त में कुल मिलाकर यह अवधि पांच वर्ष कर दी गई।

65वां संवैधानिक संशोधन (1990)—इस संवैधानिक संशोधन के आधार पर अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत एक उच्च-स्तरीय 'अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग' की स्थापना की गयी, जिसमें एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होगा। इस आयोग को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इसके पूर्व एक ही विशेष अधिकारी 'आयुक्त' होता था। अनुसूचित जातियों और जनजातियों पर अत्याचार के सम्बन्ध में यह आयोग जांच कर सकेगा।

66वां संवैधानिक संशोधन (1990)—1984 के बाद विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा पारित 55 भूमि-सुधार कानूनों को इस संवैधानिक संशोधन द्वारा संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल किया गया, जिससे उनकी वैधता को न्यायालय में चुनौती न दी जा सके। इस प्रसंग में राज्य सरकारों द्वारा पारित कानूनों की संख्या इस प्रकार थी : प. बंगाल—10, गुजरात—7, मध्य प्रदेश—6, आन्ध्र प्रदेश और बिहार—5-5, उड़ीसा और तमिलनाडु—4-4, महाराष्ट्र, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, केरल और पोंडिचेरी—2-2, कर्नाटक और उत्तर प्रदेश—1-1।

69वां संवैधानिक संशोधन (दिसम्बर 1991)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा दिल्ली की प्रशासनिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। दिल्ली संघीय क्षेत्र के रूप में बना रहेगा और अब इसे 'दिल्ली का राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र' कहा जायेगा। दिल्ली में एक 'लोकप्रिय

सरकार' की व्यवस्था की गयी है, जिसके अन्तर्गत 70 सदस्यों की विधानसभा और अधिकतम 7 सदस्यों की मन्त्रिपरिषद् होगी। मुख्यमन्त्री और मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे तथा मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होगी। दिल्ली की इस लोकप्रिय सरकार को सीमित शक्तियां ही प्राप्त होंगी और अब भी दिल्ली के प्रशासन के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति भारत की संघीय संसद और संघीय सरकार को ही प्राप्त है।

70वां संवैधानिक संशोधन (1992)—मूल संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के सदस्य हैं : (1) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और (2) भारतीय संघ के सभी राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य। 70वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार संघीय क्षेत्रों की विधानसभाओं के सदस्यों को भी राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में सम्मिलित किया गया है। 1994 के अन्त तक केवल 2 संघीय राज्य क्षेत्रों—पॉण्डिचेरी और दिल्ली में ही विधानसभाएं हैं। इस दृष्टि से पॉण्डिचेरी और दिल्ली की विधानसभा के सदस्यों को भी भविष्य में राष्ट्रपति के चुनाव में मतदान का अधिकार होगा।

71वां संवैधानिक संशोधन (1992)—इस संशोधन द्वारा तीन और भाषाओं—कोंकणी, मणिपुरी और नेपाली को संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार आठवीं अनुसूची में भाषाओं की संख्या 18 हो गई।

72वां संविधान संशोधन (1992)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा त्रिपुरा की 60-सदस्यीय विधानसभा में जनजातियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या 17 से बढ़ाकर 20 कर दी गई।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1993—इस संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग 9 तथा एक नयी अनुसूची ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गई और पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। संशोधन अधिनियम में पंचायतों के गठन, संरचना, चुनाव, सदस्यों की योग्यताएं एवं अयोग्यताएं, पंचायतों की शक्तियां, प्राधिकार एवं उत्तरदायित्व, आदि के सम्बन्ध में प्रावधान किए गये। ग्यारहवीं अनुसूची में कुल 29 विषयों का उल्लेख है, जिन पर पंचायतों को विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई। 23 अप्रैल, 1994 से पूरे देश में यह 'पंचायत राज कानून' लागू हो गया।

74वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1993—इस संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में एक नया भाग—भाग 9 क और एक नई अनुसूची बारहवीं अनुसूची जोड़कर शहरी क्षेत्र की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं (नगरपालिका, आदि) को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इस संशोधन अधिनियम में नगरों में नगरपालिकाओं के गठन, संरचना, निर्वाचन के लिए आवश्यक योग्यताएं एवं अयोग्यताएं, नगरपालिकाओं की शक्तियों, प्राधिकार एवं उत्तरदायित्वों के विषय में उपबन्ध किए गये। इस संशोधन द्वारा जोड़ी गई बारहवीं अनुसूची में 18 विषयों का उल्लेख है, जिन पर नगरपालिकाओं को विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई।

75वां संविधान संशोधन अधिनियम (1993)—इस संवैधानिक संशोधन द्वारा किरायेदारों और मकान मालिकों के विवादों को सुलझाने के लिए राज्यों में ट्रिब्यूनलों के गठन की व्यवस्था की गई।

76वां संवैधानिक संशोधन (1994)—1994 में तमिलनाडु विधानसभा ने सर्वसम्मति से कुल 69 प्रतिशत आरक्षण (30 प्रतिशत पिछड़ी जातियों, 20 प्रतिशत अत्यधिक पिछड़ी

जातियों, 18 प्रतिशत अनुसूचित जातियों और 1 प्रतिशत जनजातियों) का अधिनियम पारित किया। सर्वोच्च न्यायालय अपने एक निर्णय में कह चुका है कि आरक्षण 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए तथा सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के सन्दर्भ में तमिलनाडु विधानसभा द्वारा पारित अधिनियम को अवैध घोषित किया जा सकता था। अतः तमिलनाडु सरकार के आग्रह पर राष्ट्रपति ने तमिलनाडु विधानसभा द्वारा पारित उपर्युक्त अधिनियम को संविधान की नौवीं अनुसूची में स्थान दिया है, जिससे सर्वोच्च न्यायालय इस अधिनियम को अवैध घोषित न कर सके।

77वां संवैधानिक संशोधन (जून, 1995)—सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 16 नवम्बर, 1992 के बहुमत निर्णय (6 : 3) में एक महत्वपूर्ण बात यह कही थी : अन्य पिछड़ी जातियों के लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था वैध और लागू करने योग्य है, लेकिन अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण केवल सेवाओं में प्रवेश के प्रसंग में ही होना चाहिए, पदोन्नति के सम्बन्ध में नहीं होना चाहिए। इस निर्णय के अनुसार निर्णय के 5 वर्ष बाद अर्थात् 16 नवम्बर, 1997 से पदोन्नति के सम्बन्ध में आरक्षण की व्यवस्था समाप्त हो जाती, लेकिन सामान्य विचार यह है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए पदोन्नति हेतु आरक्षण की व्यवस्था को जारी रखा जाना चाहिए। अतः जून, 1995 में भारतीय संविधान में 78वां संवैधानिक संशोधन किया गया। इस संवैधानिक संशोधन के अनुसार नवम्बर, 1997 के बाद भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों को पदोन्नति हेतु भी आरक्षण की सुविधा प्राप्त होगी। इस संवैधानिक संशोधन की दो प्रमुख बातें हैं : प्रथम, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सरकारी सेवाओं में प्रवेश के लिए आरक्षण के समान ही पदोन्नति में आरक्षण के लिए भी कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई। द्वितीय, पदोन्नति में आरक्षण की सुविधा केवल अनुसूचित जातियों और जनजातियों को ही दी गई, अन्य पिछड़ी जातियों (OBC) को नहीं दी गई। अन्य पिछड़ी जातियों को सरकारी सेवाओं में प्रवेश के लिए तो आरक्षण की सुविधा प्राप्त है, लेकिन उन्हें पदोन्नति के सम्बन्ध में आरक्षण की सुविधा प्राप्त नहीं है।

78वां संवैधानिक संशोधन (अगस्त, 1995)—सात राज्यों (बिहार, कर्नाटक, केरल, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु और प. बंगाल) के 27 भूमि-सुधार कानूनों को संविधान की नौवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। अतः अब इन कानूनों को मूल अधिकारों का हनन बताकर अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती।

79वां संवैधानिक संशोधन (अक्टूबर, 1999)—लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों, जनजातियों और आंग्ल भारतीय समुदाय के लिए आरक्षण की अवधि को दस वर्ष बढ़ाया गया है।

80वां संवैधानिक संशोधन (जून, 2000)—इस संवैधानिक संशोधन के माध्यम से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित बकाया रिक्तियों को आरक्षण की 50 प्रतिशत सीमा से बाहर कर दिया गया है। इस प्रकार 29 अगस्त, 1997 से पहले (इन्द्रा साहनी बनाम भारतीय संघ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से पहले) की स्थिति बहाल हो गई है, जब बकाया रिक्तियों को एक पृथक् समूह के रूप में माना जाता था तथा इसे 50 प्रतिशत की सीमा से अलग रखा जाता था। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित

जनजाति वर्गों के सरकारी कर्मचारियों को पदोन्नति के अधिक अवसर देने के उद्देश्य से किया गया है। संसद में प्रस्तावित किए जाने के समय इसे '90वें संविधान संशोधन विधेयक' की स्थिति प्राप्त थी।

81वां संवैधानिक संशोधन (जून, 2000)—इस संवैधानिक संशोधन का उद्देश्य राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि करना है। दसवें वित्त आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए संसद द्वारा विधिवत् रूप से मई, 2000 ई. में स्वीकार किया गया तथा राष्ट्रपति द्वारा इस पर जून, 2000 ई. में हस्ताक्षर किए गए। इस संवैधानिक संशोधन के माध्यम से व्यवस्था की गई है कि अब राज्यों को 'प्रत्यक्ष केन्द्रीय करों' से प्राप्त कुल धनराशि का 29 प्रतिशत हिस्सा मिलेगा। यह संवैधानिक संशोधन एक अप्रैल, 1996 से लागू होगा। संसद में प्रस्तावित किए जाने के समय इसे '89वें संविधान संशोधन विधेयक' की स्थिति प्राप्त थी।

82वां संवैधानिक संशोधन (सितम्बर, 2000) इस संवैधानिक संशोधन के तहत राज्यों को सरकारी नौकरियों में आरक्षित रिक्त स्थानों की भर्ती हेतु प्रोन्नतियों के मामलों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के अभ्यर्थियों के लिए न्यूनतम प्राप्तांकों में छूट प्रदान करने की अनुमति प्रदान की गई है। सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय के परिणामस्वरूप 1997 में इस छूट को वापस ले लिया गया था।

83वां संवैधानिक संशोधन (सितम्बर, 2000) इस संवैधानिक संशोधन के द्वारा पंचायती राज संस्थाओं में अनुसूचित जाति के लिए आरक्षण का प्रावधान न करने की छूट प्रदान की गई है। अरुणाचल प्रदेश में कोई भी अनुसूचित जाति न होने के कारण उसे यह छूट प्रदान की गई है।

84वां संवैधानिक संशोधन (2002)—लोकसभा एवं विधानसभाओं की सीटों की संख्या में सन् 2026 तक कोई छेड़छाड़ नहीं करने संबंधी 84वां संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 2002 पारित किया गया।

85वां संवैधानिक संशोधन (2002)—सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के कर्मचारियों को पदोन्नति में आरक्षण की सुविधा।

86वां संवैधानिक संशोधन विधेयक (2002)—6 से 14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रावधान।

87वां संवैधानिक संशोधन विधेयक (2003)—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 82 में संशोधन किया गया है। तदनुसार निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन 2001 की जनगणना पर आधारित होगा।

88वां संवैधानिक संशोधन (2003)—अनुच्छेद 270 को संशोधित करते हुए व्यवस्था की गई है कि 'सेवाकर' (Service tax) संघ द्वारा लगाया जाएगा तथा इसे संसद द्वारा पारित कानूनों के अनुसार भारत सरकार एवं राज्य सरकारों द्वारा संगृहीत एवं विनियोजित किया जाएगा।

89वां संवैधानिक संशोधन (2003)—65वें संवैधानिक संशोधन (1990) के अनुसार स्थापित 'अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग' के स्थान पर दो अलग-अलग राष्ट्रीय आयोगों की स्थापना करते हुए उनकी रचना के सम्बन्ध में अग्र प्रकार से व्यवस्था की गई है :

अनुसूचित जातियों हेतु राष्ट्रीय आयोग—एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष व तीन अन्य सदस्य।

जनजातियों हेतु राष्ट्रीय आयोग—एक अध्यक्ष व दो अन्य सदस्य।

90वां संवैधानिक संशोधन (2003)—10 फरवरी, 2003 ई. को भारत सरकार, असम सरकार और बोड़ो लिबरेशन टाइगर्स के बीच जो समझौता सम्पन्न हुआ, उसे दृष्टिगत रखते हुए गैर जनजाति लोगों के हितों की रक्षा करने के लिए असम की विधानसभा के गठन और चुनाव के प्रसंग में यह संवैधानिक संशोधन किया गया है। इसके अन्तर्गत व्यवस्था की गई है कि 'Bodoland Territorial Areas District' में जिन क्षेत्रों को शामिल किया गया है, उन क्षेत्रों से असम की विधानसभा में जनजातियों और गैर-जनजातियों का प्रतिनिधित्व उसी रूप में बना रहेगा, जिस रूप में यह प्रतिनिधित्व क्षेत्रीय परिषद् के गठन के पूर्व था।

91वां संवैधानिक संशोधन (2003)—दल-बदल पर प्रभावी रोक और संघीय तथा राज्य मन्त्रिपरिषदों के आकार की सीमा का निर्धारण करने के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इसमें निम्न व्यवस्थाएं की गई हैं :

- (i) संघ की मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमन्त्री सहित मन्त्रियों की संख्या, लोकसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी।
- (ii) राज्य की मन्त्रिपरिषद् में मुख्यमन्त्री सहित मन्त्रियों की संख्या, राज्य विधानसभा की कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। छोटे राज्यों (जिन राज्यों की विधानसभाओं की सदस्य संख्या 80 से कम है) में मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या अधिकतम 12 हो सकती है।
- (iii) 52वें संवैधानिक संशोधन के अन्तर्गत दल के विभाजन या विघटन की स्थिति में होने वाले दल-बदल पर कानूनी रोक की व्यवस्था नहीं थी। इस स्थिति को दूर करने 91वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर यह व्यवस्था की गई है कि दल-बदल करने वाला कोई भी सांसद या विधायक सम्बन्धित सदन की सदस्यता खो देगा तथा इसके साथ-साथ अगली बार चुनाव जीतने तथा अथवा सदन के शेष कार्यकाल तक (जो भी पहले हो) मन्त्री पद या लाभ का कोई भी अन्य पद धारण नहीं कर सकेगा।

राजनीतिक दलों के पारस्परिक विलय को 91वें संवैधानिक संशोधन के अन्तर्गत भी दल-बदल नहीं माना गया है।

92वां संवैधानिक संशोधन (2003)—इस संवैधानिक संशोधन के आधार पर 4 भाषाओं बोड़ो, डोंगरी, मैथिली और संथाली को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है। इस प्रकार आठवीं अनुसूची में अब 22 भाषाएं हो गई हैं।

93वां संवैधानिक संशोधन (2005)—संविधान दलित वर्गों के लिए सामाजिक सुरक्षा का आदर्श निर्धारित करता है। इसी आदर्श और लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए 93वें संवैधानिक संशोधन द्वारा व्यवस्था की गई है कि सरकारी और सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त करने वाली या वित्तीय सहायता प्राप्त न करने वाली शिक्षण संस्थाओं में अन्य पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त होगा। लेकिन यह प्रावधान अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित शिक्षण

संस्थाओं तथा जनजाति क्षेत्रों में स्थित केन्द्रीय शिक्षण संस्थाओं पर लागू नहीं होगा। यह व्यवस्था संविधान के 'अनुच्छेद 15(4)-अ' के आधार पर की गई है।

94वां संवैधानिक संशोधन (2006)—संविधान के अनुच्छेद 164 में कहा गया था कि 'विहार, मध्य प्रदेश और उड़ीसा' इन तीन राज्यों में जन-जातियों के कल्याण का भार साधक एक मन्त्री होगा, जो साथ ही अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण का या अन्य किसी कार्य का भी भार साधक हो सकेगा। 94वें संवैधानिक संशोधन के आधार पर विहार और मध्य प्रदेश के स्थान पर झारखण्ड और छत्तीसगढ़ के लिए यह व्यवस्था की गई है। इस प्रकार अब यह व्यवस्था उड़ीसा, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ के लिए है।

प्रश्न

1. भारतीय नागरिकता के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की गयी है? स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया की स्पष्ट विवेचना कीजिए। क्या संविधान कठोर है?
3. भारतीय संविधान में अब तक हुए कुछ प्रमुख संशोधनों पर प्रकाश डालिए।
4. भारत में नागरिकता प्राप्त करने तथा खोने के विभिन्न तरीकों की विवेचना कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिए :

(क) 42वां संवैधानिक संशोधन,

(ख) 44वां संवैधानिक संशोधन,

(ग) 52वां संवैधानिक संशोधन या राजनीतिक दल-वदल पर कानूनी प्रतिबन्ध की व्यवस्था,

(घ) 93वां संवैधानिक संशोधन और 94वां संवैधानिक संशोधन।

लघु उत्तरात्मक एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्न

भारत का संविधान

अध्याय 1 : भारतीय संविधान की विशेषताएं

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है, ऐसा क्यों है, कारण बताइए।
2. 'भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य है' स्पष्ट कीजिए।
3. 'भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है' स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय संविधान में कठोरता और लचीलेपन के बीच समन्वय स्थापित किया गया है, स्पष्ट कीजिए।
5. भारतीय संविधान में संसदीय प्रभुता और न्यायिक, सर्वोच्चता के बीच समन्वय किस प्रकार स्थापित किया गया है?
6. अल्पसंख्यक तथा पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण लिए भारतीय संविधान और राज व्यवस्था में जो विशेष व्यवस्थाएं की गई हैं उन्हें स्पष्ट कीजिए।
7. भारतीय संविधान के सन्दर्भ में मूल ढांचे या आधारभूत सिद्धान्त की धारणा से आप क्या समझते हैं?
8. भारतीय संविधान की कुछ प्रमुख विशेषताओं को इंगित कीजिए।

अध्याय 2 : मौलिक अधिकार और मूल कर्तव्य

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के उल्लेख की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
2. मौलिक अधिकारों का महत्व बताइए।
3. मौलिक अधिकार से आप क्या समझते हैं?
4. भारतीय संविधान के अधिकार-पत्र की विशेषताएं बताइए।
5. भारतीय संविधान में समानता के अधिकार के अन्तर्गत क्या व्यवस्थाएं हैं?
6. भारतीय संविधान में स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत क्या व्यवस्थाएं हैं?
7. 'निवारक निरोध' से आप क्या समझते हैं? निवारक निरोध के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति क्या है?
8. निवारक निरोध की आलोचना कीजिए तथा यदि इस व्यवस्था का कोई औचित्य है तो वह भी स्पष्ट कीजिए।
9. शोषण के विरुद्ध अधिकार' पर टिप्पणी लिखिए।
10. भारतीय संविधान में धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार के लिए क्या प्रावधान किए गए हैं?
11. 'संवैधानिक उपचारों का अधिकार' सबसे अधिक महत्वपूर्ण अधिकार है। स्पष्ट कीजिए।
12. नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के द्वारा कौन-कौन से लेख (Writs) जारी किए जा सकते हैं इनमें से जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण लेख हैं, उसके बारे में लिखिए।

13. 'सम्पत्ति का अधिकार अब मात्र एक कानूनी अधिकार है' स्पष्ट कीजिए।
14. भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों की प्रमुख रूप से किन आधारों पर आलोचना की जाती है?
15. भारतीय नागरिकों के प्रमुख कर्तव्यों की व्याख्या कीजिए।
16. मूल कर्तव्यों सम्बन्धी व्यवस्था की आलोचना किन आधारों पर की जाती है?
17. मूल कर्तव्यों का महत्व बताइए।

अध्याय 3 : राज्य-नीति के निदेशक तत्व

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. निदेशक तत्वों का अर्थ और स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्व में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. 'मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्व में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है' स्पष्ट कीजिए।
4. आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्वों का वर्णन कीजिए।
5. नीति निदेशक तत्वों की दो प्रमुख आलोचना कीजिए।
6. क्या नीति निदेशक तत्व संवैधानिक द्वन्द्व के कारण बन सकते हैं? स्पष्ट कीजिए।
7. नीति निदेशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति होती है' स्पष्ट कीजिए।
8. 'नीति निदेशक तत्व संविधान की व्याख्या में सहायक होते हैं' स्पष्ट कीजिए।
9. नीति निदेशक तत्वों की क्रियान्विति के लिए उठाए गए केवल कुछ प्रमुख कदमों की ओर इंगित कीजिए।
10. 'संविधान में जो सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं, हम आज भी उनसे बहुत दूर हैं' स्पष्ट कीजिए।

अध्याय 4 : भारतीय संघीय व्यवस्था : केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. विधायी क्षेत्र में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की स्थिति क्या है?
2. संसद किन परिस्थितियों में राज्य-सूची के विषयों पर कानूनों का निर्माण कर सकती है?
3. वे कौन से विधेयक हैं, जिन्हें प्रस्तावित करने और जिन पर अन्तिम स्वीकृति के लिए केन्द्र का अनुमोदन आवश्यक है?
4. भारतीय संघ के अन्तर्गत राज्यों पर संघीय नियन्त्रण के लिए क्या व्यवस्थाएं की गई हैं?
5. राज्यों में परस्पर सौजन्य स्थापित करने के लिए संविधान में क्या व्यवस्थाएं की गई हैं?
6. कानून और व्यवस्था के मसलों पर राज्यों को केन्द्रीय निर्देश के सम्बन्ध में केन्द्र और राज्यों के बीच क्या विवाद है?
7. राज्यपाल के पद और नौकरशाही के प्रसंग में केन्द्र और राज्यों के बीच क्या विवाद है?
8. केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों के विषय में संवैधानिक प्रावधान क्या है?
9. दसवें और ग्यारहवें वित्त आयोगों की रिपोर्टों का अति संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
10. राज्यों के द्वारा अब तक स्वायत्तता की जो मांग की गई है उस पर प्रकाश डालिए।
11. केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर सरकारिया आयोग प्रतिवेदन के मुख्य सुझाव क्या हैं?
12. केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में सुधार के लिए आपके मुख्य सुझाव क्या हैं?

अध्याय 5 : संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति के निर्वाचन के प्रसंग में एकल संक्रमणीय पद्धति को समझाइए।
2. राष्ट्रपति के निर्वाचन के प्रसंग में संसद और राज्य विधान सभाओं के सदस्यों के मतों की संख्या किस आधार पर किस प्रकार निर्धारित की जाती है?
3. राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति की आलोचना किन आधारों पर की जाती है?
4. राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की प्रक्रिया क्या है?
5. राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियां अथवा प्रशासनिक शक्तियां बताइए।
6. राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियों का वर्णन कीजिए।
7. राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों का अति संक्षिप्त रूप में उल्लेख कीजिए।
8. 'स्वतन्त्र राष्ट्रपति की धारणा' की व्याख्या कीजिए।
9. राष्ट्रपति पद के सम्बन्ध में 'संवैधानिक प्रधान की धारणा' स्पष्ट कीजिए।
10. भारतीय राज-व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का वर्णन कीजिए।
11. राष्ट्रपति व्यवहार में अब तक किस प्रकार की भूमिका निभाते रहे हैं, स्पष्ट कीजिए।
12. उप राष्ट्रपति पद पर टिप्पणी कीजिए।

अध्याय 6 : संघीय कार्यपालिका : प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद्

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. मन्त्रिपरिषद् का गठन किस प्रकार होता है?
2. मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. भारतीय मन्त्रिपरिषद् की कुछ प्रमुख विशेषताएं बताइए।
4. सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का पालन किस प्रकार होता है?
5. मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री की सर्वोच्चता का वर्णन कीजिए।
6. मन्त्रिमण्डल की कार्यपालिका शक्तियों का वर्णन कीजिए।
7. प्रधानमन्त्री का चयन और उनकी नियुक्ति किस प्रकार होती है?
8. 'प्रधानमन्त्री ऐसा सूर्य है, जिसके चारों ओर समस्त ग्रह घूमते रहते हैं' स्पष्ट कीजिए।
9. संसद के प्रसंग में प्रधानमन्त्री की शक्तियां और उनकी स्थिति स्पष्ट कीजिए।
10. राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के आपसी सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
11. राज्य सरकारों या मुख्यमन्त्री पद के प्रसंग में प्रधानमन्त्री की स्थिति का वर्णन कीजिए।
12. 'भारत में भी आम चुनाव प्रधानमन्त्री का ही चुनाव होता है' स्पष्ट कीजिए।
13. प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति का वर्णन कीजिए।
14. मन्त्रिमण्डल तथा संसद के आपसी सम्बन्धों में सैद्धान्तिक स्थिति स्पष्ट कीजिए।
15. मन्त्रिमण्डल तथा संसद के आपसी सम्बन्धों में व्यावहारिक स्थिति स्पष्ट कीजिए।

अध्याय 7 : संघीय व्यवस्थापिका : संसद

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. 'भारतीय संसद एक सन्नभु संस्था नहीं है' स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय संसद की विधायिनी और वित्तीय शक्तियों का वर्णन कीजिए।
3. भारतीय संसद की कार्यपालिका शक्तियां और राज्यों से सम्बन्धित शक्तियां बताइए।

4. राज्यसभा का गठन किस प्रकार होता है?
5. राज्यसभा की विधायी शक्तियां बताइए।
6. क्या संविधान संशोधन के प्रसंग में राज्यसभा को लोकसभा के समान ही शक्ति प्राप्त है? स्पष्ट कीजिए।
7. राज्यसभा की विविध शक्तियां बताइए।
8. क्या राज्यसभा को कुछ अनन्य शक्तियां प्राप्त हैं, स्पष्ट कीजिए।
9. राज्यसभा की रचना के प्रसंग में क्या आलोचनाएं की जाती हैं?
10. व्यवहार में लोकसभा तथा राज्यसभा के बीच जो सम्बन्ध रहे हैं, उनकी व्याख्या कीजिए।
11. लोकसभा की रचना किस प्रकार होती है?
12. लोकसभा अध्यक्ष के कार्यों और शक्तियों का वर्णन कीजिए।
13. लोकसभा की विधायी शक्तियों का वर्णन कीजिए।
14. लोकसभा की संविधान संशोधन सम्बन्धी शक्तियों का वर्णन कीजिए।
15. लोकसभा के विविध कार्य बताइए।
16. भारतीय संसद में साधारण विधेयकों को पारित किए जाने की प्रक्रिया क्या है?

अध्याय 8 : भारतीय न्यायपालिका : सर्वोच्च न्यायालय

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
2. भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति किस प्रकार होती है?
3. न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया क्या है?
4. सर्वोच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार स्पष्ट कीजिए।
5. सर्वोच्च न्यायालय के अपील्य क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए।
6. सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों की रक्षा किस प्रकार करता है?
7. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए क्या व्यवस्थाएं की गई हैं?
8. 'सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने पूर्व निर्णयों में परिवर्तन किया गया है और यह आलोचना का विषय है' स्पष्ट कीजिए।
9. मौलिक अधिकारों के संशोधन के प्रसंग में अन्तिम शक्ति संसद को प्राप्त होनी चाहिए या सर्वोच्च न्यायालय को स्पष्ट कीजिए।

अध्याय 9 : राज्य की कार्यपालिका राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद्

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में एक निर्वाचित राज्यपाल के स्थान पर मनोनीत राज्यपाल को क्यों अपनाया गया है?
2. राज्यपाल पद के लिए किन योग्यताओं की आवश्यकता है?
3. राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में क्या परम्पराएं हैं?
4. राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियों का वर्णन कीजिए।
5. राज्यपाल की विधायी शक्तियों का उल्लेख कीजिए।
6. राज्यपाल की विधायी और वित्तीय शक्तियों स्पष्ट कीजिए।
7. राज्यपाल की विविध शक्तियां बताइए।
8. संवैधानिक प्रधान के रूप में राज्यपाल की स्थिति बताइए।
9. राज्य मन्त्रिपरिषद् की रचना किस प्रकार होती है?

10. मन्त्रिपरिषद के कार्य बतलाइए।
11. राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद का आपसी सम्बन्ध बताइए।
12. मन्त्रिपरिषद और विधानमण्डल का आपसी सम्बन्ध बताइए।
13. मुख्यमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है?
14. विविध स्थितियों में मुख्यमन्त्री चयन की राजनीति स्पष्ट कीजिए।
15. मुख्यमन्त्री के कार्य एवं शक्तियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
16. मन्त्रिपरिषद में मुख्यमन्त्री की स्थिति स्पष्ट कीजिए।
17. मुख्यमन्त्री और विधानमण्डल का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
18. मुख्यमन्त्री और राज्यपाल का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
19. मुख्यमन्त्री की वास्तविक स्थिति स्पष्ट कीजिए।

अध्याय 10 : राज्य विधानमण्डल

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. विधानसभा की सदस्यता के लिए आवश्यक योग्यताएं क्या हैं?
2. विधानपरिषद का गठन किस प्रकार होता है?
3. राज्य विधानमण्डल की शक्तियों का वर्णन कीजिए।
4. साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में और कार्यपालिका पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में विधानसभा और विधानपरिषद की शक्तियों की तुलना कीजिए।
5. राज्य स्तर पर कानून निर्माण की प्रक्रिया के विभिन्न चरण बताइए।
6. वित्त विधेयक पारित किए जाने की प्रक्रिया समझाइए।

अध्याय 11 : उच्च न्यायालय

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए क्या योग्यताएं आवश्यक हैं?, न्यायाधीशों का कार्यकाल क्या है?
2. उच्च न्यायालय की रचना किस प्रकार होती है?
3. उच्च न्यायालय की प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र और लेख जारी करने का अधिकार स्पष्ट कीजिए।
4. उच्च न्यायालय का अपीलीय अधिकार क्षेत्र तथा इस न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति स्पष्ट कीजिए।
5. उच्च न्यायालय की प्रशासनिक शक्तियां बताइए।
6. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए क्या प्रावधान किए गए हैं?
7. दीवानी क्षेत्र में जिला स्तर पर न्याय की व्यवस्था क्या है?
8. फौजदारी क्षेत्र में जिला स्तर पर न्याय की व्यवस्था क्या है?
9. राजस्व के क्षेत्र में न्याय की व्यवस्था क्या है?
10. लोक अदालतों की व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए।

अध्याय 12 : भारतीय नागरिकता और संविधान में संशोधन

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. भारतीय नागरिकता के लक्षण स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय संविधान में साधारण विधि द्वारा संशोधन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
3. भारतीय संविधान में संसद के विशिष्ट बहुमत में संशोधन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

4. संविधान के किन प्रावधानों में संशोधन के लिए संसद के विशिष्ट बहुमत के साथ-साथ राज्य विधानमण्डलों के अनुमोदन की आवश्यकता होती है?
5. नागरिकता का अन्त किस प्रकार होता है।
6. संविधान में पहला संशोधन और चौथा संशोधन किन विषयों के सम्बन्ध में किया गया।
7. चौबीसवें संशोधन (1971) और पच्चीसवें संशोधन (1971) के मुख्य प्रावधान बताइए।
8. 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) की केवल कुछ प्रमुख बातें बताइए।
9. 44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 79) की कुछ प्रमुख बातें बताइए।
10. 52वें संवैधानिक संशोधन (1985) के मुख्य प्रावधान बताइए।
11. 84वां संवैधानिक संशोधन (2002) किस विषय के सम्बन्ध में है और प्रमुख रूप से क्या व्यवस्था करता है?
12. 87वां संवैधानिक संशोधन (2002) किस विषय के सम्बन्ध में है और प्रमुख रूप से क्या व्यवस्था करता है?

भारत का संविधान

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारत में संविधान सभा का गठन किस की अनुशंसा से किया गया :
 (अ) क्रिप्स योजना (ब) वेबल योजना
 (स) कैबिनेट मिशन योजना (द) माउण्टबेटन योजना
2. संविधान सभा की प्रथम बैठक कब हुई थी :
 (अ) 9 सितम्बर, 1946 (ब) 9 नवम्बर, 1946
 (स) 9 दिसम्बर, 1946 (द) 9 अगस्त, 1946
3. भारतीय संविधान निर्माताओं ने 'संसदीय शासन व्यवस्था' को किस देश से ग्रहण किया :
 (अ) ब्रिटेन (ब) अमेरिका
 (स) कनाडा (द) आयरलैण्ड
4. निम्न में से कौन-सी विशेषता भारतीय संविधान में नहीं है :
 (अ) धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना (ब) संसदात्मक शासन-व्यवस्था
 (स) दोहरी नागरिकता (द) नीति निदेशक तत्व
5. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्ष शब्द किस संशोधन द्वारा जोड़ा गया :
 (अ) 42वें (ब) 43वें
 (स) 44वें (द) 45वें
6. 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा किस अधिकार को मूल अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया है :
 (अ) समानता का अधिकार (ब) स्वतन्त्रता का अधिकार
 (स) शोषण के विरुद्ध अधिकार (द) सम्पत्ति का अधिकार
7. डॉ. अम्बेडकर ने निम्न में से किस अधिकार को 'संविधान का हृदय तथा आत्मा' कहा था :
 (अ) स्वतन्त्रता का अधिकार (ब) समानता का अधिकार
 (स) संवैधानिक उपचारों का अधिकार (द) शोषण के विरुद्ध अधिकार
8. संविधान द्वारा नागरिकों के लिए कितने मूल कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं :
 (अ) 8 (ब) 9
 (स) 10 (द) 11

9. नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख संविधान के किन अनुच्छेदों में किया गया है :
 (अ) अनुच्छेद 33 से 35 तक (ब) अनुच्छेद 38 से 51 तक
 (स) अनुच्छेद 52 से 60 तक (द) अनुच्छेद 64 से 68 तक
10. नीति निदेशक तत्वों को 'नव वर्ष के प्रथम दिन पास किए गए शुभकामना प्रस्ताव' किस ने कहा था :
 (अ) प्रो. नसीरुद्दीन (ब) प्रो. के. टी. शाह
 (स) प्रो. ह्वीयर (द) एन. आर. राधवाचारी
11. वर्तमान समय में भारतीय संघ में कितने राज्य एवं संघीय क्षेत्र हैं :
 (अ) 25 राज्य एवं 7 संघीय क्षेत्र (ब) 28 राज्य एवं 7 संघीय क्षेत्र
 (स) 29 राज्य एवं 8 संघीय क्षेत्र (द) 30 राज्य एवं 8 संघीय क्षेत्र
12. संघात्मक व्यवस्था का कौन-सा लक्षण भारतीय संविधान में नहीं है :
 (अ) संविधान की सर्वोच्चता (ब) शक्तियों का विभाजन
 (स) लिखित और कठोर संविधान (द) दोहरी नागरिकता
13. भारतीय संविधान में संघ सूची में कितने विषय रखे गए हैं :
 (अ) 97 (ब) 66 (स) 52 (द) 47
14. भारत के राष्ट्रपति का कार्यकाल कितने वर्ष है :
 (अ) 4 वर्ष (ब) 5 वर्ष (स) 6 वर्ष (द) 7 वर्ष
15. भारतीय नेताओं का सर्वोच्च सेनापति कौन होता है :
 (अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमंत्री (स) रक्षामन्त्री (द) विदेशमन्त्री
16. उपराष्ट्रपति किस सदन का पदेन सभापति होता है :
 (अ) लोकसभा का (ब) राज्यसभा का
 (स) राज्य विधानमण्डल का (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
17. यदि मन्त्रिपरिषद् का कोई सदस्य संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं है, तो वह अधिकतम कितने दिनों तक मन्त्रि पद पर रह सकता है :
 (अ) 1 माह (ब) 3 माह (स) 6 माह (द) एक वर्ष तक
18. भारत के प्रथम उप-प्रधानमंत्री कौन थे ?
 (अ) जवाहर लाल नेहरू (ब) मोरारजी देसाई (स) सरदार पटेल (द) चरण सिंह
19. राज्यसभा के एक-तिहाई सदस्य कितने वर्ष पश्चात् पद निवृत्त होते हैं :
 (अ) एक वर्ष (ब) दो वर्ष (स) तीन वर्ष (द) चार वर्ष
20. लोकसभा की सदस्यता के लिए उम्मीदवार की आयु कम से कम कितने वर्ष होनी चाहिए :
 (अ) 18 वर्ष (ब) 21 वर्ष (स) 25 वर्ष (द) 30 वर्ष
21. राज्यों में संवैधानिकतन्त्र के विफल होने पर राष्ट्रपति किस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है :
 (अ) अनुच्छेद 352 (ब) अनुच्छेद 356
 (स) अनुच्छेद 360 (द) अनुच्छेद 370
22. राज्यपाल को प्रतिमाह कितना वेतन प्राप्त होता है :
 (अ) 20 हजार रुपए (ब) 30 हजार रुपए
 (स) 36 हजार रुपए (द) 40 हजार रुपए
23. मुख्यमंत्री की नियुक्ति कौन करता है :
 (अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) राज्यपाल (द) प्रधानमंत्री

24. विधानपरिषद् के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष होता है :
(अ) 4 वर्ष (ब) 5 वर्ष (स) 6 वर्ष (द) 2 वर्ष
25. भारतीय संघ में वर्तमान समय में संघ राज्य क्षेत्रों की संख्या कितनी है :
(अ) 5 (ब) 7 (स) 8 (द) 9
26. निम्नलिखित में से कौन-सा संघ राज्य क्षेत्र नहीं है :
(अ) दिल्ली (ब) पाण्डिचेरी (स) चण्डीगढ़ (द) नगालैण्ड
27. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को प्रतिमाह कितना वेतन प्राप्त होता है :
(अ) 25,000 रुपए (ब) 30,000 रुपए
(स) 33,000 रुपए (द) 35,000 रुपए
28. सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न में से कौन-से विवाद आते हैं :
(अ) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद
(ब) भारत सरकार, संघ का कोई राज्य या राज्यों तथा एक या अधिक राज्यों के बीच विवाद
(स) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच संवैधानिक विषयों के सम्बन्ध में उत्पन्न कोई विवाद
(द) उपर्युक्त सभी विवाद
29. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु क्या है ?
(अ) 58 वर्ष (ब) 62 वर्ष
(स) 60 वर्ष (द) 65 वर्ष
30. 11वें वित्त आयोग के अध्यक्ष कौन हैं ?
(अ) प्रो. ए. एम. खुसरो (ब) टी. एन. श्रीवास्तव
(स) एन. सी. जैन (द) जे. सी. जेटली
31. निम्नलिखित में से कौन-सा भारत की विदेश नीति का मौलिक सिद्धान्त नहीं है :
(अ) गुट निरपेक्षता की नीति
(ब) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का समर्थन
(स) संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन
(द) पंचशील
32. भारत में राष्ट्रीय एकता के मार्ग में प्रमुख बाधा है :
(अ) साम्प्रदायिकता (ब) क्षेत्रीयतावाद
(स) राजनीतिक अवसरवादिता (द) उपर्युक्त सभी बाधाएं
33. कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार, संविधान सभा के चुनाव कब सम्पन्न हुए :
(अ) जुलाई 1946 में (ब) अगस्त 1946 में
(स) सितम्बर 1946 में (द) अक्टूबर 1946 में
34. संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष पद पर किसको निर्वाचित किया गया :
(अ) डॉ. राधाकृष्णन (ब) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
(स) जवाहर लाल नेहरू (द) डॉ. भीमराव अम्बेडकर
35. संविधान सभा की प्रथम बैठक की अध्यक्षता किसने की थी :
(अ) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (ब) डॉ. राधाकृष्णन
(स) डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा (द) डॉ. भीमराव अम्बेडकर
36. संविधान सभा में 'उद्देश्य प्रस्ताव' कब रखा गया :
(अ) 13 दिसम्बर, 1946 (ब) 15 दिसम्बर, 1946
(स) 21 दिसम्बर, 1946 (द) 30 दिसम्बर, 1946

37. संविधान की 'प्रारूप समिति' के अध्यक्ष कौन थे :
 (अ) पं. जवाहर लाल नेहरू (ब) जे. बी. कृपलानी
 (स) डॉ. बी. आर. अम्बेडकर (द) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
38. संविधान सभा में 'उद्देश्य प्रस्ताव' किसने प्रस्तावित किया :
 (अ) डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा (ब) महात्मा गांधी
 (स) जवाहर लाल नेहरू (द) डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
39. संविधान सभा द्वारा संविधान की किस दिन स्वीकृति प्रदान की गई :
 (अ) 15 अगस्त, 1947 (ब) 26 नवम्बर, 1948
 (स) 26 नवम्बर, 1949 (द) 26 जनवरी, 1950
40. संविधान सभा का 'संवैधानिक सलाहकार' किसे नियुक्त किया गया :
 (अ) डॉ. भीमराव अम्बेडकर (ब) के. टी. शाह
 (स) के. एम. मुखर्जी (द) बी. एन. राव
41. निम्न में से कौन 'प्रारूप समिति' का सदस्य नहीं था :
 (अ) एन. गोपालस्वामी आयंगर (ब) के. एम. मुखर्जी
 (स) सच्चिदानन्द सिन्हा (द) अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर
42. संविधान सभा का बारहवां अधिवेशन कब हुआ था जिसमें सदस्यों ने संविधान पर हस्ताक्षर किए थे :
 (अ) 21 जनवरी, 1950 (ब) 23 जनवरी, 1950
 (स) 24 जनवरी, 1950 (द) 15 अगस्त, 1947
43. भारतीय संविधान का सबसे प्रमुख स्रोत निम्न में से कौन-सा है :
 (अ) 1935 का भारतीय शासन अधिनियम (ब) अमेरिका का संविधान
 (स) कनाडा का संविधान (द) ब्रिटिश संविधान
44. भारत के संविधान में सम्मिलित 'समवर्ती सूची' किस देश की देन है :
 (अ) ब्रिटेन (ब) इटली (स) आस्ट्रेलिया (द) कनाडा
45. भारतीय संविधान की 'संशोधन प्रक्रिया' पर किस देश का प्रभाव है :
 (अ) कनाडा (ब) आस्ट्रेलिया (स) ब्रिटेन (द) दक्षिण अफ्रीका
46. भारतीय संविधान में सम्मिलित 'नीति निर्देशक तत्वों' की प्रेरणा हमें किस देश के संविधान से प्राप्त हुई है :
 (अ) आस्ट्रेलिया (ब) फ्रांस (स) आयरलैण्ड (द) अमेरिका
47. भारतीय संविधान में सम्मिलित 'मूल अधिकारों' की प्रेरणा हमें किस देश के संविधान से प्राप्त हुई है :
 (अ) अमेरिका (ब) ब्रिटेन (स) फ्रांस (द) आस्ट्रेलिया
48. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 की शब्दावली 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर' किस देश के संविधान से ली गई :
 (अ) अमेरिका (ब) जापान (स) फ्रांस (द) दक्षिण अफ्रीका
49. भारत का संविधान किस प्रकार का है :
 (अ) सबसे संक्षिप्त संविधान (ब) अलिखित संविधान
 (स) सर्वाधिक व्यापक संविधान (द) मध्यम आकार का संविधान
50. भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवादी' शब्द किस संशोधन द्वारा जोड़ा गया :
 (अ) 42वें (ब) 43वें
 (स) 44वें (द) 45वें

51. भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के सम्बन्ध में कुल कितने अनुच्छेद हैं :
 (अ) 13 अनुच्छेद (ब) 23 अनुच्छेद
 (स) 33 अनुच्छेद (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
52. मूल संविधान में भारतीय नागरिकों को कितने मूल अधिकार प्रदान किए गए थे ?
 (अ) 5 (ब) 6 (स) 7 (द) 9
53. निम्नलिखित में से कौन-सा अधिकार अब मूल अधिकारों के अन्तर्गत नहीं आता है :
 (अ) स्वतन्त्रता का अधिकार (ब) समानता का अधिकार
 (स) सम्पत्ति का अधिकार (द) शोषण के विरुद्ध अधिकार
54. समानता के अधिकार का उल्लेख संविधान के किन अनुच्छेदों में मिलता है :
 (अ) अनुच्छेद 14 से 18 तक (ब) अनुच्छेद 19 से 22 तक
 (स) अनुच्छेद 23 से 24 तक (द) अनुच्छेद 25 से 28 तक
55. संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को कौन-सी स्वतन्त्रता प्रदान की गई है :
 (अ) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता
 (ब) अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शान्तिपूर्ण सम्मेलन की स्वतन्त्रता
 (स) समुदाय और संघ निर्माण की स्वतन्त्रता
 (द) उपर्युक्त सभी स्वतन्त्रताएं
56. निम्नलिखित में से कौन-सा अधिकार अब आपातकाल में भी समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता है :
 (अ) भारत राज्य में अबाध निवास की स्वतन्त्रता
 (ब) भारत राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतन्त्रता
 (स) जीवन और शारीरिक स्वाधीनता का अधिकार
 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
57. संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 तक नागरिकों को कौन-सा अधिकार प्रदान किया गया है :
 (अ) स्वतन्त्रता का अधिकार (ब) समानता का अधिकार
 (स) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (द) संवैधानिक उपचारों का अधिकार
58. संवैधानिक उपचारों का अधिकार संविधान के किस अनुच्छेद द्वारा प्रदान किया गया है :
 (अ) अनुच्छेद 31 (ब) अनुच्छेद 32
 (स) अनुच्छेद 33 (द) अनुच्छेद 34
59. सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न में से कौन-से लेख जारी किए जा सकते हैं :
 (अ) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (ब) परमादेश
 (स) प्रतिषेध (द) उपर्युक्त सभी
60. संविधान में मूल कर्तव्यों की व्यवस्था किस भाग में की गई है :
 (अ) भाग 3 में (ब) भाग 6 में
 (स) भाग 4 'अ' में (द) भाग 5 में
61. निम्नलिखित में से कौनसा कथन असत्य है :
 (अ) मूल अधिकार न्याय-योग्य हैं, लेकिन निदेशक तत्व न्याय योग्य नहीं हैं
 (ब) मूल अधिकार निप्रेधात्मक हैं, जबकि निदेशक तत्व सकारात्मक निर्देश हैं
 (स) मूल अधिकार राज्य के लिए हैं, जबकि नीति-निदेशक तत्व नागरिकों के लिए हैं
 (द) उपर्युक्त सभी कथन असत्य हैं

62. नीति निदेशक तत्वों का लक्ष्य किस प्रकार के राज्य की स्थापना करना है :
 (अ) व्यक्तिवादी राज्य की स्थापना (ब) साम्यवादी व्यवस्था के राज्य की स्थापना
 (स) लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना (द) निरंकुश राज्य की स्थापना
63. निम्नलिखित में से आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व हैं :
 (अ) प्रत्येक स्त्री एवं पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करना
 (ब) राज्य के प्रत्येक नागरिक को समान कार्य के लिए समान वेतन
 (स) वैज्ञानिक आधार पर कृषि का संचालन करना
 (द) उपर्युक्त सभी तत्व
64. नीति निदेशक तत्वों के विरुद्ध की जाने वाली आलोचना का प्रमुख आधार है :
 (अ) वैधानिक शक्ति का अभाव (ब) निदेशक तत्व काल्पनिक आदर्शमात्र
 (स) एक सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य में अस्वाभाविक
 (द) उपर्युक्त सभी
65. नीति निदेशक तत्वों के महत्व का प्रमुख कारण है :
 (अ) निदेशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति
 (ब) संविधान की व्याख्या में सहायक
 (स) सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति के साधन
 (द) उपर्युक्त सभी कारण
66. संविधान के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि :
 (अ) भारत राज्यों का एक संघ होगा (ब) भारत संघ राज्य होगा
 (स) भारत एक परिसंघ होगा (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
67. भारतीय संविधान में 'एकात्मक व्यवस्था' का लक्षण है :
 (अ) इकहरी नागरिकता (ब) एकीकृत न्याय व्यवस्था
 (स) शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में (द) उपर्युक्त सभी लक्षण
68. निम्नलिखित में से कौन-सा विषय 'संघ सूची' से सम्बन्धित नहीं है :
 (अ) रक्षा (ब) वैदेशिक मामले (स) रेल (द) कृषि
69. निम्नलिखित में से कौन-सा विषय 'राज्य-सूची' से सम्बन्धित नहीं है :
 (अ) पुलिस (ब) कृषि (स) जेल (द) डाक
70. भारत में अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति किसको प्रदान की गई है :
 (अ) संघीय व्यवस्थापिका को (ब) राज्य विधानमण्डलों को
 (स) उपर्युक्त दोनों को (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
71. 42वें संविधान संशोधन द्वारा किस विषय को राज्य सूची से समवर्ती सूची में रखा गया है :
 (अ) शिक्षा (ब) वन
 (स) नाप-तौल (द) उपर्युक्त सभी विषय
72. भारत में पहली बार 'अन्तर-राज्य परिषद' की स्थापना कब की गई थी :
 (अ) जून 1989 में (ब) जून 1990 में (स) जून 1991 में (द) जून 1992 में
73. निम्न में से कौन-सा 'संघ' के राजस्व का स्रोत नहीं है :
 (अ) निगम कर (ब) सीमा-शुल्क (स) निर्यात शुल्क (द) मनोरंजन कर
74. 42वें संविधान संशोधन द्वारा समवर्ती सूची में कौन-सा नवीन विषय सम्मिलित किया गया है :
 (अ) विवारक निरोध (ब) विवाह और विवाह विच्छेद
 (स) जनसंख्या नियन्त्रण एवं परिवार नियोजन (द) दत्तक और उत्तराधिकार

75. धारा 370 द्वारा किस राज्य को भारतीय संघ-में विशेष स्थिति प्रदान की गई है :
 (अ) राजस्थान (ब) गुजरात (स) जम्मू-कश्मीर (द) बिहार
76. भारतीय संघ में राष्ट्रपति की स्थिति किसके समान है :
 (अ) अमेरिका के राष्ट्रपति के समान (ब) ब्रिटिश सम्राट के समान
 (स) ब्रिटिश गवर्नर-जनरल के समान (द) उपर्युक्त में से किसी के समान नहीं
77. भारत में राष्ट्रपति के चुनाव के लिए कौन-सी निर्वाचन पद्धति को अपनाया गया है :
 (अ) प्रत्यक्ष निर्वाचन (ब) अप्रत्यक्ष निर्वाचन
 (स) मनोनयन द्वारा (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
78. भारत में राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल के सदस्यों में कौन-से सदस्य सम्मिलित हैं :
 (अ) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य
 (ब) राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य
 (स) संघीय क्षेत्रों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य
 (द) उपर्युक्त सभी
79. राष्ट्रपति को प्रतिमाह कितने रुपए वेतन के रूप में प्रदान किए जाते हैं :
 (अ) 20 हजार रुपए (ब) 40 हजार रुपए
 (स) 50 हजार रुपए (द) 60 हजार रुपए
80. राष्ट्रपति को पद धारण करने से पहले कौन शपथ दिलवाता है :
 (अ) उपराष्ट्रपति (ब) प्रधानमंत्री
 (स) सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश (द) लोकसभा का अध्यक्ष
81. राष्ट्रपति को राज्यसभा में कितने सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है :
 (अ) 10 (ब) 12 (स) 14 (द) 15
82. निम्न में से किस स्थिति में अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा कर सकता है :
 (अ) युद्ध की स्थिति (ब) बाह्य आक्रमण की स्थिति में
 (स) सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में (द) उपर्युक्त सभी स्थितियों में
83. राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा के कितने दिनों के भीतर संसद की स्वीकृति आवश्यक है :
 (अ) एक माह (ब) दो माह (स) छः माह (द) एक वर्ष
84. भारत में 'वित्तीय संकट' की घोषणा अब तक कितनी बार की गई है :
 (अ) एक बार (ब) दो बार
 (स) तीन बार (द) अभी तक नहीं की गई है
85. भारत में 'उपराष्ट्रपति' का कार्यकाल कितने वर्ष है ?
 (अ) 5 वर्ष (ब) 6 वर्ष (स) 4 वर्ष (द) 2 वर्ष
86. वर्तमान में 'उपराष्ट्रपति' को कितना वेतन प्राप्त होता है :
 (अ) 10 हजार रुपए प्रतिमाह (ब) 20 हजार रुपए प्रतिमाह
 (स) 40 हजार रुपए प्रतिमाह (द) 45 हजार रुपए प्रतिमाह
87. निम्न में से 'मन्त्रिमण्डल' में कौन सम्मिलित होते हैं :
 (अ) मन्त्रिपरिषद के सभी सदस्य (ब) केवल कैबिनेट स्तर के मन्त्री
 (स) कैबिनेट तथा राज्यमन्त्री (द) राज्य एवं उपमन्त्री

88. "कैबिनेट वह धुरी है, जिसके चारों ओर समस्त राजनीतिक यन्त्र घूमता है।" यह कथन किसका है ?
 (अ) लावेल (ब) सर जॉन मेरियट
 (स) लार्ड मार्ले (द) ब्राइस
89. 'मन्त्रिमण्डल' का प्रमुख कार्य है :
 (अ) राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना (ब) वैदेशिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण
 (स) देश की आर्थिक नीति का निर्धारण (द) उपर्युक्त सभी कार्य
90. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है ?
 (अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति (स) लोकसभा अध्यक्ष (द) संसद
91. प्रधानमन्त्री को 'नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा' किसने कहा है :
 (अ) सर विलियम हार्कोर्ट (ब) डॉ. जैनिंग्स
 (स) लार्ड मार्ले (द) लावेल
92. ऐसा प्रधानमन्त्री जो पद ग्रहण करते समय संसद के किसी भी सदन का सदस्य नहीं था :
 (अ) मोरारजी देसाई (ब) लाल बहादुर शास्त्री
 (स) पी. वी. नरसिम्हाराव (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
93. राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन किस पद्धति से होता है :
 (अ) सूची पद्धति (ब) संचयी मत पद्धति
 (स) आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय पद्धति से
 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
94. राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या कितनी हो सकती है :
 (अ) 230 (ब) 240 (स) 250 (द) 260
95. राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष होता है :
 (अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष
96. किसी विधेयक को वित्त विधेयक के रूप में कौन प्रमाणित करता है :
 (अ) राज्यसभा का सभापति (ब) वित्तमन्त्री
 (स) लोकसभा का अध्यक्ष (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
97. लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या कितनी हो सकती है :
 (अ) 545 (ब) 547 (स) 550 (द) 552
98. राज्यसभा में राज्यों को किस आधार पर प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है ?
 (अ) राज्य की जनसंख्या के आधार पर (ब) भाषा के आधार पर
 (स) सभी राज्यों को समानता के आधार पर (द) जाति के आधार पर
99. 'राज्यसभा' की सदस्यता के लिए उम्मीदवार की आयु कम से कम कितने वर्ष होनी चाहिए :
 (अ) 18 वर्ष (ब) 21 वर्ष (स) 25 वर्ष (द) 30 वर्ष
100. राज्यसभा का कार्यकाल कितने वर्ष होता है :
 (अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष
 (स) 6 वर्ष (द) राज्यसभा का एक स्थायी सदन है
101. लोकसभा का कार्यकाल कितने वर्ष होता है :
 (अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष
102. लोकसभा के सदस्यों की गणपूर्ति कुल सदस्य संख्या का कितना हिस्सा होती है :
 (अ) 1/4 भाग (ब) 1/6 भाग (स) 1/8 भाग (द) 1/10 भाग

103. किस सभा का सभापति उस सदन का सदस्य नहीं होता है :
 (अ) राज्यसभा (ब) लोकसभा
 (स) विधानसभा (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
104. यदि कोई धन विधेयक लोकसभा द्वारा स्वीकृत हो जाए तो राज्यसभा इसे अधिकतम कितने दिनों तक रोक सकती है :
 (अ) 14 दिनों तक (ब) एक मास तक (स) छः मास तक (द) एक वर्ष तक
105. राज्यसभा को कौन-से ऐसे अनन्य अधिकार प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं हैं :
 (अ) नई अखिल भारतीय सेवा का गठन
 (ब) राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित करना
 (स) उपर्युक्त दोनों अधिकार
 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
106. राष्ट्रपति किसके प्रतिवेदन पर किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा कर सकता है :
 (अ) राज्य के मुख्यमंत्री (ब) राज्य के राज्यपाल
 (स) राज्य की विधानसभा के अध्यक्ष (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
107. संसद द्वारा अनुमोदन के पश्चात् किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन एक बार में कितने समय के लिए लागू होगा :
 (अ) एक माह (ब) छः माह (स) 8 माह (द) एक वर्ष
108. किसी भी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की अधिकतम अवधि कितने वर्ष हो सकती है :
 (अ) एक वर्ष (ब) 2 वर्ष (स) 3 वर्ष (द) 5 वर्ष
109. अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा का संसद द्वारा कितनी अवधि में अनुमोदन आवश्यक है :
 (अ) एक माह (ब) दो माह (स) तीन माह (द) छः माह
110. राज्यपाल की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है ?
 (अ) राष्ट्रपति (ब) प्रधानमंत्री
 (स) सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा (द) उपर्युक्त में से किसी के द्वारा नहीं
111. राज्यपाल की नियुक्ति कितनी अवधि के लिए की जाती है ?
 (अ) 2 वर्ष (ब) 4 वर्ष (स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष
112. किसी राज्य के 'महाधिवक्ता' की नियुक्ति कौन करता है ?
 (अ) राष्ट्रपति (ब) राज्यपाल (स) प्रधानमंत्री (द) मुख्यमंत्री
113. राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान कौन होता है ?
 (अ) राज्यपाल (ब) मुख्यमंत्री
 (स) प्रधानमंत्री (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
114. निम्न में से किसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है :
 (अ) राज्य का मुख्यमंत्री (ब) राज्य के महाधिवक्ता
 (स) राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष (द) उपर्युक्त सभी
115. राज्य विधानसभा का कार्यकाल कितने वर्ष है :
 (अ) 4 वर्ष (ब) 5 वर्ष (स) 6 वर्ष (द) 7 वर्ष
116. विधानसभा और विधानपरिषद के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करता है :
 (अ) विधानसभा का अध्यक्ष (ब) मुख्यमंत्री
 (स) विधान परिषद का सभापति (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

117. राज्य की विधानसभा का अध्यक्ष अपना त्यागपत्र किसे देता है :
 (अ) मुख्यमन्त्री को (ब) राज्यपाल को
 (स) उपाध्यक्ष को (द) उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को
118. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति कौन करता है ?
 (अ) राष्ट्रपति (ब) उपराष्ट्रपति
 (स) प्रधानमन्त्री (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
119. वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश के अलावा कितने न्यायाधीशों का प्रावधान है ?
 (अ) 15 (ब) 20 (स) 25 (द) 29
120. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु क्या है ?
 (अ) 58 वर्ष (ब) 60 वर्ष (स) 62 वर्ष (द) 65 वर्ष
121. सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के अलावा अन्य न्यायाधीशों को प्रतिमाह कितना वेतन प्राप्त होता है :
 (अ) 33 हजार (ब) 30 हजार (स) 26 हजार (द) 25 हजार
122. भारत का सर्वोच्च न्यायालय कहाँ पर स्थित है ?
 (अ) दिल्ली (ब) आगरा (स) हैदराबाद (द) चण्डीगढ़
123. भारत का राष्ट्रपति किसी ऐसे प्रश्न पर जिसमें विधि और तथ्य के प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हों, किससे परामर्श प्राप्त कर सकता है :
 (अ) लोकसभा अध्यक्ष (ब) उपराष्ट्रपति
 (स) सर्वोच्च न्यायालय (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
124. राज्यों में उच्च न्यायालय की स्थापना या उससे सम्बन्धित व्यवस्था में परिवर्तन का अधिकार किसे प्राप्त है :
 (अ) संसद (ब) राज्य विधानमण्डल
 (स) सर्वोच्च न्यायालय (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
125. उत्तर प्रदेश में उच्च न्यायालय का मुख्य केन्द्र कहाँ है ?
 (अ) इलाहाबाद (ब) रायबरेली
 (स) लखनऊ (द) फैजाबाद
126. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को प्रतिमाह कितना वेतन प्राप्त होता है ?
 (अ) 26 हजार रुपए (ब) 30 हजार रुपए
 (स) 33 हजार रुपए (द) 40 हजार रुपए
127. उच्च न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए निम्न में से कौन-सी योग्यता होनी चाहिए :
 (अ) वह भारत का नागरिक हो
 (ब) वह कम से कम 10 वर्ष तक भारत के किसी क्षेत्र में न्याय सम्बन्धी पद पर कार्य कर चुका हो अथवा
 (स) एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय का लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो
 (द) उपर्युक्त सभी

उत्तरमाला

1. (स)	2. (स)	3. (अ)	4. (स)	5. (अ)	6. (द)	7. (स)
8. (स)	9. (ब)	10. (अ)	11. (ब)	12. (द)	13. (अ)	14. (ब)
15. (अ)	16. (ब)	17. (स)	18. (स)	19. (ब)	20. (स)	21. (ब)
22. (स)	23. (स)	24. (स)	25. (ब)	26. (द)	27. (स)	28. (द)
29. (ब)	30. (अ)	31. (ब)	32. (द)	33. (अ)	34. (ब)	35. (स)
36. (अ)	37. (स)	38. (स)	39. (स)	40. (द)	41. (स)	42. (स)
43. (अ)	44. (स)	45. (द)	46. (स)	47. (अ)	48. (ब)	49. (स)
50. (अ)	51. (ब)	52. (स)	53. (स)	54. (अ)	55. (द)	56. (स)
57. (स)	58. (ब)	59. (द)	60. (स)	61. (स)	62. (स)	63. (द)
64. (द)	65. (द)	66. (अ)	67. (द)	68. (द)	69. (द)	70. (अ)
71. (द)	72. (द)	73. (द)	74. (स)	75. (स)	76. (ब)	77. (ब)
78. (द)	79. (स)	80. (स)	81. (ब)	82. (द)	83. (अ)	84. (द)
85. (अ)	86. (स)	87. (ब)	88. (ब)	89. (द)	90. (अ)	91. (अ)
92. (स)	93. (स)	94. (स)	95. (द)	96. (स)	97. (द)	98. (अ)
99. (द)	100. (द)	101. (स)	102. (द)	103. (अ)	104. (अ)	105. (स)
106. (ब)	107. (ब)	108. (स)	109. (ब)	110. (अ)	111. (स)	112. (ब)
113. (अ)	114. (द)	115. (ब)	116. (अ)	117. (स)	118. (अ)	119. (स)
120. (द)	121. (ब)	122. (अ)	123. (स)	124. (अ)	125. (अ)	126. (ब)
127. (द)						

निश्चित उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1—संविधान सभा की प्रथम बैठक कब हुई थी?

उत्तर—9 दिसम्बर, 1946 को।

प्रश्न 2—संविधान सभा के स्थायी अध्यक्ष पद पर किसको निर्वाचित किया गया?

उत्तर—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को।

प्रश्न 3—संविधान सभा में 'उद्देश्य प्रस्ताव' कब रखा गया?

उत्तर—13 दिसम्बर, 1946 को।

प्रश्न 4—संविधान की 'प्रारूप समिति' के अध्यक्ष कौन थे?

उत्तर—डॉ. बी. आर. अम्बेडकर।

प्रश्न 5—भारतीय संविधान के निर्माताओं ने 'संसदीय शासन प्रणाली' को किस देश से ग्रहण किया?

उत्तर—ब्रिटेन से।

प्रश्न 6—भारत के संविधान में सम्मिलित 'समवर्ती सूची' किस देश की देन है?

उत्तर—आस्ट्रेलिया।

प्रश्न 7—भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'पंच निरपेक्ष' शब्द किस संशोधन द्वारा जोड़ा गया है?

उत्तर—42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा।

प्रश्न 8—किस संवैधानिक संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों में से हटाकर उसे केवल कानूनी अधिकार बना दिया गया है?

उत्तर—44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा।

प्रश्न 9—मूल संविधान में भारतीय नागरिकों को कितने मूल अधिकार प्राप्त किए गए थे?

उत्तर—7 मूल अधिकार।

प्रश्न 10—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 द्वारा नागरिकों को कौन-सा अधिकार प्रदान किया गया है?

उत्तर—धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार।

प्रश्न 11—संवैधानिक उपचारों का अधिकार संविधान के किस अनुच्छेद द्वारा प्रदान किया गया है?

उत्तर—अनुच्छेद 32 द्वारा।

प्रश्न 12—संविधान द्वारा नागरिकों के लिए कितने मूल कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं?

उत्तर—10 (दस)।

प्रश्न 13—नीति निर्देशक तत्वों को 'नव वर्ष के प्रथम दिन पास किए गए शुभकामना प्रस्ताव' किसने कहा था?

उत्तर—प्रो. नसीरुद्दीन ने।

प्रश्न 14—वर्तमान समय में भारतीय संघ में कितने राज्य एवं संघीय क्षेत्र हैं?

उत्तर—28 राज्य और 7 संघीय क्षेत्र।

प्रश्न 15—अनुच्छेद 370 द्वारा किस राज्य को भारतीय संघ में विशेष स्थिति प्रदान की गई है?

उत्तर—जम्मू-कश्मीर राज्य को।

प्रश्न 16—भारत में राष्ट्रपति का कार्यकाल कितने वर्ष है?

उत्तर—5 वर्ष।

प्रश्न 17—राष्ट्रपति को राज्यसभा में कितने सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है?

उत्तर—12 सदस्यों को।

प्रश्न 18—भारत में प्रधानमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है?

उत्तर—राष्ट्रपति।

प्रश्न 19—राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष होता है?

उत्तर—6 वर्ष।

प्रश्न 20—लोकसभा की अधिकतम सदस्य संख्या कितनी हो सकती है?

उत्तर—552 ।

प्रश्न 21—वित्त विधेयक संसद के किस सदन में प्रस्तुत किया जाता है?

उत्तर—लोकसभा में।

प्रश्न 22—राज्यपाल की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?

उत्तर—राष्ट्रपति द्वारा।

प्रश्न 23—सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति कौन करता है?

उत्तर—राष्ट्रपति।

प्रश्न 24—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सेवानिवृत्ति की आयु क्या है?

उत्तर—65 वर्ष।

प्रश्न 25—मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?

उत्तर—राष्ट्रपति के द्वारा।

निम्न वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए

1. संविधान सभा की प्रथम बैठक की अध्यक्षता.....ने की थी।
2. संविधान सभा का संवैधानिक सलाहकार.....को नियुक्त किया गया।
3. भारतीय संविधान का संघात्मक स्वरूप बहुत अधिक सीमा तक.....की संघीय व्यवस्था के समान है।
4. नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख संविधान के भाग.....में किया गया है।
5. भारतीय संविधान में अनुच्छेद.....के द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है।
6. डॉ. अम्बेडकर ने.....के अधिकार को संविधान का हृदय तथा आत्मा कहा है।

7. राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग में.....सदस्यों का प्रावधान है।
8. भारत में अवशेष विषयों के सम्बन्ध में कानून निर्माण की शक्ति.....को प्रदान की गई है।
9. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 263 में एक.....की स्थापना का प्रावधान किया गया है।
10. राष्ट्रपति को प्रतिमाह.....रुपए वेतन के रूप में प्रदान किए जाते हैं।
11. उपराष्ट्रपति का कार्यकाल.....वर्ष होता है।
12. यदि कोई व्यक्ति मन्त्री बनते समय संसद सदस्य नहीं है तो उसे.....महीने के अन्दर संसद सदस्य बनना अनिवार्य है।
13. लोकसभा की सदस्यता के लिए उम्मीदवार की आयु कम से कम.....वर्ष या इससे अधिक होनी चाहिए।
14. भारत का उप-राष्ट्रपति.....का पदेन सभापति होता है।
15. राज्यपाल को प्रतिमाह.....रुपए वेतन प्राप्त होता है।
16. विधान परिषद के सदस्यों का कार्यकाल.....वर्ष होता है।
17. वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को.....रुपए प्रतिमाह वेतन प्राप्त होता है।

18. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल.....वर्ष की आयु तक निश्चित किया गया है।

[उत्तर—(1) डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा, (2) श्री बी. एन. राव, (3) कनाडा, (4) तीन, (5) अनुच्छेद 17, (6) संवैधानिक उपचारों के अधिकार, (7) आठ, (8) संघीय व्यवस्थापिका, (9) अन्तर-राज्य परिषद, (10) 50 हजार रुपए, (11) 5 वर्ष, (12) 6 महीने, (13) 25 वर्ष, (14) राज्यसभा, (15) 36 हजार रुपए, (16) 6 वर्ष, (17) 33 हजार, (18) 62 वर्ष]

निम्नलिखित में से सही या गलत बताइए

1. भारतीय संविधान सभा का गठन 'केबीनेट मिशन योजना' के आधार पर हुआ था।
2. भारतीय संविधान की संशोधन पद्धति अमेरिकी संविधान की संशोधन पद्धति से मिलती हुई है।
3. भारतीय संविधान में सम्मिलित 'नीति निदेशक तत्वों' की प्रेरणा हमें आयरलैण्ड के संविधान से प्राप्त हुई।
4. भारत का संविधान विश्व के अन्य सभी देशों के संविधानों से व्यापक है।
5. भारत के मूल संविधान में नागरिकों के कर्तव्यों का उल्लेख नहीं किया गया है।
6. भारतीय नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्रदान की गई है।
7. जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता तब न्यायालय द्वारा उद्घेष्ण लेख जारी किया जाता है।
8. मूल अधिकार न्याय योग्य नहीं हैं, लेकिन नीति निदेशक तत्व न्याय योग्य हैं।
9. 'सरकारिया आयोग' शेयर घोटालों के विवादों से सम्बन्धित है।
10. भारत में कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए केवल एक बार निर्वाचित किया जा सकता है।
11. राज्यसभा एक स्थायी सदन है, जो कभी भंग नहीं होता।
12. भारत में लोकसभा का पहला आम चुनाव 1947 में हुआ था।
13. राज्यपाल की नियुक्ति 5 वर्ष की अवधि के लिए की जाती है।
14. विधानसभा की सदस्यता के लिए आयु 30 वर्ष या इससे अधिक होनी चाहिए।
15. संघ राज्य क्षेत्र 'पाण्डिचेरी' में सर्वोच्च कार्यपालिका अधिकारी को 'उपराज्यपाल' कहते हैं।
16. नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

[उत्तर—1. सही, 2. गलत, 3. सही, 4. सही, 5. सही, 6. गलत, 7. गलत, 8. गलत, 9. गलत, 10. गलत, 11. सही, 12. गलत, 13. सही, 14. गलत, 15. सही, 16. सही]

১৯৫০ স. ১৯৫১ স.
 ১৯৫২ স. ১৯৫৩ স. ১৯৫৪ স. ১৯৫৫ স.

